हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

भगवान सिंह

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

भगवान सिंह

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

हड़प्पा सभ्यता
और
वैदिक साहित्य

खण्ड एक

भगवान सिंह

राधाकृष्ण

1987
©
भगवान सिंह
नयी दिल्ली

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ का प्रकाशन भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् के आर्थिक सहयोग से साकार हुआ है। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये तथ्यों, मतों अथवा निस्सृत निष्कर्षों का उत्तरदायित्व पूर्णरूपेण लेखक पर है। भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् इसके लिए उत्तरदायित्व नहीं रखता।

पहला संस्करण
1987

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

मुद्रक
नागरी प्रिंटर्स
दिल्ली-110032

डॉ. महादेव साहा को

विषय-सूची

आमुख
भूमिका : डॉ. स्वराज्य प्रकाश गुप्त
अध्याय एक : समस्या का स्वरूप 1
अध्याय दो : आर्य-आक्रमण का मिथक 35
अध्याय तीन : वैदिक संघर्षों की प्रकृति 74
अध्याय चार : आर्थिक आधार 104
अध्याय पाँच : व्यापार और वाणिज्य 148
अध्याय छह : वैदिक उद्यमियों के खनिज-स्रोत 214
अध्याय सात : आवास और नगर 231
अध्याय आठ : भाषा और भारोपीय जन 259
अध्याय नौ : समाज 291
अध्याय दस : लेखन और शिक्षा 233
अध्याय ग्यारह : धर्म और विश्वास 370

चित्र
1. सरस्वती-घग्घर-हकड़ा पर हड़प्पाकालीन आबादी 55
2. सिन्धु घाटी की सभ्यता और इसके पश्चिमी सम्पर्क 57
3. श्लीख़र द्वारा प्रस्तुत भारतीय-यूरोपीय का वंशवृक्ष 273
4. लेमैन द्वारा प्रस्तावित आद्य भारतीय-यूरोपीय का सम्बन्ध-सूत्र 274
5. पूर्णिम वृत्त 355
6. डॉ. एस. आर. राव द्वारा प्रस्तावित हड़प्पा लिपि से ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों तक का वंशवृक्ष 361

आमुख

एक प्रसिद्ध इतिहासकार ने इतिहास और गल्प के बीच फ़र्क़ करते हुए लिखा था कि इतिहास एक ऐसा गल्प है जिसमें नामों और तिथियों को छोड़कर सब कुछ ग़लत होता है और गल्प एक ऐसा इतिहास जिसमें नामों और तिथियों को छोड़ कर सब कुछ सही। वैदिककालीन इतिहास के विषय में तो नामों और तिथियों के सही होने का दावा भी नहीं किया जाता। इसके विषय में जितनी विचित्र और परस्पर अनमेल बातें अधिकारी विद्वानों द्वारा भी की जाती रही हैं उनकी तुलना विश्व-इतिहास के किसी अन्य क्षेत्र और काल से नहीं की जा सकती। इसके बावजूद हमारे सांस्कृतिक दाय का सबसे जीवन्त और उर्वर स्रोत यही रहा है। इसका नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदर्श परवर्ती कालों पर कुछ इस तरह छाया रहा कि वेद को न मानने का अर्थ ही था नास्तिक। वेद ही ब्रह्म और वेद ही अन्तिम प्रमाण ! इससे विरोध उत्पन्न होने पर अपने प्रत्यक्ष अनुभव और ज्ञान को भी नकारा जा सकता था, पर वेद-वाक्य को नहीं। वह अकाट्य था। आख़िर वह उपलब्धि का कौन-सा शिखर-विन्दु था जिस पर इस दौर में भारतीय समाज या कम-से-कम इसका स्वामि-वर्ग पहुँचा था कि अपने पराभव के दिनों में भी वह इसी के सुखद स्वप्न देखता जीवित रहा और इसे पुनः हासिल करने के मंसूबे बाँधता रहा ? यदि संक्षेप में कहें तो, यही वह जिज्ञासा थी जो लेखक को सृजनात्मक साहित्य से अलग ले जाकर इतिहास के भयावह परधर्म में विगत पन्द्रह वर्षों से निरन्तर भटकाती रही और इसका जो उत्तर मिला वही इस पुस्तक के रूप में सुधी विद्वानों के सामने है।

जब इस विषय पर काम करना आरम्भ किया था तब अकादमिक पर्यावरण आज से कुछ भिन्न था। हड़प्पा सभ्यता वस्तुतः वैदिक सभ्यता ही थी—इस बात का दावा करने की बात तो दूर, हड़प्पा सभ्यता के साथ इसकी समवर्तिता और निकट सम्बन्ध की बात भी इसके प्रस्तावक की अकादमिक निष्ठा और निष्पक्षता को सन्दिग्ध बनाने के लिए पर्याप्त थी और इसका साहस या दुस्साहस बहुत कम लोग ही कर पाते थे और वे इसका मूल्य भी चुकाने को बाध्य होते थे। आज अनेक कोनों से और अनेक कारणों से, जिनमें से एक है भारत में आर्यों के प्रवेश का एक भी प्रमाण जुटा पाने में पुरातत्व की विफलता और वैदिक सभ्यता के केन्द्र

सरस्वती-क्षेत्र से हड़प्पा और पूर्व-हड़प्पाकालीन स्थलों की प्राप्ति, यह आवाज़ आने लगी है कि हड़प्पा सभ्यता वस्तुतः वैदिक सभ्यता ही थी। पर इसके बावजूद अपेक्षाकृत अधिक सावधानी बरतने वाले अध्येता अभी कुछ और रुकने और नये साक्ष्यों के सामने आने की प्रतीक्षा के पक्ष में हैं।

वास्तविकता यह है कि हड़प्पा सभ्यता के पूरे प्रसार में भौतिक साक्ष्य भरे पड़े हैं। इनकी कमी का प्रश्न नहीं उठता। असली कठिनाई साहित्यिक साक्ष्यों को भौतिक साक्ष्यों से जोड़ने की है और इसके लिए मूल वैदिक कृतियों का पुनरावलोकन पुरातत्व से कम महत्वपूर्ण नहीं है। यदि लेखक के प्रयास की कुछ सार्थकता है तो इसी दृष्टि से।

यह शुद्ध शास्त्रीय तकाज़ों से लिखा गया शोध-प्रबन्ध नहीं है। शास्त्रीयता के प्रति विशेष आग्रहशील इतिहासकारों को यदि इसकी कुछ बातें खटकती हैं तो इसके लिए हम उनसे क्षमाप्रार्थी हैं, पर हमारा लक्ष्य इसे केवल 'मूर्धन्य' विद्वानों के समक्ष पेश करना नहीं अपितु इतिहास, संस्कृति और जातीय परम्परा में रुचि लेने वाले सामान्य पाठकों तक पहुँचने का और तथ्यान्वेषण की इस यात्रा में उन्हें अपना सहयात्री बनाने का भी रहा है और इस दृष्टि से आलेख को यथासम्भव कम बोझिल किन्तु सर्वथा प्रामाणिक और तर्कसंगत बनाने का प्रयत्न किया गया है। वैदिक कृतियों के उद्धरणों को सन्धि-विच्छेद करके दिया गया है ताकि संस्कृत का साधारण ज्ञान रखने वाले अध्येता भी इनका जायज़ा ले सकें। इतिहास का अध्ययन मात्र 'विशेषज्ञों' या पेशेवर इतिहासकारों तक सीमित तथ्यों और आँकड़ों की दहशतनाक भीड़ बनकर न रह जाये अपितु हमारी अन्तर्दृष्टि को भी प्रखर करे, यह रहा है हमारा दृष्टिकोण और इसलिए साक्ष्यों को प्रस्तुत करते समय इनके प्रति पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा अपनाये गये रुख़ के कारण और औचित्य पर विचार, अपने द्वारा किये गये अर्थ का तार्किक व भाषिक आधार, इनकी विस्तार से परीक्षा, नये तथ्यों और साक्ष्यों की ओर ध्यानाकर्षण तथा आवश्यकतानुसार सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन इसमें जगह-जगह देखने में आयेगा, जो अपने ज्ञान और ग्रहणशीलता के अनुसार किन्हीं पाठकों को सर्वथा वांछनीय, कुछ को किंचित् विषयान्तर और कुछ को उबाऊ भी लग सकता है। एक का अमृत दूसरे का ज़हर। दायरा बड़ा रखने पर यह संकट तो स्वाभाविक है ही।

पुस्तक को पठनीय बनाने के लिए तथा सामान्य पाठकों पर इसकी प्रतिक्रिया को जाँचने के लिए मैंने इसके पृथक्-पृथक् अंशों को अपने स्वजनों और मित्रों को पढ़ने को दिया। उनके सुझावों के अनुसार इसके आलेख को अनेक बार बदला भी। इस दृष्टि से मेरे अनुज जनार्दन सिंह, मित्र श्री श्रीकान्त व्यास, श्री कान्तिमोहन शर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डॉ. महादेव साहा व डॉ. डी. एन. झा ने भी मेरे अनुरोध पर पुस्तक के एक-एक अध्याय पढ़े और अपने सुझाव दिये।

अनेक मित्र, जिनमें श्री मुद्राराक्षस का नाम विशेष उल्लेखनीय है, अपनी सहज जिज्ञासा से मुझे समय-समय पर प्रेरित करते रहे। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् ने इसके लिए प्रकाशन-अनुदान की स्वीकृति दी। इन सबके प्रति मैं गहरी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। डॉ. स्वराज्य प्रकाश गुप्त, जिन्होंने इस पुस्तक को लिखने को प्रेरित ही नहीं किया अपितु पुरातत्व के पहलू पर वे निरन्तर अपने बहुमूल्य सुझाव देते रहे और पुस्तकें उपलब्ध कराते रहे, अपनी समस्त व्यस्तताओं के बावजूद उन्होंने इस पुस्तक के तीन आलेखों को आद्यान्त देखा, अपने बहुमूल्य सुझाव दिये और इसके लिए भूमिका लिखना भी स्वीकार किया, आभार और कृतज्ञता के किसी भी ज्ञापन से भारी पड़ते हैं। उनका ऋण बना रहे यही, उचित है।

मुद्रण के दौर में सामग्री को यथासम्भव अद्यतन बनाने के लिए कुछ फेर-बदल अनिवार्य हो गये थे। नागरी प्रिंटर्स ने प्रत्यक्ष असुविधाओं के बावजूद इसमें पूरा सहयोग दिया, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। इस क्रम में होने वाले परिवर्तनों का मुद्रण पर भी कुछ प्रभाव पड़ा है और पुस्तक में प्रूफ़ की अनेक भूलें हुई हैं जो आँखों में खटकती हैं, जिनमें से कुछ, यथा पृ./पंक्ति 72/14 मिताक्षरा के स्थान पर मिताक्षण, 100/22 एस. पी. गुप्त के स्थान पर ए. पी. गुप्त, 194/8 वः के स्थान पर वहः, ऋ. 2.29.4 के स्थान पर 2.39.4; ऋ. 2.29.6 के स्थान पर ऋ., 200/3-4 देवभक्ता और भगभक्ता के स्थान पर देवभक्त और भगवत 381/24 13.9—10 के स्थान पर 13.9.10 तथा 381/28 13.10 के स्थान पर 13.10.45, 237/31 वेदी नहीं बना सकते थे के स्थान पर वेदी बना सकते थे, 279/9 लिथु के स्थान पर लिप्त, 307/1 वर्जित था के स्थान पर वर्जित नहीं था, 340/18 स्मिथ के स्थान पर रिमथ, 342/15 ब्राह्मी के स्थान पर ब्राह्मणी, तो भ्रामक भी हो सकती हैं। हम इनके लिए सुधी पाठकों से क्षमाप्रार्थी हैं और आशा करते हैं कि अन्य सामान्य त्रुटियों को भी वे सुधार लेंगे।

अन्ततः राधाकृष्ण प्रकाशन, जिन्होंने इतने विवादास्पद विषय पर इस पुस्तक को प्रकाशित करने का संकल्प लिया, भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

—भगवान सिंह

अप्रैल, 1987
सी-136 महाराणा प्रताप इन्क्लेव
दिल्ली-110034

भूमिका

1931 में जब सर जॉन मार्शल ने मोहनजोदड़ो के उत्खनन पर दो भागों वाले ग्रन्थ को सम्पादित किया और यह विचार व्यक्त किया कि हड़प्पा सभ्यता वैदिक अथवा आर्य संस्कृति से भिन्न भी थी और अधिक प्राचीन भी, तभी उनके सामने एक अत्यन्त समस्यामूलक प्रश्न खड़ा हो गया था : यदि यह सच है तो हड़प्पा सभ्यता में वैदिक देवों एवं धार्मिक भाव-चिन्हों —जैसे पशुपति(अथवा रुद्र), पीपल, वृक्ष, जल, नाग, वृषभ—की स्थिति को कैसे समझा जाये ? तर्क तो यह दिया गया कि यह असम्भव नहीं था, क्योंकि धार्मिक विश्वास मौखिक रूप में सभ्यता के ह्रास के बाद भी जीवित रह सकते हैं और बाद में आने वाली संस्कृतियों में घुस सकते हैं, किन्तु यह तर्क केवल सम्भाव्य होकर रह गया, कभी प्रमाणित नहीं हो पाया, क्योंकि पुरातत्व इसका कोई भी साक्ष्य नहीं दे पाया । वास्तव में हड़प्पा सभ्यता की अवनति के बाद (प्रायः 1500 ई. पू.) और मौर्य संस्कृति (प्रायः 300 ई. पू.) के उदय से पहले हड़प्पा संस्कृति के देवी-देवता कहीं दिखते ही नहीं हैं ।

मार्शल की दुविधा— हड़प्पा सभ्यता में वैदिक देवगण तो थे किन्तु वह स्वयं अवैदिक थी—की पृष्ठभूमि में तीन बातें थीं : पहली यह कि हड़प्पा सभ्यता में पालतू घोड़ों के उपयोग का प्रमाण नहीं मिलता जब कि ऋग्वैदिक आर्यों की कथा ही घोड़ों द्वारा चालित रथों से आरम्भ होती है; दूसरी यह कि हड़प्पा सभ्यता में लोहे का प्रयोग कभी नहीं हुआ जब कि वैदिक आर्यों द्वारा इसका प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता था; और तीसरी यह कि जहाँ एक ओर हड़प्पा सभ्यता एक अत्यन्त विकसित नगरीय सभ्यता थी, वहीं दूसरी ओर वैदिक संस्कृति एक नितान्त ग्रामीण संस्कृति थी ।

शायद जन-साधारण को यह कम ही ज्ञात हो कि 1931 से 1986 के बीच पुरातत्ववेत्ताओं ने भारत और पाकिस्तान में इतना अधिक उत्खनन-कार्य कर लिया है और नये तथ्य इकट्ठा कर लिये हैं कि अब मार्शल की विवेचना का पुनर्मूल्यांकन करना आवश्यक हो गया है । जैसे, पालतू घोड़ों के ही प्रश्न को लें । वैज्ञानिक इस प्रजाति के घोड़ों को Equus caballus linn कहते हैं। इस जानवर की हड्डियाँ प्रचुर मात्रा में हड़प्पीय नगर सूरकोटडा (कच्छ, गुजरात) में नीचे से

लेकर ऊपर तक के सभी स्तरों में (अर्थात् प्रायः 2300 ई. पू. से 1700 ई. पू. तक के नगर के जीवन-काल में) मिली हैं। रोपड़ (पंजाब), लोथल, मोहनजोदड़ो, कालीबंगां (उत्तरी राजस्थान) में भी इसी नस्ल के घोड़ों की हड्डियाँ पायी गयी हैं। लोथल (गुजरात) और मोहनजोदड़ो (सिन्ध) में घोड़ों की मृण्मूर्तियों का पाया जाना तो सर्वविदित ही है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि कभी-कभी विद्वान इन मूर्तियों को Equus haminus khur अथवा जंगली गधों की छवि मानते हैं—वैसे तो ऐसा है नहीं, लेकिन यदि इसे मान भी लें तो सूरकोटडा आदि के प्रमाण तो अकाट्य हैं, क्योंकि वे विज्ञान से प्रमाणित हैं। 'पुरातत्व' (1975) शोध-पत्रिका के क्रमांक 7 में डॉ. अरुणकुमार शर्मा का शोध-पत्र इस विषय में द्रष्टव्य है।

अब हम लोहे के प्रयोग के प्रश्न को लें। यद्यपि यह सही है कि हड़प्पा काल में इस धातु का प्रयोग भारत में कहीं भी नहीं हुआ, किन्तु यही बात ऋग्वैदिक आर्यों पर भी लागू होती है। वे 'अयस्' का प्रयोग करते थे, किन्तु इस शब्द का अर्थ तो केवल 'धातु' से है, लोहे से हो भी सकता था और नहीं भी। सच बात तो यह है कि भारत में लोहे का प्रयोग 1000 ई. पू. के आस-पास ही हुआ। पुरातत्व-साक्ष्यों का यह निष्कर्ष बड़ा ही दूरगामी है। इसका एक कारण है। पुरातत्व के साक्ष्य यह बताते हैं कि उत्तर भारत में लोहे का ज्ञान भले ही 1000-1100 ई. पू. में हो गया हो—पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अतरंजीखेड़ा में इसका प्रमाण मिला है—किन्तु जिसे लौह-युग कहते हैं, अर्थात् जब लोहे का प्रयोग अनेक उपकरणों के रूप में अनेक स्थानों पर होना आरम्भ हुआ, वह तो 800 ई. पू. के बाद ही आया। रथों में लोहे का प्रयोग 'लौह-युग' की ही बात हो सकती है, 'लौह-ज्ञान' की नहीं। लेकिन इस तथ्य का अर्थ क्या हुआ? इसका सीधा-सा अर्थ यह हुआ कि इस हिसाब से ऋग्वेद की तिथि 800 ई. पू. के आस-पास ही पड़ेगी। कम-से-कम 1000 ई. पू. के पहले तो नहीं ही पड़ेगी। क्या ऋग्वेद केवल 1000-800 ई. पू. का ही ग्रन्थ है? इससे कहीं ज्यादा तो विंटरनिट्ज़, लियोनार्ड वूली, पिगट, आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी माना है, जब कि उनमें से अधिकांश भारतीय इतिहास की प्राचीनता को कम करने का ही प्रयास करते रहे हैं। स्पष्टतया, हड़प्पा और वैदिक संस्कृतियों को अलग-अलग मानने से अनेक पुरातात्विक, सांस्कृतिक और भाषाई समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं, जिनका निर्धारण सरल नहीं है।

इस सन्दर्भ में एक बात और। पुरातत्व की दृष्टि से हड़प्पा सभ्यता के बाद और लौह-काल के पहले, अर्थात् 1500 ई. पू. के बाद और 800 ई. पू. के पहले, उत्तरी भारत में कई संस्कृतियों के प्रमाण मिलते हैं, जैसे—परवर्ती हड़प्पा संस्कृति, गैरिक भाण्ड संस्कृति, कृष्ण विसर्पण भाण्ड संस्कृति, आरम्भिक रंजित धूसर भाण्ड संस्कृति, कृष्ण व लोहित भाण्ड संस्कृति। इन सभी संस्कृतियों में लोहे के प्रयोग का प्रमाण नहीं मिलता। तो क्या हम यह मान लें कि ये सभी संस्कृतियाँ

ऋग्वैदिक आर्यों से पहले की थीं ? सच बात तो यह है कि रथों के बनाने में धातु का प्रयोग सारे मध्य-एशिया में 3000 ई. पू. से पहले से ही होता रहा था, मगर यह धातु था काँसा जिसमें ताँबे के साथ सीसे अथवा आर्सनिक आदि का मिश्रण करके ताँबे को लोहे जैसा कठोर बना दिया जाता था। याद रखने वाली बात है कि संसार में काँसे की जगह लोहे ने इसलिए नहीं ले ली कि वह काँसे से अधिक मजबूत होता था, बल्कि इसलिए ले ली कि जहाँ प्रकृति में ताँबा, सीसा, आर्सनिक कम मात्रा में मिलता है वहाँ लोहा बहुत अधिक मात्रा में और बहुत अधिक स्थानों पर मिला है। इस विषय में डॉ. दिलीप चक्रबर्ती द्वारा 'पुरातत्व' एवं 'मैन ऐंड एन्वार्नमेंट' के पिछले कई अंकों में प्रकाशित लेखों को पढ़ा जा सकता है, विशेष रूप से 'पुरातत्व' के अंक 13-14 में। तीसरी और अन्तिम बात है नगरीय (हड़प्पा) एवं ग्रामीण (वैदिक) संस्कृतियों के विरोधाभास की। इस सन्दर्भ में मैं कुछ विस्तार से कहना चाहूँगा।

हड़प्पा सभ्यता का सम्बन्ध अपनी समकालीन अनेक सभ्यताओं से रहा है, जिसका प्रमुख प्रमाण उन सभ्यताओं के अवशेषों में प्राप्त हड़प्पा सभ्यता की उन मुद्राओं से मिला है जिन पर हड़प्पा लिपि के अक्षर खुदे हुए मिले हैं, अथवा हड़प्पा सभ्यता में प्रचलित चित्र खुदे हुए मिले हैं। मेसोपोटामिया (ईराक़), फैलका और बहरीन जैसे फ़ारस की खाड़ी के द्वीप-समूह, ओमान के समुद्री तट तक तो जल-पोतों से पहुँच जाते थे, किन्तु सोवियत मध्य-एशिया के दक्षिणी तुर्कमीनिया में स्थित अल्तीन देपे और उत्तरी अफ़ग़ानिस्तान में आक्सस (आमू दरिया या वक्षु नदी) के किनारे बसे शोर्तुगाई जैसे स्थानों पर पहुँचने के लिए हड़प्पा के व्यापारियों को स्थल-मार्ग (खैबर दर्रा, बोलन दर्रा, आदि) ही अपनाने होते थे।

इस सन्दर्भ में सबसे प्रमुख बात यह है कि हड़प्पा सभ्यता की अवनति के साथ पुरातत्व के प्रमाण की दृष्टि से धीरे-धीरे भारत का सम्पर्क इन पश्चिमी देशों से 1000 वर्ष तक के लिए टूट गया। अल्तीन देपे और शोर्तुगाई जैसे नगरों में ही नये लोगों के बसने के प्रचुर प्रमाण मिल चुके हैं। ये नये लोग कभी लाल किन्तु अधिकांशतः धूसर अथवा सलेटी रंग के अनेक सपाट अथवा चित्रित मृद्भाण्डों का प्रयोग करते थे और अपने मुर्दों को तरह-तरह से पत्थर से बनी पेटिकाओं में अथवा मिट्टी के बड़े पात्रों में, अथवा गड्ढों में गाड़ते थे। इस विषय में यह भी द्रष्टव्य है कि ये तमाम संस्कृतियाँ, जैसे दहिस्तान संस्कृति, याज संस्कृति, गान्धार समाधि संस्कृति, कैस्पियन सागर के पूर्वी तट से लेकर खोरासान और कोपेदाग की पहाड़ियों के साथ-साथ मिलने वाली नदियों और उनके ओसिस अथवा नखलिस्तान, तथा हिन्दूकुश की पहाड़ियों से लेकर सिन्धु नदी तक ईसा की दूसरी सहस्राब्दी में फैली पड़ी थीं और उनमें आपस में क्षेत्रीय दृष्टि से सम्बन्ध भी था, किन्तु इनमें से एक भी पुरातत्वीय संस्कृति सिन्धु नदी से पूर्व की ओर फैली ही

नहीं, मानो सिन्धु नदी इन सभी संस्कृतियों के लिए लक्ष्मण-रेखा थी, सीमा थी, अन्तिम पड़ाव थी।

अब हम एक बार फिर भारत की ओर देखें। वैदिक साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्षु नदी से लेकर सरस्वती नदी तक आरम्भिक आर्यों की कार्य-शाला थी। उसी भौगोलिक स्थिति का वर्णन बार-बार साहित्य में आता है। इस भौगोलिक स्थिति का पुरातात्विक साक्ष्य तो हड़प्पा संस्कृति के भौगोलिक फैलाव से ही मिलता है। किसी धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति से कदापि नहीं मिलता, क्योंकि ऐसी कोई भी संस्कृति सरस्वती नदी (राजस्थान) तक पहुँची ही नहीं। इसका विशद् वर्णन मैंने अपनी पुस्तक Archaeology of Soviet Central Asia and Indian Borderlands के दूसरे भाग में किया है। प्रश्न है इस साक्ष्य के परिणाम का। वह इस प्रकार है :

वैदिक संस्कृति 1500 ई. पू. से बहुत पहले की थी; उस समय की थी जब ऋग्वैदिक लोग वक्षु, काबुल, सिन्धु और सरस्वती नदियों को जानते थे। क्योंकि अगर यह संस्कृति 1500 ई. पू. के बाद की होती तो ऋग्वैदिक लोग सिन्धु से पूर्व की किसी नदी को कभी नहीं जानते। अतः ऋग्वेद 1500 ई. पू. का ग्रन्थ नहीं हो सकता, कम-से-कम पुरातत्व के साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में। इसका वर्णन मैंने Mahabharat : Myth & Reality में किया है। यदि यह निर्वचन ठीक है तो ऋग्वैदिक काल वही काल बनता है जो हड़प्पा संस्कृति का काल था।

अब एक बार फिर हम पश्चिम की ओर चलें। वहाँ अल्तीन देपे था 2200 ई. पू. में हड़प्पा के समकक्ष के रूप में। यह एक बड़ा नगर था जहाँ जिगुरात जैसा एक मन्दिर भी था। किन्तु, और यह प्रमुख बात है, उस काल में प्रायः 15 से 20 गाँव थे इसी क्षेत्र में, दक्षिणी तुर्कमीनिया में। नामाज़गा देपे एक अन्य नगर था। उसके आस-पास भी कई गाँव थे, दक्षिणी तुर्कमीनिया में ही। और यह स्थिति आज भी वैसी ही है — वहाँ भी और भारत में भी। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शहर गाँवों के बिना 'शहर' रह ही नहीं सकता, क्योंकि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति गाँव ही करते हैं। अतः ऋग्वैदिक गाँव ही हड़प्पा, मोहन-जोदड़ो, कालीबंगां जैसे नगरों की प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति यदि करते रहे हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

श्री भगवान सिंह का यह ग्रन्थ इन्हीं जैसे अनेक प्रश्नों को लेकर लिखा गया है। मेरे साथ वर्षों तक मेरे विद्वान मित्र ने इन विषयों पर चर्चा की है। मैंने उन्हें समय-समय पर उन सभी शोधों की जानकारी दी है जो देश-विदेश में होते रहे हैं। ऐसा नहीं कि वे हमेशा मेरी विवेचना से सहमत होते थे या मैं ही उनसे सहमत होता था। लेकिन एक विचार-विन्दु पर हम ज़रूर सहमत होते थे। हड़प्पा और वैदिक संस्कृति में कोई विरोध नहीं था। यह सम्भव है कि हड़प्पा संस्कृति, वैदिक

संस्कृति का वह पक्ष था जिसे हम 'नगरीय' कहते हैं। यह कोई नयी बात नहीं है। भारतीय इतिहास की यही नियति रही है। भारतीय जन-जीवन सदा से ही 'उन्नत' सभ्यता और 'निम्न' सभ्यता में साथ-साथ जिया है। हज़ारों-हज़ारों गाँव वाले देश में आज कुल मिलाकर 300 नगर भी नहीं हैं—इस विषय पर श्री अमलानन्द घोष की पुस्तक The City in Early Historical India देखें। पहाड़ों और उपत्यकाओं के गाँवों में आज भी दिल्ली, बम्बई, मद्रास या कलकत्ता की संस्कृति की छाया तक नहीं है। अक्षर-ज्ञान तक नहीं है। फिर भी झोंपड़ी में जीवित हैं वेद, पुराण, महाकाव्य, स्थानीय गौरव-गाथाएँ और देवी-देवता, विश्वासों के अनेक प्रतीक तथा पूजा, अर्चना और अनुष्ठान। कभी-कभी इसका कुछ अंश नगरीय सभ्यता में चला जाता है जब गाँव वाला नगर में जाकर बस जाता है और वहाँ स्वयं भी शीघ्र ही अपनी मेहनत और सूझ-बूझ से नगरीय हो जाता है। मगर तब भी वह अपनी जड़ों को भूल नहीं पाता, वरन् उसे सुरक्षित रखता है जैसे मॉरिशस या फ़िजी में बसे कल के निर्धन और आज के धनवान भारतीय। अथवा दिल्ली में प्रतिदिन आते, बसते अनेक ग्राम या कस्बावासी। श्री भगवान सिंह ने अपने इस ग्रन्थ में भारतीय इतिहास के एक मूलभूत प्रश्न को उठाया है और उसकी बखूबी छानबीन की है, मैंने तो ध्यान से पढ़ा ही है और इससे बहुत सारी जानकारियाँ प्राप्त की हैं। आशा ही नहीं विश्वास है, हर पाठक इसमें कुछ-न-कुछ नया पायेगा।

हिन्दी में तो यह एक अनूठा ग्रन्थ है ही, अंग्रेज़ी में भी इस दृष्टि से अभी तक एक भी ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

—डॉ. स्वराज्य प्रकाश गुप्त

4 अप्रैल, 1987
राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

शब्द-संकेत

अं	अंग्रेजी
अथ / अथर्व	अथर्ववेद
अल्बा	अल्बानियन
अवे	अवेस्ता
इंकंवथाक	इंडियाज़ कंट्रीब्यूशन टु दि वर्ल्ड थॉट ऐंड कल्चर
इली	इलीरियन
इवीइं	इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ़ इंडिया
ई	ईरानी
ऋ	ऋग्वेद
ऐब्रा	ऐतरेय ब्राह्मण
ओआ	ओल्ड आयरिश
कहेइं	कल्चरल हेरिटेज ऑफ़ इंडिया
कासं	काठक संहिता
कुप्पूस्वामी कमे वा	कुप्पूस्वामीशास्त्री कमेमोरेशन वाल्यूम
गोउब्रा	गोपथ उपनिषद् ब्राह्मण
ज	जर्मन
जराएसो	जर्नल ऑफ़ रायल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन
जबांएसो	जर्नल ऑफ़ बाम्बे ब्रांच ऑफ़ एशियाटिक सोसायटी, बम्बई
जबयू	जर्नल ऑफ़ बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी
जबांयू	जर्नल ऑफ़ बाम्बे यूनिवर्सिटी
जैउब्रा	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
तांब्रा	ताण्ड्य ब्राह्मण
तू	तूखारी
तैब्रा	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैसं	तैत्तिरीय संहिता
दवैको	दयानन्द वैदिक कोश
धापा	धातुपाठ

निघ	निघण्टु
निरु	निरुक्त
नि	निघण्टु/निरुक्त
पाटि	पाद टिप्पणी
प्राउज	प्राचीन उच्च जर्मन
फ्रंइंसि	फ्रंटियर्स ऑफ़ दि इंडस सिविलाइज़ेशन
बृद्दे	बृहद्देवता
भासं	भारतीय संस्करण
मनि	मज्झिम निकाय
मनु	मनुस्मृति
महा	महाभारत
मैसं	मैत्रायणी संहिता
मोबि	मोनियर विलियम्स : संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी
यजु	यजुर्वेद
याज्ञ	याज्ञवल्क्य स्मृति
रामा	रामायण
लिथु	लिथुआनियन
लुवि	लुवियन
वासं	वाजसनेयि संहिता
वै	वैदिक
सं	संपादक/संवत/संस्करण/संस्कृत
साउआ	साउथ एशियन आर्कियालॉजी
सैबुई	सैक्रेड बुक्स ऑफ़ ईस्ट सीरीज़
स्ला	स्लाव
हसि	हड़प्पा सिविलाइज़ेशन
हि	हित्ती

जहाँ ऋग्वेद के उद्धरण या सन्दर्भ हैं वहाँ आरम्भ में कुछ स्थलों पर ऋ. छपने से रह गया है, परन्तु अन्य सभी कृतियों के उल्लेख सन्दर्भित स्थलों के प्रसंग में हैं, अतः इन्हें स्पष्टतः पहचाना जा सकता है।

अध्याय एक

समस्या का स्वरूप

> एक छात्र के रूप में जब हम इतिहास की पाठ्यपुस्तकें पढ़ते हैं तब हमारे सामने ऐसी उक्तियों की एक लड़ी पेश कर दी जाती है जिन्हें हम, कमोबेश उदासीनता के साथ, सत्य मान लेते हैं। हम दर्जनों भिन्न-भिन्न स्रोतों से आँकड़े लेकर, उन्हें जोड़-मिलाकर, तैयार की गयी उस कुशल पैबन्दबाज़ी को नहीं देख पाते जिससे घटनाओं का यह सुथरा चित्र तैयार किया गया है। और हमारे भीतर उस मानसिक प्रक्रिया की पड़ताल करने की ललक भी नहीं होती, जिसके द्वारा इन पैबन्दों को एक-दूसरे में गूँथा और जोड़ा जाता है।[1]

यद्यपि प्रत्येक जन-समाज में अपने अतीत को समझने-जानने की एक स्वाभाविक ललक होती है, और अपनी समझ से महत्त्वपूर्ण तथ्यों और घटनाओं को वह आकलित भी करता है, पर अतीत का प्रत्येक आकलन इतिहास नहीं होता। भारत की जातीय स्मृति में अतीत का एक विराट चित्र रहा है, जिसका आख़िरी छोर उस धुर दिगन्त तक पहुँचता है जहाँ धरती और आकाश एक में मिले दिखायी देते हैं; मनुष्यकृत और दैवकृत में फ़र्क़ मिट जाता है और इसके बावजूद यह भ्रम बना रहता है कि शायद इसकी शृंखला इससे भी पीछे को जाती है। पर जिसे हम सही अर्थ में इतिहास कहते हैं, सामाजिक तथ्यों का देशकाल सापेक्ष और क्रमबद्ध विवरण कहते हैं, वह पाश्चात्य सम्पर्क की देन है। इस दृष्टि से भारत का इतिहास लिखने का पहला प्रयत्न भी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ही किया गया। भारत पर अधिकार करने के साथ ही विजित क्षेत्र के प्रशासन का प्रश्न आरम्भ हुआ और सफल प्रशासन के लिए भारतीय मानस को—इसकी भाषाओं, धर्मों, विश्वासों, रीतियों, सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं को—समझने की अपरिहार्यता पैदा हुई और इसी क्रम में अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इन विभिन्न क्षेत्रों में योजनाबद्ध रूप में अध्ययन आरम्भ हुए, पर विभिन्न दृष्टियों से किये गये ये अध्ययन अंग्रेज़ प्रशासकों से पहले विभिन्न मिशनरियों द्वारा धर्म-प्रचार के उद्देश्य से

आरम्भ किये जा चुके थे।[2] इन खंडित अध्ययनों को भारतीय जन-मानस और जातीय अतीत की टोह का प्रयत्न तो कहा जा सकता है, पर इतिहास नहीं। भारत का इतिहास लिखने का पहला काम एक ऐसे व्यक्ति ने किया जो न तो भारत की किसी भाषा से परिचित था, न ही जिसने भारत को अपनी आँखों देखा था। यह थे ब्रिटेन के उपयोगितावादी विचारक जेम्स मिल, जिनकी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया'[3] भारत पर उनके दस वर्षों के अध्ययन का परिणाम तो थी, पर कुछ निश्चित पूर्वाग्रहों के साथ और केवल गौण साक्ष्यों के आधार पर लिखी गयी थी।

भारत पर लिखित इतिहासों पर दृष्टिपात करने पर एक बात जो सबसे अधिक उभर कर सामने आती है वह यह है कि अब तक लिखे गये इतिहास राजनीतिक तक़ाज़ों से लिखे गये हैं, जिन्हें वस्तुपरक इतिहास नहीं कहा जा सकता। भारतीय इतिहास-लेखन के इतिहास को हम मोटे तौर पर चार कालों अथवा अध्यायों में बाँट सकते हैं और इन चार कालों में इतिहास-लेखन के प्रेरक आग्रहों को सामने रखते हुए ही उन जटिलताओं को समझ सकते हैं जो भारतीय अतीत को दो विपरीत रूपों में चित्रित करने के लिए उत्तरदायी मानी जा सकती हैं :

(1) **सन् 1817 तक का काल**—इसे सही अर्थ में पाश्चात्य धर्म-प्रचारकों और ब्रितानी प्रशासकों के लिए भारतीय भाषाओं और विशेषतः संस्कृत से परिचय का काल कह सकते हैं, जिसकी मुखर अभिव्यक्ति सर विलियम जोन्स द्वारा 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल' के तीसरे अधिवेशन के अवसर पर दिये गये भाषण में हुई थी जिसमें उन्होंने यूरोप की भाषाओं से संस्कृत के सम्बन्धित होने की घोषणा की थी, और जिसके साथ सही अर्थ में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का जन्म हुआ था। इस काल के महत्वपूर्ण राजनीतिक तथ्यों में से एक तथ्य यह था कि ब्रितानी उपनिवेशवादियों के बढ़ते हुए प्रसार के बावजूद फ्रांसीसी भारत में एक ख़तरनाक प्रतिस्पर्धी के रूप में बने हुए थे। भारत का एक बड़ा हिस्सा अभी तक ब्रितानी आधिपत्य में नहीं आया था। इस दौर में प्रशासन से अधिक महत्वपूर्ण थीं कम्पनी की व्यापारिक गतिविधियाँ, जिनमें जनसम्पर्क की अधिक सम्भावना बनी रहती है और सम्बन्धित पक्षों को अधिक निकट आने का और एक-दूसरे को समझने का अधिक अवसर रहता है। इसके अतिरिक्त यह भी एक सचाई है कि अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद और श्रेण्यवाद (क्लासिसिज़्म) ने एक विश्ववादिता को जन्म दिया था, जिससे इस काल के अंग्रेज़ अधिक प्रभावित थे और दूसरी संस्कृतियों को समझने की दृष्टि से विक्टोरिया-कालीन ब्रिटेन की तुलना में अधिक अच्छी स्थिति में थे।[4] अतः हेस्टिंग्स की दृष्टि में "भारतीय प्रशासन को एक सुदृढ़ आधार पर रखने के लिए भारतीय संस्कृति को समझना"[5] ज़रूरी था। "भारत पर प्रभावशाली ढंग से शासन करने के लिए भारत को प्यार करना ज़रूरी था; भारत

को प्यार करने के लिए लोगों के साथ संचार क़ायम करना ज़रूरी था और संचार के लिए उनकी भाषा को सीखना ज़रूरी था।"[6]

भारतीय भाषाओं और विशेषतः संस्कृत से परिचय, संस्कृत में रचित साहित्य से परिचय, अध्येताओं की भारत-विषयक धारणा को बदलने में सहायक तो हुआ ही, इस क्रम में एक ऐसी प्राचीन संस्कृति का पता चला जिसका प्रभाव भारत से लेकर यूरोप के अन्तिम छोर तक था। वेदान्त और इसके दृष्टान्त में लिखी गयी कृतियों को पढ़ते समय यह विश्वास न करने का कोई चारा नहीं दिखायी दे रहा था कि "पाइथागोरस और प्लेटो ने अपने उत्कृष्ट सिद्धान्त उसी स्रोत से लिये होंगे जिससे भारतीय ऋषियों ने लिये थे।"[7] भारतीय अतीत का एक ऐसा अध्याय सामने आ रहा था जो चिर काल से पिछड़े भारत के विषय में शासकों की धारणा को बदल रहा था, "हिन्दू आज जितने भी पतित और अधम क्यों न दिखायी देते हों, प्राचीन काल में कभी वे कलाओं में और शौर्य में विलक्षण, प्रशासन में सुयोग्य, विधि-निर्माण में बुद्धिमान, और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवीण थे।"[8] इस बात के प्रमाण मिल रहे थे कि पश्चिम "कलाओं और विज्ञानों में एशिया की सभ्यताओं के योगदान के लिए उनका आभारी है"[9] और "सभ्यता का जन्म एशिया में हुआ था।"[10] इन अध्येताओं को भारतीय समाज अपने प्राचीन वैदिक आदर्शों से भटका हुआ लग रहा था, कारण वैदिक काल में न तो मूर्तिपूजा थी, न ही बहुदेववाद।[11] पुराणों पर आधारित रीतियों ने और, इनसे भी बुरे, तंत्र के स्रोतों से लिये गये, अनुष्ठानों ने वेदों का स्थान ले लिया था।[12] वैदिक काल में विधवाओं की भी स्थिति इतनी बुरी नहीं थी और सती प्रथा तो थी ही नहीं।[13]

इस तरह भारतीय समाज की तत्कालीन विकृतियों को एक बौद्धिक चर्चा के द्वारा सुधारने और स्वस्थ और रक्षणीय पहलुओं को पुनरुज्जीवित करने का भी एक प्रयत्न इन प्राच्यविदों द्वारा आरम्भ किया गया था। सच कहें तो भारतीय पुनर्जागरण, जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति 'ब्रह्म समाज' और 'आर्य समाज' आदि की स्थापना में हुई थी, इन प्राच्यविदों द्वारा आरम्भ किया गया था। यदि इस दौर के प्रशासकों के इतने ही जघन्य लोभ को छोड़ दिया जाये जिसके कारण, अन्य बातों के अलावा, बंगाल का महादुर्भिक्ष पड़ा था और जिसमें कथित रूप में तीस लाख लोगों की जान गयी थी[14], तो इनका सब-कुछ उज्ज्वल ही उज्ज्वल दिखायी देगा।

पर कम्पनी के साम्राज्य के समानान्तर ही ईसाई चर्च भी अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए लालायित था। इसके सामने सबसे बड़ी बाधा कम्पनी प्रशासन स्वयं था जो इन प्रचारकों की गतिविधियों को भारत में अशुभ मानता था[15], अतः इसने धर्म-प्रचारकों पर अंकुश लगा रखा था। इन प्रचारकों की दृष्टि में भारत का उद्धार हिन्दू धर्म को निर्मूल करके ही सम्भव था। कारण, भारतीय

सभ्यता बर्बर थी और इसका धर्म गर्हित था, अतः "ऐसी संस्कृति को सहन करना भी ईसाई भावना का ख़तरनाक उल्लंघन था।"[16] इस तरह भारत में काम कर रहे और भारत से परिचित होने का दावा करने वाले इन दो पक्षों में एव तनाव पैदा हो गया था, जिनमें से एक के अनुसार 'इन मूढ़ और जड़ धर्मान्ध अंग्रेज मिशनरियों—इग्नोरेंट ऐंड बाइगाटेड सेक्टेरियन इंग्लिश मिशनरीज—को वापस बुला लेना ही एक मात्र उपाय था'[17] और दूसरे की दृष्टि में प्रशासन में बैठे ये अंग्रेज प्राच्यविद अंग्रेज युवकों का भारतीयकरण करने पर उतर आये थे, जब कि अंग्रेजी हितों की रक्षा तभी सम्भव थी जब प्रशासक ईसाई विश्वासों में सराबोर हों।[18]

संक्षेप में कहें तो भारत के साथ सांस्कृतिक सामंजस्य का जो दौर प्राच्यविदों द्वारा आरम्भ किया गया था वह विवाद का एक बिन्दु बन गया था और धार्मिक भावना को उत्तेजित करके जनमत को किस तरह प्रभावित किया जा सकता है, यह हम जानते हैं। अतः वेलेजली की वापसी, या कहें बेंटिंग के आगमन के साथ प्रशासन का अंग्रेजीकरण आरम्भ होना अकारण नहीं था। स्वयं जेम्स मिल ने अपने दस वर्षों के अध्ययन में जो जानकारी भारत के विषय में जुटायी थी उसका बहुत बड़ा अंश इन मिशनरियों द्वारा भेजी गयी रिपोर्टों और वेलूर हत्याकांड (जिसके लिए मिशनरियों को दोषी और उस समय मद्रास में नियुक्त बेंटिंग को अपने कर्तव्य में असावधान माना गया था और इसके बाद मिशनरियों के भारत में बने रहने के प्रश्न पर लम्बी बहस छिड़ी और पार्लमेंट के बाहर-भीतर तूफ़ान मच गया था) के सिलसिले में प्रकाशित या प्रचारित तथ्यों पर आधारित था। लगभग इस बहस के साथ ही मिल का भारत का इतिहास लिखने की तैयारी में लग जाना और उनके इतिहास में भारत के विषय में उन्हीं विचारों की पुष्टि, जिन्हें ईसाई प्रचारकों का विचार कहा जा सकता है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहने देता।

(2) **प्रतिक्रिया का दौर**—मिल ने न केवल भारतीय प्राच्यविदों पर प्रहार किया था, अपितु वाल्तेयर में भी, जो चीनी सभ्यता के प्रशंसक थे, 'प्राच्य निरंकुशतावाद के प्रति मूर्खतापूर्ण भावुक आसक्ति' पायी थी।[19] मिल की नज़र में भारतीय और चीनी दोनों अनेक मामलों में समान थे; "दोनों राष्ट्रों में एक जैसी कुटिलता पायी जाती है, दोनों इतने पाखंडी, धोखेबाज और मिथ्यावादी हैं जितना कोई असभ्य-से-असभ्य समाज नहीं होगा। दोनों में अपने से संबंधित हर बात को अतिशय बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने की आदत है। दोनों कायर और भावशून्य हैं। दोनों बेहद घमंडी हैं, और दूसरों के प्रति दम्भपूर्ण घृणा से ओतप्रोत हैं, पर अपने व्यक्तिगत जीवन में और घरों के मामले में दोनों नितान्त जुगुप्सु हैं।"[20] प्रश्न यह नहीं है कि मिल के ये विचार सही थे या ग़लत, रोचक बात यह है कि उन्होंने भारत या चीन किसी को देखा नहीं था। यह धारणा मिशनरियों की रिपोर्टों के आधार पर बनायी

गयी थी। और इसी पर आधारित था भारतीय इतिहास का मूल्यांकन जो अपने प्राचीनतम काल से 'जड़ और परिवर्तनहीन' बना हुआ है और इसके पीछे उद्दंड राजाओं और ब्राह्मणों का दुहरा स्वेच्छाचार था।[21] मिल ने अपने इतिहास का काल-विभाजन भी धर्मों के आधार पर किया था। इसके बाद भारत के विषय में पाश्चात्य विचारकों और दार्शनिकों के मन में भारत की जो छवि तैयार हुई वह मुख्यतः इसी पुस्तक पर आधारित थी। मिल का सबसे कठोर प्रतिवाद स्वयं अंग्रेज़ प्राच्यविदों ने किया था, जिनमें विल्सन, स्टीवर्ट और मैकनाटन आदि के नाम प्रमुख हैं।[22] पर अब सांस्कृतिक सामंजस्य की दिशा में प्रयत्नशील प्राच्यविदों का ज़माना लद चुका था।

आगे के पाश्चात्य इतिहासकारों के लिए मिल का इतिहास एक मॉडल का काम करता रहा है। अब वही अतीत बर्बर या अर्धबर्बर से भिन्न कुछ नहीं रह गया था और अनेक मामलों में वैदिक साहित्य के अधिकारी विद्वान भी इसके अपवाद नहीं थे। इसकी एक अच्छी मिसाल मैक्समूलर हैं, जिनके संस्कृत साहित्य के इतिहास का शीर्षक ही था, 'ए हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर सो फ़ॉर इट इलस्ट्रेट्स दि प्रिमिटिव रिलिजन ऑफ़ दि ब्राह्मणाज़'। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि वैदिक अध्ययन में इसके बाद पाश्चात्य विद्वानों का आज तक यही रुख़ रहा है।

(3) **पुनरुत्थानवादी मूल्यांकन**—मिल के विवेचन ने जिस बात को रेखांकित किया था उनमें से एक तथ्य यह था कि भारतीय जातिगत रूप से एक लम्बे अरसे से जड़ता की स्थिति में रहने के कारण सभी प्रकार की योग्यताओं से शून्य हो चुके हैं, और इनमें अपना शासन करने तक की योग्यता का अभाव है, जो क्रमिक शिक्षा और पश्चिमीकरण के द्वारा ही आ सकती है। अतः स्वतंत्रता की माँग तेज़ होने के साथ भारतीय इतिहासकारों की कुछ पीढ़ियों ने इस दौर में पुनः प्राचीन भारत का नया मूल्यांकन करने का और मिल की मान्यताओं का, जो पाश्चात्य मान्यता का रूप ले चुकी थीं, खंडन करने का प्रयत्न किया। इन्होंने प्राचीन भारतीय संस्थाओं, समृद्धियों, उपलब्धियों को सामने रखते हुए उस काम को आगे बढ़ाया, जिसे पहली पीढ़ी के अंग्रेज़ प्राच्यविदों ने आरम्भ किया था। इनमें भंडारकर, रायचौधरी, जायसवाल, मजूमदार, ओझा, कुमारस्वामी, काणे आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनके अनुसार प्राचीन भारत में उन सभी संस्थाओं का अस्तित्व था जिन पर किसी सभ्यता को गर्व हो सकता है, और जिन पर स्वयं पश्चिमी जगत को गर्व है। भारतीय अतीत के इस 'गौरवशाली चित्र' की स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान एक महत्वपूर्ण भूमिका रही और इसने भारतीय मनोबल को ऊपर उठाने में भी बहुत काम किया।

(4) **पुनर्मूल्यांकन**—स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अतीत के मूल्यांकन का काम सँभाला, जिसका आरम्भ कोसम्बी से होता है। गौरवशाली अतीत का चित्र उभारने वाले इतिहासों से एक तरह का ख़तरा भी था। इनसे हमारा विवेक कुंठित होता है और अतीतोन्मुखता आती है। यदि अतीत गौरवशाली है तो उसकी वापसी करते हुए हम अपना भाग्य परिवर्तन क्यों न करें? दूसरे, अतीत का मिल जैसे इतिहासकारों द्वारा दिया गया जड़ और गर्हित चित्र हो या अचल गौरवमयता का स्थिर चित्र, इससे ऐतिहासिक विकासक्रम को नहीं समझा जा सकता था। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा 'हिन्दू काल' पर बल भारत के बहुजातीय और संस्कृति-बहुल समाज में प्रतिक्रियावाद को बढ़ावा दे सकता था, अंग्रेज़ी काल से चली आ रही 'फूट-डालो-लड़ाओ-और-राज-करो' की प्रवृत्ति को बढ़ा सकता था, जो और भी ख़तरनाक था। इन विविध तथ्यों को ध्यान में रख कर ही सम्भवतः कोसम्बी ने एक नये प्रकार के इतिहास-लेखन का प्रस्ताव रखा था जिसमें, अन्य बातों के साथ ही, ऐतिहासिक कालों को उत्पादन के साधनों और सम्बन्धों के अनुसार विभाजित करने की आवश्यकता पर बल दिया था।[23] अतीतोन्मुख इतिहासकारों से उनकी शिकायत थी कि "वे एक बिलकुल नये क़िस्म का इतिहास शुरू करने की कोशिश करते हैं, पर मात्र विदेशी पूँजीपतियों के स्थान पर देशी पूँजीपतियों को रखने में ही सफल हो पाते हैं।"[24] कोसम्बी एक प्रतिबद्ध इतिहासकार थे, और उनके अनुसार, "इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास को बदलने का काम इतिहास लिखने के काम से ठीक उसी तरह अधिक महत्वपूर्ण है जैसे मौसम के बारे में निरी बातें करने की अपेक्षा इसके बारे में कुछ करना।"[25] मोटे तौर पर कहें तो, कोसम्बी ने पहली बार एक ऐसी नयी ऐतिहासिक व्याख्या की नींव रखी, जिसे मार्क्सवादी इतिहास-लेखन कहा जा सकता है और इसने आगे के मार्क्सवादी इतिहासकारों को बहुत अधिक प्रभावित किया। इन लेखकों की सारी शक्तियाँ और सीमाएँ मोटे तौर पर कोसम्बी में देखी जा सकती हैं।

इन इतिहासकारों का लेखन भी अतीतवादी इतिहासकारों की तरह एक ऐतिहासिक आवश्यकता की देन था—इतिहास की इस प्रकार की व्याख्या, जिससे सामाजिक रूपांतरण में सहायता मिल सके। यह पाश्चात्य इतिहासकारों के उस ऐतिहासिक विवेचन की प्रतिक्रिया तो थी ही जो भारत को एक परिवर्तनहीन, गतिहीन, प्रस्तरीभूत देश के रूप में देखते आये थे और इसकी अधोगति का अतिरंजित विवरण देते आये थे, इसके साथ ही यह उन भारतीय इतिहासकारों के प्रति भी एक प्रतिक्रिया थी जो गौरवमय अतीत का स्फीत और इकहरा चित्र पेश कर रहे थे।

पर इसकी अपनी कुछ सीमाएँ थीं। यह लेखन भी इतिहास का इकहरा चित्र पेश कर रहा था। जब हम वर्तमान के तक़ाज़े से इतिहास को एक विशेष रूप में

चित्रित करना चाहते हैं तो, चाहे उसे गौरवशाली दिखा कर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करें या गतिशील दिखाकर, हम इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन को छोड़ कर एक मिथकवादी इतिहास की सृष्टि ही कर सकते हैं। मिथकवादी इतिहास हमारी चेतना के विकास में सहायक नहीं हो सकता और, इससे यदि कुछ तात्कालिक लाभ होते भी हैं तो, इसका दूरगामी प्रभाव अनिष्टकर ही होता है। मार्क्सवाद का लक्ष्य है इतिहास से विवेक अर्जित करना और वर्तमान को बदलना, न कि वर्तमान की जरूरत से इतिहास को बदलना। इस तरह सामाजिक रूपान्तरण की चिन्ता में जिस तरह का इतिहास लिखने की शुरुआत हुई वह स्वयं भी मार्क्सवादी इतिहास न होकर, भाववादी इतिहास ही था और इसमें भाववाद की वे सारी सीमाएँ मौजूद थीं जिनसे किसी मार्क्सवादी इतिहासकार को शिकायत होनी चाहिए। मिसाल के लिए, इसमें एकल शब्दों की मनचाही व्याख्या करके आत्मगत निष्कर्षों को इतिहास पर आरोपित करने के प्रयत्न मुखर थे। कोसम्बी को पुनरुत्थानवादी भारतीय इतिहासकारों से शिकायत थी कि वे काल-क्रम का ध्यान न रख कर, और आंचलिक परम्पराओं की समवर्तिता की परवाह न करके, एक घोटाला-सा पैदा कर रहे थे,[26] पर परवर्ती काल में विकसित वर्ण-जाति व्यवस्था को पीछे ले जाकर इसे भारत पर आर्यों के कल्पित आक्रमण से जोड़कर, एक क्षत्रिय-प्रधान आर्य जाति के आक्रमण की तसवीर उभारते हुए कोसम्बी स्वयं भी यही कर रहे थे। उनको और अन्य मार्क्सवादी इतिहासकारों को इस बात के लिए भी दोष दिया जा सकता है कि वे अपने अनजाने ही उस साम्राज्यवादी ऐतिहासिक व्याख्या के भी शिकार हो रहे थे, जिसमें प्रत्येक संघर्ष में एक विदेशी आक्रमणकारी होता है, और दूसरा स्थानीय। उनकी क्षत्रिय-ब्राह्मण संघर्ष की व्याख्या भी नयी नहीं थी और इतिहास का उपयोग फूट डालने के लिए करने के शासकीय षड्यंत्र का ज़हर लिये हुई थी।[27] वे स्वयं भी इतिहास की किंचित जड़ व्याख्या ही कर रहे थे, जब वे हड़प्पा सभ्यता को आर्येतर सिद्ध करने के लिए मामूली ब्यौरों को तूल देकर इकहरे चित्र पेश कर रहे थे, मानो एक ही समाज में अनेक मान्यताएँ और विचार एक साथ काम नहीं करते होते, और इनका ऐतिहासिक विकास नहीं होता। सबसे बड़ी बात यह कि आर्य सभ्यता को आक्रामक जनों की, और इस तरह सिन्धु सभ्यता से भिन्न मानकर, आदिम समाज से लेकर विकसित सभ्यता के इतिहास को उन्हीं आर्य जनों की कृतियों के आधार पर प्रस्तुत करते हुए वे भारत का इतिहास न लिखकर आक्रामक आर्यों का इतिहास लिख रहे थे, और एक ख़ास अर्थ में आर्यसमाजियों से भी अधिक आर्यसमाजी सिद्ध हो रहे थे। यदि आर्य आक्रामक के रूप में, या किसी भी अन्य रूप में, बाहर से आये थे और उनके आने से पहले भारत में एक विकसित सभ्यता थी, तो भारतीय इतिहास के लेखक के रूप में उनसे इस बात की अपेक्षा की जा सकती थी कि वे उस विकसित सभ्यता की पृष्ठ-

भूमि की छानबीन करते हुए इसके सामाजिक और आर्थिक तंत्र के विकास को स्पष्ट करते और इसके लिए जो भी समय उनकी समझ में अपेक्षित हो सकता था उसकी छूट देते हुए इसका विवेचन करते। ऐसी स्थिति में विकास के एक निश्चित चरण पर आर्य जनों का आगमन और उसमें पटपरिवर्तनकारी के रूप में उनकी भूमिका का चित्रण कुछ सार्थकता रखता। पर ऐसा न करके, आर्य आव्रजन या आक्रमण के मिथक को स्वीकार करके, ऋग्वैदिक समाज को ही बर्बर बनाकर, बर्बरता से सभ्यता के विकास की तलाश करते हुए और इससे पीछे के इतिहास को बट्टे खाते में डालते हुए, बौद्ध काल तक के विविध विकासों को समेटकर इतिहास को कोड़ा मारकर भगाने का और इस गन्तव्य तक पहुँचाने का जो काम किया गया, उसमें जगह-जगह उससे भी कहीं अधिक झोल रह गये हैं जो पुनरुत्थानवादी इतिहासकारों की व्याख्याओं में पाये जाते हैं। इसका एक उदाहरण यह है कि जहाँ कुछ आर्यसमाजी विद्वान एकल शब्दों की व्युत्पत्ति का सहारा लेकर वैदिककाल में बिजली, कल-कारख़ानों और विमानों तक को प्रमाणित करने पर उतारू रहे हैं, वहाँ व्युत्पत्ति का ही सहारा लेकर वैदिक जनों को मुख्यतः पशुचारी, पशुओं के लिए ही लड़ाई-झगड़ा करने वाला, समुद्र से अपरिचित, व्यापार-वाणिज्य से अनभिज्ञ सिद्ध करने की प्रवृति मार्क्सवादी इतिहासकारों में पायी जाती है।

2

वैज्ञानिक इतिहासदृष्टि

जैसा कि ऊपर के विवेचन से पता चलेगा, प्रश्न तथ्यों की अपर्याप्तता के कारण उत्पन्न हुई उलझन का नहीं, अपितु दृष्टिदोष से उत्पन्न हुई उलझन का है। वैदिक काल इस बात की एक अच्छी मिसाल है कि मामूली-से दृष्टिभेद से आधार-सामग्री वही होते हुए भी इससे कितने भिन्न-भिन्न आशय निकाले जा सकते हैं। इतिहास का अध्ययन यदि किसी सीमित उद्देश्य से प्रेरित होकर किया जायेगा और उस उद्देश्य के अनुसार तथ्यों को ही विकृत किया जायेगा तो इससे हमारा उद्देश्य सिद्ध हो या नहीं, इतिहास की समझ अवश्य विकृत होगी। इतिहास को विकृत और विषाक्त बनाकर हम उन गुज़रे हुए कालों का न तो कुछ भला कर सकते हैं, न बुरा। वे जो कुछ थे, थे, और अब वे हमारी पहुँच से बाहर हैं। पर ऐसा करके हम अपने वर्तमान को अवश्य विकृत और विषाक्त बना सकते हैं। किसी भी राष्ट्र का अहित चाहने वालों ने, या उसे अपने उपकरण के रूप में काम में लाने के लिए उत्सुक वर्गों ने, हर बार यही किया है। किसी भी अन्य इतिहासकार की तुलना में एक मार्क्सवादी इतिहासकार का सबसे बड़ा दायित्व है कि वह मिथ्या

आग्रहों से इतिहास को विकृत न होने दे। यह तभी सम्भव है जब हम इतिहास के नियमों को समझें और उनकी कसौटी पर तथ्यों को कसते हुए आगे बढ़ें।

बुद्ध ने किसी भी वैज्ञानिक विवेचन के लिए एक मानदंड प्रतिपादित किया था जो इतिहास पर भी लागू होता है, "इमस्मिं सति इदं होति; इमस्स उप्पादा इदं उपज्जति। इमस्मिं असति इदं न होति; इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति।"[28] दूसरे शब्दों में कहें तो, कार्य-कारण की एक अनिवार्य परम्परा है और कोई भी चीज़ किन्हीं विशेष कारणों और कारकों की अनिवार्य देन होती है। 'यदि ऐसा है तभी ऐसा होगा, यदि यह पैदा हुआ तो यह अवश्य पैदा होगा। यदि ऐसा नहीं है तो ऐसा नहीं हो सकता। यदि इसे रोक दिया जाये तो यह भी रुक जायेगा।'

भूल वहाँ की जाती है जहाँ यह मान लिया जाता है कि यदि समय बीतता है तो परिवर्तन अवश्य होता है और यह विकास के रूप में ही होता है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक परिवर्तन विकास ही नहीं होता और प्रत्येक विकास अपनी जड़ों में ही नहीं होता। सामाजिक विकास की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है और इसे सरलीकृत रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसके तीन घटक माने जा सकते हैं: भौतिक दबाव या आवश्यकता, आर्थिक आधार, और तकनीकी ज्ञान। इनमें से किसी के अभाव में सभ्यता का विकास नहीं हो सकता, इनमें से किसी के लुप्त होने पर उन्नत सभ्यता में भी गिरावट या बिखराव आ सकता है।

विगत कालों में हम जिन सभ्यताओं को उन्नत देखते हैं उनके मूल में उनकी आर्थिक समृद्धि रही है। यह समृद्धि पूरे समाज की न होकर उसके एक ख़ास वर्ग की होती है, और यह शेष जनों के उत्पादों को उस वर्ग द्वारा हथियाने के किसी तंत्र और प्रपंच के विकास पर निर्भर करती है। सामाजिक उत्पाद के इस अपहरण से संचित सम्पदा ही उत्कृष्टतर उपभोक्ता वस्तुओं, अधिक शानदार आवासों, अधिक सुख और ऐश्वर्य की आकांक्षाओं, अधिक परिष्कृत कलावस्तुओं की माँग का रूप ले लेती है। इसके स्तर को बनाये रखने या ऊपर उठाने के लिए, उत्पादों के आहरण को बदस्तूर रखने के लिए, अपने धन-जन की सुरक्षा के लिए एक पूरा प्रशासनिक तंत्र विकसित होता है, नगर बनते हैं, कलाकारों और चिन्तकों को प्रोत्साहन मिलता है, समाज के विभिन्न वर्गों, एक ही वर्ग के विभिन्न वय, ज्येष्ठता और कनिष्ठता तथा लिंग के आपसी आचारों के लिए सामाजिक मानदंड बनते हैं, आचार-संहिताएँ बनती हैं, प्रोत्साहन, अपेक्षा और दबाव के द्वारा इनको क्रियान्वित किया जाता है और इस तरह उस विशेष चीज़ का जन्म होता है जिसे 'नियम और शिष्टाचार' कहा जाता है। उस चीज़ का जन्म होता है जिसे 'नैतिक चेतना और विवेक' कहते हैं। अपनी सुरक्षा और उन्नत जीवन-स्तर के लिए बसाये गये इन शहरों में विभिन्न कलाकारों और प्रविधिज्ञों को, विचारकों और

कवियों को अपने अनुभव, ज्ञान, कौशल और मौलिकता को प्रकट करने और इनका आदान-प्रदान करने का अधिक अवसर मिलता है और इससे इन सभी क्षेत्रों में विकास की गति में तेज़ी आती है और इस तेज़ी के अनुरूप सभ्यता का स्तर क्रमशः उठता चला जाता है और इसके उपक्रमों में नये पहलू जुड़ते चले जाते हैं।[29]

इस तंत्र का विस्तार होने के साथ व्यापार आदि की गतिविधियाँ और तेज़ होती हैं, और प्रशासन-तंत्र के रख-रखाव के लिए अपेक्षित वसूली आदि का और व्यापार में लाभ-हानि आदि का हिसाब रखने के लिए रेखांकनों आदि का सहारा लिया जाता है जो क्रमशः परिमार्जित होते हुए लिपि का रूप लेते हैं और लेखन के विकास के साथ सम्पर्क और विचार-विनिमय का दायरा और फैलता है।

फिर एक निश्चित स्तर तक इस सभ्यता के पहुँच जाने के बाद इसके भीतर और बाहर दोनों ओर अधिक अधिकार, अधिक छूट या अधिक लाभ चाहने वाले वर्ग और इसको लूटकर मालामाल होने के लिए आतुर तत्व सामने आते हैं और हम इसे संकटग्रस्त और अवरुद्ध और कुंठित होते हुए पाते हैं और यहाँ से इसका विनाश आरम्भ हो जाता है। सभ्यता के पतन या विनाश के अनेक कारण हो सकते हैं। उस समाज के अपने विषम विकास के कारण पतन के बीज उसके भीतर ही पैदा हो सकते हैं। अधिकतम लाभ की चिन्ता में उसके आंतरिक कलह, दूसरों को उनके हक़ से वंचित करने के लिए उसके बौद्धिकों द्वारा गढ़ा गया कपट-तंत्र, स्वयं उसमें भी अन्धविश्वासों को जन्म दे सकता है और उसकी वस्तुवादी दृष्टि को प्रभावित कर सकता है। श्रमिकों द्वारा और विशेषतः शिल्पियों द्वारा उचित लाभ या प्रोत्साहन की माँग को लोभवश ठुकराया जा सकता है और इससे खिन्न होकर वे उदासीन हो सकते या विद्रोह कर सकते हैं या नये संरक्षकों की खोज में अन्यत्र जा सकते हैं। प्राकृतिक उपद्रव इसके आर्थिक आधार को नष्ट कर सकते हैं। आक्रमणकारी इसको लूटकर बरबाद कर सकते हैं।

सभ्यता के पतन के बाद इसके शिल्पी या तो आकर्षण के अन्य केन्द्रों की ओर पलायन कर सकते हैं या अपने ही भूभाग में अन्य ग्राहकों की सेवा में लग सकते हैं। इस तरह सभ्यता-विशेष तो नष्ट हो सकती है पर इसकी उपलब्धियाँ नष्ट नहीं होतीं, अपितु एक अधिक बड़े क्षेत्र में इनका प्रसार हो जाता है जहाँ ये प्रेरक-शक्ति का काम करने लगती हैं। कुछ सीमित व्यक्तियों की समृद्धि नष्ट होने पर भी समग्र मानव-समाज को ध्यान में रखें तो, न तो समृद्धि का ह्रास होता है, न ही ज्ञान और कौशल का। इनका मात्र प्रसार होता है। इसी ज्ञान और कौशल की अभिव्यक्ति अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर अधिक ओजस्वी रूप में दूसरे क्षेत्रों में होती है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए कुछ इतिहासकारों को सभ्यता के पतन के स्थान पर 'पुनर्समायोजन' शब्द अधिक सही लगता है।[30]

दूसरे शब्दों में कहें तो, जिन्हें हम सभ्यता का उत्थान काल कहते हैं वे सामा-

जिक श्रम और उत्पादन के संचित भंडार की अभिव्यक्तियाँ हैं और जिन्हें हम ह्रास का काल कहते हैं वे इस दौर की उपलब्धियों के बिखराव और प्रसार के काल हैं। इस सभ्यता को जब हम स्थान और वर्गबद्ध रूप में देखते हैं तभी विकास-क्रम में उत्थान और पतन की बात करते हैं। समग्र मानव-समाज की चेतना, ज्ञान, शिल्प और समृद्धि को सामने रखें तो इसका कुल योग अपने पहले चरणों की तुलना में हर समय आगे रहता है; विकास में एक निरन्तरता और अग्रवर्तिता प्रत्येक काल में दिखायी देती है। इसके बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि जिन कालों में ज्ञान और अनुभव के आदान-प्रदान के अवसर अधिक रहते हैं उनमें विकास की दर अपेक्षाकृत अधिक प्रखर रहती है और विपरीत स्थितियों में मन्दता, जड़ता और विगलन भी उत्पन्न होता है।

अतः हमारी दृष्टि में वैदिक काल को समझने में सबसे बड़ी बाधा तथ्यों के अभाव की नहीं, अपितु तथ्यों के प्रति सही दृष्टिकोण के अभाव की रही है और इसको दूर किये बिना हम जिस भी प्रकार का इतिहास लिखेंगे वह इतिहास न हो कर एक मिथक ही होगा। भारतीय परम्परा हो या भारतीय इतिहास, इसमें मिथकों की कमी नहीं है। मोहासक्ति से या भय से इतिहास के पुनर्लेखन के नाम पर इन मिथकों को बल देने या नये मिथक गढ़ने का कोई औचित्य नहीं है। इतिहासकार का दायित्व परम्परागत रूप में चले आ रहे मिथकों को तोड़ना तो है ही, आधुनिक इतिहासकारों द्वारा गढ़े गये मिथकों को तोड़ना भी है।

एक मिथक की सबसे बड़ी सीमा यह होती है कि इसमें इतने छिद्र और अन्तर्विरोध होते हैं कि यह हर मोड़ पर अविश्वसनीय लगता है। इसे समझना नहीं, मानना पड़ता है। इसकी सबसे बड़ी शक्ति यह है कि इसको गढ़ने वाले अपने समय के अधिकारी विद्वान हुआ करते हैं, अतः लाख ख़ामियों के बावजूद, उनके बौद्धिक आतंक में आकर, हम इनको स्वीकार कर लेते हैं। क्रमशः प्रसारित और प्रचारित होते हुए ये आप्त वाक्य की तरह हमारी चेतना में इस तरह उतर जाते हैं कि प्रत्यक्ष असंगतियों के बावजूद इनका निषेध करने का हमारा साहस नहीं हो पाता। हमारे विश्वास का अंग बन जाने के बाद ये प्रत्यक्ष प्रमाणों को भी अप्रामाणिक और अपनी अप्रामाणिकता को भी एक कसौटी बना देते हैं। प्रमाण हमारी आँखों के सामने होते हैं और हम उन्हें देखने से इनकार कर देते हैं और शिकायत करते हैं कि इसका कोई निर्णायक प्रमाण ही उपलब्ध नहीं है।

3
पुरातत्व और वैदिक काल

इतिहास के अध्ययन की सबसे विश्वसनीय शाखा पुरातत्व है। पर वैदिक काल के मामले में हम पुरातत्व को भी एक उलझन में फँसा पाते हैं। या तो वैदिक

काल के विषय में प्रमाण हैं ही नहीं, जो एक असंभव-सी बात है या यदि हैं तो हम इनको इस सभ्यता से जोड़ने में आज तक सफल नहीं हुए हैं।[31] चित्रित धूसर भाँडों की प्राप्ति ने एक बार अध्येताओं में ख़ासे उत्साह का संचार कर दिया था और आज भी आर्यों का नाम आने पर इनकी चर्चा आये बिना नहीं रहती। पर इनकी व्याप्ति सरस्वती घाटी से लेकर गंगा-यमुना के दोआब तथा उत्तरी उत्तर प्रदेश तक ही सीमित है।[32] कुछ स्थलों पर हड़प्पा के अवशेषों से इसका स्तरगत सम्बन्ध इस भ्रम को तोड़ता है कि इन भाँडों का उपयोग करने वाले हड़प्पा सभ्यता से विलोम सम्बन्ध रखते थे।[33] भारत से बाहर ही नहीं, अपितु सरस्वती क्षेत्र से आगे भी इसका कोई सूत्र हाथ नहीं आता।[34] वैदिक सभ्यता के सन्दर्भ में यदि इसका सम्बन्ध किसी काल से जुड़ता भी है तो उत्तर-वैदिक काल से ही।[35] जहाँ तक हड़प्पा समाधि-भूमि एच, गान्धार-समाधि-संस्कृति तथा झूकर का सम्बन्ध है, इनके बीच एकरूपता का अभाव है। बस्ती के ढंग, कलावस्तुओं, हथियारों और समाधि की रीतियों में भी अन्तर दिखायी देता है।[36] इन्हें अलग-अलग रखा जाये तो इनका क्षेत्र इतना सीमित हो जाता है कि इनको आर्यों से सम्बद्ध करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

चित्रित धूसर भाँडों को जैसे भारत में आर्यों से सम्बद्ध किया गया है उसी तरह कुरगन संस्कृति या त्रिपोली संस्कृति को आदिम भारोपीय जनों से सम्बद्ध करने के प्रयत्न किये जाते रहे हैं। पर इसके साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इनका प्रसार पश्चिमोत्तर की ओर, या कहें यूरोप की ओर तो होता दिखायी देता है,[37] पर ईरान या भारत की ओर इनके बढ़ने का कोई चिह्न नहीं दिखायी देता। प्रकारान्तर से कहें तो भारोपीय जनों का साहित्यिक या पुरातात्विक प्रमाण ले-दे कर ऋग्वेद और पश्चिमी एशिया के अभिलेखों तक सीमित रह जाता है, जिनमें से किसी से भी अविकसित और बर्बर सांस्कृतिक स्तर की पुष्टि नहीं होती और दोनों में साम्य भी अनन्य दिखायी देता है। इस तरह हम बर्बर आर्यों, और सभ्यताद्रोही आर्यों, और भारत पर आक्रमण करने वाले या भारत में प्रवेश करने वाले आर्यों के विषय में कोई पुरातात्विक साक्ष्य नहीं पाते। पर इस छवि को भुला दें तो प्रमाणों के विषय में निराशा का प्रश्न नहीं रहता।

प्रश्न यह है कि एक ऐसा जन-समाज जिसने दुनिया के विशालतम भूखंड पर इतना गहरा प्रभाव छोड़ा, विश्व की अनेक उन्नत सभ्यताओं का विकास किया, उसके विषय में पुरातात्विक प्रमाणों का इतना दुर्भिक्ष क्यों है? इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि भारोपीय जन, और उनमें भी ख़ास तौर से आर्य शाखा के लोग, घुमक्कड़ थे। न तो उन्होंने कहीं कोई स्थायी बस्ती बसायी, न ही अपनी गतिविधि का कोई निशान छोड़ा।[38] इस तरह का उत्तर उन लोगों का हो सकता है जो आदिम भारोपीय संस्कृति को त्रिपोली या कुरगन संस्कृति से या इनके ही किसी

समरूप से जोड़ना उचित समझते हैं। पर जैसा कि हम कह आये हैं, स्वयं कुरगन और त्रिपोली जनों ने अपनी संस्कृति की स्पष्ट छाप छोड़ी है, और ये संस्कृतियाँ भारत की ओर किसी अभियान की सूचना नहीं देतीं। इसके विपरीत, कुछ रूसी विद्वानों का मत है कि त्रिपोली संस्कृति के सर्जक पूर्व की ऐसी सभ्यताओं से वहाँ पहुँचे थे जिनके पास कृषि का विकसित आधार था।[39] जहाँ तक कुरगन संस्कृति के सर्जकों के उक्त क्षेत्र में पहुँचने का प्रश्न है, जिंबुतास का मत भी इससे अधिक भिन्न नहीं है।[40] सीथियन, जो बर्बरता में अपनी मिसाल नहीं रखते, जो इतने घुमक्कड़ थे कि उनकी स्त्रियाँ भी घुड़सवारी करती थीं, अपने अस्तित्व और गतिविधियों की अमिट छाप छोड़ गये हैं। आख़िर भारतीय-ईरानी 'आर्य-शाखा' के साथ ऐसी क्या समस्या आ गयी थी ? प्रमाण न सही, प्रमाणों के अभाव का कोई संगत समाधान तो हो !—

इसका दूसरा जवाब यह हो सकता है कि हमने आर्यों की जो तसवीर गढ़ रखी है वह ग़लत है। पुरातात्विक प्रमाण हैं, पर हम इस आधारहीन तसवीर के कारण उन्हें वैदिक जनों से जोड़ नहीं पा रहे हैं। भारत में आर्यों के आक्रमण के लिए कल्पित काल के ठीक आस-पास पश्चिमी एशिया के जिन भी स्थलों से उनके अस्तित्व के ठोस भाषिक व पुरातात्विक प्रमाण मिले हैं, वहाँ हम उन्हें उन्नत अवस्था में पाते हैं। भारत में या भारत से बाहर वे अपने लिए आर्य शब्द का प्रयोग इतने गर्व और श्रेष्ठताबोध के साथ करते हैं कि इसको किसी पिछड़ी संस्कृति से जोड़ने का कोई औचित्य नहीं दिखायी देता। अतः दोष पुरातत्व का नहीं, अपितु उस मिथक का दिखायी देता है जिसे तोड़ने का साहस पुरातत्ववेत्ता भी नहीं जुटा पाये हैं।

यदि स्थिति ऐसी है तो हमें अपनी आधार-सामग्री की नये सिरे से जाँच करनी होगी। इन भ्रमों की बुनियाद साहित्य, भाषा और देवशास्त्र आदि पर टिकी हुई है; अतः परीक्षा भी इन्हीं की करनी होगी। आरम्भिक अवस्था में पुरातत्व हमारी कोई मदद नहीं कर सकता, पर एक बार इस भ्रम के निर्मूल हो जाने के बाद हमारे पास पुरातात्विक साक्ष्यों का भी अभाव नहीं रहेगा।

4

मूल भारोपीय जन

जिन मूल भारोपीय जनों की हम बात करते हैं उनके बारे में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं। हमें केवल इतना ही पता है कि भारत से लेकर यूरोप तक बोली जाने वाली भाषाओं की शब्दावली में और इस समूचे क्षेत्र में बसे जनों की पुराण-कथाओं और गल्प-कथाओं में कुछ ऐसे प्रभावशाली सर्वनिष्ठ तत्व हैं जो निरे आकस्मिक नहीं हो सकते। मूलतः इनके प्रसार का कोई एक ही केन्द्र रहा हो सकता है। प्रसार

कब और कैसे हुआ, यह एक विवाद का विषय है। इस विवाद को सुलझाने के लिए तरह-तरह की कल्पनाएँ की जाती रही हैं। कल्पना किसी समस्या के समाधान के लिए एक उपयोगी उपकरण है, पर जब तक इसकी अकाट्य पुष्टि ठोस प्रमाणों से न हो जाये, इस कल्पना को ही एक ऐतिहासिक तथ्य बना देना और इसकी सीमा में ही तथ्यों की छानबीन करना, इस समस्या के समाधान में सबसे बड़ी बाधा है। अतः सबसे पहली ज़रूरत इस बात की है कि हम इन कल्पनाओं को थोड़ी देर के लिए विराम दे दें और फिर तथ्यों की जाँच-पड़ताल करें।

एक दूसरी बात जिसका हमें सुनिश्चित पता है, वह यह है कि इन समान तत्वों का प्राचीनतम लिखित स्रोत जो इन विविध पहलुओं पर प्रकाश डाल सके, ऋग्वेद है। संस्कृत वह अकेली भाषा है जो उन मामलों में भी विभिन्न यूरोपीय भाषाओं से तथा अवेस्ता की भाषा से अपना जुड़ाव प्रकट करती है जहाँ ये अपनी पड़ोसी भाषा से भी अनमेल प्रतीत होती हैं।[41] इसके देवशास्त्र में हम भारोपीय देवशास्त्र को आकार लेते देखते हैं और अन्य क्षेत्रों में इसका ह्रासोन्मुख रूप ही दिखायी देता है।[42] भारोपीय गल्पों का स्रोत भारत दिखायी देता है।[43]

जहाँ तक भाषा की प्राचीनता का प्रश्न है, दुनिया की अविकसित-से-अविकसित भाषा का भी इतिहास उतना ही लम्बा है जितना किसी विकसित भाषा का। अतः मुख्य प्रश्न इस बात का है कि भाषा-विशेष का किसी काल में क्या स्तर पाया जाता है? वैदिक भाषा को हम ऋग्वैदिक काल में भी उतनी ही समर्थ और ओजस्वी पाते हैं जितनी परवर्ती कालों की संस्कृत को, और संस्कृत के विषय में जो बात विलियम जोन्स ने कही थी उसे उच्छल भावोद्गार नहीं माना जा सकता, "संस्कृत भाषा की प्राचीनता चाहे जो भी क्यों न हो, इसका गठन अद्भुत है। यह ग्रीक से अधिक निर्दोष, लातिन से अधिक सक्षम और इनमें से किसी की भी तुलना में अत्यधिक परिमार्जित है।"[44]

भाषा का विकास शून्य में नहीं होता। यह मानव-समाज के सांस्कृतिक संघर्ष के दौरान अर्जित ज्ञान, अनुभव, कौशल, चिन्तन और प्रत्ययन का; उसकी अनुभूति, अभिरुचि और सौन्दर्यदृष्टि का; उसके भौतिक योग-क्षेम, नैतिक मूल्य-चेतना और सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं और व्यवस्थाओं का यथातथ्य प्रतिबिम्ब है। विलियम जोन्स की उक्त घोषणा के कुछ ही बाद, 1796 में, जेनिख ने भाषा और समाज के सांस्कृतिक स्तर के बीच इस बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए अविकसित और बर्बर जनों की भाषाओं तथा उन्नत समाजों और उनके भी उन्नत चरणों की भाषा के बीच अन्तर को स्पष्ट किया था।[45] उन्नत भाषा न केवल उन्नत सभ्यता को प्रकट करती है, अपितु उसकी उन्नति की महत्वपूर्ण दिशाओं को भी प्रतिबिम्बित करती है। यह एक सार्वभौम और निरपवाद नियम है और भाषा के विषय में अन्य किसी नियम की ओर ध्यान देने से पहले इस नियम पर ध्यान दिया जाना

चाहिए। वैदिक भाषा की यह समृद्धि इस बात का एक अकाट्य प्रमाण है कि वैदिक जन ऋग्वैदिक काल में एक उन्नत सभ्यता के निर्माता थे, और उन्हें अविकसित और यायावर मानकर चलना ग़लत था। दुख की बात यह है कि इस ग़लती को आज तक सुधारा नहीं जा सका है।[46]

5

वैदिक साहित्य

वैदिक साहित्य, जो कम-से-कम भारत में तथाकथित आर्यों या वैदिक जनों की सांस्कृतिक उपलब्धियों का सबसे प्रामाणिक दस्तावेज़ है, अपने तईं भी कम मुश्किलें पेश नहीं करता। इसकी भाषा की प्राचीनता ई० पू० की शताब्दियों में ही, कहें वैदिक काल के उत्तरार्ध में ही, पंडितों के सामने अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ पेश करने लगी थी। एक ही शब्द या अभिव्यक्ति के कितने भिन्न-भिन्न अर्थ दिये जा सकते हैं, इसका कुछ आभास ब्राह्मणों आदि में दी गयी व्याख्याओं से मिल सकता है। शब्दों के रूप, ध्वनि, अर्थ सभी में जहाँ-तहाँ बहुत अन्तर आया है, और स्वयं ऋग्वेद में भी एक ही शब्द के अनेक ध्वनिगत विकार दिखायी देते हैं। अर्थ के विषय में भ्रांति संभवतः ऋग्वैदिक काल में ही, कम-से-कम नये मंडलों के रचना-काल तक, पैदा होने लगी थी। जब ऋग्वैदिक कवि एक-एक उक्ति को सत्तू की तरह छानने की बातें करते हैं[47], या एक ही कृति में इन्द्र के युद्धों की बात करते हैं और फिर यह कहते हैं कि ये युद्ध के वर्णन तो माया के वर्णन हैं, इन्द्र का न तो कोई शत्रु कभी था, न ही आज है;[48] तो वे ऋचाओं की विभिन्न प्रकार की व्याख्याओं के प्रचलन की ही सूचना देते हैं। अतः आज के व्याख्याकारों को यदि अर्थ-भ्रम का शिकार होना पड़ता है तो आश्चर्य की बात नहीं। अधिकांश उक्तियाँ तो कवियों द्वारा स्वतः जानबूझ कर गूढ़ बनायी गयी हैं, और वे इस विषय में हमें किसी भ्रम में भी नहीं रखते।[49]

इन अनेक पत्तों की दुरूहताओं के कारण ऋग्वेद के किसी भी अनुवादक या भाष्यकार पर आँख मूद कर भरोसा नहीं किया जा सकता। प्रसंग और औचित्य को ध्यान में रखकर ही कोई अर्थ निर्धारित किया जा सकता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस दृष्टि से काफ़ी सराहनीय काम किया है। पर जो बात सायण आदि परम्परागत भाष्यकारों पर लागू होती है उससे हम इन आधुनिक व्याख्याताओं को भी मुक्त नहीं मान सकते। अनर्थ उनके द्वारा भी कम नहीं हुआ है। इस जटिल स्थिति ने एक अराजक-सी पैदा कर दी है। विद्वान अध्येता अपनी रुचि और पूर्वाग्रह के अनुसार शब्दों और पदों का व्युत्पत्ति के आधार पर मनमाना अर्थ करके वैदिक जनों को 'गौरवशाली' या 'बर्बर' सिद्ध कर सकते हैं। उदाहरण के

लिए वे अर्थविकास की चिंता किये बिना यह मान सकते हैं कि यदि ऋग्वैदिक साहित्य में खाद्यान्न के रूप में केवल 'यव' का उल्लेख आया है तो ये लोग अनाजों में केवल यव ही पैदा करते थे, न कोई अन्य धान्य, न दालें, न तिलहन। कीथ ने यह सुझाया था कि 'यव' शब्द आज जिस अर्थ में प्रयोग में आता है उससे व्यापक अर्थ में यह वैदिक काल में प्रयोग में आता रहा लगता है[50], पर इसकी ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता।[51] दूसरी ओर, ऐसे शब्द जो एक उच्च सांस्कृतिक स्तर की सूचना देते हैं, उनको खींच-तानकर उनका अधिक आदिम अर्थ लिया जाता है। वलि और कोश और दान को लूट का माल, सरदार के पास इनको जमा करने और उसके द्वारा सभी को समान रूप से वितरण का सूचक मान लिया जाता है।[52] ऐसा करते समय इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया जाता कि वैदिक जनों की अपनी कुछ नैतिक मान्यताएँ भी हैं जिनमें चोरी, लूट, हिंसा, पराये धन पर पलने आदि को निन्दनीय माना जाता है। यह भी नहीं सोचा जाता कि दान को जिस पैमाने पर दिखाया गया है उस पैमाने पर पूरे कबीले को दान करने वाले के पास कितनी सम्पत्ति संग्रहीत हो जायेगी और इस प्रकार का संग्रह उसके आचार-व्यवहार और तंत्र को स्वतः कितना बदल देगा—कारण, परिमाणगत अन्तर गुणात्मक अन्तर भी लाता है। इसके साथ ही यह भी कि लूट तो पूरा कबीला करेगा और दान पाने वाले लोग इसके पुरोधाओं की जमात के होंगे। दूसरी ओर, गौरवशाली चित्र पेश करने वालों को यह नहीं दिखायी देता कि गौरव शून्य में हासिल नहीं होता। उसका एक आर्थिक आधार होता है और उन्नत आर्थिक आधार सदा न्यायपरक नहीं होता। उसके साथ कुछ अनिवार्य बुराइयाँ भी लगी रहती हैं। अतः एक सन्तुलित चित्र के लिए जरूरी है कि सांस्कृतिक उपलब्धियों को तदनुरूप आर्थिक आधार से तो जोड़ा ही जाये, साथ ही इसके विकृत पक्षों का भी उद्घाटन अवश्य किया जाये।

वैदिक भाषा निश्चय ही बहुत पुरानी और किंचित अश्मीभूत भाषा है और इसका ठीक-ठीक अर्थ निर्धारित करने में किसी भी अध्येता को जब-तब असाध्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पर इसकी क्लिष्टता को कुछ अतिरंजित भी किया गया है। स्थिति उतनी निराशाजनक नहीं है जितनी सामान्यतया मान ली जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने भाषिक और सांस्कृतिक दूरियों के बावजूद वैदिक साहित्य के क्षेत्र में जो असाधारण काम किया वह हमारे लिए प्रेरणाप्रद हो सकता है। दुर्भाग्य की बात यह रही कि जिन दिनों वे काम कर रहे थे उन्हीं दिनों संस्कृत भाषा पर उनसे कहीं अधिक अच्छा अधिकार रखने वाले भारतीय पंडितों के पास उन जैसी ऐतिहासिक दृष्टि नहीं थी और इसलिए वे अपने आधिकारिक ज्ञान के बावजूद इस क्षेत्र में विशेष योगदान नहीं दे सके। पाश्चात्य विद्वानों की अपनी सीमाएँ ही उनकी शक्ति भी बन गयीं। इस पुरातन

और सांस्कृतिक दृष्टि से दूरस्थ भाषा के व्याकरण आदि का सामान्य ज्ञान अर्जित कर लेने के बाद वे इनके एक-एक शब्द और वाक्य का अर्थ-निर्धारण करने के लिए सादृश्य रखने वाले स्थलों और प्रसंगों की गहरी छान-बीन करते रहे और इस तरह इसकी दुरूहता से जूझते हुए ही उन्होंने अपने लिए वह असाधारण स्थान बनाया जिसको छू पाना उनके समकालीन भारतीय संस्कृतज्ञों के लिए कठिन था। उनकी सफलता का एक अन्य कारण उनको विभिन्न सरकारी और मिशनरी संस्थानों से मिलने वाली सहायता भी थी और इन सबसे बड़ी चीज़ थी एक मिशनरी भावना—वे निश्चय ही एक दुर्धर्ष संग्राम में जुटे हुए थे और यह था भारत पर सांस्कृतिक विजय का संग्राम[53] और इसलिए उनके बीच एक ऐसा गहरा तालमेल पाया जाता है जो किसी संग्राम में जुटे हुए सेनापतियों के बीच ही संभव है। भारत के स्वतंत्र होते ही वैदिक अध्ययन में उनकी रुचि का एकाएक क्षीण पड़ जाना अकारण ही नहीं माना जा सकता।

पर जिस तरह वैदिक भाषा से आतंकित होने की आवश्यकता नहीं, उसी तरह इन विद्वानों के संस्कृत ज्ञान से और उनकी व्याख्याओं से आतंकित होने की आवश्यकता नहीं। कुछ उनकी असावधानियों के कारण और कुछ इस वजह से कि उनकी दृष्टि में भी वैदिक अध्ययन अभी अपनी शैशवावस्था में ही था, उनकी व्याख्याओं में अनेक कमियों को आसानी से पहचाना जा सकता है। वैदिक अध्ययन कितना अधूरा है और इसकी ओर ध्यान देना कितना आवश्यक है इसका हममें से अधिकांश को, और ख़ास तौर से उनको जो पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के अनुवादों आदि के भरोसे ही अपनी सभी मुश्किलों को आसान कर लेना चाहते हैं, बोध ही नहीं है। इसके उदाहरण के लिए हम यहाँ केवल दो शब्दों पर विचार करना पर्याप्त समझते हैं और इनकी आवर्तिता और महत्व को ध्यान में रखकर हम यह समझ सकते हैं कि जहाँ इतने केन्द्रीय महत्व के शब्दों का आशय समझने में भयंकर प्रमाद बरता गया है वहाँ शेष साहित्य और इसके दुरूह माने जाने वाले अंशों की क्या दशा हो सकती है और क्या इसके बावजूद हम इस बात से आश्वस्त अनुभव कर सकते हैं कि इस क्षेत्र में जो कुछ करने लायक था वह इन पश्चिमी अध्येताओं द्वारा सम्पन्न किया जा चुका है ? ये शब्द हैं—देवता और ऋषि।

ऋग्वेद में आये ऋषि-नामों में हम इन्द्र, गरुण, वैश्वानर, सरमा नाम की कुतिया, वृषाकपि, इन्द्राणी, माष या उड़द, जुए के अक्ष, पणिगण, आत्मा, उर्वशी, जार, नदियों, मछलियों, यम, यमी, सप्तर्षियों, सर्प, सार्पराज्ञी, सोम आदि को भी परिगणित पाते हैं। क्या ये किसी भी सूक्त या ऋचा के रचनाकार हो सकते थे ? ऐसी स्थिति में यह मानना कि ऋग्वेद में 'ऋषि' शब्द का प्रयोग मंत्रों और सूक्तों के रचनाकारों के लिए हुआ है, निरापद नहीं है। जिन स्थलों पर इनको ऋषि बताया गया है उन स्थलों पर ध्यानदें तो पायेंगे कि जो बात किसी के मुँह

से कहलायी गयी है वही उसका ऋषि है। प्रकारान्तर से कहें तो ऋषि का प्रयोग रचनाकार के अर्थ में न होकर, पात्र के अर्थ में हुआ है। पशुओं-पक्षियों से लेकर प्राचीन ख्यात पुरुषों और चिन्तकों तक को पात्र बनाकर उनके माध्यम से किसी बात को अधिक प्रभावशाली रूप में कहलाने की शैली समूचे प्राचीन भारतीय साहित्य में पायी जाती है, जिसकी अच्छी मिसाल महाभारत है।

इसके विपरीत जिन सूक्तों या ऋचाओं में जिन विषयों या वस्तुओं का वर्णन किया गया है वे ही उनके देवता हैं। इस तरह हम इषु, ज्या, वर्म, ग्रावन, उलूखल, मुसल, कृषि, दुन्दुभी, धनु, अश्व, निर्ऋति या आपदा, पणिगण, मेढक, रथ, यहाँ तक कि दानस्तुति को भी देवता के रूप में परिगणित पाते हैं। इस बात की ओर ध्यान न देने के कारण ही वैदिक देववाद को समझने में विद्वानों से भयंकर भूलें हुई हैं जिनके विस्तार में जा पाना यहाँ सम्भव नहीं है। पर मैकडनेल जिन्होंने बृहद्देवता का संपादन और अनुवाद किया था स्वयं अपने ग्रंथ वैदिक माइथॉलॉजी में इस बात को भूल गये, यह कुछ विस्मय की बात अवश्य है[54], कारण, शौनक ने अपनी इस कृति में बहुत स्पष्ट रूप में लिखा है कि संवाद में जो वाक्य जिसके द्वारा कहलाया गया है उसमें वही ऋषि है और उसके द्वारा जो कुछ कहा गया है वही उस स्थान पर देवता है :

संवादेष्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन् भवेत् ऋषिः।
यः तेनोच्येत वाक्येन देवता तत्र सा भवेत ।। बृह. 2.88[55]

विद्वानों द्वारा हुई किन्हीं चूकों के पीछे सदा आशय ही ढूँढ़ा जाये, यह अच्छी बात नहीं और इसलिए हम मान सकते हैं कि वैदिक माइथॉलॉजी लिखते समय मैकडनेल का ध्यान बृहद्देवता के इस कथन की ओर नहीं गया होगा, या यह कि वैदिक माइथॉलॉजी लिखने के समय तक उन्होंने बृहद्देवता का अनुवाद नहीं किया रहा होगा और इससे परिचित भी नहीं रहे होंगे, पर हर हालत में हमें यह तो स्वीकार करना ही होगा कि केवल उपजीवी कृतियों के सहारे और मूल के विषय में असावधानी बरतकर हम वैदिक साहित्य को समझ नहीं सकते और इस क्षेत्र में अभी मूल कृतियों की छान-बीन नये सिरे से करने की और इनके आधार पर नयी व्याख्याएँ देने की बहुत अधिक आवश्यकता है।

'देवता' शब्द के उक्त अर्थ के साथ ही इस बात पर भी ध्यान देना ज़रूरी है कि जहाँ देवताओं का देवत्व असन्दिग्ध है वहाँ भी देवता की परिकल्पना में निरन्तर विकास होता रहा है। हम जानते हैं कि जिन शब्दों का आगे चलकर देवपरक अर्थ में प्रयोग होता है उनमें से लगभग सभी का प्रयोग मानव सम्बन्धों के लिए होता रहा है। स्वामी या साँई, माता, पिता, भाई, गुरु, मालिक, प्रभु, ईश्वर—सभी का सम्बन्ध मानवीय रिश्तों से है। इस दृष्टि से बहुत पहले 'देवता' शब्द का प्रयोग भी समृद्ध या धनी के अर्थ में होता रहा लगता है। जब हमारा सामना ऐसे विवरणों से होता

है जिनमें देवताओं को पहले धरती का निवासी, अदिति या भूमि का पुत्र, ऋषियों का पुत्र आदि कहा गया है तो ऐसा सोचना और भी स्वाभाविक हो जाता है। धरती के समस्त सुखों और समृद्धियों से युक्त और अभावों तथा दुखों-बाधाओं से शून्य स्वर्ग लोक की कल्पना का विकास बाद में होता है और देवताओं का इस द्युलोक से और फिर स्वर्ग से सम्बन्ध बाद में जुड़ता है। वस्तुतः प्रकृति की स्थूल और किंचित हीन सत्ताओं के साथ देवत्व की यह अवधारणा आरम्भ होती है। आगे चलकर प्रकृति की महाशक्तियों—वायु, बादल, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा—को देवत्वमंडित करती हुई यह अदृश्य और स्वर्गीय देवताओं तक कैसे पहुँचती है, यह एक पृथक अध्ययन का विषय है। यहाँ इतना ही संकेत किया जा सकता है कि इसमें हज़ारों वर्ष का समय लगा होगा। यह यात्रा ऋग्वैदिक काल तक लगभग पूरी हो चुकी है, यद्यपि पिछली छायाएँ अभी तक इन देवताओं के साथ बनी रह जाती हैं। इस विकास को समझे बिना, यदि इन विभिन्न चरणों को एक में मिला दें तो निश्चय ही स्थिति बहुत अराजक दिखायी देगी।

सामान्यतः यह कहा जाता है कि वैदिक देवता—विशेषतः इन्द्र और पर्जन्य—कृषि के देवता हैं। साथ यह भी कहा जाता है कि वैदिक जन कृषि से अच्छी तरह परिचित नहीं थे। उनका मुख्य व्यवसाय पशुपालन था। यहाँ इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि पशुपालन की अवस्था से यदि किन्हीं देवताओं का दूरस्थ सम्बन्ध बैठ सकता है तो पशुपति(रुद्र)और पूषन् का, पर उनका भी पुराना रूप प्रभावशून्य हो चला है। वास्तविकता यह है कि ऋग्वैदिक काल तक पहुँचकर सभी देवता व्यापारिक गतिविधियों से जोड़ दिये जाते हैं और पूषा भी अब राहगीरों और व्यापारियों के देवता बन जाते हैं। यही बात यज्ञ पर भी घटित होती है—पूर्ववैदिक काल में आर्थिक उपक्रमों से प्रत्यक्षतः जुड़ा यह आयोजन एक ओर तो व्यापारिक सत्रों की छाया ग्रहण कर लेता है और दूसरी ओर शुद्ध कर्मकांड में बदल जाता है।

अधिकांश अध्ययनों में यह देखा जा सकता है कि शोधकर्ता असुविधाजनक प्रतीत होने वाले अंशों और विवरणों को इसलिए छोड़ जाते हैं कि इनसे कहीं उनकी मान्यता ही खंडित न हो जाये। जहाँ ऐसे असुविधाजनक तथ्य सामने आते हैं वहाँ रुककर इस बात पर विचार किया जाना चाहिए कि हम जिस धारणा को लेकर चल रहे हैं वह सचमुच सही है भी या नहीं। कारण, अन्य किसी विषय में जितना भी मतभेद क्यों न हो, यह तो मानना ही होगा कि वैदिक साहित्य की रचना में बहुत लम्बा समय लगा है। यदि हम एक बहुत लम्बे दौर के इतिहास से अपनी सुविधा के अनुसार चुनाव करें तो जो चाहें साबित कर सकते हैं।

यहाँ स्वतः वैदिक साहित्य के कालक्रम का और इस कालक्रम का यथोचित निर्वाह करने का सुझाव रखा जा सकता है। पर कालक्रम-निर्धारण भी हमारा

पूरा साथ नहीं दे पाता। ऋग्वेद से लेकर ब्राह्मणों, उपनिषदों, यहाँ तक कि पुराणों तक के एक बहुत बड़े अंश की रचना श्रुत परम्परा पर आधारित है और परवर्ती रचनाओं में लिपिबद्ध घटनाएँ सदा पूर्ववर्ती कृतियों से बाद के काल की नहीं होतीं। ऋग्वेद में वर्णित अधिकांश घटनाएँ अतीत से, यदाकदा तो उस धूमिल अतीत से, सम्बन्ध रखती हैं जिसे विवशता में सृष्टि का आरम्भ कह दिया जाता रहा है। पर यही बात ब्राह्मणों और पुराणों तक में आये अनेक विवरणों के विषय में भी कही जा सकती है।[56] अतः कृतियों के कालक्रम से घटनाओं की अपनी प्रकृति और क्रम का महत्व किसी तरह कम नहीं है, और इन दोनों के बीच सन्तुलन बैठाते हुए ही उनके उल्लेखों का इतिहास के लिए उपयोग किया जा सकता है। यह बहुत टेढ़ा काम है और इसके लिए बहुत सन्तुलन और संयम अपेक्षित है। किसी तरह का पूर्वाग्रह अध्येता को भटका सकता है।

एक अन्य सीमा वैदिक साहित्य के साथ यह आती है कि इसका परिरक्षित अंश अपने काल का समस्त साहित्य नहीं है। पुरोहितों द्वारा अपने उपयोग के लिए सँभाल और बचाकर रखा हुआ साहित्य ही हमें आज उपलब्ध है। इसकी प्रकृति याजिकीय है। समूचे ऋग्वेद में लगभग 40 सूक्त ऐसे हैं जिनको प्रत्यक्षतः याजिकीय प्रयोजनों से नहीं जोड़ा जा सकता।[57] इसके कारण अपने विपुल आकार के बावजूद ऋग्वेद में ऐसे सूक्त बहुत कम हैं जिनसे तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर सीधा प्रकाश पड़ सके। यदि ऐसी स्थिति में ऋणात्मक प्रमाणों पर बल दिया जाये, अर्थात यह मान लिया जाये कि जिन चीज़ों का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं आया है उनका अस्तित्व भी नहीं था; या यह कि जिन चीज़ों का उल्लेख जिस अनुपात में आया है उनका अस्तित्व उसी अनुपात में रहा होगा; या यह कि जिन चीज़ों को पुजारी और पुरोहित वर्ग महत्वपूर्ण मानता था उन्हें ही पूरा समाज महत्वपूर्ण मानता रहा हो सकता है, तो यह युक्तिसंगत नहीं होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो, प्रमाणों के अभाव को अभाव का प्रमाण बनाना तो ग़लत है ही, प्रमाणों का यांत्रिक उपयोग भी निरापद नहीं है।

6

हड़प्पा सभ्यता का उद्घाटन और वैदिक समस्या

हड़प्पा सभ्यता की खोज के बाद एक बार नये सिरे से इस समस्या पर विचार करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई कि क्या इसका सम्बन्ध किसी भी रूप में वैदिक सभ्यता से हो सकता है? मार्शल ने इस पर विचार करते हुए जो कुछ लिखा उस पर एक दृष्टि डालना बहुत उपयोगी है। यहाँ हम मार्शल के वक्तव्य को यथा-तथ्य रखना और इस पर ग़ौर करना चाहेंगे।

मार्शल लिखते हैं, "यह आज भी विवादास्पद है कि वे (आर्य) गौरवर्ण नॉर्डिक थे, या श्यामवर्ण भूमध्यसागरीय, या दीर्घशीर्ष अल्पाइन (यद्यपि इसकी बिलकुल संभावना नहीं लगती), या इन तीनों के ही मिश्रण। यद्यपि इस मामले में मोहनजोदड़ो के मानव अवशेष हमारी कोई सहायता नहीं करते, पर सिन्धु और वैदिक संस्कृतियों की तुलना से यह निर्विवाद रूप में प्रकट होता है कि इनके बीच कोई सम्बन्ध नहीं था। इस तरह, ऋग्वेद में भारोपीय समाज का जो चित्र है वह एक पशुचारी समाज का चित्र है जो आंशिक रूप में खेतिहर था, जो ग्राम्य स्तर से ऊपर नहीं उठा था, जिसे नगरों का या ऐसे जटिल आर्थिक संगठन का कोई ज्ञान नहीं है जो इस तरह के जीवन में होना ही चाहिए, और जिसके मकान मुख्यत: बाँसों के बने हुए, ऊलजलूल किस्म के, हैं। दूसरी ओर, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में हम ईंटों के मजबूत और बृहदाकार मकानों से बने सघन आबादी वाले नगर पाते हैं जिनमें यथेष्ट स्वच्छता है और जो स्नानागारों, कुँओं और अन्य सुविधाओं से सुसज्जित हैं। ऋग्वेद के काल में भारतीय आर्य जिन धातुओं का उपयोग करते थे, वे थे, सोना और ताँबा और काँसा, पर कुछ ही समय बाद यजुर्वेद और अथर्ववेद के समय में इन धातुओं के साथ लोहा और चाँदी भी जुड़ जाते हैं। सिन्धु सभ्यता के जनों में चाँदी सोने के मुक़ाबले अधिक प्रचलित है और बर्तन-भाँड़े ताँबे और काँसे के अलावा पत्थर के बने हैं जो नव-पाषाण युग के अवशेष हैं। लोहे का तो नाम-निशान भी नहीं मिलता। वैदिक आर्यों के सामरिक अस्त्रों में धनुष और बाण, भाले, खड्ग और परशु हैं और बचाव के आवरणों में शिरस्त्राण और वर्म हैं। सिन्धु जनों के पास भी धनुष और बाण, भाले और खड्ग और परशु हैं, पर मेसोपोटामियनों और मिस्रियों की तरह उनके पास गदा भी है जो कभी तो पत्थर की होती थी और कभी धातु की। दूसरी ओर, रक्षा-कवच उन्हें पूरी तरह अज्ञात है। यह एक ऐसी बात है जिसका कवचधारी और शिरस्त्राणधारी शत्रुओं के साथ हुई किसी लड़ाई में उनको ख़मियाज़ा भुगतना पड़ा होगा। वैदिक समाज एक मांसभक्षी समाज है जिसे मछली से अरुचि रही लगती है, क्योंकि ऋग्वेद में मछली पकड़ने का कहीं सीधा उल्लेख नहीं है, जब कि सिन्धु के लोगों के आहार में मछली एक आम-सी चीज़ है और यही हाल केंकड़े और कछुए आदि जलचर जीवों का है। वैदिक आर्यों के जीवन में घोड़ा वैसे ही एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था जैसे कि यह उत्तरी स्तेपी (घास के मैदानों) के दूसरे अनेक राष्ट्रों के जीवन में करता था। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के लोगों के लिए घोड़ा अपरिचित प्रतीत होता है, कम-से-कम इन स्थानों पर जिन अनेक जानवरों के अंकन मिले हैं उनमें इसका स्थान नहीं है, और यद्यपि मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तर से घोड़े की कुछ हड्डियाँ मिली हैं पर इस बात की अधिक सम्भावना है कि ये बहुत बाद के काल की हों। वैदिक आर्यों के लिए गाय का स्थान सबसे ऊपर है और इसको विशेष श्रद्धा का

स्थान प्राप्त है। सिन्धु जनों के बीच गाय का कोई ख़ास महत्व नहीं है। उनके बीच इसका स्थान वृषभ को मिला हुआ है जिसकी लोकप्रियता की पुष्टि इस पशु की अनेक प्रतिकृतियों और अन्य प्रस्तुतियों से होती है। ऋग्वेद में शेर का कोई ज़िक्र नहीं है और हाथी की चर्चा नाममात्र को है, पर ये दोनों पशु सिन्धु-जनों के लिए सुपरिचित हैं। वैदिक धर्म सामान्यतः मूर्तिपूजा से रहित है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में मूर्तिपूजा सर्वत्र मौजूद है। वैदिक देवसमाज में नारी तत्व पुरुष के पूर्णतः अधीन है और मातृदेवी और शिव (जिसके साथ बाद में चलकर रुद्र का अभेद कर दिया गया) का इसके सदस्यों के बीच कोई स्थान नहीं है। सिधु के मत में मातृ-देवी और शिव को प्राधान्य मिला है और नारी तत्व यदि पुरुष तत्व पर हावी नहीं है तो, लगता है, यह उसके समकक्ष तो है ही। अग्नि वैदिक देवताओं में सर्वोपरि है और गार्हस्पत्य अग्नि या अग्निकुंड प्रत्येक घर की विशिष्टता है। मोहनजोदड़ो के घरों में अग्निकुंड बिलकुल ग़ायब है। आर्यों की दृष्टि में लिंगपूजा जुगुप्सु थी। सिन्धु जनों के बीच इसके अस्तित्व के बहुत अधिक प्रमाण मिलते हैं।"[58]

इन कसौटियों को सामने रखते हुए मार्शल यह नतीजा निकालते हैं कि इन दोनों सभ्यताओं में कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी देता। इसके बाद वह एक दूसरी सम्भावना पर विचार करते हैं कि क्या वैदिक सभ्यता सिन्धु सभ्यता से पूर्ववर्ती हो सकती है? इसको वह एक प्रश्न से ख़ारिज कर देते हैं, "यदि वैदिक संस्कृति सिन्धु संस्कृति से पुरानी थी तो इस बात का क्या कारण है कि लोहा और रक्षाकवच और घोड़ा जो वैदिक संस्कृति की विशिष्टताएँ हैं, सिन्धु संस्कृति के लिए अपरि-चित हैं?" वह आगे कुछ और प्रश्नचिह्न लगाते हैं, "या इस बात का क्या कारण है कि सिन्धु काल में गाय के स्थान पर वृषभ पूज्य बन जाता है और बाद के कालों में इसका स्थान फिर गाय ले लेती है? और फिर यदि नव-पाषाण युग और सिंधु संस्कृति के बीच में भारतीय आर्यों की ताम्र या कांस्य और लौह संस्कृति आ चुकी थी तो इस बात का क्या कारण है कि सिन्धु संस्कृति में नव-पाषाण युग के अनेक अवशेष—पत्थर के उपकरणों और पात्रों की शक्ल में—बने रह जाते हैं?"[59]

मार्शल एक तीसरी संभावना को भी ख़ारिज करते हैं, "क्या भारतीय आर्य सिन्धु और वैदिक दोनों सभ्यताओं के निर्माता रहे हो सकते हैं? यहाँ भी हमें पहले ही जैसी विडम्बना का सामना करना पड़ता है। कारण, यद्यपि इस मान्य अव-धारणा के आधार पर हम लोहे, घोड़े, कवच आदि के आरम्भ का कारण यह बता सकते हैं कि ये सभी इस संस्कृति के ही एक बाद के चरण में प्रकट हुए हो सकते हैं, पर हम इस बात का क़तई कोई समाधान नहीं पाते कि भारतीय आर्य नगर-जीवन से ग्राम्य अवस्था में कैसे लौट गये, या एक बार ईंट के उत्कृष्ट मकानों का विकास करने के बाद वे बाद में बाँस के घटिया मकानों से कैसे सन्तुष्ट रहने लगे, या एक बार मातृ-देवी और लिंग की पूजा करने के बाद वे ऋग्वैदिक काल से इसे

बंद कैसे कर बैठे और बाद में इनकी पूजा की ओर फिर कैसे लौट पड़े, या एक बार उन्होंने जिस सिन्ध पर अधिकार कर रखा था उसकी और सिन्ध के निम्न भागों की उन्हें कोई याद तक कैसे नहीं रह जाती ?"[60]

मार्शल द्वारा उठाये गये प्रश्नों को ही किसी-न-किसी रूप में, हड़प्पा और वैदिक को दो अलग और परस्पर असम्बद्ध सभ्यताएँ सिद्ध करने के लिए, विभिन्न विद्वानों द्वारा समय-समय पर दुहराया जाता रहा है। ये बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न हैं और किसी ऐसे अध्येता को जिसे ऐसा लगता हो कि हड़प्पा सभ्यता और वैदिक सभ्यता के बीच अभेद है, इन प्रश्नों का कोई तर्कसंगत समाधान देना ही होगा। इतना ही नहीं, मार्शल ने सुझाया था कि इन दोनों सभ्यताओं के बीच फ़र्क़ दिखाने वाले कुछ और मुद्दे आगे चलकर सामने आयेंगे। इस तरह के कुछ मुद्दे कुछ विद्वानों द्वारा उठाये भी जा चुके हैं, जैसे यह कि दोनों जनों के खान-पान की रीतियों में एक अन्तर यह भी है कि हड़प्पावासी चावल से भी परिचित थे और गेहूँ की खेती करते थे, जब कि आर्यों को यव के अतिरिक्त किसी अन्य अनाज का ज्ञान नहीं है, वैदिक जन केवल ऊनी वस्त्रों से परिचित थे, जब कि हड़प्पावासी ऊनी और सूती वस्त्रों का निर्माण और उपयोग करते थे, आदि। दोनों के बीच अभिन्नता का निश्चय इन प्रश्नों का भी सन्तोषजनक समाधान माँगता है।

मार्शल द्वारा उठाये गये इन प्रश्नों ने विद्वानों को काफ़ी उलझाया है। इसकी तीन तरह की प्रतिक्रियाएँ देखने में आती हैं। पहली यह कि इन दोनों सभ्यताओं के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहा है, जो कि सबसे लोकप्रिय मान्यता रही है। दूसरी यह कि वैदिक सभ्यता हड़प्पा के पड़ोस में उसके समानान्तर विद्यमान थी और इन दोनों के बीच पड़ोसियों जैसे तनाव और सौहार्द के दुहरे सम्बन्ध थे। इसका प्रस्ताव मार्शल के दल के ही लैंगडन ने रखा था जिसकी आलोचना स्वयं मार्शल ने की थी।[61] इसके बाद डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल भी कुछ ऐसा ही मत प्रकट करते हैं।[62] हाल में लोथल और कालीबंगाँ से यज्ञ के प्रचलन के प्रमाण देखने के बाद भी केवल यही दावा किया जाता रहा है कि हड़प्पावासियों में एक शाखा वैदिकों की भी रही हो सकती है, या यह कि हड़प्पावासी उस पहले आव्रजन से सम्बन्ध रखते रहे हो सकते हैं जिनका ज़िक्र दो या अधिक आव्रजनों की हिमायत करने वाले इससे पहले करते रहे हैं।[63]

दूसरे शब्दों में कहें तो, मार्शल द्वारा उठाये गये प्रश्न इतने प्रभावशाली प्रतीत होते रहे हैं कि इनके कारण जो अध्येता अन्यथा इन सभ्यताओं को सम्बन्धित मानते रहे हैं, उनका भी साहस यह कहने का नहीं हुआ कि ये दोनों अभिन्न हैं और वे इनकी पृथकता को मानते हुए ही किसी-न-किसी तरह का जोड़ तोड़ बैठाते रहे हैं।

मार्शल द्वारा उठाए गए अधिकांश सवाल सतही और शेष वैदिक साहित्य से

उनके प्रत्यक्ष परिचय के अभाव की देन हैं और उनसे सहमति रखने वालों की भी विवशता का एक कारण यह है कि वे अपने समय में वैदिक सभ्यता के विषय में मान्य बना दिये गये अनुमानों को आत्मसात कर चुके रहे हैं। वास्तविकता यह है कि जब हड़प्पा सभ्यता का नाम भी किसी को पता नहीं था उस समय समूचे ऋग्वेद का पहली बार अनुवाद करने वाले विल्सन ने ऋग्वैदिक साक्ष्यों के आधार पर ही यह कहा था कि ऋग्वैदिक सभ्यता का स्तर उससे मिलता-जुलता है जिसका दर्शन भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय यूनानियों को हुआ था। क्या विल्सन का यह कथन निराधार था? यदि नहीं तो इसे ख़ारिज क्यों कर दिया गया? ख़ारिज इसलिए कर दिया गया कि मौर्य काल से लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व (जो कि विल्सन आदि के द्वारा ऋग्वेद के लिए अनुमानित समय था और जिसकी पुष्टि विंटरनित्ज़, ब्लूमफ़ील्ड आदि भी करते हैं) इतने उच्च स्तर की सभ्यता के अस्तित्व की बात अन्य विद्वानों को अकल्पनीय लगती थी। नहीं, इतने पहले सभ्यता का स्तर इतना ऊँचा नहीं रहा हो सकता है, अतः उन्हीं साक्ष्यों की तोड़-मरोड़ करके इनका हीनार्थ लिया जाने लगा और इस हीनार्थग्राही व्याख्या को आप्तता दे दी गयी और जब लगभग उसी काल के आस-पास सचमुच उतनी ही उच्च और प्रत्येक मामले में विल्सन द्वारा परिकल्पित सभ्यता से मेल खाने वाली सभ्यता की भौतिक साक्ष्यों से भी पुष्टि हो गयी तो भी इस बात पर पुनर्विचार करने की कोशिश नहीं की गयी कि वैदिक सभ्यता चरवाहों और कृषि से अल्प-परिचित समाज की नहीं अपितु विकसित नगर-सभ्यता और वाणिज्यिक प्रचालनों की सभ्यता रही हो सकती है और यह हड़प्पा सभ्यता ही है। अतः सभ्यता के स्तर के संबंध में मार्शल के तर्क कोई अर्थ नहीं रखते। जहाँ तक अन्य तर्कों का प्रश्न है, वे भी वैदिक साहित्य के अज्ञान पर आधारित हैं और इन सभी पर हम यथा-प्रसंग विचार करेंगे। संक्षेप में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि आर्यों को लोहे का ज्ञान बाद में हुआ था। शैफर ने अपने हाल के एक अध्ययन में इस भ्रम को भी तोड़ दिया है कि हड़प्पावासी लोहे से अपरिचित थे। उन्होंने इस बात का निर्णायक प्रमाण पेश किया है कि लोहे से भारत पूर्व-हड़प्पाकाल में परिचित हो चुका था। घोड़े से वे वैदिक काल में परिचित हो चुके थे, पर यह परिचय ऋग्वैदिक रचना-काल से पहले ही उन्हें गन्धार प्रदेश के निवासियों से प्राप्त हुआ था और हड़प्पावासी स्वयं भी इस सभ्यता के आरम्भ से ही घोड़े से परिचित थे। नव-पाषाण काल के अवशेष यदि पत्थर के पात्रों और उपकरणों का ताँबे और काँसे के उपकरणों और पात्रों के समानान्तर प्रचलित रहना मान लिया जाये तो भारत में, जैसा कि कोसंम्बी ने कहा था,[65] आज भी नव-पाषाण काल के अवशेष—पत्थर के सिल, बट्टे, खरल, प्याले, तश्तरियाँ, चाक, चक्कियाँ आदि—पाये जा सकते हैं। मछली के शिकार का और इसके लिए जाल के प्रयोग का उल्लेख ऋग्वेद में भी

पाया जाता है। वैदिक काल में गाय की पूजा नहीं होती थी, न ही हड़प्पा में बैलों की पूजा का चलन था। ऋग्वेद के आठवें मंडल तक गोमांस खाना वर्जित नहीं था, यद्यपि आर्थिक कारणों से इसके विरुद्ध एक ज़ोरदार अभियान आरम्भ हो चुका था।

7

विभिन्न शाखाओं के बीच संतुलन

भारोपीय समस्या ने विद्वानों को बार-बार हताश और निराश किया है। लगभग दो सौ वर्षों के अनवरत प्रयत्न के बाद भी ऐसा एक भी प्रमाण नहीं ढूंढ़ा जा सका जो इसकी किसी भी ग्रन्थि को खोल सके। इसके लिए तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, गल्प, देवशास्त्र, श्रुत-परम्परा, धर्मशास्त्र, नृतत्व-विज्ञान, आनुवंशिकी, पुरावानस्पतिकी, पुरातत्व, भूगर्भविज्ञान, आदि विभिन्न शाखाओं में हुए नवीनतम विकासों की सहायता ली गयी, पर किसी से एक भी सूत्र ऐसा हाथ नहीं लगा जो इसकी अराजकता का दायरा तक कम कर सके। इसका कारण इन शाखाओं की अपनी व्यर्थता नहीं, अपितु विद्वानों की अपनी आसक्ति है। इनमें से किसी भी शाखा का निष्पक्ष रूप में प्रयोग नहीं किया गया। इनका उपयोग पहले से बनी-बनायी धारणाओं के लिए कोई ठोस प्रमाण जुटाने के सीमित प्रयोजन के लिए किया जाता रहा, न कि इनके आधार पर अपनी मान्यताओं के दोषों को दूर करने के लिए। इनकी विफलता उन मान्यताओं की विफलता है जिनको आज तक इस क्षेत्र में प्रचलित पाया जाता है। अतः हम अपने प्रस्तुत अध्ययन में जिन मार्गदर्शक सिद्धान्तों को अपनाकर चलना चाहेंगे वे निम्न प्रकार हैं :

1. जहाँ विविध अनुशासनों से किसी समस्या के समाधान में सहायता मिलती है वहाँ किसी की भी उपेक्षा समाधान में बाधक हो सकती है। पर जहाँ इनके बीच कुछ विरोध दिखायी दे वहाँ सभी को सममूल्य पर रखते हुए विचार करना किसी एक की उपेक्षा से भी अधिक हानिकारक हो सकता है। इनके बीच स्पष्ट फ़र्क़ करना ज़रूरी है। एक ओर हम पुरातत्व, पुरावानस्पतिकी, पारिस्थितिकी, भूविज्ञान जैसी शाखाओं को ले सकते हैं, जिनकी वस्तुपरकता के कारण इनकी आप्तता असन्दिग्ध है; दूसरी ओर साहित्य, अनुश्रुति, पुराणकथा, भाषा और नृतत्व जैसी शाखाओं को, जिनकी अतिजीविता के कारण अन्तर्वर्ती कालों में आये संकरण को मापने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। इनमें से पहली श्रेणी में आने वाली शाखाओं से जहाँ सहायता मिलती है, वहाँ इनको अग्रता न देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

2. पर हमें यह याद रखना होगा कि दूसरी श्रेणी में आने वाली शाखाएँ

केवल वहीं और उस सीमा तक ही दोषपूर्ण हैं जहाँ, और जिस सीमा तक, इनमें मिलावट हुई है। साथ ही यह भी कि लेखन से पहले जातीय अनुभवों के हस्तान्तरण का एकमात्र सुलभ माध्यम परम्परा या अनुश्रुति ही रही है। अतः ऐतिहासिक कालों में परस्पर असम्बद्ध परम्पराएँ जहाँ किसी एक ही दिशा की ओर संकेत करती हैं, और इनके पीछे कोई अवान्तर आशय काम करता नहीं दिखायी देता, वहाँ इनकी आप्तता उतनी ही असन्दिग्ध है जितनी किसी अन्य वैज्ञानिक और वस्तुपरक शाखा की। जहाँ इन निष्कर्षों की पुरातत्व आदि से प्राप्त सूचनाओं से असंगति दिखायी दे, वहाँ इन्हें सीधे ख़ारिज़ करने के स्थान पर इनकी बारीकी से जाँच की जानी चाहिए, जिससे दोनों के बीच आभासिक विरोध का तर्कसंगत समाधान हो सके।

3. इस बात को याद रखना ज़रूरी है कि पुरातत्व और दूसरी परीक्षणोन्मुख शाखाएँ एक सीमा तक ही अपनी सार्थकता रखती हैं। इनका गूँगापन इनकी सबसे बड़ी सीमा है और इसलिए जहाँ भी साहित्य आदि के माध्यम से इनसे मेल खाने वाली कोई सूचना मिलती है, उसे सम्मान देते हुए चित्र को अधिक स्पष्ट बनाया जाना चाहिए। यह ध्यान में रखना होगा कि पुरातात्विक प्रमाणों की अपव्याख्या की भी कम सम्भावना नहीं रहती है। भारोपीय क्षेत्र इसकी अच्छी मिसाल है। अतः जिन विवरणों के आधार पर पुरातात्विक सामग्री को संस्कृति विशेष से जोड़ा जा रहा है उनके विषय में हमें पूरी तरह आश्वस्त होना चाहिए।

4. जहाँ परवर्ती काल की कोई कृति किसी ऐसी पूर्वावस्था का चित्रण करती है जिसके पीछे ऐतिहासिक तथ्यपरकता दिखायी देती है, वहाँ इसे अति प्राचीन काल से चली आ रही लिखित या मौखिक परम्परा का आकलन माना जाना चाहिए। केवल इस आधार पर कि इससे पूर्ववर्ती कृतियों में सन्दर्भित घटना का उल्लेख नहीं आया है और इसीलिए यह बाद की अवस्था की चीज़ हो सकती है, या निरी कल्पित हो सकती है, इसकी अवहेलना नहीं की जानी चाहिए।

5. जहाँ एक ही स्रोत के आधार पर दो भिन्न सांस्कृतिक स्तरों की पुष्टि होती हो, वहाँ सभ्यता के स्तर की जाँच उसके उन्नत पक्ष को प्रकट करने वाली सूचनाओं के आधार पर की जानी चाहिए। कारण, प्रत्येक विकसित सभ्यता में अभावग्रस्त और पिछड़े लोगों का अस्तित्व सम्पन्न और प्रबुद्ध तबके के साथ बना रहा है।

6. एक ही साक्ष्य का प्रयोग अपनी सुविधा के अनुसार दुहरे और विरोधी प्रयोजनों से नहीं किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के कुछ मंडलों को नया मानकर इनकी प्राचीनता को सन्दिग्ध बनाते हुए एक ओर तो इनसे व्यक्त होने वाले स्तर का निषेध और दूसरी ओर इसी अंश में नदी सूक्त के आधार पर भारत में आर्यों के प्राचीनतम निवास के रूप में पश्चिमोत्तर अंचल की हिमायत

ग़लत है। यदि यह अंश परवर्ती है, तो इससे व्यक्त होने वाला अंचल भी बाद में ही उनके अधिकार में आना चाहिए।

7. सभ्यता के विभिन्न पक्षों का विकास आवयविक होता है। यदि कोई ऐसा सूत्र हमें उपलब्ध है जैसे भाषा का समग्र भंडार—जिससे इसका समग्र चित्र प्रतिबिम्बित होता है, तो एकल और एकाधिक अर्थ वाले आँकड़ों, जैसे फुटकल शब्दों की व्युत्पत्ति आदि के द्वारा इनके इच्छित अर्थ-ग्रहण को इसके विरुद्ध प्रमाण नहीं बनाया जाना चाहिए।

8. अपवादों के अस्तिव से इनकार नहीं किया ज़ा सकता। पर इनका अपवाद होना ही इस बात का प्रमाण है कि ऐसा बहुत ही कम हुआ करता है।[66] अतः हमें कोई चित्र या सिद्धांत अपवादों और अजूबों के आधार पर नहीं तैयार करना चाहिए। अपवाद के लिए भी बहुत सशक्त और अकाट्य प्रमाण होने चाहिए। अन्यथा, सामान्यतः जो होता है और होना चाहिए उसी को हमें स्वीकार करते हुए अपनी व्याख्याएँ देनी चाहिए। भारोपीय क्षेत्र में सामान्य और सम्भव की तुलना में असम्भव और आश्चर्यजनक का दर्शन अधिक होता है, जो इस बात का प्रमाण है कि इसकी व्याख्याएँ ग़लतियों से भरी हुई हैं। अतः हमें अपनी व्याख्या में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह सामान्य बोध के अनुरूप है या नहीं। जहाँ विशेषज्ञता की अपेक्षा ही न हो, वहाँ अतिरिक्त खींचतान—जिसे प्रायः विशेषज्ञता का पर्याय मान लिया जाता है—धूर्तता या अतिप्रगल्भता का पर्याय बन जाती है।

यदि इस अध्याय में दिये गये विवरण से ऐसा ध्वनित होता हो कि आर्यों के भारत में बाहर से आकर बसने की मान्यता एक तरह का षड्यंत्र थी, जिसका कोई वस्तुगत आधार नहीं था, तो इसका स्पष्टीकरण कर लेना ज़रूरी है। हमारा आशय यह कदापि नहीं है। जिन तथ्यों को सामने रखकर यह प्रस्ताव रखा गया था वे बिलकुल निराधार और कल्पनाप्रसूत नहीं थे। भारत से यूरोप तक एक जैसी भाषा के किसी प्राचीन काल में प्रचलित रहने की पुष्टि होने के साथ, यह तो निर्विवाद था ही कि मूल जन, जिनके कारण इस भाषा काअन्यत्र प्रचार हुआ, इस पूरे क्षेत्र में से ही कहीं के रहे हो सकते हैं। अब समस्या उस क्षेत्र या देश का निश्चय करने की थी। मनुष्य की एक सामान्य प्रवृत्ति ऐसी स्थितियों में किसी मध्यस्थ क्षेत्र को चुनने की होती है और चूँकि भारत इसके एक छोर पर था, अतः यह मध्यस्थ या केन्द्रीय क्षेत्र नहीं हो सकता था। मनुष्य की एक दूसरी प्रवृत्ति ज्ञात तथ्यों के सादृश्यों को अज्ञात पर लादकर समाधान ढूंढ़ने की होती है, और ज्ञात ऐतिहासिक कालों में भारत पर प्रायः आक्रमण होते ही रहे हैं और अनेक

विदेशी शक्तियाँ अनेक बार विजय प्राप्त करके यहाँ आकर बसी भी हैं, अतः इस सादृश्य को ध्यान में रखते हुए आर्यों द्वारा भी भारत पर आक्रमण की कल्पना करना बहुत स्वाभाविक था। इसके साथ ही, भारत के भी पश्चिमोत्तर भाग में ही तथाकथित आर्यों का प्रथम निवास इस कल्पना को बल देता था, यद्यपि ऋग्वेद में सारस्वत प्रदेश न कि सिन्धु क्षेत्र प्रमुखता रखता है। सबसे बड़ी बात यह कि ऋग्वेद में, और बाद के वैदिक साहित्य में भी, लगातार चलते रहने वाले युद्धों या संघर्षों की कहानियाँ भरी पड़ी हैं, आक्रमण की मान्यता को बल देने के लिए अब और कौन-सा नया तत्व चाहिए था ? इन प्रधान तथ्यों के साथ देवताओं या आर्यों का अपने विरोधियों को कृष्ण आदि कहना इस चित्र की सर्वांग पूर्ति कर देता था कि निश्चय ही गोरे आर्यों ने भारत के काले निवासियों पर हमला किया था और उनको जीतकर अपनी सभ्यता और भाषा की धाक जमायी थी।

इसी तरह आर्यों की बर्बरता का चित्र भी बिलकुल निराधार नहीं था। प्राचीन भारत में हड़प्पा सभ्यता का पता चलने से पहले तक, मौर्य काल से पहले किसी प्रबल राजसत्ता या नगर-जीवन का कोई प्रमाण मौजूद नहीं था। जब इसका पता चला भी तो इसे बिना अधिक छान-बीन के बिलकुल अलग मान लिया गया। प्रमुख कारण कालक्रम के अन्तर का दिखायी दे रहा था। बाद में कालगत अन्तराल समाप्त हो जाने पर पहले हड़प्पा सभ्यता के तत्वों को वैदिक परम्परा में आत्मसात करने का जो स्पष्टीकरण दिया गया था, वह स्वतः एक प्रबल तर्क बनाया जाने लगा। इसके विपरीत भारत से बाहर प्रस्तावित काल में पूरे भारोपीय क्षेत्र में किसी उच्च संस्कृति का कोई प्रमाण नहीं मिल रहा था, अतः मान लिया गया कि आने वाले लोग बर्बर तो रहे ही होंगे ! फिर भारत में, स्वयं वैदिक साहित्य में गायों आदि की बहुलता के संकेत और यात्राओं की सरगर्मी इन्हें पशुपालन और चारणजीवी बनाने के लिए काफ़ी थी।

इसके बावजूद, जब हम इस बात की शिकायत करते हैं कि इसके पीछे निहित आशय भी काम कर रहे थे, तो इसका भी कुछ कारण है। जिस समय पहली बार विदेशों से आर्यों के आगमन की कल्पना की गयी वेदों का अध्ययन आरम्भ भी नहीं हुआ था। अतः वैदिक क्षेत्र और वैदिक संघर्षों का तर्क वहाँ काम नहीं कर रहा था। दूसरे, भाषा का तथ्य और प्राचीन काल में भी ज्ञान-विज्ञान का भारतीय स्तर तथा पौराणिक विवरण इस बात की पुष्टि कर रहे थे कि भारत कभी श्रेष्ठता के दौर से गुज़रा था और अपने सारे अवरोधों के बावजूद अनेक विद्वान इस बात को स्वीकार कर भी रहे थे। ज्ञात भाषाओं में संस्कृत भाषा और साहित्य ही प्राचीनतम सिद्ध हो रहे थे। इनको ध्यान में रखते हुए ही आक्रमण की सम्भावना को बिलकुल छोड़कर भारत को उत्स देश मानने का तो पर्याप्त कारण नहीं था, पर इस तथ्य से आक्रमण की मान्यता का सुथरापन मिट अवश्य जाता

था। कहें, उस सरल दीखने वाली मान्यता में एक गाँठ-सी पड़ जा रही थी।

यहीं पर पूर्वाग्रह का हाथ आता है। जब कोई मान्यता आपको अधिक सुविधाजनक प्रतीत होती है आपकी रुचि और हितों के अनुरूप होती है, तो थोड़े से वस्तुगत प्रमाण भी, चाहे वे सम्भावनापरक ही क्यों न हों, निर्णायक जैसे मान लिये जाते हैं और आप उन्हें निर्णायक प्रमाणों जैसा महत्व दे देते हैं। यदि यह मान्यता असुविधाजनक हुई तो क्षीण-से-क्षीण विकल्प मिलने पर भी आप उसकी पूरी तरह छानबीन करना चाहते हैं। यहाँ तक कि जहाँ ये क्षीण प्रमाण भी नहीं होते वहाँ भी संभावनाओं को आप तब तक मानने से इनकार करना चाहते हैं जब तक इनका निर्णायक प्रमाण न मिल जाये। यदि आक्रमण का यह ख़याल तत्कालीन प्रशासकों या बाद के पाश्चात्य विद्वानों को, जिन्होंने इस पूरे दौर में सबसे अधिक और बहुत सराहनीय स्तर का काम संस्कृत साहित्य को लेकर किया, किसी भी प्रकार असुविधाजनक प्रतीत होता तो पहले इस पर गहराई से छानबीन की गयी होती और इसकी स्वीकृति को तब तक टालने का, या इसका कोई भिन्न समाधान या औचित्य ढूँढ़ने का, प्रयत्न किया जाता जब तक निर्णायक प्रमाण नहीं जुट जाते।

यदि इतिहासकार की भूमिका एक कूटविशारद की होती हो तो उक्त निर्णय और प्रचार सर्वथा उचित थे और इनके लिए जितना प्रमाण चाहिए उतना विद्वानों को मिल चुका था। पर यदि इतिहासकार की भूमिका एक न्यायाधीश की होती है तो मानना होगा कि इस अपरिपक्व अवस्था में मामले की गहराई में उतरे बिना और कोई भी निर्णायक प्रमाण पाये बिना यह फ़ैसला उचित नहीं था। यह एक फ़ौजी अदालत का-सा फ़ैसला था जिसके पास आवश्यक प्रमाणों के आने तक इन्तज़ार करने का सब्र नहीं होता, ख़ास तौर से तब जब इससे उसके हितों का टकराव हो। कारण, इससे उस काल के प्रशासकों के लिए ऐसी अनेक प्रशासनिक उलझनें आ सकती थी जिनकी आज हम कल्पना नहीं कर सकते। कम-से-कम इसका अन्देशा प्रशासकों को हो ही सकता था। अतः जब हम इसे मिथ्यक कहते हैं तो हमारा आशय कदापि यह नहीं कि यह शून्य में गढ़ा गया एक विचार था। हमारा आशय केवल इतना ही है कि इस मान्यता के लिए पर्याप्त आधार नहीं था और इसे एक सम्भावना – अनेक सम्भावनाओं में से एक संभावना—से अधिक मानने का और इसको अग्रता देकर दूसरे सवालों का समाधान ढूँढ़ने का कोई औचित्य नहीं था। इस 'समरी ट्रायल' को सुविचारित निर्णय नहीं माना जाना चाहिए था। जैसा कि हमने संकेत किया है, मिथक का भी भौतिक आधार होता है। उसके भी कुछ प्रेरक तर्क होते हैं। मिथक वह इसी अर्थ में होता है कि वे प्रमाण, कारण या तर्क अपर्याप्त होते हैं और इन्हीं के आधार पर एक पूरी कहानी हमारे मन पर आप्त कथा के रूप में लाद दी जाती है। विद्वान आज तक इस

मिथक में लिपटे रह गये हैं, यह समस्या की गुरुता को भी प्रमाणित करता है और मिथकों की शक्ति को भी। हम अपनी पड़ताल में इन मिथकों को हर क़दम पर टूटते पाते हैं।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. बारबरा मर्ज़, टेम्पल्स, टॉम्ब्स, ऐंड हाएरोग्लिफ्स, 1965, 12-13
2. देखें, भगवान सिंह, आर्य-द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता 1973, 42-60
3. रोमिला थापर, ऐंशेंट इंडियन सोशल हिस्ट्री ,1978, 4 के अनुसार, 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया' सन् 1817 में प्रकाशित हुई थी। डेविड कोफ़; ब्रिटिश औरिऐं टलिस्ट्स ऐंड बंगाल रिनेसाँ, 1969, 236 के अनुसार इसका प्रकाशन-वर्ष 1818 है।
4. डेविड कोफ़, वही, 5
5. स्पीयर, डेविड कोफ़ द्वारा उद्धृत, 13
6. डेविड कोफ़, वही, 21
7. विलियम जोन्स, 'थर्ड ऐनुअल डिस्कोर्स', एशियाटिक रिसर्चेज, I, 1788, 425
8. वही
9. कोलब्रुक, 'डिस्कोर्स ऐट दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड'; मिसिलेन्यस एसेज़, I, 1837, 3, 1, देखें, कोफ़, पूर्व, 39
10. वही।
11. कोलब्रुक, 'ऑन दि रिलिजस सेरिमनीज़ ऑफ़ दि हिन्दूज़'; मिसिलेन्यस, ऐसेज़, 196; डेविड कोफ़, 196
12. कोलब्रुक, 'ऑन दि वेदाज़ ऑर दि सेक्रेड राइटिंग्स ऑफ़ दि हिन्दूज़', ए. रि. 1805, मि. ए. 196
13. कोलब्रुक, 'आन दि ड्यूटीज़ आफ़ एफ़ेथफ़ुल हिन्दू विडो,' ए. रि. 4, 1795 209-10; कोफ़, वही, 40
14. डेविड कोफ़, वही, 14-16; केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, 1929, 5, 187 में कथित रूप में उद्धृत वालपोल का भाषण।
15. टी. ट्वाइनिंग, 'लेटर टु दि चेयरमैन ऑन दि डेंजर ऑफ़ इन्टरफेरिंग इन दि

रिलिजस ओपिनियन ऑफ़ दि नेटिव्स इन इण्डिया; कोफ द्वारा उद्धृत, 137

16. चार्ल्स ग्रांट के विचार, डेविड कोफ़ वही. 134-35
17. स्कॉट वारिंग, 'ऑब्ज़र्वेशन', फुनर, कम्प्लीट वर्क्स के आधार पर कोफ़ द्वारा उद्धृत, 139. देखें डेविड कोफ़, वही, 134-35
18. चार्ल्स ग्रांट, 'मिनिट्स ऐंड रिपोर्टस् ऑफ़ दि कमिटी ऑफ़ हैलिबरी कालिज, अक्तू. 26, 1804' से एम्ब्री के आधार पर कोफ़ द्वारा उद्धृत। उल्लेखनीय है कि पादरी जिस भी सभ्यता के सम्पर्क में आते थे उसे असभ्य और बर्बर सिद्ध करना उनको अपने धर्म-प्रचार के लिए ज़रूरी लगता था। कारण, यदि उनको सभ्य मान लिया जाता तो फिर ये सभ्य किसे बनाते।
19. डेविड कोफ़ द्वारा उद्धृत, पूर्व., 240
20. वही, 237
21. वही, 240
22. इन प्राच्यविदों के अनुसार मिल ने 'एक इतिहासकार के दायित्व की अवज्ञा' की थी, और धर्मान्धों का पक्ष लिया था। मानवता के प्रति भारत के अवदान के प्रमाणों को, जो कि सर्वविदित हैं, इतने सतही ढंग से खारिज नहीं किया जा सकता। ज़रूरत इस बात की नहीं थी कि मिल भारत का पक्ष लेते, पर उन्हें समस्त साक्ष्यों को सामने रखते हुए और इनका निष्पक्ष विवेचन करते हुए, तत्कालीन जगत को सामने रखते हुए अपने विचार प्रकट करना चाहिए था। वही, 240 और आगे।
23. कोसम्बी, 'ऑन ए मार्क्सिस्ट ऐप्रोच टु इंडियन हिस्ट्री, 1951, 258-266.
24. कोसम्बी, 'ह्वाट कंस्टीट्यूट्स इंडियन हिस्ट्री 1955, 197
25. कोसम्बी, दि कल्चर ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ ऐंशेंट इंडिया इन हिस्टॉरिकल आउट लाइन, 1965, आमुख। कोसंबी इस विषय में किसी को भ्रम में नहीं रखना चाहते हैं कि वह जिस इतिहास की बात कर रहे हैं वह यथार्थ इतिहास ही होगा, क्योंकि ऐसी आधार सामग्री में से साक्ष्य चुनना जिसमें पहले ही लेखकों के अपने चुनाव के अनुसार महत्वपूर्ण तथ्य ही अंकित हैं, और इसके आधार पर वास्तविक घटनाओं का इतिहास लिखना, उनके अनुसार, असम्भवथा। देखें, ऊपर, 1955, 199
26. कोसम्बी, ऊपर 1951, 259
27. कोसम्बी, 'अर्ली स्टेजेज़ ऑफ़ कास्ट सिस्टम इन नार्दर्न इंडिया,' 1946, 35
28. म० नि० 1.262; 2.32; 3.63; पटिच्च समुप्पाद या प्रतीत्य समुत्पाद के इस सिद्धांत को बौद्ध विश्वदृष्टि का मेरुदंड कहा जा सकता है।
29. देखें, ए० घोष, दि हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली हिस्ट्रॉरिकल इंडिया, 1973, 19 व आगे; वी० गोर्डन चाइल्ड, मैन मेक्स हिमसेल्फ़, 1965, 109;

30. देखें, एस. पी. गुप्त, 'दि लेट हड़घन : ए स्टडी इन कल्चरल डाइनैमिक्स' 1982, 51-59
31. देखें, बी. के. थापर, 'दि आर्यन्स : ए रिऐप्रेज़ल ऑफ़ दि प्रॉब्लेम', इं.क.व.-था.क., 1970 पृ. 147-164
32. बी. बी. लाल, 'एक्सकैवेशन्स ऐट हस्तिनापुर,' 1954-55, 10-11, 5 व आगे।
33. रफ़ीक़ मुग़ल, 'रिसेंट आर्कियॉलॉजिकल रिसर्च इन छोलिस्तान डेज़र्ट' 1982, 85-95
34 जे. पी. जोशी, 'इंटर लॉकिंग ऑफ़ लेट हड़फन कल्चर ऐंड पेंटेड ग्रे वेयर कल्चर इन दि लाइट ऑफ़ रिसेंट एक्सकैवेशन्स' 1978
35. आर. एस. शर्मा, 'दि लेटर वेदिक एज ऐंड दि पेंटेड ग्रे वेयर' 1974; टी. एन. राय, 'स्ट्रैटिग्रैफिकल पोजीशन ऑफ़ दि पेंटेड ग्रे वेयर इन दि गैंगेटिक वैली', 1964-65
36. रोमिला थापर, ऐंशेंट इंडियन सोशल हिस्ट्री, 1978, 257; दिलीप चक्रवर्ती, 'दि आर्यन हाइपॉथैसिस इन इंडियन आर्कियालॉजी,' 1968
37. मारिजा जिबुतास, प्रोटो इंडोयूरोपियन कल्चर···' 1970; सुनीतिकमार चाटुर्ज्या, वाल्ट्स ऐंड आर्यन्स इन देयर इंडोयूरोपियन बैकग्राउंड, 1968; अलेक्सांदर मॉनगेट, आर्कियॉलॉजी इन यू. एस. एस. आर. 1959, 112 और आगे; एस. पी. गुप्त, आर्कियॉलॉजी ऑफ़ सोवियत सेंट्रल एशिया···' 1979, II, परिशिष्ट; तथा अन्य।
38. आर. एस. शर्मा, मेटीरियल कल्चर ऐंड सोशल फ़ॉर्मेशन्स, 1983, 22; कोसम्बी, पूर्व., 1965, 84
39. अलेक्सान्दर मानगेट, ऊपर, 1959, 112
40. मारिजा जिबुतास, ऊपर, 1970, 174-75
41. मेक्समूलर, चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप, 1867, 64-65
42. देखें, मैकडनेल, वैदिक माइथॉलॉजी, 1981, 2; मैक्समूलर, ऊपर, 1867, 381:, विंटरनित्ज़, 1962, खंड-I, 65
43. मैक्समूलर, ऊपर, 1867, 501; जार्ज डब्ल्यू कॉक्स, दि माइथॉलॉजी ऑफ़ दि आर्यन्स 1934, 32 और आगे।
44. विलियन जोन्स, 1786 में रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल के मंच से दिया गया भाषण। इसी भाषण में जोन्स ने संस्कृत, ग्रीक और लातिन आदि के सम्बन्धित होने की ओर और इनके किसी एक ही भाषा से उत्पन्न होने की सम्भावना की ओर संकेत किया था। देखे येस्पर्सन, लैंग्वेज : इट्स

नेचर, डेवलपमेंट ऐंड ओरिजिन, 1954, 83-84

45. येस्पर्सन, वही, 30

46. अविकसित, पशुचारी, कृषि से नाममात्र को जुड़े और स्वभाव से बर्बर आर्यों की यह छवि इतनी मान्य-सी हो चली है कि इसके लिए किसी विशेष इतिहासकार का नामोल्लेख आवश्यक नहीं है। पर इस पर अधिक बल भारतीय इतिहासकारों में कोसम्बी, राहुल, डांगे, आर. एस. शर्मा, रोमिला थापर, डी. पी. चट्टोपाध्याय की रचनाओं में पाया जा सकता है।

47. ऋ., 10. 71. 2

48. ऋ., 10. 27. 3; 54. 2

49. ऋ., 10. 82. 7

50. कीथ, 'कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया,' 1921, 1962 सं., 89

51. रोमिला थापर, पूर्व., 1978, 217

52. आर. एस. शर्मा, पूर्व., 1982, 32 और आगे।

53. देखें, भगवान सिंह, पूर्व., 1973, 42-60

54. मैकडनेल लिखते हैं, "वैदिक देवशास्त्र का मूल प्राचीन काल से वैदिक युग तक अविच्छिन्न चलते आये उस विश्वास में है जो मानव के समक्षवर्ती पदार्थों एवं प्राकृतिक दृश्यों को चेतन एवं दैवी मानता रहा है।...फलतः आकाश, पृथिवी, पर्वत, नदी और पौधों तक की उपासना दिव्य शक्तियों के रूप में चल पड़ी थी और घोड़ा, गौ, शकुन पक्षी एवं अन्य पशुओं का आह्वान किया जाने लगा था। यहाँ तक कि मानव के अपने हाथों बनाये पदार्थ, शस्त्र, युद्ध-रथ, ढोल, हल, एवं कर्मकांड के उपकरण—सवन-पाषाण एवं यज्ञ-स्तंभ आदि सभी की उपासना सामान्य बन गयी थी।" वैदिक देवशास्त्र, अनु. डॉ. सूर्यकान्त, 2-3

55. शौनक के उक्त कथन में ऋषियों और देवताओं का यह विशेष अर्थ केवल संवादपरक सूक्तों पर लागू होता है, पर ऐसा सोचने का कारण यह लगता है कि इन स्थलों पर स्थिति अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। पर कुछ अपवादों को स्वीकार करते हुए भी अन्यत्र भी यही बात मानी जानी चाहिए, विशेषतः इस बात को देखते हुए कि देवता शब्द स्त्रीलिंग है और ऋषिकाओं के द्वारा अपने विषय में जो कुछ कहलाया गया है वह किसी स्त्री का कथन नहीं लगता।

56. कभी-कभी तो इन परवर्ती कृतियों के विवरण ऋग्वेद से अधिक तर्क-संगत भी सिद्ध होते है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार वर्णों की सृष्टि ईश्वर द्वारा की गयी थी, पर परवर्ती साहित्य में स्पष्ट है कि यह कार्य-विभाजन या श्रम-विभाजन की देन है।

57. देखें, कीथ, पूर्व., 1921, 70
58. मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन, 1931, 1, 110-11
59. वही, 112
60. वही, 112
61. मार्शल, वही, 112; जिसमें इसी ग्रन्थ के दूसरे खंड, अध्याय 23वें में लैंगडन के मत पर विचार करते हुए मार्शल ने कालगत सीमा को इसमें बाधक माना था जबकि लैंगडन का विचार था कि "इस बात की बहुत अधिक संभावना दिखायी देती है कि भारतीय आर्य इंडो-जर्मनिक जाति के सबसे प्राचीन प्रतिनिधि हों।" मार्शल का उत्तर लचर है।
62. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, 1966, 50-51
63. एस. आर. राव, दि डिसाइफ़रमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, 235
64. जिम जी. शैफ़र, 'ब्रांज़ एज आइरन फ़ॉम अफ़गानिस्तान : इट्स इंप्लिकेशंस फ़ॉर साउथ एशियन प्रोटोहिस्ट्री', 1984, 41-62
65. कोसम्बी, 1965, भूमिका।
66. वास्तव में अपवाद जैसी कोई चीज़ नहीं होती। जिन्हें हम अपवाद कहते हैं वे ऐसे तथ्य या घटनाएँ हैं जिनके कार्य-कारण सम्बन्ध को हम समझ नहीं पाये हैं। दोष घटनाओं का नहीं, हमारे अज्ञान या अल्पज्ञान का है। जैसा कि हम ऋग्वेद के टीकाकारों द्वारा 'ऋषि' और 'देवता' जैसे केन्द्रीय महत्व के शब्दों के विषय में देख चुके हैं, ऋग्वैदिक अनुवादों और टीकाओं पर आँख मूँद कर विश्वास करना निरापद नहीं है। अतः न केवल शब्दों का व्युत्पत्ति-परक अर्थ ग्रहण करते समय सावधानी बरती जानी चाहिए, अपितु प्रत्येक ऋचा या सूक्त की अन्तर्वस्तु का, शब्दों के अर्थ का या किन्हीं संदर्भों का निश्चय करते समय गतानुगतिकता से काम नहीं लिया जाना चाहिए।

अध्याय दो

आर्य-आक्रमण का मिथक

भारतीय इतिहास का वैदिक काल एक आक्रमण से आरम्भ होता है। ऐसा कोई आक्रमण भारत पर हुआ भी था या नहीं, यह किसी को ज्ञात नहीं। जो कुछ हमें निश्चित रूप से ज्ञात है वह मात्र यह कि भारत से लेकर यूरोप तक फैली अनेकानेक भाषाओं में कुछ ऐसी आधारभूत समानताएँ पायी जाती हैं जो आकस्मिक नहीं हो सकतीं। यह समानता किस रूप में स्थापित हुई और इसका प्रेरक केन्द्र इस विशाल भूभाग में कहाँ रहा हो सकता है, यह एक रहस्य है और इस रहस्य को सुलझाने के लिए ही तरह-तरह की कल्पनाएँ की जाती रही हैं। केन्द्र कहाँ था, प्रसार का रूप क्या था, इसका समय क्या हो सकता है—इन विभिन्न प्रश्नों से निबटने का प्रयत्न इन कल्पनाओं में किया जाता रहा है। पर कल्पना की स्वच्छन्द उड़ानों के कारण जितनी धुन्ध पैदा की गयी है वह इस समस्या के समाधान में सहायक न होकर बाधक बन गयी है और किसी भी अध्येता की सबसे पहली समस्या इस धुन्ध को साफ़ करने की बन जाती है।

अनिर्णीत रूप में जिन बातों को बार-बार दुहराया जाता रहा है उनका सार यह है कि मूल केन्द्र भारत से लेकर यूरोप के मध्य तक के क्षेत्र में कहीं भी रहा हो सकता है; कि मूल क्षेत्र को छोड़ने का कारण किसी प्राकृतिक आपदा से लेकर जनसंख्या की वृद्धि और नये क्षेत्रों की तलाश तक कुछ भी रहा हो सकता है; कि प्रस्थान आक्रमण से लेकर शान्तिपूर्ण प्रव्रजन तक कुछ भी रहा हो सकता है; कि आक्रमण या प्रव्रजन एक बार भी हुआ हो सकता है और एक-पर-एक अनेक लहरों में भी; कि इसका रास्ता सुविधा के अनुसार कोई भी रहा हो सकता है; कि आक्रमण करने वालों का रूप-रंग, उनकी सभ्यता का स्तर आदि कुछ भी रहा हो सकता है; कि आक्रमणकारी या प्रव्रजित जन एक वंश के भी रहे हो सकते हैं और कई वंशों के भी; कि वे एक बोली बोलते रहे हो सकते हैं और कई बोलियाँ भी

बोलते रहे हो सकते हैं; कि इन बोलियों में अलगाव मूल भूमि से प्रस्थान करने से पहले भी घटित हो चुका हो सकता है और बाद में भी आया हो सकता है।

इतने सारे चर घटकों के रहते हुए सम्भाव्यताओं की संख्या कहाँ तक पहुँचती है, इसका सही उत्तर तो कोई गणितज्ञ ही दे सकता है। दो सौ वर्षों के अनवरत अध्ययन और विविध क्षेत्रों की विशेषज्ञता के बाद यदि इन सम्भाव्यताओं के दायरे को कुछ सँकरा भी किया जा सका होता तो इसे एक आंशिक उपलब्धि माना जा सकता था। परन्तु अराजकता की सीमा यह है कि इनमें से सभी विकल्प आज भी खुले हुए हैं। मूल केन्द्र और वहाँ से भाषा और संस्कृति के प्रसार के कारणों तथा रूपों पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। इस अध्याय में हम केवल इस बात पर विचार करेंगे कि क्या भारत पर आर्यों का आक्रमण, या भारत में उनका किसी अन्य रूप में प्रवेश, हुआ हो सकता है? यदि नहीं, तो भारत में वैदिक जनों की स्थिति क्या है, और हड़प्पा सभ्यता से वैदिक सभ्यता का रिश्ता क्या है?

1

कोरी पट्टी

प्रो० गाइल्स लिखते हैं कि इतिहास इस विषय में हमें कुछ नहीं बताता कि भारत में इंडोजर्मनिक बोलने वाली जातियों का प्रवेश कैसे हुआ।[1] कीथ का कहना है कि यह लगभग सुनिश्चित-सा है कि वैदिक भारतीय भारत में कैसे घुसे, इसका निश्चय करने में ऋग्वेद हमारी कोई सहायता नहीं करता।[2] वह आगे लिखते हैं, "यदि, जैसा कि हुआ हो सकता है, आर्य आक्रमणकारियों ने भारत में हिन्दूकुश के पश्चिमी दर्रों से प्रवेश किया हो और उससे होकर पूर्व की ओर पंजाब से होते हुए बढ़े हों, तो भी इस यात्रा की कोई झलक ऋग्वेद में नहीं मिलती जिसका, कम-से-कम, अधिकांश भाग आधुनिक अम्बाला से दक्षिण सरस्वती नदी के आस-पास के क्षेत्र में रचा गया प्रतीत होता है।"[3] इमेनो स्वीकार करते हैं, "साफ़ बात तो यह है कि हमें (भारत में आर्यों के) आव्रजन के इतिहास के बारे में क़तई कुछ पता नहीं है।"[4] डॉ० थापर इस समस्या पर विचार करते हुए लिखते हैं कि जिन संस्कृतियों को किसी भी तरह आर्यों से सम्बन्धित बताया जाता रहा है उनके नृतात्विक और पुरातात्विक साक्ष्यों का भाषा-वैज्ञानिक साक्ष्यों से मेल नहीं बैठता और "यहाँ तक कि अनातोलिया, उत्तरी ईराक़, उत्तरी ईरान, सोवियत मध्येशिया, स्वात घाटी, और गान्धारक्षेत्र या पाकिस्तान और भारत के गंगा-जमुना दोआबा, दक्षिणी राजस्थान और मालवा के पठार और उत्तरी दकन के क्षेत्रों में पाये जाने वाले नृतात्विक और पुरातात्विक साक्ष्य भी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलते पाये जाते

हैं।"[5] डॉ० थापर आगे लिखते हैं, "भारत में आर्यों के प्रवेश के सम्बन्ध में उपलब्ध वस्तुगत साक्ष्य अभी तक अनिर्णायक बने हुए हैं।"[6] डॉ० स्वराज्य प्रकाश गुप्त भारत के सीमावर्ती क्षेत्रों के पुरातात्विक साक्ष्यों की छानबीन करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सन्दर्भित काल में भारत से बाहर की किसी संस्कृति को सिन्धु से पार भारत की ओर बढ़ते नहीं पाया जाता।[7]

यदि ऋणात्मक साक्ष्यों का कोई अर्थ हो सकता है तो ऐसे ही मामलों में। कारण, किसी-न-किसी स्रोत से इस बात का क्षीण-से-क्षीण निर्णायक प्रमाण आना ही चाहिए था कि जिस भी रूप में सही, भारत में आर्यों का प्रवेश प्रस्तावित काल के आस-पास हुआ था। पर इस प्रकार के प्रमाण का सर्वथा अभाव इस बात का प्रमाण है कि इस तरह का कोई आक्रमण या आव्रजन भारत की ओर हुआ ही नहीं था। कम-से-कम किसी प्रकार के प्रमाण के अभाव में इस तरह का दावा करना बौद्धिक सन्तुलन और अकादमिक संयम के अभाव का ही सूचक हो सकता है।

2

आर्य जन

आर्यों, का आक्रमण या आव्रजन तो अलग बात है, प्रश्न यह है कि क्या आर्य नाम का कोई गण या कबीला कभी अस्तित्व में था भी? 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति और इसके प्रसार आदि के प्रश्न पर हम आगे विचार करेंगे और यथास्थान यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के साथ इस शब्द का आशय किस तरह बदलता गया है।

यहाँ हम उस विडम्बना को सामने रख कर विचार करेंगे जिसकी ओर डॉ० थापर ने संकेत किया है। वह नृतात्विक आदि पहलुओं से स्थिति का जायजा लेने के बाद लिखते हैं, "अतः यह स्पष्ट है कि कोई एक संस्कृति आर्यों से सम्बन्धित नहीं थी।"[8] और फिर वह प्रश्न करते हैं, "क्या हम यह मान लें कि आर्य ऐसे यायावर थे जिनमें एक भाषा से गहन लगाव के अतिरिक्त कोई सुनिश्चित संस्कृति नहीं थी?"[9] हम डॉ० थापर के प्रश्न को इसकी तार्किक परिणति तक ले जाते हुए यह प्रश्न करना चाहेंगे कि क्या कोई ऐसा जन-समाज था जिसके प्रत्येक सदस्य को, जातीय या भाषाई उत्तराधिकार के आधार पर आर्य कहा जाता रहा हो? यदि नहीं तो इसका किसी प्रकार के जन-संचलन से किसी प्रकार का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

आर्य जाति की परिकल्पना के पीछे यह तथ्य रहा है कि ऋग्वेद में आर्यों और दासों का उल्लेख अनेक बार आता है और इन उल्लेखों से यह प्रकट होता है कि

इनके बीच सम्बन्ध तनावपूर्ण थे। इसी के आधार पर 'आर्य आक्रमण' को प्रमाणित करने के लिए उतावले विद्वानों ने आर्यों को आक्रमणकारी कबीला और दासों को स्थानीय मूल निवासियों के रूप में पेश करना आरम्भ कर दिया था। परन्तु मैक्समूलर ने बहुत पहले ही इस बात की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था कि 'आर्य' शब्द को जाति के अर्थ में लेना सर्वथा दोषपूर्ण है।[10] उनके इस मत का बाद के विद्वानों ने बार-बार समर्थन किया है[11] और इसके बावजूद भारतीय क्षेत्र में आते ही वे इस चेतावनी को भूल जाते रहे हैं। मैक्समूलर का कहना था कि 'आर्य' शब्द केवल भाषा के सन्दर्भ में ही सार्थकता रखता है, पर इसका भी कारण यह नहीं कि प्राचीन काल में आर्य-भाषा जैसी किसी चीज़ का अस्तित्व था। वास्तव में इस नाम का चुनाव भी मैक्समूलर ने सुविधा के ख़याल से किया था, क्योंकि यह इंडोजर्मनिक, इंडोयूरोपियन आदि नामों की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त, अधिक सार्थक और अधिक व्यापक था।[12] प्रकारान्तर से कहें तो जैसे किसी भी काल में इंडोयूरोपियन नाम की किसी भाषा का अस्तित्व नहीं था और यह नाम हमारी आज की ज़रूरत को देखते हुए गढ़ लिया गया, उसी तरह आर्य-भाषा नाम की कोई चीज़ कभी अस्तित्व में नहीं थी और यह नाम हमारी आज की ज़रूरत को ध्यान में रखते हुए मैक्समूलर द्वारा सुझाया गया था।

'आर्य' शब्द का जिस अर्थ में ज्ञात ऐतिहासिक कालों में प्रयोग होता रहा है और जिसकी पुष्टि ऋग्वेद से भी होती है, वह है—श्रीमान, मालिक, मान्यवर महोदय, आदि। पाणिनि के अनुसार इसका प्रयोग 'स्वामी और वैश्य' के लिए होता है।[13] यदि कार्यविभाजन या वर्णव्यवस्था में निरूपित कर्त्तव्यों के अनुसार कृषि-सम्पदा, पशुपालन और वाणिज्य तीनों पर वैश्यों का ही अधिकार था तो हम कह सकते हैं कि पाणिनि की उक्त व्याख्या में भी यही भाव निहित है कि यह शब्द वैश्यों के लिए ही विशेष रूप में प्रयोग में आता था, जैसे इसी आशय को प्रकट करने वाले 'श्रेष्ठि', 'महाजन' आदि शब्द बाद में प्रयोग में आते थे।

परन्तु वैदिक काल के प्रारम्भ में जब परवर्ती कालों जैसा वर्ण-विभाजन नहीं हुआ था, यह उस वर्ग के लिए व्यवहार में आता था जिसका सम्पदा पर अधिकार था और इस वर्ग से ही क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ण भी आगे चल कर पैदा हुए[14], यद्यपि इनके उपयुक्त कार्यविभाजन सम्पदा पर इस वर्ग के अधिकार के साथ ही पैदा हो गया था, अतः 'आर्य' शब्द का प्रयोग इस स्वामी वर्ग के लिए और 'दास' शब्द का प्रयोग सेवक या श्रमिक वर्ग के लिए होता था। जैसे —एलीट और जेंट्री, लार्ड और कामनर, अमीर और ग़रीब, मालिक और नौकर शब्दों से यह ध्वनित नहीं होता कि ये दो जातियों के लोग हैं, न ही यह कि इनमें से एक आक्रामक है और दूसरा आक्रान्त, उसी तरह आर्य और दास शब्दों से कहीं इस तरह का विभेद नहीं प्रकट होता। इसके बावजूद आर्थिक विषमता और वर्ग-हितों के टकराव के कारण इनके बीच

टकराव और तनाव बना रहना अधिक स्वाभाविक था, विशेषत: उन कालों में जब धर्म, विश्वास, नीति, नियम, आदि के कठोर और मनोवैज्ञानिक बन्धनों में जकड़ते हुए दास वर्ग की चेतना को उतना अधिक कुंठित नहीं किया जा सका रहा होगा जितना बाद के कालों में। इस तनाव को सही सन्दर्भ न दे पाने के कारण 'आर्य' शब्द के साथ एक भिन्न जाति का भ्रम पाल लिया गया और जो विद्वान जाति के अर्थ में इसके प्रयोग को दोषपूर्ण मानते रहे हैं उनसे भी इसका प्रयोग इस तरह होता रहा है मानो यह जाति का भी द्योतक हो। उदाहरण के लिए, मैक्समूलर की ठीक उसी कृति का शीर्षक जिसमें वह इस विषय में सावधान रहने की हिमायत करते हैं इस दृष्टि से कम भ्रामक नहीं है; यही भूल 'आर्य' शब्द के विवेचन के समय भी उनसे होती लगती है। अन्य लोगों की तो बात ही अलग है जो 'आर्यों' के मूल निवास की खोज के लिए बहुत चिन्तित रहे हैं।

ऐसी स्थिति में विचारणीय यह हो जाता है कि वे कौन-सी स्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें न केवल एक भाषा का, अपितु 'आर्य' शब्द का भी बहुत बड़े क्षेत्र में प्रसार हुआ ? इसका उत्तर भी 'आर्य' शब्द में ही मिल जायेगा। यदि 'आर्य' शब्द का प्रयोग वैश्यों के लिए होता था तो इस भाषा और संस्कृति तथा 'आर्य' शब्द के प्रसार में वाणिज्यिक गतिविधियों का हाथ रहा हो सकता है और यही एकमात्र वह स्थिति है जिसमें भारत से लेकर बाहर तक की विभिन्न स्वविशिष्ट संस्कृतियों के बीच बड़े पैमाने पर किसी जन-संचलन के बिना भी इस तरह का प्रसार सम्भव हो। दूसरे शब्दों में कहें तो, भारत के बाहर जिन स्थानों पर इन व्यापारियों ने अपनी बस्तियाँ बसायीं उनको व्यापारियों की बस्ती या आर्य-स्थान का नाम दिया। आरम्भ में यह केवल उनकी बस्ती तक के लिए व्यवहार में आता रहा और क्रमश: इसका प्रयोग उस समस्त अंचल के लिए होने लगा जो उनकी भाषा और संस्कृति से, उनके व्यापारिक तंत्र से, प्रभावित होता गया।

यहाँ पहुँच कर न केवल यह मान्यता डगमगा जाती है कि भारत पर आर्यों का आक्रमण हुआ था, अपितु इससे भिन्न मान्यता कि भारत से बाहर के देशों पर भारतीय आर्यों द्वारा आक्रमण किया गया हो सकता है, भी अमान्य हो जाती है। इसके विपरीत अपने आरम्भिक चरण में वह एक शान्तिपूर्ण आर्थिक गतिविधि के रूप में सामने आती है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह कि आर्यों के सांस्कृतिक स्तर के विषय में जो आम मान्यता प्रचलित रही है उसका भी खंडन हो जाता है। अपने इस नये रूप में वे यायावर, पशुपालक, खेती से नाम-मात्र को परिचित जन न रह कर उन्नत आर्थिक तंत्र से जुड़े हुए व्यक्ति सिद्ध होते हैं। कहें, उनका समाज एक ऐसा समाज सिद्ध होता है जिसमें वैश्यों का वर्चस्व था और इनका प्रधान कार्य व्यापार था। हमारी इस मान्यता की पुष्टि ऋग्वेद से भी होती है। इसमें व्यापारिक गतिविधियों की कितनी धूम मची दिखायी देती है, इस पर तो हम आगे विचार

करेंगे, यहाँ केवल इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि वैश्य वर्ण की उत्पत्ति ऋग्वेद से मानी गयी है।[15] दूसरे शब्दों में कहें तो, ऋग्वैदिक रचनाओं के और ऋग्वैदिक रचनाकारों के प्रधान संरक्षक वैश्य थे। हड़प्पा के नगरों से अलग आप इन व्यापारियों को कहाँ पा सकते हैं?

3

जनसंख्या का प्रश्न

ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों में ही हम वैदिक जनों को भारत के एक विशाल क्षेत्र में बहुत प्रभावशाली रूप में आबाद पाते हैं। क्या कोई आक्रमण इतना विशाल हो सकता था जिसमें विदेशी इतनी बड़ी संख्या में पहुँच सकें कि इस पूरे क्षेत्र को प्रभावशाली ढंग से आबाद कर सकें? भारत पर ज्ञात ऐतिहासिक कालों में बार-बार आक्रमण होते रहे हैं। कुछ समय तक शासन करने के बाद ये भारतीय जन-समुद्र में विलीन होकर उसमें अदृश्य हो जाते रहे हैं। इसका प्रधान कारण उनकी नगण्य तुलनात्मक संख्या रही है। उनकी भाषा के गिने-चुने शब्दों के अवशेष भले भारतीय भाषाओं में बने रह गये हों, पर वे समूची भाषा और संस्कृति को किसी प्रभावशाली रूप में बदलने में असमर्थ रहे हैं। एक अर्धबर्बर समाज द्वारा यदि कोई आक्रमण होता भी तो वह अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर ही हो सकता था। पर यदि इसे इतिहास के विशालतम आक्रामक जत्थे के रूप में भी स्वीकार किया जाये तो भी वे इतनी बड़ी संख्या में कदापि नहीं हो सकते थे कि इस समूचे क्षेत्र को आबाद कर सकें।

इस सीमा को ध्यान में रखते हुए 'इंपीरियल गज़ेटियर' के लेखक ने इसे एक विराट आव्रजन के रूप में कल्पित किया था। परन्तु समस्या की गुरुता इसके बावजूद बनी रहती है। वह लिखता है:

"अब यदि भारत के सीमान्त देशों की भौतिक और सामाजिक स्थितियाँ उस सुदूर काल में भी वही रही हों जैसी कि इन्हें हम आज पाते हैं तो यह समझ में नहीं आता कि इस परिवार या कबीले का मन्द प्रव्रजन इतने बड़े पैमाने पर कैसे हुआ होगा कि यह पंजाब को प्रभावशाली ढंग से आबाद कर सके। सीमान्त की पट्टी खुद सूनी पहाड़ियों और सँकरी घाटियों का जाल मात्र है जो कि किसी की आवभगत करने की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त है, जब कि एक चारणजीवी समाज उससे भी पश्चिम के अपेक्षाकृत अधिक अननुकूल प्रदेश से अपने कुल-कुटुम्ब के साथ बढ़ते हुए अपने रास्ते को ऐसी बाधाओं से अवरुद्ध पायेगा जिन्हें उनमें से केवल सबसे शक्तिशाली लोग ही पार कर सकते थे। औरतों और बच्चों को पीछे ही

छोड़ दिया गया होगा, या वे रास्ते में ही मर-खप गये होंगे। इसके अलावा भारत के पड़ोसी देशों की वर्तमान वर्षा और जलवायु को देखते हुए आज सीमान्त से कुछ क़ायदे की दूरी के भीतर वह अनुकूल क्षेत्र कहाँ मिलेगा जिसमें से लोगों की इतनी बड़ी जमात निकल सके जो पंजाब को आबाद कर सके ? दक्षिण-पूर्वी फ़ारस में तो कदापि नहीं, जिसके बालू के ढूह-बदलते-हुए रेगिस्तान रहने के योग्य ही नहीं; न ही निर्जन दक्षिण-एशियाई स्तेपी में, जहाँ मुट्ठी-भर ख़ानाबदोशों को भी मुश्किल से ही आहार मिल पाता है।"[16]

लेखक इस मुश्किल को आसान करने के लिए कल्पना करता है कि सम्भव है, बीच के चार-पाँच हज़ार वर्षों के दौरान इन क्षेत्रों की जलवायु बदल गयी हो और पहले वहाँ वर्षा का औसत अधिक रहा हो। इसकी पुष्टि में उसने एक भूविज्ञानी डब्ल्यू० टी० ब्लैनफ़र्ड का हवाला भी दिया है। जलवायु-परिवर्तन का यह मसला विवादास्पद है। प्रो० ज्याइनर, लन्दन विश्वविद्यालय और राबर्ट राइक्स, हाइड्रॉ-लोजिस्ट पाकिस्तान सरकार, आदि ने गहरी छान-बीन के आधार पर कहा है[17] कि पिछले नव हज़ार सालों में इस क्षेत्र की जलवायु में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

इस तरह, आक्रमण हो या आव्रजन, जनसंख्या के आधार पर भी हम वैदिक जनों के भारत में प्रवेश की कल्पना को असम्भव पाते हैं।

4

घुड़सवारी और लोहे का ज्ञान

भारत पर सुनियोजित रूप में और बहुत बड़े पैमानों पर जो आक्रमण हुए हैं उनको भी सामने रखें तो इस विषय में किसी तरह का सन्देह नहीं रह जाता कि आर्यों का कोई भी आक्रमण या आव्रजन इतने बड़े पैमाने पर नहीं हुआ हो सकता है कि यह गंगा से पश्चिम के समूचे भूभाग को प्रभावशाली ढंग से आबाद कर सके। यह एक असम्भव-सी बात है। अतः डॉ० रोमिला थापर का विचार है कि आर्यों का आगमन तो थोड़ी संख्या में ही हुआ होगा, पर उन्होंने अपनी भाषा और संस्कृति की धाक तकनीकी दृष्टि से हड़प्पावासियों से आगे बढ़े होने के कारण जमा ली होगी।[18] तकनीकी दृष्टि से उनके आगे बढ़े होने की कल्पना का आधार यह है कि आरम्भ से ही आर्यों को अश्वारोही जमात माना जाता रहा है और उनकी संस्कृति अश्व-संस्कृति मानी जाती रही है[19] और आर्य हमलावरों द्वारा स्थानीय जनों की पराजय की कल्पना करने वाले भी विशेष रूप से बल इस बात पर ही देते रहे हैं कि अपने फुर्तीले और ओजस्वी वाहन के कारण उन्हें जो गति-

शीलता प्राप्त थी उसके बल पर संख्या में कम होने के बावजूद उन्होंने विजय प्राप्त कर ली।[20] तकनीकी कौशल में श्रेष्ठता का दूसरा आधार यह माना जाता रहा है कि वे लोहे से परिचित थे। इसकी पुष्टि में यह सुझाया जाता रहा है कि भारोपीय भाषाओं में अधिकांश में लोहे के लिए प्रचलित शब्द 'अयस' से निकले हैं जो इस कारण ही हो सकता है कि वे भारत में आने से पहले या कहें अपने संयुक्त भारोपीय काल में ही लोहे से परिचित हो चुके थे।

घोड़ा हड़प्पावासियों के लिए अपरिचित पशु नहीं था, इसे राना घुंडाई के पुरातात्विक अवशेष के आधार पर ह्वीलर भी स्वीकार करने को बाध्य थे[21] और जोशी तथा राव[22] आदि ने हड़प्पा सभ्यता के अन्य स्थलों से प्राप्त घोड़े की अस्थियों के आधार पर इसके अपेक्षाकृत व्यापक प्रचलन की पुष्टि की है। पर रोचक बात यह है कि आर्य या हड़प्पा के जन क्रमिक पशुपालन के दौरान ही घोड़े का उपयोग करना सीख पाये थे। वैदिक विवरणों से पता चलता है कि घोड़े को पालतू बनाने से पहल वैदिक जनों ने गधे को पालतू बनाया था और इसे ही अश्व कहा जाता था। इसी कारण अश्विनीकुमारों का वाहन गधा है।[23] गधे का उपयोग गाड़ी और रथ खींचने के लिए प्राचीन काल में किया जाता था[24] और घोड़े को पालतू बनाने से पहले यह तेज़ वाहन माना जाता था।[25] जब घोड़ा अश्व था उस समय खच्चर को अश्वतर या श्रेष्ठ अश्व कहा जाता था, जो खच्चर के लिए आगे भी प्रयोग में आता रहा। बेबीलोन में भारतीय व्यापारियों की बस्तियों में पहले अश्वमेध यज्ञ वस्तुतः गर्दभमेध था अर्थात भारतीय अश्वमेध से इसकी हर मामले में समानता मिलती है, सिवाय इस बात के कि वहाँ पहले गधे का और फिर घोड़े का ठीक उसी रूप में उपयोग होता रहा जैसे भारत में घोड़े का।[26] अंग्रेज़ी का 'ऐस' शब्द उस वैदिक प्रयोग का स्मरण दिलाता है जब अश्व का अर्थ गधा भी था, यद्यपि 'हार्स', जेंद—अस्प, लातिन—एकुअस, ग्रीक—इप्पोस आदि इस बात की भी सूचना देते हैं कि गधे के समानान्तर इसका प्रयोग घोड़े के लिए भी होने लगा था।

गधे को पालतू बनाने के बाद वैदिकों को इससे अधिक तेज़ चलने वाले एक पशु का पता चला और अब अश्व या 'तेज़ चलने वाला' शब्द इसके लिए प्रयोग में आने लगा। सम्भव है, यह पशु स्थानीय स्तर पर वन्य रूप में पाया जाता रहा हो, पर ऐसी दशा में यह भारतीय टट्टुओं की नस्ल का था जिसका प्रयोग माल ढोने के लिए किया जाता है।[27] इस नस्ल का घोड़ा सम्भवतः कच्छ के क्षेत्र में वन्य रूप में पाया जाता था।[28] पर अपने व्यापारिक उपक्रम में अफ़ग़ानिस्तान से सम्पर्क होने के बाद वैदिक जनों के पूर्वजों को उस तेज़ रफ़्तार वाले घोड़े का पहली बार परिचय मिला जो भारतीय टट्टुओं की तुलना में अधिक ओजस्वी, गतिशील और शक्तिशाली था। इस तथ्य को मिथकीय रूप में पेश करते हुए कहा

गया है कि गन्धर्वों ने घोड़े में वेग भर दिया।[29] गन्धर्वों ने घोड़े की रास पकड़ी, घोड़े पर सबसे पहले सवारी गन्धर्वों ने की।[30] ऋग्वेद के प्राचीन मंडलों में भी इस प्रखर वेग वाले घोड़े का ज़िक्र है जिसे दधिक्राव्ण कहा गया है और जिससे मुग्ध होकर इसकी प्रशंसा में अनेक सूक्त रचे गये हैं।[31] दधिक्राव्ण का शाब्दिक अर्थ है 'सवार को पीठ पर लिये-लिये छलाँग लगा जाने वाला'।[32] अतः यह मानने का पर्याप्त कारण है कि वैदिक सभ्यता के उस प्राचीन दौर में जो ऋग्वेद के रचनाकाल से भी पीछे जाता है, वैदिक जनों ने सुदूर स्थलों की व्यापारिक यात्राएँ आरम्भ कर दी थीं और न केवल भारतीय टट्टुओं को पालतू बना चुके थे, अपितु अच्छी नस्ल के घोड़ों को भी हासिल करके पालतू बना चुके थे। इसके बावजूद यह मानना होगा कि उत्कृष्ट नस्ल के ये घोड़े कुछ विशेष और असाधारण रूप में सम्पन्न लोगों के पास ही रहे होंगे जो अन्य पशुओं से भिन्न इसके दैवीकरण से और इन्द्र के पास वाजश्रवा[33] नामक एक विशिष्ट घोड़े की पौराणिक कथा से तो प्रकट होता ही है, विश्वामित्र द्वारा श्यामकर्ण घोड़े की दुर्लभ दक्षिणा माँगने की कथा में भी प्रतिबिम्बित है[34], जिसमें घोड़े के कान का रंग लाक्षणिक रूप में आया है और महत्व घोड़े की नस्ल का ही है। घोड़े का मूल्य 1000 गो होना भी इसकी इसी दुर्लभता की कहानी कहता है।[35]

यदि आर्य आरम्भ से ही घोड़े से परिचित होते तो वे यह नहीं कहते कि उनका अश्व कभी घोड़ा न होकर गधा था। गधे के लिए अश्व शब्द बाद तक लाक्षणिक रूप से प्रयोग में आता रहा। वदिकों की यह स्वीकारोक्ति कि उनसे पहले घोड़े से गन्धर्व या अफ़ग़ानिस्तान (कंदहार) क्षेत्र के लोग परिचित थे, दो बातों की सूचक है—एक यह कि वे भारत में ही अपने विकास के एक विशेष चरण पर पहुँच कर उन्नत क़िस्म के, या कहें स्तेपी के, घोड़ों से परिचित हुए थे; और दूसरा, गन्धर्वों से उनका सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध उनकी सम्पन्नता और उनके साथ व्यापारिक सम्पर्क के कारण तो था, पर वे स्वयं गन्धर्व नहीं थे, कभी गन्धार क्षेत्र से आये नहीं थे। अतः अश्वारोही भारोपीय संस्कृति और अश्वारोहण के कारण आर्यों की हड़प्पा पर विजय—ये दोनों ही एक मिथ्या प्रवाद से अधिक कोई महत्व नहीं रखते।

वैदिक जन घोड़ों से परिचित थे, पर उसी रूप में और उसी सीमा तक जिस रूप में और जिस सीमा तक हड़प्पावासी घोड़े से परिचित थे, और इस दृष्टि से दोनों में कोई भिन्नता नहीं पायी जाती।

जहाँ तक लोहे का प्रश्न है, शैफ़र ने इस बात का निर्णायक प्रमाण पेश किया है कि हड़प्पावासी लोहे से परिचित थे, यद्यपि इसका उपयोग बहुत सीमित, कहें विरल, रूप में ही हो रहा था।[36] लोहे का प्रचलन शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल तक बहुत सीमित रहा लगता है, क्योंकि शतपथ में ताँबे के छुरे से

मुंडन करने का ज़िक्र आता है।[37] ऋग्वेद में अयस के फलक वाले बाणों का उल्लेख है, पर इसको आलंवत या लाल रंग का बताया गया है[38] जिसका अर्थ यह है कि 'अयस्' शब्द का प्रयोग लोहे के लिए न होकर ताँबे आदि के लिए होता था। फिर, इस दशा में अन्य भारोपीय भाषाओं में लोहे के लिए अयस् से साम्य रखने वाले शब्दों के प्रचलन का क्या कारण है? स्पष्ट है कि भारत उन क्षेत्रों या केन्द्रों से किसी सूत्र से उस काल तक सम्पर्क में बना रहा था जब अयस् का प्रयोग केवल लोहे के लिए होने लगा और यह सूत्र आक्रमण नहीं, अपितु व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्पर्क का ही हो सकता है।

इस तरह हम पाते हैं कि अल्पसंख्यक आर्यों के घोड़े और उन्नत औद्योगिकी लेकर आने की कल्पना भी निस्सार है और इससे भी वैदिक सभ्यता के भारत में विकास और बाद में भारत से बाहर जाने की पुष्टि होती है।

5

दो आक्रमणों की कथा

हार्नले ने भारतीय आर्य-बोलियों के विश्लेषण के बाद यह पाया कि मध्य देश की भाषाएँ अपने चारों ओर की भाषाओं से कुछ भिन्नता रखती हैं—परिमंडल की आर्य-भाषाओं में कुछ ऐसी समानताएँ पायी जाती हैं जो मध्यदेश की भाषाओं में उपलब्ध नहीं हैं। इसके आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि आर्यों के दो आक्रमण हुए थे। पहला जत्था आकर गंगा के पश्चिमी दोआबे में बस गया। इसके बाद आर्यों का एक दूसरा जत्था आया और इसने पहले बसे लोगों को हरा दिया और हारे हुए लोग इस मध्यदेश के चारों ओर—दक्षिण, पूर्व, उत्तर और पश्चिम में—बिखर गये।[39] दुहरे आर्य-आक्रमण का समर्थन ग्रियर्सन और रिज़ली ने भी किया।[40] ग्रियर्सन ने भारतीय आर्य-भाषाओं का वर्गीकरण करते हुए परिमंडल में आने वाली भाषाओं को 'आउटर बैंड' का नाम दिया। इस समूह में पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी, पहाड़ी अंचल की बोलियाँ, बिहारी हिन्दी, असमिया, बँगला और ओडिया आती हैं। मध्यदेश की भाषा पश्चिमी हिन्दी या खड़ी बोली है।

इसमें सन्देह नहीं कि परिमंडल की इन बोलियों में अनेक ऐसी समानताएँ हैं जो इनके बीच पाये जाने वाले अन्तराल के बावजूद बनी हुई हैं और सम्भवतः बहुत पहले भी स्थिति इससे भिन्न नहीं थी। इसका कोई समाधान तो अपेक्षित था ही और आर्य-आक्रमण की बलवती कल्पना के बाद इसका समाधान भी इस तरह करना था ताकि इस कल्पना में कोई व्यवधान न पड़े। यह काम हार्नले और ग्रियर्सन आदि ने कर दिखाया।

पर यह कैसा आक्रमण था कि इन बोलियों के बोलने वाले इतने करीने से मध्यदेश के चारों ओर बिखर गये जैसे ठीक ऊपर से किसी भारी पिंड के गिरने पर पानी चारों ओर फैल जाये और पिंड के लिए जगह बना दे ? यह दूसरा आक्रमण निश्चय ही विश्व के आक्रमणों के इतिहास में एक चमत्कार ही कहा जायेगा। सुनीति कुमार चाटुर्ज्या इसे आक्रमण न मानकर आव्रजन मानते हैं[41], पर उस दशा में भी पहले से बसे लोगों का बाद में आने वाले लोगों के लिए अपना घर ख़ाली करके चल देना और उनको चारों ओर से घेरकर अपेक्षाकृत असुविधाजनक क्षेत्रों में जाकर बस जाना चमत्कार में कुछ इज़ाफ़ा ही करता है। यह आक्रमण किस रूप में हुआ कि मध्यदेश में पहसे से बसे हुए लोग उस दिशा में भी बढ़ गये जिस दिशा से आक्रमणकारियों का आगमन हुआ था ? हार्नले की समझ से दूसरा आक्रमण या प्रवेश सीधे कील की तरह मध्यदेश में उतर गया। यह आक्रमण मध्यदेश में कील की तरह सीधे उतर गया होगा या नहीं, इस पर विवाद की गुंजाइश है, पर आक्रमण की मान्यता इस तरह के विद्वानों के ज़ेहन में कील की तरह उतर गयी थी, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

हार्नले और ग्रियर्सन की इस मान्यता का समर्थन रामप्रसाद चन्द ने नृतात्विक आधार पर किया था। उनके अनुसार बाहरी परिमंडल के आर्य लघुकपाल थे, और बाद में आये आर्यों से भिन्न रक्त के थे। मध्य क्षेत्र के आर्य लम्बशीर्ष थे। रक्त का यह अन्तर ज्यों-का-त्यों भाषा में भी बना रह गया। पहली जमात के आर्यों में जाति, वर्ण और धर्म की वे बातें नहीं थीं जिनको आर्यों से जोड़ा जाता है। यह सब उन्होंने अपने नवागत बन्धुओं से लिया।[42] ग़रज़ कि भारोपीय भाषा किसी ऐसे क्षेत्र में नहीं बोली जाती थी जिसमें लघुकपाल और लम्बशीर्ष दोनों प्रकार के लोग बसते थे, अपितु दो स्पष्टतः अलग नृजातियों में बोली जाती थी जिनमें सिर्फ़ भाषागत साम्य था, वह भी आभासिक, और इनमें से पहला आक्रमण लघुकपाल जनों के द्वारा हुआ और फिर लम्बशीर्षों की बारी आयी या सम्भव है, इन दोनों आक्रमणों के बीच मूल देश में लघुकपाल ही लम्बशीर्ष हो गये हों, पर भारत में पहुँचने के बाद लघुकपालों ने अपने सिर की आकृति में परिवर्तन करने से इनकार कर दिया हो।

डॉ० चाटुर्ज्या ने इस मान्यता की कमियों की ओर संकेत किया है। वह लिखते हैं कि जहाँ तक गुजरातियों, बिहारियों और बंगालियों का सवाल है, ये द्रविड़, आर्य और कोल रक्त के मिश्रण हैं। वह लहँदी-भाषियों की शरीर-रचना की ओर संकेत करते हैं कि इस दृष्टि से ये कान्यकुब्ज ब्राह्मणों जैसे हैं जबकि न केवल बाहरी वर्ग में आते हैं अपितु इनके प्रति भी मध्यदेशीय आर्यों का वही भर्त्सनापूर्ण रुख़ रहा है जो मागधों आदि के प्रति। और "इसके अलावा केवल कपाल की माप पर आधारित जाति-विभाजन को आज निर्णायक नहीं माना जाता।"[43]

इसके अलावा जिन्हें हार्नले आदि ने बाहरी मंडल में रखा है, मुमकिन है, वे आर्य रहे ही न हों।[44] चाटुर्ज्या इस भाषिक विभेद का एक दूसरा समाधान वैदिक काल में अनेक आर्य-बोलियों के प्रचलन के रूप में देते हैं और मानते हैं कि "इनमें से कुछ दूसरी बोलियों से या वंश-गत कारण से या स्वतंत्र विकास के कारण या फिर एक-दूसरे पर प्रभाव के कारण परस्पर अधिक समानता रखती हैं।"[45]

डॉ० चाटुर्ज्या की आलोचना हार्नले और ग्रियर्सन आदि की मान्यता की दुर्बलताओं को तो सामने लाती है और इसमें चन्द द्वारा दिये गये नृतात्विक समाधान की सीमाओं का भी उद्घाटन किया गया है, पर वह मूल समस्या का कोई तर्कसंगत समाधान नहीं दे पाते। उन्हें इस बात का स्पष्ट समाधान करना था कि अन्तर्वर्ती दूरियों के बावजूद इन सभी बाहरी बोलियों में कतिपय समान लक्षण कैसे पैदा हो गये ? वैदिक काल में अनेक बोलियों के प्रचलन से इस बात का समाधान कैसे हो जाता है कि इन बोलियों में परस्पर अधिक निकटता रखने वाली बोलियाँ ही मध्यदेश में जमी रह गयीं और शेष इनको घेरकर फैल गयीं और इसके बावजूद इन अपेक्षाकृत अधिक भिन्नता रखने वाली बोलियों तक ही वे समान लक्षण सीमित रह गये ? हार्नले, ग्रियर्सन और चाटुर्ज्या द्वारा परिकल्पित चित्र में आर्य सीधे मध्यदेश में दाख़िल हुए और चाटुर्ज्या के अनुसार तो हड़प्पावासियों के डर से आर्यों ने उधर को रुख़ ही नहीं किया, पर जैसा कि कीथ का विचार है, वैदिक साहित्य से इसकी पुष्टि नहीं होती—वह सरस्वती के क्षेत्र में रचा गया था।[46]

इस भाषिक चित्र से उभरने वाले प्रश्न का एक ही समाधान हो सकता है, जिसकी ओर आर्य-आक्रमण की कल्पना के कारण ध्यान ही नहीं दिया गया। वह यह कि वैदिक भाषा का विकास किसी एक जाति की बोली से नहीं हुआ। सभ्यता के विकास के क्रम में आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों के कारण उस केन्द्रीय क्षेत्र में जहाँ यह विकास आरम्भ हुआ, एक सम्पर्क भाषा का उदय विभिन्न स्थानीय बोलियों के विलय के कारण सम्भव हुआ। यह केन्द्र सारस्वत क्षेत्र था। यहीं वैदिक संस्थाओं, मूल्यों, विश्वासों, सामाजिक व्यवस्थाओं आदि का विकास हुआ और इसका विस्तार अपने चतुर्दिक होता गया और लगभग मिलती-जुलती बोलियों वाले इस भूभाग में जिसमें अनेक मामलों में समान तत्व पहले से मौजूद थे, इस भाषा के स्वीकार किये जाने के साथ वर्तमान आर्य-भाषा क्षेत्र की बोलियों में व्यापक एकरूपता क़ायम हुई। केन्द्र में अतिसंस्कृतीकरण के कारण अनेक ऐसे तत्व जो पहले यहाँ की बोलियों में विद्यमान थे, दब कर समाप्त हो गये, जब कि परिमंडल की बोलियों में ये लक्षण आज तक बने रह गये हैं। स्वयं वैदिक काल में भी अनेक वैदिक बोलियों का प्रचलन मूल स्थानीय बोलियों की अपनी विशिष्टताओं के कारण ही था और यह विशेषता समूचे ऐतिहासिक काल में बनी रही है।

इस तरह भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी हम किसी आक्रमण या आव्रजन की मान्यता को खंडित होते पाते हैं। भारतीय भाषाओं में पायी जाने वाली भिन्नताओं और सादृश्यों को भी तभी सही रूप में समझा जा सकता है जब हम वैदिक सभ्यता के विकास की परिस्थितियों को सामने रखें, न कि इसे बनी-बनायी लाकर आरोपित करने की कोशिश करें।

6

आक्रमण और जन-युद्ध

आर्यों के जिस आक्रमण की बात बार-बार दुहरायी जाती है उसका सार यह है कि आर्य-आक्रमण और विजय का रूप चाहे जो भी रहा हो, पर अपनी विजय के बाद न तो उन्होंने कोई नगर बसाया, न ही किसी एक केन्द्र में अपनी शक्ति का केन्द्रीकरण किया। इसके विपरीत वे सीधे ग्रामीण क्षेत्रों में फैल कर अपने ढोर चराने और मामूली क़िस्म की खेती वगैरह करने लगे। यह कुछ सैद्धान्तिक समस्याएँ पैदा करता है जिन पर ध्यान देना ज़रूरी है।

वैदिक जनों को हड़प्पा के नगरों को छोड़कर ग्रामीण अंचल में पहुँच जाने का औचित्य यह कह कर सिद्ध किया जाता रहा है कि वे नगर-जीवन के अभ्यस्त नहीं थे। नगर-जीवन के अनभ्यस्त और अपनी ख़ानाबदोशी में ही प्रसन्न रहने वाले कबीलों की कमी कभी नहीं रही है, पर इस ख़ानाबदोशी के कारण वे बहुत बड़े पैमाने पर एकजुट भी नहीं हो सकते जो कि किसी सुनियोजित आक्रमण की पहली शर्त है। यदि कभी किसी पैमाने पर उनके गिरोह बने हैं और उन्होंने किसी क्षेत्र पर आक्रमण किये हैं तो विजय के बाद वे भी नगरों में ही बसे हैं। इसकी मिसाल अफ़ग़ान, शक और हूण हैं। यह किसी भी विदेशी विजेता की एक लाचारी है, कारण - किसी एक केन्द्र में अपना प्रभावशाली जमाव करके ही वह अपनी रक्षा कर सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में बिखरने के बाद उन लोगों का भी जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता जिनकी बिरादरी के लोग किन्हीं केन्द्रों में प्रभावशाली रूप में जमे हुए हों और संकट की घड़ी में उनकी सहायता कर सकते हों। बिना इस तरह के जमाव के बिखरे हुए हमलावरों का जीवन तो सुरक्षित माना ही नहीं जा सकता।

दूसरे, वैदिक काल के लिए नियत समय के आस-पास या इससे पहले पश्चिमी एशिया के जिन भी स्थलों से 'आर्यों' की उपस्थिति की पुष्टि होती है वहाँ वे नगरों में बसे दिखायी देते हैं और स्थानीय शासन की बागडोर सँभाले मिलते हैं। केवल भारत में प्रवेश करने वालों में नगरों के प्रति इतनी गहरी अरुचि क्यों पैदा होने लगी?

फिर कल्पना करें कि ये लोग अपने रेवड़ों के साथ आ रहे हैं। क्या आक्रमणकारियों के रूप में आने वाले ये लोग अपने रेवड़ों की सुरक्षा के लिए चिन्तित होने की बजाय आक्रमणकारियों की शक्ल ले लेंगे ? इन रेवड़ों को लेकर आने वालों की मार्ग की कठिनाइयों की कल्पना करना भी ज़रूरी है और साथ ही इस बात पर ध्यान देना भी ज़रूरी है कि क्या ख़ानाबदोशों ने भी कभी अपने ढोर-डंगरों को साथ लेकर किसी क्षेत्र पर हमला किया है ?

इसका एक विकल्प यह हो सकता है कि वे गाय और भेड़-बकरी लेकर न आये हों और केवल घोड़ों पर सवार होकर आये हों और अपनी विजय के बाद स्थानीय जनता के पशुधन को लूट कर चरवाहों में बदल गये हों। पर एक तो प्रस्तावित योजना में यह सुझाया जाता है —यद्यपि यह ठीक नहीं है — कि वे घोड़ों की पीठ पर सवारी करते ही नहीं थे, उन्हें मात्र रथों में जोतते थे और रथों को लेकर पश्चिमोत्तर की पहाड़ी बाधाओं को पार करने की बात निर्बन्ध कल्पना की ही उपज हो सकती है; दूसरे, इस स्थिति में भारत में आकर बिखरने के बाद उनको स्थानीय किसानों और चरवाहों की ज़मीन और पशुधन को लूटना-छीनना होगा और इससे स्थानीय जनता के आक्रोश का सामना करना पड़ेगा। जनता के उग्र रूप धारण करने पर ये बिखरे हुए लोग, विशेषत: किसी एक केन्द्र में भारी जमाव के अभाव में, साफ़ कर दिये जायेंगे।

दूसरे शब्दों में कहें तो, यदि हड़प्पा सभ्यता के अपने नगर न होते या वे नष्ट हो चुके रहे होते तो भी कम-से-कम इन 'आक्रमणकारियों' द्वारा अपनी सुरक्षा के तक़ाज़े से ही नगर बसाये जाने चाहिए थे, जहाँ केन्द्रित रह कर वे स्थानीय विद्रोह का दमन कर सकते। दूसरे, इन केन्द्रों पर क़ब्ज़ा कर लेने के बाद भी वे कर आदि की उगाही से अपना प्रभुत्व तो क़ायम रख सकते थे, पर सीधे देहातों में जाकर खेती और पशुपालन नहीं कर सकते थे।

अत: यदि ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों से ही स्थानीय भूसम्पदा और पशुधन पर वैदिक किसानों और चरवाहों का ही आधिपत्य दिखायी देता है तो इसका अर्थ है, वैदिक किसान और चरवाहे स्वयं हड़प्पा सभ्यता के किसान और चरवाहे थे और इनको आक्रमणकारी मानना ग़लत है। जिन असम्भव बातों का दूसरा कोई उदाहरण कहीं नहीं पाया जाता उनको लादते हुए भारत पर आक्रमण की मान्यता पर अडिग रहने वाले पंडितों के आत्मविश्वास की जितनी भी सराहना की जाये, उनके विवेक पर भरोसा नहीं किया जा सकता। अपने रेवड़ साथ लिये आने वाले आक्रमणकारी, रथ पर सवार होकर पर्वत पार करने वाले आक्रमणकारी, नगरों के प्रति अरुचि रखने के कारण सीधे देहातों में जाकर बस जाने वाले आक्रमणकारी, आर्य नाम से अपने को अभिहित करने वाले आक्रमणकारी उस मनोविलास की देन हैं जो तर्क के बन्धन को नहीं मानता।

8

हड़प्पा सभ्यता पर हमला

हड़प्पा सभ्यता की खोज से पहले तक भारत पर जिस आक्रमण की कल्पना की जाती थी उसके अनुसार वैदिक आक्रामकों का भारत में जिन शत्रुओं से मुक़ाबला हुआ वे यहाँ के चपटनास मूल निवासी थे। इसका आधार यह था कि ऋग्वेद में जिन संघर्षों के उल्लेख बार-बार आते हैं उनमें वैदिक अपने शत्रुओं को तम[47], तमोवृध[48], राक्षस[49], पिशाच[50], क्रव्याद[51]—कच्चा मांस खाने वाले, स्तेन[52], तस्कर[53], दस्यु[54], धूर्त[55], दुःशंस[56]—दुर्भावनाग्रस्त, अत्रि[57]—भक्षक, मन्यमान[58], अभिमाती[59], अधम[60], अधशंस[61], दुःशेव[62], जिघांसु[63], व्यथी[64], उब्ज[65], ध्वरस[66]—ध्वंसकारी, मूर[67]—मूर्ख, अभृण[68]—कर्कश चीत्कार करने वाले, रिष[69]—हिंसक, दुच्छु[70], दुखदायी, अभिद्रुह[71]—द्रोह करने वाले, पृतन्यु[72]—लड़ाकू, अचित[73], शर्ध[74], भंगुरावत[75], निरामिण[76]—घुमक्कड़, मायावी[77], किमीदिन[78], अनप्नस[79]—कंगाल; अभिह्रुत[80]—कुटिल, मृध्रवाच[81]—अशुद्ध उच्चारण करने वाले, देवनिद[82] या निद[83]—निन्दक, अयज्यू[84]—यज्ञविरत, अव्रत[85]—निकम्मे, अकर्म[86]—निकम्मे, दुष्कर्मी, अन्यव्रत[87]—भिन्न मत वाले, तायु[88]—आततायी, विद्वेषी[89], द्वेषधत्त[90], द्विष[91], अमित्र[92], वृक[93], द्वयाविन[94]—दिन-रात लूटने वाले, अनिन्द्र[95]—अनीश्वर, यातुधान[96], वनर्गू[97]—जंगली, हुरश्चित[89]—चोर, मुषीवान[99]—चोर, मलिम्लुच[100]—चोर, आदि कह कर पुकारते हैं। इनमें से कुछ शब्द निश्चय ही मात्र शत्रुता के द्योतक हैं और इनसे वैदिक जनों के शत्रुओं के सांस्कृतिक स्तर की कोई झलक नहीं मिलती, पर शेष से उनके असभ्य, जंगली और नितान्त पिछड़े होने की सूचना मिलती थी। इन आदिवासियों को काले रंग, ठिगने आकार और चपटी नाक वाला कल्पित किया गया था[101] और इनके विपरीत, आर्यों को गोरे रंग, लम्बे क़द और ऊँची नाक वाला माना गया था। यदि 'आर्य आक्रमणकारी' किसी भी रूप में तत्कालीन शासकों से सम्बन्ध रखते थे तो उनकी नाक तो ऊँची रहनी ही चाहिए थी।

परन्तु हड़प्पा सभ्यता की खोज के बाद यह तिलस्म टूट गया। अब यदि आर्यों का स्तर उसके कुछ आस-पास ही था जिसकी इससे पहले कल्पना की गयी थी, तो भारत में एक ऐसी सभ्यता का पता चल गया था जिसके सामने आर्य स्वयं असभ्य माने जा सकते थे। हड़प्पा सभ्यता के साथ वैदिक जनों का तालमेल एक कठिन समस्या पैदा कर रहा था। यदि इस समस्या पर तटस्थतापूर्वक विचार किया गया होता तो यह तय करने का प्रयत्न किया गया होता कि वैदिक कवि जिन शत्रुओं को वनर्गू, क्रव्याद, पिशाच, मूर, अभृण, व्यथी, शर्ध, भंगुरावत, ध्वरस, निरामिण, अनप्नस, अकर्म, यातुधान, हुरश्चित, मलिम्लुच, मुषीवान

आदि कह रहे थे, क्या वे हड़प्पा के लोग हो सकते थे ? क्या वे हड़प्पा सभ्यता के नष्ट होने के बाद उसके उजड़े हुए किसान और कारीगर आदि हो सकते थे ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर केवल 'नहीं' में दिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में एक तीसरा सवाल उठता था कि चूंकि वैदिक कवि ठीक उसी क्षेत्र में आबाद हैं और वहीं से अपने अभियोग-आरोप लगा रहे हैं जिसको असन्दिग्ध रूप से हड़प्पा सभ्यता का क्षेत्र कहा जाता है, ऐसी स्थिति में, क्या वे स्वयं हड़प्पा सभ्यता के नागरिक हैं, और क्या उनकी शिकायतें उन जंगली और पिछड़े हुए कबीलों और अपने समाज के चोर-लुटेरों तथा उनके व्यापारिक मार्ग में संकट पैदा करने वाले देशी-विदेशी तत्वों से हो सकती है ? अन्तिम प्रश्न एक मात्र ऐसा प्रश्न था जिसका उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता था। यह उत्तर इसलिए भी सबसे अधिक तर्कसंगत था कि मार्शल, जिनको इस समस्या पर अपना मत प्रकट करने की लाचारी का सामना करना पड़ रहा था, स्वयं भी यह लक्ष्य कर रहे थे कि हड़प्पा सभ्यता के सांस्कृतिक तत्व वैदिक परम्परा में सुरक्षित पाये जाते हैं।[102]

आगे के अनुसन्धानों से यह सिद्ध हुआ कि हड़प्पा सभ्यता की अतिजीविता दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य तक बनी हुई थी[103]. सन् 1946 और 1950 के बीच हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में हुई खुदाइयों से सामने आये नये कालांकनों के आधार पर आर्यों के आव्रजन से सम्बन्धित साहित्यिक परम्परा पर पुनर्विचार करना अपेक्षित हुआ[104] और इसका सार यह निकल कर आया कि हड़प्पा सभ्यता के विनाश के अन्य जो भी कारण रहे हों, इनमें से एक कारण हड़प्पा और मोहनजोदड़ो पर आर्यों का आक्रमण अवश्य था। अब ऋग्वेद में प्राप्त विवरणों का एक नया पक्ष सामने आया, "ऋग्वेद में ये आक्रमण निरन्तर आदिवासियों के प्राकार-वेष्ठित नगरों पर प्रहार का रूप लेते जाते हैं। इन नगरों को पुर कहा गया है, जिसका अर्थ है 'प्राचीर', 'दुर्ग', 'गढ़'। एक को विशाल 'पृथिवी' और विस्तृत 'उर्वी' कहा गया है। कभी-कभी गढ़ को रूपकीय शैली में धातु-निर्मित 'आयसी' कहा गया है। शारदी दुर्गों का भी उल्लेख है, 'इनका सम्बन्ध आर्य-आक्रमण में इस मौसम में जीते हुए दुर्गों से हो सकता है या उमड़ती नदियों से बचाव के लिए बने बाँधों से हो सकता है।' 'शतभुजी' या सौ दीवारों वाले दुर्गों का भी उल्लेख है। कोट पत्थर का 'अश्ममयी' हो सकता था; साथ ही 'आमा' — कच्चा, अपक्व— की उपमा से प्रकट होता है कि कच्ची ईंटों का भी प्रयोग होता था। आर्यों के युद्ध का देवता इन्द्र 'पुरन्दर' (दुर्ग-भंजक) है। उसने अपने आर्य उपासक दिवोदास के लिए नब्बे फ़िलों को ध्वस्त किया था। अन्य सूक्तों में जहाँ बार-बार आदिवासी नेता शम्बर की निन्यानबे और सौ पुरियों को ध्वस्त करने के उल्लेख हैं, वहाँ भी तात्पर्य इन दुर्गों से ही है। संक्षेप में कहें तो, वह दुर्गों को उसी तरह विदीर्ण कर देता है जैसे जीर्णता वस्त्र को।"[105]

ह्वीलर आगे लिखते हैं, "अभी हाल तक यह माना जाता था कि ये कोट मिथकीय हैं, या ये 'हमले से बचाव के लिए बने शरणस्थल हैं जो पक्की ईंट के बाँध और खाई थे।' हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में क़िलेबन्द कोटों की खोज से—मकरान में सुत्कागेनदोर, सिन्ध में अली मुराद और सन्दिग्ध कालों के दूसरे ऐसे स्थलों से जिन्हें हड़प्पा सभ्यता का माना जाता है—इन बचावों की तसवीर बदल गयी है। यहाँ हमें मूलतः अनार्य किस्म की अति विकसित सभ्यता मिलती है, जिसके विषय में आज हम जानते हैं कि इसमें विशाल क़िलेबन्दी का उपयोग होता था और जो आर्यों के आक्रमण के सम्भावित काल से कुछ ही पहले पश्चिमोत्तर भारत की नदियों की उपत्यकाओं में छायी हुई थी। इस मज़बूती से जमी हुई सभ्यता का विनाश कैसे हुआ ? मुमकिन है इसे मौसम, अर्थव्यवस्था व राजनीतिक गिरावट ने कमज़ोर कर दिया हो; निश्चय ही मोहनजोदड़ो के उत्तरवर्ती चरणों में नागरिक स्तर में भारी गिरावट आयी थी, जहाँ से इसके प्रचुर प्रमाण पाये जाते हैं।... फिर भी इस बात की सम्भावना मानी जा सकती है कि इस प्रकार के किसी समाज का अन्तिम विलय बाहरी कारणों से हुआ होगा। और ऐसा ही हुआ।"[106]

इसके बाद ह्वीलर मार्शल[107] और मैकाय[108] का हवाला देते हुए मोहनजोदड़ो और हड़प्पा पर हुए आक्रमण और नरसंहार की एक जीती-जागती तसवीर गढ़ते हैं और अन्त में निष्कर्ष निकालते हैं कि "परिस्थितियाँ इस बात की गवाह हैं कि इस हत्या का दोष इन्द्र पर आता है। कारण—यदि इसे अमान्य कर दिया जाये तो हम हड़प्पा को छोड़ कर वे क़िले वग़ैरह कहाँ से लायेंगे जिन्हें इन्द्र ने ध्वस्त किया था ?"[109]

यह सारा हत्या का मामला था या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है। इस हत्याकांड की बारीकी से छानबीन करने पर अधिकारी विद्वान इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि यह कोरा मिथक है।[110] उन्होंने हड़प्पा के पतन के इतर कारण सुझाये हैं। स्वयं ह्वीलर ने भी आगे चलकर अपनी ग़लती को कुछ हद तक स्वीकार करते हुए माना कि यह बिना गहराई से विचार किये हुए, झटके में की गयी एक अटकलबाज़ी मात्र थी।[111] इसके बावजूद कुछ विद्वान इस हत्याकांड को एक सम्भावना मानते हैं।[112]

यहाँ हमारा सम्बन्ध इस बात से नहीं है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो पर हमला हुआ था और उसके दौरान हत्याएँ हुई थीं या नहीं। प्रश्न यह है कि यदि ऐसा हुआ भी तो इन दुर्घटनाओं के भोक्ता कौन थे ? इसके साथ ही यह विचारणीय हो सकता है कि आतंककारी जमात का सम्बन्ध किससे रहा हो सकता है ?

ह्वीलर ने जो सबसे दिलचस्प काम किया वह यह कि उन्होंने हड़प्पा सभ्यता के अतिजीवी अंशों के लिए सुझाये गये समय को हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के पतन

से जोड़ दिया। बाद के जिन कालनिर्धारणों में स्वयं ह्वीलर के अनुसार भी हड़प्पा काल को काफ़ी आगे खींच लाया गया है और इसमें सुधार करते हुए इसे काफ़ी पीछे ले जाने की ज़रूरत है, उनके अनुसार भी परिपक्व हड़प्पा का काल अठारहवीं शताब्दी ई० पू० से नीचे नहीं आता[113] और ह्वीलर के मत से इसे 2500-2000 ई०पू० के बीच रखना अधिक तर्कसंगत है।[114] अतः आर्य-आक्रमण की पूर्व-कल्पित तिथि में बहुत भारी फेर-बदल किये बिना हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर-वासियों से 'आर्य आक्रमणकारियों' का सम्पर्क नहीं कराया जा सकता था। यदि आक्रमण की तिथि को लगभग पाँच या आठ सौ वर्षों तक पीछे खींचा जा सकता है तो फिर यह आक्रमण, जिसका कोई प्रमाण कहीं नहीं है, एक प्रेतछाया की तरह हर निर्णायक बिन्दु पर बाधक क्यों बनता रहा? फिर हड़प्पावासियों और वैदिक जनों की अभिन्नता पर एक बार गम्भीरता से विचार क्यों न किया गया? कारण, जैसा कि हम देख आये हैं, आर्यों का टकराव जिन कबीलों से था वे सभ्य थे ही नहीं। वे आचार, विचार, उत्पादन, नैतिक मानदंड—सभी दृष्टियों से वैदिक जनों से पिछड़े दिखाये गये हैं और ऐसे लोग हड़प्पा सभ्यता के नागरिक तो हो ही नहीं सकते थे। निश्चय ही वे 'सिविलाइज़्ड डेमन' नहीं हैं जैसा कि मालती शिंडे ने मान लिया है[115], बल्कि अपने पूरे क्रिया-कलाप, गुण आदि की दृष्टि से असभ्य हैं। ये उनके वंशधर भी नहीं हो सकते थे। वैदिक जनों के शत्रु सभ्यता में उनसे आगे बढ़े हुए थे, यह भ्रम पुर शब्द की ग़लत व्याख्या पर, और इसके साथ ही इस भ्रान्ति पर टिका हुआ है कि स्वयं वैदिक आर्य पुरों से अपरिचित थे या यदि पुरों से उनका कोई सम्बन्ध था तो इनके ध्वंसक के रूप में ही। इस पहलू पर हम आगे चल कर विचार करेंगे; कारण, इनका सम्बन्ध व्यापारिक यात्राओं के क्रम में वैदिक बेड़ों और सार्थों पर हमला करने वाले तस्करों और जलदस्युओं के पोतों और जत्थों से है। परन्तु यहाँ इस बात की ओर संकेत कर देना उचित है कि यदि ह्वीलर ने पुरन्दर इन्द्र को दिवोदास के लिए शम्बर की पुरियों या दुर्गों का ध्वंसक मान भी लिया था तो उन्हें इस बात का ध्यान तो रखना ही चाहिए था कि स्वयं दिवोदास की स्थिति हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सापेक्षता में क्या है? वह सरस्वती तट का निवासी है और इससे पहले से उसके पूर्वज सरस्वती तट पर विराजमान हैं।[116] इस दृष्टि से यदि इसे नगरों या दुर्गों पर हमला माना भी गया तो कम-से-कम यह हमला भारत में ही बसे दो प्रतिस्पर्धियों में से एक के द्वारा दूसरे पर माना जाना चाहिए था, जिसकी दिशा पूर्व से पश्चिम की ओर थी, न कि पश्चिम से पूर्व की ओर। दूसरे शब्दों में कहें तो, साहित्यिक साक्ष्यों का पुरातात्विक साक्ष्यों की रोशनी में नया अर्थ करने से पहले ह्वीलर ने इस साक्ष्य के अन्य पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया। हम कह सकते हैं कि ह्वीलर पुरातत्व के आदमी थे और वेद और संस्कृत का उन्हें ज्ञान नहीं था और उनके अज्ञान के लिए उन्हें क्षमा कर सकते हैं। पर

भारत पर बाहर से आर्य-आक्रमण की यह मान्यता तो पूरी तरह खंडित होनी ही है।

9

वैदिक सभ्यता का प्रसार-क्षेत्र

पश्चिमी भारत में वैदिक जनों के निवास के विषय में सबसे स्पष्ट विवरण ऋग्वेद के दसवें मंडल के नदी सूक्त में मिलता है जहाँ गंगा से लेकर सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदियों तक का उल्लेख आया है।[117] पूर्व से पश्चिम तक हड़प्पा का प्रसार-क्षेत्र ठीक यही है। उत्तर से दक्षिण की ओर को वैदिक क्षेत्र का प्रसार क्या था, इसके बारे में कुछ सूत्रों की ओर ध्यान देना ज़रूरी है। सरस्वती और सिंधु के प्रसंग में न केवल गिरि अर्थात हिमालय से इनके निकलने का उल्लेख पाया जाता है[118], अपितु इन पर्वतीय क्षेत्रों की वैदिक कवियों को अच्छी जानकारी थी। कारण, सरस्वती के विषय में वे दावा करते हैं कि यह पर्वत शिखरों को तोड़ती हुई उतरती है[119], जो आगे चलकर सरस्वती के ग्रहण क्षेत्रों में घटित होने वाले भूस्खलनों और इसके कारण सरस्वती की जलराशि के यमुना की ओर निकास पाने और सरस्वती के लोप से प्रमाणित होता है और सिन्धु के विषय में उनका दावा है कि यह मैदान की तुलना में पर्वतीय प्रदेश में अधिक लम्बी दूरी तक बहती है[120], जो भी कोरी अटकलबाज़ी नहीं है।

दक्षिण की ओर सरस्वती के समुद्र-पर्यन्त प्रवाहित होने[121] और सिन्धु के अन्य नदियों के साथ (समुद्र की ओर) जाने के उल्लेख बहुत सार्थकता रखते हैं। इसके अतिरिक्त समुद्र में धन की लालसा से व्यापारियों के अपनी नौकाओं के साथ दौड़-भाग करने के विवरण पाये जाते हैं।[122] हम परवर्ती काल में गुजरात को आर्यवर्ज्य क्षेत्रों में परिगणित पाते हैं[123], जिससे यह भ्रम होता है कि यह क्षेत्र वैदिक-अधिकार-क्षेत्र से सदा से बाहर था। पर यहाँ इसका नाम 'सुराष्ट्र' एक समस्या खड़ी करता है। अपने लिए वर्जित क्षेत्र के लिए यह नाम उन्होंने उस समय तो निश्चय ही नहीं दिया होगा जब यह उनके लिए निषिद्ध हो चुका था। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिन्धु प्रदेश की तरह यह भी कभी उनकी गतिविधियों का केन्द्र था और उसी की तरह बाद में यह उनके लिए वर्जित हो गया था और इस वर्जना का कारण भी दोनों मामलों में एक ही था। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि काठियावाड को परवर्ती परम्परा यदुओं (वृष्णियों) की गतिविधियों काप्रमुख केन्द्र मानती रही है और यदुजन वैदिक काल के उन ख़ास जनों में आते हैं जिनके समुद्री यात्राओं पर जाने के उल्लेख बार-बार आते हैं। एस० आर० राव के निर्देशन में द्वारका क्षेत्र में समुद्र-तल में चल रहे सर्वेक्षणों और खुदाइयों ने न केवल हड़प्पा

और भारतीय पौराणिक विवरणों की संगति पर मुहर लगा दी है, अपितु हड़प्पा लिपि और ब्राह्मी की अन्तर्वर्ती कड़ियों को भी उजागर किया है। कुरुक्षेत्र को प्राय: जानु प्रदेश कहा जाता रहा है, जो भी इस बात का सूचक है कि वैदिक प्रसार क्षेत्र इससे दक्षिण की ओर काफ़ी आगे समुद्र-पर्यन्त फैला हुआ था। सबसे बड़ी बात यह कि जिन स्थलों से यज्ञ के प्रमाण मिले हैं उनमें लोथल एक है।

अब यदि इस पूरे भौगोलिक क्षेत्र का मिलान हम हड़प्पा सभ्यता के प्रसार-क्षेत्र (चित्र 2.1) से करें तो दोनों में अद्भुत साम्य पाते हैं। यह ठीक वहाँ तक पहुँचता है, और ठीक वहीं समाप्त होता दिखायी देता है, जहाँ हड़प्पा क्षेत्र। केवल आक्रमण केमामले में ही नहीं, भारत में ही स्थित दो भिन्न सभ्यताओं के रूप में भी इन की कल्पना करें तो क्षेत्रगत अभिन्नता हमारे लिए सबसे बड़ी चुनौती सिद्ध होगी। यह इस बात का प्रमाण है कि ये दोनों सभ्यताएँ अलग नहीं हैं, बल्कि सभ्यता एक ही है और इसके भौतिक अवशेषों को सामने रखने पर हम इसे हड़प्पा सभ्यता का नाम देते हैं और साहित्यिक साक्ष्यों को सामने रखने पर वैदिक सभ्यता कह कर पुकारते हैं। हड़प्पा सभ्यता को अलग मानकर चलते हैं तो यह तो स्वीकार करते हैं कि इसका भी एक विशाल साहित्य रहा होगा[124], पर साहित्य अवशेषों में ही नहीं, भारतीय पौराणिक परम्पराओं में भी ग़ायब दिखायी देता है और वैदिक आर्यों के साहित्य और भाषा को पकड़ कर चलते हैं तो हड़प्पा के पुरातात्विक साक्ष्यों का निषेध करते ही इसका कोई निश्चयात्मक अवशेष ही नहीं मिलता।

10

सम्पर्क-क्षेत्र

ऊपर प्रसार-क्षेत्र की अभिन्नता से जो चित्र तैयार होता है उसकी अनन्य पुष्टि हड़प्पा सभ्यता के सम्पर्क में आने वाले बाहरी देशों और वहाँ आर्य-भाषा और संस्कृति के अवशेषों से भी होती है। हड़प्पा सभ्यता का सम्पर्क व्यापारिक कारणों से बलूचिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, सोवियत मध्येशिया, सुमेरिया, मेसोपोटामिया, बेबीलोनिया और अक्काद आदि से था। यदि इससे आगे के क्षेत्रों में आर्य-भाषा के प्रसार के लिए यह माना जाये कि यह प्रसार हड़प्पा सभ्यता के विदेशी उपकेन्द्रों से हुआ हो सकता है तो हड़प्पा का सम्पर्क-क्षेत्र ठीक वही पड़ता है और सम्पर्क की गहनता का अनुपात भी ठीक वही रहता है जो भारत से बाहर आर्य-भाषा के प्रसार में प्रतिबिम्बित होता है। (चित्र 2.2)

इस पहलू पर ध्यान न देने के कारण विद्वान लोग आर्यों को जानें किन-किन क्षेत्रों से और जानें किन-किन रास्तों से भारत में पहुँचाने का प्रयत्न करते रहे हैं।

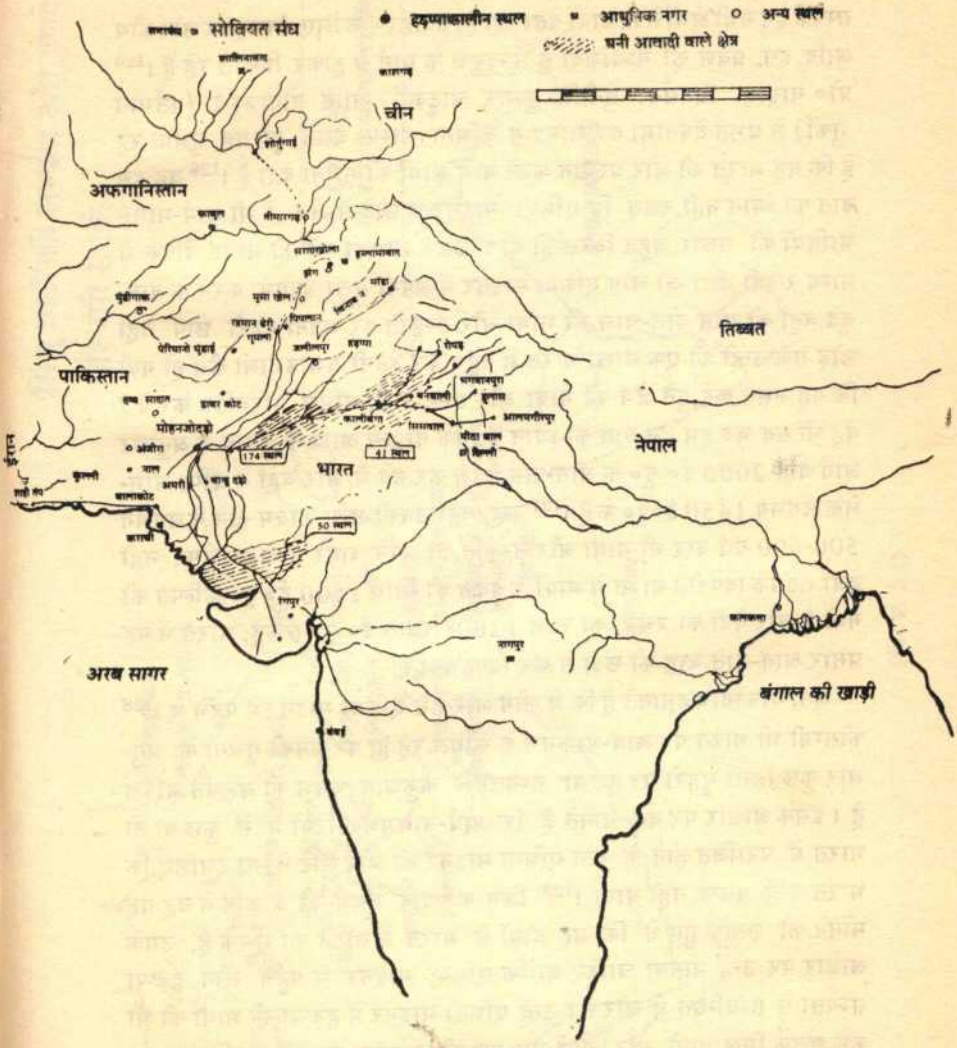

(चित्र सं. 2.1)

सरस्वती—घग्घर—हाकड़ा पर हड़प्पाकालीन आबादी

इसका कारण यह रहा है कि रास्ता तो कोई एक ही हो सकता था, जबकि प्रत्यक्ष सम्पर्क इन सभी क्षेत्रों से दिखायी देता रहा है। उदाहरण के लिए मैक्समूलर और कीथ आदि इस प्रवेश को मध्येशिया से हिन्दूकुश के मार्ग से होकर दिखाते रहे हैं।[125] प्रो० गाइल्स, ग्रियर्सन, सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, आदि बोग़ाज़कुई (वर्तमान तुर्की) से प्राप्त देवनामों का भारत से अभिन्न साम्य देखते हुए यह सुझाते रहे हैं कि यह भारत की ओर प्रस्थान करने वाले आर्यों की सूचना देता है।[126] वह इस बात का ध्यान नहीं रखते कि एशिया माइनर के छोटे-से-क्षेत्र में भी आर्य-भाषा-भाषियों की संख्या बहुत विरल ही थी। उसके शासकों की ही भाषा वैदिक से साम्य रखती थी। जो लोग एशिया माइनर में अपनी सत्ता क़ायम करने के बावजूद वहाँ की आम बोल-चाल की भाषा और संस्कृति पर अपनी गहरी छाप नहीं छोड़ सके उन्हीं की एक शाखा भारत में पहुँच कर इतनी प्रभावशाली कैसे हो गयी कि यह उससे कई गुने क्षेत्र की भाषा और संस्कृति को आमूल परिवर्तित कर दे? वह भी तब जब हम इस बात का ध्यान रखें कि गाइल्स आदि के सुझाव के अनुसार आर्य वहाँ 2000 ई० पू० के आस-पास प्रवेश कर गये थे और वहाँ से प्राप्त अभिलेख लगभग 1450 ई०पू० के हैं।[127] कहें, वहाँ उनकी सत्ता क़ायम होने के लगभग 500-600 वर्ष बाद भी भाषा और संस्कृति का अपने दायरे से बाहर असर नहीं हुआ। इसके विपरीत भारत में आर्यों के प्रवेश की तिथि 1500 ई० पू० कल्पित की गयी है और वेदों की रचना का काल 1200-1000 ई० पू०। कहें, भारत में यह प्रसार आते-आते जादू की छड़ी से कर दिया गया।

अतः याकोबी यह मानते हैं कि ये लोग भारत से एशिया माइनर में पहुँचे थे।[128] कोसम्बी भी भारत पर आर्य-आक्रमण के कायल रहे हैं, पर उनकी सूचना के अनुसार कुछ हित्ती मुहरों पर हड़प्पा सभ्यता के ककुद्मान वृषभ की आकृति अंकित है। इसके आधार पर वह मानते हैं कि आर्य-आक्रमणकारियों में से कुछ या तो भारत में पराजित होने के बाद एशिया माइनर की ओर लौटे थे, या इसलिए कि भारत उन्हें पसन्द नहीं आया।[129] जिस ककुद्मान वृषभ की आकृति से वह यह मानने को उत्सुक हुए थे कि यह आर्यों के भारत से लौटने का सूचक है, उसके आधार पर उन्हें मानना चाहिए था कि एशिया माइनर में पहुँचे लोग हड़प्पा सभ्यता से सम्बन्धित थे और तब उन्हें एशिया माइनर में हड़प्पा की भाषा की भी कुछ झलक मिल जाती और आर्य-आक्रमण की मान्यता पर भी पुनर्विचार का अवसर मिलता। कम-से-कम उन्हें यह तो मानना ही चाहिए था कि चूँकि एशिया माइनर में आर्यों का प्रवेश लगभग 2000 ई० पू० के हो चुका था, अतः भारत से वे इससे पहले लौटे होंगे और फिर कालक्रम की दृष्टि से ही उन्हें आक्रमण की बुनियाद खोखली और हड़प्पावासियों तथा वैदिक जनों के बीच का फ़र्क़ नक़ली मालूम होना चाहिए था।

सिंधु घाटी की सभ्यता और इसके पश्चिमी संपर्क

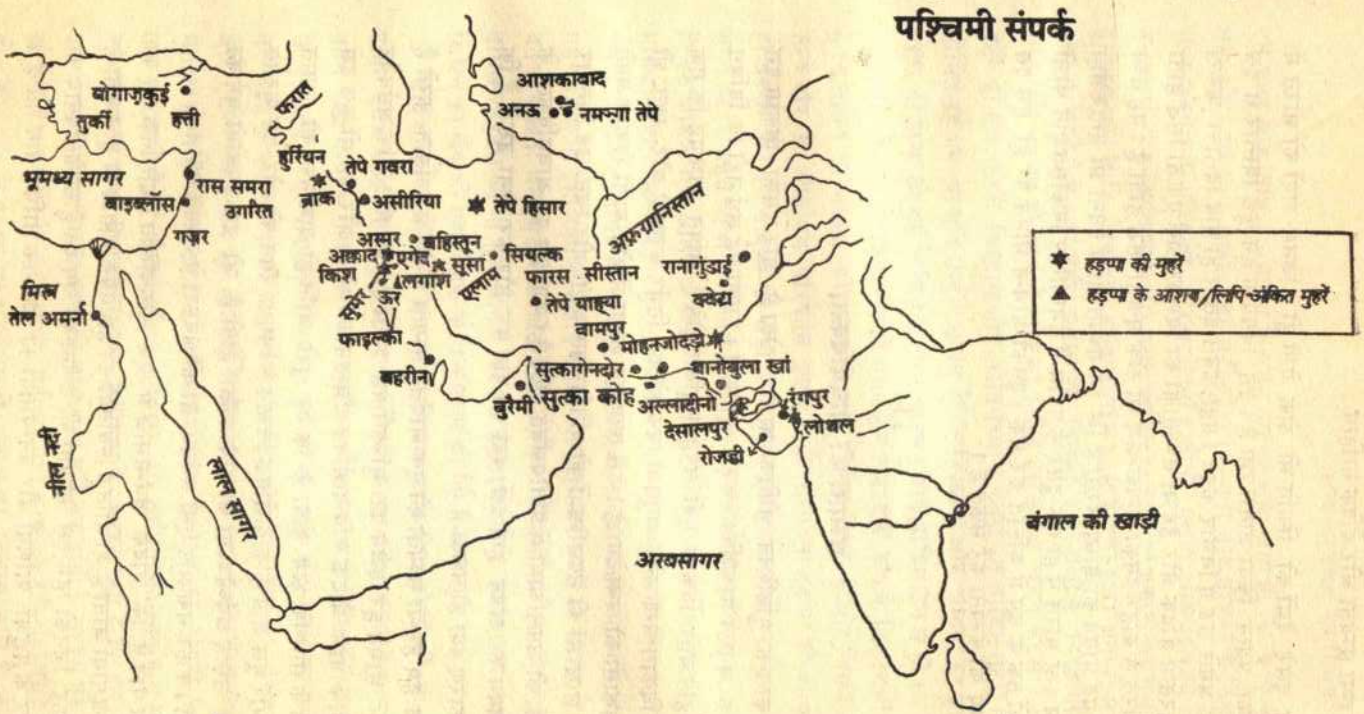

(चित्र सं. 2.2)

उन दूसरे देशों की स्थिति भी ठीक ऐसी ही है जिनसे आर्यों को भारत में पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता रहा है। इस विषय में हम कुछ विस्तार से इस पुस्तक के अगले खंड में विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना ही याद दिलाना ज़रूरी है कि भारत में वैदिक और हड़प्पा सभ्यताओं का विस्तार ठीक एक तो सिद्ध होता ही है, भारत से बाहर इनका सम्पर्क-क्षेत्र भी ठीक एक ही सिद्ध होता है। यह तथ्य पुनः हमें यह मानने को बाध्य करता है कि इन सभ्यताओं में इतना भी अन्तर नहीं है कि हम इन्हें भारत में ही एक-दूसरे के पड़ोस में समानान्तर विकसित होने वाली सभ्यताओं तक के रूप में कल्पित कर सकें। इनको अभिन्न मानने पर ही हम इस सर्वसादृश्य की कल्पना कर सकते हैं।

11

सभ्यता की आवयविकता

सभ्यता का एक सुनिश्चित भौतिक आधार होता है और उसका विकास इस आधार के अनुरूप आवयविक रूप में होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि विविध क्षेत्रों में होने वाले विकास पूरी तरह सन्तुलित होते हैं, अपितु मात्र यह कि एक क्षेत्र का विकास अन्य अनेक अनुसंगी विकासों पर निर्भर करता है और स्वतः भी अनेक विकासों को जन्म देता है। इस तरह एक शाखा में होने वाला विकास अपने से भिन्न शाखाओं की उपलब्धियों को प्रतिबिम्बित करता और स्वतः उन भिन्नतर शाखाओं की उपलब्धियों में प्रतिबिम्बित होता है। जहाँ हम इस आवयविकता के ध्रुव नियम का खंडन होते देखें, वहाँ इस बात पर ग़ौर कर लेना ज़रूरी है कि इसका कारण क्या हो सकता है?

जब हम हड़प्पा सभ्यता को एक आर्येतर सभ्यता के रूप में कल्पित करते हैं तो हमारे सामने हर क़दम पर मुश्किलें पेश आती हैं। हम पाते हैं कि अर्धबर्बर समझे जाने वाले वैदिक कवि दार्शनिक चिन्तन कर रहे हैं और वह भी कुछ इस तन्मयता के साथ कि भ्रम होता है कि यह पूरी जाति ही दार्शनिकों की जमात थी[130] और भूल जाते हैं कि दार्शनिक चिन्तन के लिए फ़ुरसत की और इस फ़ुरसत के लिए उन्नत अर्थव्यवस्था की आवश्यकता होती है, जो इस उपजीवी वर्ग का भरण-पोषण कर सके और ऐसा अर्धबर्बरता की अवस्था में सम्भव नहीं।

हम पाते हैं कि वैदिक देव-समाज में एक सुव्यवस्थित प्रशासनिक तंत्र का प्रतिबिम्ब पाया जाता है जो भौतिक स्थितियों का ही तिर्यक प्रतिबिम्ब हो सकता है और फिर जिनको हम इस सभ्यता की सर्जना का श्रेय देते है उनके देववाद को हीन स्तर के पशुओं, प्राणियों और वनस्पतियों की पूजा तक सीमित मान लेते हैं।

इस स्पष्ट और यांत्रिक विभाजन के समय हम यह भूल जाते हैं कि कोई समाज धर्म और दर्शन को लेकर पैदा नहीं होता। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ इनमें भी परिवर्तन और क्रान्तियाँ होती हैं, यद्यपि इनके बावजूद पिछली अवस्थाओं के अनेक विश्वास और चलन जीवित रहते हैं।[131] प्रकारान्तर से कहें तो, हम भूल जाते हैं कि जिन आदिम विश्वासों को हम वैदिकों द्वारा अनार्यों से लिया हुआ मान रहे हैं वे स्वयं उसी समाज की पिछली अवस्थाओं के विश्वासों और रीतियों के अवशेष हो सकते हैं और जो कबीले इस उन्नत चरण की ओर अग्रसर नहीं हो सके उनके विश्वास और रीति-रिवाज केवल इन आदिम तत्वों तक ही सीमित रह गये, या यदि उन्होंने उन्नत वैदिक विश्वासों और रीतियों का कुछ अंश ग्रहण भी किया तो वह किंचित अनमेल, अनगढ़ और आदिम रूप में ही।

भाषा के पक्ष पर विचार करते समय हम प्रायः इस भ्रम के शिकार हो जाते हैं कि तमिल जो संस्कृत की तरह ही एक प्राचीन भाषा है और जिसमें काफ़ी लम्बे दौर में बहुत कम परिवर्तन हुए हैं, वही सम्भवतः हड़प्पा की भाषा रही हो सकती है। इस सादृश्य को खड़ा करते समय हम उन कारणों पर विचार नहीं करते जिनके तहत भाषा में विकास होते हैं, न ही उन बाध्यताओं पर ध्यान देते हैं जिनके कारण एक सीमित दायरे में प्रयोग के लिए एक कृत्रिम और आरोपित मानक भाषा जन्म लेती है। हम इस बात पर भी ग़ौर नहीं करते कि इस आरोपण और कठोर आग्रह के बावजूद नये दबावों के कारण इस भाषा में भी बहुत गहरे परिवर्तन होते रहते हैं, यद्यपि कठोर व्याकरणिक नियमों के कारण ये परिवर्तन मुख्यतः शब्द-भंडार के क्षेत्र में ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। हम उस तमिल परम्परा को भी भूल जाते हैं जिसके अनुसार तमिल का पहला व्याकरण लिखने का श्रेय भी एक वैदिक ऋषि अगस्त्य को दिया जाता है।

यदि तमिल में परिवर्तन कम हुए हैं तो यह उसके लिए गौरव की बात नहीं, न ही इसके पीछे किसी पुरातन उच्च संस्कृति का हाथ है। भाषा में स्वल्प परिवर्तन बाह्य परिवेश से तदनुरूप कटे रहने का और इस तरह कबीलाई आत्मतुष्टि से जुड़े रहने का ही परिणाम है; कारण, तमिल का आम बोल-चाल का रूप कभी उस तरह कृत्रिम रूप में अपने मानक रूप से विच्छिन्न नहीं हुआ था जैसा संस्कृत और इसके प्रसार-क्षेत्र की बोलियों के बीच दिखायी देता है। इसके बावजूद यह मानना होगा कि संघम् काल, जो अधिक-से-अधिक ई० पू० की तीसरी शताब्दी तक जा सकता है, के दौरान तमिल दरबारी और साहित्यिक उपयोग में आने के कारण मानक भाषा बनी और इसकी प्राचीनता का कारण यही है कि इसके बाद इस क्षेत्र की सभ्यता संघम् काल को अतिक्रान्त नहीं कर पायी। संस्कृत को मानक और कृत्रिम रूप देने के पीछे लगभग वही बाध्यता काम कर रही थी जिसके तहत बी० बी० सी० के मानक उच्चारण वाली अंग्रेज़ी का विकास हाल में हुआ है।

अर्थात एक व्यापक क्षेत्र में सम्पर्क-भाषा के रूप में प्रयोग में आने के बावजूद एक क्षेत्र के व्यक्ति के लिए उसी भाषा में दूसरे क्षेत्र के व्यक्ति द्वारा कही बात को समझने में असमर्थ होना। पर एक लम्बे काल और व्यापक क्षेत्र के लिए समान उच्चारण और समान नियमों वाली भाषा के विधान के बावजूद यह शिक्षित वर्ग और दरबारी तबकों की, और वहाँ भी केवल औपचारिक बातचीत की ही भाषा रही, जबकि इसके प्रसार के क्षेत्र में विभिन्न बोलियाँ निरन्तर विकास करती रहीं।

भाषा के पक्ष पर तुलनात्मक परिवर्तनहीनता को नहीं, अपितु दो भाषाओं में परस्पर शब्दावली के आदान-प्रदान के पहलू को लेकर विचार किया जाना चाहिए और जैसा कि हम आगे देखेंगे, इस दृष्टि से हड़प्पा की भाषा वैदिक और इसकी बोलियों को छोड़कर अन्य कोई हो ही नहीं सकती थी।

ठीक यही बात श्रम-विभाजन के मामले में भी पायी जाती है। कोसम्बी हड़प्पा सभ्यता के विषय में लिखते हैं, "कुछ लोगों को अतिरिक्त खाद्य पैदा करना पड़ता था जो उन लोगों द्वारा खसोट लिया जाता था जो उत्पादन नहीं करते थे, पर जो उत्पादन के प्रचालनों की योजना बनाते, इन्हें निदेशित और नियंत्रित करते रहे हो सकते हैं। इसका तात्पर्य केवल यह है कि प्राचीन काल में कोई नगर वर्ग-विभाजन और श्रम-विभाजन के बिना, जो बहुजन के ऊपर अल्प जनों के शासन पर आधारित था, अस्तित्व में आ ही नहीं सकता था।"[132] और वर्ण या जाति के विषय में वह लिखते हैं कि यह उत्पादन के आदिम स्तर का वर्ग था।[133] रोमिला थापर यह मानती हैं कि चूँकि भारत से बाहर कहीं वर्ण-व्यवस्था नहीं पायी जाती, अतः आर्यों ने यह व्यवस्था हड़प्पा के आर्येतर जनों से ली होगी।[134] कोसम्बी, आर० एस० शर्मा आदि का मत भी इससे भिन्न नहीं है; कारण, वे अधिकांश वैदिक पुरोहितों को हड़प्पा से लिया गया मानते हैं और आर्य-आक्रमण को क्षत्रिय-आक्रमण के रूप में कल्पित करते हैं।[135]

इस तरह के सरलीकरणों का कारण यह है कि किसी भी पहलू पर टुकड़ों में विचार किया जाता रहा है और हर मामले में यह मान कर चला जाता रहा है कि आर्य, जैसे भी सही, भारत में आये बाहर से ही थे। समस्या तब उलझ जाती है जब हम पाते हैं कि भारत में वर्ण और जाति-व्यवस्था केवल उस समाज में ही और उसी तक पायी जाती है जिसे वैदिक भाषा और संस्कृति से प्रभावित माना जाता है और इसका प्राचीनतम विधान भी वैदिक परम्परा में ही पाया जाता है। दक्षिण भारत के द्रविड़ समाज में केवल दो ही जातियाँ पायी जाती हैं—ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर—और इनमें से ब्राह्मण उत्तर भारत से और वैदिक परम्परा से ही दक्षिण के राजाओं के आमंत्रण पर गये थे। प्राचीन द्रविड़ समाज में भी इन ब्राह्मणों के

प्रति कितना गहन सम्मान-भाव था, इसे इस बात से समझा जा सकता है कि वहाँ के राजाओं और सामन्तों के ऊपर ही अपनी जीविका से ले कर सुरक्षा तक के लिए निर्भर करने वाले इन ब्राह्मणों को समाज में उनके द्वारा भी सर्वोपरि स्थान दिया गया था। अन्य भारतीय जन-जातियों के भीतर भी वर्ण-व्यवस्था या जाति-व्यवस्था का अस्तित्व नहीं पाया जाता। जब यह सुझाया जाता है कि हड़प्पा के ब्राह्मण ही वैदिक ब्राह्मण बन गये तो यह नहीं सोचा जाता कि इन ब्राह्मणों का यदि आर्यों के समाज में अस्तित्व ही नहीं था तो फिर इनकी आवश्यकता भारत में आने के बाद हुई क्यों ? और यदि उन मंत्रों आदि के लिए हुई जिनके बल पर वे अपनी श्रेष्ठता क़ायम किये हुए थे तो फिर अपने नये स्वामियों को भी वे अपने पुराने मंत्रों से तुष्ट कर सकते थे और इस दशा में इन पुरोहितों की भाषा और वेदों की भाषा एक हो जाती है। सच तो यह है कि वैदिक सभ्यता और साहित्य के रूप में हमें जो कुछ उपलब्ध है वह इन पुरोहितों का ही रचा हुआ है और जहाँ हम इनका अनिवार्य सम्बन्ध हड़प्पा से जोड़ते हैं वहाँ तत्वतः यह स्वीकार करते हैं कि हड़प्पा का साहित्य वैदिक साहित्य है और अज्ञान या भ्रम के कारण इन दोनों के बीच एक सर्वथा कृत्रिम और असम्भव खाई तैयार करते हैं।

आरम्भ में आर्यों के विशिष्ट रूपाकार के विषय में बड़े आत्मविश्वास से दावे किये जाते थे, पर हड़प्पा के अवशेषों से प्राप्त कंकालों का अध्ययन करने वाले विद्वानों का मत है कि हड़प्पा काल में भी उस पूरे क्षेत्र में बसे लोगों के नाक-नक़्श उन क्षेत्रों के वर्तमान निवासियों के समान ही थे।[136] यह नृतात्विक दृष्टि से भी आर्य या कहें वैदिक जनों और हड़प्पा के निवासियों की अभिन्नता को ही प्रकट करता है।

12

सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

किसी सभ्यता के पतन का प्रभाव उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियों पर भी पड़ता है, पर यह प्रभाव मुख्यतः एक गतिरोध के रूप में ही दिखायी देता है। सभ्यता के पतन के साथ इसके आहरण और दमन-तंत्र की जकड़ भी ढीली पड़ती है और इसलिए कुछ क्षेत्रों में पतन का प्रभाव धनात्मक भी हुआ करता है—इससे इसके उत्पादक वर्गों को एक सीमित राहत भी मिलती है। अन्य मामलों में जिन चीज़ों का उत्पादन पहले सम्पन्न और विलासी उपभोक्ताओं और संरक्षकों की हैसियत, रुचि आदि के अनुरूप अधिक भड़कीले रूप में होता रहता है, उनके लिए अब सामान्य जन की पहुँच के भीतर के उपादान काम में लाये जाने लगते हैं।

एक केन्द्र से टूटने के बाद जब शिल्पी आदि बिखरते हैं तो उन सांस्कृतिक उपलब्धियों का अधिक बड़े क्षेत्र में प्रसार भी होता है। पर अपने सम्पन्न आश्रयदाताओं के अभाव में, जो अधिक श्रम और तल्लीनता से बनायी गयी वस्तुओं का उचित मूल्य दे सकते थे, अब शिल्प और परिष्कृति में कमी आती है। दक्षता का स्तर इससे प्रभावित होता है।

यदि हड़प्पा सभ्यता का पतन हो गया तो इसके दस्तकार जो हाथी के दाँत के कंघे बनाते थे—सींग, बाँस, लकड़ी आदि के कंघे बना सकते थे। चमकदार और पालिशदार नक्काशी का स्थान खुरदरी नक्काशी ले सकती थी। बहुत बारीक या ज़रीदार कपड़ों का स्थान खुरदरे और साधारण कपड़े ले सकते थे, आदि। और यही हुआ भी। पर समाज का वह तबक़ा जो अपने जीवन-निर्वाह के लिए इन संरक्षकों पर निर्भर नहीं था, अपितु जिसके लिए ये प्रभुगण एक उत्पीड़क की ही हैसियत रखते थे, उसे इनसे आपेक्षिक[137] मुक्ति मिल सकती थी और उसे अपने ठिकानों को छोड़ कर कहीं भागने या जाने की ज़रूरत नहीं थी। उदाहरण के लिए, हड़प्पा के किसानों के लिए अपना क्षेत्र छोड़ कर भागने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था, जब कि व्यापार और उद्योग के ध्वस्त हो जाने के बाद इसके शिल्पियों के लिए अपने पुराने ठिकानों पर जमा रह पाना कठिन था।

अतः, पहली बात तो यह कि हड़प्पा सभ्यता के पतन का इसके किसानों पर असर पड़ना ही नहीं था — किसी भी आक्रमण के समय यदि इन पर कोई असर पड़ा भी है तो अल्पकालिक आपदा के रूप में ही। अतः यदि हम इसी हड़प्पा सभ्यता के क्षेत्र के किसानों और चरवाहों को वैदिक साहित्य में वैदिक किसानों और चरवाहों के रूप में चित्रित पाते हैं तो मानना होगा कि इन दोनों में कोई भेद नहीं था।

तर्क के लिए हम यह मान लें कि हड़प्पा सभ्यता के पतन में भयंकर और लम्बे समय तक चलती रहने वाली प्राकृतिक आपदाओं का भी हाथ था, जो रहा भी लगता है, तो भी हम यह नहीं मान सकते कि ये आपदाएँ हड़प्पा के किसानों के लिए तो आपदाएँ थीं, पर आक्रामकों के लिए नहीं। शताब्दियों से अपनी जड़ें जमाये हुए लोग जहाँ टिक नहीं सकते थे, वहाँ बाहर से कोई आ ही नहीं सकता था, और आने पर कोई दल किसी सूरत में टिक नहीं सकता था। हालत में सुधार होने पर वहाँ लौट कर पुराने लोग ही बस सकते थे। इस दशा में भी हड़प्पा के समाज से भिन्न होने की दशा में वैदिक किसानों और चरवाहों की इस क्षेत्र में कल्पना नहीं की जा सकती।

इससे भी आगे बढ़ कर हम पुनः यह भी मान लें कि उपद्रवकारियों से परेशान हो कर हड़प्पा प्रसार-क्षेत्र के सारे किसानों को अपना क्षेत्र भी छोड़ना ही पड़ा, तो भी जिस तरह उन्होंने जंगलों में आग लगा कर हड़प्पा क्षेत्र की सफ़ाई करके

इसमें खेती की थी, नये जंगली क्षेत्रों में वे पुनः उसी पद्धति को अपना कर खेती-बारी आरम्भ कर सकते थे। कारण—उन्नत उत्पादन-पद्धति से परिचित हो जाने के बाद वे पुन-आदिम आहार संग्रह और बहुत छोटे स्तर के पशुपालन से सन्तुष्ट नहीं रह सकते थे और कृषि-कर्म ऐसा नहीं था जिसके लिए उन्हें किसी संरक्षक की आवश्यकता होती। वस्तुतः, पूर्व और दक्षिण की ओर पलायन करने वाले हड़प्पावासियों ने यही किया भी। विडम्बना यह है कि तथाकथित आर्य-प्रसार-क्षेत्र के चारों ओर जिन भी 'अनार्य' माने जाने वाले जनों को हम पाते हैं वे सभी उत्पादन की दृष्टि से बहुत पिछड़े दिखायी देते हैं और इनमें से किसी से यह पता नहीं चलता कि ये हड़प्पा सभ्यता के किसानों आदि के वंशधर हो सकते है। इस का अपवाद द्रविड़ भाषा-भाषी भी नहीं हैं और ब्राहुई जन, जिनकी भाषा को लेकर तरह-तरह की अटकल लगायें जाती रही हैं, हड़प्पा सभ्यता के ठीक सीमान्त पर बसे होने के बावजूद आज तक अर्धयायावर ही रहे हैं। इसके विपरीत जिन आर्यों को यायावर और कृषि से नाममात्र को परिचित माना जाता है उनको वैदिक काल से ले कर आज तक भूधन और पशुधन से घनिष्ठ रूप से जुड़ा पाया जाता है। यह कमाल कैसे हो गया कि जो लोग अर्धबर्बर और स्थायी बस्ती के प्रति उदासीन थे उन्होंने झटपट स्थायी जीवन और खेती-बारी को अपना लिया और जो स्थायी बस्तियाँ बना कर बसे हुए थे उन्होंने यायावरी अपना ली और आदिम आहार-संग्रह और आखेट की ओर लौट गये? यह एक अद्भुत विनिमय है जिसकी न तो कल्पना की जा सकती है, न ही जिसकी कोई अन्य मिसाल विश्व के इतिहास में पायी जा सकती है।

13

हड़प्पा का उदय और अस्त

हड़प्पा सभ्यता का उदय किस प्रकार और कहाँ हुआ और इसके पतन के बाद इसके निर्माताओं की नियति क्या हुई, इस विषय में भी यदि कुछ ठोस जानकारी मिल सकती है तो वैदिक साहित्य से ही, जिसे यदि पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुपूरक प्रमाणों के रूप में उपयोग में लाया जाये तो इस सभ्यता का धुँधलापन मिट जायेगा।

अभी तक हड़प्पा सभ्यता के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं वे मुख्यतः परिपक्व अवस्था के हैं। इसके प्राथमिक विकास की स्थिति क्या थी, इन विषय में हमें बहुत स्पष्ट जानकारी नहीं है। यदि कोई दावा इस सभ्यता के प्रसार-क्षेत्र आदि को ध्यान में रखते हुए किया जाता है तो केवल यह कि इसका विकास भारत में ही

हुआ और अपने विकास-क्रम में इसने अन्य सभ्यताओं से कुछ लेन-देन अवश्य किया हो सकता है, पर कहीं अन्यत्र से भारत में लायी नहीं गयी थी। भारत में भी यह सिन्धु घाटी में विकसित हुई नही लगती।

इस सभ्यता के पतन के बाद हम हड़प्पा सभ्यता के दस्तकारों आदि को पूर्व और दक्षिण की ओर पलायन करते पाते हैं। इसके बाद इनकी नियति का कुछ पता नहीं।

जब हम वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो ठीक यही कहानी दुहरायी जाती प्रतीत होती है। जैसा कि हम आगे चलकर विस्तार से देखेंगे, इस सभ्यता का विकास सरस्वती घाटी में होता है। पुनः सरस्वती नदी कुछ समस्याएँ पैदा करने लगती है। कुछ इस कारण से और कुछ अपने विस्तार के कारण इस सभ्यता का केन्द्रीकरण सिन्धु के तटीय नगरों में होता दिखायी देता है। पुराने मंडलों की महिमामयी सरस्वती का स्थान नये मंडलो में सिंधु को मिल जाता है। ऋग्वेद और कहें अन्य वेद भी हमें इससे अलग कोई जानकारी नहीं देते, परन्तु धर्मशास्त्रों आदि में पुरानी गाथाओं के आधार पर यह दुहराया जाता है कि सिन्धु से परे का क्षेत्र और सौराष्ट्र आदि का क्षेत्र, जो निश्चित रूप से पहले वैदिक जनों के अधिकार में रह चुका था, अब आर्य-वर्ज्य या अपवित्र हो गया है। इसका कारण यह बताया जाता है कि इस पर म्लेक्षों ने अधिकार कर लिया है और यदि कोई धर्म-परायण राजा इस क्षेत्र को जीत कर इसमें पुनः वर्ण-व्यवस्था स्थापित करे तो यह क्षेत्र भी यज्ञ के उपयुक्त हो सकता है; कारण, धरती स्वतः दूषित नहीं होती, संसर्ग से ही वह दूषित होती है। इसके साथ ही आर्यावर्त की परिभाषा भी बदल जाती है और पहले के अपने अधिकृत क्षेत्र से वैदिक जनों के पूर्व और दक्षिण की ओर अर्थात ठीक उसी रास्ते पर जिस पर हड़प्पा के निवासियों के वापस लौटने के प्रमाण मिलते हैं, लौटने के कुछ प्रसंग भी ब्राह्मणों आदि में मिलते है।

इस तरह उत्थान, पतन और पलायन की इस कहानी में भी ठीक वही बिम्ब-प्रतिबिम्ब दिखायी देता है जो अन्य मामलों में। क्रम और औचित्य का ध्यान न रखने के कारण वैदिक साहित्य में उपलब्ध सूचना को जोड़-मिला कर आर्यों की इस नियति को इनके आक्रमण का प्रमाण बताया जाता रहा है। दसवें मंडल में, जो निर्विवाद रूप से सबसे बाद का है, पहली बार गंगा से लेकर गोमल और काबुल नदियों तक का उल्लेख आता है जो, जैसा कि हम कह चुके हैं, पूर्व से पश्चिम की ओर हड़प्पा सभ्यता के पूरे क्षेत्र को प्रकट करता है। पर इसमें शेष समूचे क्षेत्र को छोड़ कर केवल पश्चिमी नदियों के उल्लेख के आधार पर यह बताया जाता रहा है कि भारत में हमें आर्यों की प्रारम्भिक उपस्थिति पश्चिमोत्तर सीमान्त पर मिलती है और बाद में वे पूर्व की ओर फैले दिखायी देते हैं, अतः वे इससे भी पश्चिम और उत्तर की ओर से आये रहे हो सकते हैं। इस बात पर क़तई ध्यान ही नहीं दिया

जाता है कि प्राचीन अंशों में पश्चिमोत्तर क्षेत्र के विषय में ही नहीं, सिन्धु तक के विषय में कोई आत्मीय जानकारी नहीं मिलती और बाद के अंशों में पश्चिमी सीमान्त से लेकर गंगा-पर्यन्त के क्षेत्र का एकत्र उल्लेख पाया जाता है न कि केवल पश्चिमोत्तर का और इस विवरण को तोड़-मरोड़ कर पेश करना अविवेकपूर्ण है।

आक्रमण और अग्रधर्षण के इस चित्रण की एक अन्य विडम्बना यह है कि जब हम इन आर्यों को पूर्व की ओर अग्रसर होते देखते हैं और इस पर एकांगी बल देते हैं तो इसके साथ इस बात पर ध्यान नहीं देते कि इनको इसी के साथ पश्चिम के इतने ही बड़े भाग को छोड़ना पड़ रहा है, और वह भी किसी दबाव में। दूसरे शब्दों में कहें तो, वैदिक साहित्य में यदि भारत के भीतर कहीं किसी जन-संचलन की कोई सूचना मिलती भी है तो वह आक्रमण के रूप में नहीं, अपितु पलायन के रूप में मिलती है। युद्धों का एक दौर इस काल के अन्त में आता अवश्य है जिसमें यमुना के पश्चिम की ओर से भरतवंशी इससे पूर्व के राजाओं पर आक्रमण करके अपना क्षेत्र विस्तार करते हैं, पर वे जिन पर आक्रमण करते हैं वे भी वैदिक मतानुयायी और आर्य भाषा-भाषी राजा ही हैं।

उपसंहार

इस तरह हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य पर विचार करने के जितने भी सम्भव पहलू हो सकते हैं उनकी पड़ताल में जाने पर हम हर दृष्टि से यही पाते हैं कि इन दोनों सभ्यताओं में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। अतः इन पहलुओं की कुछ विस्तार से जाँच-पड़ताल के साथ उन भिन्नताओं की छान-बीन नये सिरे से करने की बाध्यता उत्पन्न होती है जिन्हें इनकी पृथकता दिखाने के लिए बार-बार दुहराया जाता रहा है। आगे के अध्यायों में हम देखेंगे कि इस महत्त्वपूर्ण समस्या को कितने सतही और बेबुनियाद तर्कों से रफ़ा-दफ़ा करने का और बार-बार इन्हीं को दुहरा कर एक बौद्धिक जड़ता और निष्क्रियता पैदा करने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. गाइल्स, "दि आर्यन्स,' कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1,1922, भा. सं. 1962, 641
2. कीथ, 'दि एज ऑफ़ ऋग्वेद,' वही, 70-71
3. वही।

4. इमेनो, 'दि डायलेक्ट्स ऑफ़ दि ओल्ड इंडोआर्यन,' ऐंशेंट इंडोयूरोपियन डायलेक्ट्स,' 'सं. हेनरिक बर्नबाम 1966, 132
5. बी. के. थापर, 'दि आर्यन्स : ए रिएप्रेज़ल ऑफ़ दि प्राब्लम,' इंकवथाक, 1970, 160
6. वही, 161
7. एस. पी. गुप्त आर्कियॉलॉजी ऑफ़ सोवियत सेंट्रल एशिया ऐंड दि इंडियन बार्डरलैंड्स, 1979, 2, 318
8. वही, 160
9. वही।
10. मैक्समूलर, बायॉग्राफ़ीज़ ऑफ़ वर्ड्स ऐंड दि होम ऑफ़ दि आर्यन्स, 1888, 120
11. ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया, 1967, 1, 1, 94
12. मैक्समूलर, सिलेक्टेड एसेज़ ऑन लैंग्वेज, माइथॉलॉजी ऐंड रिलिजन, 1881, 204-205
13. 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः', पा. 26.2
14. देखें, वी. एस. पाठक, प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन के कतिपय पक्ष, 1984, भूमिका, 27; तुलना करें हर्त्सफ़ील्ड, 1947, 110
15. 'ऋग्भ्यः जातः वैश्यं वर्णं आहुः' । तैसं 3.12.9.2
16. दि इंपीरियल गज़ैटियर ऑफ़ इंडिया, 1907, 1, 301
17. राइक्स व डायसन, 'दि प्रीहिस्टॉरिक क्लाइमेट ऑफ़ बलूचिस्तान ऐंड इंडस वैली,' अमे. ऐंथ्रो, 1961; राइक्स (मोहनजोदड़ो, इन्क्वायनमेंट, फ्रइंसि, 1984, 455) का विचार है कि 6000-4000 ई. पू. में उत्तर सागर का निर्माण हो रहा था, पर इसे छोड़कर अन्यत्र जलवायु में कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ। एच. ई. राइट ('क्लाइमेट चेंज इन माइसीनियन ग्रीस,' ऐंटीक्विटी, 42, 167, 1968, 123-27) जलवायु परिवर्तन की ऐसी ही मान्यता पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि यह निराधार है। ठीक ऐसे ही विचार रायस कार्पेंटर के भी हैं। ऐसा लगता है कि अपनी पूर्वग्रहीत मान्यताओं को आरोपित करने के लिए, अन्य कोई उपाय न देख कर, कुछ विद्वान जलवायविक परिवर्तन की आड़ लेना अधिक आसान पाते रहे हैं।
18. "आर्यों के विषय में हमारी बनी-बनायी धारणाएँ जो भी क्यों न हों, पुरातात्विक साक्ष्यों से बड़े पैमाने पर किसी आक्रमण या आव्रजन का संकेत नहीं मिलता।...गंगा की उपत्यका के पुरातात्विक साक्ष्यों से यह प्रकट नहीं

होता कि यहाँ के पुराने निवासियों को भागना या परिव्रजित होना पड़ा था।" रोमिला थापर, पूर्व 1978, 215. और इसके अतिरिक्त "प्रमाणों से यह भी पता नहीं चलता कि कोई भी एक ऐसी प्रबल संस्कृति थी जो धीरे-धीरे समूचे उत्तरी भारत में फैल गयी और इस तरह जिसने विभिन्न संस्कृतियों को अपने भीतर समेट लिया"। वही, 214, अतः "इससे यह संकेत मिलता है कि आप्रवासी अपने साथ औद्योगिकी के कुछ पहलू और सम्भवतः भाषा लेकर आये थे"। वही, 214.

19. चाटुर्ज्या, बाल्ट्स एंड आर्यन्स इन देयर इंडोयूरोपियन बैकग्राउंड, 1968, 100; मार्शल, मोहनजोदड़ो एण्ड इंडस सिविलाइजेशन, 1931, 1, 110-11, आदि।
20. रोमिला थापर, पूर्व. 1978, 232 पर टिप्पणी; घुर्ने, दि हित्ताइत्स, 1952, 104 और आगे; पिगट, प्रीहिस्टॉरिक इंडिया, 1950, 273, आदि।
21. ह्वीलर, पूर्व. 1953, 60.
22. राव, दि डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, 308; जगतपति जोशी, ट्रांसफार्मेशन ऑफ़ हड़प्पन कल्चर इन कच्छ : इक्ज़ामिनेशन ऑफ़ इविडेंस फ्रॉम सूरकोटडा, 1972; ए. के. शर्मा, 'इविडेंस ऑफ़ हार्स फ्रॉम दि हड़प्पन सेटलमेंट ऐट सूर कोटडा,' पुरातत्व, 7, 1974.
23. युंजाथां रासभं रथे वीडु अंगे वृषण्वसू।···त्रिबन्धुरेण त्रिवृता रथेन आ यातं अश्विना। ऋ. 8.85.7; कदा योगः वाजिनः रासभस्य येन यज्ञं नासत्या उपयाथः। ऋ. 1.34.9; उपस्थात वाजी धुरि रासभस्य; ऋ. 1.162.21; आदि।
24. देखें, ऊपर। रामायण में रावण को गर्दभ-रथ पर आरूढ़ दिखाया गया है, "मया सह रथो युक्तः पिशाचवदनैः खरैः ॥" रामा. 3.42.7. देखें महाभारत, आदि पर्व, 132.7 भी।
25. गर्दभ का शाब्दिक अर्थ है रेंकने वाला, पर रासभ, खर, अश्व सभी का अर्थ है वेगवान। महाभारत, आदिपर्व, 132.7 तक में रासभयुक्त रथ को आशुगामी बताया गया है, "स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ॥"
26. कीथ, 'बेबीलोन ऐंड इंडिया,' कुमेवा, 67-70. गधे का स्थान वहाँ भी घोड़े ने ले लिया था। कीथ के अनुसार इसका प्रचलन वहाँ 2100-1800 ई. पू. के बीच आरम्भ हुआ होगा।
27. एस. आर. राव, पूर्व. 1982, 308.
28. कच्छ के क्षेत्र में घोड़े की इस नस्ल के पाये जाने के कारण ही वैदिक

परम्परा में यह विश्वास स्थान पा गया था कि घोड़े की उत्पत्ति जल से हुई, "अप्सु योनिः वा अश्वः।" तैब्रा 3. 8. 4. 3; "अद्भ्यः ह वा अग्रे अश्वः सम्बभूव···"शतब्रा. 5.1.4.5. "समुद्र एव अस्यबन्धुः समुद्रः योनिः।" 10.6.4.1

29. गन्धर्वा ह वा अग्रे अश्वं युयुजन···ते अस्मिन् जवं अदधुः।शतब्रा. 5.1.4.8. इतना ही नहीं अश्व और भेड़ को स्पष्टतः उत्तर दिशा से प्राप्त बताया गया है, "अश्वं च अविं च उत्तरतः···एतस्यां दिशि एतौ भूयिष्ठौ।" शतब्रा. 7.5.2.15

30. अश्वः वाजीः भूत्वाः गन्धर्वान् अवहत्। शतब्रा 10.6.4.1; यमेन दत्तं त्रित एनं अयुनक इन्द्रः एनं प्रथमः अधि-अतिष्ठत्। गन्धर्वः अस्य रशनां अगृभ्णात् सूरात् अश्वं वसवः निःअतष्ट॥ ऋ. 1. 163. 2.

31. ऋ. 4.38.2-10; 4-39; 4.40.1-4; 7.44.2-4.

32. दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा। नि. 2.28.

33. वाजश्रवा का मो. वि. ने 'धन के लिए प्रसिद्ध' अर्थ किया है, जिसे एक व्यापारी के रूप में इन्द्र की भूमिका को सामने रख कर ही समझा जा सकता है।

34. महा., उद्योगपर्व, 104.26; 110.16-14, आदि।

35. शतब्रा.।.3.4.2.1 तस्मात् लोह क्षुरो भवति।

36. जिम. जी. शैफ़र, 1984, 41-62.

37. 'लोहिता इव हि अग्निः तस्मात् लोह क्षुरो भवति। शतब्रा-2.6.4.5

38. ऋ. 6.75.15.

39. ए. आर. हार्नली व एच. ए. स्टार्क, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1904, 12-13.

40. ग्रियर्सन, इंपीरियल गजेटियर, इं.इं., 1, 1907, 358.

41. चाटुर्ज्या, ओरिजिन ऐंड डवलपमेंट ऑफ दि बंगाली लैंग्वेज 1926, 30.

42. इंडो-आर्यन रेसेज़, 1, 1916. पर डी. के. सेन, ऐंशेट सेरेज़ ऑफ़ इण्डिया ऐंड पाकिस्तान ए स्टडी ऑफ़ मेथड्स ऐंशेट इंडिया, 1964-65,178-205 के अनुसार हड़प्पाकालीन गुजरात; सिन्ध और पंजाब में लघु कपाल और लम्ब शीर्ष लोगों का जमाव ठीक आज ही जैसा था।

43. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, पूर्व. 1926, 32-33.

44. वही।

45. वही, 34.

46. कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1, 1921, भा. सं. 1962, 71.

47. ऋ. 2.23.3; 40-2.
48. ऋ. 7.104.1
49. ऋ. 6.16.29; 48; 63.10, आदि।
50. ऋ. 1.133.5.
51. ऋ. 10.87.2; 19.
52. ऋ. 2.18.10; 42.3; 6.28.7, आदि।
53. ऋ. 6.28.3; 7.55.3; 8.29.6.
54. ऋ. 1.33.4; 7; 9; 2.15.9 आदि।
55. ऋ. 8.45.9; 1.36.15; 7.11.3.
56. ऋ. 1.23.9; 2.23.10; 7.94.7.
57. ऋ. 1.139.9; 2.8.5; 5.15.5.
58. ऋ. 1.190.5; 2.23.12; 3.32.4.
59. ऋ. 1.85.3; 3.24.1; 5.23.4.
60. ऋ. 1.24.15; 4.28.4; 5.32.7.
61. ऋ. 1.129.6; 2.42.3; 4.4.3.
62. ऋ. 1.42.2.
63. ऋ. 1.36.15; 2.23.12; 6.16.32.
64. ऋ. 4.4.3; 5.59.2; 6.28.3.
65. ऋ. 1.21.5; 4.19.5; 7.104.4.
66. ऋ. 2.23.5; 4.23.7.
67. ऋ. 3.43.6; 4.26.7; 8.45.23.
68. ऋ. 1.133.5.
69. ऋ. 2.11.2; 7.9.5; 10.22.15.
70. ऋ. 1.116.21; 2.32.2.
71. ऋ. 2.27.16.
72. ऋ. 4.20.1; 7.6.4.
73. ऋ. 10. 22.8
74. ऋ. 1.37.1; 2.1.5.
75. ऋ. 7.104.7; 10.76.4.
76. ऋ. 2.23.16.
77. ऋ. 1.11.7; 53.7; 2.11.5.
78. ऋ. 7.104.2; 23; 10.87.24.
79. ऋ. 2.23.9.
80. ऋ. 1.166.8; 10.63.11.

81. ऋ. 1.174.2; 5.29.10; 7.18.13.
82. ऋ. 1.152.2; 2.23.8; 6.61.3.
83. ऋ. 1.24.4; 2.34.15; 4.4.15.
84. ऋ. 1.121.13; 131.4; 7.6.3.
85. ऋ. 1.33.5; 6.14.3; 9.41.2.
86. ऋ. 10.22.8.
87. ऋ. 5.20.2; 8.70.11; 10.22.8.
88. ऋ. 1.65.1; 4.38.5; 6.12.2.
89. ऋ. 8.1.2; 8.22.2.
90. ऋ. 7.104.2.
91. ऋ. 1.41.3; 2.7.3; 5.29.9.
92. ऋ. 1.133.1; 2.12.8; 3.18.2.
93. ऋ. 1.42.2; 2.23.7; 6.51.14.
94. ऋ. 1.42.4; 2.23.5; 9.85.1.
95. ऋ. 1.133.1; 5.2.3; 10.27.6.
96. ऋ. 7.104.24; 10.87.9; 24.
97. ऋ. 1.145.5; 10.4.6.
98. ऋ. 1.42.3.
99. ऋ. 1.42.3;
100. यजु. 11.78.
101. चाटुर्ज्या, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, 1954, 35-39, आदि। इसकी व्याख्या हम आगे चल कर करेंगे।
102. मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन, 1931, 1, 48.
103. ह्वीलर, पूर्व., 1953,89.
104. वही, 90
105. वही, 91.
106. वही, 90-91.
107. मार्शल, पूर्व. 2,624.
108. मैकाय, 1948,1, 94 व 117.
109. पूर्व. 92.
110. एम. आर. साहनी, मैन इन इवोल्यूशन, कलकत्ता, 1952, 153-54 में हड़प्पा सभ्यता के पतन का कारण बाढ़ को मानते हैं। बी. बी. लाल, प्रोटोहिस्टॉरिक इन्वेस्टगेशंस', ऐंशेंट इंडिया, 9 1953 में साहनी और ह्वीलर दोनों के मतों को मात्र परिस्थिति जन्य मानते हैं; जार्ज एफ.

डेल्स, सिविलाइजेशन ऐंड फ्लड्स इन दि इंडस वैली', एक्सपेडीशन, 7, 4, 1965, 10-19 में मोहनजोदड़ों के ऊपरी स्तर पर पुन: मिले कंकालों के आधार पर यह नतीजा निकालते हैं कि इन कंकालों का हत्या से सम्बन्ध नहीं है और जिन पुरातात्विक सन्दर्भों में ये पाये गये हैं उनसे सिद्ध होता है कि ये प्राप्ति-स्थल पर बाद में पहुँचे हैं। डेल्स इस नतीजे पर पहुँचे थे कि मोहनजोदड़ो ही नहीं, हड़प्पा के अन्य नगरों का पतन भी बाढ़ के कारण हुआ था। इसके अतिरिक्त 'दि मिथिकल मैसेकर ऐट मोहनजोदड़ो, एक्सपेडीशन, 4, 3, 1964 और 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि हडप्पन्स', साइंटिफ़िक अमेरिकन, 2, 14, 5, 1966 में भी नरहत्या की मान्यता को उन्होंने निस्सार सिद्ध किया था। राबर्ट राइक्स, जिनकी देखरेख में मोहनजोदड़ो की टोहपरक ड्रिलिंग की गयी थी, अनेक बार इस नगर के बाढ़ग्रस्त होने की पुष्टि करते हैं और 'कालीबंगां : डेथ फ्रॉम नेचुरल काज़ेज़', ऐंटीक्विटी, 42. 167-68, 1968, 286-91 में हड़प्पा के अन्य स्थलों के उजड़ने का भी कारण प्राकृतिक आपदा को ही मानते हैं। इस तरह कहीं से भी नरसंहार की पुष्टि नहीं होती। डेल्स का मत है कि नरसंहार ही नहीं, मोहनजोदड़ो पर किसी आक्रमण का भी कोई लक्षण नहीं प्रकट होता, यद्यपि बिलकुल ऊपरी स्तर से आर्थिक स्थिति में भारी गिरावट के प्रमाण अवश्य मिलते हैं।

111. ह्वीलर, अर्ली इंडिया ऐंड पाकिस्तान, 1968, 113-14.

112. रोमिला थापर, पूर्व. 1978, 18, पाद टिप्पणी 228. ए. एल. बैशम, 1967, 29-30.

113. आल्चिन व आल्चिन, दि बर्थ ऑफ़ इंडियन सिविलाइज़ेशन, 1968, 139-44.

114. एंटीक्विटी, 43, 169, मार्च 1969, 72-73 में आल्चिन व आल्चिन की पुस्तक, दि बर्थ ऑफ़ इंडियन सिविलाइज़ेशन पुस्तक की समीक्षा। देखें एफ. जी. डेल्स, 'आर्किथॉलॉजी ऐंड रेडियो कार्बन क्रोनॉलॉजीज़ फ़ॉर प्रोटोहिस्टॉरिक साउथ एशिया', 1973, 157-69 भी।

115. मालती शेंडगे, दी सिविलाइज्ड डेमन्स, 1981 में कुछ यह ख्याल लेकर चली हैं कि अपेक्षाकृत अपने से सभ्य हड़प्पावासियों को ही आर्यों ने असुर या डेमन कह दिया है, मानो वह मात्र एक शब्द के प्रयोग का प्रश्न हो, सभ्यता के समूचे स्तर से इसका कोई सम्बन्ध ही न हो और दूसरे विशेषण भी मनचाहे ढंग से गढ़ लिये गये हों। कुछ इसी तरह का विचार रोमिला

थापर का भी लगता है जो 'दि इमेज़ ऑफ़ बार्बेरियन्स' ऐंशेंट इंडियन सोशल हिस्ट्री, 1978 में देखा जा सकता है। ये मान्यतायें सतही हैं।

116. देखें, ऋ. 3.23.1=4, 6. 61. 1. देखें, वैदिक, इंडेक्स, 1962, 1, 406-7 भी और तुलना करें हिल्लेब्रांट, वैदिक माइथालॉजी, 1980, 1, 343.

117. ऋ. 10.75.

118. ऋ. 6.61.2; 7.95.2; 10.75.2

119. ऋ. 6.61.2; इयं शुष्मेभिः बिसखा इव आरुजत् सान गिरीणा तविषेभिः ऊर्मिभिः।

120. भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यत् एषां अग्रं जगतां इरज्यसि। ऋ 10.75.2

121. गिरिभ्यः आ समुद्रारा। ऋ. 7.95.2

122. ऋ. 1.56.2, 116.3.5, 167.2, 14.55.6, आदि

123. मिताक्षण 3-292.

124. देखें बैशम, पूर्व; 20. मैकाय, अर्ली इंडस सिविलाइज़ेशन, 1948, 11

125. मैक्समूलर, चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1.1867, 64-65; कीथ, 'दि एज ऑफ़ ऋग्वेद, 'दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1, 1922, भा. सं. 1962, 70-71.

126. 'दि आर्यन्स,' कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, 1, 1921, भा. सं. 1962 64-65.'ग्रियर्सन पूर्व', 1, 100; चाटुर्ज्या, पूर्व, 1969, 5,6

127. हित्ती अभिलेखों का काल उन्नीसवीं शताब्दी ई. पू. से लेकर बारहवीं शताब्दी ई- पू- तक फैला है, पर अधिकांश लेख बाद के दौर के हैं।

128. ज.रा.ए.सो., लन्दन, 1909,721 और आगे।

129. कल्चर ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ ऐंशेंट इंडिया,1965, 77.

130. मैक्समूलर लिखते हैं, "दि ऐंशेंट हिन्दूज़ वेयर ए नेशन ऑफ़ फिलासफर्स, सच ऐज़ कुड नो ह्वेयर हैव इक्जिस्टेड एक्सेप्ट इन इंडिया, एंड देयर टू इन अर्ली टाइम्स एलोन।" चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1, 1867, 66.

131. देखें, गोर्डन चाइल्ड, 'प्रीहिस्ट्री ऐंड मार्क्सिज़्म', ऐंटीक्विटी 53, 1979, 93-95.

132. डी. डी. कोसंबी, पूर्व., 1965, 54.

133. वही, 50.

134. रोमिला थापर, पूर्व.,1978, 219.20.

135. डी. डी. कोसंबी, 'अर्ली स्टेज़ेज़ ऑफ़ कास्ट सिस्टम इननार्दर्न इंडिया' 1946, 35; आर. एस. शर्मा, मैटीरियल कल्चर ऐंड सोशल फ़ार्मेशन्स, 1983, 19.

136. डी. के. सेन, पूर्व. 1964-65, 178-205; चाकलदार, दि आर्यन आकुपेशन ऑफ़ ईस्टर्न इंडिया, 1962, 109 और आगे; केनेथ ए. आर. केनेडी, 'स्कल्स, आर्यन्स, फ्लोइंगड्रेन्स : दि इन्फरेंस ऑफ आर्कियॉलॉजी ऐंड स्केलेटल बायॉलॉजी इन दि स्टडी ऑफ़ हड़प्पन सिविलाइज़ेशन', हसि. 1982, 291; 'ट्राउमा ऐंड डिज़ीज इन दि ऐशेंट हड़प्पन', फ़इंसि, 1984, 425-36 आदि वस्तुतः जे. सी. नेस्फील्ड, ब्रीफ़ व्यू ऑफ दि कास्ट सिस्टम इन दि नार्थवेस्ट प्राविन्सेज ऐंड अवध, 1885 में बहुत पहले ही इस चुनौती के साथ आये थे कि रूप-रंग के आधार पर आर्यों और मूल निवासियों को बाँटने का सिद्धान्त ग़लत है, और बताया था कि ऊँची जातियों और नीची जातियों के लोगों में नाक-नक्श के मामले में कोई फ़र्क नहीं पाया जाता। इंपीरियल गज़ैटियर ऑफ़ इंडिया, दि ब्रिटिश इंपायर, 1,1907, 286.

अध्याय तीन

वैदिक संघर्षों की प्रकृति

वैदिक जन आक्रमणकारी के रूप में भारत में न ही आये थे न भारतीय सभ्यता की प्रथम अभिव्यक्ति—हड़प्पा सभ्यता—के पतन में उनके आक्रमण का हाथ था।[1] फिर भी ऋग्वेद से लेकर महाकाव्य काल तक के साहित्य का केन्द्रीय विषय युद्ध और संघर्ष ही है। अतः इन संघर्षों की प्रकृति और गुरुता का अध्ययन वैदिक सभ्यता के साथ-ही-साथ परवर्ती भारतीय सभ्यता को समझने के लिए भी ज़रूरी है। पर इन संघर्षों को समझने के लिए पहले इस बात पर ध्यान देना ज़रूरी है कि वैदिक कवि अपनी अभिव्यक्तियों को सायास जटिल बनाने का प्रयत्न करते थे। सम्भवतः दुरूहता उस काल की रचनाओं का एक प्रधान गुण मानी जाती थी। इन आयास-सिद्ध दुरूहताओं को समझने के लिए भी व्यक्ति का बहुश्रुत होना ज़रूरी होता था। पहले एक ही उक्ति की विविध व्याख्याओं और टीकाओं को सुनिए, वादगोष्ठियों को सुनिए, फिर कहीं इन कविताओं का अर्थ खुलेगा। कारण, साधारण और सरल दीखने वाली रचनाओं में भी रूपात्मकता का ऐसा पुट हो सकता है जो निरे वाच्यार्थ से समझ में न आये।

वैदिक जनों के संघर्ष के तीन स्तर हैं: 1. अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अभाव और दारिद्र्य के विरुद्ध संघर्ष; 2. अपने भौतिक जीवन के लिए अनिष्टकारी तत्वों—जंगली पशुओं, सरीसृपों, वन्य-असभ्य कबीलों, लुटेरों, चोरों, तस्करों आदि के विरुद्ध संघर्ष; और 3. व्याधियों, बुराइयों और मानसिक दुर्वृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष। इनमें से पहला संघर्ष मानवजाति का वह संघर्ष है जिसके कारण आज तक सभ्यता का विकास हुआ है। इस पर विजय के लिए वैज्ञानिक प्रगति अपेक्षित है और अपने युग को देखते हुए वैदिक जन पिछड़े नहीं दिखाई देते। पर वैज्ञानिक प्रगति उन प्राथमिक कालों में जितने प्राथमिक स्तरों की हो सकती थी, और वस्तुतः थी, उसके बल पर इन पर विजय असम्भव थी। बहुत कुछ अपनी शक्ति से परे, प्राकृतिक शक्तियों की कृपा और अकृपा पर निर्भर करता था। अतः वे इन

शक्तियों को तुष्ट करने के लिए इनकी स्तुतियाँ करते हैं। प्राकृतिक अभावों के साथ-साथ वे उनसे मुक्ति दिलाने वाले तत्वों का भी मानवीकरण करते हैं। यह मानवीकरण सांग रूप ले लेता है। न केवल इन्हें मानव या अतिमानव के रूप में चित्रित किया जाता है, अपितु इनके रथ, वाहन, निवास, ललकार और अट्टहास आदि के विवरण इस तरह दिये जाते हैं मानो हम एक वास्तविक मानवीय संघर्ष देख रहे हों। सहायक प्राकृतिक शक्तियों की विजय से अधिक हर्षोल्लास की बात और क्या हो सकती है? वे भावविभोर होकर इनकी विजय की कामना करते और विजय पर हर्ष मनाते हैं। पर विजय न तो हर बार मिलती है न ही सदा उल्लास का वातावरण रह सकता है।

दूसरे स्तर का संघर्ष सभ्यता की रक्षा के लिए, इसके विकास के लिए, उचित वातावरण तैयार करने के लिए जरूरी है। यह एक उपयुक्त रक्षातंत्र की माँग करता है। इन संघर्षों के विवरण वास्तविक हैं। पर यह संघर्ष एक लम्बे समय तक चलता रहा है। वैदिक सभ्यता के लम्बे इतिहास में इन शत्रुओं का रूप बदलता जाता है, पर इनके लिए लगभग एक जैसी शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। इनमें से विविध शत्रुओं के लिए भेदक शब्दावली का प्रयोग तो किया ही नहीं जाता, प्रायः इनका अभेद प्राकृतिक अभावों से कर दिया जाता है। इस तरह एक ऐसी कुहरिलता आ जाती है कि मानव शत्रु हिंस्र पशु में बदल जाता है या प्राकृतिक अभाव के रूपकों से अभिन्न हो जाता है। धरती से आकाश और मध्य-आकाश या अन्तरिक्ष की यह यात्रा अध्येता के लिए उलझन पैदा करती है।

तीसरे वर्ग के शत्रु के साथ संघर्ष एक सभ्य समाज के भौतिक और नैतिक उत्थान को प्रतिबिम्बित करता है। इसके आधार पर ही यह तय किया जाना चाहिए कि किसी सभ्यता का स्तर क्या था। भौतिक सम्पत्ति-संग्रह और वैभव के जिस प्रदर्शन से सभ्यताओं की नाप की जाती है, वह किंचित इकहरा और दोषपूर्ण है। जो भी हो इन शत्रुओं की चेतना और इन पर विजय प्राप्त करने की वैदिकों की कामना उन्हें सभ्यता के एक ऐसे स्तर का अधिकारी सिद्ध करती है जिसकी मिसाल तत्कालीन जगत में अन्यत्र नहीं मिलती। इसे मोटे तौर पर सांस्कृतिक आत्म-संघर्ष और नागरिक दायित्वों की चेतना का विकास कह सकते हैं। जो भी हो, अज्ञान, मानसिक दूषण—झूठ, लोभ, पाप, ईर्ष्या—आदि को भी वे रूपकीय ढंग से ही प्रस्तुत करते हैं और इनसे भ्रामकता का एक और स्तर पिछले दो स्तरों पर जम जाता है।

वैदिक साहित्य में चित्रित मानव संघर्षों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है: बाहरी शत्रु या उपद्रवकारी तत्वों के विरुद्ध संघर्ष। ये बाहरी शत्रु आर्य और अनार्य दोनों हो सकते हैं। मोटे तौर पर इनमें जंगली कबीले, व्यापारिक साथों पर या वैदिक नगरों और बस्तियों पर हमला करने वाले डाकू और तस्कर तथा

प्रतिस्पर्धी व्यापारी और राजा रखे जा सकते हैं। दूसरे वर्ग में अपनी ही व्यवस्था से उत्पन्न समाजविरोधी तत्व—चोर और बटमार—तथा असन्तुष्ट किसान, मजदूर और कारीगर आते हैं। इन असंतुष्ट जनों को शस्त्रबल से काबू में रखने की आवश्यकता पड़ सकती है और हड़प्पा सभ्यता के अन्तिम दिनों में जब इसकी अर्थव्यवस्था की जड़ें कमज़ोर होने लगी थीं, और किसी भी पतनोन्मुख अर्थव्यवस्था की तरह यह अपने ही समाज के उत्पादक हिस्सों को उचित पारिश्रमिक, पुरस्कार और प्रोत्साहन देने में अक्षम होकर परम्परागत रूप में उन्हें प्राप्त सुविधाओं को भी कम करने लगी तब तो इसकी ख़ास तौर पर ज़रूरत पड़ने लगी होगी। वैदिक साहित्य में हम इसकी झलक अनेक रूपों में पाते हैं। जब हम वैदिक साहित्य में वर्णित युद्धों और संघर्षों पर विचार कर रहे हों तो इन विभिन्न स्तरों के संघर्षों में फ़र्क करना ज़रूरी है, अन्यथा सरलीकरण के कारण अनर्थ की सम्भावना रहेगी।

2
असुर

वैदिक साहित्य में असुरों के साथ इन्द्र आदि देवताओं के युद्धों का वर्णन बार-बार आता है। जैसा कि हम उल्लेख कर आये हैं, एक ओर तो शत्रुओं पर इन्द्र के आक्रमण का और उनकी विजयों का बड़े आह्लाद के साथ वर्णन किया जाता है और दूसरी ओर कहा जाता है कि 'इन्द्र का कोई शत्रु न तो कभी था न आज है। युद्धों का यह विवरण माया का वर्णन है। जो इस तथ्य को नहीं जानता वह असलियत को नहीं जानता।' ये दुहरे दावे कम-से-कम इस बात के प्रमाण तो हैं ही कि ये युद्ध कुछ भिन्न प्रकृति के हैं। यह मानने का तो कोई कारण नहीं कि वैदिक कवि बीसवीं शताब्दी के किन्हीं इतिहासकारों के सम्भावित आरोपों का पूर्वानुमान करके अपनी सफ़ाई पेश कर रहे थे।

इन्द्र जिन असुरों को पराजित करते हैं उनके नाम वृत्र[2], शम्बर[3], चुमुरि,[4] धुनि[5], विप्रु[6], रुधिक्रा[7], शुष्ण[8], अराव्ण[9] आदि दिये गये हैं। इनसे सामान्यतः यह भ्रम होता है कि ये व्यक्तिवाचक नाम हैं और इन्हें उन राजाओं अथवा सेनापतियों से जोड़ लिया जा सकता है जिन पर इन्द्र ने 'हमला' किया था। इनमें बार-बार आने वाले नामों, वृत्र और शम्बर, के बहुवचन रूप वृत्राणि[10] और शम्बराणि[11] का भी प्रयोग हुआ है। यह इस बात का द्योतक है कि ये व्यक्तिनाम न होकर विशेषण-परक शब्द हैं। परम्परागत रूप से इन्हें जल के रोधक, जल को अपने भीतर छिपाये हुए बादलों, अन्धकार, अभाव और अकाल से सम्बद्ध किया जाता रहा है। इन शब्दों का अर्थ भी यही सिद्ध करता है वृत्र का अर्थ है घेरने वाला,[12] रोकने वाला,[13] पर इसका अर्थविस्तार करके इसे घिरे हुए, लिपटे हुए[14], चतुर्दिक व्याप्त कबीलों [15]

रास्ता रोकने वाले दस्युओं[16], अन्धकार, कृष्ण (मेघवर्ण,[17] अकाल[18]) आदि के आशय से भी प्रयोग में लाया जा सकता है। ठीक यही भाव 'शंबर' शं-वर का भी है।[19] शेष शब्दों में अर्थ की उतनी व्याप्ति नहीं है पर आशय मिलता-जुलता ही है, चुमुरि—भक्षक[20], धुनि—हड़कम्प मचाने वाला, गर्जना करने वाला[21], पिप्रु—जल को पी जाने वाला[22], जल से भरपूर[23], शुष्ण—शोषणकर्त्ता[24], बलवान; रुधिक्रा—अवरोधों का उलंघन करने वाला[25], अर्बुद[26], जल देने वाला; कुयव—दुर्भक्षी[27], उरण—आच्छादक[28], नमुचि—न छोड़ने वाला, जल का त्याग न करने वाला[29] आदि। ये सभी विशेषण बहुत सटीक रूप से बादलों पर और अकाल तथा सूखे पर लागू होते हैं। पर इनका प्रयोग अदाता, धन जोड़ कर रखने वाले और पुरोहितों को दान न देने वाले, वैदिक मत को न मानने वाले, व्यक्तियों के लिए भी किया जा सकता है। जब तब इनमें से अनेक का नाम एक साथ आया है।[30] ऐसी स्थितियों में इनको विशेषण मानने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रहता, यद्यपि सायण ने ऐसे स्थलों पर भी 'इस नाम के असुर' आशय लिया है। कम से कम इन सन्दर्भों में इन्हें राजा या सेनापति तो नहीं ही माना जा सकता।

यदि इन असुरों के नामों पर ध्यान दिया जाए तो इनसे असुरों के भयंकर और अदम्य चरित्र का ही उद्घाटन होगा। परम्परागत रूप से असुरों का जो चित्र जनमानस पर अंकित रहा है, वह भी उन्हें असभ्य और दुर्दान्त, निरंकुश और नृशंस ही सिद्ध करता है। इन सभी तथ्यों की अवहेलना करके, स्वयं वैदिक साक्ष्यों की भी अवहेलना करके ही हम हड़प्पावासियों को सभ्य और इनके विपरीत वैदिकजनों को असभ्य आक्रामक मान सकते हैं। इस प्रवृत्ति को इतिहासकारों की निरंकुशता का नाम दिया जा सकता है।

इन्द्र ने ऐसे ही शम्बर की तथाकथित निन्यानवे पुरियों को ध्वस्त करके उसे पराजित किया था। कभी तो इन पुरियों की संख्या नब्बे[31], कभी निन्यानबे[32] और कभी सौ[33] बताथी जाती है। प्रायः ऐसा लगता है कि यह मात्र इतने लोगों के मारे जाने का मामला है।[34] असुरों को पराजित करने में सामान्यतः इन्द्र का ही उल्लेख आता है, पर कभी-कभी इनके साथ अग्नि,[35] मरुद्गण[36] या सोम[37] का भी उल्लेख आता है। सोमपान से ही इन्द्र को वृत्र-वध की शक्ति मिली है।

पाँच, दस, सात, सौ और हजार की संख्याएँ ऋग्वेद में बहुत और समस्त के अर्थ में प्रयुक्त होती हैं। यही स्थिति नव, नवति, नवतिनव, त्रयस्त्रिंश, पंचपंचाशत, सप्तसप्तति आदि की भी है। अतः इन्हें निश्चित संख्याओं का सूचक नहीं माना जा सकता। सप्त, नवति और नवतिनव की इन्हीं संख्याओं का उल्लेख जलधाराओं के सन्दर्भ में भी आता है।[38] इन्द्र द्वारा वृत्र आदि की पुरियों का भेदन करने का रूपक कुछ स्थलों पर तो इतना अभेदात्मक है कि इनसे वास्तविक युद्ध का

चित्र उभर आता है,[39] पर सामान्यत: इन विवरणों में जल का मुक्त होकर गिरना या जलधाराओं का समुद्र की ओर मुक्त रूप में प्रवाहित होना ही दिखाया गया है।[40] वृत्र का निवास जल के भीतर,[41] पर्वत पर[42] या अन्तरिक्ष[43] में दिखाया जाता है।

इन विभिन्न विवरणों में अभूतपूर्व संगति है और इनका यह आशय लिया जा सकता है कि यह बादलों के उमड़ कर छाने, बिजली के कड़कने और चमकने के साथ झूम और गरज के साथ होने वाली वर्षा का वर्णन है।[44] बादलों के उमड़कर आने को एक विचित्र सर्प के सरकते भागते हुए आसमान में आने के रूप में कल्पित किया गया है। काली घटाओं को आयसी या धातु-निर्मित या पाषाण-निर्मित कह दिया गया है। इन्हें पर्वत के रूप में भी चित्रित किया गया है। इनके काले रंग का चित्रण कभी-कभी बादलों की इस काली सेना के रूप में किया गया है।[45] बिजली की चमक के साथ उसकी गर्जना को इन्द्र और अग्नि का एक साथ प्रहार दिखाया गया है, एक ही साथ एक ही कर्म द्वारा वे अहि का बध करते हैं।[46] वायु के साथ वर्षा की झड़ी लगने के कारण इसे मरुतों के साथ इन्द्र द्वारा प्रहार माना गया है।[47] ऐसे स्थलों पर इस प्रकृति-लीला को वास्तविक युद्धों का सूचक मानना इस काव्यात्मक चित्रण को न समझ पाने का ही परिणाम है।[48]

जिन इतिहासकारों ने इसे युद्ध के रूप में कल्पित किया उन्हें इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए था कि इन्द्र का उल्लेख अवेस्ता में और बोग़ाज़कुई के अभिलेखों में भी है। अत: यदि वे इन युद्धों को भारत में हुए वास्तविक युद्धों के रूप में कल्पित कर रहे थे तो उन्हें यह भी स्वीकार करना चाहिए था कि ईरान और एशिया माइनर में इन जनों का प्रवेश भारत से हुआ है। पर वे एक ही तथ्य का दुहरा प्रयोग करते दिखाई देते हैं। यही बात दासों के साथ इन्द्र के युद्धों के मामले में भी देखी जा सकती है। दासों के साथ युद्ध का उल्लेख भी अवेस्ता में पाया जाता है। यदि वह युद्ध भारत में हुआ था तो अवेस्ता में इसका उल्लेख भारत से प्रव्रजित जनों द्वारा अतीत घटनाओं की स्मृति के रूप में किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में दास और दस्यु के बीच नृतात्विक आधार पर भेद किया जाता है और यह भुला दिया जाता है कि दास और दस्यु दोनों के प्रतिशब्द ईरानी में पाये जाते है।[49] दस-काटना, दबाना, मारना से ही दास और दस्यु दोनों की व्युत्पत्ति होती हैं। वैदिक साहित्य में इस तरह के विपरीतर्थक प्रयोग—राक्षस, असुर, दास, दानव—प्रायः देखने में आते हैं और यहाँ वाच्यार्थ और रूढ़ार्थ में फ़र्क़ करना अधिक उपयोगी होगा। जो भी हो सायण दास का अर्थ 'उपक्षयिता' या हिंसा करने वाला लेते हैं और इन अवसरों पर यही उपयुक्त है।

वस्तुत: इन्द्र के युद्धों और वृत्र और शम्बर आदि के बध तथा पुरियों को

विदीर्ण करने की कथाओं को ध्यान में रखते हुए सामान्यतः यह निष्कर्ष निकालना होगा कि इस रूप कथा का विकास एक ऐसे भौगोलिक क्षेत्र में हुआ है जहाँ बादल घुमड़कर उठते हैं और धारासार वृष्टि करते हैं। वर्षा के साथ बिजली की कौंध और तड़क तथा बादलों की गर्जना जुड़ी रहती है। उड़ते हुए बादल एक बढ़ती हुई वाहिनी की तरह आकाश में छा जाते हैं और युद्ध का सा दृश्य उपस्थित हो जाता है। जल की धाराएँ चारों ओर फूट कर बहने लगती हैं। ऐसा क्षेत्र न तो ईरान है, न रूसी स्तेपी, न उत्तरी या मध्य यूरोप, जिनको मुख्य रूप से जल के लिए हिमपात पर निर्भर करना पड़ता है। ध्यान देने की एक बात यह भी है कि वर्षा के इस देवता के समानान्तर हिम या तुषार का कोई देवता भारोपीय देवशास्त्र में नहीं पाया जाता। इसके विपरीत वर्षा के पर्जन्य देव का उल्लेख उन क्षेत्रों में भी पाया जाता है जहाँ मुख्यतः हिमपात ही होता है : गाथिक —फ्यूर्गुनी, आइस-लैंडिक —फिओर्जिन, लिथुआनियन्-पेर्कुनास।

पुरन्दर और शम्बर की इस कथा को थोड़ी देर के लिए हम वास्तविक युद्धों से सम्बद्ध मान लें, क्योंकि, जैसा हम पहले कह आये हैं, इन रूपकों और शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में न केवल हो सकता है, अपितु हुआ भी है, तो इससे क्या हम किसी आर्य आक्रमण की सूचना पाते हैं ? शम्बर का बध करके इन्द्र ने दिवोदास के लिए राज्य का विस्तार किया था।[50] हमें आर्यों का पता ठिकाना भले न मालूम हो पर दिवोदास का पता मालूम है। वह मध्य क्षेत्र का राजा था। और वह पहला राजा भी नहीं था। ऐसी स्थिति में यह युद्ध भारत में ही बसे 'राजा' के पक्ष में लड़ा गया दिखाई देता है और चूँकि वृत्र और शम्बर का सम्बन्ध पर्वत से और दुर्ग—दुर्गम स्थलों[51]—से जोड़ा गया है, अतः यदि यह सिद्ध भी हो जाये कि हड़प्पा सभ्यता पर हमला हुआ था और उनमें से एक पक्ष पहाड़ी क्षेत्रों के बर्बर कबीलों का था और दूसरा पक्ष हड़प्पा-वासियों का; एक छिप कर रहने वाला है और दूसरा नहीं; छिपकर या अपनी बस्तियों को दुर्गम स्थानों पर बसा कर रहने वाला पक्ष शम्बर का है[52] और दूसरा वैदिक देवता इन्द्र के उपासक दिवोदास का; तो आक्रमणकारी शम्बर ही सिद्ध होगा, जिसका पीछा इन्द्र या उसके उपासक उसके छिपने के अथवा रहने के दुर्गम स्थानों[53] तक करते हैं और उनकी बस्तियों को उजाड़ देते हैं। कारण इस प्रसंग में बहु-संख्यक पुरियों के विनाश या ध्वंस की बात आयी है और सारा मामला इस तरह से निबटाया जाता है कि यह एक ही कार्रवाई का अंग प्रतीत होता है और इतनी पुरियाँ तो तभी तबाह की जा सकती है जब हम इन्हें छोटी-छोटी कबीलाई बस्तियाँ मान कर चलें। इन्द्र और शम्बर या वृत्र के युद्धों में छेड़छाड़ इन्द्र की ओर से नहीं होती अपितु अपर पक्ष से ही होती है।[54] परम्परागत विवरणों के अनुसार भी देवता असुरों के उपद्रवों से तंग आ जाते हैं तभी उनके हाहाकार से द्रवित होकर इन्द्र या दैवी अवतार प्रकट होता है जो

असुरों का संहार करता है, और उस अवतार के मामले में भी छेड़छाड़ की कार्रवाई असुर पक्ष से ही की जाती है। दिवोदास के मामले में भी इन्द्र दिवोदास की रक्षा करते हैं—प्र आवः दिवोदासं चित्राभिः ऊती—'विविध उपायों से दिवोदास की रक्षा की'। और इन सबसे बड़ा कारण यह कि इन युद्धों में जब-तब वज्र-प्रहार के स्थान पर मुष्ठि-प्रहार और पाद-प्रहार के उल्लेख आते हैं जिनसे प्रकट होता है[55] कि युद्ध या मुठभेड़ का रूप किसी नगर पर आक्रमण से भिन्न था।[56] दिवोदास अतिथिग्व की अपनी भोगौलिक स्थिति इन समस्त टुकड़ों को एकस्यूत कर देती है और आक्रमणकारी के चित्र को बिलकुल उलट देती है।

ऋग्वेद में आक्रमण और नगर की रक्षा का एक उल्लेख बहुत स्पष्ट है। यह युद्ध यव्यावती नदी के तट पर हरियूपीया में हुआ था। वस्तुतः इन दोनों के बीच नदी कौन-सी थी और नगरी कौन यह तय करना कठिन है, कारण इस विषय में पाठ में स्थिति स्पष्ट नहीं है। कुछ विद्वानों ने इसमें 'अनार्य नगर' पर आर्यों के आक्रमण की छाया देखी है और हरियूपीया को हड़प्पा से सम्बद्ध किया है।[57] पर रोचक बात यह है कि उपलब्ध विवरणों के अनुसार यह आक्रमण वैदिक राजा चायमान के पुत्र अभ्यावर्ती के ऊपर वरशिख नामक असुर के पुत्र वृचीवान ने किया था। वरशिख के पुत्रों द्वारा हमले की बात निम्न तथ्यों से प्रकट है: वरशिख के पुत्रों के द्वारा आकर तोड़-फोड़ करने का उल्लेख है; उसकी सेना की संख्या का स्पष्ट उल्लेख है, जिसे एक सौ तीस बताया गया है; वे कवच और तीर-धनुष से लैस हैं, अर्थात पूरी तैयारी से आये हैं; उनकी पूरी सेना हमले के समय नदी को पार नहीं कर पायी है, आधी सम्भवतः अभी दूसरी ओर ही है, या यदि सेना पार आ चुकी है तो वृचीवान के पक्ष के लोग दूसरे पार किसी स्थल के निवासी हैं, क्योंकि वृचीवान के हारने पर उस पार के वरशिख के पुत्रों के भयभीत हो जाने का उल्लेख मात्र आया है; और अन्ततः वृचीवान के पक्ष को अपने प्रयोजन में विफल सिद्ध किया गया है।[58]

एक अन्य उल्लेख आयसी पुर की रक्षा का है जिसकी सायण ने कुछ अटपटी-सी व्याख्या दी है जो ठीक नहीं लगती। इसमें भी आक्रमण वैदिक पुर पर होता है और सैनिक वेग से अपने पुर की रक्षा में तत्पर होकर बाहर निकलते हैं।[59] इन विभिन्न तथ्यों और विवरणों की उपेक्षा करते हुए, आर्यों को आक्रमणकारी सिद्ध करने के लिए विद्वानों द्वारा इन विविध उल्लेखों का उपयोग केवल यही सिद्ध करता है कि अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए वे कितने बेसब्र रहे हैं।

3
वैदिकों के शत्रु

जिन शत्रुओं के विषय में प्राकृतिक लीला आदि का भ्रम पैदा नहीं होता और जिन्हें वैदिक कवि अपने उत्पीड़न का प्रमुख कारण मानते हैं, उनको निम्न चार वर्गों में बाँटा जा सकता है :

1. **असामाजिक तत्व** (चोर और डाकू) --स्तेन, तम, तमोवृध, मायाविन, मुषीवान, द्वयाविन, तस्कर, निरामिण, दस्यु, दास, धूर्त, जिघांसु, पृतन्यु, व्यथि, उब्ज, ध्वरस, अमृण, रिषण्य, भंगुरावत, पृतन्यु, अभिह्रुत, दुः, दुःशंस, दुरित, आदि;
2. **जंगली जनजातियाँ या यायावर कबीले**—मूर, अत्रि, व्यथि, दुः, रिषण्य अमृण, अकर्म, अनप्नस, मृध्रवाच, वृक, अधम, अघशंस, पिशाच, क्रव्याद, राक्षस, यातुधान, आदि;
3. **सामान्य शत्रु**—अमित्र, अभिद्रुह, द्वेषधत्त, अरि, अराति, शत्रु, स्पृध, आदि;
4. **वैचारिक या रीतिविधान विषयक मतभेद रखने वाले**—निद, वध्रिवाच, मृध्रवाच, मन्यमान, अतिमानी, किमीदिन, अयज्यू, अनिन्द्र, अकर्म, अनास, अन्यव्रत, द्विष, द्वेषधत्त, पणि, आदि।

इन शत्रुओं के लिए इन शब्दों का प्रयोग बहुत स्पष्ट और भेदक रूपों में नहीं किया जाता और चूँकि सभी शब्द निन्दापरक हैं इसलिए इनका प्रयोग अपने ही समाज या मत के लोगों के लिए भी हो सकता है।[60] इसी तरह असुर, वृत्र आदि का प्रयोग कबीलों से ले कर व्यापारिक यात्राओं के दौरान रास्ता रोकने वालों या अन्यथा घेरा डालने वालों के लिए होता दिखाई देता है।

ऋग्वेद में जिन संघर्षों के विवरण मिलते हैं उन्हें मोटे तौर पर इन्हीं के भीतर समेटा जा सकता है। जैसा कि इनसे प्रकट है, इनमें से किसी से शत्रुओं के विदेशी आक्रमणकारी होने की पुष्टि नहीं होती। वैदिक जनों को जिस बात का अधिक ख़तरा दिखाई देता है वह आक्रमण न होकर अशान्ति ही है। बाहरी तत्त्वों में दस्युओं और जंगली कबीलों के उपद्रव प्रधान हैं। सम्भवतः ये जंगली लोग न केवल समय-समय पर खेती और पशुओं को नुकसान पहुँचाते हैं अपितु स्वयं इन्हें भी अकेला या असुरक्षित पाकर यातना देते हैं। वे इन शत्रुओं को कोसते हैं, मनाते हैं कि इनका बुरा हो, "हे सोम देवता, जो मुझ भले मानस को भी लूट लेते हैं, जो मेरे जैसे सज्जन को भ्रष्ट कर देते हैं, उन्हें साँप काट ले, वे मौत के मुँह में चले जाएँ।[61] जो चोर और उचक्के शत्रु हमारे अन्न और जल को दूषित कर देते हैं, घोड़ों और गायों को यातना देते हैं, हे अग्नि, उनका नाश हो जाए, उनके पूरे खानदान का

नाश हो जाए।'[62] इस तरह की उक्तियों में हम जिस विवशता की गूंज पाते है, अपने असभ्य और हिंसक शत्रुओं या आततायियों के सम्मुख वैदिक जनों की जिस कातरता का आभास पाते हैं, उसको यदि ध्यान में रखा गया होता तो वैदिक जनों को और जो कुछ भी कहा जा सकता था, आक्रमणकारी तो नहीं ही कहा जा सकता था। लूटपाट को अपनी आय का साधन बनाने वाला तो उन्हें नहीं ही कहा जा सकता था।[63]

4

आर्त-नाद

जैसा कि ऊपर के इन दो उदाहरणों से प्रकट है, वैदिक समाज अपने आस-पास के परिवेश से और सम्भवतः अपने तंत्र के भीतर भी पैदा हुए अराजक और अपराध-कर्मी तबकों से परेशान दिखाई देता है। उसके संघर्षों की एक सामान्य विशेषता यह है कि ये मुख्यतः रक्षापरक दिखाई देते हैं। वैदिक सभ्यता का दोष यह नहीं दिखाई देता कि यह आक्रामक और हिंसक थी, अपितु यह कि अपने युग और परिवेश को देखते हुए यह कम हिंसक और अधिक सहिष्णु थी। यही उसकी दुर्बलता थी और कुछ दृष्टियों से यही उसकी सबसे बड़ी शक्ति भी थी। विभिन्न उपक्रमों के विकास और विस्तार के लिए शान्ति और व्यवस्था अपेक्षित है, न कि अशान्ति; पर इस व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए रक्षा-प्रबन्ध और आततायियों को विरत करने की शक्ति भी अपेक्षित है। यही वैदिक साहित्य के मानव संघर्षों का सार है। युद्ध सामान्यतः उनकी विवशता है, आत्मरक्षा का उपाय है। अतः जो उल्लेख शौर्य और युद्ध के आते हैं उनसे कहीं अधिक प्रखर है रक्षा के लिए उनका आर्त-नाद। वे सभी देवताओं के शौर्य की याद दिला कर उनसे रक्षा की माँग करते हैं। राक्षसों के अत्याचारों और उत्पीड़नों के विरुद्ध 'त्राहि मां, त्राहि मां'की यह पुकार वैदिक काल से ले कर परवर्ती साहित्य तक में गूँजती रहती है। मर्त्य अघायु(शत्रु) चाहे वे पास हों या दूर, उनसे रक्षा करो। हमारी जान बचाए रखो।[64] अग्नि, धूर्त हिंसकों से हमारी रक्षा करो।[65] जो हमारी जान लेना चाहते हैं हमारे ऊपर क्रुद्ध रहते हैं, उनसे रक्षा करो। हे यज्ञ यूप, इन नरभक्षी राक्षसों को जला डालो, इन पापियों से हमें बचाओ।[66]अग्नि अपने अदम्य रक्षा-उपायों से हमारी रक्षा करो।[67] वरुण, जो चोर और उठाईगीर हमें मारता है उससे हमें बचाओ।[68] हम कभी इन हिंसकों के सम्पर्क में न आएँ।[69] अग्नि, हमारे यज्ञ से प्रसन्न हो कर अपनी रक्षा से हमें सुरक्षित रखो, प्रज्वलित होकर इन निरन्तर बढ़ते हुए राक्षसों को मार डालो।[70] इन विवादी, निन्दक, द्रोही, बुरे राक्षसों को भस्म कर डालो, और हमें बचाओ।[71]

ब्रह्मणस्पति, अपना प्राचीन पराक्रम फिर पैदा करो और अपनी तीखी तपनी से उन राक्षसों को जलाओ जो तुम्हारी निन्दा करते रहते हैं।[72] बृहस्पति इन चोरों, उचक्कों, द्रोहियों, दूसरों के माल पर नज़र रखने वाले देवविरोधियों के हाथ में कहीं मुझ भक्त को न सौंप देना।[73] इन्द्र तुम्हारे सख्य के भरोसे रहने वाले हम लोगों को डर न लगे। हे अपराजित जेता, हम तुम्हें नमस्कार करते हैं।[74] अग्नि निरन्तर हमारी रक्षा करते रहना, हमारे प्रिय घर में दीप्त रहना, तुम्हारे भक्त को और दूसरे लोगों को डर न लगे।[75] हे वरुण, हमें सपने में भी चोरों का डर लगा रहता है।[76] इन्द्र हमारे भय को दूर करें।[77] हे यज्ञ के देवता, हमारी ओर नज़र करो, तुम्हारी रक्षा से हमारा भय दूर हो जाए। देवताओ, हमें नृशंस हिंसकों से बचाओ, इन अपकारियों से हमारी रक्षा करो।[78] अग्नि, हमारी एक पुकार सुन कर हमारी रक्षा करना, दूसरी, तीसरी और चौथी पुकार पर हमारी रक्षा करना।[79] बृहस्पति पश्चिम, उत्तर और नीचे की ओर से और इन्द्र पूर्व और मध्य से इन पापियों से हमारी रक्षा करें।[80]

यह खीझ और अवशता अक्सर बद्दुआओं का रूप ले लेती है:—शत्रुओं के जीवित सदस्य और गर्भस्थ शिशु तक मर जाएँ।[81] जो हमें सताता है वह नरक में चला जाए।[82] अग्नि चोरों और तस्करों को मैं तुम्हारे मुँह में झोंकता हूँ, इन्हें चबा-चबा कर खा जाना, इन चोरों का मुँह नोच-नोच कर खा जाना।[83] यहाँ इन शत्रुओं की स्थिति भी स्पष्ट है, ये वनचर या जंगली और कक्ष या नदी के कछार में छुपे रहकर प्रहार करने वाले या चोरी या लूट करने वाले लोग हैं।

यह है उन वैदिक देवताओं और उनके उपासकों की आक्रामकता की स्थिति। यह भय, यह त्रास, बचाओ-बचाओ की यह कातर पुकार, तंग आकर शाप देने और अमंगल चाहने की यह प्रवृत्ति, शायद इतिहासकारों की नज़र से ओझल रह गयी है जब कि इन संघर्षों का केन्द्रीय स्वर यही है। जिन संघर्षों की कहानी वैदिक स्तोत्रों में बार-बार दुहरायी जाती है वह है सभ्यता और उत्पादन के अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर पर पहुँचे हुए और खुशहाल लोगों का बर्बर, लुटेरे, हिंसक, घुमक्कड़, असभ्य चोरों, डाकुओं, आदिवासी कबीलों, गिरिजनों, धन-दौलत और मवेशी चुरा कर भागने वालों के विरुद्ध सतत संघर्ष। जैसा कि हम कह आये हैं, इनमें से कुछ अपने ही समाज की देन हो सकते हैं, और अन्य बलूचिस्तान की पहाड़ियों से शीतकाल में उतरने वाले कबीले जिसका वर्णन मार्शल ने 1931 के मोहनजोदड़ो की खुदाई की रिपोर्ट में किया है, और जिसे एक अर्थ में ह्वीलर ने भी स्वीकार किया है। आपेक्षिक समृद्धि और वैभव में जीते हुए, अपनी सुरक्षा के लिए चिंतित इन जनों की कामना युद्ध की नहीं शान्ति और व्यवस्था की है। सर्वत्र शान्ति की, सबके कल्याण की यह कामना भी असुरों और आततायियों के भय और आतंक की ही तरह वैदिक काल से लेकर आज तक की परम्परा में—नाटकों के भरत वाक्यों,

काव्यों के मंगलाचरणों और सामान्य पूजा-पाठ में सब कुछ के बाद शांतिपाठ के रूप में--चली आयी है। सब कुछ अनुकूल रहे, सब कुछ मंगलकारी हो, किसी को कोई कष्ट न हो,अनुष्ठान निर्विघ्न पूरा हो, यही वैदिक स्तोत्रों का केन्द्रीय स्वर है। अनिष्ट-कारी तत्वों के नाश की कामना और बद्दुआओं के बाद अन्ततः वे इसी पर लौटते हैं। शान्ति की इतनी उत्कट कामना तत्कालीन जगत में कहीं अन्यत्र भी पायी जाती है या नहीं, इसकी खोज विद्वान लोग करें। हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि यह शान्तिपाठ उसी प्राचीन ऋग्वैदिक अंश में मिलता है जिसके आधार पर वैदिकों को बर्बर सिद्ध किया जाता है। इन्द्र, अग्नि, वरुण, सोम, पूषा, भग, अर्यमा, धाता, धर्ता, पृथिवी, आकाश, पर्वत, अश्विनीकुमार, अन्तरिक्ष, रुद्र, त्वष्टा, सूर्य,अदिति, मरुद्गण, वसुगण सभी से और धरती, आकाश, वन, औषधि, नदी, समुद्र, वायु, पर्जन्य, समस्त दिशाओं में, अर्थात सर्वत्र शान्ति की कामना की जाती है।[84]

इस शान्ति और कल्याण की कामना के पीछे अपने आर्थिक उपक्रमों के निर्विघ्न चलते रहने की कामना पर ध्यान देना ज़रूरी है: इन्द्र और पूषा अन्नलाभ के लिए 'वाजसातौ' शान्ति-कारक हों, धन-धान्य सकुशल रहे, 'शमु सन्तु राय'; हम शुभ कर्मियों के सुकर्म कल्याणकर हों 'शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु'; वर्षा सुखकर हो, अतिवृष्टि या अनावृष्टि न हो; खेत के मालिक आराम से रहें, फसल अच्छी हो; हवा कल्याणकर हो, आँधी तूफ़ान न आए; धरती और आकाश शान्तिकारक हों, मौसम ख़राब न हो और भूचाल आदि न आए; भेषजदाता और व्याधिकारक देव रुद्र शान्तिकर हों, बीमारी-महामारी न आए; उत्पादन कर्म से जुड़े लोग 'अभिषाच' और दान पर जीने वाले 'रातिषाच' चैन से रहें; कलाकार और शिल्पी 'ऋभवः सुहस्ताः' सुख-शान्ति से रहें; नदियाँ कल्याणकर हों, बाढ़ न आए; समुद्र कल्याणकारी हो, समुद्री यात्राओं के समय तूफ़ान आदि न आए; ग़रज की आर्थिक प्रचालन और चतुर्दिक का परिवेश सब कुछ अनुकूल रहे यह कल्पना और कामना क्या बर्बर जनों की, या पिछड़े अर्थतंत्र से जुड़े लोगों की हो सकती है?

5

इन्द्र-विजय

ऋग्वेद में गविष्टि और गवेषणा आदि शब्द जिनका शाब्दिक अर्थ गाय की इच्छा या कामना(गो-इष्टि, गो-एषणा)है, युद्ध या संघर्ष के अर्थ में रूढ़ हो चुके थे। इससे कभी-कभी भ्रम पैदा होता है कि वैदिक जन दल बाँध कर जाते थे और अपने शत्रुओं की गायें लूट ले आते थे। बलि उगाहने का उनका यही तरीक़ा था। इस पहलू पर हम आर्थिक पक्ष के सन्दर्भ में विचार करेंगे। यहाँ इन्द्र की उन स्तुतियों का उल्लेख ज़रूरी है जिनमें उन्हें गोजित, अश्वजित, उर्वराजित,[85] सहस्रजित,[86]

आदि कहा जाता है। जहाँ गविष्टि आदि शब्दों पर पूरा ध्यान दिया गया है, इस विजय के कुछ पहलुओं का उल्लेख नहीं किया गया है। शायद यह उल्लेख वैदिकों को बर्बर सिद्ध करने के मामले में असुविधाजनक पाया गया हो। कारण, यदि वैदिक लुटेरे अवैदिक हड़प्पावासियों की गायें छीन लाते थे, तो उनकी पशुचारण की अवस्था की पुष्टि इससे की जा सकती थी, पर यदि हड़प्पावासियों के यहाँ से वे घोड़े भी छीन कर लाते थे तो फिर घुड़सवार आर्यों की छवि खंडित हो सकती थी। यदि हड़प्पावासियों या अनार्यों के पास घोड़े न हुए तो इन्द्र इन्हें जीतेंगे कैसे और यदि हुए तो घोड़े की सवारी और रथचालन से परिचय के कारण आर्यों की जिस श्रेष्ठता की बात की जाती है, वह ख़त्म हो जायेगी। जो भी हो, युद्ध रक्षा-परक हों या विस्तार-परक, ये उन समाजों और व्यवस्थाओं की भी लाचारी होते हैं जिनकी कामना शान्ति की होती है। कभी तो शान्ति और व्यवस्था की रक्षा के लिए ही युद्ध ज़रूरी हो जाता है और कभी जनता शान्ति चाहती है और राजा को राज्यविस्तार की सूझ जाती है। इसलिए, जैसा कि हम आगे देखेंगे, युद्ध वैदिक जनों द्वारा भी किये गये हैं और इनमें सम्भवतः दोनों प्रकार के तक़ाज़ों से किये गये युद्ध शामिल हैं।

यहाँ इन्द्र की विजयों में जीत के जो उल्लेख हैं उनके दो आशयों पर ध्यान देना उचित होगा। एक तो 'जीत' शब्द का वैदिक कालीन अर्थ अधिक व्यापक था। इसका एक अर्थ 'अर्जन करना' था। यह आशय तेलुगु के 'जीतमु', कमाई में आज भी सुरक्षित है। अतः इन विवरणों में से कुछ का सम्बन्ध निश्चित रूप से व्यापारिक अर्जन से भी हो सकता है, जंगलों आदि की सफ़ाई करके उर्वर भूमि अर्जित करने से भी हो सकता है। जहाँ युद्धों के स्पष्ट उल्लेख हैं, वहीं इनका वाच्यार्थ ग्रहण करना अधिक उचित प्रतीत होता है। क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेन एव जयामसि (ऋ. 4.57.1) जैसे स्थलों पर परम्परावादी टीकाकारों को बाध्य होकर 'जयामसि' का अर्थ 'जयाम' या 'उपार्जयामः' करना पड़ता है।

यदि हम प्राचीन जगत के युद्धों और विजयों पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि विजयी राजा अपने शत्रु को सोना, पशुधन, कभी-कभी सुन्दरियाँ या राजकुल की कुमारियाँ और रानियाँ, अनाज, कपड़े और दूसरी कीमती चीजें, और इन सबके साथ यदि वांछित हुआ तो राज्य का कोई हिस्सा देने को बाध्य करते रहे हैं। यहाँ जो तथ्य उभर कर आता है वह यह कि इन्द्र की इन विजयों का, जिन्हें इन्द्र उपासकों की विजय या राजा की विजय मानना उचित होगा, सम्बन्ध न तो लूट-पाट से है न ही यह विदेशी आक्रमण का सूचक है। यह महत्वाकांक्षी राजा की विजय और राज्य-विस्तार का सूचक अवश्य हो सकता है जो अपने अधीनस्थ राजाओं से राजवलि लेता हो : इन वलियों का सम्बन्ध चाहे विजय काल से जोड़ा जाए या वार्षिक कर से। वह इसीलिए धनजित, धनंजय, स्वर्णजित, सत्रजित, सर्वजित,

विश्वजित,[87] अपराजित, अप्रतिष्कुत, अप्रतिम, अप्रतिमान[88] या प्रतिद्वन्द्वी विहीन भी है। यहाँ पर याद दिला देना ज़रूरी है कि इन्द्र को जब गो-जित के साथ अन्य चीजों को जीतने वाला कहा जा रहा है तो सन्दर्भ किन्हीं बड़े अभियानों से है; उर्वराजित में क्रमिक राज्यविस्तार का भाव भी स्पष्ट है। एक और तथ्य यह कि यह स्थिति वैदिक काल की है, पूर्व वैदिक काल में इन्द्र की स्थिति भिन्न थी और जैसा कि आगे चल कर हम देखेंगे, ऋग्वेद के नवीन मंडलों तक आ कर ये शब्द भले इन्द्र के नाम के साथ जुड़े रह गये हों, वह शुद्ध वणिक बन जाते हैं और मुख्यत: इसी रूप में, जिसका अर्थ है मुख्य रूप से यजमानों के इसी वर्ग द्वारा, उन्हें याद किया जाता है। अत: इन्द्र की विजयों में स्वयं अपने उद्यम से अर्जित धन और सम्पत्ति के सभी पहलू सिमट आते हैं और प्राय: ये व्यापारी सार्थों पर लुटेरों और आततायियों के आक्रमणों के समय धन-माल तथा जान की रक्षा का द्योतक बन जाती हैं।

6

युद्ध

जहाँ ऋग्वेद में युद्धों के स्पष्ट उल्लेख आये हैं वे स्थल संख्या में बहुत कम हैं। सामान्य संघर्षों की तुलना में इन्हें नगण्य कहा जा सकता है, जो पुन: इस बात का सूचक है कि उपासक वर्ग मुख्यत: वह है जिसे हम आर्थिक उत्पादनों और व्यापारिक कार्यों से जुड़ा पाते हैं। फिर भी राजाओं के स्पष्ट उल्लेख हैं, उनके दान आदि के चर्चे हैं जिन पर आगे विचार किया जाएगा। इन युद्धों के विवरणों में जो बात उभर कर आती है वह है इनका आकार। इन्हें सामान्य मुठभेड़ नहीं माना जाना चाहिए। वैदिकों युद्धों के विषय में कुछ अधिकारी विद्वानों ने भी ऐसी बातें की हैं जो हास्यास्पद प्रतीत होती हैं। इनमें से एक यह है कि युद्ध के समय वैदिक पुरोहित राजा के साथ जाते थे और युद्ध भूमि में मन्त्र पढ़ते थे, आदि। इन मन्त्रों का सम्बन्ध युद्ध से नहीं अध्वर से है जिसे हिंसा रहित यज्ञ माना गया है। बिना हथियार उठाए, मंत्रों से शत्रुओं और अनिष्टों का नाश यज्ञ द्वारा किया जा सकता है, यह इस विश्वास की देन है। देखें, आगे रक्षोहा अग्नि, जहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि इनका सम्बन्ध किन युद्धों से है। इसी तरह का एक दूसरा भ्रम यह है कि वैदिक राजाओं के पास कोई स्थाई सेना नहीं होती थी। कबीले के पूरे लोग लड़ते थे। आपदा पड़ने पर खास-तौर पर यात्राओं के समय आक्रमण होने पर—कोई शान्त नहीं रह सकता, पर जिस समाज में स्थाई लड़ाकू अंग के रूप में क्षत्रियों या राजन्यों का एक पूरा जत्था मौजूद है जो आगे चलकर जाति का भी रूप ले लेता है, उसके विषय में यह कहना कि स्थाई रक्षावाहिनी उसके पास नहीं

थी, सामान्य बोध से बाहर की चीज़ है।

इन युद्धों के आकार का अनुमान हम जब-तब उपलब्ध होने वाली संख्याओं के आधार पर नहीं लगा सकते। कारण संख्याएँ अविश्वसनीय होती हैं। पर जहाँ ध्वजा ले कर[89] और रथ आदि पर सवार हो कर[90], रथों को गोचर्म से कवचित करके[91], वर्म धारण करके[92], संग्राम भूमि में छेप्यास्त्रों--बाण आदि — के साथ युद्ध की चर्चा आ रही हो वहाँ इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नही रह जाता कि ये युद्ध सामान्य मुठभेड़ों से अलग हैं।[93] ऐसे मामले में सेना[94] और सेनानी[95] जैसे स्पष्ट प्रयोगों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

इन युद्धों के आकार का कुछ अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि सेनाओं के जमघट की तुलना बादलों की घटाओं से दी गयी है, 'जीमूतस्य एव भवति प्रतीकम्'[96]। सेना के साथ चित्र का विशेषण यह सूचित करता है कि इसमें अनेक अंगों के सैनिक हैं।[97] बाणों की वर्षा सचमुच बरसाती झड़ी का रूप ले लेती है।[98] युद्ध के अवसर पर रणवाद्य बजते दिखाई देते हैं। सेना का जमाव तो इतना भारी है ही कि उनके शोर से आकाश फटने लगता है।[99]

जिन इतिहासकारों ने गविष्टि आदि के आशय को गायों आदि की छीन झपट और उगाही माना है उन्हें कम-से-कम इन युद्धों के आकार को ध्यान में रखते हुए यह स्वीकार करना चाहिए—यद्यपि संभवतः यह भी वास्तविकता का सही चित्र नहीं होता—कि एक ओर तो बड़े राजा थे और दूसरी ओर उनके अधीन छोटे-छोटे सामंत और जमींदार आदि भी थे, जो प्रजा पर अत्याचार करते थे और वसूली के रूप में उनकी गायें आदि छीन ले जाया करते थे। पर वह अपने विवेचनों से जो कुछ सिद्ध करना चाहते थे, उसकी सिद्धि में यह भी बाधक बनता, अतः इन युद्धों के ऊपर उन्होंने नज़र ही नहीं डाली।

7

आयुध

यदि हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त हथियारों की तुलना वैदिक विवरणों से करें तो इन दोनों के बीच इतना साम्य मिलेगा कि हड़प्पा के हथियारों को वैदिक नाम दिये जा सकते हैं और वैदिक आयुधों की शक्ल हड़प्पा के अवशेषों से पहचानी जा सकती है। हड़प्पा के हथियार और औजार कांस्य-कालीन हैं। यही स्थिति वैदिक हथियारों और औजारों की है। जैसा कि हम देख आये हैं, अयस शब्द के प्रयोग को देखते हुए और अनेक भारोपीय भाषाओं में लोहे के लिए अयस् शब्द के प्रचलन को ध्यान में रखते हुए कुछ इतिहासकारों ने यह सम्भावना प्रकट की हैकि वैदिक जन लोहे से परिचित थे।[100]कुछ को लोहे का आर्य जनों से सम्बन्ध

इतना गहरा प्रतीत होता है कि वे लोहे के उपकरणों को परवर्ती आर्यों के सांस्कृतिक अवशेषों की पहचान के लिए एक अपरिहार्य लक्षण मानते हैं।[101] पर जैसा कि हम पहले उल्लेख कर आये हैं, अयस् शब्द ऋग्वैदिक काल में केवल धातु (ताँबा, काँसा, आदि) के अर्थ में व्यवहृत होता था। अन्यत्र इसका लोहे के अर्थ में प्रचलन भारत से सम्बन्धित अंचलों के लौह-युग तक सम्पर्क में बने रहने का प्रमाण है जिसका काल कुछ लोगों के अनुसार 1300—1000 ई० पू० में पड़ता है।[102] यद्यपि शैफर ने इस भ्रम को तोड़ दिया है कि हड़प्पा वासी लोहे से परिचित नहीं थे।[103] वास्तविकता यह है कि आरम्भ में लोहा कहीं भी यथेष्ट मात्रा में पैदा नहीं किया जा रहा था, अतः हथियार ताँबे और काँसे के ही प्रचलित थे।

युद्ध और शान्ति के प्रति वैदिक जनों के दृष्टिकोण के विषय में पीछे हम जो कुछ देख आये हैं उनसे स्पष्ट है कि अपरिहार्य स्थितियों में युद्ध में भाग लेने के बावजूद वैदिक जनों को युद्ध से घृणा थी। शत्रु के प्रति उनकी पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि वह किसी तरह दूर हो[104]। ऐसे लोग आयुधों के विकास की दृष्टि से बहुत आगे नहीं बढ़ सकते थे। हड़प्पा सभ्यता के अध्येताओं का ध्यान जिस बात पर बार-बार जाता है वह है इसके हथियारों का अन्य पक्षों की तुलना में कम विकसित होना। इस असावधानी को वैदिक मनोवृत्ति को सामने रख कर ही समझा जा सकता है। सच बात तो यह है कि हड़प्पा संस्कृति के नगरों के परकोटे केवल शान्ति रक्षा के लिए ही थे—उनके द्वार साधारणतम थे।[105]

हड़प्पा के हथियारों में भाला, फ़रसा, कटार, आदि आते हैं।[106] ह्वीलर बिल्लौरी चकमक के फलकों को, जो विविध हड़प्पा-स्थलों से काफ़ी संख्या में पाये गये हैं, आयुधों की गिनती में नहीं लेते।[107] इन्हें कोई उपकरण मानना अधिक उचित होगा।

हथियारों के मामले में उन्नत 'आर्यों' के नेता और महाविजेता इन्द्र का प्रधान आयुध वज्र या गदा है, जो आगे चलकर सभी असाधारण पौरुष वाले चरित्रों—विष्णु, हनुमान, भीम आदि का प्रमुख हथियार बना रहता है, और ज़ाहिर है यह एक पाषाण-कालीन हथियार है[108] हड़प्पा के अवशेषों से भी पत्थर की गदाएँ पायी गयी हैं, पर मार्शल इन्हें ही वैदिक सभ्यता से अलगाव सिद्ध करने के लिए एक तर्क के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[109] व्यक्तिगत मुठभेड़ों में इसकी जो भी उपयोगिता हो, पर युद्ध के मामले में इसमें भोंड़ा कोई अन्य हथियार नहीं हो सकता। यदि इस पहलू पर ध्यान दिया जाए तो हथियारों के मामले में 'आर्यों' के उन्नत होने का मिथक आसानी से टूट जाएगा। घोड़े पर सवार होकर इस हथियार के उपयोग का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसके साथ यदि पाद प्रहार[110] और मुष्टिप्रहार को भी जोड़ लें तो पता चलेगा कि, कम से कम, इन्द्र के युद्धों में शारीरिक शौर्य और शक्ति पर अधिक बल दिया गया है और यह इन्हें मल्लयुद्धों की कोटि में ला देता

है। इस वज्र का शतपर्व[111] या सहस्रभृष्टि[112] होना सभी अतिरंजनाओं के बावजूद इसे परवर्ती शतघ्नी या सौ नोकों वाली गदा से आगे नहीं ले जाता। इसके लिए वज्र[113] (तु, वज्रकूट, वज्रलेप, बंजर, बजरी) स्वतः इसे पत्थर का हथियार सिद्ध करता है। वैदिक काल में अथवा हड़प्पा सभ्यता में पत्थर की गदा के अतिरिक्त धातु की गदा का भी प्रयोग होता था।[114] पत्थर और धातु दोनों से बनी गदाओं की हड़प्पा से प्राप्ति और दोनों का ही ऋग्वेद में उल्लेख असाधारण महत्व रखता है।

कुल्हाड़े के लिए ऋग्वेद में कुलिश[115], परशु[116], आदि पर्यायों का प्रयोग हुआ है। हड़प्पा के अवशेषों में कुल्हाड़े के अनेक रूप मिलते हैं और इन्हें देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये विभिन्न नाम इसके प्रभेदों के सूचक हैं। परशु का प्रयोग आयुध के रूप में करने के विवरण बाद की परम्पराओं में परशुराम— भी मिलते हैं, अतः यह मानने का पर्याप्त आधार है कि वैदिक काल में इसका प्रयोग आयुध के रूप में भी किया जाता था[117] पर इसका अधिक उपयोग मुख्यतः लकड़ी काटने और चीरने के लिए ही किया जाता है।[118] हड़प्पा की खुदाइयों से प्राप्त परशु बहुत अच्छी किस्म के नहीं माने जा सकते। यही स्थिति सामान्य वैदिक परशु की दिखाई देती है। परिव्राजक साधुओं के साथ आयुध रूप में हम जिस फ़रसे को देखते हैं वह संभवतः अपने वैदिक पूर्व-रूप का ही अवशेष है। वस्तुतः लोहे के व्यापक प्रचलन के बाद जिस तरह के चौड़े फ़रसे बनने लगे वे कांस्य काल में सम्भव भी नहीं थे। फिर भी अपने समय को देखते हुए कुछ परशु अधिक चौड़े भी होते थे; इसकी सूचना इनके लिए प्रयुक्त शब्द 'पृथुपर्श'[119] से मिलती है। मरुद्गण जिनका चित्रण प्रायः योद्धाओं के रूप में भी किया गया है[120] अपने आयुध ऋष्टि ले कर चलते हैं।[121] ऋष्टि की वास्तविक शक्ल कैसी थी, यह तय कर पाना कठिन है। कुछ विवरणों से ऐसा लगता है कि यह भी एक ऐसा उपकरण था जिसका चट्टानों को तोड़ने के लिए और साथ ही संकट की घड़ी में हथियार के रूप में उपयोग किया जाता था। एक उपकरण जिसे 'खनित्र' कहा गया है[122] निश्चय ही खुदाई का यन्त्र — खन्ती — होगा। पर प्राचीन काल में और कुछ हद तक आज भी, काम करने वाले लोग अपने उपकरणों का प्रयोग भी हथियार के रूप में आपातिक स्थितियों में करते हैं। यदि अर (तीक्ष्णाग्रदंड) को आयुध के रूप में कभी प्रयोग में लाया जाता रहा होगा तो वह कुछ इसी प्रकार का रहा होगा। यह पुनः नागा साधुओं के आयुधों में से एक है। जो भी हो, अर--प्राचीन तीक्ष्णाग्र दंड—अब तक 'लांगल' बन चुका था, अर्थात् खुदाई या चिराई के आदिम उपकरण में हरिस लगा कर इसको ऐसा रूप दिया जा चुका था कि इनमें बैलों का उपयोग किया जा सके। इसकी विकर्तन शक्ति के कारण ही इसे वृक भी कहा गया है।[123] अतः अर/अल और खनित्र का प्रयोजन अलग हो गया था। हड़प्पा के

अवशेषों में खनित्र के फ़लक या फाल को आसानी से पहचाना जा सकता है।

ऋष्टि के अतिरिक्त 'हेती'[124] और 'भृष्टि'[125] के उल्लेख हथियारों के रूप में आये हैं। इन दोनों के विषय में सायण कुछ दुविधा में दिखाई देते हैं।[126] मोनियर विलियम्स हेती को एक प्रकार का क्षेप्यास्त्र, आयुधों का प्रतीक या मानवीकृत रूप और भृष्टि को एक प्रकार की बर्छी या स्पाइक मानते हैं।[127] ह्वीलर हड़प्पा से प्राप्त एक विशिष्ट आयुध के फलक का उल्लेख करते हुए लिखते हैं, "पत्ती की शक्ल वाली छुरियों को कभी-कभी भाले से अलग किया जा सकता है, जिनकी नोक या अग्र भाग कुछ टेढ़ा-सा है। यह हड़प्पा की अपनी ख़ास चीज़ है जो हड़प्पा से बाहर शायद ही कहीं पायी जाती हो, यद्यपि पूर्वोत्तर ईरान से इसके मिलने की सूचना मिली है।'[128] हेती का उल्लेख सोम और रुद्र के सन्दर्भ में आया है।[129] सोम को अन्यत्र तिग्मशृंग भी कहा गया है।[130] रुद्र का एक आयुध शूल है जो आगे चलकर तीन की संख्या के आध्यात्मिक आशय से संभवतः त्रिशूल हो गया। अतः भृष्टि और हेती दोनों को इस विशेष प्रकार के भाले के रूप पहचाना जा सकता है, जिसके फल की ओर ह्वीलर ने संकेत किया है। शूल के अग्र भाग का कुछ मुड़ा होना इस प्रस्ताव के पक्ष में जाता है। सम्भवतः इसका उपयोग औजार, शस्त्र और अस्त्र तीनों रूपों में किया जाता था। शिव के शूल का इस रूप में उल्लेख परवर्ती परम्परा में पाया जाता है। मूलतः यह आखेट का हथियार रहा लगता है जिसकी नोक पशु के शरीर में धँस जाता रहा होगा और इसके आसानी से निकल न पाने और दूसरा सिरा शिकारी के हाथ में होने के कारण पशु छूट कर भाग नहीं पाता रहा होगा। भाले के मुकाबले पतली नोक के कारण इसे तिग्म विशेषण दिया गया है। आज भी इस यन्त्र 'अंकारी' का प्रयोग किया जाता है।

वैदिक काल का एक विशेष आयुध असि है। यह हड़प्पा के उस हथियार की याद दिलाता है जिसका नमूना अन्यत्र नहीं मिलता, और जिसको ह्वीलर ने छोटी तलवार(शॉर्ट शोर्ड्स ऑर डक्र्स)मानना चाहा है।[131] ऋग्वेद में'असि'का उल्लेख सम्भवतः इसी शस्त्र के लिए किया गया है।[132] इसका एक उपयोग छेदने या भोंकने के लिए भी किया जाता था।[133] इसके अतिरिक्त 'कृपाण' का उल्लेख भी पाया जाता है, जिसे हड़प्पा से प्राप्त डैगर के रूप में पहचाना जा सकता है।[134] चक्र[135] के विषय में श्रुति है कि यह आघात करके चालक के पास लौट आता है। इसे ध्यान में रखते हुए कोसम्बी के अनुसार इसे एक तरह का बूमरैंग माना जा सकता है। कोसम्बी ने इसकी पहचान डिस्कस के रूप में भी की है।[136] इससे मिलता जुलता कोई हथियार हड़प्पा से प्राप्त हुआ है तो उसे डिस्कस के रूप में नहीं अपितु उस बाँकी के रूप में ही लिया जा सकता है जिसका खण्डित अवशेष ही मिला है।[137] 'तपनी' जो डिस्कस की धारणा की याद दिलाती है, कभी-कभी हेती के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है।[138] एक स्थल पर इसके एक पृथक आयुध होने का

सन्देह होता है ।[139] परन्तु वहाँ भी सम्भव है इसका प्रयोग तापकारक या शत्रु को क्लेश पहुँचाने वाले अर्थ में ही किया गया हो। इसकी पहचान करना अभी कठिन है।

पर वैदिक साहित्य का सबसे प्रधान और असन्दिध रूप में विश्वसनीय हथियार धनुष और वाण ही है । युद्ध के अवसर पर जितने विस्तार और जिस आत्मीयता से इसका चित्रण किया गया है उतनी आत्मीयता और विस्तार के साथ अन्य किसी का नहीं। इसके संदर्भ में धनु,[140] ज्या[141] या प्रत्यंचा, आर्त्नि[142] या धनुष के छोर जिनसे प्रत्यंचा बाँधी जाती है, वाण[143] और इसके पर्याय शर[144], इषु तथा सायक[145] इसके फल[146] तरकश अर्थात् इषुधि[147] या वस्ति[148] तथा बचाव के लिए वर्म[149] का उल्लेख आया है। तकनीकी दृष्टि से इसे बहुत विकसित नहीं माना जा सकता। वाण का फल धातु[150] के अतिरिक्त सींग[151] का भी बना होता था। यह ध्यान देने योग्य है कि युद्ध के विवरण जहाँ स्पष्ट हैं वहाँ केवल और केवल धनुष, वाण, वर्मऔर इषुधि के उल्लेख आते हैं, अन्य किसी हथियार के नहीं, अतः मुख्य रूप से अन्य सभी हथियार औजार अथवा शिकार के हथियार हैं, युद्ध के नहीं। इनका उपयोग संकट की स्थिति में ही हथियार के रूप में किया जा सकता था। यह तथ्यहड़प्पा के हथियारों और औजारों में फ़र्क़ करने की दृष्टि से उपयोगी है।

युद्ध में रथों का उपयोग, निश्चय ही, केवल प्रधान व्यक्तियों द्वारा ही किया जाता रहा होगा। पर रथ संचालन के विषय में दक्षता का स्तर न केवल सारथी[152] के एक अलग कुशल पेशे के रूप में प्रकट होता है, अपितु इस बात से भी कि एक अच्छा सारथी घोड़ों को इतने अधिकार से चलाता है कि वह रथ को जब और जिधर चाहे मोड़ लेता है ।[153] उसकी इच्छा जान कर ही घोड़े मुड़ जाते हैं, लगाम (रस्सियाँ) बाद में खिचती हैं[154] युद्ध के सयम योद्धाओं के अतिरिक्त घोड़ों के भी रथों से भिड़ जाने का विवरण तथा अन्य पहलू युद्ध के एक प्रसंग को तो काव्यात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का सिद्ध करते हैं ।[155]

इस तरह हम पाते हैं कि वैदिक जन आयुधों के मामले में न केवल हड़प्पा से आगे नहीं बढ़े थे, अपितु उनके हथियार ठीक वे ही हैं जो हड़प्पा के अवशेषों से प्राप्त हुए हैं। प्रश्न एक दो बातों को लेकर उठाया जा सकता है, कहें, उठाये जाते रहे हैं। घोड़ों से हड़प्पावासी परिचित न थे, रथ की उपस्थिति उस काल में सन्दिग्ध है और वर्म या कवच तो हड़प्पा के अवशेषों से मिला ही नहीं है। वर्म, जिसके साथ मार्शल ने अपनी ओर से शिरस्त्राण को भी जोड़ लिया है, के अभाव को मार्शल ने हड़प्पावासियों की अपने शत्रुओं से पराजय का प्रधान कारण माना है। पर भाषावैज्ञानिक साक्ष्यों के आधार पर कुछ विद्वान यह सुझाते हैं कि सं. घोट, हिं. घोड़ा, द्रविड़ 'गुर्रम्' से निकला है। इससे इतना तो ज़ाहिर ही है कि हड़प्पावासी घोड़े से अच्छी तरह परिचित थे और इसका उपयोग करते थे और इस

विषय में प्राप्त साक्ष्य भी सन्देहजनक नहीं है। रथ से उनके परिचय को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। इसकी लोकप्रियता इस बात से भी प्रकट है कि बच्चों के खिलौने के लिए भी इसके माडलों का उपयोग होता था।[158] जहाँ तक कवच का प्रश्न है, इसका न पाया जाना ही इस साम्य को सर्वांगीण साम्य बना देता है। कारण वैदिक जन जिस कवच या वर्म का प्रयोग करते थे वह कपड़े या चमड़े को सिल कर बनाया जाता था।[159] अतः यदि हड़प्पा से कवच के प्रमाण मिलते तो ही यह प्रश्न उठाया जा सकता था कि हड़प्पावासी जहाँ धातु के कवच का प्रयोग करते थे वहाँ वैदिक जनों के कवच कपड़े या चमड़े को सिल कर बनाये जाते थे।

इस तरह वैदिक संघर्षों की प्रकृति पर विचार करते समय हम पाते हैं कि वैदिक जन उन लोगों में से नहीं थे जिन्हें शस्त्रोपजीवी कहा जाता है। इन्द्र के जिन युद्धों या विजयों की बात की जाती है उनके अनेक अर्थ हैं, पर जहाँ लौकिक संघर्ष की पुष्टि होती है वहाँ ये मुख्यतः यात्राओं के दौरान हुए संघर्ष हैं और हैं भी तस्करों और दस्युओं के विरुद्ध। यहाँ भी वैदिक जनों का प्रयत्न हमेशा अपने शत्रुओं के साथ टकराव से बचने का रहता है।

अनेक प्रकरण जिनको परम्परागत व्याख्याकारों ने युद्ध से जोड़ा है और जिन्हें इसी आशय में आधुनिक पंडित भी ग्रहण करते रहे हैं, व्यापारिक प्रतिस्पर्धाओं के या व्यापारिक लाभ के सूचक हैं। यहाँ तक कि इनका सम्बन्ध दस्युओं के साथ टकराव से भी नहीं है। इन्द्र को जब अश्वजित, गोजित, सत्रजित, सुवर्णजित आदि कहा जाता है तो ऐसे स्थलों पर जीत का अर्थ न तो लूट है न ही जीत, अपितु व्यापारिक प्रतिलाभ या कमाई है, जिसमें लुटेरों आदि से अपने माल और जान को बचाकर सकुशल वापस आने का भी भाव निहित है। यह धन सम्पत्ति के बढ़ाने मात्र का सूचक है। जीत का अर्थ ही कमाई है। पर कुछ अवसरों पर इसका सीधा अर्थ आत्मरक्षा और अपनी सम्पत्ति की रक्षा में सफलता है। यह बात तब स्पष्ट हो जाएगी जब हम सोम पर विचार करें। यह पण्यवस्तु था और इसकी खरीद बिक्री होती थी, इस विषय में तो किसी सन्देह की सम्भावना ही नहीं है। सोम के बदले भी ठीक उन्हीं चीजों की प्राप्ति या कमाई होती है;

गो-जित् नः सोमः रथ-जित् हिरण्य-जित् स्वः-जित् अप्-जित् पवते सहस्र-जित्। ऋ. 9.78.4.

पर जहाँ वास्तविक युद्धों का वर्णन आता है वहा 'राजाओं' के आपसी टकराव हैं, जिनमें मुख्य सवाल आर्य—अनार्य का नहीं है, अपितु मैत्री और विरोध का है। इन युद्धों में भी प्रधान कारण व्यापारिक प्रतिस्पर्धा हो सकती है। यदि राजा की ओर से भी व्यापारिक सार्थ जाते रहे हों या कभी-कदा राजा अपने राजकुमारों

को भी इन उपक्रमों पर भेजते रहे हों तो आश्चर्य की बात नहीं । मिस्र इसका एक उदाहरण हो सकता है ।

इन सबके अतिरिक्त शान्ति और व्यवस्था की अपनी समस्याएँ थीं और इनके कारण भी यदाकदा दमन अभियान आवश्यक हो जाते रहे होंगे, जो त्रसदस्यु के नाम से भी प्रकट होता है ।

जो भी हो, वैदिक प्रवृत्ति अनावश्यक खून-खराबा करने की नहीं है । वे किसी भी प्रकार के टकराव को यथासम्भव टालते दिखाई देते हैं । जहाँ तक आतंक का प्रश्न है उनसे उनके शत्रु नहीं, अपने शत्रुओं से वे स्वयं आतंकित रहते हैं । उनकी दृष्टि में शौर्य की एक परिकल्पना यह है कि युद्ध से घिर जाने पर भी शूर बिना लड़े ही अपने को व अपने जनों को बचा कर सकुशल वापस आ जाता है, यद्यपि यह भी इन्द्र के सख्य या सहायता से ही सम्भव है ।[60]

पर यदि तर्क के लिए कुछ मामलों में गायें आदि छीनने की बात भी ली जाए तो, यहाँ उल्टा ही चित्र दिखाई देता है । गायें उनकी हुआ करती हैं और अपहरण करने वाले उनके शत्रु या तस्कर आदि हुआ करते हैं ।

साथ ही स्थायी सेना न होने की बात, या जहाँ युद्ध की स्थितियाँ हैं वहाँ उनको कबीलाई स्तर का करार देने की बात तथ्यों से अनमेल पड़ती है और इससे विद्वानों की एकांगिता प्रमाणित होती है न कि वैदिक युद्धों का कबीलाई स्तर । वैदिक संघर्षों का एक पक्ष निश्चय ही पिछड़ी अर्थव्यवस्था से चिपके हुए अपने ही पड़ोस के अन्य कबीलों से सम्बन्ध रखता है, पर इस पर हम इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में विचार करेंगे ।

जहाँ तक हड़प्पा से तुलना का प्रश्न है, दोनों में हर मामले में पूर्ण सादृश्य और अभेद दिखाई देता है। यह अभेद युद्ध, सुरक्षा की चिन्ता, व्यवस्था की चिन्ता, आयुध और उपकरण सभी मामलों में दिखाई देता है । यह संगति भाव और अभाव, जैसा कि कवच के मामले में हम देखतेहैं, दोनों में बनी रहती है । अतःइन्हें इस आधार पर एक दूसरे से कदापि भिन्न नहीं माना जा सकता ।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. देखेंजार्ज एफ. डेल्स, 'मिथिकल मैसेकर ऐट मोहनजोदड़ो', एक्सपेडीशन, 1964,6,3; 'सिविलाइजेशन ऐंड फ्लड्स इन दि इंडस वैली,' एक्सपेडीशन, 1965,7,4;एफ. ए. खान, 'आर्कियॉलॉजी इन पाकिस्तान,' एक्सपेडीशन, 1964,6,3; के. एम. श्रीवास्तव, 'दि मिथ ऑफ़ आर्यन इंवेजन ऑफ हड़घन टाउन्स,' फ्रइंसि, 1984 आदि ।
2. इन्द्र के पर्यायों में उन्हें 'वृत्रहन', 1.84.3; 3.31.18; 4.30.1; 5.38.4, आदि 'वृत्रहन्तम', वृत्र का वध करने वालों में श्रेष्ठतम, 1.78.4; 6.16.48, आदि कहा गया है ।
3. ऋ. 1.51.6; 2.12.11; 4.30.14; 6.18.8; 7.18.20 आदि।
4. ऋ. 2.15.9; 6.18.8; 7.19.4; 10.113.9, आदि
5. ऋ. 2-15.5; 6.18.8; 7.19.4; 10.113.9, आदि ।
6. ऋ. 1.101.2; 2.14.5; 4.16.13; 5.29.11; 6.18.8, आदि ।
7. ऋ. 2.14.5
8. ऋ. 1.11.7; 2.14.5; 4.16.12; 5.29.9; 6.18.8, आदि ।
9. ऋ. 1.36.15; 8.60.10; 9.13.9, आदि ।
10. ऋ. 1.53.6; 3.30.22; 4.24.10, आदि ।
11. ऋ. 2.24.2
12. वृत्रो वृणोतेर्वा वर्त्तेर्वा वर्धतेर्वा । नि. 2.10
13. वही । देखें, यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वं इति विज्ञायते, यत अवर्तत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वं इति ज्ञायते, यदवर्धत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वं इति विज्ञायते ।
14. वृत्र मेघ का पर्याय है, नि. 1.10; 'वृत्रो वै सोम आसीत ।' शतब्रा 3.4.3.13
15. 'स यद् वर्तमानः समभवत तस्मात् वृत्रः।' शतब्रा. 1.6.3.9
16. 'वृत्राणि-आवरका घना इव शत्रुसैन्यानि ।' दवैक
17. 'प्रकाशावरकं मेघमिव···'वही ।
18. स यो ह एवं एतं वृत्रं अन्नादं वेद···शतब्रा 1.6.3.17
19. 'शं सुखं वृणोति यस्मात तं मेघं' दवैको.; 'शंबर मेघ, नि. 1.10; बल, वही तथा 1.9; उदक का पर्याय है, वही 1.12
20. 'चुमुरिं अत्तारम्' दवैको.; 'चोरम', वही, 317
21. धुनयः नदी का पर्याय', नि. 1.13; 'कम्पयियतारम्', दवैको 521
22. 'पिप्रुं व्यापनशीलं—प्रपूरकं, मेघं, शत्रुं वा' दवैको. 603

23. वही
24, 'शुष् शोषणे,' शुष्ण बल का पर्याय', नि. 2.9; 'शोषणकर्तारं मेघं', दवैको. 651
25. 'यो रुधीन् आवरकान् क्रामति तं (राजद्रोहिणं जनं)' दवैको
26. 'अम्बुदो मेघो भवति स (मेघः) यथा महान् बहु भवति वर्षः तत, इव अर्बुदम्', नि. 3.10
27. 'कुत्सिता यवा अन्नादि यस्य', दवैको 307
28. 'उरणं आच्छादकं', दवैको., 256
29. 'यो जलं न मुंचति', दवैको. 532; 'पाप्मा वै नमुचि', शतब्रा. 12.7.3.1-4
30. अध्वर्यवः यः स्वप्नं जघान यः शुष्णं अशुषं यः वि-अंसम्
यः पिप्रुं नमुचिं यः रुधिक्रां तस्मै इन्द्राय अन्धसः जुहोत ।। ऋ. 2.14.5; देखें, 6.18.8; 7.19.4; 10.113.9, आदि भी ।
31. इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीः अधूनुतम् । साकं एकेन कर्मणा ।। ऋ. 3.12.6
32. स रन्धयत् सदिवः सारथये शुष्णं असुषं कुयवं कुत्साय
दिवोदासाय नवतिं च नव इन्द्रः पुरो वि ऐरत् शंबरस्य ।। ऋ. 2.19.6
33. अध्वर्यवः यः शतं शम्बरस्य पुरः बिभेद अश्मन इव पूर्वीः
यः वर्चिनः शतं इन्द्रः सहस्रं अप अवपत भरत सोमं अस्मै ।। ऋ. 2.14.6
34. ऋ. 2.14.3; 4; 5, आदि ।
35. इन्द्राग्नी नवतिं पुरः दासपत्नीः अधूनुतम् । साकमेकेन कर्मणा । ऋ. 3.12.6 देखें, 10.65.2 भी ।
36. हतं वृत्रं सुदानवः इन्द्रेण सहसा युजा । मा नः दुःशंस ईशत । ऋ. 1.23.9; देखें, 1.165.8 भी ।
37. य ईं महीं धुनिं एतोः अरम्णात् सः अस्नातॄन् अपारयत् स्वस्ति ।
ते उत् स्नाय रयिं अभि प्र तस्थुः सोमस्य ता मदे इन्द्रः चकार । ऋ. 2.15.5
38. अहेः यातारं कं अपश्यः इन्द्र हृदि यत् ते जघ्नुषः भीः अगच्छत् ।
नव च यत् नवतिं च स्रवन्तीः श्येनः न भीतः अतरः रजांसि ।। ऋ 1.32.14; देखें, ऋ. 10.104.8 भी ।
39. ऋ. 2.14.4; 6, आदि ।
40. अस्य मन्दानः मध्वः वज्रहस्तः अहिं इन्द्रः अर्णः वृतं हि वृश्चत् ।
प्र यत् वयः न स्वसराणि अच्छ प्रयांसि च नदीनां चक्रमन्त ।। ऋ. 2.19.2; देखें 3 भी अर्थात् मधु से मस्त होकर इन्द्र ने जल को रोकने वाले अहि को विदीर्ण कर दिया और नदियाँ उसी तरह समुद्र की ओर दौड़ चली जैसे

पक्षी अपने घोंसले की ओर भागते हैं।

41. जल में वृत्र को पथरोधक के रूप में दिखाया जाता है। पर उसके जल में सोए होने के चित्र प्रायः आते हैं, "अहन अहिं परि शयानं अर्णः ओजायमानं तुविजात तव्यान्। ऋ. 3.32,11

42. उत् दासं कौलितरं बृहतः पर्वतात् अधि। अव अहन् इन्द्र शम्बरम्। ऋ. 4.30.14

43 अध्वर्यवः यः दृभीकं जघान यः गा उत् आजत् हि वलं वः। तस्मै एतं अन्तरिक्षे न वातं इन्द्रं सोमैः आ ऊर्णतः जूः न वस्त्रैः ऋ. 2.14.3

44. देखें, सैक्रेड बुक्स ऑफ़ ईस्ट सीरीज़, 25, भूमिका पृष्ठ 23 पर एगलिंग के विचार और पादटिप्पणी भी।

45. पंचाशत् कृष्णा नि वपः सहस्रा अत्कं न पुरः जरिमा वि दर्दः। ऋ. 4.16:13

46. ऋ. 3.12.6

47. ऋ. 1.23.9 आदि। सबसे महत्वपूर्ण है इन पुरों का विदीर्ण किया जाना। इसकी उपमा पुराने वस्त्र को चीर देने से दी गई है; अत्कं न पुरः जरिमा वि दर्द'; 4.16.13; आ ऊर्णतः जूः न वस्त्रैः।" ऋ. 2.14.3 जो बादलों के फटने या विजली की कौंध के साथ एक लकीर सी बन जाने का बहुत ही मोहक चित्र है।

48. देखें, कीथ, माइथॉलॉजी ऑफ़ ऑल रेसेज, 4, 1917,263-65

49. एस. आर. शर्मा, पूर्व. 1983, 19; हिल्लेब्रांट, वैदिक माइथॉलॉजी 1, परिशिष्ट-2

50. दिवोदासात् अतिथिग्वस्य राधः शाम्बरं वसु प्रति अग्रभीष्म। ऋ. 6.47.22; 6.2.65

51. दुर्ग शब्द दुर्गम के अर्थ में पर्वत, रेगिस्तान और जंगल के लिए मूलतः प्रयोग में आता रहा है। दुर्गा या जंगलों की देवी का नामकरण इसी आधार पर हुआ है।

52. त्वं तत् उक्थं इन्द्र बर्हणा कः प्र यत् शता सहस्रा शूर दर्षि।
अव गिरेः दासं शम्बरं हन् प्र आवः दिवोदासं चित्राभिः ऊती॥
ऋ. 6.26.5
यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरदि अनु अविन्दत्।
ओजायमानं यः अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इंद्रः॥ ऋ 2.12.11.
'अव गिरेः, दासं शम्बरं हन्, पर अपने भाष्य में सायण लिखते हैं,' गिरे पर्वतान्निर्गतं शम्बरं असुरं अवहन् अवावधीः' अर्थात् पर्वत से निकले हुए

शम्बर को मारा।' और 'पर्वतेषु क्षियन्त्रं' को वह 'पर्वतगुहासु निवसन्तं' अर्थात् पर्वत की गुफा में रहने वाला बताते हैं।

53. दुर्गाः का अर्थ सायण 'दुर्गा गंतुं दुःशकानि' अर्थात् 'जहाँ पहुँच पाना दुष्कर हो' करते हैं, देखें, ऋ. 1.41.3; 1.06.1 में वह दुर्गात् को 'गंतुं अशक्यान निम्नोन्नतात्' अर्थात् ऊँचा-नीचा होने के कारण (रथ से) अगम्य मानते हैं।

54. इन विवरणों में शम्बर को 'महि', बहुत बड़ा, 'शर्ध' दुस्साहसी, 'मन्यमान' घमंडी, 'ओजायमान' अकड़ या घमंड से आया हुआ दिखाया गया है। देखें ऋ. 2.12.10-11 भी।

55. नि येन मुष्टि हत्यया नि वृत्रा रुणधाम है। ऋ. 1.8.2; देखें, 5.58.4; 6.26.2 आदि भी।

56. पुर-भेदन का सम्बन्ध जहाँ मानव-संघर्ष से है वहाँ पुर नौका (दस्युओं की नौका) और पर्वतीय क्षेत्रों के मामले में लुटेरों का दल है। देखें, भगवान सिंह, 'ऋग्वेद में पुर', ऋतम्भरा, 1986

57. ह्वीलर; पूर्व; 1953, 18; कोसंबी, 1965

58. एतत् त्यत् ते इन्द्रियं अचेति येन अवधीः वरशिखरस्य शेषः।
वज्रस्य यत् ते निहतस्य शुष्मात् स्वनात् चित् इन्द्र परमः ददार॥
वधीत् इन्द्रः वरशिखस्य शेषः अभि आवर्तिने चायमानाय शिक्षन्।
वृचीवतः यत् हरियूपीयायां हन् पूर्वे अर्धे भियसा अपरः दर्त्॥
त्रिंशत् शतं वर्मिणः इन्द्र साकं यव्यावत्यां पुरूहूत श्रवस्या।
वृचीवन्तः शरवे पत्यमानाः पात्रा भिन्दाना नि अर्थानि आयन्॥ ऋ. 6.27.4-6

59. शतं मा पुरः आयसीः अरक्षन् अध श्येनः जवसा निः अदीयम्। ऋ. 4.27.1

60. देखें, ऋ. 7.104.16 जिससे इस बात का आभास मिलता है कि सम्भवतः वसिष्ट को भी किसी ने यातुधान—अभिचार करने वाला—कह कर गाली दी है।

61. ये पाकशंसं विहरन्ते ऐवैः ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः।
अहये वा तान् प्रददातु सोमः आ वा दधातु निर्ऋतेः उपस्थे॥ 7. 104.9

62. यः नः रसं दिप्सति पित्वः अग्ने यः अश्वानां यः गवां यः तनूनाम्।
रिपुः स्तेनः स्तेयकृत् दभ्र एतु नि सः हीयतां तन्वा तना च॥ 7.104.10;
यह पूरा सूक्त इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

63. तॉल्स्तॉय ने वार ऐंड पीस में रूस के गिरजाघरों में उस खास दौर में चल

रही प्रार्थनाओं और मनौतियों का, देवताओं (आइबीरियन देवी की प्रतिमा) की कृपा और ईश्वर से प्रार्थना के बल पर शत्रु का सर्वनाश करने या उसको पराजित करने की कामना का चित्रण किया है, जब नैपोलियन की सेनाएँ विजय हासिल करती हुई मास्को के निकट पहुँच आयी हैं। ऋग्वैदिक प्रार्थनाओं का इनसे अद्भुत साम्य दिखाई देता है।

64. सः नः दूरात् च आसात् च नि मर्त्यात् अघायोः। पाहि सदं इत् विश्व आयुः। ऋ. 1.27.3

65. पाहि नः अग्ने रक्षसः पाहि धूर्ते अराव्णः।
पाहि रिषतः उत वा जिघांसतः बृहद्भानो यविष्ठ्य ॥ ऋ. 1.36.15

66. ऊर्ध्वं नः पाहि अंहसः नि केतुना विश्वं सं अत्रिणं दह। ऋ. 1.36.14

67. अदब्धेभिः पायुभिः पाहि अस्मान्। ऋ. 1.95.9

68. स्तेनः वा यः दिप्सति नः वृकः वा त्वं तस्मात् वरुण पाहि अस्मान्। ऋ. 2.28.10

69. द्रुहः रिषः संपृचः पाहि सूरीन। ऋ. 2.35.6

70. रक्षा नः अग्ने तव रक्षणेभिः ररक्षाणः सुमख प्रीणानः।
प्रति स्फुर विरुज वीडु अंहः जहि रक्षः महि चित् ववृधानम् ॥ ऋ. 4.3.14

71. दह अशसः रक्षसः पाहि अस्मान् द्रुहः निदः मित्रमहः अवद्यात्। ऋ. 4.4.15

72. तेजिष्ठया तपनी रक्षसः तप ये त्वा निदे दधिरे दृष्टवीर्यम्।
आविः तत् कृष्व यत् असत् ते उक्थ्यं बृहस्पते वि परि-रपः अर्दय। ऋ. 2.23.14

73. मा नः स्तेनेभ्यः ये अभि द्रुहः पदे निरामिणः रिपवः अन्नेषु जागृधुः 1··· ऋ. 2.23.16

74. सखे ते इन्द्र वाजिनः मा भेम शवसः पते। त्वां अभि प्र नोनुमः जेतारं अपराजितम् ॥ ऋ. 1.11.2

75. पाहि नः अग्ने पायुभिः अजस्रैः उत प्रिये सदने आ शुशुक्वान।
मा ते भयं जरितारं यविष्ठ नूनं विदत् मा अपरं सहस्वः ॥ ऋ. 1.189.4

76. यः मे राजन् युज्यः वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यं आह।
स्तेनः वा यः दिप्सति नः वृकः वा त्वं तस्मात् वरुण पाहि अस्मान् ॥ ऋ. 2.28.10

77. इन्द्रः अंग महद् भयं अभि सत् अप चुच्यवत्। सः हि स्थिरः विचर्षणिः ॥ ऋ. 2.41.10

78. अर्वाचः अद्य भवत यजत्राः आ वः हार्दि भयमानः व्ययेयम्।
त्राध्वं नः देवाः निजुरः वृकस्य त्राध्वं कर्तात् अवपदः यजत्राः ॥ ऋ. 2.29.6

79. पाहि नः अग्ने एकया पाहि उत द्वितीयया ।
पाहि गीः भिः तिसृभिः ऊर्जां पते पाहि चतसृभिः वसो ।। ऋ. 8.60.9

80. बृहस्पतिः नः परि पातु पश्चात् उत् उत्तरस्मात् अधरात् अघायोः ।
इंद्रः पुरस्तात् उत मध्यतः नः सखा सखिभ्यः वरिवः कृणोतु ।। ऋ. 10.42.11; 43.11; 44.11, आदि ।

81. जामिं अजामिं प्र मृणीहि शत्रून् । ऋ. 4.4.5;जहि शूर शत्रून् जामिं अजामिम् । ऋ. 6.44.17; जामिं अजामिं पृतनासु सक्षणिम् । ऋ. 1.111.3, आदि ।

82. यः अस्मान् अभिदासति अधरं गमया तमः । 10.152.4
यः नः अग्ने अभिदासति अन्ति दूरे पदीष्ट सः । ऋ. 1.79.11, आदि ।

83. याः सेना अभीत्वरीः आव्याधिनीः उगणाः उत । ये स्तेना ये च तस्कराः तान् ते अग्ने अपि दधामि आस्ये । दंष्ट्राभ्यां मलिम्लुच जंभ्यैः तस्करां उत । हनुभ्यां स्तेनान भगवन् तान् त्वं खाद सुखाद इति ।। ये जनेषु मलिम्लवः स्तेनासः तस्करा वने । ये कक्षेषु अघायवः तान ते दधामि जम्भयोः ।। यजु. 11.77-79

84. शं नः इन्द्राग्नी भवतां अवःभिः शं नः इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शं इन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं नः इन्द्रापूषणा वाजसातौ ।।
शं नः भगः शं ऊं नः शंसः अस्तु शं नः पुरन्धिः शं ऊं सन्तु रायः ।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नः अर्यमा पुरुजातः अस्तु ।
शं नः धाता शं ऊं धर्ता नः अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः ।
शं रोदसी बृहती शं नः अद्रिः शं नः देवानां सुहवानि सन्तु ।।
शं नः अग्निः ज्योतिः अनीकः अस्तु शं नः मित्रवरुणौ अश्विना शम् ।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं नः इषिरः अभि वातु वातः ।।
शं नः द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शं अन्तरिक्षं दृशये नः अस्तु ।
शं नः ओषधीः वनिनः भवन्तु शं नः रजसः पतिः अस्तु जिष्णुः ।।
शं नः इन्द्रः वसुभिः देवः अस्तु शं आदित्येभिः वरुणः सुशंसः ।
शं नः रुद्रः रुद्रेभिः जलाषः शं नः त्वष्टा ग्नाभिः इह श्रणोतु ।।
शं नः देवः सविता त्रायमाणः शं नः भवन्तु उषसः विभातीः ।
शं नः पर्जन्यः भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिः अस्तु शंभुः ।।
शं नः सत्यस्य पतयः भवन्तु शं नः अर्वंतः शं ऊं सन्तु गावः ।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नः भवन्तु पितरः हवेषु ।।
शं नः अजः एकपात् देवः अस्तु शं नः अहिः बुध्न्यः शं समुद्रः ।
शं नः अपां नपात् पेरुः अस्तु शं नः पृश्निः भवतु देवगोपा ।।
ऋ. 7.35 की कुछ ऋचाओं को विस्तार से बचने के लिए छोड़ दिया गया है ।

85. ऋ. 2.21.1; 9.59.1; 78.4, आदि।
86. ऋ. 1.188.1; 5.26.6, आदि।
87. ऋ. 2.21.1; 3.42.6; 6.16.15; 8.45.13; 8.98.4, आदि।
88. ऋ. 1.11.2; 5.25.6; 7.32.6, आदि।
89. यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजः। ऋ. 7.83.2
90. रथे तिष्ठन् नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः। अभीशूना महिमानं पनायत मनः पश्चात् अनुयच्छन्ति रश्मयः।। ऋ. 6.75.6
91. रथवाहनं हविः अस्य नाम यत्रायुधं निहितं अस्य वर्म। तत्रा रथं उप शग्मं सदेम···ऋ. 6.75.8
92. वर्मी याति समदां उपस्थे। ऋ. 6.75.1
93. ऋ. 6.75.2-4
94. ऋ. 1.66.4; 116.1; 143.5; 186.9; 2.33.11; 5.30.9; 7.25.1; 10.103.1, आदि।
95. ऋ. 7.20.5; 9.96.1; 10.34.12; 84.2, आदि।
96. ऋ. 6.75.1
97. चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवः व्रातसाहाः। ऋ. 6.75.9
98. इदं पर्जन्य रेतस इष्वै देव्यै बृहत् नमः। ऋ. 6.75.15; यत्र वाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव। ऋ. 6.75.17, आदि।
99. सं भूम्या अन्ता ध्वसिरा अदृक्षते इन्द्र दिवि घोष आरुहत। ऋ. 7.83.3
100. देखें, पीछे, 2.4
101. ए. पी. गुप्ता, डिस्पोजल ऑफ़ दि डेड ऐंड फ़िज़िकल टाइप्स, 1972, 78. विभा त्रिपाठी, पूर्व.
102. आर. एस. शर्मा, पूर्व., 1983, पृ. 12, 23,51 आदि; एम. आर. बनर्जी, आयरन एज इन इंडिया, 1965; एस. पी. गुप्त, महाभारत : मिथ ऐंड रिएलिटी, भूमिका; के. सी. वर्मा, दि एज ऑफ़ महाभारत वार, भूमिका आदि।
103. जिम. जे. शैफर, ब्रांज़ एज आइरन फ्रॉम अफ़ग़ानिस्तान···, 1984, 41.62
104. ऋ. 1.35.10; .2.7.2; 7.32.27, आदि।
105. अरुण केसरवानी, 'हड़प्पन गेटवेज : ए फ़ंक्शनल असेसमेंट', फ़ंडसि 1984, 63-74

106. मार्शल, पूर्व. 1931.1. भू. 6; ह्वीलर, पूर्व., 1953. 52, और आगे; चित्र 10. पृ. 54; बैशम, पूर्व; 1967, 22
107. पूर्व, 53
108. कोसम्बी, पूर्व., 1946,35
109. देखें पूर्व; पृ. 31 और तुलना करें उन्हीं के पृ. 110-12 से।
110. ऋ. 1.133.2
111. ऋ. 1.80.6; 8.6.6; 76.2; 89.3
112. ऋ. 1.85.9; 5.34.2; 6.17.10
113. ऋ. 1.8.3; 2.11.4; 3.32.12; 4.16.7; 5.29.2; 6.17.10; 7.18.18 आदि।
114. तुलना करें मार्शल, पूर्व; 111; ऋ. 1.52.8; 81.4; 10.48.3;
115. ऋ. 1.32.5; 3.2.1
116. ऋ. 3.53.22; 4.6.8; 6.3.4; 7.100.21, आदि।
117. ऋ. 8.83.1; 9.67.30
118. परशुं चित् वि तपति शिम्बलं चित् वि वृश्चति। ऋ. 3.53.22
विजेहमानः परशुः न जिह्वां द्रविः न द्रावयति दारु धक्षत्। ऋ. 6.3.4
119. ऋ. 7.83.1
120. भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यः राजानः इव त्वेष संदृशो नरः। ऋ. 1.85.8
121. अंसेषु एषां नि मिमृक्षुः ऋष्टयः साकं जज्ञिरे स्वधया दिवः नरः। ऋ. 1.64.4
अंसेषु वः ऋष्टयः पत्सु खादयः वक्षः सु रुक्मा मरुतः रथे शुभः। ऋ. 5.54.11
122. ऋ. 1.179.6
123. यवं वृकेण अश्विना वपन्ता इषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा। ऋ. 1.117.21
दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः। ऋ. 8.22.6
124. ऋ. 4.4.4; 6.74.4
125. ऋ. 4.5.3
126. सायण 4.4.4 के भाष्य में हेति का अर्थ ज्वाला करते हैं; 6.74.4 में तीक्ष्ण शर; 4.5.3 में भृष्टि का अर्थ तेज करते हैं; 1.56.3 में सींग, 1.53.15 में 'भ्रंशयति शत्रून् इति भृष्टिः।' पर जहाँ वज्र के साथ सहस्रभृष्टि का प्रयोग आया है, जैसे 1.95.9, वहाँ 'अनेकाभिः धाराभिः

युक्तम्' करते हैं।

127. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, 1981, 1303

128. पूर्व., 1953, 53

129. ऋ. 6.74.4

130. ऋ. 9.97.9

131. ह्वीलर, पूर्व., 53

132. ऋ. 10.79.6; 89.8

133. ऋ. 1.162.20

134. ऋ. 10.22.10; देखें, मार्शल, पूर्व.

135. ऋ. 1.155.6; 10.101.7

136. पूर्व. 1965, 115. चक्र पत्थर का हथियार हो सकता है, ऋ. 10.101.7

137. देखें, ह्वीलर, 1953, चित्र 10.9

138. ऋ. 2.23.14

139. ऋ. 4.4.2

140. ऋ. 6.75.2; 8.72.4; 77.11; 10.27.17, आदि।

141. ऋ. 6.75.3; 4.27.3

142. ऋ. 6.75.4; 10.166.3

143. ऋ. 1.85.10; 4.24.9;8.20.8

144. ऋ. 6.75.16; 8.70.13; 10.27.6, आदि।

145. ऋ. 8.77.7; 1.128.6; 5.41.6; 5.50.1; 6.75.9, आदि में इषु, तथा 1.32.3; 84.11; 2.33.10; 3.53.23, आदि में सायक।

146. ऋ. 6.75.11

147. ऋ. 6.75.5; 10.95.3; 1.33.3, आदि।

148. ऋ. 4.25.2; 5.49.3; 6.3.6;75.11, आदि।

149. ऋ. 1.31.15; 114.5; 6.75.8; 7.31.6, आदि।

150. ऋ. 6.75.15

151. ऋ. 6.75.11; 15

152. ऋ. 1.55.7; 2.19.6; 6.20.5; 57.6; 75.6

153. रथे तिष्ठन् नयति वाजिनः पुरः यत्र-यत्र कामयते सुसारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चात् अनु यच्छन्ति रश्यमः ।। ऋ, 6.75.6

154. वही।

155. अश्वा अश्वेभिः सह वाजयन्तः। ऋ. 6.75.7

156. मार्शल, 1931,1,111
157. ब्लॉख, प्री-आर्यन ऐंड प्री-द्रविडियन इन इंडिया, 1929, 46
158. राव, पूर्व., 308
159. वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि। ऋ. 10.101.8; अर्थात् सिल कर खूब मोटा और बड़ा वर्म तैयार करो।
160. अयुद्ध इत् युधा वृतं शूरः आजति सत्वभिः। येषां इन्द्रः युवा सखा॥ ऋ. 8.45.3

अध्याय चार

आर्थिक आधार

सभ्यता का मेरुदण्ड उसका आर्थिक ढाँचा होता है। युद्ध या प्रतिरक्षा से सभ्यता या बर्बरता का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अतः किसी सभ्यता के स्तर का निर्धारण करने के लिए उसकी अर्थ-व्यवस्था को समझना जरूरी है। जब हड़प्पा और वैदिक सभ्यताओं को परस्पर असम्बद्ध मानते हुए इनका विवेचन किया जाता है, तब इस बात पर विशेष रूप से बल दिया जाता है कि हड़प्पा सभ्यता नगर-सभ्यता थी, जब कि वैदिक सभ्यता कृषि और पशुचारण पर आधारित थी। सिद्धान्ततः प्राचीन काल में सुदृढ़ कृषि और पशुधन के अभाव में नगर-सभ्यता विकसित नहीं हो सकती थी। इन दोनों स्रोतों के उत्कृष्ट और अतिरिक्त उत्पादन से ही क्रमशः नगर-सभ्यता का जन्म हुआ। अतः यह स्वीकार करना होता है कि हड़प्पा सभ्यता कृषि और पशुधन के मामले में भी आगे बढ़ी हुई थी।[1] इसकी पुरातात्विक पुष्टि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के विशाल अन्नागारों, कालीबंगां से पूर्व-हड़प्पा स्तर पर हलाई के निशानों, हड़प्पा की मुहरों पर अंकित पशुओं की आकृतियों आदि से भी होती है। पशुओं की हड्डियों के अध्ययन भी यही बताते हैं। यही बात विभिन्न प्रकार के अन्नों के अध्ययन से उभरती है। अल्चिन व अल्चिन (1982) में इसका पूर्ण विवरण दिया है। पर तुलनात्मक विवेचनों में इन तथ्यों की स्वीकृति के बाद भी कृषि और पशुधन वाले पहलू की उपेक्षा की जाती है, विशेष रूप से इतिहासकारों द्वारा।

इसके विपरीत वैदिक सभ्यता के कृषि और पशुधन की बात करते समय भी विशेष बल इसके पशुधन पर दिया जाता है। इसके नागर पक्ष की उपेक्षा कर दी जाती है। प्रच्छन्न रूप से यह मान लिया जाता है कि जो सभ्यता पशुधन और कृषि पर आधारित है उसका नगरों से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वैदिक समाज को मैक्समूलर आदि ने प्रायः जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसको सार रूप में डॉ. आर. एस. शर्मा[2] के शब्दों में निम्न रूप में देखा जा सकता है :

"सिन्धुघाटी की शहरी सभ्यता के उदय से पहले ही भारतीय समाज का बनना आरम्भ हो गया था, पर ऋग्वेद से लेकर निरन्तर हमारे समाज का विकास होता रहा, कभी इसकी गति तेज़ और कभी धीमी रही। ऋग्वैदिक लोग प्रधानत: पशु-पालक थे। जौ उपजाते थे, पर जीने का असल साधन गाय-गोरू का पालन था। वे अलग-अलग कबीलों में बँटे थे, और बराबर गोरू के लिए लड़ते रहते थे। इस-लिए युद्ध का नाम गवेषण, अर्थात् गोरू की खोज पड़ा। सरदारों और पुरोहितों के पास अधिक पशु होते थे, उन्हें दासियों का भी अभाव नहीं था। सरदार अपने कबीले के प्रधान होते थे, और राजा कहलाते थे। हारे हुए कबीलों पर उनकी ज़ोर-जबरदस्ती चलती, पर अपने भाई-बन्दों से उन्हें केवल नज़राना मिलता था। मूलत: पशुचारी होने के कारण लोग कर देने की स्थिति में नहीं थे। भाई-बन्दों के अलावा सरदारों के पास कोई बराबर लड़ने वाली सेना नहीं थी। समाज में काफ़ी समता थी, और लोग अपने-अपने कबीले की सभा में लूट का माल बाँट लेते थे। सरदारों और पुरोहितों का ऊँचा पद था, पर उनका न अलग-अलग वर्ण था और न कोई वर्ग था।"[2]

यदि उक्त विवरण पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि इसमें अन्तर्विरोध भरे हुए हैं; कुछ पहलुओं की पड़ताल करने में कसर रह गयी है। प्रश्न यह उठता है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता तक समाज कहाँ तक बन चुका था? क्या वह नगर-सभ्यता की अपेक्षाओं के लिए पर्याप्त था? क्या बर्बर और पशुचारी आर्यों के सम्पर्क में आने के बाद हड़प्पा सभ्यता के विशाल जन-समाज ने बर्बरता को इतना रुचि-कर पाया कि वे भी इसी पिछड़ी अर्थ-व्यवस्था या अव्यवस्था की ओर लौट गये? क्या इतिहास में इसका कोई और उदाहरण मिलता है? यदि वे पीछे नहीं लौटे तो क्या उनकी सामाजिक निर्मिति अलग विकसित हुई? ऋग्वैदिक काल से लगातार विकास का जो क्रम दिखायी देता है उसकी संगति क्या है?

डॉ. शर्मा लिखते हैं, "यद्यपि अर् धातु, जिससे आर्य शब्द निकला है, का अर्थ खेती करना होता है, पर वंश मण्डलों (फैमिली बुक्स)[3] से पता चलता है कि वैदिक जन मुख्यत: पशुचारी थे।"[4] वह साथ ही इस बात की भी याद दिलाते हैं कि आगे चलकर भारतीय सन्दर्भ में इसका अर्थ श्रेष्ठ हो गया था और वह भी इस तथ्य के बावजूद कि दोनों उच्च वर्णों के लिए खेती करना वर्जित था।[5]

वास्तविकता यह है कि आर्य शब्द प्राचीन मण्डलों के समय में भी श्रेष्ठता का सूचक बन चुका था।[6] यदि आर्य शब्द का मूल अर्थ किसान था और ऋग्वैदिक काल तक इसका अर्थ श्रेष्ठ या अमीर हो गया था तो इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि कृषि का सुदृढ़ आधार ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों से बहुत पहले कायम हो चुका था और इसके उच्चवर्ण अब खेती का श्रम-भार किन्हीं दूसरों पर डाल कर इसका लाभ उठा रहे थे और स्वयं किन्हीं ऐसे कार्यों से जुड़े हुए थे जिनमें अन्य बातों के

अलावा इस उत्पादक वर्ग को नियंत्रित करना भी शामिल था।

1

वैदिक पशुचारी संस्कृति का आधार

जिन तथ्यों पर एकांगी बल देते हुए वैदिक समाज को पशुचारी सिद्ध किया जाता रहा है, उन्हें निम्न रूप में रखा जा सकता है :

1. ऋग्वेद के प्राचीन अंशों में कृषि की तुलना में 'गो' शब्द का अधिक प्रचुरता से प्रयोग हुआ है।

2. 'गोमत्' शब्द का अर्थ धनवान या रयिवान है और 'गो' धन या रयि का वाचक है।

3. कृषि का सूचक 'कृष्टी' शब्द हो सकता है, पर सायण के अनुसार इसका अर्थ प्रजा और वह भी शत्रु-जन है।

4. ऋग्वेद के अनेक शब्दों से यायावरी के संकेत मिलते हैं जिनमें से एक 'चर्षणी' है।

5. दानस्तुतियों में गाय का उल्लेख तो आया है, पर कहीं अन्नदान का नहीं।

6. युद्ध के अनेक पर्याय ऐसे हैं जिनके पूर्वपद के रूप में 'गो' शब्द आया है, इससे प्रकट है कि युद्ध अकसर पशुओं को लेकर होते थे।

7. बँटवारे या हिस्सा लगाने की बात बार-बार आती है। इससे प्रकट होता है कि लूट का माल लुटेरों में बराबर बाँट लिया जाता था और कृषि का उत्पादन भी सामूहिक आधार पर होता था जिसमें से लोगों का हिस्सा बाँटा जाता था।

ऐतिहासिक विवेचन के लिए भाषिक आँकड़ों का उपयोग करते हुए अधिकारी भाषाविदों से भी चूक हुई है। कारण यह है कि भाषा में परिवर्तन ठीक उसी तरह नहीं होता जैसे आर्थिक आधार और सामाजिक सम्बन्धों में। इस दृष्टि से भाषा आधार और अधिविन्यास दोनों की सीमाओं का अतिक्रमण करती है। प्राचीन सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों के दबाव में निर्मित अभिव्यक्तियाँ इन सम्बन्धों के बदल जाने के बाद भी भाषा में जीवित रहती हैं। दमड़ी, छदाम और कौड़ी का चलन समाप्त हो जाने के बाद भी दमड़ी, छदाम और फूटी कौड़ी पास न होने के मुहावरे चलते रहते हैं। जिन लोगों की प्रधान सम्पत्ति कभी उनकी पशु सम्पदा ही थी वे हज़ारों वर्षों तक सिक्के का प्रयोग करते रहने के बाद भी जब बिलकुल धन-दौलत की बात कर रहे हों तो 'गो-धन गज-धन वाजि-धन और रतन-धन खान' की बात तो करते हैं पर अनाज और सिक्के का नाम भी नहीं लेते। परिष्कृत मानों के

विकास के बाद भी ग्रेन, ग्राम, मासा, रत्ती, क्यूबिट, फर्लांग (फर्रो लांग), फूल्स-कैप, जैसे प्रयोग चलते रहते हैं। इसके आधार पर युग की तसवीर बनाने चलें तो पता चलेगा कि सम्बन्धित समाज अभी पशुचारी और आदिम कृषि की अवस्था से उबर ही नहीं पाया है। पर सांस्कृतिक स्तर का निर्धारण करने के लिए विशिष्ट प्रकृति की कृतियों से धनात्मक और ऋणात्मक प्रमाण जुटाते समय उचित साव-धानी नहीं बरती गयी है।

पशुचारी संस्कृति के समर्थन में विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये जाने वाले जिन तर्कों का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं उनकी तफ़सील में जाने पर हम पाते हैं कि वैदिक साहित्य जिस वर्ग को सम्बोधित है उसकी रुचि कृषि में तो कम थी ही, पशुपालन में उसकी दिलचस्पी कृषि से भी कम थी। यह बात कुछ विस्मय में डालने वाली हो सकती है कि ऋग्वेद में कृषि-प्रचालनों के उल्लेख जिस तन्मयता के साथ आये हैं उस तन्मयता से गोचारण का एक भी उल्लेख नहीं आया है। इतना ही नहीं अपितु गोचारण के उल्लेख कृषि की तुलना में संख्या में भी कम हैं। इसके विपरीत उद्योग और शिल्प के उल्लेख कृषि की अपेक्षा अधिक प्रचुरता से आते हैं और वाणिज्य के उससे भी अधिक प्रचुरता से। रागात्मकता का पुट भी ठीक इसी अनुपात में है।

जब हम ऋग्वेद को पुराने और नये मण्डलों में बाँट कर यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि पुराने मण्डलों के रचनाकाल में आर्थिक आधार नये मण्डलों से भिन्न था तो सामान्यतः हम इस बात का ध्यान नहीं रखते कि इनके बीच समय का जितना छोटा अन्तराल रखा गया है उतने छोटे अन्तराल में पुरानी अर्थ-व्यवस्थाएँ बदल नहीं जाया करती थीं। और यदि अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन के लिए अपेक्षित अन्तराल की छूट देते हुए यह दावा किया जाये तो नये और पुराने मण्डलों के बीच हज़ारों वर्ष का अन्तराल आ जायेगा जो अपने तईं ही एक मुसीबत पैदा कर देगा।

डॉ. शर्मा के अनुसार ऋग्वेद में 'गो' शब्द का विविध रूपों और विकारों सहित 176 बार प्रयोग हुआ है, यद्यपि उन्होंने प्रत्येक मामले में यह निश्चित करने का प्रयत्न नहीं किया है कि यह प्रयोग किन अर्थों में हुआ है। 'गो' शब्द की तुलना कृषि के उल्लेखों से करना भी उचित नहीं है। यदि गोचारण की तुलना कृषि-प्रचालन से की जाये तो ऐसा करना सर्वथा उचित होगा, पर यदि 'गो' शब्द को लिया जाये तो इसकी तुलना कृषि के साधन वृषभ से की जानी चाहिए। आँकड़ा सांख्यिकीय आधार पर भी त्रुटिपूर्ण है। ऋग्वेद में 'गो' शब्द का विभिन्न रूप-विकारों में उससे कहीं बहुत अधिक बार प्रयोग हुआ है जितना सुझाया गया है।[7] पर रोचक बात यह है कि 'गो' शब्द बहुत कम स्थलों पर गाय का सूचक है।[8] इसका प्रयोग पशुमात्र, गाय या बैल, गमनशील, भूमि, वाणी, जल, इन्द्रिय, किरण,

धन, गो-उत्पाद—चमड़े आदि से बनी वस्तु, बैल पर लदे सामान आदि विविध अर्थों में हुआ है। अन्य अर्थों को छोड़ भी दें, यदि केवल इस बात का ही अनिश्चय बना रहता है कि किसी स्थल पर इसका अर्थ गाय है या बैल तो भी स्थिति अनिर्णायक हो जाती है। कारण, एक जहाँ पशुचारण की प्रधानता को प्रकट करेगा वहाँ दूसरा कृषि की प्रधानता को। और यदि यह प्रयोग माल-वहन के लिए प्रयुक्त बैलों और गाड़ियों के लिए भी हुआ हो तो यह वाणिज्यिक गतिविधियों से सम्बन्ध रखेगा।

गोमान और धनवान के समीकरण पर और 'गो' शब्द के धनवाची माने जाने के विषय में हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इस बात पर बल देना ही पर्याप्त होगा कि धनी के लिए 'गोमत्' शब्द का प्रयोग बहुत कम बार ही हुआ है। धन के अन्य पर्यायों और धनी के लिए उनसे बने शब्दों को तुलना के लिए लें और नये तथा पुराने मण्डलों में इनकी आवर्तिता पर विचार करें तो दूसरी श्रेणी में आने वाले शब्दों की आवर्तिता बहुत अधिक पड़ेगी।

ऋग्वेद में 'कृष्टी' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में आया है, सामान्य प्रजा और किसान। दूसरे शब्दों में कहें तो सामान्य प्रजा के लिए किसान शब्द का प्रयोग स्वतः इस बात का सूचक है कि खेती का आधार बहुत व्यापक था। किसान का अर्थ ही था जनता। 'कृष्टी' शब्द का 'शत्रु जन' के अर्थ में यदि में कहीं प्रयोग हुआ है तो वह हमारी नजर में नहीं आया। डा. शर्मा ने ऋ. 6.21.2 का हवाला दिया है। पर उसमें 'कृष्टी' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। यहाँ छापे की भूल हो गयी लगती है। इस तरह का अर्थ सायण ने ऋग्वेद 7.19.1 में किया है। पर सायण की व्याख्याओं की अपनी सीमाएँ हैं। इस ऋचा से केवल यह प्रकट होता है कि भूस्वामियों और भूश्रमिकों के आपसी सम्बन्ध तनावपूर्ण थे, या वसूली की दर क्षोभकर थी और प्रायः किसान कर देने में हीला-हवाला करते थे। यह तथ्य भी इस प्रस्तावना के अनुरूप ही है कि इस काल में भूमि पर जिनका स्वामित्व था वे उत्पादन कार्य में प्रत्यक्ष भाग न लेते हुए भी इसका अधिकतम लाभ स्वयं अर्जित कर रहे थे। ऋ. 8.18.3 में 'कृष्टी' का अर्थ सायण ने 'पुत्रदासादीन' किया है और इस ओर भी शर्मा जी ने ध्यान दिलाया है, पर यह भी इसी बात की पुष्टि करता है कि भूस्वामित्व किन्हीं और के पास था और श्रमकार्य के लिए आश्रितों और दासों का प्रयोग किया जा रहा था।

ऋग्वेद में जिस यायावरी के संकेत मिलते हैं वह पूरे समाज की यायावरी नहीं अपितु इसके एक विशेष वर्ग की और एक विशेष प्रयोजन से, एक निश्चित ठिकाने से किन्हीं अनिश्चित या अर्धनिश्चित ठिकानों तक आवाजाही है जिस पर हम व्यापार और वाणिज्य के सन्दर्भ में विचार करेंगे।

दानस्तुतियों में यदि अन्न के स्पष्ट उल्लेख नहीं आते तो जिन वस्तुओं के

उल्लेख आते हैं, जैसे उत्कृष्ट भोजन, वाहन—घोड़ा, ऊँट, रथ, बैलगाड़ी—वस्त्र, आभूषण आदि, वे चारणजीवी अवस्था से कितना मेल खाते हैं ? यदि केवल दान-स्तुतियों में अनाजों का या अन्न-दान का उल्लेख नहीं आया तो इसकी पूर्ति सुन्दर भोजन से हो जाती है जो ही सन्दर्भों को देखते हुए उचित भी है, पर सोचना तो यह चाहिए कि पूरे ऋग्वेद में 'दुग्ध' शब्द का प्रयोग एक बार भी क्यों नहीं हुआ है ? इसकी तह में जाने पर अन्नदान के अभाव की शिकायत दूर हो जायेगी। इसके अतिरिक्त यदि दान लूट के माल का वितरण है तो अन्य वस्तुएँ लूटते हुए अनाज की लूट क्यों नहीं की जाती थी ? वस्त्र, आभूषण, स्वर्ण, रथ आदि चरवाहों से तो नहीं ही लूटे जाते रहे होंगे।

गविष्टि, गवेषण आदि शब्द युद्ध के अर्थ में रूढ़ हो चुके हैं। इसका कारण क्या है, इस पर हम कुछ संकेत कर आये हैं। इसकी विस्तार से चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ केवल यह याद दिलाना पर्याप्त होगा कि जहाँ भी 'गायों' की या माल की चोरी का उल्लेख स्पष्ट है, चोरी करने वाले वैदिक आर्यों के शत्रु सिद्ध होते हैं और खोज करने वाले स्वयं वैदिक जन हैं। बँटवारे के जो उल्लेख हैं उनकी तफ़सील में हम अगले अध्याय में जायेंगे। यहाँ केवल इतना ही कि बँटवारा बराबरी का नहीं होता था, अपितु अपने-अपने हिस्से के अनुसार होता था। बँटवारे के सन्दर्भ में विभक्ता—विशेष भाग देने वाला, विभाग—विशेष भाग, देव भाग या धर्म का हिस्सा आदि प्रयोग तो आते हैं पर संभक्ता या संभाग – बराबर बाँटने वाला, बराबर का हिस्सा प्रयोग में नहीं आता। अल्प और अधिक भागों के उल्लेख आते हैं।[10] दूसरों को अधिक लाभ देने और स्तोता को कम देने की शिकायत आती है।[11] व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत भूमि के उल्लेख आते हैं।[12] अतः साझे की खेती और साझे की सम्पत्ति के दिन वैदिक समाज के अतीत के गर्भ में जा चुके हैं। विभाग और वितरण की परिस्थितियाँ क्या हैं, इस पहलू पर भी हम आगे चर्चा करेंगे।

इस तरह हम पाते हैं कि बर्बरता की जो तसवीर ईसाई धर्मप्रचारकों और मिल से बाद के पाश्चात्य प्राच्यविदों और इतिहासकारों द्वारा गढ़ कर तैयार की गयी थी और जिसे आधुनिक इतिहासकारों ने भी बिना जाँच-पड़ताल के स्वीकार कर लिया है, वह दोषपूर्ण है। इसको आप्त बनाने के लिए हमें हर कदम पर तोड़-मरोड़ से काम लेना पड़ता है और इस तोड़-मरोड़ के बाद भी जो दलील तैयार की जाती है वह लँगड़ी होती है। यह कुछ दूर तक तो हमारा साथ देती है, पर नये तथ्यों का सामना होने के बाद अपने आप लुढ़क जाती है। अतः सारा विवेचन इकहरा और सतही रह जाता है और असुविधाजनक तथ्यों की ओर से आँख मूँद ली जाती है। इन सारी कोशिशों के बावजूद विरोधाभास ज्यों-के-त्यों बने रह जाते हैं।

अब इन सतही आक्षेपों के खारिज हो जाने के बाद हम कुछ अधिक आश्वस्त होकर ऋग्वैदिक अर्थ-व्यवस्था पर विचार कर सकते हैं।

किसी उन्नत अर्थ-व्यवस्था के चार आधार होते हैं : पशुधन, कृषि उत्पाद, उद्योग और वाणिज्य। हड़प्पा के अवशेषों से और वैदिक साहित्य से इन चारों का विकास अपने युग को देखते हुए किसी अन्य सभ्यता से आगे बढ़ा हुआ दिखायी देता है। हम इस अध्याय में पहले तीन पक्षों पर विचार करेंगे और चौथे पक्ष पर कुछ विस्तार से अगले अध्याय में विचार किया जायेगा।

2

पशुपालन

हड़प्पा के अवशेषों से जिन पशुओं के अस्थि-अवशेष और इसकी मुहरों पर जिनके अंकन मिले हैं उनमें ककुद्मान वृषभ, भैंस, भेड़, बकरी, हाथी, गधा, घोड़ा, ऊँट, सूअर और मुर्ग तथा बत्तख आते हैं। यद्यपि घोड़े से हड़प्पावासियों के परिचय को एक लम्बे समय तक विवादास्पद माना जाता रहा, पर उन दिनों भी उत्खननकर्ताओं का विचार था कि वे टट्टू की नस्ल वाले घोड़ों का उपयोग करते थे। कुत्ते, बिल्ली, बन्दर, खरगोश, कबूतर, तोता और अन्य पक्षी भी उनके पालतू या अर्ध-पालतू पशुओं-पक्षियों में आते थे। जंगली जानवरों में गवल (घड़रोज,नीलगाय), गैंडा, शेर, भालू, साँभर, चित्रमृग, कृष्णमृग आदि से वे परिचित दिखायी देते हैं और इन सबको ध्यान में रखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि उनके पड़ोस में कुछ जंगल भी रहे हो सकते हैं जो आज सिन्धु की उपत्यका में नहीं पाये जाते।[13]

हड़प्पा के पशुधन को बाद के किसी भी काल की तुलना में कम समृद्ध नहीं पाया जाता और इसके कुछ लोग पूरी तरह पशुपालन पर ही लगे हुए थे। कुछ लोगों का विचार है कि काठियावाड़ और गुजरात की ओर हड़प्पा सभ्यता का आरम्भिक प्रसार हड़प्पा के चरवाहों के कारण ही हुआ हो सकता है।[14]

जहाँ तक ऋग्वैदिक समाज का प्रश्न है, आरम्भ से ही इसके पशुपालक पक्ष पर बल दिया जाता रहा है। यद्यपि पशुधन की दृष्टि से इस काल की समृद्धि के विषय में किसी प्रकार के सन्देह का प्रश्न नहीं उठता, पर इस समृद्धि का रूप ठीक वही नहीं था जैसा अब तक माना जाता रहा है।

ऋग्वेद में गाय[15], भैंस[16], घोड़ा[17], हाथी[18], भेड़[19], बकरी[20], गधा[21], सूअर[22], कुत्ता[23], हंस[24], कबूतर[25], और तोता आदि पालतू, अर्ध-पालतू जानवरों का ज़िक्र आया है। बन्दर भी पाले जाते लगते हैं।[26] जंगली जानवरों में हाथी, हिरन, भेड़िया, सिंह, रीछ आदि की चर्चा आयी है। एक स्थल पर सिंह को पिजड़े में

बन्द दिखाया गया लगता है।[27] यदि हम हड़प्पा के अवशेषों की शत-प्रतिशत और तदनुरूप पुष्टि ऋग्वेद से चाहें तो कुछ ज्यादती होगी। ऋग्वेद पशु-सर्वेक्षण की कृति नहीं है, न ही हड़प्पा के अवशेष अपने समय की पशु-प्रदर्शनी के अवशेष। दोनों मामलों में सन्दर्भ और औचित्य को ध्यान में रखकर ही इनकी अभिन्नता को समझा जा सकता है।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि हड़प्पा के अवशेषों से जिन पशुओं की पुष्टि होती है उन्हें हम ऋग्वेद में भी पाते हैं। भेदक रूप में बकरी, घोड़े, हाथी और सिंह पर विचार किया जा सकता है। बकरी के विषय में यह कहा जाता रहा है कि आर्य इसे अपने साथ तुर्की से ले आये थे, पर भारत में बकरी वन्य रूप में पायी जाती रही है और इसलिए हड़प्पावासियों के लिए इससे अपरिचित रहने का प्रश्न नहीं आता। बकरी की ही तरह गाय के विषय में यह कहा जाता रहा है कि आर्य इसे बेबीलोनिया से ले आये थे, मानो हड़प्पा के साँड़ बिना गायों के ही पैदा होते रहे हों। घोड़े के विषय में प्रधान आपत्ति यह रही है कि इसका अंकन हड़प्पा की मुहरों पर नहीं हुआ है और इस बात को ध्यान में रखते हुए कि आर्यों के लिए घोड़ा महत्वपूर्ण पशु था, मुहरों पर इसका अभाव समस्या पैदा करता रहा है। पर जैसा कि हम देख आये हैं आर्य जिसे अश्व कहते थे वह मूलतः गधा था और इसी का प्रयोग आगे चल कर टट्टू के लिए और फिर व्यापारिक क्रम में स्तेपी के क्षेत्र से —सम्भवतः पहले गन्धार के माध्यम से—आनेवाले अच्छी नस्ल के घोड़ों के लिए इस शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ। अतः शौर्य और वीर्य के सन्दर्भ में ऋग्वेद में भी अश्व का नहीं, अपितु वृषभ का ही उल्लेख आता है। अश्व देवताओं का वाहन तो है पर कहीं किसी देवता की उपमा अश्व से नहीं दी गयी है, यद्यपि इन्द्र, अग्नि, सोम, बृहस्पति और रुद्र की तुलना वृषभ से की गयी है। ज़ाहिर है, जिस अश्व से वैदिक जन मूलतः परिचित थे वह ओजस्विता में साँड़ से घटकर था या कहें वह भारवाही टट्टू मात्र था। एक बार उपमा और सादृश्य रूढ़ बन जाने के बाद उन्नत नस्ल के घोड़ों से भी इन देवताओं की तुलना का प्रश्न नहीं उठता था और हड़प्पा की मुहरों पर वृषभ का अंकन देवताओं के प्रतीक रूप में ही हुआ लगता है, अतः घोड़े के अंकन का अभाव किसी प्रकार की समस्या नहीं पैदा करता। हाथी के सन्दर्भ में दो स्थलों पर इसके साथ 'मृग' शब्द का भी प्रयोग आया है, अतः यह कल्पना कर ली गयी कि यह वैदिक आर्यों के लिए एक अपरिचित पशु था और इसके सूँड़ को हाथ समझ कर वैदिक जनों ने इसके लिए 'मृग हस्ती' या 'हाथ वाला जानवर' शब्द प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। यद्यपि इस मत का समर्थन कुछ प्रख्यात भाषाविदों ने भी किया है, पर उनको हम पशुओं, प्राणियों और वस्तुओं के नामकरण के पीछे काम करने वाले तर्क की अवज्ञा करते पाते हैं।[28]

हाथी के लिए 'हस्ती' शब्द का प्रयोग सर्वथा संगत है। 'मृग' शब्द या कहें 'मृग

इव' जैसा प्रयोग अन्य अनेक पशुओं के साथ आया है।[29] हाथी के लिए 'हस्ती' के अतिरिक्त 'इभ'[30], 'वारण'[31] और 'शफारुज'[32] आदि अन्य प्रयोग भी आये हैं और वारण के साथ तो दान या मद का उल्लेख इस बात का आभास देने के लिए पर्याप्त था, कि वैदिक जन हाथी से बहुत अच्छी तरह परिचित थे, पर हाथी को आश्चर्यजनक पशु सिद्ध करने के उत्साह में इन पर्यायों पर ध्यान ही नहीं दिया गया, न ही ध्यान दिया गया हाथी को अनुशासित रखने के लिए प्रयुक्त अंकुसी[33] की ओर। अत: हाथी का वैदिक कवियों को विचित्र पशु प्रतीत होना एक मनोरंजक उद्भावना मात्र है जिसका वास्तविकता से कोई ताल-मेल नहीं।

हड़प्पा की मुहरों पर बाघ या व्याघ्र का चित्रण पाया जाता है; ऋग्वेद में व्याघ्र शब्द एक बार भी प्रयोग में नहीं आया है जब कि सिंह शब्द का ही भयंकरता आदि के मामलों में बार-बार प्रयोग आया है। जब तक हड़प्पा के अवशेषों का पता नहीं चला था तब तक इसका उपयोग इस रूप में किया जाता था कि आरम्भ में वैदिक जन भारत के पश्चिमोत्तर में ही बसे हुए थे जहाँ सिंह तो मिलते थे पर शेर या व्याघ्र नहीं। व्याघ्र शब्द चूँकि पहली बार अथर्ववेद में प्रयुक्त हुआ है, अत: "अथर्ववेद की रचना उस काल में हुई थी, जब वैदिक भारतीय बंगाल तक पहुँचकर बस गये थे।"[34] अर्थात् इससे पहले बाघ से परिचय का प्रश्न ही नहीं उठता था। क्या अब इस तरह का तर्क दिया जा सकता है कि हड़प्पा सभ्यता का प्रसार बंगाल तक था ? मामला किंचित् भिन्न व्याख्या की माँग करता है। बाघ हड़प्पा क्षेत्र में भी पाये जाते थे और इसी क्षेत्र में बसे वैदिक जन समान परिवेश में रहने वाले हाथी आदि अन्य वन्य पशुओं की तरह इससे भी अपरिचित नहीं रह सकते थे। फिर इस बात का क्या कारण हो सकता है कि ऋग्वेद में सिंह शब्द का ही प्रयोग हुआ है और हड़प्पा की मुहरों पर बाघ का ही अंकन है ? इसका कारण वैदिक शब्दावली में ढूँढ़ना उचित होगा जिसमें गधे तक के लिए वही अश्व शब्द प्रयोग में आता था, या आ सकता था, जो घोड़े के लिए। यव और धान्य समस्त अन्नों के लिए प्रयोग में आ रहे थे और गो शब्द, अन्य बातों के अलावा, गाय और बैल दोनों के लिए। क्या यह सम्भव नहीं है कि सिंह शब्द जिसका शाब्दिक अर्थ 'हिंसा करने वाला' या 'हिंस्र' है, सिंह और व्याघ्र दोनों के लिए प्रयोग में आता रहा हो ? इसका एक कारण यह भी है कि सिंह के केसर या अयाल का कहीं उल्लेख नहीं आया है। इस सम्भावना की ओर दृष्टि जाने पर हम निरुक्त से भी इसकी पुष्टि होते पाते हैं, जिसके अनुसार सम्मान भाव प्रकट करने के लिए व्याघ्र को ही सिंह कहते हैं।[35]

इस तरह हम पाते हैं कि पशु-जगत के विषय में अपने ज्ञान और पशु-पालन तथा पशु-धन के मामले में हड़प्पा सभ्यता ठीक वैदिक सभ्यता ही प्रमाणित होती है और वैदिक साहित्य में पशुओं के जिन उल्लेखों के आधार पर यह साबित किया

जाता रहा है कि ये मुख्यतः पशुचारी थे, उन पर गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि ऋग्वेद में पशुओं के उल्लेख जिन रूपों में आये हैं उनसे एक भिन्न तसवीर उभरती है। यह है पशुओं में एक ऐसे वर्ग की रुचि का ही उल्लेख, जिसके लिए इनका विशेष महत्व इनकी श्रमशक्ति और भारवहन, क्षमता थी जिसका सम्बन्ध मुख्य रूप से वाणिज्यिक प्रचलनों से है।

3
कृषि

पशुपालन की तुलना में ऋग्वैदिक कृषि की स्थिति अधिक विवादास्पद रही है, पर जैसा कि हम पीछे देख आये हैं इसका कारण सतही विवेचन रहा है। रोचक बात यह है कि कुछ विद्वानों को हड़प्पा सभ्यता का भी कृषि-आधार पर्याप्त सुदृढ़ नहीं दिखायी देता। उदाहरण के लिए डी. पी. अग्रवाल आदि को चूँकि हड़प्पा क्षेत्र में नहरों का उस तरह का जाल नहीं दिखायी देता जैसा पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं में दिखायी देता है, अतः उन्हें लगता है कि यहाँ नदियों के कछारों में ही थोड़ी-बहुत खेती होती रही होगी।[36] पश्चिमी एशिया की तुलना में तो हड़प्पा-वासी निश्चय ही कृषि के मामले में पिछड़े रहे होंगे।

जब हम दो भिन्न क्षेत्रों की तुलना इनकी भौतिक परिस्थितियों को सामने रखते हुए नहीं करते हैं और आधार को भी एकांगी बना देते हैं तो इस तरह के भ्रम अकसर पैदा हो जाते हैं। डॉ. अग्रवाल ने एक ओर तो एक बहुत महत्वपूर्ण पहलू की ओर संकेत किया है कि कृषि का मूल्यांकन करते समय सिंचाई की व्यवस्था पर ग़ौर किया जाना चाहिए, दूसरी ओर वह उस विशेष व्यवस्था को नज़रअन्दाज़ कर गये हैं जिस पर भारतीय कृषि विगत पाँच हज़ार वर्षों से या सम्भवतः इससे भी पहले से निर्भर करती रही है।

वह हड़प्पा सभ्यता के विशाल अन्नागारों की भी उपेक्षा कर गये हैं जिनकी तुलना भी पश्चिमी एशिया से ज़रूरी थी। हम हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो में सुव्यवस्थित ओर कोटरबन्द अन्नागार पाते हैं जिनके फ़र्श का क्षेत्र ही लगभग 9000 वर्गफुट है और जिनसे अन्न के भारी भंडार का पता चलता है। पश्चिमी एशिया के नगरों से कहीं से अन्नागारों का प्रमाण नहीं मिला है, पर जो लिखित विवरण मिलते हैं वे इन दोनों के अन्न-भण्डारों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। उदाहरण के लिए, ऊर के एक लेख में एक अन्नागार में 4020 दिनों की मज़दूरी संचित करने का उल्लेख है, दूसरे में 10,930 मानव दिवसों की मज़दूरी संचित रखने की ज़िम्मेवारी कोषपाल को दी गयी है, जो तीस मज़दूरों

की पूरे साल की मजदूरी हुई। एक अन्य विवरण में पाँच अन्नागारों का ज़िक्र है जिनमें से प्रत्येक में दो टन अनाज अर्थात् कुल दस टन अनाज के भण्डार का उल्लेख है।[37] दोनों सभ्यताओं के अन्न-भण्डारों का यह अन्तर हमें ठीक उल्टे नतीजे की ओर ले जाता है और हड़प्पा कृषि के मामले में पश्चिम एशिया की तुलना में कहीं बहुत आगे बढ़ी सभ्यता दिखायी देती है। इनमें से प्रत्येक की तुलना यदि हड़प्पा सभ्यता के प्रसार-क्षेत्र से करें और इनके नगरों और गाँवों की आबादी को सामने रखें और इनके श्रमिकों के तुलनात्मक जीवन-स्तर पर ध्यान दें तो इससे भी दोनों की समृद्धि में यही अन्तर दिखायी देगा। यह भी याद रखना होगा कि कालीबंगां में हड़प्पा-पूर्व स्तर से हलाई के निशान मिले हैं जो हल के उपयोग के प्राचीनतम प्रमाण हैं[38] और वैदिक युग में हलों का बड़े पैमाने पर प्रयोग हो रहा था।

नहरों के अस्तित्व या नहरों के अभाव के पक्ष पर विचार करते समय हमें नहरों के भारतीय इतिहास पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। भारत अकेला ऐसा देश भी नहीं है जहाँ नहरों का जाल नहीं था और जो इसके बावजूद कृषि के मामले में पर्याप्त समृद्ध रहा है। नहरों का निर्माण दजला-फरात की उपत्यका की संस्कृतियों की प्राथमिक आवश्यकता थी। पश्चिमी एशिया में दजला और फरात के ग्रहण-क्षेत्रों की बर्फ़ पिघलने से बाढ़ आती है। जिन दिनों नदियाँ उफन रही होती हैं उन दिनों आस-पास का क्षेत्र झुलस रहा होता है। यदि नदी का जल-स्तर ऊपर हो और उन्हीं दिनों इसके पार्श्ववर्ती क्षेत्रों में पानी की भारी ज़रूरत हो तो नदी से नाले-नालियाँ और फिर इस अनुभव से लाभान्वित होकर बड़ी नहरें निकाल लेना बहुत आसान है। साथ ही यदि भूगर्भीय जल दुर्लभ हो तो इसके अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प भी नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में उस काल में भी पीने आदि के लिए पानी प्राप्त करने के लिए कोई युक्ति निकालना एक विवशता हो जाती है जब नदियों का जल-स्तर नीचे चला जाता हो। पश्चिमी एशिया को ऐसा ही करना पड़ा।[39]

इसके विपरीत भारत में बाढ़ उन दिनों आती है जब पूरे देश में वर्षा हो रही होती है। समस्या नदियों की बाढ़ को अपने खेतों में पहुँचाने की नहीं, अपितु प्रायः खेतों में जमा पानी से राहत पाने की या अधिक-से-अधिक उसे रोककर रखने की रहती है। जिन दिनों पानी की आवश्यकता होती है उन दिनों बड़ी नदियों का पानी अपनी पेटी में उतर चुका रहता है। अतः छोटी धाराओं का उपयोग सिंचाई के लिए तो हो सकता है, पर बड़ी नदियों का नहीं और इन छोटी धाराओं से भी पानी काट कर खेतों में नहीं लाया जा सकता; कारण, उनका भी जलस्तर नीचे ही रहता है। दूसरी ओर भारत में भूगर्भीय जल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध रहा है, अतः वर्षात के मौसम में वर्षा पर और रबी की फ़सल के लिए सिंचाई के अन्य साधनों पर निर्भर करना पड़ता था। उस प्राचीन काल में न तो बराजों का विकास

हो सका था, न ही उतने बड़े पैमाने के निर्माण-कार्य सम्भव थे, जो भारत में नहरों के विकास के लिए ज़रूरी थे, अतः जब प्राचीन कालों में राजाओं आदि की ओर से भी सिंचाई और जलभण्डारण के कार्य हाथ में लिये गये तो विशाल तालाबों या 'सागरों' का ही निर्माण हुआ, नहरों का नहीं। अतः नहरों के अस्तित्व और अभाव के आधार पर कृषि के प्रसार का मूल्यांकन उचित नहीं है। बल्कि कहा यह जा सकता है कि चूँकि भारत में सूखे के दुर्दिनों को छोड़ कर, व्यापक वर्षा होती है अतः यहाँ कृषि केवल उस सीमित अंचल तक ही सम्भव नहीं थी जिस तक नहरों का जाल पहुँच सका हो,अपितु पूरे देश में सम्भव थी और चूँकि समूचे उत्तरी भारत में भूगर्भीय जल प्रचुर मात्रा में पाया जाता है अतः यहाँ, कुछ आयासकर ही सही, सिंचाई के साधन उपलब्ध थे और इसलिए पश्चिमी एशिया की तुलना में यहाँ अधिक बड़े पैमाने पर खेती होती थी, यही तथ्य के अनुरूप भी है।

पर डॉ. अग्रवाल ने जिस पक्ष की ओर संकेत किया है उसका हमारे लिए बहुत महत्व है और वह यह कि खेती की व्यापकता का सही निर्धारण अनाजों के उल्लेख की तुलना में सिंचाई के साधनों या फ़सलों को जल सुलभ कराने की चिन्ता के द्वारा मापा जाना चाहिए। ऋग्वेद के पुराने मण्डलों से लेकर ऐतिहासिक कालों तक यथा-समय वर्षा की चिन्ता दिखायी देती है। अग्नि या इसके माध्यम से किये जाने वाले यज्ञ का सबसे प्रधान लक्ष्य यही बताया जाता है कि इससे वृष्टि होती है और वृष्टि से ही खेती-बारी सम्भव होती है। अग्नि के बाद ऋग्वेद के दूसरे सबसे प्रधान देवता इन्द्र हैं और इनका भी दैवी महत्व वर्षा कराने की इनकी क्षमता में निहित है। तीसरे स्थान पर सोम को महत्व दिया गया है और यदि नवें मण्डल को नया मान कर छोड़ भी दें तो पुराने मण्डलों में भी सोम का जहाँ दैवीकरण किया गया है, वहाँ उन्हें जल का ही प्रतीक माना गया है। नदी जल को, मेघ जल को तथा द्युलोकीय जल को सोम के रूप में कल्पित किया गया है। मरुद्गण जो बादलों को उड़ा कर लाते हैं और उन्हें झकझोर कर वर्षा कराते हैं उनके प्रधान देवों में एक हैं और इनके अतिरिक्त पर्जन्य अलग भी देवता हैं। इन्द्र और वृत्र की सारी लीला कुछ अध्येताओं द्वारा वर्षा के दृश्य का रूपकीय चित्रण मानी ही जाती है। इसके लिए एक उत्कट चाव ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों में ही नहीं उस प्राचीन परम्परा में भी, जिसके आधार पर ऋग्वेद की रचना हुई थी, प्रतिबिम्बित पाया जा सकता है। वर्षा के विषय में यह चिन्ता किसानों की चिन्ता है। इस तरह की ललक पशुचारी कबीलों में नहीं पायी जा सकती। कारण, एक तो घास-दूब और काँस आदि की जड़ें तीन-चार फुट तक गहरी होती हैं, अतः यदि वर्षा में कुछ विलम्ब भी हो जाये तो यह सूखती नहीं; दूसरे, सूखे आदि के दौर में ये यायावर लोग प्रभावित क्षेत्र को छोड़ कर दूर चले जाते हैं। इसके विपरीत धान्यों की जड़ें मुश्किल से चार-पाँच इंच गहरी होती हैं,

अतः यदि थोड़े समय का भी अन्तराल पड़ जाये और इन्हें किसी युक्ति से पानी न मिल सके तो पूरी फ़सल बर्बाद हो जाती है। अतः कृषि के व्यापक प्रसार को मापने का एक आधार है यज्ञों का, विशेषतः जल के लिए किये जाने वाले यज्ञों का विधान तथा इन्द्र, अग्नि, मरुद्गण, आदि का प्राधान्य। यदि नये और पुराने मण्डलों पर इस दृष्टि से ध्यान दें तो दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलेगा।

वैदिक काल में कृषि किस पैमाने पर हो रही थी, इसका निर्णय इस बात से नहीं किया जा सकता कि कृषि के उल्लेख कितनी बार आये हैं। कारण, ऋग्वेद किसानों का या उनके लिए रचा गया साहित्य नहीं है। इसके लिए उन युक्तियों पर ध्यान देना होगा जिनका विकास इस समय तक कर लिया गया था और जिनका सम्बन्ध कृषि-कार्य से है।

खेतों की जुताई के लिए वैदिक काल में हल का प्रयोग किया जाता था और हल को खींचने के लिए बैलों का उपयोग किया जाता था। हल के लिए ऋग्वेद में लांगल[40], सीर[41] और वृक[42] शब्दों का प्रयोग हुआ है। हल के सन्दर्भ में वरत्र[43] या पगहा, अष्ट्रा[44] या पैना, फाल[45], युग[46] या जुआठ तथा सीता[47] या हलाई के उल्लेख आये हैं। हलवाहे के लिए कीनाश[48] शब्द का प्रयोग हुआ है। भूस्वामी के लिए क्षेत्रपति[49] प्रयोग हुआ है। अनस और वृषभ के बीच फ़र्क़ से प्रकट है कि बैलों को बधिया करने का चलन था।[50] क्षेत्रपति और कीनाश की भिन्नता से प्रकट है कि भूस्वामित्व जिनके हाथ में था वे स्वयं उत्पादन-कार्य में हिस्सा न ले, इसके लिए भूदासों के श्रम का ही उपयोग करते थे। हलाई के लिए योनि[51] शब्द का प्रयोग किया गया है जो सादृश्यपरक भी हो सकता है। एक अन्य प्रसंग में अधिगर्त[52] शब्द का प्रयोग सोम या गन्ने की बोआई के लिए विशेष रूप से बनायी गयी नालियों के लिए हुआ लगता है। बीज बोते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि बीज हलाई में ही पड़ें।[53] अक्षित बीज[54] से ऐसा लगता है कि इस बात का ध्यान रखा जाता था कि बीज अच्छी किस्म का हो, इसे कीड़े आदि न खा गये हों। उर्वरा शब्द का प्रयोग कृषि-योग्य भूमि के लिए ही हुआ है, परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए खाद का प्रयोग किया जाता था या नहीं।

फ़सलों की सिंचाई के लिए वैदिक किसानों को मुख्यतः वर्षा के जल पर निर्भर करना होता था। अतः इन्द्र से वर्षा के लिए बार-बार अनुरोध किये जाते हैं। परन्तु वर्षा पर निर्भरता का प्रश्न ख़रीफ़ की फ़सल के सम्बन्ध में ही अधिक सार्थकता रखता है। रबी की फ़सल के लिए अन्य स्रोतों का सहारा लेना ज़रूरी था। ऋग्वेद में अकेले कुँए के तेरह पर्याय—कूप[55], कर्त[56], वव्र[57], काट[58], खात[59], अवत[60], क्रिवि[61], सूद[62], उत्स[63], कारोतरात[64], कुशय[65], ऋश्यदात[66] और केवट[67] आये हैं। निघण्टुकार ने एक अन्य वैदिक प्रयोग कातु का भी उल्लेख किया

है।[68]

यह कहना कठिन है कि इन विभिन्न शब्दों का प्रयोग किस तरह के कुओं के लिए होता था। मुमकिन है कि कुछ कुएँ न होकर मामूली गड्ढे ही रहे हों जैसा कि काट, खात, अवत और ऋश्यदात से प्रकट होता है और इनमें से कुछ का सम्बन्ध धाराओं से पानी निकालने के लिए इनके कगार से सट कर खोदे गये गड्डों से या तालाब से पानी उलीचने के लिए प्रयुक्त विशेष युक्तियों से रहा हो जिनका चलन आज तक देखा जाता है। हड़प्पा काल के कुछ कुँए इतने पतले हैं कि इनमें आसानी से बर्तन डाल कर पानी नहीं निकाला जा सकता। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि इतने पतले कुँए बनाने का तरीका इसलिए अपनाया गया था कि पानी निकास-मार्ग के सँकरेपन के कारण स्वत: ऊपर आ कर बहने लगे। इसमें कहाँ तक सच्चाई है, कहना कठिन है। ऋग्वेद में उद्रिण[69] शब्द का प्रयोग आया है। सम्भव है, वह इस प्रकार के कुओं के लिए या पानी के स्रोतों के लिए प्रयोग में आया हो।

ऋग्वेद में 'स्रुत्य'—पतली जल-धारा या नालों आदि के पानी, 'पथ्य'—पतली नालियों के पानी, 'काट्य'—पोखरों, तालाबों और नदियों से क्रमिक उत्तोलन द्वारा ऊँचे क्षेत्रों के लिए उठाये जाने वाले पानी, 'नीप्य'—झरनों के या नीचे की ओर बहते हुए पानी, 'कुल्या' के या कृत्रिम नालों के पानी, 'सरसी' या तालाबों के पानी, नदी के पानी, पोखर के पानी, कुँए के पानी, गड्ढे के पानी, निर्मल तड़ाग के पानी, गर्मी के मौसम में सुलभ पानी, मेघ से वर्षा-काल में और वर्षा-काल के बाद यदा-कदा वृष्टि से प्राप्त पानी का उल्लेख है जिसमें आज तक के सिंचाई के समस्त साधन आ जाते हैं।[70] इससे यह भ्रम भी दूर हो जाता है कि वे नहरें बनाना जानते ही नहीं थे। निरापद स्थितियों में वे कुल्या या मामूली किस्म के नाले[71] बनाया करते थे और आज भी बनाते हैं। भौतिक सीमाओं को ध्यान में रखते हुए बड़े पैमाने पर नहरें नहीं निकाली जा सकती थीं।

सिंचाई के सन्दर्भ में कूचक्र[72] या ढेकुल और पक्के कुओं अश्मचक्र[73] और जगत-बँधे अंसत्रकोश[74] का संकेत मिलता है। 'द्रोण आहाव' का आशय पानी उलीचने के लिए प्रयोग में लायी जाने वाली बेड़ी या टोकरी अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसमें बाँस की बनी छिछली टोकरी से इस तरह रस्सियाँ बाँध दी जाती हैं जिनको दो ओर से सँभाला जा सके और पानी उलीचने वालों के एक या दो जोड़े एक साथ पानी को चार-पाँच फुट की ऊँचाई तक बड़े लयात्मक ढंग से उठाते हैं। काम आयासकर होता है, अत: पारियों में होता है और पारी समाप्त होने पर आवाज़ लगाते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में पारी को ओहार (वैदिक—आहाव?) कहते हैं और इसके लिए पारी समाप्त होने पर आवाज़ लगायी जाती है जिसे सुन कर आस-पास कहीं पेड़ आदि की छाया में आराम कर रहे या यदि

पहली ओहार हुई तो अब तक काम पर न आये हुए जोड़ीदार आ कर हाज़िर हो जाते हैं। समय की नाप करने के लिए घटीयंत्र का प्रयोग किया जाता है। यह एकमात्र सम्भावना है कि यहाँ आशय इस तरह की सिंचाई से ही हो, निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

अन्य अनेक इकहरी मान्यताओं की तरह यह भी मान लिया गया है कि चूंकि ऋग्वेद में अनाजों में से केवल यव का ही उल्लेख आया है, अत: वैदिक किसान केवल जौ ही पैदा करते थे।[75] यह धारणा ठीक नहीं है और भाषिक प्रयोगों को समझने में असावधानी को प्रकट करती है। यव का उल्लेख अन्न मात्र के लिए आया है, न कि यव के लिए। प्रार्थना में कहा जाता है 'ईश्वर, हमें हमारी रोज़ की रोटी दे।' गेहूँ और जौ आदि जिनका मुख्य आहार है वे खाने को रोटी और चावल खाने वाले सामान्य रूप से भात कहते हैं। इन प्रयोगों ये यह आशय निकालना कि ये रोटी या चावल छोड़ दूसरी कोई चीज़ नहीं खाते हैं, कुछ अविवेकपूर्ण होगा। व्यवहार में प्रधान वस्तु अपने पूरे वर्ग और उपवर्ग का प्रतीक बन जाती है। वास्तव में यव शब्द का प्रयोग जिन स्थलों पर हुआ है उन पर ध्यान दें तो भी इस विषय में भ्रम नहीं रह जायेगा कि यहाँ तात्पर्य पोषक या पुष्टि-दायक अन्न से है। अनाजों में मुख्य रूप से यव और धान्य का ज़िक्र आता है। पर इनका इस रूप में अर्थ लेना अधिक निरापद नहीं होगा कि यव रबी की समस्त फ़सलों का और धान्य ख़रीफ़ की समस्त फ़सलों का द्योतक हो कर आया है। वस्तुत: ये दोनों अभिन्न रूप में अन्न मात्र के काव्यरूढ़ प्रयोग हैं।

कुछ लोगों को खाद्यान्नों का यह मामला इतना महत्वपूर्ण लगता है कि हड़प्पा सभ्यता से वैदिक सभ्यता का फ़र्क़ करने के जिए वे इसे निर्णायक तत्व मान बैठते हैं। उदाहरण के लिए रोमिला थापर लिखती हैं कि वैदिक आर्य केवल जौ से परिचित थे। गेहूँ को तो वे म्लेच्छ भोजन मानते थे। धान से बिलकुल अपरिचित थे। इसके विपरीत हड़प्पावासियों के भोजन में ये सभी चीज़ें पायी जाती हैं।[76] आप्टे भी इस मत के समर्थक हैं कि वैदिक काल में चावल की खेती नहीं होती थी।[77] जैसा कि हम आगे, इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में, देखेंगे वैदिक जनों ने कृषि का आरम्भ श्यामाक और व्रीहि, अर्थात् ख़रीफ़ के अनाजों से ही किया था।

हम पहले देख आये हैं कि वैदिक जन ठीक उसी भूभाग में और निरपवाद रूप में उस समूचे भूभाग में बसे पाये जाते हैं जिसे हड़प्पा सभ्यता का क्षेत्र कहा जाता है। यदि तर्क के लिए आर्यों को हड़प्पावासियों से भिन्न मान कर भी चलें और यह भी मान लें कि वे मामूली स्तर की ही खेती करते थे, तो भी हड़प्पा के किसानों से वे उन विभिन्न खाद्यान्नों की खेती करना तो सीख ही सकते थे, जिन्हें वे किसान उपजाते थे। ग़नीमत यह है कि जिस तरह उन्हें हड़प्पा का विजेता बनाने के बावजूद यह सिद्ध कर दिया जाता रहा है कि वे नगरद्रोही थे

इसलिए सीधे देहातों में जाकर ढोर चराने और खेती करने लगे उसी तरह यह दलील नहीं दी गयी कि उन्हें हड़प्पा के किसानों से भी चिढ़ थी इसलिए उन्होंने सोच लिया था कि जिन अनाजों की खेती वे करते हैं उनकी खेती वे स्वयं नहीं करेंगे, यद्यपि रोमिला जी वाले 'म्लेच्छ भोजन' सिद्धान्त में इसकी एक क्षीण-सी छाया देखी जा सकती है।

रोमिला जी ने जिस सूचना के आधार पर यह नतीजा निकला है कि आर्यों के लिए गेहूँ म्लेच्छ भोजन था वह बारहवीं शताब्दी के एक ऐसे चावलभोजी क्षेत्र के विद्वान की एक पंक्ति पर आधारित है जहाँ आज भी यह माना जाता है कि गेहूँ की रोटी खाने से पेचिश हो जाती है। वास्तव में यह रचना कुछ और बाद की होनी चाहिए जब इस क्षेत्र के लोगों ने पहली बार तुर्कों के प्रवेश के समय पाया होगा कि वे चावल की अपेक्षा गेहूँ की रोटी अधिक पसन्द करते हैं और अपनी सूक्ति रच दी होगी। यदि वैदिक कालीन स्थिति को समझना है तो इस लेखक से कम-से-कम दो हजार वर्ष पहले रचे गये शतपथ ब्राह्मण पर दृष्टि डालनी होगी, जिसके अनुसार गेहूँ मनुष्य के सबसे निकट है, क्योंकि जैसे अनाजों में गेहूँ का छिलका सबसे पतला होता है वैसे ही मनुष्य की चमड़ी सभी जानवरों में पतली होती है। देवताओं ने गेहूँ से ही सारे भुवन को जीता था।[78] यजुर्वेद में भी गोधूम का अन्य अनेक अनाजों के साथ उल्लेख आया है।[79]

शतपथ ब्राह्मण में ही यव के अतिरिक्त व्रीहि या धान का भी उल्लेख स्पष्ट रूप से अनेक बार आया है। पहले यह माना जाता था कि पंजाब में रहने वाले आर्य चावल से परिचित हो ही नहीं सकते थे, अतः वे चावल की खेती वैदिक काल में कर ही नहीं सकते थे। अब हम जानते हैं कि हड़प्पा में चावल का भी उपभोग होता था।[80] ऋग्वेद पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि इसमें भी चावल का उल्लेख स्पष्ट रूप में आया है[81], पर एक बार नहीं का दौर शुरू हो गया तो आगे भी यह पाठ जारी रहा और इतिहासकारों ने उलट कर इसकी छानबीन नहीं की।

भारत में कृषि का इतिहास बहुत लम्बा है और इस पर कुछ विस्तार से हम इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में विचार करेंगे। यहाँ केवल उस समृद्धि पर दृष्टि डालना और कृषि तथा पशुधन के अतिरिक्त ऐसे संगत पहलुओं पर विचार करना ही प्रासंगिक होगा जिनका सीधा सम्बन्ध ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था से है। हमने कृषि के सन्दर्भ में जो संकेत ऋग्वेद से प्रस्तुत किये हैं उन्हें देखने पर यह नहीं लगता कि तत्कालीन खेती के लिए अपनायी गयी युक्तियाँ और बोयी जाने वाली फ़सलें तथा किसानी की व्यापकता परवर्ती कालों से बहुत अधिक भिन्न थी। उनकी सिंचाई के साधनों का सम्बन्ध केवल रबी की फ़सल से ही हो सकता था। ख़रीफ़ के लिए वे सदा की तरह वर्षा पर ही निर्भर थे। जिन लोगों को यह विश्वास था कि वे जौ के अतिरिक्त कुछ बोते ही नहीं थे उन्हें वर्षा के लिए की गयी उन याचनाओं की ओर

ध्यान देना चाहिए था जो वर्षा ऋतु से ही सम्बन्ध रख सकती हैं और वह भी अनावृष्टि के दौर में या मानसून आने में देर हो जाने की स्थिति में ही। कम-से-कम इस बात को ध्यान में रख कर ही ख़रीफ़ के कुछ अनाजों को उपजाने का श्रेय उन्हें दे ही देना था।

4

कार्य-विभाजन और शिल्प

हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से जिस उत्कृष्ट कोटि की कार्यदक्षता का पता चलता है वह अपने समकालीन जगत को देखते हुए अनेक दृष्टियो से आगे बढ़ी हुई प्रतीत होती है। इसकी विभिन्न निर्मितियों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है वह संयत और नितान्त उपयोगितावादी दृष्टि जिसमें अनावश्यक अलंकरण और अपव्यय की उपेक्षा दिखायी देती है। यह बात ऐहिक जीवन और मरणोत्तर संस्कार दोनों पर लागू होती है। उद्योगों की स्थिति यह है कि हड़प्पा सभ्यता के अनेक नगर मुख्य रूप से औद्योगिक नगर प्रतीत होते हैं।[82] दक्षता का वह स्तर जो हड़प्पा के विभिन्न उत्पादनों में दिखायी देता है, वह कार्य-विभाजन और लम्बे विशेषीकरण के अभाव में सम्भव नहीं था और इसलिए अनेक विद्वानों ने हड़प्पा में वर्ण-व्यवस्था और दास-वर्ग के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है।

वैदिक साहित्य पर दृष्टि डालने पर हम ऋग्वेद के पुराने मण्डलों से ही उन बातों के प्रमाण पाने लगते हैं जिनको हड़प्पा के अवशेषों में प्रतिबिम्बित पाया जाता है। ऋग्वेद में स्पष्ट कार्य-विभाजन ही नहीं, अपितु उन सभी क्षेत्रों में विशेषज्ञता के प्रमाण मिलते हैं जिनमें हड़प्पा सभ्यता आगे बढ़ी हुई थी। कौशलों का हस्तान्तरण भी पैतृक क्रम से हो चला था, इसकी पुष्टि उन स्थलों से होती है जहाँ पिता द्वारा पुत्र को शिक्षा देने के उल्लेख हैं।[83] इसके बावजूद वर्ण-व्यवस्था ने जाति का रूप नहीं लिया था और किसी विशेष क्षेत्र में विशेष रुचि और दक्षता रखने वाला कोई बालक अपन पेशे को बदल सकता था।

ऋग्वेद में जिन व्यवसायों का उल्लेख आया है उनमें कर्मार[84], तन्तुवाय[85], भिषग[86] और शिक्षक[87] का उल्लेख किया जा सकता है। उपलप्रक्षी[88] शब्द से संगतराश का पेशा ही ध्वनित होता है, या यहाँ मात्र चक्की चलाने का उल्लेख है, यह कहना कठिन है। सन्दर्भित सूक्त में पेशों का उल्लेख इसे एक पेशा मानने की सम्भावना पैदा करता है, पर एक बुढ़िया के लिए उपलप्रक्षिणी का प्रयोग इसे भूना भूनने से सम्बन्धित सिद्ध करता है।

नकारात्मक प्रमाणों को ही वैदिक काल के विषय में अपना आधार बनाने

वाले विद्वानों को इससे यह लगता है कि वैदिक काल में विशेष कौशलों का अपेक्षित विकास नहीं हुआ था। इस विषय में यजुर्वेद में बहुत स्पष्ट और सविस्तार विवरण मिलता है, अतः इस काल के विषय में उन्हें कोई संदेह नही रहता।[89] ऋग्वेद में यद्यपि कलश[90], कोश[91], द्रोण[92], कुम्भ[93], कुण्ड[94], चमू[95] आदि के स्पष्ट उल्लेख हैं, पर चूँकि कुम्भकार के लिए स्पष्टतः किसी शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में नहीं पाया जाता, इसलिए कुछ विद्वान यह निश्चय ही नहीं कर पाते कि वैदिक जन या आर्य और उनके तथाकथित पूर्वज 'भारोपीय जन' बर्तन-भाँडे का प्रयोग करते भी थे या नहीं।[96]

जो भी हो, यह स्वीकार किया जाता है कि 'भारोपीय समाज' में भी कार्य-विभाजन अस्तित्व में था। कार्य-विभाजन विशेषज्ञता का पहला चरण है और इसलिए विशेषज्ञता को स्वतः सिद्ध माना जा सकता है। आर्यों को असभ्य मानने वाले भी यह स्वीकार करते हैं कि वे तकनीकी दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए थे। बैशम लिखते हैं, "यद्यपि उन्होंने नगर-सभ्यता का विकास कहीं किया था और पत्थर और ईंट से अपने निर्माण नहीं करते थे, पर आर्य तकनीकी दृष्टि से काफ़ी आगे बढ़े हुए थे। उनके कांस्यकर्मी अत्यन्त दक्ष थे और हड़प्पा संस्कृति से अधिक उन्नत औज़ार और हथियार बनाते थे। इनका और सुतारों (बढ़ई) और रथकारों का उल्लेख सूक्तों में अकसर काफ़ी आदर के साथ किया जाता है।"[97]

तकनीकी विकास का एक भौतिक आधार होता है। एक बार किसी तकनीक के प्रचलित हो जाने के बाद भले हम इस बात को न समझ सकें कि इनके मूल में संकल्पनाओं का भी तदनुरूप विकास होता चलता है और ये तकनीक और संकल्पनाएँ आर्थिक कार्य-व्यापार के सन्दर्भ में विकसित होती हैं; पर इस बात को तो मान ही लेना चाहिए कि इनका विकास एकांगी नहीं होता और जिसे हम सभ्यता और संस्कृति कहते हैं वह इन्हीं के समन्वित विकास का दूसरा नाम है। और यह विकास जहाँ तेजी से घटित होता है वहाँ भी यह क्रमिक चरणों को पार करता हुआ ही घटित होता है। इतिहासकारों ने भौतिक परिवेश और विकास की इस श्रृंखला का ध्यान न रखने पर प्रायः अन्तर्विरोधी दावे किये हैं।

यदि रथ का आविष्कार दूसरे किन्हीं जनों से पहले आर्यों के पूर्वजों ने किया था तो कुम्हार का चाक भी उन्हीं के आविष्कार की देन हो सकता है। कारण, पहिए के आविष्कार से पहले या इससे प्राप्त अनुभव और अन्तर्दृष्टि के अभाव में चाक के आविष्कार की कल्पना करना कठिन है। धातु कर्म में इतने उन्नत लोग, जो भाण्डों से और इनको पकाने की कला से परिचित हैं, और जो अपने यज्ञ-कुण्डों का निर्माण तक ईंटे चिन कर किया करते थे, ईंट पकाने से अनभिज्ञ रह जायेंगे, यह सोचने के लिए कुछ आयास करना पड़ता है। इसी तरह हम मान लेते हैं कि अमुक जन पकी ईंटों का प्रयोग नहीं करते थे, यद्यपि कच्ची ईंटों का प्रयोग करते

थे। यह स्वतः अन्तर्विरोधी बात है। मिट्टी की कच्ची ईंटों के निर्माण की कल्पना इसे पकाने की आवश्यकता की देन है, अन्यथा अधिक आसानी से मिट्टी की दीवारें बनायी जा सकती थीं। एक बार इस दबाव के कारण—पकाने के लिए—एक निश्चित आकार की कच्ची ईंट तैयार करने के बाद ही इसके दूसरे पक्ष पर ध्यान जा सकता था कि इस तरह चिनाई कम समय में और अधिक सन्तुलित रूप में की जा सकती है। यदि कहीं कच्ची ईंटों का प्रयोग मिलता है तो यह पकी ईंटों का प्रयोग करनेवालों द्वारा ही प्रेरित हो सकता है, इसकी पूर्वावस्था नहीं। एक ओर हम यह मान लेते हैं कि वैदिक जन कुशल काष्ठकर्मी थे और दूसरी ओर यह सोच लेते हैं कि वे पत्थर पर कटाई-गढ़ाई में पिछड़े थे। यह स्वतः एक पद-व्याघात है। कोई समाज काष्ठकला में तभी आगे बढ़ सकता था जब वह पाषाणकला में आगे बढ़ा हो—धातु-युग से पहले लकड़ी काटने के उस के औज़ार पत्थर के ही हो सकते थे। बिना लकड़ी काटे वह धातुओं को गलाने के लिए ईंधन नहीं पा सकता था, अतः उन्नत और विकसित पाषाणी संस्कृति ही धातुविद्या और काष्ठकला दोनों का विकास कर सकती थी। एक ओर काष्ठ-कर्म का परिचय और दूसरी ओर कम-से-कम कांस्यकर्म में उनकी अग्रता, जिससे उन्हें तकनीक, अनुभव और औज़ार तीनों दृष्टियों से उन्नत माना जा सकता है, पत्थर पर बढ़िया खुदाई के लिए भी उन्हें बहुत पहले से ही सुयोग्य सिद्ध करता है। प्रश्न ज्ञान का नहीं, किसी विशेष सांस्कृतिक संरचना में उसकी आवश्यकता का है और इसके होने पर वे किसी भी अन्य सभ्यता की तुलना में उतने ही आगे या पीछे हो सकते थे, और थे, जितने आगे या पीछे इन पहलुओं की दृष्टि से थे।

यहाँ हम वर्णविभाजन के प्रश्न को स्थगित रख कर, इस तथ्य पर विचार कर सकते हैं कि ऋग्वेद में जब भी किसी विशेष मामले में निपुणता का प्रश्न आता है, जनसाधारण को नहीं याद किया जाता, कुछ विशेष देवों या व्यक्तियों का ही उल्लेख आता है। तक्षण के लिए त्वष्टा और ऋभुगण क्रमशः पत्थर और लकड़ी के लिए याद किये जाते हैं। चिकित्सा के लिए रुद्र, और अश्विनीकुमार; शौर्य के लिए सेनापति और सैनिकों के रूप में इन्द्र और मरुद्गण; वास्तुशिल्प के लिए वास्तोस्पति; शिक्षा और ज्ञान के लिए विशेष रूप से अग्नि और सोम; प्रशासनिक मामलों में वरुण; न्याय-विचार के लिए अग्नि और वरण को याद किया जाता है। दैवी धरातल पर यह कार्य-विभाजन सामाजिक स्तर पर तदनुरूप कार्य-विभाजन को प्रतिबिम्बित करता है।

जैसा कि हम देख आये हैं, वैदिक हथियारों में अकेले धनुष-वाण और भाले को ही युद्ध और आखेट का हथियार कहा जा सकता है। शेष सभी हथियार दैनिक जीवन में उपयोग में आने वाले औज़ार हैं जिनको आवश्यकता पड़ने पर हथियार के रूप में भी काम में लाया जाता था। यही दशा हड़प्पा की भी

लगती है । यदि आर्य योद्धाओं की पहचान करनी हो तो उनके कुल्हाड़ों से न कर, उनके धनुष और वाण से ही करनी चाहिए । अश्व और रथ जैसे तेज़ वाहनों के साथ भाले, तलवार और तीर-धनुष की बात तो समझ में आ सकती है, पर इन पर सवार होकर कुल्हाड़े या फरसे चलाने वाले असुविधा की स्थिति में रहेंगे और यदि यही उनका उन्नत रण-कौशल हो सकता था तो इसके लिए कम-से-कम उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता । जिन कुल्हाड़ों को आर्यों का उन्नत हथियार माना गया है वे वैदिकों के, और हमारे प्रस्ताव के अनुसार हड़प्पावासियों के भी, लकड़ी काटने के परशु थे।[98] काटने-तोड़ने की किसी भी चीज़ को हथियार मान लेना और भारी औज़ार को उन्नत हथियार मान बैठना तर्कहीन है । काष्ठकला में आरे का आविष्कार करके अपने समकालीन जगत को पीछे छोड़ जाने का जो श्रेय हड़प्पा-वासियों को दिया जाता है[99], वह काष्ठकला रथ, नाव और मकान तक लकड़ी से या इसके प्रचुर उपयोग से बनाने वाले और आकाश तक के सन्दर्भ में धरन और स्तम्भ की याद न भूलने वाले इन वैदिकों के पास ही पायी जाती है । उनके अरे वाले पहिये और इतनी खूबसूरती से बने पहिये जो धातु के मेखल के अभाव में युद्ध के मैदान में तेज़ी से रुख़ बदलते रथों के धक्कों को झेलने में समर्थ हैं, चूल और जोड़ मिलाने की एक ऐसी कलाकारी की याद दिलाते हैं जिसकी बराबरी शायद उनके समकालीन जगत में कोई न कर सके । यदि हड़प्पा सभ्यता को इनसे अलग कल्पित किया जाये तो हड़प्पा के खिलौनों के आधार पर कल्पित इस सभ्यता के ठोस पहिये और साथ ही उसकी काष्ठकला वैदिकों के सामने हास्यास्पद लगने लगेगी । ऋग्वेद में रथ के अरे, नेमि और नाभि के उल्लेख आते हैं और धातु के सीमित उपयोग के उस काल में सम्भवतः इसके धुरे अपेक्षित तकनीकी कौशल और तदनुरूप उपकरणों के विकास के बिना सम्भव नहीं थे । यह एक रोचक बात है कि रथ के धुरों की लम्बाई हड़प्पा-काल से आज तक बदली नहीं है । उस काल के लीक के निशान ठीक उतनी ही चौड़ाई के हैं जो आज की गाड़ियों से बनते हैं ।[100] ऐसी स्थिति में स्वधिति[101] और वाशी[102], तेजस[103] और क्ष्णोत्र[104], वृक्ण[105], तन्तु[106], रश्मि[107], सूची[108] या सुई, अशनि[109], दात्र[110], सृणी[111], खनित्र[112], यन्त्र[113], तन्त्र[114] आदि उपकरणों के उल्लेखों और इनके साथ जुड़ी मानसिकता पर ध्यान देना ज़रूरी हो जाता है ।

जहाँ तक इन उपकरणों की सही पहचान का प्रश्न है, हमें कुछ कठिनाइयों का सामना इसलिए करना पड़ता है कि परम्परागत व्याख्याकारों ने अनेक मामलों में इनकी सही बनावट या कार्य की ओर संकेत नहीं किया है । परवर्ती वैदिक साहित्य ने भी स्थिति को दुरूह ही बनाया है । यदि वज्र एक ऐसा आयुध है जिससे शत्रु पर प्रहार भी हो सकता है और इससे खुदाई का काम भी किया जा सकता है[115] तो इसका ठीक-ठीक रूप निश्चित करने में किंचित कठिनाई होनी तो स्वाभा-

विक है ही, पर यदि आज्य[116], वाणी[117], जल और यूप[118] आदि सभी वज्र हो जायें तो इनकी वज्रात्मकता जैसे भी प्रमाणित की जाये, इस हथियार और औज़ार के सही रूप का निश्चय करने में कठिनाई होगी ही। अतः अनेक विद्वान परशु, वृक्ण, स्वधिति, कुलिश और तेजस् को कुल्हाड़ा ही मानते हैं।[119] यदि रथनिर्माण और नौनिर्माण के विषय में कोई सन्देह नहीं है तो इस विषय में भी सन्देह नहीं होना चाहिए कि लकड़ी काटने या चीरने से सम्बन्धित जिन औज़ारों का उल्लेख मिलता है उन सभी का प्रयोजन, रूप और आकार एक ही नहीं रहा होगा। इन्हीं में से कुछ का उपयोग लकड़ी को चीरने और तराशने के लिए भी किया जाता रहा होगा। इस तथ्य को सामने रख कर ही हम कहीं-कहीं कुछ औज़ारों को पहचानने में सफल हो सकते हैं।

स्वधिति को सामान्यतः कुल्हाड़ा ही माना जाता है।[120] पर इसके सन्दर्भ में कुछ विवरण ऐसे आये हैं जो इसे आरा सिद्ध करते हैं। उदाहरण के लिए, इसे पीट कर या घिस कर नहीं, अपितु क्षणोत्र से तेज किया जाता है।[121] इसकी धार नीचे-ऊपर को चलती है।[122] बाहर आकर इसकी धार शुद्ध और चमकदार हो जाती है, या कहें बुरादे को बाहर गिरा देती है।[123] अपने कारोबार के लिए आरे की आवश्यकता और इसके साथ ही अन्य दन्तुर औज़ारों, जैसे दात्र[124] का उपयोग इस धारणा की पुष्टि करता है। इसी तरह वाशी को कुछ विद्वान कुल्हाड़ी मानते हैं।[125] वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे बसूला और इसके पाषाणकालीन पूर्वरूप का विकास माना है, जिसके नमूने भारत में नवपाषाण-काल से ही प्रचुरता से मिलने लगते हैं।[126] पहिये आदि जैसी निर्मितियों के लिए सूत्र या रस्सी के उपयोग की बात स्वतः सिद्ध है और वृत्त बनाने के लिए तो नहीं, पर माप के सन्दर्भ में इसके उपयोग का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। ज्यामितीय अल्पनाओं में एक सबसे लोकप्रिय अल्पना पूर्णिम (पुरइन) है जिसमें वृत्त की परिधि पर किसी विन्दु को केन्द्र बना कर पुनः वृत्त खीचे जाते हैं और इसकी परिधि को छः बराबर खंडों में बाँटा जाता है। यह पहिया बनाने की उसी प्रचलित युक्ति का सांस्कृतिक दाय है जिसके बिना द्वादशार चक्र का निर्माण नहीं हो सकता था। इस तरह ज्यामिति के विकास को कुछ लोग जो यज्ञ से और शुल्ब सूत्र से सम्बन्धित मानते हैं, उन्हें इसे आर्थिक आधार और तकनीकी प्रगति से जोड़ कर देखना चाहिए।

यदि ऋग्वेद में वर्णित उपकरणों की तुलना हड़प्पा के अवशेषों से की जाये तो इन दोनों के बीच असाधारण साम्य देखने में आयेगा। परन्तु इन उपकरणों के उल्लेखों से भी अधिक महत्वपूर्ण है निर्माण और उत्पादन-कार्यों के साथ लगाव और तकनीकी उत्कृष्टता के उल्लेख। हड़प्पा सभ्यता में कताई की व्याप्ति का उल्लेख करते हुए मार्शल लिखते हैं कि मोहनजोदड़ो के घरों से बहुत सारे तकुओं के टिक्कल पाये गये हैं, जिनसे प्रकट होता है कि सूत कातना हर एक घर के लिए एक

आम-सी बात थी और चूंकि ये टिक्कल कई तरह के उपादानों के पाये गये हैं अतः इनसे प्रकट होता है कि सूत कातने का चलन गरीब-अमीर सभी घरों में था। गर्म कपड़ों के लिए ऊन का प्रयोग होता था और हलके कपड़ों के लिए कपास का।[127] ह्वीलर ने हड़प्पा के बुनकरों द्वारा करघे के प्रयोग की पुष्टि की है।[128] ठीक यही तसवीर ऋग्वैदिक विवरणों से उभरती है। सूत के लिए तन्तु[129], रशना[130] और रश्मि[131] का प्रयोग हुआ है। कताई और बुनाई वैदिक जनों का इतना परिचित उद्यम है कि इनका उल्लेख उपमाओं में बार-बार आता है। दुहिता शब्द के साथ यदि तनय[132] और सन्तति शब्द पर भी ध्यान दिया गया होता, वयन के सन्दर्भ में यदि वियत या आकाश पर गौर किया गया होता, तो शायद उतनी ही आसानी से वैदिक जनों को बुनकरों की जमात साबित कर दिया गया होता, जितनी आसानी से इन्हें ग्वालों और गड़रियों की जमात साबित किया गया है। गो-चारण अधिक प्राचीन अवस्था है, अतः गो से व्युत्पन्न शब्द-भण्डार को तन्तु, रसना, रश्मि और वयन से व्युत्पन्न शब्द-भण्डार की तुलना में कुछ भारी पड़ना ही चाहिए। कारण, जिन व्यंजनाओं के लिए गोचारी अवस्था में गो से शब्द निर्मित हुए थे, उनके लिए अब नये स्रोतों से शब्द बनाने की प्रयोजनीयता लगभग समाप्त ही हो चुकी थी, पर यदि अकेले तन् से तत, तत्र—फैला हुआ या दूर या वहाँ, तनु, तन्वी, तनय, सन्तति, आदि शब्दों पर ध्यान दें तो निराश नहीं होना पड़ेगा।

वायु के लिए प्रकाश-रश्मियाँ अन्तरिक्ष में नये धागों से रंग-बिरंगा उम्दा वस्त्र बुनती हैं।[133] अग्नि से यज्ञ का तन्वन किया जाता है।[134] उषा और रात्रि धागे तान कर यज्ञ के लिए मन लगा कर वस्त्र बुनती हैं।[135] सूर्य रात्रि के काले तानों को नीचे दबाता हुआ, अपनी चमकीली किरणों का बाना फैलाता हुआ वस्त्र-सा बुनता है।[136] कवि अपना अज्ञान प्रकट करते हुए कहता है, मैं यज्ञ के मन्त्र रूपी धागों को न तो फैलाना जानता हूँ, न ही ऊपर-नीचे करके—साम और यजुः का भेद करके—बाने पिरोना जानता हूँ, और इस तरह यज्ञ का वस्त्र बुनना नहीं जानता[137], और उत्तर मिलता है कि वही इस वस्तु को जानता है, वही इसे उठाना-दबाना जानता है, वही इसे समझाना जानता है जो अमृत के रक्षक (लिपटे हुए धागे) की लपेटन को जानता है और अपनी निगाह ऊपर और नीचे दोनों ओर रखता है।[138] प्रार्थना की जाती है कि पाप रूपी बन्धनों को वरुण ढीला करें। बुनाई के लिए तार फैलाते हुए—वंशवृद्धि के लिए प्रयत्नशील—हमारे तार न टूट जायें—वंश का तार न टूट जाये।[139] माताएँ अपने बच्चों के लिए वस्त्र बुनती हैं।[140] यज्ञ के विस्तार की कल्पना तो प्रायः बुनाई के लिए ताना फैलाने के रूप में की जाती है।[141] सूर्य-रश्मियों की अकसर बुनाई और कताई के तारों से तुलना की जाती है।[142] वंश-विस्तार को सूत्र-विस्तार के रूप में ही कल्पित किया जाता है।[143] सिलाई के उल्लेख भी बड़े मार्मिक रूप में आते हैं। अग्नि मानो तम को

सी रहे हों।[144] राका देवी बिना छेद वाली सुई से सिलाई करती हैं।[145] वर्म की सिलाई का उल्लेख हम कर आये हैं। यह आत्मीय विवरण जिस लोकप्रिय और व्यापक उद्यम की ओर संकेत करता है, वह मोहनजोदड़ो के विषय में मार्शल के अनुमान से कितना मेल खाता है, इस पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

कताई-बुनाई की तरह ही तक्षण का भी उल्लेख बड़ी आत्मीयता से किया जाता है। धरती और आकाश को भी गढ़ कर बनाने की कल्पना की जाती है।[146] धन के लिए बुद्धि का तक्षण किया जाता हैं।[147] उशना अपनी काव्य शक्ति से इन्द्र के बल का तक्षण करते हैं।[148] ऋभुगण धन का तक्षण करते हैं।[149] वे लाभ के लिए सुन्दर चक्र वाले रथों का तक्षण करते हैं।[150] बछड़े के साथ उसकी माँ का तक्षण करते हैं।[151] बिना चमड़े की गाय का निर्माण करते हैं।[152] सूर्य के स्थान का तक्षण किया जाता है।[153] इन्द्र के वज्र का तक्षण किया जाता है।[154] स्वधिति से वनस्पति का तक्षण किया जाता है।[155] यहाँ तक कि सरस वाणी का भी तक्षण किया जाता है।[156] तक्षण निर्माण का पर्याय-सा बन गया है।

इस तक्षण के साथ त्वष्टा ऋभुगणों, मरुद्गणों और अश्विनीकुमारों का प्राय: उल्लेख आता है। ऋभुगण इन्द्र के सखा हैं।[157] मरुद्गण इन्द्र-ज्येष्ठ हैं।[158] इन्द्र इनके नेता हैं।[159] ऋभुगणों के कौशल की प्रशंसा उन्हें बार-बार सुहस्त[160] या मँजा हुआ शिल्पी कह कर की जाती है। उनकी प्रतिभा की बार-बार सराहना की जाती है।[161] उनके इस महत्व का कारण यह है कि उनकी बदौलत उत्तम भोजन और धन प्राप्त होता है।[162] वे यात्रा में सहायक होते हैं और इनके बनाये हुए यानों से सभी प्रकार के जलों को पार किया जा सकता है।[163]

ऋभुगणों के विषय में यह श्रुति है कि उनको सोमपान में शामिल किया गया था और यह एक साथ ही दो तथ्यों पर प्रकाश डालता है—दस्तकारों की सामाजिक हैसियत को अपेक्षाकृत हीनतर माना जाता था और इसके बावजूद उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा या, यदि सोमपान को आर्थिक प्रतिलाभ में उपयुक्त हिस्सेदार होने का प्रतीक माना जाये तो, आर्थिक प्रतिलाभ में एक गौण स्थान प्राप्त होता था।[164] इसके पीछे है उनकी तकनीकी दक्षता जिसके अभाव में वैदिक अर्थ-व्यवस्था का आधार डगमगा सकता था।

इन पहलुओं पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तकनीकी दृष्टि से वैदिक समाज न केवल आगे बढ़ा हुआ था, अपितु इसके तकनीकी उत्पादनों का विशेष आर्थिक और वाणिज्यिक महत्व था। तकनीकी उपक्रमों के प्रति यह सजगता, अन्य बातों के अलावा, इस बात का अच्छा प्रमाण है कि वैदिक उद्योग-धन्धे उन अपेक्षाओं की पूर्ति करते हैं जिनकी अनिवार्यता हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से प्रमाणित होती है।

5
धन-सम्पत्ति के रूप

वैदिक रचनाओं में जिन वस्तुओं की कामना की गयी है उन्हें भोजन, वस्त्र, वाहन, आवास, और अलंकार की कोटियों में रखा जा सकता है। यह बात अकसर उलझन पैदा करती है कि वैदिक कवि जिस उत्कटता से चल सम्पत्ति की कामना करते हैं उतनी उत्कटता से भूमि की नहीं। कृषि-कर्म और कृषक वर्ग के उल्लेख तथा अनाजों के उल्लेख तो बहुत कम पाये ही जाते हैं, गोचारण के उल्लेख भी नाम मात्र को ही आते हैं। इनका स्पष्ट कारण यह है कि वैदिक साहित्य जिस संरक्षक वर्ग के हितों और कामनाओं को ध्यान में रखते हुए रचा गया उनका कृषि-कर्म और पशुपालन से सीधा सम्बन्ध नहीं था। ये व्यापारिक केन्द्रों में बसने वाले ऐसे लोग थे जिनकी रुचि गाँवों में, खेती और पशुपालन में, उसी सीमा तक थी जिस सीमा तक ये उनके लाभ के स्रोत थे। जैसा कि हम देख आये हैं, पशुओं में भी परिवहन के साधनों का उल्लेख दुधारू पशुओं की तुलना में अधिक आया है। गो—बैल और गाय आदि की तुलना में अश्व अर्थात गधे और घोड़े के उल्लेख, अश्व की तुलना में रथों और नौकाओं के उल्लेख, बकरी की तुलना में भेड़—जिसका ऊन उनके निर्यात की मदों में से एक रहा लगता है—के उल्लेख अधिक बार आये हैं।[165] यदि गाय और बैल की तुलना में घोड़ों और गधों की संख्या अधिक रही हो तो भी यह तो कदापि नहीं माना जा सकता कि गधों, घोड़ों और बैलों की तुलना में रथों की संख्या अधिक रही हो सकती है। यदि इससे कोई नतीजा निकाला जा सकता है तो यही कि श्रेष्ठतर वस्तुओं के और वाणिज्यिक उपयोग की वस्तुओं के उल्लेख शेष की अपेक्षा अधिक प्रचुरता से आये हैं। घोड़े के पर्यायों में भी अनेक का सम्बन्ध इसकी गति से न होकर इसकी भार-वहन क्षमता से है जैसे वाजि, हरि, हर्यत, वह्नि, पैद्व आदि।

आवास की चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ शेष काम्य पदार्थों की ओर ध्यान देना उपयुक्त होगा। खाद्य और पेय पदार्थों में अन्न[166], अन्धस्[167], पुष्टि[168], भोजस्[169], आदि आते हैं; दूसरी कोटि में धन के सामान्यार्थक शब्दों को रखा जा सकता है: रयि[170], वसु[171], धन[172], अप्नस्[173], द्रविण[174], वित्त[175], सुवित[176], अर्थ[177], भग[178], रिक्थ[179], रेक्ण[180], मघ[181], पुरुक्ष[182], वय[183], वस्न[184], राधस्[185], जिन्हें सभी प्रकार के द्रव्यों का वाचक माना जा सकता है। पण का उल्लेख अलग से नहीं हुआ है, पर पणि[186] शब्द से प्रकट होता है कि यह भी धन का सूचक था। बहुमूल्य पदार्थों में मूल्यवान धातुओं—सोना या हिरण्य[187], रजत[188], मणि[189], रत्न[190] तथा कान[191], हाथ[192], गले[193] और माथे[194] के तथा पाँव[195] के आभूषण आदि आते हैं।[196]

निघण्टु में यास्क ने अन्न के 28 पर्याय गिनाये हैं—अन्ध, वाज, पय, श्रव, वृक्ष पितु, सुत, सिन, अव, क्षु, धासि, इरा, इडा, इष, उर्क, रस, स्वधा, अर्क, क्षद्म, नेम, सस, नम, आयु, सूनृता, ब्रह्मा, वर्च, कीलाल।[197] धन के पर्यायों में वह मध, रेक्ण, रिक्थ, वेद, वरिव, श्वात्र, रत्न, रयि, क्षत्र, भग, मीढुस, गय, द्युम्न, इन्द्रिय, वसु, राय, राध, भोजन, तना, नृम्ण, बन्धु, मेधा, यश, ब्रह्म, द्रविण, श्रव, वृत्र और ऋत आदि अट्ठाईस पर्याय गिनाते हैं।[198] हिरण्य या खनिज धातुओं में वह हेम, चन्द्र, रुक्म, अयस्, हिरण्य, पेश, कृशन, लोह, कनक, कांचन, भर्म, अमृत, मरुत, दत्र और जातरूप की गणना करते हैं।[199]

6
माप-तौल और विभाजन

उन्नत विनिमय प्रणाली के लिए सुनिश्चित माप-तौल और मूल्य-निर्धारभ की किसी प्रणाली का होना जरूरी है। हम देख आये हैं कि ऋग्वेद में भाग, भग, भक्त आदि शब्दों के प्रयोग को देखकर यह अनुमान कर लिया गया है कि यह समान वितरण का और इसलिए आदिम साम्यवाद का प्रमाण है।[200] भारत जैसे विषम आर्थिक विकास वाले किसी देश में यह कहना तो किसी भी ऐतिहासिक काल के विषय में गलत होगा कि उस काल में किसी भी जन-जाति में ऐसी व्यवस्था नहीं थी, न ही यह दावा किया जा सकता है कि स्वयं वैदिक-कालीन समाज में कभी ऐसा चलन नहीं रहा होगा। पर इस तथ्य को इन शब्दों के सहारे वैदिक समाज में स्थापित करना कुछ गलत है। वैदिक काल में निजी सम्पत्ति का न केवल अस्तित्व दिखायी देता है, अपितु इसका वंशानुक्रम से हस्तान्तरण भी दिखायी देता है।[201]

साम्यवादी उत्पादन की सरलता उसके सरल वितरण में भी दिखायी देती है। मामूली उन्नीस-बीस की वहाँ चिन्ता नहीं होती और उत्पाद सामने ही वितरित होता है, अतः इसमें बेईमानी की कोई सम्भावना भी नहीं होती। वस्तुतः ऐसे आदिम समाजों के लिए चोरी तो एक परिचित चीज हो सकती है, और वह भी क़बीले से बाहर के लोगों की या उनके द्वारा, पर बेईमानी की वे कल्पना भी नहीं कर सकते। वैदिक वितरण में अग्नि को साक्षी बना कर वितरण ऐसी स्थिति का सूचक है जिसमें अर्जन और प्रतिलाभ की प्रक्रिया अपेक्षाकृत अधिक जटिल हो।

अतः विभाजन से अधिक महत्वपूर्ण है विभाजन की रीति और विभाज्य वस्तु। अध्येताओं का ध्यान इस ओर गया है कि ऋग्वेद में मान और बाट की चर्चा ऐसी स्थितियों में भी आती है, जहाँ सामान्यत : इसकी अपेक्षा नहीं की जानी

चाहिए।[202] सृष्टि के विवरण में भी माप-तौल का हिसाब चलता दिखायी देता है।[203] ऋग्वेद में मान और मात्रा के प्रयोग विभिन्न रूपों और विकारों में दो सौ से अधिक बार हुए हैं। पर इस अवर्तिता से अधिक महत्वपूर्ण है यह बात कि माप-तौल वैदिक मानसिकता में इस तरह समायी हुई है कि वे मन[204], चित्त[205], संकल्प[206], वाणी[207], हवि[208], रूप[209], आकार[210] आदि के सारूप्य और सादृश्य के लिए भी 'स-मान', अर्थात् माप में बराबर, न कि 'सदृश' अर्थात देखने में बराबर का प्रयोग करते हैं। इन दोनों समानार्थकों में अन्तर यह है कि पहला जहाँ एक परिशुद्धता के आग्रह को प्रकट करता है जिसका विकास मानदण्डों और मानांकों के विकास के बिना असम्भव है, वहाँ दूसरे में मात्र प्रतीति का भाव निहित है और इसका प्रयोग किसी ऐसे समाज में भी प्रचलित हो सकता है जो अभी बहुत पिछड़ी अवस्था में हो। यह माप-तौल उनके लिए इतना पुराना हो चुका है कि 'मान' को नाभि बना कर इस काल में निकले शब्द स्वयं नाभिकीय महत्व पाकर नये शब्द-भण्डार का विकास करने लगे हैं। वि-मान[211], मित्-र[212], मित्-उन[213], अनु-मान[214], अति-मान[215], अभि-मान[216], आदि शब्दावली को इस दृष्टि से उल्लेखनीय माना जा सकता है। इसका सम्मान, घिस कर समान और सम-सं-स हो चुका है और बराबर, भला, उपयुक्त का अर्थ पा चुका है।

सामान्यतः यह माना जाता है कि वैदिक मान-प्रणाली दाशमिक थी, जब कि हड़प्पा सभ्यता में जो मान-क्रम प्रचलित था वह 1 : 2 (द्विगुण) क्रम में था। इस तरह का दावा कई सरलीकरणों को लेकर ही किया जाता है। चूँकि भारतीय प्रभाव-विस्तार उस काल के बाद हुआ है जब मूल केन्द्र में हज़ार तक की संख्याओं का विकास हो चुका था, इसलिए प्रायः यह सोच लिया जाता है कि दाशमिक क्रम भारोपीय जनों में आरम्भ से ही प्रचलित था और इसी के आधार पर उनका विभाजन-क्रम भी आरम्भ से केवल दाशमिक ही रहा होगा। यह निरा सत्याभास है। संख्याओं के विकास पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहना उचित होगा कि मान-क्रम मेय वस्तु के गुण-धर्म को आधार बना कर नियत किया जाता है, और एक ही क्रम सभी पर लागू नहीं हो सकता। अतः किसी भी विकसित या विकासोन्मुख सभ्यता के विषय में इस प्रकार का सरलीकरण करना निरापद नहीं है। महीने के दिनों, वर्ष की ऋतुओं और महीनों को हम अपने नियत क्रम के अनुसार नहीं ढाल सकते, उनके अनुसार ही इनके लिए गणनाक्रमों के विकास की अनिवार्यता पैदा होगी। इसी तरह गणना का आधार या सहायक साधन मनुष्य का हाथ ही रहा है। अतः कहीं अँगूठे को छोड़कर एक हाथ की उँगलियों के सभी पोरों और दोनों हाथों की उँगलियों के सभी पोरों के अनुसार 1 : 3 : 4 : 2 के क्रम को; लम्बाई के मामले में बालिश्त, हस्त और अंगुलों से मापने के क्रम में 1 : 4 : 3 : 2 को; कहीं दोनों हाथों की उँगलियों को आधार बना

कर दशम क्रम को; कहीं हाथ और पाँव की सभी उँगलियों को आधार बना कर कोटि या सबसे बड़ी संख्या—जो आगे चलकर मान या मन, कोड़ी या बीस की संकुल राशि, और फिर कोटि[217] का सूचक बनती है—का विकास हुआ है। ये मात्र कुछ उदाहरण यह संकेत देने के लिए काफ़ी हैं कि किसी भी सभ्यता का काम न तो एक मान-क्रम से चल सकता था, न ही चलता था; साथ ही सभी संस्कृतियों में संख्याओं के विकास का जो प्रेरक तत्व रहा है वह हाथ अपने भीतर भी अनेक मान-क्रमों के विकास की सम्भावनाएँ लिये हुआ था। इसके साथ ही अब यह भी स्पष्ट हो चला है कि हड़प्पा सभ्यता में केवल एक मान-क्रम प्रचलित नहीं था। बृजभूषण विज ने यह सिद्ध किया है कि मोहनजोदड़ो का स्नानागार दाशमिक प्रणाली की नाप-जोख से बनाया गया था।[218]

इससे जुड़ा हुआ ही यह भ्रम भी है कि वैदिक विनिमय की इकाई गाय थी। इस सत्याभास के पीछे यह तर्क काम करता है कि धनिक व्यक्ति के लिए 'गोमत्' शब्द का व्यवहार होता था और यह कि गाय को प्राचीन भारतीय परम्परा धन मानती थी। दान आदि के प्रसंग में गो-दान का उल्लेख प्रायः आता है। इसको स्वीकार कर लेने के बाद हम कई ऐसी शंकाओं का कोई समाधान नहीं पाते, जिनको सामान्यतः उठाया जाना चाहिए था, पर उठाया नहीं गया है। पहली बात तो यह कि इससे विनिमय का पूरा आधार ही खंडित हो जाता है। यदि गाय एक मात्र विनिमेय वस्तु हो तो गाय देकर गाय लेने का कोई तुक नहीं है। यदि गाय देकर कुछ चीजें पायी जा सकती हैं तो ज़रूरी नहीं कि उन चीजों को देने वाले को गाय की ही ज़रूरत हो। यदि होगी तो अपनी चीज़ों के बदले गायें लेते-लेते एक दिन वह भी चरवाहा बन जायेगा और फिर उस चीज़ का स्रोत ही ख़त्म हो जायेगा। अतः गाय देकर कुछ बड़ी या प्रचुर चीजें अवश्य ख़रीदी जा सकती थीं, या इसे उलट कर कहें कि एक नियत परिमाण में दूसरी चीजें देकर गाय अवश्य ख़रीदी जा सकती थी, पर ज़रूरी नही कि हर लेन-देन गाय के समूल्य का हो। अतः हर लेन-देन में गाय का प्रश्न नहीं आता। फल, फूल, सब्जी, मधु, आदि क्या गाय देकर लिया जाता है? अधिक-से-अधिक गाय के अंशों के रूप में या इसके मान-खण्डों और गुणकों के रूप में ही उन वस्तुओं का परस्पर विनिमय हो सकता था। पर यहाँ आकर हम ऐसे विन्दु पर पहुँच जाते हैं जहाँ गाय, गाय नहीं रह जाती, एक मान बन जाती है। अतः जहाँ हम यह स्वीकार करते हैं कि विनिमय का साधन गाय थी, वहीं हमें यह स्वीकार करना होगा कि गाय एक मान थी, निश्चय ही एक बड़ा मान। और वस्तु का वस्तु से हटकर एक मान में बदल जाना, सभी वस्तुओं का मूल्य किसी एक वस्तु के संविभागों और मानांकों से नियत होना—चाहे वह सोना हो या गाय—विनिमय की एक ऐसी उच्च अवस्था का सूचक है जिसका विकास किसी आदिम समाज में नहीं हो सकता, जिसमें वस्तु-

विनिमय का कोई प्रतीकात्मक आधार नहीं होता, अपितु यह उभय पक्ष की अपनी आवश्यकता पर निर्भर करता है। और गाय को मान मानते ही हमें 'गोमत्' शब्द का एक अन्य अर्थ भी करना होगा—बहुमान या बड़ा। मान का यह भाव सम्पन्नता और दक्षता के मामले में मानी, माना हुआ—बड़े आदमी, में भी दिखायी देगा। गोसाँई; गोसयाँ अर्थात् गोस्वामी का अर्थ 'मालिक' या स्वामी मात्र है। यह आशय वैदिक काल से बहुत पहले से प्रचलित हो चुका लगता है।

अब इस सिद्धान्त के स्थिर हो जाने पर हम वैदिक साहित्य पर एक बार पुनः यह देखने के लिए दृष्टिपात कर सकते हैं कि 'गोमान' क्या था? ऋग्वेद में शफ[219], कला[220] और पाद[221] का उल्लेख आया है। ब्राह्मणों में सोमक्रयणी गो का उल्लेख, सोम की खरीद के सन्दर्भ में होने वाले मोल भाव के मामले में आया है।[222] इसमें कला,कुष्ट, शफ, पाद, गो या धेनु का क्रमशः उल्लेख आया है। कहीं-कहीं यह क्रम कला, शफ, पाद, गवार्ध और धेनु का है।[223] शफ का शाब्दिक अर्थ है खुर, खुर से ज़मीन में पड़ा निशान या 'गोपद'। अतः कला इसका आधा या खुर के एक हिस्से का निशान हुआ। शफ के बाद पाद का आशय दो शफ हुआ और गवार्ध दो पाद तथा गो या धेनु दो गवार्धों या चार पदों के बराबर हुआ। इस तरह हम पाद को कुछ समय पहले प्रचलित मान-प्रणाली के पाव, और कला को छटाँक या षष्टदशांक—सोलहवें हिस्से के बराबर पाते हैं। यहाँ हम 1 : 2 के ठीक उसी मान पर पहुँचते हैं जिसको हम हड़प्पा का सबसे प्रचलित मान-क्रम मानते हैं।

यह एक रोचक तथ्य है कि गाय की माप लगभग शेर की माप या सेर के बराबर थी। छटाँक तक की छोटी मात्रा का ध्यान विनिमय की बारीकी को प्रकट करता है। सोने आदि की तोल के लिए यह मान भिन्न रहा होगा। लम्बाई की माप के लिए कुछ समय पहले प्रचलित गज का नाम कुछ रोचक है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि लम्बाई की माप 1 : 2 के क्रम में दिखायी देती है। अंगुल, वितस्ति और हस्त तक 1 : 4 : 3 : 2 का क्रम चलता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर दशांगुल का उल्लेख आया है[224] और प्रहस्त या गज का मान 30 अंगुल का बताया जाता है, इस तरह 1 : 10 : 3 का एक अन्य क्रम दिखायी देता है। तीन, छः, बारह और चौबीस के पीछे सम्भवतः मौसमों, ऋतुओं, मासों और पक्षों का हाथ रहा है और इस तरह ज्यामितिक गणनाओं में वर्ष के 30 दिनों के 12 महीनों से परिकल्पित 360 की संख्या और पूर्ण चक्र के लिए 360 अंशों या 180 अंश के विषुव की अवधारणा का विकास हुआ है।[225]

इस तरह हम देखते हैं कि मेय वस्तु की विशिष्ट प्रकृति और गुण व विभाग को ध्यान में रखते हुए किसी भी विकसित समाज को अनेक प्रकार के मान-क्रम अपने भौतिक ज्ञान और अनुभव तथा आवश्यकता के अनुरूप अपनाने पड़ते हैं और वैदिक काल में भी अनेक प्रकार की मान-प्रणालियाँ प्रचलित थीं। इसके अनुरूप

ही हम ज्योतिष आदि का भी सराहनीय स्तर का विकास हुआ पाते हैं। अतः यह सोचना कि वैदिक जनों में केवल दाशमिक मान-क्रम प्रचलित था, मान-क्रम और गणना-पद्धति के पारस्परिक अन्तर को न समझने का परिणाम है। इसी तरह जो विद्वान यह मानते रहे हैं कि हड़प्पा सभ्यता में केवल एक ही मान-क्रम प्रचलित था वे हड़प्पा सभ्यता के मान-क्रम और भौतिक विकास दोनों के अन्तःसम्बन्ध को समझने में असमर्थ रहे हैं। यह भ्रम अब पुरातात्त्विक खोजों से भी टूट चुका है।[226]

माप, तौल, गणना और विभाजन के उक्त विवरणों से स्पष्ट है कि वैदिक-कालीन भौतिक कार्य-व्यापार का स्तर भी इनके अनुरूप ही रहा होगा। यह सच है कि इस काल में मुख्य रूप से वस्तु-विनिमय ही प्रचलित रहा होगा, पर सोने आदि के ऐसे मानक खण्डों का प्रचलन भी देखने में आता है जो किसी उन्नत व्यापार के लिए अपेक्षित था।[227] निष्क को हार मानने का पूरा कारण हमारे पास है, पर यदि इस बात को सामने रखें कि सोने-चाँदी के सिक्कों के हार बनाने का चलन बहुत पुराने समय से आज तक प्रचलित रहा है, और साथ ही इस बात पर भी ध्यान दें कि बहुत प्राचीन काल से ही निष्क शब्द का प्रयोग सोने की मुहरों के लिए होता आया है, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि वैदिक काल में भी मानक स्वर्ण-खण्डों का अस्तित्व था। हड़प्पा से निष्कों का पता चलने के बाद तो इस विषय में किसी प्रकार के सन्देह की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।[228] और फिर इस स्थिति में पण को भी ताँबे के नियत आकार व भार के खण्डों के रूप में कल्पित किया जा सकता है, यद्यपि इनके प्रचलन की कल्पना पणि शब्द के प्रयोग के आधार पर ही की जा सकती है जिसके इतर अर्थ —व्यापारी, व्यवसायी (पण् वण्—खंडन, वितरण) आदि हो सकते हैं। पर धनी के लिए 'पैसे वाला' प्रयोग आम है और यह बात पणि के मामले में भी लागू हो सकती है। रजत शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में केवल एक बार आया है[229], पर स्वर्णमुद्राओं के लिए जैसे कभी-कभी स्वर्ण शब्द ही प्रयोग में आता रहा है वैसे ही रजत-खण्डों के लिए रजत शब्द प्रचलित रहा हो सकता है। मार्शल ने इस पहलू पर बहुत बल दिया है कि हड़प्पा सभ्यता में चाँदी का प्रचलन बहुत अधिक था और इसके पात्र आदि भी बनाये जाते थे, जब कि ऋग्वेद में इसका महत्व नहीं दिखायी देता।[230] शब्दों की आवर्तिता को आधार बनाकर निकाला गया यह नतीजा भी अन्य सांख्यिकीय नतीजों की तरह अविश्वसनीय है। जैसा हम कह आये हैं, ऋग्वेद में जिन वस्तुओं की कामना की गयी है वे मुख्यतः वे ही हैं जिन्हें अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान माना जाता रहा है। यदि चाँदी अपेक्षाकृत सस्ती थी तो इसका एक बार के लिए उल्लेख आ जाना भी काफ़ी है और यह इसके प्रचलन की अधिकता को प्रकट करता है न कि इसके अभाव को।

इस तरह हम आर्थिक और औद्योगिक विकास के मामले में भी हड़प्पा सभ्यता

को वैदिक साहित्य के विवरणों के अनुरूप पाते हैं। यह एक अन्य महत्वपूर्ण बात है कि ऋग्वेद के अपेक्षाकृत आधुनिक मण्डलों में शिल्प और दक्षता के मामले में भारी प्रगति दिखायी देती है, यद्यपि इन विविध गतिविधियों का आरम्भ प्राचीन माने जाने वाले मण्डलों में और अनुमानतः इससे भी काफी पहले से हो चुका है। हम आगे चलकर इस विषय में कुछ अधिक विस्तार से विचार करेंगे कि प्राचीन मण्डलों और नवीन मण्डलों का सम्बन्ध हड़प्पा सभ्यता के किन चरणों से है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. डी. एच. गोर्डन, दि प्रीहिस्टॉरिक बैकग्राउंड ऑफ़ इंडियन कल्चर 1960, 71; ह्वीलर, सिविलाइजेशन ऑफ़ दि इंडस वैली ऐंड बियांड, 1953, 62-63; कोसम्बी, दि कल्चर ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ इंडिया, 1965, 58 और आगे।
2. 'प्राचीन भारतीय समाज : इतिहास के झरोखे से', इतिहास, 3, 11-12
3. 'फ़ैमिली-बुक्स' से यहाँ अभिप्राय मण्डल 2-7 से है, जिन्हें अपेक्षाकृत पुराना माना जाता है। देखें, मैटीरियल कल्चर ऐंड सोशल फ़ार्मेशन्स इन ऐंशेंट इंडिया, 1983, 22; कीथ, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1922, 1962, 1, 69; साथ ही, ब्लूम फ़ील्ड, ऋग्वेद रिपिटीशन्स (1916), 1981 सं., 20-21 व 636-649
4. वही, 24
5. वही।
6. ऋग्वेद के प्राचीन माने जाने वाले मण्डलों में अर्य का 52 बार और नये माने जाने वाले मण्डलों में 46 बार प्रयोग हुआ है। आर्य शब्द का विविध विकारों में प्राचीन मण्डलों में 14 बार और नवीन मण्डलों में 23 बार प्रयोग हुआ है जो अनुपाततः समान है।
7. 'गो' शब्द का केवल चतुर्थी और पंचमी एकवचन तथा सप्तमी बहुवचन में ही 165 बार प्रयोग हुआ है। नये और पुराने मण्डलों में अनुपात निम्न प्रकार है :

गोः	2-7 तक 24 बार	1व 8-10 तक 23 बार	कुल 47 बार
गोभिः	,, 23 ,,	,, 52 ,,	75 ,,
गोषु	,, 15 ,,	,, 28 ,,	43 ,,
कुल	62	103	165

8. पहले मण्डल में गोः का प्रयोग 12 बार हुआ है। सायण के अनुसार इनमें 1. 28. 9 में यह बैल के लिए, 1. 53. 2; 61.12; 121.7 में अर्थात् 3 बार पशु के सामान्य अर्थ में; 1. 121.9 व 1.84.15; में गमनशील के सामान्य अर्थ में; 1.158.2, 63.7 में भूमि के अर्थ में; 180.5 में स्तुति रूपा वाणी के अर्थ में; 181.8 में उदक के अर्थ में; 121.2 में गो समूह या वज्र या गाय या जल में से किसी अर्थ में और केवल 180.3 में एक बार निश्चित रूप में गाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
9. ऋग्वेद में राजा के लिए जनभक्ष (ऋ. 2. 21.3) का प्रयोग इसका कुछ आभास देता है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के विशाल अन्नागारों से भी वसूली की ऊंची दर और वसूली में बरती जाने वाली कठोरता का अनुमान होता है।
10. विषम भागों का प्रतीकात्मक वर्णन विभिन्न देवों के लिए विहित पुरोडाश के कपालों में, यज्ञ में प्रथम या उत्तरवर्ती अधिकार में, सोमपान की भागीदारी आदि में पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'भूरिदा भूरि देहि नः मा दभ्रं भूरि आ भर। भूरि घा इन्द्र दित्सति॥' ऋ. 4.43.20, आदि भी द्रष्टव्य हैं।
11. 4.32.20
12. 1.116.3 में इस बात का संकेत है कि मरणपर्यन्त सम्पत्ति पर पिता का अधिकार रहता था जो इसके बाद पुत्र को प्राप्त होता था। ऋ. 4.57. 1-3; 7.35.10; 10.66.13 में क्षेत्रपति या खेत के मालिक का किसानों से अलग उल्लेख है। ऋ. 1.112.22 में क्षेत्र के वितरण का उल्लेख है। उपज का नहीं, खेत का बँटवारा निजी भूसम्पदा के मामले में ही सम्भव है।
13. मार्शल, 1931, 1, 27-28, ह्वीलर, 1953, 63; पिगट, 1950, 156-57; बैशम, 1963 सं., 18; गोर्डन, 1960,71 और आगे; कोसम्बी, पूर्व., 1965, 58 और आगे।
14. सुमन पंड्या, 1980-81, 61
15. किसी अन्य पशु की तुलना में 'गो' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अधिक बार हुआ है, पर जैसा कहा जा चुका है, यह लिंग-निरपेक्ष रूप में प्रयोग में आया है, अर्थात् गो का अर्थ गाय और बैल दोनों है। साथ ही गो प्रजाति से सम्बन्धित किसी वस्तु और इसके उत्पाद—दूध, दही, चमड़ा, स्नायु, सींग के लिए और गमनशीलता का मूल भाव रखने वाले किसी भी तत्व या वस्तु, जैसे, जल, किरण, धरती, धन आदि के लिए गो शब्द का प्रयोग हुआ है। इस तरह गो शब्द की आवर्तिता धन के अन्य पर्यायों की आवर्तिता से बहुत कम तो है ही; इसके सभी प्रयोग गाय का आशय नहीं रखते और गमनशीलता पर बल, गो या बैल के परिवहन और श्रम के साधन के रूप में इसके महत्व को अधिक

प्रकट करता है, बनिस्बत चारण के।

16. 5.29.8; 6.17.11; 8.35.7-9, आदि।

17. ऋग्वेद में अश्व शब्द का प्रयोग गधे के लिए भी हुआ है। इसके अन्य पर्याय अत्य, वाजि, हरि आदि भी अनेक बार प्रयोग में आते हैं। यह परिवहन का साधन है।

18. 1.64.7; 4.16.14, आदि।

19. अवि का सीधे उल्लेख न आकर इसके ऊन के सन्दर्भ में ही इसका प्रयोग आया है जो कि ऊनी वस्त्र का कच्चा माल और, इस तरह, एक पण्य वस्तु है। 10.91.14; 106.5 आदि में मेष का प्रयोग पशु के रूप में आया है।

20. 1.162.2; 4; 163.12; 2.31.6; 3.45.2, आदि में कुल 14 बार अज, और 1.162.3 में केवल एक बार छाग का प्रयोग हुआ है, पर अधिकांश प्रयोग पूषा या अग्नि के वाहन के रूप में हैं।

21. 1.29.5; 3.53.23; 8.56.3, आदि में सर्वत्र भारवाही पशु में रूप में।

22. 7.55.4; 8.77.10, आदि। लगता है, अभी तक यह वन्य ही था।

23. 2.39.4; 10.14. 10; 11, आदि। सर्वत्र पथरक्षण के सन्दर्भ में।

24. 1.163.10; 2.34.5; 3.8.9, आदि।

25. 1.30.4; 10.165.1-5;दुर्घटना की सूचना लेकर आने वाले दूत के रूप में।

26. 10. 86.5

27. 10.28.10 में 'अवरुद्धः परिपदं न सिंहः' पर सायण; देखें, वैदिक इंडेक्स, 2,465 भी।

28. इस तर्क से हम उन्हें अश्व, गो, अज, सर्प आदि किसी से भी अपरिचित सिद्ध कर सकते हैं। इन सबके पीछे 'गति करने वाला' का सरल भाव ही है।

29. 'मृगाः इव हस्तिनः खादथ वना', ऋ.1.64.7;'मृगः न हस्ती तविषीं उषाणः', ऋ. 4.16.14; तुलना करें,'मा वः मृगः न यवसे जरिता', ऋ. 1.38 5;'मृगः न भीम कुचरः गिरिस्थाः', ऋ.1.154.2; 'मृगः न अश्नः···',ऋ. 1.173.2; 'मृगः न भीमः अरक्षसः तुविष्मान्', ऋ. 1.190.3, आदि।

30. 1.65.4; 84.17; 4.4.1; 6.20.8, आदि। तुलना करें, 'इभ्यान् न राजा वनानि अत्ति', ऋ. 1.65.4 की ऊपर 1.64.7 से।

31. 1.140.2; 6.4.5; 8.33.8, आदि। देखें, वैदिक इंडेक्स, 'हस्तिन' भी जिसके अनुसार वारण शिकार करने वाले या हाथी पकड़ने वाले हाथी के लिए प्रयोग में आता था जो इस बात का प्रमाण है कि वैदिक जन हाथी पालते भी थे।

32. 10.44.9; 87.12, आदि।

33. 10.106.6.

34. वैदिक इंडेक्स, 'व्याघ्र'।
35. 'सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्', नि. 3.18. दवैको में सिंह का अर्थ हिंसक व्याघ्र, 'हिंसको व्याघ्रः' किया है।
36. डी. पी. अग्रवाल और आर. के. सूद, 'इकोलॉजिकल फैक्टर्स ऐंड हड़प्पा सिविलाइजेशन', हसि., 1982, 229
37. ह्वीलर, पूर्व., 23-24
38. देखें, बी. बी. लाल व थापर, 'एक्सकैवेशन्स ऐट कालीबंगां : न्यू लाइट ऑन इंडस सिविलाइजेशन', 1967, 78-88
39. आर. एल. राइक्स, 'मोहनजोदड़ो इन्वायर्नमेंट,' फ्रइंसि., 1984, 227 के अनुसार हड़प्पा में भी सिंचाई की नहरें रही होंगी, परन्तु इस बीच नदियों के द्वारा लायी मिट्टी में ये दब गयी हैं और इनकी खोज की आशा नहीं की जा सकती। देखें ह्वीलर, 1968, 108 भी।
40. शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लांगलम्। ऋ. 4.57.4
41. युनक्त सीरा वियुगं तनुध्वं कृते योनौ वपत इह बीजम्। ऋ. 10.101.3
42. यवं वृकेण मरुतः वपन्ति।
43. शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनं अष्ट्रां उत् इंगय। ऋ. 4.57.4
44. वही।
45. शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशाः अभियन्तु वाहैः। ऋ. 4.57.8
46. 10.101.3
47. अर्वाची सुभगे भव सीते बन्दामहे त्वा। यथा नः सुभगा अससि यथा नः सुफला अससि॥ इन्द्रः सीतां नि गृहणातु तां पूषा अनु यच्छतु। ऋ. 4.57.6-7
48. 4.57.8
49. क्षेत्रस्य पते मधुमन्तं उर्मि धेनुः इव पयः अस्मासु धुक्ष्व। ऋ. 4.57.2; क्षेत्रस्य पतिः मधुमान् नः अस्तु। ऋ. 4.57.3
50. बधिया के लिए ऋग्वेद में वध्रि शब्द का प्रयोग—1.32.7; 33.6 आदि—आया है। बैलों के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख नहीं आया है, पर वृषभ और अनस तथा उक्षण और यदा-कदा ऋषभ आदि विभिन्न शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि अनस विशेष रूप से बधिया बैलों के लिए ही प्रयोग में आया है। साथ ही चूंकि घोड़ों के बधियाकरण के उल्लेख—ऋ. 6.61.1; 10.69.1; 23.4; 11-12 आदि—आये हैं, अतः बधियाकरण का यही तरीका बैलों के मामले में न अपनाने का कोई कारण नहीं है।
51. 10.101.3
52. 5.62.6
53. 10.101.3

54. येन तोकाय तनयाय धान्यं बीजं बहध्वे अक्षितम् । ऋ. 5.53.13
55. 1.105.17.
56. 6.51.15; 2.34.6
57. 1.52.3; 5.32.8
58. 1.106.6
59. 4.50.3
60. 3.31.2: 4.17.16; 5.7.5
61. 5.44.4; 8.87.1
62. 10.39.8
63. 2.16.7, 3.26.9
64. 1.116.7
65. 4.18.8
66. 10.39.8
67. 6.54.7
68. कूपः कातुः कर्तः वव्रः खातः अवतः क्रिविः सूदः उत्सः ऋश्यदात् कारोतरात् कुशयः केवट इति कूपस्य । नि. 3.23
69. सिंचामहै अवतं उद्रिणं वयं सुसेकं अनुपक्षितम् । ऋ. 10.101.5
उद्रिणं सिंच अक्षितम् । ऋ. 10.101.6
70. नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ।। नमः कूप्याय च आवट्याय च नमो वीध्याय च आतप्याय च नमो मेध्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय च अवर्ष्याय च ।। यजु. 16.37-38
71. कुल्या शब्द पर टिप्पणी करते हुए महीधर लिखते हैं, "कुल्या कृत्रिमा सरिः ।" यजु. 16.37 पर भाष्य ।
72. परिवक्ता इव पति विद्यं आनट पीप्याना कूचक्रेण इव सिंचन् ।
ऋ. 10.102.11
73. द्रोण-आहावं अवतं अश्म चक्रं अंसत्र-कोशं सिंचता नृपानम् ।।
ऋ. 10.101.7
74. वही ।
75. आर. एस. शर्मा, पूर्व.; कीथ, पूर्व. ।
76. रोमिला थापर, पूर्व. ।
77. आप्टे, 'सोशल ऐंड इकॉनॉमिक कंडीशन्स', दि वैदिक एज, 1965, 398
78. पुरुषो वै प्रजापतेः नेदिष्ठं सः अयं अत्वक् एते वै पुरुषस्य ओषधीनां नेदिष्ठतमां यत् गोधूमाः तेषां न त्वक् अस्ति मनुष्य लोकं एव एतेन उज्जयति ।

शतब्रा. 5.1.6.6; देखें सैबुईसी. 41, 31

79. व्रीहयः च मे यवाः च मे माषाः च मे तिलाः च मे मुद्गाः च मे खल्वाः च मे प्रियंगवः च मे श्यामाः च मे नीवाराः च मे गोधूमाः च मे···यजु. 18.12.

80. विष्णुमित्रे, 'दि बिगिनिंग ऑफ़ ऐग्रीकल्चर', इंडियन एक्सप्रेस, 19 नवम्बर 1975

'दि हड़प्पा सिविलाइजेशन ऐंड नीड फ़ॉर ए न्यू ऐप्रोच', 1982, 34-39

81. निः अविध्यत् गिरिभ्यः आ धारयत् पक्वं ओदनं। ऋ. 8.77.6; शतं महिषान् क्षीरपाकं ओदनं वराहं इन्द्र एमुषम्। ऋ. 8.77.10

82. मैकाय, चान्हूदड़ो एक्सकैवेशन्स : 1935-35; 1976, 38 और आगे।

83. 10.39.6

84. 10.72.2

85. 1.24.9; 2.33.4; 9.112.1; 3; 10.97.6, आदि।

86. 2.38.4; 5.47.6; 9.99.1, 10.130.1, आदि।

87. 7. 103.5; 8.42.3, आदि।

88. 9. 112.3

89. यजु. 16.17-62; देखें, बैशम, पूर्व., 44;आर.एस. शर्मा, पूर्व., 1983, 49

90. 3.32.15; 4.27.5; 32.19; 6.69.2; 6; 9.63.3, आदि।

91. 3.32.15; 4.17.16; 9.12.6; 10.42.2, आदि।

92. 5. 50.4; 6. 2. 8; 44. 20; 9.3.1, आदि।

93. 1.116.6; 117.6; 7.33.13, आदि

94. 1.29.6; 8. 17.13

95. 1.20.6; 4.18.3; 5.51.4; 8.82.7; 9.8.2, आदि।

96. देखें, आर. एस. शर्मा, 1983,22

97. बैशम, पूर्व., 1967, 38

98. तष्टेव वृक्षं वनिनः नि वृश्चसि परश्वा इव नि वृश्चसि। ऋ. 1.130,4; विजेहमानः परशुः न जिह्वां द्रविः न द्रावयति दारु धक्षत्। ऋ. 6.3.4; परशुः यथा वनं पात्रा इव भिन्दन्। ऋ. 7.104.21; अश्विना सु विचाकशत् वृक्षं परशुमान् इव। ऋ. 8.73.17; देवासः आयन् परशून् अबिभ्रन् वना वृश्चन्तः अभि विट्भिः आयन्। ऋ. 10.28.8, आदि।

99. बैशम, पूर्व., 22

100. डी. एच. गोर्डन, पूर्व., 1960, 71

101. 3.2.10; 7.3.9, आदि।

102. 1.88.3; 5.53.4; 57.2; 8.19.23, आदि।

103. 6.3.5; 8.5; 15.19

104. 2.39.7
105. 3.8.7; 10.87.5
106. 2.28.5; 4.13.4; 6.9.3; 8.13.14, आदि।
107. 1.19.8; 123.12; 10.93.9 आदि। सायण ने रश्मि को रस्सी, किरण और तेज का सूचक माना है। रस्सी के लिए रश्मि के अतिरिक्त रशना (1.162.8; 163.5; 4.1.9; 2.28.5, आदि), दाम (1.162.8; 2.28.6), बन्धन (1.163.3; 4; 7.59.12), रज्जु (1.162.8), वरत्र (4.57.4; 10.101.5; 102.8), अष्ट्रा—वस्तुतः बैलों के मुंह की जाबी (4.57.4), अभीशूः (6.75.6), आदि अनेक शब्दों का विविध प्रसंगों में प्रयोग हुआ है जो पतले धागे से ले कर मोटे रस्से तक के प्रचलन के द्योतक हैं।
108. 2.32.4. यहाँ एक विचित्र सामर्थ्य के रूप में अछिद्यमान या बिना छेद वाली सुई से सिलाई का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि छेद वाली सुई का प्रयोग होता था।
109. 1.143.5; 4.16.17; 6.6.5; 7.104.20, आदि।
110. 8.78.10
111. 1.58.4; 4.20.5; 10.101.3
112. 1.179.6; 7.49.2
113. 1.34.1; 10.149. 1
114. 10.71.9
115. 2. 15.3
116. 'वज्रो वै आज्यम्', शतब्रा.; 1.4.4.4, 'वज्रो वा आपः', शतब्रा., 1.1.1.17
117. 'वाक् हि वज्रः', ऐब्रा., 4.1; 'वज्रो वै त्रिष्टुप्'. शतब्रा., 7.4.2.24
118. 'वज्रो वा एष यत् यूपः' कौसी., 10.1; 'वज्रो यूपः', 3.6.4.19, आदि। वस्तुतः स्फ्य, तैसं, 1.7.10.5; चक्र, तैसं. 1.4.4.10; परशु, शतब्रा. 3.6.4.10 आदि, विविध वस्तुएँ पुरोहितों के हाथ में वज्र बन जाती हैं।
119. आर. एस. शर्मा, पूर्व., 26
120. मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, 1981, 1280; निघण्टु, 2.20; आर. एस. शर्मा, पूर्व., 26
121. 'क्ष्णोत्रेण इव स्वधितिं सं शिशीतम्'। ऋ. 2.39.7; ऋ. 1.162.18 पर अपने भाष्य में सायण लिखते हैं, 'स्वधितिः छेदनसाधनो असि,' जिससे बड़े आरे के स्थान पर इसके बढ़ई की आरी होने का आभास मिलता है।
122. 'सः उद्वतः निवतः याति वेविषत् गर्भं एषु भुवनेषु दीधरत्।' ऋ. 3.2.10

123. निःयत् पूता इव स्वधितिः शुचि गात् स्वया कृपा तन्वा रोचमानः । ऋ. 7.3.9

124. हस्ते दात्र चन आ ददे । ऋ. 8.78.10

125. आर. एस. शर्मा, पूर्व., 1983, 26; सायण ऋ. 4.53.4 में इसको आयुध सामान्य अर्थ में लेते हैं ।

126. "ऋग्वेद में दो सार्थक शब्द आये हैं – 1. अश्मन्मयी वाशी और 2. आयसी वाशी । वासी से हिन्दी शब्द बसूला या बसूली बने हैं । यह ही पूर्वपाषाण-युगीन मानव के काटने या तक्षणक्रिया का औज़ार था । जैसा कि ऋग्वेद में कहा है—वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः (ऋ. 10. 101 10) । त्वष्टा देवता को हाथ में आयसी वाशी धारण करने वाला कहा गया है ।···" भारतीय कला, 1966, 11, देखें आगे भी ।

127. मार्शल, 1931, 1, 32

128. ह्वीलर, पूर्व., 1953, 69. श्रेडर मूल भारोपीय निवास में करघे का उपयोग गैर-ऊनी बुनाई के लिए होता पाते हैं । ओटो श्रेडर, प्री-हिस्टॉरिक ऐंटीक्विटीज़ ऑफ़ दि आर्यन पीपुल्स, 1972 सं., 330-37

129. 2.28.5; 6.9.2; 8. 13.14, आदि । तन् से व्युत्पन्न क्रिया-रूपों का 200 बार से अधिक प्रयोग हुआ है ।

130. 1.162.8; 2.28.5; 5.1.3., आदि ।

131. 1.134. 4; 6.75.6, आदि । रश्मि शब्द का प्रयोग किरण, रस्सी और धागे के अर्थ में हुआ है ।

132. 1.64.14; 2.23. 19; 3.15.2, आदि । तनय शब्द का प्रयोग विविध व्याकरणिक विकारों के साथ 83 बार से अधिक हुआ है, जब कि दुहिता का लगभग 66 बार ।

133. तुभ्यं उषासः शुचयः परावति भद्रा वस्त्रा तन्वते दंसु रश्मिषु चित्रा नव्येषु रश्मिषु । ऋ. 1.134.4

134. त्वं अग्ने सप्रथाः असि जुष्टः होता वरेण्यः । त्वया यज्ञं वि तन्वते ।। ऋ. 5.13.4

135. ···उषासानक्ता वय्येव रण्विते । तन्तुं ततं संवयन्ती समीची ·· ऋ. 2.3.6

136. वहिष्ठेभिः विहरन् यासि यन्तुं अवव्ययन् असितं देव वस्म ।
दविध्वतः रश्मयः सूर्यस्य चर्म इव अव अधुः तमः अप्सु अन्तः ।। ऋ. 4.13.4

137. न अहं तन्तु न वि जानामि ओतुं न यन्त्र वयन्ति समरे अतमानाः ।।···ऋ. 6.9.2

138. स इत तन्तुं सः वि जानाति ओतुं सः वक्त्वानि ऋतुथा वदाति ।

य ईं चिकेतत् अमृतस्य गोपाः अवः चरन् परः अन्येन पश्यन् ॥ ऋ. 6.9.3

139. वि मत् श्रथय रसनां इव आगः···मा तन्तुः छेदि वयतः धियं मे मा मात्रा शारि···ऋ. 2.28.5

140. वस्त्रा पुत्राय मातरः वयन्ति । ऋ. 5. 47.6

141. 1.142.1; 8.13.14; 9.22.6; 7

142. 1.35.7;4.38.10; 5.76.3; 9.69.6; 86.32, आदि ।

143. 1.5.10; 2.9.2; 2.35.13; 5.4.9; 7.32.13, आदि ।

144. 2. 17.4

145. 2.32.4

146. इना उत पृच्छ जनिम कवीनां मनः धृतः सुकृतः तक्षत् द्याम् । ऋ. 3.38.2; किं स्वित् वनं कः ऊं सः वृक्षः आस यतः द्यावापृथिवी निः ततक्षुः। ऋ. 10.31.7

147. सखा ऋभुभिः पुरुहूत प्रियेभिः इमां धियं सातये तक्षत नः । ऋ. 3.54.17.

148. तक्षत् यत् ते उशना सहसा सहः वि रोदसी मज्मना बाधते शवः । ऋ. 1. 51.10

149. शर्धः वा यः मरुतां ततक्ष ऋभुः न त्वेषः रभसानः अद्यौत् । ऋ. 6.3. 8

150. तक्षन् रथं सुवृतं पिद्मनापसः तक्षन् हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू ।
तक्षन् पितृभ्यां ऋभवः युवत् वयः तक्षन् वत्साय मातरं सचाभुवम् ॥
ऋ. 1.111.1

151. वही ।

152. निः चर्मणः ऋभवः गां अपिंशत सं वत्सेन असृजत मातरं पुनः । ऋ. 1.110.8

153. ततक्षे सूर्याय चित् ओकसि स्वे वृषा समत्सु दासस्य नाम चित् । ऋ. 5.33.4

154. त्वष्टा अस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष । ऋ. 1.32.2

155. ऋ. 3.8.6

156. गौरी मिमाय सलिलानि तक्षती, एक पदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥ ऋ. 1.164.41

157. इन्द्रस्य सख्यं ऋभव समानशुः । ऋ. 3.60.3

158. इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणाः देवासः पूषरातयः । ऋ. 2.41.15

159. ऋ. 3. 47.4

160: ऋभुगण 'सत्यमंत्र, ऋजुयव और विष्टी' ऋ. 1.20 4; 'सुकृतः सुकृत्यया', ऋ. 3.60.3; 'स्वपसः सुहस्ताः' ऋ. 4.33.8; 35.9; सुप्रवाचन, 4.36.3, आदि हैं ।

161. ऋभुगणों के दो कौशलों की आश्चर्यमिश्रित भाव से प्रशंसा की गयी है। एक तो वे सजीव गायें और घोड़े या प्रतिकृतियाँ बनाते हैं, ऋ. 1.20.2;3; 110.8; 161.7; 10; 3.60.2; 4, आदि, और दूसरे उन्होंने एक चमस के चार चमस बना दिये थे, ऋ. 1.20.6; 4.33.5; 6; 35.2-4, आदि। इसी के साथ उनका एक महत्व यह भी है कि इन्होंने अपने वृद्ध पिता को युवक बना दिया था, ऋ. 4.33.3; 35.5; 36.3, आदि।

162. ऋभुतः रयिः प्रथमश्रवस्तमः वाजश्रुतासः यं अजीजनन् नरः।
विभ्वतष्टः विदथेषु प्रवाच्यः यं देवासः अवथ सः विचर्षणिः।
यूयं अस्मभ्यं धिषणाभ्यः परि विद्वांसः विश्वानि नर्याणि भोजना।
द्युमन्तं वाजं वृषशुष्मं उत्तमं आ नः रयिं ऋभवः तक्षत आ वयः॥

163. वि नः वाजाः ऋभुक्षणः पथः चितन यष्टवे।
अस्मभ्यं सूरयः स्तुताः विश्वाः आशाः तरीषणि॥ ऋ. 4.36.5; 8;37.7

164. प्रातः सुतं अपिबः हरि-अश्व माध्यंदिनं सवनं केवलं ते।
सं ऋभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः सखीन् यान् इन्द्र चकृषे सुकृत्या॥ ऋ. 4.3.57. ब्राह्मणों आदि में इसके विवरण कुछ विस्तार से मिलते हैं। देखें कीथ, कैंब्रिज 1962,90 भी।

165. निघण्टुकार के अनुसार ऋग्वेद में अश्व के 26 पर्याय प्रयोग में आये हैं जब कि गाय के नव पर्याय, जिनमें से भी इला, जगती, मही, शक्वरी जैसे प्रयोग अनेकार्थी हैं। नि., 1.14 व 2.11. प्रथमा एव. और द्वितीया एकव. में गो का यदि गाय और बैल आदि अर्थों में 87 बार प्रयोग हुआ है तो अश्व के वाजि आदि रूपों को छोड़ कर 70 बार, पर रथ का 250 बार प्रयोग देखने में आता है। अवि का उल्लेख यदि 39 बार आया है तो अजा का 3 बार और छाग का केवल एक बार।

166. 1.140.2; 2.24.12; 3.48.3; 4.2.7, आदि।

167. 1.91,1; 2.14.5; 3.40.1; 5.34.2, आदि।

168. 1.77.5; 2.13.4; 4.33.2; 5.10.3, आदि।

169. 1.55.3; 8.51.3; 65.3, आदि।

170. 1.1.3;2.2.6; 3.1.19; 4.12.2; 6.1.3,आदि। 226 बार, राय—235 बार।

171. 1.10.6; 2.5.1; 3.2.11; 4.8.3; 5.17.4, आदि। 200 से अधिक बार।

172. 1.36.4;2.13.10; 3.2.12, आदि। लगभग 137 बार।

173. 1.113.20; 4.7.1, आदि। सायण के अनुसार इसका अर्थ यथाप्रसंग धन और कर्म है]।

174. 1.94.14; 3.1.22; 4.5.11; 7.9.1, आदि। लगभग 100 बार।
175. 1.24.4; 4.30.24; 6.13.2; 8.18.3, आदि। 100 बार से अधिक।
176. 3.6.2; 31.2
177. 1.31.14; 6.20.7; 7.4.7; 8.4.18; 10.61.11, आदि।12 बार।
178. 10.34.13; आदि। इस शब्द का प्रयोग 'ज्ञात' और 'धन' दोनों अर्थों में हुआ है।
179. 1.90.4; 2.2.6; 3.2.13; 4.14.3; 5.11-1; 6.32.4, आदि। 45 बार।
180. 1.10.2; 2.30.2; 3.11.3, आदि। 40 बार से अधिक।
181. 1.11.3; 3.13.3; 4.32.8, आदि। इसी का दूसरा रूप मह, अधिक प्रचलित रहा लगता है, संभवत: दोनों मूलत: जलर्थक रहे हैं; ऋग्वेद में मघ का प्रयोग लगभग 250 बार हुआ है। इन्द्र का एक पर्याय मघवा — धनी है।
182. 1.68.5; 3.45.21; 4.29.5, आदि।
183. वय का प्रयोग लगभग 300 बार हुआ होगा पर कहीं इसका अर्थ पक्षी है कहीं धन।
184. 4.24.9. 6.47.21;10.34.3, आदि।
185. 1.10.7; 2.9.4; 4.20.7, 5.38.1, आदि। लगभग 150 बार।
186. 1.124.10; 4.51.3; 6.20.4, आदि।
187. 1.7.2; 46.10; 2.15.9; 4.10.6, आदि। हिरण्य सोना सहित अन्य बहुमूल्य धातुओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ लगता है।
188. 8.25.22
189. 1.33.8; 122.14
190. 1.41.6; 2.38.1; 3.8.6; 4.1.10; 6.13.2., आदि। लगभग 100 बार।
191. 8.78.3
192. 5.58.2
193. 2.34.3, आदि।
194. 1.6.3; 2.3.6; 4.36.7
195. 1.166.9; 5.54.11
196. यदि हम सांख्यिकीय विश्लेषण में उतरना चाहें तो हमें अनेक उलझनों का सामना करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए, कुछ आभूषणों से पता चलता है कि ये आम प्रचलन में थे, पर सांख्यिकीय दृष्टि से इनकी आवर्तिता बहुत कम है। वस्त्र सभी पहनते लगते हैं, पर दूसरे द्रव्यों की तुलना में वस्त्र की

चर्चा कम है। इस आवृत्ति से हिसाब लगायें तो काफ़ी लोग नंगे दिखायी देंगे। सामान्य धन सूचक शब्दों में से कुछ—जैसे रयि, राय, मह, भग की आवर्तिता बहुत अधिक है। सोने के उल्लेख जिस तरह आते हैं उनसे तो कभी-कभी यह भ्रम पैदा हो सकता है कि सोना जगह-जगह बिखरा हुआ था।

197. नि. 2.7

198. नि. 2.10

199. नि. 1.2. इनमें लोह, कनक, कांचन और जातरूप की पुष्टि ऋग्वेद से नहीं होती। मरुत शब्द की धातु के अर्थ में स्वीकृति खासी रोचक है।

200. देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय, लोकायत, 1959, 562 और आगे; आर.एस. शर्मा, 1983,39 और आगे।

201. 1.116.3; देखें, वैदिक इंडेक्स, 1, 598-603, पितृ; सच्चिदानंद मिश्र, 1984, 141-46 भी।

202. मैकडनेल, वैदिक देवशास्त्र, अनु. डॉ. सूर्यकान्त, 19-20

203. इन्द्र ने मान से माप कर नदियों को खोदा था। सद्म इव प्राचः वि मिमाय मानैः वज्रेण खानि अतृणत् नदीनाम्। ऋ. 2. 15.3; मान से माप कर धरती का विस्तार किया और इसके ऊपर छत के रूप में आकाश को रख दिया, सं मात्राभिः ममिरे येमुः उर्वी, अतः मही सं ऋते धायेस धुः। ऋ, 3.38.3, आदि।

204. समानः मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तं एषाम्।
समानं मंत्रं अभि मंत्रये वः समानेन वः हविषा जुहोमि॥
समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानं अस्तु वः मनः यथा वः सुसह असति॥ ऋ. 10. 191. 3-4.
समानेन मनसा संविदाना।

205. वही।

206. वही।

207. अक्षरेण मिमेत सप्त वाणी। ऋ, 1.164.24

208. यज्ञस्य मात्रा वि मिमीत उ क्व। 10.191.3

209. 6.59.5

210. 4.51.8

211. 2.40.3; 3.3.4; 7.87.6, आदि।

212. 1.151.6; 2.27.14; 5.46.2, आदि। तुलना करें, मित-ज्ञवः। ऋ. 3.59.3; 7.82. 4, आदि से। 'मान' सामान्य निर्माण और जुड़ाव आदि के आशय से प्रयोग में आने के बाद ही मित्र अर्थात् परस्पर जुड़े हुए,

सम्बन्धित का आशय ग्रहण कर सकता था।

213. मिथुन शब्द अर्थ की दृष्टि से मित्र के ही समान है। ऋ. 1.83.3;3.39.3, आदि।

214. अनुमान शब्द का प्रयोग बाद में चल कर देखने में आता है। मन और म्न स्वयं भी माप की ही अवधारणा से विकसित हो सकते हैं। अंग्रेजी का मैन मान की उसी संकल्पना की देन प्रतीत होता है। मान के लिए किसी वस्तु-गत दंड या शलाका का विकास होने से पहले शारीरिक अंगों को विशेषत: हाथ को माप के लिए प्रयोग में लाया जाता था। उसी हाथ या मानम् से मैन बना है। मान के कर्म से जुड़ने के कारण मानव या मनु अर्थात् आहार अन्वेषक की तुलना में अन्न उत्पादक मनुष्य के भाव ने ही देवों से अलग मानव और मनु की संकल्पना को जन्म दिया है, ऐसा लगता है।

215. ऋ. 1.129.5 में प्रयुक्त 'अतिमति' की तुलना शतब्रा. 5.1.1.1 में प्रयुक्त 'अतिमान' से करें। मन, मान, मित, मति का सम्बन्ध यहाँ कुछ अधिक स्पष्ट दिखायी देता है।

216. 2.4.6; 5.23.4; 6.7.3, आदि

217. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या 'कुड़ी' को आस्त्रिक परिवार से आया हुआ मानते हैं। यह 'भारतीय आर्य भाषा' की ग़लत अवधारणा की देन है। यदि हम सही हिसाब लगाएँ तो केवल कुछ दर्जन शब्द ही आस्त्रिक सिद्ध नहीं होंगे। पर भारतीय या पोलीनेशियाई समान शब्दावली के आधार पर इसका सही निश्चय कर पाना कठिन है।

218. 1929, 149-54; ब्रिजभूषण विज, लाइनियर स्टैंडर्ड इन दि इंडस सिविलाइजेशन, फ्रइंसि., 1984, 153-162; ह्वीलर, 1953, 61 और 62 भी हमारे प्रस्ताव की ही पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार हड़प्पा में निम्न मानक्रम में द्विगुण प्रणाली, अर्थात् 1, 2, 8/3, 8, 16,32 आदि क्रम में 12.800 तक की एक सम्भावित इकाई तक पहुँचती है जो 13.625 ग्राम के बराबर थी। उच्चतर भारों में दाश-मिक प्रणाली प्रचलित थी जिसके अंश तिहाइयों में थे। मोहनजोदड़ो से सात बाट ऐसे मिले हैं जो इसके अपवाद हैं और इनका अनुपात कोई अन्य रहा लगता है। लम्बाई के मान दाशमिक प्रणाली पर बने प्रतीत होते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की विभिन्न इमारतों पर जिनमें विभिन्न सुनियोजित भवन, कक्ष, प्रांगण, सड़कें और चबूतरे आदि आते हैं, 150 जाँच करने के बाद यह नतीजा निकाला गया है कि हड़प्पा सभ्यता में पद (फुट) और हाथ (दो बालिश्त) दोनों से माप का क्रम प्रचलित था, पर इनका मानकीकरण हो चुका था। हड़प्पा से एक मानदण्ड

का टुकड़ा मिला है जो काँसे का बना है और जिस पर 0.367 इंच की दूरियों पर निशान लगे हैं जो कि 20.7 इंच के बराबर के हाथ के मान में अंगुल का आधा है। हड़प्पा के अन्नागारों की बाहरी दीवारों की लम्बाई 30 हाथ के बराबर है और चौड़ाई 10 हाथ के बराबर है। हड़प्पा की कुटाई के लिए बनी गोलाकार फ़र्श का व्यास 11 पद अर्थात् 13.2 इंच के 10 फुटों के बराबर है और मोहनजोदड़ो के स्नानागार का आयतन 13.1 इंच के 36×31 पद के बराबर है। उनके अनुसार हड़प्पा का पद (फुट) 13 से 13.2 इंच के बीच और हाथ 20.3 से 20.8 इंच के बीच पड़ता है।

219. 1.33.14; 3.39.6; 5.6.7; 8.47.16, आदि।

220. 2.39.5; 4.58.3, आदि। ये प्रयोग सामान्यार्थक हैं।

221. श्रौतकोश, 1970, 2. 53

222. शतब्रा. 3, 3,2,6,1-3,

223. जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में 'अष्टशफाः पशवः' (1-1-1-6; 6,6; 2,2,4; आदि) प्रयोग देखने में आता है जिसके अनुसार शफ खुर का आधा और कला शफ की आधी हुई।

224. 10.90.1, ऋग्वेद में पैमायश के अनेक दूसरे विवरण प्रासंगिक रूप में आते हैं, यथा काष्ठा — घुड़दौड़ की एक परिक्रमा; घोड़े की एक छलाँग की अधिकतम दूरी, जिससे ही सम्भवतः काठ या लट्ठा बना है। यद्यपि पूरे देश में इसके अलग-अलग मान चलते रहे हैं और यह कहना कठिन है कि मूल स्रोत क्या रहा हो सकता है। एक सम्भावित माप ऊर्ध्वहस्त व्यक्ति की अन्तिम ऊँचाई, दूसरी नासिका-पर्यन्त ऊँचाई और तीसरी शीर्ष-पर्यन्त ऊँचाई की रही है और क्षेत्र माप के लिए इनको द्विगुण किया जाता रहा है और अलग-अलग अंचल में एक ही नाम के किंचित भिन्न माप के पैमाने चलते रहे हैं। यह स्थिति दूरी की माप में योजना में भी देखी जा सकती है। धाप या धाव—जहाँ तक कोई तेज़ी से दौड़ सके; क्रोश—शांत वातावरण में जहाँ तक आदमी की आवाज़ सुनायी दे सके; योजन एक बार बैलगाड़ी या रथ को जोतने पर जहाँ तक पहुँचा जा सके या जिसके बाद बैलों को आराम देना ज़रूरी हो। पर यह योजन बैलगाड़ी और रथ दोनों के मामले में चलता रहा है और योजन की दूरी के विषय में अनेक आंचलिक भेद पाये जाते हैं।

225. देखें, आगे, शिक्षा के क्रम में।

226. देखें, राव, न्यू लाइट ऑन दि पोस्ट-अर्बन फ़ेज़ ऑफ़ दि इंडस सिविलाजेशन, हसि., 1982, 356; रोमिला थापर, पूर्व., पा. टि. 26, 233.

हड़प्पा क्षेत्र में आदि से अन्त तक व्याप्त एकरूपता के मिथक को हाल के अध्ययनों ने काफ़ी दूर तक तोड़ा है और यह माना जाने लगा है कि उसमें भी अनेक आंचलिक भेद थे। मामूली तौर पर यह भेद मान आदि के क्रम में भी था ही। मान-भेद का स्थान-भेद से सम्बन्ध तो है, साथ ही इसका सम्बन्ध वस्तु-भेद से भी है।

227. दश अश्वान् दश कोशान् दश वस्त्रा अधि भोजना। दशो हिरण्य-पिण्डान् दिवो दाशात् असानिषम् ॥ ऋ. 6. 47.23

228. एस. आर. राव, दि डिसाइफ़रमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, फलक 37-बी।

229. 8.25.22

230. मार्शल, पूर्व., 1, 110

अध्याय पाँच

व्यापार और वाणिज्य

हड़प्पा सभ्यता का उद्घाटन होने के समय से ही इसके वाणिज्यिक और औद्योगिक पक्ष पर इतना एकांगी बल दिया जाता रहा मानो इसके समूचे प्रसार क्षेत्र में जीविका का एक मात्र आधार सुदूर व्यापार ही रहा हो। इसके पीछे क्षीण रूप में हड़प्पा के नगरों को पश्चिमी एशिया की उपनिवेशिक बस्तियाँ सिद्ध करने का आग्रह भी काम कर रहा था। इसके ग्रामीण पक्ष की ओर विद्वानों का ध्यान कुछ बाद में गया और इसकी विशालता और स्वविशिष्टता ने पुराने बद्धमूल आग्रहों को निरन्तर ध्वस्त किया है, यद्यपि आज भी इन आग्रहों की झलक यदा-कदा देखने में आती रहती है।[1] इसके विपरीत जैसा कि हम आगे भी देखेंगे[2] वैदिक सभ्यता के नागर पक्ष की, और इसकी व्यापारिक गतिविधियों की इस तरह उपेक्षा की गयी कि व्यापारिक यात्राओं के क्रम में आवागमन के विवरणों को ही यायावरी का प्रमाण बना दिया गया। इस अध्याय में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि व्यापार और वाणिज्य के मामले में वैदिक विवरण हड़प्पा सभ्यता के भौतिक प्रमाणों से किसी भी दृष्टि से विसंगति प्रकट करते हैं या नहीं।

हड़प्पा सभ्यता का जिन विशेष मामलों में पश्चिमी एशिया से कोई सादृश्य दिखायी देता है उनमें यह पश्चिमी नगरों से आगे बढ़ी हुई और उन पर हावी दिखायी देती है। पिगट लिखते हैं, सुमेर में अक्कादी काल (2300 ई. पू.—2000 ई पू.) से पहले हड़प्पा सभ्यता से सम्पर्क के सुस्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं। पर इस दौर के अवशेषों में हड़प्पा की बहुत-सी उत्खचित मुद्राएँ पायी गयी हैं और एक ऐसा मुद्रांक मिला है जिसके पीछे मोटे कपड़े की छाप दिखायी देती है। इन मुहरों से प्रकट होता है कि हड़प्पा के व्यापारी सुमेरियाई नगरों में जमे और व्यापार में जुटे हुए थे।"[3] उनके अनुसार इनकी विपणन वस्तुओं में सूती कपड़ा भी शामिल था और यह 2000 ई. पू. के जल्द बाद ही बन्द हो गया था। वह आगे लिखते हैं, "हड़प्पा और सुमेर के व्यापारिक मिलन की प्रकृति चाहे जो भी

रही हो, इसमें सुमेर का योगदान मुख्यतः अलक्ष्य निर्यातों (इनविज़िबल एक्सपोर्ट्स) का ही रहा होगा।"[4] पिगट का सुमेरी निर्यात के विषय में यह कथन यह कहने की छूट देता है कि जहाँ व्यापारिक सम्पर्क सुनिश्चित हो वहाँ भी यह ज़रूरी नहीं कि इसकी पुष्टि में अपेक्षित पुरातात्विक प्रमाण मिल ही जायें और इसलिए व्यापारिक सम्पर्क को केवल उस दौर तक ही सीमित मानना जिस दौर के निर्णायक पुरातात्विक प्रमाण मिल चुके हैं, या उस क्षेत्र या स्थल तक ही व्याप्त मानना जहाँ से ऐसे प्रमाण मिले हैं, एक विवशता तो हो सकती है, पर यह इन दोनों सीमाओं को पार करके इस सम्पर्क के चलते रहने का निषेध नहीं करता। पिगट अपनी मान्यता को सूत्रबद्ध करते हुए लिखते हैं, "यह लगभग निश्चित-सा है कि सुमेर के साथ व्यापार दक्षिणी बलूचिस्तान के कुल्ली संस्कृति के व्यापारियों ने आरम्भिक सल्तनत काल (इन अर्ली डाइनेस्टिक पीरियड) में शुरू किया होगा और यदि हम कहें कि सुमेरिया के नगरों में, जिनमें भारतीय व्यापारी रहते थे और परम्परागत रूप में अपने देवताओं की पूजा करते थे, भारतीय व्यापारियों के 'कारखाने' भी स्थापित थे तो यह बहुत खींचतान नहीं होगी। हड़प्पा के व्यापारियों ने ऐसा व्यापार कायम कर रखा था जो 2300 ई. पू. के लगभग अपने पूरे रौ पर था और फिर उनके प्रतिनिधि ऊर और लगाश और व्यापार के दूसरे केन्द्रों पर भी रहे होंगे जहाँ वे माल और काग़ज़-पत्र पर अपनी मुहरें लगाते रहे होंगे।"[5]

हड़प्पा की मुहरों के अतिरिक्त पशुओं-पक्षियों के आशयों वाले साज-सामान, भाण्ड और हथियार और औज़ार मिस्र और मध्य एशिया तक के क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं जिनका हड़प्पा सभ्यता में प्रयुक्त प्रतिरूपों से निकट साम्य दिखायी देता है। इस विषय में उपलब्ध सूचनाओं की आवृत्ति यहाँ अप्रासंगिक होगी; कारण, इस पर अनेक अध्येताओं ने इससे पहले भी विचार किया है[6] और इस सम्पर्क के विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि उपलब्ध सूत्रों से प्रकट होता है कि इन व्यापारिक गतिविधियों में पहल हड़प्पा के व्यापारियों की थी और उनकी बस्तियाँ पश्चिमी एशिया के अनेकानेक केंद्रों में कायम थीं जब कि इसके विपरीत पश्चिमी एशिया के व्यापारियों की हड़प्पा क्षेत्र में किसी बस्ती का पता नहीं चलता। लोथल की गोदी की खोज ने हड़प्पा के व्यापारियों की नौवहन की गतिविधियों को बहुत उजागर किया है, पर सरस्वती और सिन्धु से भी इस तरह के समुद्रगम्य जहाज़ बहुत पहले से जाया करते थे, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इन जहाज़ों को चलाने के लिए पालों का प्रयोग भी होता था और सामान्यतः इनको पचासों मल्लाह डाँड़ों से चलाते थे, यह लोथल से प्राप्त जहाज़ों की प्रतिकृतियों से प्रकट है।

हड़प्पा का व्यापार केवल नदी और समुद्र मार्ग से ही होता रहा हो, ऐसी

बात नहीं । सोना, चाँदी, टीन, सीसा, अल्पमूल्य के रत्नों आदि की खोज में वे पश्चिमोत्तर की पर्वतीय बाधाओं को पार करके अफ़गानिस्तान, सोवियत मध्येशिया, ईरान, और तुर्की तक के क्षेत्रों में पहुँच गये थे और इनमें बदख्शाँ, शोर्तुगाई, आदि में इन्होंने अपनी व्यापारिक बस्तियाँ भी बसा ली थीं और ऐसा लगता है कि इनमें से कुछ क्षेत्रों में उन्होंने व्यापारिक एकाधिपत्य कायम कर रखा था।[7] उनके इस एकाधिकार का हाल यह था कि पश्चिमी एशिया के केन्द्रों को भी इन क्षेत्रों से उपलब्ध कुछ वस्तुओं का निर्यात हड़प्पा के व्यापारियों के माध्यम से ही हो रहा था।[8]

सुदूर देशों के साथ उनका व्यापार घरेलू स्तर पर उन्नत व्यापार के बाद ही, और इसकी सफलताओं के कारण ही, सम्भव था, अतः हड़प्पा प्रसार-क्षेत्र के भीतर और इसके बाहर पड़ने वाले भारतीय भू-भाग में भी इनकी गतिविधियाँ बहुत तेज़ थीं और निश्चय ही परिपक्व हड़प्पा-काल से बहुत पहले से जारी थीं। वे सम्भवतः नीलगिरि और मैसूर तक के क्षेत्रों से सोना और रत्न प्राप्त कर रहे थे और उनके उपयोग और विपणन में चंदन आदि भी रहा प्रतीत होता है। खेतड़ी की ताँबे की खानें उनके ताँबे का प्रधान स्रोत थीं। इस बात की कुछ सम्भावना प्रकट की गयी है कि चाँदी की उपलब्धि का उनका एक स्रोत बिहार भी रहा हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाणिज्यिक गतिविधियाँ परिपक्व हड़प्पा-काल में अपने चरम शिखर पर पहुँची हुई थीं और इसके नगर केन्द्रों की तो प्रधान गतिविधि उद्योग और व्यापार ही प्रतीत होती है। चान्हूदड़ो की खुदाई करने वाले नार्मन ब्राउन का विचार है कि यह शहर मुख्यतः शिल्पियों का ही रहा लगता है।[9]

2

वैदिक व्यापार के विषय में आशंकाएँ

हड़प्पा सभ्यता से वैदिक सभ्यता का अन्तर दिखाने के लिए इस बात पर बहुत ज़ोर दिया जाता है कि हड़प्पा की सभ्यता शहरी थी और इसमें व्यापारिक गतिविधियों का प्राधान्य था, जब कि वैदिक जन तो वाणिज्य से कोई सरोकार ही नहीं रखते थे, और इस विषय में भी संदेह प्रकट किया जा रहा है कि वे समुद्र से परिचित थे।

वैदिककालीन अर्थ-व्यवस्था पर विचार करते समय हम देख आये हैं कि यह ऋग्वेद के रचना-काल से पहले के चरण से ही उन विभिन्न अपेक्षाओं की पूर्ति

करती दिखायी देती है जिनकी आवश्यकता व्यापार और वाणिज्य के लिए होती है। कृषि, पशुपालन और उद्योग के मामले में इसका हड़प्पा से अभिन्न साम्य दिखायी देता ही है। वैदिक समाज के समृद्ध वर्ग का सम्बन्ध मुख्य रूप से व्यापार और वाणिज्य से था और ऋग्वेद की रचना, जैसा कि हम देखेंगे, इस व्यापारी वर्ग के संरक्षण और प्रोत्साहन से ही सम्भव हुई थी।

ऋग्वैदिक काल में वाणिज्य के प्रचलन के विषय में आशंका प्रकट करने वालों की अपनी झिझक का कारण ऋग्वैदिक समाज की आर्थिक स्थिति के विषय में बनी हुई उनकी धारणा रही है। वे वैदिक समाज को पशुचारी मानते रहे हैं, क्योंकि उनकी समझ से ऋग्वेद में कृषि का उल्लेख पशुपालन की तुलना में कम आया है। घरेलू दासियों के उल्लेख तो मिलते हैं, पर दासों और मज़दूरों के नहीं। ऋण की चर्चा तो आती है पर ब्याज की दर का ज़िक्र नहीं आता, अतः यह महज़ उधार या हथफेर रहा होगा। और सबसे बड़ी बात यह है कि उनके अनुसार वाणिज्य के लिए ऋग्वेद में कोई शब्द नहीं आता, आदि।[10]

कृषि और पशुधन वाले पक्ष की उलझन पर हम पहले ही विचार कर आये हैं। ऋग्वेद में गुलामों का अस्तित्व बहुत स्पष्ट रूप में प्रमाणित होता है। एक स्थल पर दास-वर्ग का स्पष्ट उल्लेख है।[11] अन्यत्र सौ दासों के दान की चर्चा है।[12] दासों का अस्तित्व अन्य बातों से भी प्रमाणित होता है[13]; जहाँ तक दासी शब्द का सम्बन्ध है, सायण इसका अर्थ दास-सेना करते हैं। और सन्दर्भों से भी उनके आशय की ही पुष्टि होती है।[14] इसके बावजूद सेविकाओं के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।[15] ध्यान इस बात पर दिया जाना चाहिए कि जो व्यक्ति पचास दासियाँ दान में दे सकता है उसके पास दासियों की संख्या क्या रही हो सकती है? और उस दान-जीवी पुरोधा द्वारा इन दासियों का जिस भी रूप में उपयोग किया जाता रहा हो, वह इनका भरण-पोषण कैसे करता रहा होगा? यदि किसी समाज के उपजीवी वर्ग की हालत यह मानी जाये कि वह पचास-पचास दासियाँ रख सकता हो तो उसकी आर्थिक समृद्धि क्या रही हो सकती है? और ब्राह्मणों की ही तरह क्षत्रिय भी उपजीवी हैं और वैदिक काल में इनकी आर्थिक स्थिति ब्राह्मणों से अधिक अच्छी दिखायी देती है। फिर यह प्रचुर उत्पादन जो दो उपजीवी वर्णों को इतना समृद्ध बना रहा था, दास श्रम का उपयोग किये बिना कैसे हो सकता था? यह बात उन विद्वानों की असावधानी को प्रकट करती है जो दानस्तुतियों में वधू शब्द को देख कर इसे स्त्रीवाचक मानते रहे हैं और यह कल्पना करते रहे हैं कि ये दासियाँ ही हो सकती हैं। वास्तविकता यह है कि दान के इन प्रसंगों में वधू शब्द का प्रयोग 'वहन करने वाले' के अर्थ में हुआ है और इनके सन्दर्भ में प्रायः रथों का उल्लेख आया है।[16] एक-दो स्थलों पर स्वयं सायण भी इसे स्त्री के अर्थ में लेते हैं[17], पर अन्यत्र उनका ध्यान इस बात की

ओर जाता है कि यहाँ आशय वहन करने वाले या रथ-खींचने वाले घोड़ों और बैलों से है ।[18] ग्रिफिथ ने सन्दर्भ और औचित्य का निर्वाह करते हुए वधू का अर्थ घोड़ियाँ (मेयर्स टु ड्रा) किया है।

ऋण के प्रसंग में हम पाते हैं कि यह ऋण कबीलाई हथफेर नहीं है, अपितु इस पर ब्याज देना पड़ता है। ब्याज की दर कठिन लगती है; कारण, दिन-रात की गिनती करते रहने वाले इन सूदखोरों को कोसा जाता है।[19] रत्ती-पाई करके ऋण को जैसे-तैसे उतारने की चर्चा आती है।[20] इसमें कबीलाई उदारता भी नहीं है, ऋण के लिए सूदखोर के पास जाना पड़ता है, अतः कामना यह की जाती है कि दूसरों के पास कर्ज लेने न जाना पड़े।[21] आश्चर्य नहीं कि पणि शब्द का एक आशय इस प्रकार के सूदखोरों से भी रहा हो और वे कर्जे की वसूली में जब-तब वैदिक ऋणग्रस्तों के गाय-बैल खोल ले जाते रहे हों। द्यूत वाले प्रसंग में यह उल्लेख भी है कि जुआरी को महाजन इस डर से क़र्ज़ नहीं देता कि कहीं उसका पैसा डूब न जाये।[22] अब ऐसी दशा में ब्याज की दर का स्पष्ट उल्लेख न भी हो तो इससे क्या फ़र्क पड़ता है? इसके बावजूद कुछ विद्वानों का यह ख़याल है कि ऋग्वेद में ब्याज की दर का भी उल्लेख है। वैदिक इंडेक्स के लेखक लिखते हैं, "ऋण का ऋग्वेद में और उसके बाद बार-बार उल्लेख है तथा यह वैदिक भारतीयों के बीच प्रचलित एक सामान्य व्यवहार था। पासे के सम्बन्ध में भी ऋण लेने का अकसर संकेत मिलता है। ऋण चुका देने को 'ऋण-सन्नी' कहा गया है।···ऋण न चुकाने का परिणाम अत्यन्त गम्भीर हो सकता था; यथा पासा खेलने वाले को दास तक बनना पड़ सकता था। अन्य बुरे तत्वों, जैसे चोरों आदि की भाँति, ऋण लेने वाले व्यक्तियों को, कदाचित् उन पर और उनके मित्रों पर दबाव डालने के उद्देश्य से महाजन लोग उन्हें(ऋण लेने वाले व्यक्ति को) खम्भों से बाँध देते थे।

"ऋण पर कितना सूद देना पड़ता था, इसका अनुमान करना असम्भव है। ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक स्थल पर आठवाँ (शफ) और सोलहवाँ(कला) भाग देने का उल्लेख है; किन्तु यहाँ यह निश्चित नहीं है कि वास्तव में इसका तात्पर्य सूद से है अथवा मूलधन की किसी किश्त से।···

"ऋण किस सीमा तक उत्तराधिकार की वस्तु था, इसका उल्लेख नहीं है।···"[23]

यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि वाणिज्य का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं आया है। ऋ. 1.112.11 में वाणिज्य करने का, 5.45.6 में वणिक शब्द का और 4.24.10 में 'क्रीणाति'—खरीदता है का, 4.24.9 में अविक्रीत का प्रयोग हुआ है, जिस पर सायण का भाष्य अवलोकनीय हैं। अथर्ववेद में तो इन्द्र को वणिक कहा ही गया है।[24] ऋग्वेद में भी इन्द्र को बार-बार कहा गया है मघवा, जिसका भी अर्थ महा-धनी ही है। सबसे बड़ी बात यह है कि वैश्य वर्ण की

उत्पत्ति ऋग्वेद से मानी गयी है[25] और यह इस बात का एक प्रबल प्रमाण है कि ऋग्वेद के रचनाकारों के आश्रयदाता तत्कालीन वणिक ही थे और उन्हीं के द्वारा कराये जाने वाले यज्ञों को ध्यान में रखकर ऋग्वेद के सूक्तों की रचना की गयी थी। आश्चर्य नहीं कि आर्य शब्द का प्रयोग भी 'स्वामी और वैश्य' के लिए ही होता रहा है।[26]

3

व्यापारिक सम्पर्क-सूत्र

पहले हम इस मुद्दे को लें कि वे कौन-सी वस्तुएँ थीं जिनका वैदिक समाज उपयोग करता था और जो उसे सिन्धु से लेकर गंगा तक के मैदान में, स्थानीय स्तर पर, सुलभ नहीं थीं ? इस विषय में किसी तरह का विवाद नहीं होना चाहिए कि वैदिक जन धातु के औज़ारों और हथियारों का उपयोग करते थे। इसी तरह उनके आभूषण सोने और चाँदी के बने होते थे और इनके लिए वे मणियों या मनकों और रत्नों(मूल्यवान और अर्ध-मूल्यवान पत्थरों)का प्रयोग करते थे। इनको वे निश्चय ही सुदूर स्थलों से प्राप्त करते थे। दूसरे शब्दों में कहें तो वे किसी-न-किसी व्यापारिक सम्पर्क-सूत्र से जुड़े हुए थे।

किसी-न-किसी प्रकार की लेन-देन, चाहे वह विशेष अवसरों पर दिये जाने वाले उपहारों के रूप में हो या सामान्य अदला-बदली के रूप में, अविकसित कबीलों में भी पाया जाता है और इस क्रम में अनेक वस्तुएँ अपने उत्पादन-स्थल से सैकड़ों-हज़ारों मील की दूरियाँ पार कर जाती है।[27] अत: यह कहा जा सकता है कि कुछ ऐसी चीज़ों का पाया जाना जिनका स्रोत-स्थल प्राप्ति-स्थल से बहुत दूर है, व्यापारिक सम्पर्क-सूत्र के अस्तित्व का पर्याप्त प्रमाण नहीं है। यह सच भी है। वास्तव में इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण तथ्य हैं उपलब्ध वस्तुओं की गुणवत्ता और मात्रा, उपलब्धि-स्थल तक पहुँच, माप और तौल के मानक, विनिमय के रूप, स्थानीय कार्य-विभाजन और दक्षता का स्तर इत्यादि, जिनसे ही व्यापारिक गतिविधियों की प्रकृति और प्रखरता का सही ज्ञान हो सकता है। यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि ख़ानाबदोश ओर पशुचारी जमातों में सुनियोजित और दूरस्थ व्यापार की प्रवृत्ति नहीं होती, यद्यपि यदि उनका अटन-क्षेत्र बहुत व्यापक हुआ तो वे अपने मार्ग में पड़ने वाले स्थानों की कुछ ख़ास चीज़ों को अपने उपयोग के लिए जुटा भी सकते हैं। ऐसे सामानों की संख्या बहुत थोड़ी और मात्रा भी बहुत स्वल्प होगी, अन्यथा यह उन पर भार सिद्ध होगी। इसके विपरीत कुछ ऐसे अविकसित पर दक्ष कबीले भी हो सकते हैं जो अपने क्षेत्र का

माल लादकर और कुछ चीज़ें बनाकर जगह-जगह बेचते फिरें और उनकी पूरी ज़िन्दगी केवल यात्राओं में ही कटे, जसा कि पत्थर के चाक, सिल, बट्टे आदि बना कर बेचने वाले कंजर आदि आज भी करते हैं, पर इनके पशु केवल भारवाही—टट्टू, खच्चर और गधे आदि—होते हैं और साथ में उनके कुत्ते होते हैं जो उनकी और उनके माल की रखवाली करते हैं। ये अपने पशुओं को चरने के लिए अपने पड़ाव के आस-पास छोड़ ही देते हैं। इन पशुओं में गाय, भेड़, और बकरी आदि नहीं आते।

ऋग्वैदिक समाज को जब हम ऊपर की कसौटियों पर कसते हैं तो पाते हैं यह अविकसित समाज के किसी भी खाके में अँट नहीं पाता। उनको हर चीज़ प्रचुर चाहिए, भूरि और अकूत चाहिए।[28] इसे सारी दुनिया की[29], सभी दिशाओं की[30], चारों समुद्रों की[31] सम्पत्ति चाहिए। भोजन हो या मकान, वस्त्र हो या वाहन, सब कुछ श्रेष्ठ चाहिए।[32] यदि चुनाव दूध और घी में करना हो तो दूध नहीं, घी चाहिए। ऋग्वेद में दूध शब्द का एक बार भी प्रयोग नहीं हुआ है जब कि घृत शब्द का 201 बार प्रयोग हुआ है। दान-उपहार में देने वाले की मर्ज़ी चलती है, पाने वाले की नहीं, पर इन्हें अपनी इष्ट और स्पार्ह वस्तु चाहिए।[33]

यदि ऋग्वेद के संख्यावाची और परिमाणवाची शब्दों पर दृष्टि डालें तो उनकी समृद्धि और स्वप्नों की दुनिया का एक ठोस चित्र सामने आयेगा। यहाँ यह स्मरण दिलाना उचित होगा कि अविकसित समाजों में से अनेक में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भी तीन से बड़ी संख्या नहीं पायी जाती रही है। बहुत या समस्त के लिए भी इसी तीन की संख्या का प्रयोग होता रहा है।[34] किसी अति प्राचीन काल में वैदिक जनों के पूर्वजों की स्थिति भी यही थी जो बहुवचन के कारक चिन्हों में विद्यमान है-- एक, दो के बाद समग्र या बहु का कारक चिन्ह। तीन की संख्या के जादू के पीछे भी शायद इसी का हाथ है, क्योंकि इसमें सब कुछ सिमट आता है। पर वैदिक काल में यह तीन फैलता हुआ तीन देवताओं को तैंतीस आदि से गुज़ारते हुए हज़ारों में पहुँचा देता है। जहाँ वैदिक काल से सहस्राब्दियों बाद की उन्नत सभ्यताओं को भी हज़ार से ऊपर के संख्यावाची का ज्ञान नहीं है[35] वहाँ वैदिक जनों ने हज़ार के अतिरिक्त अयुत (लाख) और नियुत (करोड़ ?[36]) की अवधारणा को विकसित कर लिया है। परिमाण के सन्दर्भ में विश्व, सर्व, अऋण—कभी समाप्त न होने वाला और परीणस—सब प्रकार का, शाश्वत—अक्षय; व्यानशी—अनश्वर, सलिल आदि उनके लोभ और वैभव दोनों को प्रकट करते हैं।[37] उनके भण्डारण या संग्रह का, जिसके लिए वे कोश शब्द का प्रयोग करते हैं, कुछ अनुमान इस बात से लग सकता है कि आकाशीय कोश में संचित जल से वृष्टि का सारा जल गिरता है। इस अतिरंजना का भौतिक आधार भी तदनुरूप कुछ विशाल और देखने वालों को अकूत प्रतीत होने वाला लगना

चाहिए। हड़प्पा के अन्नागारों को अन्नागार कहने के स्थान पर 'कोश' कहना अधिक उचित होगा।

सबसे रोचक बात यह कि जिस व्यापारिक आवागमन से वैदिक कालीन व्यापारिक गतिविधियों की गुरुता और व्याप्ति की अकाट्य पुष्टि होती है उसे ही व्यापारिक गतिविधियों के निषेध के लिए एक प्रमाण बनाया जाता रहा है। इन्हीं के आधार पर यह सिद्ध किया जाता रहा है कि वैदिक जन यायावर थे और फिर उलटकर यह सोचा जाता रहा है कि यायावर जनों का उन्नत व्यापार से सम्बन्ध नहीं हो सकता था। दृष्टिकोण का एक मामूली-सा भेद कितने भिन्न परिणामों पर पहुँचा सकता है, इसकी यह एक अच्छी मिसाल है। ऋग्वेद में "चलो, चलो", "चैरवेति-चरैवेति" की गूँज इस तरह व्याप्त है कि लगता है पूरा समाज निरन्तर गतिशील है। क्या कोई पूरा समाज व्यापारियों का समाज हो सकता है? अतः विद्वानों को इसका एक ही सरल समाधान दिखायी दिया और वह यह कि यह पूरा समाज यायावरी की अवस्था में था। जो कमी थी उसे गाय-बैल और लूट-मार की कल्पना से पूरा कर दिया गया। इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि किसी भी साहित्य में पूरे समाज का चित्र नहीं होता है। इसमें अपने समय के प्रभुवर्ग को प्रधानता दी जाती है और उन्हीं के कारनामों का किसी भी साहित्य में गुणगान और विस्तृत विवरण होता है। शेष का उल्लेख यदि आता भी है तो प्रासंगिक रूप में। अतः यह गतिशीलता पूरे वैदिक समाज की नहीं, अपितु इसके प्रभुवर्ग की है। यदि इस तथ्य को पकड़ लिया गया होता तो वैदिक व्यापारिक गतिविधियों को समझने में कठिनाई नहीं होती। वास्तव में 'कृष्टी'—कृषि-कर्मी, जन सामान्य या प्रजा और चर्षणी—व्यापारिक यात्राओं पर जाते रहने वाले लोग, उनके दल, इस दृष्टि से काफ़ी महत्वपूर्ण हैं कि कृषि-कर्मियों की विशाल जनसंख्या के समानान्तर व्यापारिक उपक्रमों में लगे हुए लोगों की संख्या भी काफ़ी प्रभावशाली थी।

4
यात्राएँ

वैदिक यात्राओं के सन्दर्भ में निम्न तथ्यों पर ध्यान देना कुछ उपयोगी हो सकता है :

1. इन यात्राओं के सन्दर्भ में गो आदि को लेकर चलने के उल्लेख जहाँ आये भी है वहाँ गो शब्द पर ध्यान देना जरूरी है। ऐसे उल्लेख कम हैं और चूँकि गो शब्द गाय के अलावा बैल का, धन का, गम्य वस्तु का, अर्थ रखता था अतः जरूरी

नहीं कि सन्दर्भ चरवाही का हो। इसके विपरीत भारवाही पशुओं—ऊँट, गधा, बैल, घोड़ा, खच्चर आदि के उल्लेख अधिक स्पष्ट हैं।

2. परिवहन के अन्य साधनों में नौकाओं, रथों, बैलगाड़ियों के उल्लेख अधिक प्रचुर हैं।[38]

3. नदियों की प्रशंसा उनकी तेज़ धाराओं के लिए[39], पर्वत से लेकर समुद्र-पर्यन्त उनके प्रवाह के लिए[40], धन कमाने में उनकी भूमिका के लिए[41], और यातायात के साधन के रूप में[42] की गयी है और इनके सहारे कुछ व्यक्तियों के मालामाल होने के स्पष्ट उल्लेख आये हैं।[43] लहरों को नाव डुबाने वाला बताया गया है।[44]

4. पितरों को और कुछ देवों को मार्ग के अनुसन्धानकर्ता और निर्माता के रूप में[45] याद किया गया है।

5. इन यात्राओं को दुस्तर बताया गया है[46], जान-माल को लेकर बार-बार चिन्ता प्रकट की जाती है।[47] इस बात की प्रार्थना की जाती है कि किसी तरह शत्रुओं से सामना न हो।[48] रक्षा के लिए चौकसी रखी जाती है।[49] रात के समय या अँधेरे में खासतौर से डर बना रहता है।[50]

6. जहाँ मुठभेड़ के स्पष्ट विवरण आये हैं वहाँ आक्रमण विरोधी पक्ष की ओर से होता है[51] और वैदिकों का प्रयास आत्मरक्षा तक सीमित दिखायी देता है। इन आक्रमणकारियों को बाधक या रास्ता रोकने वाला[52], द्वयाविन[53] या दिन और रात दोनों समय लूट करने वाला, दुःशेव[54], दुराध्य[55] अर्थात् आसानी से प्रसन्न न होने वाला और तमोवृध या तम[56], अँधेरे में सक्रिय होने वाला बताया जाता है। दुःशेव और दुराध्य शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि संकट से बचने के लिए वैदिक यात्री अपने माल का कुछ हिस्सा इन्हें देकर भी मुक्ति पाने की कोशिश करते थे। एक स्थल पर इनके विषय में स्पष्टतः यह कहा गया है कि वे न तो कुछ पूछते हैं, न बोलते हैं और न ही बातचीत पर राज़ी होते हैं।[57]

7. जहाँ नौचालन के विवरण आये हैं, समुद्री जहाज़ों 'नावः समुद्रियः'[58] और 'शत-अरित्र'[59] नौकाओं को सामान्य नौकाओं से अलग पहचाना जा सकता है। अपेय समुद्री जल के बीच पानी के लिए तरसते हुए यात्रियों की कष्ट-कथा का भी उल्लेख आता है।[60] इसके अतिरिक्त एक-दो दुर्घटनाओं का बार-बार उल्लेख आता है जिनका सम्बन्ध असन्दिग्ध रूप से समुद्री यात्राओं से ही है।[61]

8. यात्राओं का लक्ष्य धनार्जन है।[62] धनार्जन के लिए की जाने वाली इन यात्राओं के दौरान ही मुठभेड़ों की नौबत भी आती है, पर जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं, ये आर्यों द्वारा अनार्यों के धन-माल की लूट के लिए नहीं बल्कि लुटेरों से अपनी और अपने माल की रक्षा के लिए होने वाले मुकाबले हैं। विजयों

का अर्थ भी रक्षापरक है। यदि आक्रमणकारी के मंसूबे विफल कर दिये जाते हैं और उसे जान बचाकर भागना पड़ता है तो यह भी विजय ही है और जिन चीज़ों को वह लूट लेना चाहता है उन्हें बचा लेना भी जीत ही है। पर आदर्श स्थिति वह है जिसमें लड़ने की नौबत ही न आये।[63]

9. ये यात्राएँ सुदूर देशों से सम्बन्ध रखती हैं।[64] इनके मार्ग में पहाड़ और समुद्र[65] पड़ते हैं, रास्ता काफ़ी बीहड़ पड़ता है।[66] पहाड़ी रास्ते में रोंगटे खड़े करने वाली सर्दी और ठण्डी हवाओं का सामना करना पड़ता है।[67] अन्य किसी धन की अपेक्षा उन्हें समुद्र और पर्वत-पार के देशों का धन अधिक आकर्षक लगता है।[68]

10. इन यात्राओं का उद्देश्य धनार्जन होने और इनके साथ लुटेरों से संघर्ष की अकसर सम्भावना पैदा होने के कारण, धन और इसके पर्यायों के साथ युद्ध और इसके पर्यायों का लगभग नित्य सम्बन्ध स्थापित हो गया है और प्राय: ये एक-दूसरे के पर्याय बन गये हैं।

यदि हम इन विभिन्न तथ्यों को व्यापारिक उपक्रमों के अतिरिक्त किसी भी अन्य उपक्रम से जोड़ना चाहें तो हमें निराशा का ही सामना करना पड़ेगा। चारणजीवी जमातों को एक चरागाह से दूसरी चरागाह तक जाने के लिए किसी निश्चित मार्ग की आवश्यकता नहीं होती। वे अपनी मन्द-मन्थर गति से चलते हुए न तो अलग से चलने की कोई तैयारी करते हैं, न ही इस बात की उनके मन में पृथक् अनुभूति होती है कि वे कहीं जा रहे हैं। अत: यात्रा के स्पष्ट उल्लेख का उनके सन्दर्भ में कोई अर्थ नहीं। चरवाहे अपनी गायों बकरियों को न तो रथों पर लाद कर चलते हैं न नावों पर और उनके पास इतना सामान भी नहीं होता कि इसके लिए अलग से गाड़ी की ज़रूरत पड़े। वास्तव में गाड़ी उनकी यात्रा में बाधक ही हो सकती है। कारण, खुले जानवरों को सँभालना और जुते जानवरों के साथ चलना अपने आप में एक समस्या हो जायेगी। अत: हम कहीं घुमन्तू चरवाहों को गाड़ी पर चलते नहीं देख सकते। मैदानों का उल्लेख जितना कम आया है और नदियों का जितना अधिक, उसे ध्यान में रखना ज़रूरी है। चरवाहों के प्रसंग में थोड़ी देर के लिए कल्पना कर लें कि नदी आदि पार करते समय उन्हें अपने मवेशियों को नाव पर लादना भी पड़ सकता है तो कम-से-कम नावें तो उनके पास नहीं ही हो सकतीं। नावों के सन्दर्भ में यहाँ बार-बार अपनी नावों का उल्लेख आता है। इसके विपरीत जब हम आर्यों को लुटेरा मानकर चलते हैं तो यह भूल जाते हैं कि लुटेरों से दूसरे आतंकित रहते हैं, स्वयं वे नहीं। यहाँ हम आर्यों को भयभीत पाते हैं[69], उन पर आक्रमण होने के उल्लेख पाते हैं, उन्हें रातों से डरते पाते हैं और इस बात की याचना करते पाते हैं कि अपने शत्रुओं से इनका सम्पर्क न हो। यदि शिकार से सम्पर्क ही न हो तो शिकार सुरक्षित तो रहेगा, पर शिकारी

कैसे रह सकता है ? लुटेरे भला क्यों कामना करने लगे कि विरोधियों से सामना ही न होने पाये ? अँधेरा डाकुओं के मन में भय नहीं पैदा करता, अपितु अन्धकार का आवरण उन्हें अभय प्रदान करता है ।

5

वदिक ऋषि और राजा

हमने आरम्भ में यह कहा है कि ऋषि शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में सर्वत्र सूक्तों के रचनाकार के रूप में नहीं हुआ है । वहाँ ऋषि का अर्थ है वह पात्र या चरित्र जिसके मुख से ऋचा कहलायी गयी है ।[70] इसके कुछ कारणों का उल्लेख भी हमने वहाँ किया है । इसका एक अन्य प्रमाण यह भी है कि जिन सूक्तों के रचयिता वसिष्ठ और विश्वामित्र माने गये हैं उनमें कतिपय सूक्तों में इनके लिए प्रयुक्त 'तृत्सव:'[71] और 'कुशिका:'[72], 'वसिष्ठा:'[73] और 'कुशिकास:'[74] जैसे बहुवचन प्रयोग यह प्रमाणित करते हैं कि इन सूक्तों की रचना उसी गोत्र या गुरु-परम्परा के अन्य कवियों ने की है, स्वयं वसिष्ठ या विश्वामित्र ने नहीं, जब कि ऋषि के रूप में इन्हीं का नाम आया है ।

ऋषि शब्द का शाब्दिक अर्थ है द्रष्टा या देखने वाला ।[75] इसका एक अन्य अर्थ है जाने वाला ।[76] प्राचीन काल में जब ज्ञानवर्धन के दो ही साधन थे—परम्परा का ज्ञान और देश-देशान्तर का भ्रमण और परम्परा का ज्ञान भी एक जगह बैठकर अर्जित करना सम्भव नहीं था—तब भ्रमण या देश-देशान्तर-गमन का अर्थ ज्ञान-वर्धन भी था ।[77] अथर्व आंगिरस, जिनको प्राचीन आस्थाप्रतीक ऋषियों में गिना जाता है, पथ का विस्तार करने वाले बताये जाते हैं ।[78] अन्यत्र भी पूर्ववर्ती पितरों को पथों का निर्माण या खोज करने वाला बताया जाता है ।[79] एक अन्य व्याख्या के अनुसार जिन लोगों ने तप करके अपने स्वयं के प्रयत्न से ब्रह्म को प्राप्त किया वे ऋषि कहलाये ।[80] यदि इस ब्रह्म को सायण के सुझाव के अनुसार वेद मान लें तो उन्होंने वेद का तपस्यापूर्वक अर्जन किया । पर ब्रह्म तथा वेद दोनों शब्द बहुत उलझे हुए शब्द हैं । ब्रह्म अन्न को भी कहा गया है और वेद का अर्थ ज्ञान के अतिरिक्त लाभ भी है ।

ऐसा लगता है कि सांस्कृतिक विकास-क्रम में मेधावी जनों की विभिन्न भूमिकाओं के सन्दर्भ में ऋषि शब्द का प्रयोग होता रहा है । जिन लोगों ने कृषि की ओर पहल की वे भी ऋषि थे और इसके निमित्त उन्होंने घोर श्रम और तप भी किया । आगे चलकर वाणिज्य के चरण में देश-देशान्तर की यात्रा करने वाले उन साहसिक व्यक्तियों के लिए भी ऋषि शब्द का प्रयोग होने लगा जिनके लिए सबसे उपयुक्त

शब्द 'खोजी' या अनुसन्धाता हो सकता है। ऋषि का अर्थ पर्यटक और देखने वाला होता है, यह न केवल ऊपर की व्याख्या में अपितु बाद में दुर्गम स्थलों की यात्रा करने की साधुओं और तपस्वियों की परम्परा में भी देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इनके मन्त्रद्रष्टा होने का अर्थ यह प्रतीत होता है कि जो लेखन से परिचित या साक्षर थे और इस दृष्टि से भी अधिक ज्ञानी थे, उनके लिए भी ऋषि शब्द का प्रयोग होने लगा था।

हमारे लिए इस समय जो तथ्य अधिक महत्वपूर्ण है वह यह कि व्यापारिक यात्राओं पर अनेक ऐसे व्यक्तियों के जाने के उल्लेख मिलते हैं जो बाद की परम्परा में ऋषि के रूप में याद किये जाते रहे हैं। नवग्वों और दशग्वों को तो न केवल इन यात्राओं पर जाते हुए दिखाया गया है, अपितु वे इन्द्र के साथ दस्युओं से युद्ध करते हुए भी दिखाये जाते हैं।

नवग्व और दशग्व

नवग्वों ओर दशग्वों को सामान्यतः नव और दस महीनों का यज्ञ-सत्र करने वाला माना जाता रहा है। यदि यह सच भी हो तो नव और दस महीनों के इस यज्ञ-सत्र का कुछ विशेष ही अर्थ होना चाहिए जिसमें अन्य बातों के अलावा यात्रा और दस्युओं से युद्ध भी शामिल है। इन नवग्वों और दशग्वों का उल्लेख अनेक बार इस तरह आया है जैसे इनके बीच कोई भेद न हो।[81] इनकी संख्या सात बतायी गयी है[82] जो प्राचीनतम ऋषियों या सप्तर्षियों की संख्या से मेल खाती है। इनमें सबसे प्रधान स्थान अथर्व आंगिरस को दिया गया है, जिन्हें अन्य बातों के अलावा नर या नेता भी कहा गया है।[83] इन पूर्व पितरों को पदज्ञ भी कहा गया है, जिसका स्थूल अर्थ 'स्थानों का ज्ञान रखने वाला' होगा।[84] अंगिरा ने पर्वत-विवर का द्वार खोला था।[85] इनकी पर्वत की चढ़ाई की भी चर्चा आती है।[86] इन्होंने अन्धकाराच्छन्न मार्ग को पार कर पुनः प्रकाश हासिल किया था।[87] इनकी यात्राओं के उल्लेख स्पष्ट हैं[88] और इन यात्राओं का धन से सम्बन्ध है।[89] जिस विलक्षण बुद्धि से इन्होंने शत्रुओं से पार पाते हुए अपनी यात्रा पूरी की थी उसी बुद्धि को प्राप्त कर जलमार्ग में होने वाली शत्रु-बाधा को पार करने की कामना व्यक्त की गयी है।[90] वस्तुतः इन नवग्वों के पर्वतीय मार्गों से जाने का ही उल्लेख नहीं है, अपितु जलमार्गों से जाने का भी उल्लेख है।[91] इन सभी तथ्यों को सामने रखने पर नव और दस महीनों के पुरोहिती यज्ञ से भिन्न एक आर्थिक या व्यापारिक यज्ञ की ही पुष्टि होती है। स्वयं सायण भी इस विषय में दुविधा में दिखायी देते हैं कि इनका सम्बन्ध नव और दस महीनों के यज्ञ से जोड़ा जाये या नहीं।[92] प्रकारान्तर से कहें तो नवग्व और दशग्व वर्षा-काल को छोड़ कर शेष वर्ष-भर पर्यटन करने वाले उन जिज्ञासुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है जो 'धरती का अन्त क्या

है'[93] इस बाधा के आगे, इस जंगल के पार, पर्वत के पार, क्या है ? इसकी खोज करने या परम सत्य का साक्षात्कार करने निकल पड़ते थे और इनकी इन यात्राओं के क्रम में जिन नये भण्डारों का, नये क्षेत्रों का पता चलता था उससे अनेक संरक्षक और पुरस्कर्ता भी लाभान्वित हो रहे थे, अत: उन्हें असाधारण सम्मान दिया जा रहा था। वे इनकी आरम्भिक यात्राओं पर मार्ग-दर्शक के रूप में तो जाते ही थे, बाद की यात्राओं पर भी इनको साथ लेना आवश्यक समझा जाता था। कारण, अपने पर्यटन के क्रम में इनको सम्बन्धित क्षेत्रों का जितना अच्छा ज्ञान हो जाता था, उतना अपनी लीक पकड़ कर जाने वालों को नहीं हो सकता था। इनके मार्ग-दर्शन के अभाव में वे भटक सकते थे या किसी मार्ग के, किन्हीं भी कारणों से अवरुद्ध हो जाने की दशा में घोर संकट में पड़ सकते थे।

ऐसी स्थिति में अन्धकार को पार करके आलोक में पहुँचना, विवर या गुहा-द्वार को खोल कर गायों को देखना, मार्ग का निर्माण करना, पर्वतों पर चढ़ना, उत्तर-पश्चिमी पर्वतीय दर्रों की कठिनाइयों को पार करने और एक नया सम्पर्क-मार्ग बनाने से, कहें पश्चिमोत्तर के सुदूर देशों की ओर यात्रा से और, जैसा कि हम आगे देखेंगे, खनिज भण्डारों की खुदाई से सम्बन्ध रखता है।[94] आश्चर्य नहीं कि इन नवग्वों और दशग्वों में ऋग्वेद में प्रधान स्थान रखने वाले अथर्वांगिरस को ईरानी परम्परा में भी श्रद्धा-प्रतीक बनाया गया है और इनके अद्भुत कारनामों की इतनी अधिक धूम थी कि आगे चल कर मात्र मन्त्र-तन्त्र-बल से इच्छित प्रभाव दिखाने वाले सूक्तों के संग्रह को भी अथर्ववेद की संज्ञा दी गयी।

राजा

इसी तरह जिन व्यक्तियों को परम्परागत रूप से राजाओं के रूप में जाना जाता रहा है, उनमें से अनेक की गतिविधियों पर ध्यान देने पर वे राजा से अधिक व्यापारी ही सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए सुदास, जिन्हें वैदिक काल का एक प्रधान राजा बताया जाता है, शायद ही कहीं किसी राजकीय भूमिका में सामने आते हों। इसके विपरीत उन्हें बार-बार व्यापारिक गतिविधियों से सम्बन्धित दिखाया गया है, जिनमें समुद्री यात्राएँ भी शामिल हैं।[95] उनके सन्दर्भ में किसी सुनिश्चित भौगोलिक क्षेत्र का उल्लेख नहीं आया है। यही बात दूसरे भरतों के विषय में भी सच है। यदि उल्लेख आया है तो जल-धाराओं का ही![96] दाशराज्ञ युद्ध वाले प्रकरण में एक स्थल पर तो सुदास की तुलना पेत्व या मेमने से की गयी है और उनके शत्रुओं की सिंह से और इसे इन्द्र का कमाल बताया गया है कि उन्होंने मेमने से सिंह को परास्त करा दिया और दूसरा कमाल यह है कि इन्द्र ने अकिंचनप्राय सुदास को मालामाल कर दिया।[97] मेमने से किसी राजा की तुलना कुछ अपमानजनक-सी लगती है और अपने धन की चिन्ता में हर प्रकार के उपद्रव से बचने वाले वणिकों

की नम्रता और अहिंसकता के सर्वथा उपयुक्त। बनिये की बकरी का मुहावरा वैदिक काल से चला आ रहा है। सुदास का माल ही उनका सर्वस्व लगता है जिससे वंचित हो जाने पर वह बर्बाद हो जाते और इन्द्र की कृपा से इसका बच जाना सबसे बड़ी उपलब्धि है। पर इतने विवादास्पद पहलू पर इसी आधार पर यह मान लेना उचित न होगा कि सुदास राजा नहीं रहे होंगे, अतः सुविधा के लिए हम यह मान सकते हैं कि यदि वह, या उन्हीं की तरह दूसरे व्यक्ति भी जिनको परम्परा राजा के रूप में मानती रही है, राजा थे, तो मानना होगा कि व्यापारिक गतिविधियों में राजकीय पहल भी एक महत्वपूर्ण स्थान रखती थी और सम्भवतः इसी के संरक्षण या अभिभावकत्व में उस समय के काफ़िले चला करते थे। यदि यह प्रस्ताव असुविधाजनक प्रतीत हो तो ही यह मानना अधिक संगत होगा कि वैदिक काल में राजा शब्द का प्रयोग उन प्रधान व्यापारियों के लिए भी होता था जिनको काफ़िलों के नेतृत्व का भार सौंपा जाता था।[98]

ऋग्वेद में वंशपरम्परा से राजाओं की नियुक्ति का प्रमाण मिलता है, पर साथ ही राजाओं के वरण का भी बहुत ही स्पष्ट उल्लेख आता है।[99] महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ राजा का वरण वृत्र से भयभीत होकर, अर्थात् एक विशेष अवसर पर एक सीमित प्रयोजन के लिए किया जा रहा है जिसका सम्बन्ध व्यापार से ही हो सकता है। इस वरण का सम्बन्ध इन काफ़िलों या सार्थों के नेता के रूप में किसी प्रधान वणिक के चुने जाने से लगता है। इन्द्र, जिनके राजा के रूप में वरण के उल्लेख आये हैं, नर और नेता के रूप में भी याद किये जाते हैं।[100] यूँ तो प्राचीन कालों में राजाओं को युद्ध के समय सैनिक नेतृत्व भी सँभालना पड़ता था, अतः किसी राजा के सन्दर्भ में नेता का प्रयोग ग़लत नहीं लगता, पर जब हम इस नेतृत्व के द्वारा इन्द्र को व्यापारियों को सुरक्षित बचा कर ठिकाने तक पहुँचाने के भी हवाले पाते हैं[101] तो इस नेता को हम सेनापति या सैन्य संचालन करने वाले राजा से भिन्न पाते हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्र को ऐसे अवसरों पर 'उपयुक्त सखा' या मित्र बताया जाता है।[102] एक राजा का अपने सैनिकों से मित्र और सहायक का सम्बन्ध नहीं होता।

प्रधान व्यापारियों के लिए राजा की उपाधि का प्रयोग भारतीय परम्परा में किसी तरह की समस्या पैदा नहीं करता। अग्रवालों के अनुसार उनके आदि-पुरुष राजा अग्रसेन थे ओर यह उपाधि राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द तक तो देखी ही जा सकती है।

ऋग्वेद में दान की जो प्रशस्तियाँ आयी हैं उनका सम्बन्ध प्रशासनिक राजाओं से न हो कर इन महाजनों से ही लगता है। अपनी यात्रा से भारी लाभ कमा कर सकुशल लौटने वाले ये व्यापारी इसका एक भाग मुक्त रूप से दान करते थे।[103] इसके पीछे उनकी यश-कामना तो थी ही, जो वैदिक समाज की एक बड़ी कमज़ोरी

थी[104], साथ ही एक अन्य कारण यह भी था कि वैदिक पुरोहितों ने यह प्रचारित कर रखा था कि भारी लाभ उसी को मिलता है और यात्रा उसी की निरापद पूरी होती है जो दानी और धर्मपरायण होता है।[105] यात्रा में साथ जाने वाले रक्षकों और सेवकों को पुरस्कृत करने का भी यही उपयुक्त अवसर था। बाद की परम्परा में भी सदाव्रतों का चलन और आज का धर्मादा खाता इसी का अवशेष है। इस पहलू पर ध्यान दें तो यह बात किसी तरह की समस्या पैदा नहीं करेगी कि क्यों वैदिक दानों में भूमि और अन्न के दान के उल्लेख नहीं आते जब कि भोजन, वस्त्र, वाहन, सोना, रत्न आदि के उल्लेख बार-बार आते हैं।

6
वैदिक देवता

वैदिक समाज को पशुचारी मान कर यदि हम तय करने चलें कि वैदिक देवताओं में किस देवता का सम्बन्ध पशुचारण से है तो हमें खासी उलझन का सामना करना पड़ता है। कारण, इस काल तक आ कर, सामाजिक-आर्थिक अवस्था में परिवर्तन के कारण पशुचारण की अवस्था के देवताओं ने भी अपनी प्राचीन भूमिकाओं के समानान्तर एक नयी भूमिका अपना ली है, जिस पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

पूषा—यह छाग-वाहन देवता[106], जिसे अग्नि का पोषक रूप भी माना गया है, और जिसे यदा-कदा सूर्य का रूप माना जाता रहा है, जैसा कि इसके वाहन से ही पता चलता है, आदिम पशुचारण अवस्था का अवशेष है। पर ऋग्वैदिक काल में यह पशुओं की रखवाली छोड़कर रास्ते की रखवाली करता दिखायी देता है। इससे रास्ते को पार लगाने के लिए, बदमाशों को दूर रखने के लिए, सहायता के लिए आकर साथ हो जाने के लिए अनुरोध किया जाता है। प्रथम मण्डल का पूरा एक सूक्त इसको सम्बोधित है और इसका भाव कुछ निम्न प्रकार है :

हे पूषा, हमारा रास्ता पार कराओ, पतन से बचाने वाले देव, दुष्टों से छुड़ाओ और हमारे साथ आगे-आगे रहो। ऐ पूषा, जो दुष्ट और बदमाश हमारे ऊपर हुक्म चलाता है, उसे हमारे रास्ते से दूर करो। रास्ते में बाधा उत्पन्न करने वाले चोर और डाकू चाहे दूर हों या करीब, उन्हें रास्ते से अलग हटाओ। वे पापी जो रात को चोरी और दिन को लूटपाट करते हैं, उनको पैरों से रौंद डालो।[107]

पूषा का प्राचीन रूप पूरी तरह भुलाया नहीं गया है, पर यह तथ्य कि उनका हथियार औज़ार में बदल चुका है[108], और पशुओं की रखवाली से आगे बढ़ कर वह रास्तों की रखवाली करने लगे हैं, उस आर्थिक रूपान्तरण को स्पष्ट

करने के लिए पर्याप्त है जो ऋग्वैदिक काल तक घटित हो चुका है।

वरुण—वरुण सम्भवत: उस आदिम अवस्था के देवता हैं जब किन्हीं विशेष धान्यों को पकने से पहले खाने या तोड़ने पर प्रतिबन्ध लगना आरम्भ हुआ था और इस दृष्टि से वह आर्थिक विकास को समझने की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण देवता हैं। पर वैदिक काल तक उनका एक रूप प्रशासक का और दूसरा सम्भवत: प्रधान नाविक या कप्तान का हो चुका है। यात्रा के प्रसंगों में वह मार्गों के ज्ञाता हैं और उनका यह ज्ञान समुद्री यात्राओं के प्रसंग में विशेष रूप से याद किया जाता है।[109] उनकी वेश-भूषा भी एक सम्पन्न और अधिकार-प्राप्त व्यक्ति की है।[110] वह सरल मार्ग के ज्ञाता हैं और यात्रा के समय नेतृत्व उनके हाथ में रहता है।[111] उन्होंने नदियों के मार्ग को बनाया है।[112] जब लोग वरुण की नाव पर चढ़ कर चलते हैं तो समुद्री लहरों के साथ दोलायमान होते हुए उन्हें लगता है, मानो झूला झूल रहे हों।[113] वरुण ने आकाश की तरह समुद्र को भी मर्यादा में बाँध रखा है। महायशस्वी और शक्तिशाली वरुण जब पार जाने के लिए नौका पर सवार होते हैं तो सचमुच राजा जैसे लगते हैं।[114] अपने प्रभावक्षेत्र में वह मालिकों के भी मालिक हैं, नदियों के मर्मज्ञ हैं, उनका प्रभाव अद्वितीय है और वे सर्वत्र जाने वाले हैं।[115] वह जीवन-रक्षा करते हुए पार लगाते हैं।[116]

इन्द्र-वरुण—जहाँ इन्द्र और वरुण का उल्लेख साथ आता है, वहाँ यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इनमें श्रेष्ठ कौन है। पर एक कप्तान के रूप में लगता है वरुण का ही आदेश यात्रा के दौरान सर्वोपरि रहता है। इन दोनों को विविध प्रकार के धनों के लिए याद किया जाता है।[117] सामान्य प्रशासन में और इन विशेष स्थितियों में वरुण के कठोर नियमों की चर्चा बार-बार आती है, और इनके आदेशों की अवहेलना करने वाले को मृत्युदण्ड तक दिया जा सकता है।[118] वह सब पर नजर रखते हैं, सबके मन की बातें जान लेते हैं—जो कुछ हो चुका है और जो होने वाला है, सबका उन्हें ज्ञान है।[119]

इस तरह यदि इन्द्र की तुलना में वरुण को रखा जाये तो स्थानीय मामलों में न्याय और सामान्य प्रशासन का भार वरुण पर आता है और राज्यपद इन्द्र का प्रतीत होता है। व्यापारिक सन्दर्भों में वरुण प्रधान नौचालक और इन्द्र प्रमुख व्यापारी प्रतीत होते हैं।

इन्द्र—किसी प्राचीनतर अवस्था में इन्द्र वर्षा के देवता थे। प्रकारान्तर से कहें तो पूषा, वरुण, रुद्र आदि की तुलना में भी ये नये देवता हैं, जिनका उत्थान कृषि के आरम्भ के बाद होता है। चारणजीवी अवस्था में इनके देवत्व का प्रश्न नहीं था और परम्परा के अनुसार भी इनके देवत्व को चुनौती चारणजीवी समुदायों से ही मिलती है। ऋग्वेद में और इसके बाद से अब तक के कालों में भी इनके देवत्व के इस पक्ष को भुलाया नहीं जा सका है। पर ऋग्वेद तक आकर इनका सम्बन्ध

मुख्यत: धनार्जन से जुड़ गया है। इन्द्र का एक पर्याय ही 'मघवा'[120] हो गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है धनी। उन्हें प्राय: मघवंतम[121] या महाधनी कह कर भी याद किया जाता है। यह उपमा उनके वर्षक रूप से भी अनमेल नहीं पड़ती। पर स्थिति यहाँ तक ही नहीं रहती। अथर्ववेद तक आकर तो उन्हें सीधे वणिक करार दे ही दिया जाता है।[122] ऋग्वेद में भी इन्द्र-विषयक विवरणों पर ध्यान देने पर इस विषय में किसी प्रकार का भ्रम नहीं रह जाता कि इस समय तक उनका सम्बन्ध मुख्यत: व्यापारिक गतिविधियों से जुड़ चुका है और वर्षा आदि के करतब पुरानी प्रशस्तियाँ हैं जो इस काल में भी चलती रहती हैं। वह वसुपति हैं।[123] उनकी नजर पैसे पर रहती है।[124] धन-लाभ के लिए वह घोड़े की तरह दौड़ कर जाते हैं।[125] वह दिव्य धनों के ही नहीं, पार्थिव धनों के भी राजा हैं।[126] उनकी प्रेरणा से उनके उपासक भी धन की ओर उसी तरह दौड़ते हैं जैसे मांस की ओर गृद्ध दौड़ता है और वे ऊँचे-नीचे विषम मार्गों को पार करते हुए अनजान क्षेत्रों तक अपने घोड़ों पर दौड़ते चले जाते हैं।[127] उनसे श्रेष्ठ धन की याचना की जाती है।[128] वह स्पृहणीय धन देने वाले हैं।[130] उनकी भुजाएँ कल्याणकारी, हाथ शुभकर्मा हैं, और उनकी स्तुति से धन प्राप्त होता है।[131] वह धन के निधान हैं और महाधन की प्रेरणा जगाने वाले और रक्षक हैं।[132] जैसे पिता पुत्र को बुलाता है वैसे ही धनकामी इन्द्र को बुलाते हैं।[133]

इन्द्र का महत्व उनकी रक्षणशीलता और नेतृत्व में है।[134] नदियों को सुपारा और जलयात्राओं को सुगम और निरापद बनाने का श्रेय उन्हें प्राप्त है।[135] तुर्वश और यदु को वह विघ्न-बाधाओं को पार कराकर सकुशल ले आये थे।[136] इन्द्र के मार्गदर्शन में सभी विघ्न-बाधाओं को पार किया जा सकता है।[137] वह लोगों की नौका को पार लगाते हैं।[138] द्वेषियों को दूर करते हुए सकुशल पार ले जाते हैं।[139] इस तरह मूलत: कृषि का यह देवता भी व्यापार और वाणिज्य का देवता बन चुका है और उसके उपासक खरीद-बिक्री के काम में जुट कर धन से धन पैदा करने लगे हैं।[140]

अग्नि—वैदिक देवताओं में सबसे प्राचीन माने जाने वाले देवता अग्नि हैं।[142] आश्चर्य नहीं कि पाषाणकाल में ही कभी मनुष्य का ध्यान हथियार बनाने के समय पत्थर की टकराहट से पैदा होने वाली चिनगारियों की ओर गया हो। आग से मनुष्य का परिचय कब हुआ यह कहना कठिन है, पर अनेक जन-जातियाँ अपने आखेट और आहार अन्वेषण के दिनों में आग से परिचित हो चुकी थीं। अन्य बातों के अतिरिक्त आग के धुएँ से शिकार आदि की तलाश में जंगल में भटक गये कबीले के लोगों को अपने निश्चित ठिकाने का पता लगाने में सहायता मिलती थी। अग्नि के दाहक पक्ष की तुलना में इसके धूम वाले पक्ष पर यज्ञ आदि में अधिक बल देने, इसके धूमकेतु नाम और देवताओं को बुलाने की इसकी कीर्ति[142]

के पीछे यह एक प्रधान कारण दिखायी देता है। पशुचारण की अवस्था में जंगली जानवरों से पशुओं की रक्षा और सम्भवतः कीट-पतंगों को दूर करने में इसके धुएँ की सहायता के कारण इसको पशुपा या पशुपति की संज्ञा प्राप्त हुई।[143] कृषि का विस्तार करने के लिए आग से जंगलों को जलाकर इनकी सफ़ाई की गयी। इस चरण में यह धरती और आकाश को अलग करने वाला[144], धरती का विस्तार करने वाला[145], सृष्टि के कारणों में से एक हो गया।[146] इस प्रकार उपलब्ध धरती में ही वनस्पतियाँ या कहें अनाज बोये जाने लगे और इसलिए यह वनस्पतियों का जनक भी बन गया।[147] इससे खानपान की जो सुविधा हुई उसके कारण इसको प्रजापति की भी संज्ञा मिली।[148] इसी दौरान जंगलों के जलाने के क्रम में ही यह अनुभव किया गया कि आग लगने से हवा का कम दबाव-क्षेत्र पैदा होने के कारण अनिवार्य रूप से वर्षा होती है, अतः—संभवतः कुछ भ्रमवश ही बादलों के रंग और धुएँ के रंग की समानता, धुएँ के आकाश में जाने और घटाओं के घिरने के साहचर्य को और बादलों में चमकने वाली बिजली को अग्नि का ही एक रूप मान कर अग्नि का अनिवार्य सम्बन्ध वर्षा से मान लिया गया और यह सोचा जाने लगा कि यज्ञ के द्वारा वर्षा करायी जा सकती हैं।[149] यहाँ आकाशीय अग्नि या इन्द्र का एक अलग देवत्व कायम हो गया।[150] अन्न को आग पर पकाने पर इसका स्वाद बढ़ जाता है, अतः यह मधुजिह्व हो गया।[151] बर्तन और ईंट आदि पकाने के क्रम में इसके नाशक या शर्व रूप के विपरीत इसके अमरतादायक रूप का परिचय मिला।[152] धातुओं को गलाने की अवस्था तक इसके द्रविन्नु रूप का साक्षात्कार हुआ और यह द्रविणोदा बन गये।[153] और काँचली मिट्टी के साथ अन्य द्रव्यों को मिलाकर जब मनके या मणियाँ बनाने की कला सूझी तो यह रत्नधा भी बन गये।[154] पर इन सबके अलावा इनका एक रूप था जो उत्पादन से सम्बन्धित इन विभिन्न रूपों से अलग था। यह था विभक्ता का रूप। चूँकि अग्नि जातवेद हैं, झूठ-सच का पता लगा सकते हैं, इनके समक्ष कोई झूठ बात कर दूसरे के माल को अपना माल कह कर, या लाभ आदि में बेईमानी नहीं कर सकता था, अतः अग्नि को साक्षी बना कर हिस्से का बँटवारा होता था। उस काल में लम्बी व्यापार-यात्राओं पर न तो कोई अकेला निकलने का साहस कर सकता था, न ही निकलने पर सुरक्षित रह सकता था। अतः एक साथ बहुत-से व्यापारी अपना माल-असबाब लाद कर यात्रा पर निकलते थे और रास्ते में माल उतारने-चढ़ाने और रखने में, समुद्री यात्राओं में तूफ़ान आदि के समय माल सँभालने और बचाने में गड़बड़ी की काफ़ी सम्भावना रहती थी। अपने माल की पहचान के लिए मुहरों आदि की सहायता से उचित व्यवस्था के बावजूद गड़बड़ी से बचना आसान नहीं था। इसके अतिरिक्त आपस में भी कभी-कभी घोटाले की नौबत आती रही होगी। सही माल और हिस्से के निर्णय के लिए वरुण के कठोर प्रशासन के अतिरिक्त भी

किसी अन्य विधान की आवश्यकता उन्हें थी और इसकी पूर्ति भगभक्ता[155] अग्नि के साक्ष्य के द्वारा पूरी की गयी थी। इसके साथ ही आवश्यकता थी किसी ऐसे सर्वमान्य नेता या न्यायाचारी में विश्वास की जिसका निर्णय सर्वमान्य हो, और यह भूमिका सम्भवतः सार्थ के राजा या इन्द्र को सौंपी गयी थी।[156]

इस पहलू को नज़रअंदाज करने के कारण ही भाग वितरण के इन उल्लेखों को वैदिककालीन अविकसित उत्पादन में सबकी समान भागीदारी की पद्धति का सूचक[157] मान लिया जाता है। ऐसा करते समय व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्पष्ट उल्लेखों आदि की तो अनदेखी कर ही दी जाती है, इस बात का भी ध्यान नहीं रखा जाता कि सम्पत्ति का उत्तराधिकार पिता-पुत्र क्रम से चलता है, यह वितरण देव-समाज में हो रहा है जिससे कृषकों आदि को अलग रखा गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ वैदिक कवियों की धन-लालसा प्रकट होती है वहाँ वे अपनी, स्तोता या यजमान की बात करते हैं, पर जहाँ खेती आदि की बातें आती हैं वे पंचकृष्टी की बात यूँ करते हैं, मानो वे स्वयं उनमें शामिल न हों।[158] किसान अच्छी तरह हल चलायें, चरवाहे पशुओं को सकुशल ले आयें, पर हमें (स्तोता और यजमान को) धन, रत्न, रयि, भोग प्राप्त हो। प्रथम पुरुष और अन्यपुरुष का यह फ़र्क़ बहुत महत्व रखता है। इसकी ओर ध्यान न देने के कारण ही सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों को समझने में ग़लती की जाती है। क्या यह रोचक नहीं है कि वास्तविक उत्पादकों, शिल्पियों और किसानों को कहीं भगभक्ता या भक्तभागी के रूप में एक बार भी नहीं दिखाया गया है?

उत्पादन और विपणन से सम्बन्धित अग्नि और इन्द्र आदि के देवत्व को समझने में ही ग़लती नहीं की गयी है; यह ग़लती इन दोनों के रक्षक पक्ष को समझने में भी बार-बार दुहरायी जाती है। अग्नि का एक रूप रक्षोहा या राक्षसों का नाश करने वाले का है।[159] इसे देख कर कभी-कभी यह भ्रम पाल लिया जाता है कि इसका सम्बन्ध वैदिक जनों के आक्रमणों से है: वे अपने शत्रुओं के नगरों और बस्तियों को जला देते थे और लूट लेते थे। यहाँ यह भुला दिया जाता है कि आगज़नी के बाद लूट के लिए कुछ बचा नहीं रहता। व्यापार के लिए घर से निकले यात्रियों को कब किस अनिष्ट का सामना करना पड़ जाये, यह कहा नहीं जा सकता था। उनका जहाज़ डूब सकता था, तूफ़ान में वे भटक सकते थे; रास्ते में बीमार पड़ सकते थे, उन पर दस्युओं का आक्रमण हो सकता था और सब-कुछ के बाद उनका उचित लाभ मारा जा सकता था, या घाटा हो सकता था। अतः सुरक्षा का कोई भी प्रबन्ध इतना सुचारु नहीं हो सकता था जिसे पर्याप्त कहा जा सके। इन आशंकाओं का लाभ उठाते हुए उनके पुरोधाओं ने रक्षा और शत्रुओं के विनाश का अपना एक तन्त्र विकसित किया था। यदि देवता प्रसन्न रहें तो इन सभी विघ्नों से पार पाया जा सकता था और उचित लाभ कमाया जा सकता था। वास्तविक

हथियार ही हथियार नहीं हैं, यज्ञ स्वयं एक हथियार है जिससे अदृश्य, निकटस्थ और दूरस्थ शत्रुओं को नष्ट किया जा सकता है। ब्रह्मणस्पति या वृहस्पति या यज्ञ देव राक्षसों का विनाश करने में और अपेक्षित सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ है।[160] वास्तविक वर्म ही वर्म नहीं है, मन्त्र और यज्ञ स्वतः कवच है।[161] धन की प्राप्ति केवल उद्यम और पूंजी पर ही निर्भर नहीं करती, देवताओं की कृपा पर और दान-पुण्य और यज्ञ-तत्परता पर निर्भर करती है।[162] जो यज्ञ आदि नहीं करता उसका धन और सुख तो उलटे देवगण छीन कर दानी और यजनशील व्यक्ति को दे देते हैं। अतः यज्ञ-विधान द्वारा सभी अनिष्टों और अनिष्टकारियों को अग्नि के मुँह में झोंका जा सकता है।[163] यदि चोरों-बदमाशों ने किसी को पकड़ भी लिया तो देव-कृपा से वह उनके बन्धन से छूट सकता है।[164]

घोर अनिश्चय के उस जीवन में इससे बड़ी और कौन-सी गारन्टी हो सकती थी? पर इसके साथ अग्नि की एक और भूमिका है। अपना माल-असबाब लेकर बाहर निकले इन लोगों का सबसे बड़ा शत्रु अन्धकार है। रात में अँधेरे में पता नहीं कब किधर से कैसी आफ़त आ जाये। लूट और चोरी की तो सारी सम्भावना रात के अँधेरे में रहती ही है। अतः रात को आग जला कर, सम्भवतः बारी-बारी से ये अपने माल का पहरा देते हैं। रात के पहरे में भी इनकी आँख आने वाले दिन की रोशनी की ओर लगी रहती है, इतना दान पुण्य करने वाले हम लोग प्रसन्न रहें और सूर्य को उगता हुआ देखें···।[165] अग्नि यज्ञमान् को खूब धन दे और वह लम्बे समय तक सूर्य का उदय देखे—लम्बी उम्र का हो।[166] जो सो गया, वह लुट गया। वे मानते हैं कि उन्हें न नीद आये, न तंद्रा घेरे।[167] अग्नि जागने वाले को ही धन देते हैं।[168] अग्नि वहाँ सोच-समझ कर ले जाते हैं जहाँ अच्छा मुनाफ़ा होता है।[169] वह दिन और रात शत्रुओं से रक्षा करते हैं।[170] जैसे नाव से जल-धारा को पार किया जाता है वैसे अग्नि अदृश्य आपदाओं से रक्षा करते हैं।[171] वह धन के साथ जाने वाले देवता हैं।[172]

जो बात हम इन देवताओं के साथ देखते हैं उसी की पुष्टि अन्य देवताओं से भी होती है। ये सभी अपने प्राथमिक चरित्र को कुछ सीमा तक सुरक्षित रखते हुए भी या तो वाणिज्यिक अर्थ-व्यवस्था में सहायक और रक्षक की भूमिका में उपस्थित होते हैं, या उनके इस पक्ष पर अधिक बल दिया जाता है।

7
वैदिक सार्थ

ऋग्वेद में युद्ध या संघर्ष के लिए जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उनको मुख्यतः

तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में आने वाले शब्दों का वाच्यार्थ है लोगों का भारी संख्या में एकत्र हो कर चलना जैसे, समिति, समोह, संगथ, समरण, समत्, समन, समीक, संयुज, आदि। दूसरे वर्ग में आने वाले शब्दों का वाचिक अर्थ शोर, पुकार या गुहार है जैसे, रण, आक्रन्द, आहव, आदि। तीसरे वर्ग में आने वाले शब्दों का सम्बन्ध इच्छा, इच्छापूर्ति या अभीष्ठ पदार्थों की प्राप्ति से है जैसे, इष्टि, आजि, वाज, स्पृधा, वाजसात, धन, महाधन, धनसात, गविष्टि, गवेषण, आदि। आगे चलकर भी युद्ध के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों को प्रथम दो कोटियों में रखा जा सकता है जैसे, संग्राम, संख्य, अभियान, समर आदि।

परम्परागत व्याख्याकारों ने इस शब्दावली को युद्धपरक या संग्रामपरक ही माना है। इस व्याख्या को आधुनिक विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। इनमें से कुछ ने कुछ शब्दों के साथ गो-पूर्वपद को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान लगाया है कि वैदिक संघर्षों की वजह मवेशियों की लूटपाट ही हुआ करती थी।

हमें किसी तरह का सरलीकरण करने से पहले वस्तु-स्थिति पर तटस्थता से विचार कर लेना चाहिए। यह सच नहीं है कि इन संघर्षों में गायों आदि को लूटना प्रधान लक्ष्य हुआ करता था। जैसा कि हम देख आये हैं गो शब्द इन्द्रिय, प्रकाश, जल, गव्य उत्पाद आदि के साथ धन और गो-सम्बन्धी सभी वस्तुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, और इस विषय में परम्परागत व्याख्याकारों की भी हमारे साथ सहमति है। इस गो-सम्बन्धी, या गव्य श्रेणी में बैलों पर लदा हुआ माल और फिर कोई भी माल आ जाता है। प्रतीक-रूप में गो शब्द का प्रयोग पशुमात्र के लिए हुआ है और इसलिए गो शब्द को देख कर ही झटपट कोई नतीजा निकाल लेना युक्तिसंगत नहीं।

दूसरी बात यह कि न तो गो शब्द की आवर्तिता ही अन्य सम्पत्तिसूचक शब्दों की तुलना में अधिक प्रभावशाली है, न ही इससे बने संघर्ष-सूचक शब्दों की ही। ऋग्वेद में गविष्टि का प्रयोग 17 बार, गवेषण का 5 बार और गोषु का 44 बार हुआ है। इसके विपरीत केवल वाज शब्द का 398 बार और सात उत्तरपद के साथ 73 बार, अर्थात् कुल 471 बार हुआ है जो इन शब्दों सहित गो शब्द की आवर्तिता से लगभग दूना है।

तीसरी बात यह कि जब हम प्रसंगों पर ध्यान देते हैं तो गोषु, गविष्टि आदि स्पष्टतः इस बात का संकेत देते हैं कि इनका सम्बन्ध गायों के लिए होनेवाले संघर्ष से नहीं है। उदाहरण के लिए गोषु बहुत कम बार ही द्वन्द्व की सूचना देता है[173] और जहाँ देता है वहाँ स्पष्ट है कि टकराव का कारण परिवहनगम्य माल है, न कि गाय।[174]

अतः विचारणीय प्रश्न यह है कि वे कौन-सी स्थितियाँ रही हो सकती हैं जिनमें धन से सम्बन्धित विभिन्न शब्दों का सम्बन्ध युद्ध और यात्रा दोनों से

जुड़ गया और विजय के उल्लेखों के साथ भय और असुरक्षा की घोर चिन्ता इस तरह छायी दिखायी देती है कि विजय अपना और अपने माल का बचाव बनकर रह जाती है।[175] यहीं पर हमारे सामने व्यापारियों के साथों का चित्र बहुत स्पष्ट होकर उभरता है जो तत्कालीन असुरक्षित मार्गों पर बहुत बड़े जत्थे बनाकर और किसी भी आपदा का सामना करने के लिए तैयार होकर निकलते तो थे, पर हर समय अपने जान-माल के विषय में चिन्तित रहते थे और यदि रास्ता निर्विघ्न कट गया तो इसे अपने देवताओं की बहुत बड़ी कृपा समझते थे। संघर्ष की नौबत आ जाने पर यदि वे दस्युओं और चोरों को भगाने, मारने या पकड़ने में सफल हो गये तो भी यह देवताओं की कृपा ही थी। यदि इस पहलू को नज़र-अंदाज़ कर दें तो एक ओर तो अपने देवों के और स्वयं अपने रक्षकों के शौर्य और साहस की प्रशंसा, इस बात का दावा कि उन्हें कोई दबा नहीं सकता, उनका कोई मुकाबला नहीं है और दूसरी ओर उनका भय से काँपते रहना एक ऐसा विरोधाभास पैदा करेगा जिसका कोई दूसरा इकहरा समाधान सम्भव नहीं हो सकता।

वैदिक युद्धों को पशु-धन के लिए होने वाले युद्ध मानने वाले विद्वानों ने इस बात पर ध्यान दिया है कि वैदिक युद्धों के जो उल्लेख मिलते हैं उनसे किसी बड़े पैमाने के युद्ध की सूचना नहीं मिलती। यदि उनसे कोई चूक हुई है तो यह कि वे इन टकरावों की वास्तविक परिस्थितियों का सही अनुमान नहीं लगा सके और इन्हें आर्यों द्वारा गायों की लूट-मार मान बैठे। इनका सम्बन्ध लूट-मार से तो है, पर लूट पशु-धन को लेकर नहीं है और लूटने वाले आर्य स्वयं नहीं, अपितु उनके शत्रु हैं और आर्यों को बचाव की ही चिन्ता बनी रहती है। रक्षा करो, पाहि, त्राहि, अवतु त्राध्वं की पुकार, उठो, चलो और कमाओ के उद्बोधन के समानान्तर पूरे वैदिक साहित्य में गूँजती दिखायी देती है।

उनके प्रधान सरोकारों में योग और क्षेम अर्थात् धन का अर्जन और उसकी सुरक्षा ही है जिसका आधुनिक रूपान्तर 'लाभ-शुभ' परम्परावादी वणिकों के घरों और दूकानों के दरवाजे पर ही लिखा नहीं मिलेगा, अपितु उनकी खाता-बही के आरम्भिक पन्ने पर भी। स्वस्ति या कल्याण तथा इसका भावलिपि में अंकन भी इसी मनोवृत्ति का सूचक है। ऋग्वेद में योग का प्रयोग विविध रूपों और आशयों से लगभग 50 बार हुआ है और क्षेम का लगभग 21 बार। अनेक बार इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक साथ हुआ है।[176] स्वस्ति शब्द का प्रयोग 193 बार अर्थात् गो शब्द के लगभग बराबर ही हुआ है। वस्तुतः वैदिक स्वस्ति पाठों का सम्बन्ध व्यापारिक यात्राओं के आरम्भ के समय किये जाने वाले उन यज्ञों से है जो मार्ग के अनिष्टों और बाधाओं से मुक्ति के लिए किये जाते थे। स्वस्ति शब्द के साथ ही 'शं' या कुशल, कल्याण की आवर्तिता भी ध्यान देने योग्य है जो ऋग्वेद में लगभग 125 बार व्यवहृत हुआ है। ऋग्वेद के सभी देवता इस योग, क्षेम, स्वस्ति

और त्राण के लिए ही याद किये जाते हैं और आगे चलकर दूसरे दैवी अवतारों को भी योग-क्षेम और कल्याण का यही भार वहन करना होता है। यह कल्याण अपराधियों और आततायियों के दमन के बिना सम्भव नहीं, इसलिए इन सभी देवताओं को आततायिओं के संहार का भी व्रत लेना पड़ता है। मुख्य बात यह है कि वैदिक काल से लेकर बाद की समूची भारतीय परम्परा में ये देवता आततायियों के उपद्रव से क्षुब्ध और पीड़ित 'भक्तों' जो मूलतः व्यापारिक उपक्रमों के भागीदारों का सूचक रहा लगता है—की रक्षा के लिए अवतार लेते हैं, न कि लूट-पाट करने के लिए। रामायण हो या महाभारत या अन्य कोई कृति, युद्ध की सम्भावना उत्पन्न होने के बाद सन्तप्त पक्ष की ओर से पहले युद्ध के बिना ही समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है और इसके विफल होने पर, अन्य कोई उपाय न रह जाने पर ही युद्ध का सहारा लिया जाता है। यही दृष्टिकोण ऋग्वेद में भी दिखायी देता है। वैदिक जनों का सारा प्रयास शान्ति और सद्भावना के द्वारा समस्याओं का हल ढूंढ़ने का है और इस तरीके के विफल होने पर ही युद्ध का आश्रय लिया जाता है और वह मुख्यतः अपने बचाव तक सीमित रहता है।[177] प्रकारान्तर से कहें तो भारतीय मूल्यव्यवस्था वाणिज्यिक मूल्यव्यवस्था है जो वाणिज्य-प्रधान वैदिक समाज की देन है।

इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक दूसरे संकेत हैं जिनके आधार पर लुटेरों और लूटने वालों के चरित्र को समझा जा सकता है। इनमें से एक है वैदिक जनों की नैतिकता जिसमें उद्योग, श्रम और तप को इतनी प्रधानता दी गयी है कि अन्तिम दो तो प्रभु-वर्ग के श्रम-कार्य से विरत होने और इसका भार दासों पर डालने के क्रम में आध्यात्यिक अर्थ पा जाते हैं। वे अनृत, एनस, आगस, हिंसा, उपद्रव, छल, अकर्म, आलस्य, सज्जनों के उत्पीड़न को[178] जघन्य अपराध मानते हैं। चोरों की सजा का उल्लेख हम कर आये हैं। उनको शुद्ध[179] धन चाहिए—शुद्धता की यही धारणा आगे चलकर सम्यक् आजीव या शुद्ध भक्त और शुद्धोदन जैसे विचारों को जन्म देती है और बनियों की शुद्ध आजीव की इस स्वविशिष्ट धारणा के कारण उनके साथ साधु या साहु, साधुकार और साहुकार आदि विशेषण जुड़ते हैं। रोचक बात यह है कि शुद्ध की ही भाँति साधु का भी यह विशिष्ट आशय ऋग्वेद तक विकसित हो चुका है।[180] इसका शाब्दिक अर्थ है सही रास्ते पर चलने या चलाने वाला। जिस समाज की नैतिक चेतना इतनी विकसित है कि इसमें मन्यु या क्रोध और अहंकार तक को निन्दनीय माना जाता है, कुछ काम ऐसे हैं जिनकी चर्चा तक करना दोष है जो अवद्य शब्द से प्रकट होती है, जो दूसरों के धन पर पलने या पराश्रित होने को गर्हित समझते हों,[181] उनको लुटेरा मानना विवेकपूर्ण नहीं है।

अतः जैसा कि हम पहले भी संकेत कर आये हैं, उन विशेष प्रसंगों में जहाँ जय

के प्रसंग में धन-लाभ का भाव जुड़ा हुआ है; इन यात्राओं का सम्बन्ध व्यापारिक अभियानों से है, न कि सामरिक या लूट-पाट के अभियानों से। जय का सीधा अर्थ अर्जन या लाभ है। वस्तुतः ऋग्वेद में और परवर्ती वैदिक साहित्य में भी जय का तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है : अर्जन करना, प्रतिस्पर्धा में आगे बढ़ जाना और संघर्ष की स्थिति में प्रतिद्वन्द्वी को परास्त कर देना या उसके प्रयत्न को विफल करके बिना संघर्ष के बच निकलना। इस पहलू पर हम अगले खण्ड में देवासुर-संग्राम के सन्दर्भ में कुछ और विचार करेंगे।

अतः जय से अधिक रोचक शब्द भय है। जय तो आध्यात्मिक अर्थ लेकर आत्म-जय का और प्राकृतिक अर्थ लेकर वृष्टि-लाभ तक का रूप ले सकती है, पर भय जिसकी अभिव्यक्ति ऋग्वेद में बार-बार होती है और जब-तब तो ठीक जय के प्रसंग में भी होती है, अधिक ठोस और पार्थिव है और वैदिकों की विडम्बना को अधिक मूर्त रूप में पेश करता है और डकैती और लूट के भ्रम को पूरी तरह ध्वस्त कर देता है।

एक बार इस लूट का नुक्ता दुरुस्त हो जाने के बाद हम पाते हैं कि वैदिक युद्ध के ये सारे पर्याय सार्थों के पर्याय हैं और धन के लिए की गयी ये सारी यात्राएँ व्यापारिक यात्राएँ।

व्यापारी काफ़िलों को हमेशा सबसे अधिक ख़तरा डाकुओं से रहता रहा है, अतः वे उनका मुकाबला करने की पूरी तैयारी के साथ निकलते रहे हैं। इतनी आपन्न स्थितियों में बिना साहस और शौर्य के वे अपना माल-असबाब ले कर देश-देशान्तर की यात्रा पर नहीं निकल सकते थे और रक्षा की तैयारी और निजी साहस जितना भी क्यों न रहे वे अपनी सुरक्षा के विषय में पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो सकते थे। यही वह स्थिति है जिसमें हम उनके अपने सैनिकों और देवताओं के शौर्य और साहस की प्रशस्ति और साथ ही आतंक की गहरी छाया का मिला-जुला रूप देखते हैं : मरुदगण इन्द्र के साथ मिल कर वृत्र का नाश करें, अधशंस (बदनीयत) हमारे ऊपर हावी न होने पायें।[182] अग्नि, जो उपद्रवी हमारे ऊपर हमला करते हैं उन्हें मार डालो ताकि वे हमारे ऊपर हावी न हों[183]; देव वा मर्त्य, किसी प्रकार का शत्रु हमें अपने वश में न करे। इन द्वेषियों से हमें पार कराओ।[184] बृहस्पति, दुष्ट आततायी हमें अपने वश में न करें, सद्भावनापूर्वक हमें उनसे पार कराओ।[185] जो निर्दयी, द्वेषी, घमण्डी, उद्दण्ड हमारी जान लेना चाहते हैं उनके हथियार हमें छू न पाएँ और हम उन दुष्टों और उद्धतों से बचे रहें।[186] चोर और पापी हमारे ऊपर हावी न हों।[187] सविता, अपने अदम्य मंगलकारी संरक्षण से हमारे धन की रक्षा करो।...कहीं अधशंस हमारे ऊपर हावी न हो जायें।[188] हे सोमप्रेमी, मेधावी, पितृगण, धरती और आकाश सभी हमारे लिए दुर्भावशून्य हों। छिपकर घात लगाने वालों से पूषा हमें बचायें। वे

बदनीयत हमें अपने वश में न कर लें।[189] यह है उस विडम्बनापूर्ण स्थिति का खाका, जिसमें उन्हें विशाल जत्थों में रक्षा की पूरी तैयारी के साथ, और मुठभेड़ होने की स्थिति में विजय की कामना करते हुए निकलता पड़ता था और जिसे सही सन्दर्भ न दे पाने के कारण इन्हें आक्रमणकारी या लुटेरा बताया जाता रहा है।

ऋग्वेद में जो सूचना कुछ सांकेतिक रूप में आयी है उसका कुछ अधिक स्पष्ट विवरण अथर्ववेद में मिलता है। जैसा कि हम उल्लेख कर आये हैं, ऋग्वेद में इन्द्र को मघवा, धनी, धन पर नज़र रखने वाला, आदि कह कर सन्तोष कर लिया जाता है, पर अथर्ववेद में इन्द्र को स्पष्टतः वणिक कहा गया है।[190] वैदिक व्यापारी लूट से नहीं अपितु खरीद से धन और माल का आहरण करते थे।[191] वे पणन, प्रतिपणन और विक्रय में लगे हुए थे।[192] वे धन के बदले में धन पाने की इच्छा करते थे।[193] इनके गोषु, गवेषण, गविष्टि और गव्यूति का भी मर्म यहीं आ कर स्पष्ट होता है।[194]

वैदिक सार्थों के आकार के विषय में जो सूचना ऋग्वेद में मिलती है उसमें मामूली अतिरंजना हो सकती है, पर तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ये विवरण अविश्वसनीय नहीं लगते। वे हज़ारों बैलों और घोड़ों पर अपना माल लाद कर चलते हैं और फिर भी अदृष्ट आशंकाओं को ध्यान में रखते हुए देवताओं से अनुरोध करते हैं कि वे उनके पास ही रहें और उनकी रक्षा करें।[195] देवता उनकी आगे से रक्षा करें, बीच से रक्षा करें, पीछे से रक्षा करें, नीचे और ऊपर से रक्षा करें, दाएँ और बाएँ से रक्षा करें।[196] देवताओं से इन सभी दिशाओं से रक्षा मिलती रही हो या नहीं, पर वे हर तरह से चौकन्ने अवश्य रहते रहे होंगे। उनके उत्कृष्ट रथ एक-दूसरे के पीछे कतार बना कर चलते थे और देखने पर लगता था यह माला की एक लंबी लड़ी है। कच्चे रास्तों पर चलते इन सार्थों में जुते पशुओं के खुरों से उड़ती बिखरती धूल से एक गुबार-सा छा जाता था।[197] अरबी काफिलों में जाने वाले ऊंटों के गले में घंटियाँ बंधी रहती थीं ताकि किसी अप्रत्याशित स्थिति में घंटियों की आवाज़ से ही आगे और पीछे चलने वालों को इसकी सूचना मिल जाये और सभी मिलकर शत्रुओं मुकाबला कर सकें। खतरे की कोई-न-कोई घंटी या संकेत का कोई माध्यम ऐसी स्थितियों में जरूरी था ही। अतः उस काल में जब सम्भवतः घण्टी का विकास नहीं हुआ था डफ, मुरज, भेरी आदि वाद्यों का प्रयोग होता था और यात्री एक-दूसरे को आवाज़ लगाते या सम्भव है जयकार आदि लगाते हुए चलते थे। कुछ प्रसंगो में वाद्यों का[198] और शोर का[199] उल्लेख तो आता ही है, इन्द्रादि देवताओं को पुकारने के भी सन्दर्भ आते हैं।[200] सम्भव है, वाद्यों का और पुकार का सहारा संकट उपस्थित होने की स्थिति में ही लिया जाता रहा हो। उनके भारवाही पशुओं में ऊँट, घोड़े, बैल, गधे और खच्चर थे और

रखवाली के लिए वे कुत्तों को भी साथ लेकर चलते थे।[201] सम्भवतः प्रधान व्यापारियों के अतिरिक्त शेष लोग पैदल ही चलते थे और माल-वहन के लिए ही पशुओं और रथों का उपयोग होता था। रक्षा की पूरी व्यवस्था रहती थी और सम्भव है कुछ योद्धा यात्रा के दौरान हथियारों से निरन्तर लैस रहते रहे हों। वाहनों के साथ हज़ारों लोगों के चलने के उल्लेख आते हैं।[202] इन व्यापारिक सार्थों की प्रकृति की ओर ध्यान न दे पाने के कारण यह कल्पना कर ली गयी है कि अपनी यायावरी अवस्था में आर्य जन रथों के आवास में रहते थे। उनके मार्गस्थल पड़ावों और शिविरों के विषय में भी भ्रम बना रह गया है। चलते हुए विशाल काफ़िलों-ग्रामों की भी विचित्र उद्भावनाएँ की गयी हैं और इस सन्दर्भ में अन्य शब्दों यथा प्रजा, चर्षणी आदि का मर्म समझने में भी चूक हुई है।

काव्यात्मक विवरणों में हम सार्थों का इससे अधिक विवरण पाने की आशा नहीं कर सकते। इनसे यात्राओं के अपने क्षेत्रों आदि के विषय में कुछ अनुमान लगाने में हमें सहायता तो मिल सकती है, पर पूरा ब्यौरा नहीं। उदाहरण के लिए, जिन क्षेत्रों की यात्राएँ ऊँटों के द्वारा की जाती रही होंगी उनको हम आसानी से पहचान सकते हैं। राजस्थान और सिन्ध के रेगिस्तानी क्षेत्रों में ही इनका विशेष रूप से उपयोग हो सकता था और खेतड़ी की ताँबे की खानों आदि तक पहुँचने के लिए ऊँटों का विशेष रूप से उपयोग होता रहा होगा। इसी तरह पहाड़ी क्षेत्रों में नौकाओं, बैलगाड़ियों और रथों और ऊँटों के पहुँचने की सम्भावना नहीं थी। इसके बावजूद इन यात्राओं के प्रसंग में विभिन्न भारवाही साधनों का एक साथ उल्लेख किया गया है।

इसी तरह समुद्री यात्रा के विवरणों को भी अनेक सूक्तों में पहाड़ी क्षेत्रों की यात्राओं के साथ ही गिना दिया गया है। काव्यात्मक विवरणों की इस सीमा को छोड़ कर अन्य विवरण काफ़ी महत्वपूर्ण हैं। यहाँ यह याद दिला देना ज़रूरी है कि ऋग्वेद में अश्व शब्द का प्रयोग आशु-गामी के अर्थ में हुआ है और इसमें गधे, घोड़े, नाव, बादल, पानी, सभी का भाव छिपा है और इन विविध अर्थों में अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है। इसी तरह रथ शब्द का प्रयोग बैलगाड़ियों और घोड़ा-गाड़ियों के लिए ही नहीं हुआ है, अपितु पोतों या नौकाओं के लिए भी हुआ है। इन्द्र के जिन बहुसंख्य घोड़ों वाले रथों का यदा-कदा वर्णन आता है, उसे लेकर तरह-तरह के अनुमान लगाये जाते रहें हैं, पर यह इन हज़ारों वाहनों वाले सार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है और ऐसी स्थिति में रथ को एक साथ चलने वाले समूचे सार्थ के रूप में कल्पित गया है। पहाड़ी क्षेत्रों के सन्दर्भ में या नौकाओं के सन्दर्भ में भी रथ समूचे सार्थ या बेड़े का ही द्योतक है, न कि पृथक रथों का।

7

वैदिक व्यापारी और उनके प्रतिनिधि

हम इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि अनेक व्यक्ति जिनको बाद में ऋषियों और राजाओं के रूप में सम्मान दिया जाता रहा है, इन व्यापारिक यात्राओं पर जाते दिखाये गये हैं। राजाओं की भूमिका इनमें क्या थी ? ये इन अभियानों के प्रायोजक और संरक्षक ही थे या ये स्वयं भी कभी यात्राओं पर जाते थे, यह कहना कठिन है, पर उपलब्ध विवरणों में इन्हें यात्रा पर ही दिखाया गया है। यदि इनमें से जिन्हें राजा माना जाता रहा है, वे मात्र व्यापारी ही थे तो उनकी इस असाधारण कीर्ति और पूरी परम्परा में उनके महत्व की अनुगूँज उस असाधारण समृद्धि का प्रमाण है जो उनके पास रही हो सकती है और इससे व्यापारिक गतिविधियों की प्रखरता का कुछ अनुमान हो सकता है। यदि ये व्यापारी न रहे हों और राजा होने के साथ-साथ व्यापारिक उपक्रमों में भी मिस्री राजाओं की तरह रुचि लेते रहे हों तो भी इन राजाओं की भागीदारी से इस उपक्रम की विशालता और व्यापकता की ही पुष्टि होती है।

इन व्यापारिक अभियानों पर जाने वालों में सबसे प्रधान स्थान तुर्वश और यदु का है जो व्यक्तिनाम के स्थान पर गण-नाम प्रतीत होते हैं। डॉ. चटर्जी के एक सुझाव के अनुसार तो तुर्वश में भी तुर और वश दो गण पढ़े जा सकते हैं।[212] इनका उल्लेख ऋग्वेद में व्यक्तियों के रूप में ही आया है और प्रख्यात व्यक्तियों के नाम पर कुल नाम चलते रहे हैं अतः यदुओं के परवर्ती उल्लेख के कारण यह मानना जरूरी नहीं है कि जिस यदु और, इसी तरह, तुर्वश का जिक्र ऋग्वेद में आया है वे व्यक्ति नहीं ही थे। इन दोनों के साथ यात्रा के क्रम में क्या आपदा आयी थी, यह कहना कठिन है, पर इनकी यात्रा का सम्बन्ध समुद्र-पार से था और किसी भारी विपत्ति से बच कर ही ये वापस आ सके थे, इसका उल्लेख बार-बार आता है।[203]

तुर्वश और यदु की आपदा के विषय में स्पष्ट संकेत भले न हों, तुग्र के पुत्र भुज्यु की कथा बहुत संक्षेप में पेश की गयी है। उनके अभियान का सम्बन्ध भी समुद्री व्यापार से ही था और समुद्र के बीच सम्भवतः किसी तूफ़ान में फँस कर वे भटक गये थे और फिर तूफ़ान शान्त होने पर किसी तरह किनारे आ सके थे या सम्भवतः उनका पोत नष्ट हो गया था और वह इसके किसी भग्न पटरे पर कुछ समय तक तैरते रहे थे और इसी बीच किसी दूसरे पोत के मल्लाहों की नजर में आ गये थे और उन्होंने इनकी जान बचायी थी और वापस ले आये थे। इस संक्षिप्त कथा में सन्दर्भ बहुत स्पष्ट नहीं है, पर जो विवरण है वह निम्न प्रकार है :

तुग्रः ह भुज्युं अश्विना उद-मेघे रयिं न कश्चिन् ममृवान् अव अहाः।
तं ऊहथुः नौभिः आत्मन्वतीभिः अन्तरिक्ष प्रुद्भिः अप-उदकाभिः॥
तिस्रः क्षपः त्रिः अहा अतिव्रजद्भिः नासत्या भुज्युं ऊहथुः पतंगैः।
समुद्रस्य धन्वन् आर्द्रस्य पारे त्रिभिः रथैः शतपद्भिः षट्-अश्वैः॥
अनारम्भणे तत् अवीरयेथां अनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यत् अश्विनौ ऊहथुः भुज्युं अस्तंशत-अरित्रां नावं आतस्थिवांसम्॥

ऋ. 1.116.3-5

"अश्विनीकुमारो, तुग्र ने अपने पुत्र भुज्यु को समुद्रयात्रा पर उतनी ही अनिच्छा से भेजा था जैसे कोई मरणासन्न व्यक्ति सम्पत्ति को त्यागता है, पर तुम उसे अपने यान में बैठा कर समुद्र के ऊपर तैराते हुए, पानी से बचा कर ले आये। नासत्या, तुम अपने तीन पोतों के बेड़े पर जिसमें सौ चक्र (डाँड़) लगे हुए थे और जिनको छह अश्व (पाल) खींच रहे थे, लगातार तीन दिन और तीन रात चलते हुए समुद्र के सूखे तट पर ले आये थे। अश्विनीकुमारो, तुमने यह असाधारण वीरता उस समुद्र में दिखायी थी जिसमें कोई सहारा नहीं होता, टिकने को कोई ठाँव और पकड़ने को कोई अवलम्ब नहीं होता। इस तरह तुम भुज्यु को अपने सौ डाँड़ों वाले पोत में बैठा कर उसके पिता के पास ले आये थे।[204]

इस घटना का वर्णन अश्विनीकुमारों के असाधारण पराक्रम को प्रकट करने के लिए नये और पुराने मण्डलों में बार-बार किया जाता है।[205]

सुदास का उल्लेख हम इससे पहले कर आये हैं। इन कुछ अभियानों और आपन्न स्थितियों के सन्दर्भ में, जिनका सम्बन्ध व्यापारिक यात्राओं से ही लगता है, जिन अन्य राजाओं और ऋषियों का नाम आता है वे हैं – उग्रदेव, वृहद्रथ, तुर्वीति[206], अंगिरा[207], एतश[208], मन्धाता, दीर्घश्रवा, औशिज, आर्जुनेय, पुरुषन्ति, ऋतस्तुभ, ऋज्राश्व, अंबरीष, कण्व, वश[209], पुरुकुत्स, तरुषन्त, कक्षीवान, वम्र, कलि, भरद्वाज, शर्यात, श्रुत, कषव, त्रसदस्यु, शुचन्ति, वसिष्ठ[210], विश्वामित्र[211] आदि।

जैसा कि हम कह आये हैं, राजा माने जाने वाले व्यक्ति चाहे सचमुच के राजा रहे हों या नगर-सेठ मात्र, यह जरूरी नहीं कि अपनी व्यापारिक यात्राओं पर वे स्वयं ही जाते रहे हों। सम्भव है, ऋषियों में से कुछ ऐसे उपक्रमों में किसी के प्रतिनिधि हो कर भी जाते रहे हों। इस विषय में तो किसी प्रकार के सन्देह की आवश्यकता ही नहीं कि सुदास के कुछ व्यापारिक अभियानों पर विश्वामित्र उस दौर में गये थे जिस दौर में वह सुदास के पुरोहित थे। बाद में यह भूमिका वसिष्ठ ने भी निभायी हो तो इसमें आश्चर्य नहीं। वसिष्ठ के नेतृत्व में फूट और कलह में उलझे हुए भरतों का संगठित होना और उनके नेतृत्व में ही उनका समृद्ध होना[212], स्पष्टतः व्यापारिक गतिविधि का सूचक नहीं लगता, पर इस सम्भावना से

इन्कार भी नहीं किया जा सकता। कण्व, प्रियमेध, उपस्तुत, अत्रि, शिंजार सोभरि और अगस्त्य को किन परिस्थितियों में संकट का सामना करना पड़ा हो सकता है ?[213] अगस्त्य के विषय में तो यह स्पष्ट है कि वह धनार्जन के लिए ही गये हुए थे और सोभरि की भी स्थिति स्पष्ट ही है। प्रसंग एक ही होने के कारण इतर ऋषियों के सम्बन्ध में भी यही कारण रहा हो सकता है। अश्विनीकुमारों द्वारा रक्षा के विधान निश्चय ही व्यापारिक यात्राओं के दौरान हुए बचाव के सूचक हैं।

यदि उक्त ऋषि अपनी पहल पर और केवल अपने आपको लाभान्वित करने के लिए इन यात्राओं पर जाते होते तो उनकी ख्याति एक भिन्न रूप में होती। ऐसी स्थिति में यह सोचने की बाध्यता उत्पन्न होती है कि वे अपने आश्रयदाताओं के प्रतिनिधि के रूप में, सही अर्थ में पुरोधा या नेता के रूप में ही, व्यापारिक यात्राओं पर जाते रहे होंगे और यात्रा से भारी लाभ कमा कर लौटने पर इनको अच्छी तरह पुरस्कृत भी किया जाता रहा होगा। ऐसी स्थिति में दान की प्रशस्तियों में से अधिकांश निरे दान की प्रशस्तियाँ न होकर समुचित पुरस्कार की प्रशस्तियाँ बन जाती हैं और अन्यथा अतिरंजित प्रतीत होने वाले उल्लेख किंचित अधिक संगत दिखायी देने लगते हैं।

परन्तु मात्र दान शब्द को देखकर सर्वत्र दान या पुरस्कार की कल्पना कर लेना भी उचित नहीं है। इनकी एक सीमा होती है और यह सीमा उभय-पक्षीय होती है। न केवल दाता इतना अधिक दान नहीं दे सकता जितना कुछ ऋचाओं में दिखाया गया है, अपितु एक दाता से यदि इतना अधिक पुरस्कार या दान मिल जाये तो याचक की भी स्थिति बदल जायेगी और ऐसे कुछ दानियों के चलते तो उसकी मुसीबत हो जायेगी कि इतने अधिक धन का वह करे क्या ? अतः जहाँ दान दो-चार पशुओं, भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि की सूचना देता है वहाँ तो इसे दान या पुरस्कार मानना उचित है, अन्यथा यह मानना होगा कि यहाँ यात्राओं के लिए दिये गये धन और माल का वर्णन है जो वक्ता को इसलिए गदगद कर रहा है कि उसके संरक्षक ने उसके जिम्मे इतने बड़े अभियान का भार सौंपा। एक महत्वपूर्ण बात इन प्रसंगों में यह है कि इनमें भोजन, वस्त्र, और सोने का उल्लेख न होकर प्रायः भारवाही पशुओं का और उन पर लदे माल का उल्लेख है और इनमें कुछ पशु, जैसे गधे और कुत्ते, तो दान की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त हैं।[23]

इसका दूसरा पक्ष यह है कि जब यजमान देवताओं से उनकी दानवीरता की याद दिला कर उनसे सदाशय और उदार होने का और धनधान्य देने का अनुरोध कर रहा है, तब निश्चय ही इसका सम्बन्ध व्यापारिक लाभ से रहता है, न कि किसी के दान से। ऐसे ही एक प्रसंग में वह दस घड़े सोने की याचना करता है और शिकायत करता है कि इन्द्र इतना बड़ा दानी होते हुए भी और दूसरों को इतनी

उदारता से दान देते हुए भी उसे कम क्यों देता है।[214] दस कलश जो लगभग एक टन सोने से भी अधिक हुआ, निश्चय ही कुछ अतिरंजित कामना है, पर कामना तो अतिरंजित होती ही है। इसके बावजूद यह उस समृद्धि का कुछ आभास तो देती ही है जो वैदिक व्यापारियों को मुनाफ़े से मिली हुई थी। उनके वेश का विस्तृत परिचय तो प्राप्त नहीं है, पर सिर की सुनहली पगड़ी का उल्लेख बार-बार आता है और इन्द्र तो प्राय: मात्र शिप्रिन् या पगड़ी वाले के नाम से ही जाने जाते हैं।[215]

यह सुनहली पगड़ी जो आज तक व्यापारी परिवारों में वैभव और अधिकार के प्रतीक के रूप में चलती आयी है, हड़प्पा की एक प्रतिकृति में आसानी मे पहचानी जा सकती है।

9

व्यापारिक प्रतिस्पर्धा

इन्द्र दासों के साथ जब-तब आर्यों का भी दमन करते हैं।[216] मर्त्य शत्रुओं के अतिरिक्त देव शत्रुओं का भी भय बना रहता है। ये आर्य या देव कौन हो सकते थे? निश्चय ही प्रतिस्पर्धी व्यापारी जिनकी रीति और विश्वास की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं थी। अत: आपसी मुठभेड़ के समय एक जैसे रथ पर सवार और इन्द्र का नाम लेकर भिड़ने वालों के उल्लेख भी आते हैं।[217] जिस दासराज्ञ युद्ध की हम चर्चा कर आये हैं उसमें भी कुछ शत्रु तो निश्चित रूप से आर्यव्रत को ही मानने वाले थे। इन प्रतिस्पर्धाओं में अपने व्यापार के लिए ख़तरा प्रतीत होने वाले या अधिक तेज़ी से आगे बढ़ने वाले व्यापारियों को तबाह कर देने का प्रयत्न देखा जा सकता है। तिरिन्दिर को यदुओं का धन इन्द्र की कृपा से हासिल हुआ था।[218] इसी तरह दूसरे कुछ विवरणों में भी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की छाया पायी जा सकती है और जब व्यापारी एक ही सार्थ का अंग बनकर जाते थे तब भी आपसी होड़ में माल का भाव गिराने या ख़रीदे जाने वाले माल का भाव चढ़ाने का अन्देशा बना रहता था। अत:, सम्भवत:, यात्रा आरम्भ करने से पहले, अग्नि को साक्षी बनाकर सभी सदस्यों को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वे यात्रा के दौरान साथ रहेंगे, एक-दूसरे के मनोभाव को ताड़ते हुए एक जैसी बोली बोलेंगे, एक जैसा दाम लगायेंगे, हानि और लाभ में बराबर की हिस्सेदारी करेंगे, उनमें किसी तरह का मतभेद पैदा नहीं होगा, हार्दिक सौमनस्य बना रहेगा, आदि। इसकी अभिव्यक्ति ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में हुई है जिसे सामान्यत: विचार-गोष्ठियों में होने वाली चर्चा से सम्बन्धित मान लिया जाता है।[219] समिति का

प्रयोग युद्ध के लिए भी होता था, पर युद्ध के प्रसंग में इस प्रकार के विचार-विनिमय का महत्व नहीं है और सामान्य गोष्ठियों के सन्दर्भ में साथ चलने का कोई औचित्य तो नहीं ही है, दूसरे का मत जानकर कुछ कहने का और एक साथ बोलने या एक जैसी बात कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। यदि राय पहले ही कायम हो गयी तो चर्चा किस बात की ? फिर इसमें 'देव-भाग' या अपना-अपना 'धरम का हिस्सा' ग्रहण करने का कोई तुक नहीं रहता। इन सभी अपेक्षाओं की पूर्ति व्यापारिक साथों के सन्दर्भ में ही होती दिखायी देती है और इसके मूल में है पारस्परिक होड़ को कम करने का लक्ष्य।

10
व्यापारिक प्रसार

जब तक देसी स्तर पर उपभोग और खपत का आधार तैयार न हो तब तक विदेशों से या सुदूर स्थलों से जितना भी धन-संचय कर लीजिए, सब बेकार है। धन का सार ही उसकी क्रय-शक्ति है, भले वह सिक्के के रूप में हो या धातुपिंडों के रूप में या विनिमेय वस्तुओं के रूप में। अतः यदि वैदिक समाज में असाधारण व्यापारिक हलचल देखने में आती है तो इस विषय में किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती कि घरेलू बाजार में भी काफ़ी सरगर्मी रही होगी। पर ऋग्वेद में जितना अधिक ज़ोर सुदूर व्यापार पर दिया गया है उतना स्थानीय व्यापार पर नहीं। इसके प्रधानतः दो कारण हो सकते हैं। पहला यह कि काव्यात्मक विवरणों में सदा अधिक महत्वपूर्ण पक्ष का ही उद्घाटन होता है। सुदूर व्यापार बहुत बड़े पैमाने पर हो रहा था, जब कि स्थानीय व्यापार के लिए इतने बड़े उपक्रमों की आवश्यकता नहीं थी। दूसरा कारण यह है कि ऋग्वेद में आये सूक्त लाभ और रक्षा के लिए देवताओं से प्रार्थनाओं के रूप में आये हैं और ख़तरे और भारी लाभ दोनों की अधिक सम्भावना सुदूर यात्राओं के दौरान ही हो सकती थी।

अतः हम निकटस्थ क्षेत्रों की अपेक्षा दूरस्थ स्थानों—दूर[220] और परावत[221] आदि—के उल्लेख अधिक पाते हैं। परावत का शाब्दिक अर्थ है पार का देश। यह पार नदी के पार भी हो सकता है, पहाड़ या समुद्र के पार भी। ऐसी स्थिति में विशेष सन्दर्भों को सामने रखकर ही यह निश्चय किया जा सकता है कि यह दूर का देश कितनी दूर हो सकता है। निकटस्थ या इस पार के क्षेत्रों के सन्दर्भ में अर्वावत[222], आस[223] और अंत[224] का प्रयोग देखने में आता है।

आगे चलकर हम देखेंगे कि समुद्र और पर्वत-पार के देशों के लिए दिव या

द्युलोक का भी प्रयोग हुआ है।

समुद्र-यात्रा

एक लम्बे समय तक इस बात को लेकर विवाद चलता रहा है कि वैदिक जन समुद्र से परिचित भी थे या नहीं और आज भी यदा-कदा उन तर्कों को, जिनकी विश्वसनीयता इनके प्रस्तावकों को भी कुछ समय बाद ही सन्दिग्ध प्रतीत हुई थी, दुहरा दिया जाता है।[225] इस बहस में पड़ना समय और स्थान का अपव्यय होगा और इसे ज़िन्दा रखने का श्रेय अकादमिक दृष्टिहीनता को दिया जा सकता है जिसे समुद्र तक दिखायी नहीं देता रहा है। समुद्र का प्रयोग ऋग्वेद में निश्चय ही अनेक अर्थों में हुआ है, पर कौन-सा ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग अनेक अर्थों में नहीं हुआ है? प्रश्न सन्दर्भ का है और इस पर ध्यान देना जरूरी था। समुद्र वह है जिसमें नदियाँ जाकर मिलती हैं[226], जिसका ओर-छोर नहीं दिखायी देता।[227] सरस्वती गिरि (हिमालय) से लेकर समुद्र-पर्यंत—गिरिम्यः आ समुद्रात्—प्रवाहित होती है।

वास्तविकता यह है कि ऋग्वेद में स्थल-यात्राओं की तुलना में जल-मार्ग से की जाने वाली सुदूर यात्राओं के उल्लेख अधिक मुखर होकर आये हैं और प्रायः इन यात्राओं का उद्देश्य भी बहुत स्पष्ट रूप में दिया गया है।[228] समुद्र यात्राओं के दौरान सबसे बड़ा संकट पानी के अभाव का हो सकता था। पानी के बीच रहकर प्यासों मरने का प्रचलित मुहावरा भारत में वैदिक काल से चला आ रहा है और यह इन्हीं समुद्री यात्राओं की देन है।[229] कुछ स्थलों पर अपना माल-असबाब लिये यात्रा करने वाले व्यापारियों के बहुत ही सजीव वर्णन आते हैं।

पिबतं च तृष्णुतं च आ च गच्छतं प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्।···
जयतं च प्रस्तुतं च प्र च अवतं···
हतं च शत्रून् यततं च मित्रिणः प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्।
सजोषसौ उषसा सूर्येण च ऊर्जं नः धत्तं अश्विना॥ ऋ. 8.35.10-12

समुद्री यात्रा के दौरान अनेक मुसीबतों का सामना करना पड़ता था, जिनमें से एक था समुद्री विक्षोभ। ऐसे अवसरों पर ही रास्ता खो जाने या दिशा-भ्रम हो जाने की सम्भावना भी बनी रहती थी। रात के समय दिशा-निर्देश के लिए उन्हें ध्रुवतारे और सप्तर्षिमंडल का सहारा लेना होता था।[230] समुद्र-तट से दूर बहक जाने की स्थिति में पक्षियों—कौओं का प्रयोग होता था,[231] और आपदा की स्थिति में स्वजनों को इसकी सूचना देने के लिए कबूतरों का।[232]

समुद्र-यात्रा पर जाने वाले पोतों का आकार बड़ा होता था और इनको चलाने के लिए पालों का प्रयोग होता था।[233] अनुकूल वायु न मिलने पर ही डाँड़ों का प्रयोग किया जाता रहा होगा। ऐसे जहाज़ों में सैकड़ों चालकों के होने

के उल्लेख आये हैं।[234] जहाज़ों को परस्पर बाँध कर एक बेड़ा बनाया जाता था और भुज्यु के प्रसंग में जिस बेड़े का उल्लेख है उसमें तीन पोत जुड़े हुए थे। समुद्री जहाज़ों के या सामान्य पोतों के भी जो पर्याय थे उनमें से एक था रथ। इसका एक अन्य पर्याय है विमान। भुज्यु के उक्त प्रसंग में पोतों के लिए रथ का ही प्रयोग हुआ है। जिस त्रिवृत रथ का या त्रिबन्धुर रथ का उल्लेख प्रायः आता है वह इस प्रकार पोतों को बाँध कर बनाया जाने वाला बेड़ा ही है।

विमान शब्द को लेकर काफ़ी भ्रम रहा है। कुछ विद्वान तो इस शब्द से इतने प्रभावित दिखायी देते हैं कि उनकी समझ से यह वैदिक-कालीन वायुयानों का सूचक है। उनको अपना भ्रम पालने में ऐसे प्रसंगों में रजस् और अन्तरिक्ष आदि शब्दों का प्रयोग भी सहायता करता है। पर जिस तरह समुद्र शब्द का अनेक बार प्रयोग आकाश के लिए हुआ है उसी तरह इसके उल्टे अन्तरिक्ष शब्द का प्रयोग प्रस्थान-स्थल और गन्तव्य स्थल के बीच के वि ाल समुद्री प्रसार के लिए भी हुआ है। नभस् व रजस् का तो एक अर्थ जल है ही, अतः रजस विमान का जलयान के अर्थ में प्रयोग सर्वथा स्वाभाविक ही है। जहाँ तक विमान शब्द का प्रश्न है, सायण ने सर्वत्र इसका एक ही अर्थ लिया है और वह है निर्माण। वह विमान का एक अर्थ निर्माता करते हैं।[235]

त्रिबन्धुर, त्रिचक्र, त्रिवृत, त्रियुग रथों का सायण अलग-अलग ढंग से अर्थ करते हैं।[236] इन रथों के सम्बन्ध में दो शब्द बहुत सार्थकता रखते हैं और वे हैं वातरंहा या हवा से चलने वाले और श्येनपत्व जो पालों से चलने वाले पोतों की तसवीर को स्पष्ट कर देते हैं।[237] परस्पर बाँधे जाने वाले पोत भिन्न आकार प्रकार के भी हो सकते थे। एक स्थल पर सम्भवतः इसका एक विनोदपूर्ण उल्लेख यह कहते हुए किया गया है कि 'गधे और घोड़ों का कोई मेल नहीं। इन्हें एक साथ जोता नहीं जा सकता, पर अपने त्रिवृत रथ में कुछ ऐसा ही जुगाड़ कर अश्विनीकुमार आ रहे हैं।'[238]

इन बेड़ों के लिए रथ, जिसका शाब्दिक अर्थ है चलने वाला, शब्द का प्रयोग करते हुए और फिर रथ के रूढ़ अर्थ या रूप से इसकी भिन्नता या विचित्रता दिखाते हुए वैदिक कवि इसे तीन मस्तूलों या खम्भों वाला[239], बिना घोड़ों और बिना लगाम के चलने वाला[240] बता कर एक कुतूहल की सृष्टि करते हैं। इसी तरह स्व, जिसका वाचिक अर्थ जल और धन भी है, का प्रयोग माल से लदे और जल में चलने वाले इन पोतों के लिए करते हुए वे इन्हें स्ववान कहते हैं।[241] अहि शब्द का भी अर्थ चलने वाला है और शत्रुओं की नौकाओं के लिए वे इसी अहि शब्द का प्रयोग करते हैं।[243] पोतों के पालों का पक्षी के डैनों से साम्य देखते हुए वे इनको एक पक्षी के रूप में भी कल्पित करते हैं।[244]

उनकी इस कुतूहली वृत्ति की ही अभिव्यक्ति विश्पला और च्यवन के मिथकों

में हुई लगती है। विश-जल पर प्लवन करने वाली नौका ही विश्पला है और इसकी टाँग धनसात या व्यापारिक यात्रा के क्रम में सम्भवत: दस्युओं से किसी मुठ-भेड़ के दौरान टूटती है,[245] और इसको आयसी टाँग प्रदान की जाती है या कहें धातु की कीलों आदि से इसके क्षत हुए पतवार की मरम्मत की जाती है।[246] च्यवन का शाब्दिक अर्थ है चूने वाला[247] और यह किसी पुरानी जर्जर नौका को जिससे पानी रिसने लगा था या जो बेकार-सी हो गयी थी, मरम्मत कर के काम-चलाऊ या जवान बनाने की ही घटना है।[248] ऐसा मानने का पर्याप्त कारण है कि वैदिक रचना-काल के दौरान ही ये दोनों घटनाएँ अपने भौतिक कारण से कट कर मिथकीय रूप ले चुकी थीं।[249] इन दोनों का श्रेय अश्विनीकुमारों को दिया जाता है जो अपनी भूमिका में नौचालक और रथचालक लगते हैं। कभी कदा इसका श्रेय ऋभुगणों के अद्भुत कारनामे को दिया जाता है और ऋभुगण कुशल शिल्पी हैं, न कि चिकित्सक और ऋभुगणों का अपने माता-पिता को युवा बनाने का सम्बन्ध पुराने पोतों की मरम्मत से ही हो सकता है।[250] ऋभुगणों को भी उनके शिल्प-कौशल के अतिरिक्त अश्विनीकुमारों की ही तरह धनधान्य के साथ आते-जाते दिखाया जाता है।[251] और उनकी दक्षता में विशेष रूप से रथों के निर्माण की भी चर्चा की जाती है।[252] ये रथ स्थलगामी भी हो सकते हैं, पर जलपोतों से इनके निर्माण-कार्य का सम्बन्ध भी स्पष्ट है।[253]

समुद्र-मन्थन

समुद्री यात्राएँ किस पैमाने पर की जा रही थीं, इसका कुछ आभास हम समुद्र-मन्थन के रूपकीय विवरण में पा सकते हैं जिस पर हम आगे चल कर विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसका क्षीण आभास ऋग्वेद में भी मिलता है।[254] समुद्र-मन्थन का लक्ष्य था आर्थिक लाभ और अमृत की प्राप्ति और यह याद रखना ज़रूरी है कि सोने को भी अमृत कहा जाता था।[255] यह मन्थन हज़ारों वर्ष तक चलता रहता है और अमृत या लाभ के बँटवारे को ले कर ही देवताओं और असुरों में—मालिकों और उनके दस्तकारों और अन्य कर्मियों में—फ़साद होता है। यहाँ केवल यह याद दिलाना उपयोगी होगा कि इस काल में समुद्री गतिविधियाँ इस हद तक बढ़ी हुई थीं कि लगता था समुद्र को मथा जा रहा है।

स्थल-यात्राएँ

हम इस बात का पहले ही उल्लेख कर आये हैं कि ऋग्वेद में जितनी प्रचुरता से जल-मार्गों का उल्लेख मिलता है उतनी प्रचुरता से स्थल-मार्गों का नहीं। इसका एक कारण तो यह है कि जल-मार्ग प्राचीन कालों का सबसे सुगम मार्ग था और

नदियों के मार्ग से दूर-दूर तक पहुँचा जा सकता था। अधिकांश बस्तियाँ नदियों के तट पर ही हुआ करती थीं। स्थल-मार्ग में पड़ने वाले जंगलों और बीहड़ों के कारण जीवन अधिक असुरक्षित तो रहता ही था, भारत जैसे देश में एक सीमित दायरे से बाहर स्थल-मार्ग से जाने पर कम-से-कम असबाब को एक पार से दूसरे पार ले आने के लिए भी नौकाओं का सहारा लेना ज़रूरी होता था।

परन्तु कुछ ऐसे स्थल भी हो सकते थे जो स्थल-मार्ग से कुछ दिनों की दूरी पर होने के बावजूद जल-मार्ग से हफ़्तों और महीनों की दूरी पर हो सकते थे। इनके लिए समस्त असुविधाओं के बावजूद स्थल-मार्ग को ही अपनाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे क्षेत्र हो सकते थे जहाँ जल-मार्गों का अभाव हो सकता था और इनकी यात्रा स्थल-मार्ग से ही की जा सकती थी। इस दृष्टि से रेगिस्तानी क्षेत्र और पहाड़ी अंचल ख़ास तौर से महत्वपूर्ण थे। वैदिक व्यापारियों को अपने उपयोग के लिए ताँबा खेतड़ी से ही प्राप्त हो सकता था और चाँदी, अच्छी नस्ल के घोड़ों और अल्प-मूल्य रत्नों के लिए उन्हें अफ़ग़ानिस्तान, ईरान और मध्य एशिया पर निर्भर करना पड़ता था। इन यात्राओं के सन्दर्भ में ही ऊँटों, गधों, बैलों, खच्चरों और घोड़ों का सहारा लेना पड़ता था। ठीक यही है हड़प्पा के साथों की स्थिति। ह्वीलर लिखते हैं, इस बात की काफ़ी सम्भावना है कि सिन्धु के साथों में ऊँट, घोड़े और गधे हुआ करते थे।[256]

पर्वतीय यात्राएँ

ऋग्वेद में पर्वतीय यात्राओं के उल्लेख प्रायः आते हैं। इन यात्राओं के सन्दर्भ में ही उन्हें उन दस्युओं का सामना करना पड़ता रहा होगा जिन्हें पर्वत के शिखर पर बैठा या पर्वत-कन्दराओं में छिपा बताया जाता है, यद्यपि उपलब्ध विवरणों में इन दोनों के बीच कोई स्पष्ट भेद नहीं किया गया लगता है। दुर्ग शब्द का सामान्य अर्थ दुर्गम्य है, और मात्र इस शब्द को देख कर ही यह नतीजा निकालना निरापद नहीं हो सकता कि जहाँ भी दुर्ग शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ आशय पर्वतीय क्षेत्र से ही है, पर यदि विभिन्न स्थलों पर ध्यान दिया जाये तो यह निश्चय करने में मदद मिल सकती है कि किन स्थलों पर पर्वतीय क्षेत्रों की बात की जा रही है। जिस प्रकार नौका से सिन्धु को पार किया जाता है उसी तरह अग्नि हमें समस्त दुर्गम्य क्षेत्रों से पार करायें।[257] जिस तरह रथ से (बिना किसी अतिरिक्त आयास के) यात्रा की जाती है उसी तरह उदार वसुगण हमें उपद्रवकारियों से भरे इस दुर्ग से रक्षा करते हुए पार ले जायें।[258] जैसे जल में नाव से जाते हो उसी तरह, ऐ मरुतो, हमें दुर्ग से बिना किसी क्षति के पार ले जाना।[259] जो इन्द्र हमारे अपार धन को वहन करते हैं वह समस्त दुर्गों को सुवाह्य रूप में पार करायें।[260] जिस तरह दुर्गम्य स्थलों को छोड़कर रथगम्य मार्ग से चलते हैं वैसे ही इन्द्र हमें

पापियों से बचा कर ले चलें।[261]

परन्तु दुर्ग शब्द को एक विशेष स्थल पर पर यास्क और सायण ने माँ का गर्भ माना है और इस ऋचा का सम्बन्ध जन्म-ग्रहण से जोड़ा है। इस अभेद रूपक से दुर्ग के सम्बन्ध में जो उपयोगी जानकारी मिलती है वह है इसके मार्ग का सँकरा होना, यात्रा का तिरश्च या चढ़ाई और ढलान वाला होना और पर्वत-पार्श्वों से मार्ग का निकलना[262], जो पहाड़ी दर्रों से की जाने वाली यात्राओं के अनुभव पर आधारित प्रतीत होता है। एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि जब इन्द्र धन लाभ के लिए उद्यम करने को हमारे घोड़ों को प्रेरित करते हैं तो हम उबड़-खाबड़ मार्गों पर उसी तरह बढ़े चले जाते हैं जैसे गिद्ध मांस की ओर लपकता है।[263] इसका सम्बन्ध निश्चित रूप से पर्वतीय क्षेत्रों से है। इस प्रसंग में वल का भेदन करके मार्ग का निर्माण करने और निधियों का आविष्कार करने का प्रसंग एक नयी अर्थवत्ता ग्रहण कर लेता है।[264]

ऋग्वेद में जहाँ भी वल का उल्लेख आया है वहाँ उसका वध आदि करने की नहीं, अपितु इसको सुगम्य मार्ग चाहने वालों के लिए चीरने, तोड़ने और मार्ग को खोलने का ही उल्लेख पाया जाता है। इसे एक रोधक के रूप में कल्पित किया गया है, पर यह रोध जैसे किसी द्वार का हो। जैसे हवा बादलों को चीर देती है या काई को हटा देती है उस तरह इन्द्र ने वल को चीर कर उसके भीतर छिपे धन का उद्घाटन किया।[265] इन्द्र ने पर्वत-शिलाओं से दृढ़ीकृत वल को उद्घाटित किया।[266] इन्द्र ने बल का भेदन किया।[267] इन्द्र ने वल को चीर दिया, विदीर्ण कर दिया।[268] वल की चोटी को इन्द्र ने छिन्न-भिन्न कर दिया।[269] बल को गिरा-कर गुह्य मार्ग का आविष्कार किया।[270] यदि इन विवरणों पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि यहाँ वल नामक किसी असुर का वध करने का प्रसंग न हो कर, पहाड़ी दर्रे का मार्ग खोलने का, और कुछ मामलों में खनिज भण्डारों की खुदाई का, हवाला है। यही कारण है कि यदा-कदा बिल या विवर और फलिग या फाँक या सँकरे मार्ग का भी उल्लेख आता है।[271] ऐसी स्थिति में यह सोचने का प्रलोभन होता है कि वल बोलन का पुराना नाम भी हो सकता है।

ऋग्वेद में पर्वत शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है, पर जब कहा जाता है कि हम नदियों और पर्वतों के धन को वरणीय समझते हैं[272], जब पर्वतीय और समुद्री स्थानों से इन्द्र को आने को कहा जाता है और साथ ही गव्य और अश्व्य या बैलों और घोड़ों पर लदे हुए माल को प्रचुर संख्या में लाने का अनुरोध किया जाता है[273], तब इस विषय में सन्देह नहीं रह जाता कि यहाँ पर्वतीय क्षेत्रों से व्या-पारिक लाभ की बात की जा रही है। एक स्थान पर अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि वह नदियों और पर्वतों की यात्रा के समय मित्र-भाव से सहायता करें।[274] अग्नि को अन्य स्थलों के साथ-ही-साथ पर्वतों के धन का भी राजा बताया गया

है।[275] इन्द्र और अग्नि को आमन्त्रित करते समय कहा जाता है कि वे द्युलोक, पृथिवी, पर्वत, जल, जहाँ कहीं भी हों वहाँ से आ जायें।[276] पर्वत में उदारतापूर्वक देय धन को धारण करने का उल्लेख भी रोचक है।[277] उषा से कहा जाता है कि पर्वतों के बीच से जाते हुए उसका मार्ग सुगम्य हो।[278]

समुद्र-मन्थन के प्रसंग में मन्दराचल का जो उल्लेख आता है वह वास्तव में समुद्री व्यापारिक गतिविधियों को पर्वतीय गतिविधियों से मिला देने के कारण काल-क्रम से उत्पन्न भ्रम के कारण है। मन्दराचल विदेश यात्रा के दौरान बीच में पड़ने वाली पर्वत-माला ही है।[279]

इस तरह हम पाते हैं कि विदेशों के साथ स्थल-मार्ग से सम्पर्क का एक मार्ग खैबर और बोलन (वल) के दर्रों से था और एक दूसरा मार्ग जो कदाचित अधिक निरापद, किंतु बहुत लम्बा था सरस्वती और सिन्धु के मार्ग से समुद्र-तट पर पहुँच कर मकरान तट से पर्वतीय बाधा को पार करके पश्चिमी पार्श्व से होकर मध्येशिया की ओर जाता था। ऐसा मानने का प्रधान कारण यह है कि ऋग्वेद में एक विशेष प्रकार के अच्छी नस्ल के घोड़े का उल्लेख आता है जिसके लिए दधिक्रा शब्द का प्रयोग हुआ है और जिसकी ओजस्विता, शक्ति आदि को देखते हुए लगता है[280] कि यह विदेशों से, मध्य एशिया से आयात किया जाता था। स्थानीय नस्ल के घोड़े भारवाही टट्टू थे, जिन्हें आज भी अलग से पहचाना जा सकता है। घोड़े की उत्पत्ति जल से मानने के पीछे एक कारण यह हो सकता है कि इनके भारत पहुँचने के मार्ग में समुद्र पड़ता था।[281] इन अच्छी नस्ल के घोड़ों को आगे चलकर सिन्ध के साथ सम्बद्ध कर लिया गया और सैंधव घोड़े का एक पर्याय भी बन गया।

लोक-कथाओं में दर्रों के कठिनाई-भरे और मकरान से होकर जाने वाले लम्बे रास्ते को क्रमशः छह महीने और बारह वर्ष के मार्ग के रूप में दुहराया जाता रहा है और जैसा कि कहानियों के राजकुमारों के शौर्य के अनुरूप है। राजकुमार जोखिमों, राक्षसों और विपत्तियों से भरे छह महीने के मार्ग को ही चुनता रहा है। पर बड़ी संख्या में अप्रशिक्षित, और अधिक सम्भव है घोड़ों के बछड़ों को लाने वाले व्यापारियों के लिए दर्रों के मार्ग की तुलना में यह लम्बा रास्ता अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता रहा होगा।

व्यापारियों के स्वर्ग

स्वर्ग की संकल्पना का विकास किस तरह हुआ और कैसे यह क्रमशः दूर होता हुआ द्युलोक तक पहुँच गया, इस पर हम इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि जिन क्षेत्रों के माल से तत्कालीन व्यापारी सम्पन्न हो रहे थे वे उनके लिए स्वर्गतुल्य प्रतीत हो रहे थे। इन भिन्न

जलवायविक क्षेत्रों के विशिष्ट उत्पाद भी इनमें से प्रत्येक को अलौकिक या स्वर्गीय प्रतीत हो रहे थे। इस तरह पाश्चात्य व्यापारियों के लिए भारत के विशिष्ट उत्पाद—चन्दन, हाथीदाँत, कस्तूरी, गन्ना, बन्दर, मोर आदि विचित्र लगते थे तो भारतीय व्यापारियों को पश्चिम के खजूर, किशमिश, अल्पमूल्य रत्नों की खानें और वहाँ के घोड़े आदि। यदि पश्चिमी विवरणों में स्वर्गतुल्य देश के ब्यौरे में जायें तो भारत का चित्र सजीव हो जायेगा। और, भारतीय विवरणों में स्वर्ग की कल्पना हिमालय के पार की जाती रही है और इसके सन्दर्भ में आरोहण, जो मूलतः पर्वतारोहण, रहा है, की बार-बार चर्चा आती है। इस पर कुछ विस्तार से चर्चा आगे की जायेगी, पर यहाँ इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि देवयान के जो विवरण ऋग्वेद में पाये जाते हैं उनका सम्बन्ध इन व्यापारिक यात्राओं से भी है। वैदिक जन अपने लिए जिन शब्दों का प्रयोग करते थे उनमें से एक था 'देव'। और जब वे स्पष्टतः धन की आकांक्षा से देवयान पर जाने की बात करते हैं तब हमें केवल आध्यात्मिक और रीतिवादी अर्थ ले कर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए।[282]

उपनिवेश और बस्तियाँ

ऐसा लगता है कि वैदिक व्यापारियों ने विदेशों में अपनी बस्तियाँ भी बसा ली थीं। समुद्र में बने मकानों का आशय समुद्र-पार के देशों में बनी आर्य-बस्तियों से ही हो सकता है।[283] इसी तरह द्वीपों का सम्बन्ध वास्तविक द्वीपों या तटीय अड्डों से हो सकता है।[284] इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह सोचना उचित होगा कि ऋग्वेद में जिन मुठभेड़ों के उल्लेख आते हैं उनमें से अनेक का सम्बन्ध इन दूरस्थ देशों और बस्तियों से हो सकता है।[285]

विपणन

यद्यपि ऋग्वेद में ख़रीद-बिक्री के उल्लेख बहुत कम आये हैं, पर स्थिति निराशाजनक नहीं है। पर यदि यह प्रश्न किया जाये कि विपणन की वस्तुएँ क्या थीं तो ऋग्वेद ही नहीं, बाद का साहित्य, रामायण, महाभारत, पुराण आदि भी अपने समय की विपणन-वस्तुओं के विषय में हमें निराश ही करेंगे। अतः इनका उल्लेख न होना हमारे लिए समस्या भले उत्पन्न करे, इसको नकारात्मक प्रमाण नहीं बनाया जा सकता।

जहाँ वाणिज्य और पणन का उल्लेख भी बहुत कम आया हो वहाँ इन वस्तुओं के बेचने और ख़रीदने के उल्लेखों की आशा नहीं की जा सकती। पर जिन वस्तुओं का स्थानीय स्तर पर लेन-देन और उत्पादन-उपभोग दिखायी देता है, वे ही

बाहरी बाज़ारों में भी जाती रही होंगी, ऐसा सोचना ग़लत नहीं होगा। मुमकिन है, इनके अतिरिक्त कुछ मामलों में गुलामों की भी खरीद-बिक्री होती रही हो—जिन्हें दान में दिया जा सकता था उन्हें ख़रीदा और बेचा भी जा सकता था।

जहाँ तक वस्त्रों का सवाल है, यह आपत्ति उठायी जाती रही है कि वैदिक जन तो केवल ऊनी वस्त्रों से परिचित थे। पर इस तरह की मान्यता केवल नकारात्मक प्रमाणों पर आधारित है। ऋग्वेद में वस्त्र का जहाँ भी उल्लेख आया है, कहीं इस बात का संकेत नहीं मिलता कि वस्त्र है किस चीज़ का बना। भेड़ पालने का और भेड़ के ऊन का उल्लेख निश्चय ही कई बार आया है, पर वस्त्र के जो उल्लेख हैं वे भेड़ के ऊन का संकेत नहीं देते। कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनमें घूँघट काढ़ने या मुँह ढकने के संकेत मिलते हैं।[286] ऊनी वस्त्र इतनी उम्दा किस्म के उस ज़माने में शायद ही कहीं बुने जाते रहे हों कि इनको ओढ़नी के रूप में प्रयोग में लाया जा सके। इसके अतिरिक्त वस्त्रों के रंग-विरंगा होने की भी चर्चा आती है।[287] यह पुन: सूती वस्त्रों के चलन की पुष्टि करता है। माताओं द्वारा बच्चों के लिए वस्त्र बुनने की रीति भी कुछ सीमा तक किसी अधिक मुलायम वस्त्र का सूचक माना जा सकता है[288], यद्यपि यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि वत्स से आशय किस उम्र के बच्चे से है। दूसरी ओर, हड़प्पावासी केवल सूती वस्त्र से ही परिचित नहीं थे। वे सर्दी के दिनों में गरम या ऊनी कपड़ों का प्रयोग करते थे।[289]

जिस मान्यता की पुष्टि के लिए हड़प्पा में प्रचलित वस्त्रों से वैदिक वस्त्रों की भिन्नता दिखाने के लिए वैदिक वस्त्रों को केवल ऊनी माना जाता है, उसमें स्वत: एक अन्तर्विरोध है। यदि वैदिक जनों को हड़प्पा से बाद का माना जाये तो कोई कारण नहीं कि वे भारत में पहुँचने पर सूती वस्त्रों से परिचित होने से रह जाते और फिर यहाँ के मौसम को देखते हुए अपेक्षाकृत अधिक सुखद वस्त्रों को अपनाने से बाज़ आते। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि वैदिक जन वस्त्र की बुनाई करघे से करते थे और जैसा कि श्रेडर का विचार है, उस काल में ऊनी वस्त्रों के लिए करघे का प्रयोग नहीं होता था, अत: करघे से बुनाई स्वत: गैर-ऊनी वस्त्रों के प्रचलन का प्रमाण है।[290] अत: यह मान लेने में कोई हरज नहीं है कि वैदिक जन सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्रों से परिचित थे और रुई के गद्दे-आसन्दी और तकिए-उपबर्हण भी प्रयोग में लाते थे। और ये वस्त्र उनके व्यापारिक असबाब में भी शामिल रहे हो सकते हैं।[291]

इस घरेलू उत्पाद के अतिरिक्त विविध प्रकार के आभूषण—हाथ और पाँव के खाद, गले के हार—रुक्म और स्रग, निष्क और मणि, कर्ण-शोभन या कान का अलंकार, माथे के पेश[292] आदि आते हैं। इन अलंकारों को हड़प्पा की प्रतिमाओं में पहचाना जा सकता है और इनके वाणिज्यिक महत्व को हड़प्पा की पण्य वस्तुओं में ढूँढ़ा जा सकता है।[293]

जैसा कि ह्वीलर का सुझाव है, यदि हम सातवीं-आठवीं शताब्दी के विवरणों को हड़प्पा-काल पर भी लागू करना चाहें और यह मानना चाहें कि इस दौर में पश्चिमी एशिया को निर्यात होने वाली वस्तुओं में से अधिकांश का निर्यात हड़प्पा-काल से चला आ रहा हो सकता है तो वैदिक साहित्य में इसके पर्याप्त प्रमाण मिल जायेंगे। लकड़ी भारतीय निर्यात की वस्तुओं में से एक रही है और पेड़ों को काटने और चीरने के जो विवरण वैदिक साहित्य में बार-बार मिलते हैं वे इसके निर्यात की दृष्टि से भारत की क्षमता को प्रकट करते हैं।[294] सामान्य लकड़ी के अतिरिक्त सुगन्धित द्रव्य[295], गन्धलेप[296] और अंजन का[297] प्रयोग वैदिक काल में होता था। वैदिक साहित्य में सुन्दर केश-सज्जा के प्रसंग में कुरीर और ओपस[298] के अतिरिक्त पुरुषों के द्वारा चोटियाँ रखने के उल्लेख[299] को देखते हुए केश-विन्यासके लिए प्रयुक्त कंघों और दर्पणों के प्रचलन का सहज अनुमान किया जा सकता है और ये वस्तुएँ भी निर्यात की जाती रही हो सकती हैं।

दूसरी ओर निर्यात की कुछ वस्तुएं पशु, पक्षी और हाथीदाँत के बने सामान और रथ तथा नौका स्वतः भी रहे हो सकते हैं। वैदिक जन मुर्गे से परिचित थे और इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि दुनिया में सबसे पहले मुर्गे को भारत में पालतू बनाया गया था और यहीं से इसे दूसरे देशों को निर्यात किया गया था।[300] ऋग्वेद में पक्षियों से शकुन विचार कराने का वर्णन आया है। यह स्पष्ट नहीं कि यह शकुन का पक्षी शकुन्त कौन-सा पक्षी है, पर सन्दर्भ को देखते हुए कौआ[301] प्रतीत होता है। मयूर से भी वैदिक जन परिचित थे और यह भी भारत से सम्भवतः निर्यात होता था।[302] इनके अतिरिक्त गाय और घोड़े[303] तथा ऊँट[304] व्यापार की वस्तुओं में शामिल रहे हो सकते हैं। हाथी से वैदिक जन परिचित थे और इसे पालतू बनाने में उस सीमा तक सफल रहे हो सकते हैं, जिस सीमा तक आज तक कोई हो सकता है, अर्थात् वे इसका प्रजनन कराने में सफल न होने के बावजूद इसका शिकार करके और इसे प्रशिक्षित करके अपने उपयोग में लाते थे।[305] हाथी के लिए प्रयुक्त वैदिक पर्यायों में एक है इभ।[306] यह शब्द ही हाथीदाँत के लिए मिस्री भाषा में इब्न बनकर आगे के पश्चिमी देशों में पहुँचा है, जहाँ इसने आइवरी का रूप ले लिया है। यह इस बात का सूचक है कि हाथीदाँत से बनी वस्तुओं का भी निर्यात वैदिक काल में होता था। ऋग्वेद में मदमस्त हाथी या 'दाना मृगो' का प्रयोग हुआ है और हाथीदाँत नर हाथी से ही प्राप्त होता है।[307] हड़प्पा में हाथीदाँत का काम होता था[308] और लोथल से हाथीदाँत का एक पैमाना भी मिला है।[309] ऋग्वेद में सोम का बड़े महत्व के साथ उल्लेख आता है। सोम, जैसा कि हम अन्यत्र सकेत कर आये हैं, वस्तुतः गन्ना था और इस शब्द का प्रयोग सोम के विविध विपाकों—गुड़ आदि—के लिए भी होता था।[310] ब्राह्मणों में सोम की ख़रीद आदि के विवरण मिलते हैं और यह माना जा सकता है कि यह वैदिक-

कालीन व्यापारिक मदों में से एक रहा होगा।

इस तरह ऋग्वैदिक काल तक जो व्यापारिक गतिविधियाँ दिखायी देती हैं उनकी तुलना यदि हम हड़प्पा सभ्यता की व्यापारिक गतिविधियों के सम्बन्ध में अब तक प्राप्त जानकारी से करने चलें तो इन दोनों में पण्यवस्तु, व्यापारिक सम्पर्क-क्षेत्र, मार्ग, परिवहन के साधन, सार्थ आदि सभी मामलों में अभिन्नता दिखायी देती है। कुछ मामलों में तो हम यह दावा कर सकते हैं कि अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद ऋग्वेद से प्राप्त होने वाली सूचनाएँ हड़प्पा के भौतिक अवशेषों से भी अधिक स्पष्ट हैं और हड़प्पा के व्यापारियों के जिन अनुभवों को इसके मूक अवशेष हम तक नहीं पहुँचा सकते उन्हें वैदिक साहित्य ही मुखर करता है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. देखें, एलिज़ाबेथ ड्यूरिंग कैस्पर, 'सुमेरियन ट्रेडिंग कम्यूनिटीज़ रिज़ाइडिंग इन हड़प्पन सोसायटी', फ्रंइंसि., 1984, 363-70
2. देखें आगे, अध्याय छह।
3. पिगट, प्रीहिस्टॉरिक इंडिया, 1950, 210
4. वही, 211
5. वही, 212
6. चाइल्ड, न्यू लाइट ऑन दि मोस्ट ऐंश्येंट ईस्ट; मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइजेशन; ह्वीलर, पूर्व., 1953; मैकाय, पूर्व., 1948; वूली, एक्सकेवेशन्स ऐट ऊर; गैड, 'सील्स ऑफ़ ऐंश्येंट इंडियन स्टाइल फाउंड ऐट ऊर'; लीग्रेन, कल्चर ऑफ़ दि बेबीलोनियन्स; फ्रैंकफर्ट, सिलिलंडर सील्स; राव, 'लोथल ऐंड वेस्ट एशिया', 'ए परशियन गल्फ़ सील फ्राम लोथल'; राव, दि डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट; फ्राब्री, 'दि क्रीटन बुल-ग्रैपलिंग स्पोर्ट्स एंड बुल सैक्रिफ़ाइस इन इंडिया'; वूली, दि सुमेरियन्स; ऊर एक्सकेवेशन्स; लैंबर्ग-कार्लोव्स्की, 'दि ट्रेड मकैनिज्म इन इंडस सुमेरियन इंटररिलेशंस'; दुर्रानी, स्टोन वेसेज ऐज इविडेंस ऑफ़ कनेक्शन बिटविन मेसोपोतामिया एंड इंडस वैली; कैमर, 'दि इंडस सिविलाइजेशन ऐंड दिलमुन, दि सुमेरियन पैराडाइज़ लैंड'; तोशी, 'दिलमुन'; थापर, 'ए पॉसिबल आइडेंटिफ़िकेशन ऑफ़ मेलुह्हा'; रालिसन, इंटरकोर्स बिटविन इंडिया ऐंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, आदि। शशि अस्थाना

ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऐंड आर्कियालॉजी ऑफ़ इंडियाज कांटैक्ट विद अदर कंट्रीज' 1979 में इनमें से अधिकांश का समाहार प्रस्तुत किया है।

7. एस.पी. गुप्त व श्केतेंको, 'न्यू इविडेंस ऑफ़ हड़प्पा कल्चर इन दि सोवियत सेंट्रल एशिया, भारती, 1966-68; एस.पी. गुप्त, प्रीहिस्टारिक इंडियन कल्चर्स इन सोवियत सेंट्रल एशिया, इंकंवथाक., 1970; अस्थाना, 'हड़प्पन ट्रेड इन मेटल्स ऐंड मिनरल्स', हड़प्पा सिविलाइजेशन, 1982, आदि।
8. अस्थाना, वही।
9. नार्मन ब्राउन, चान्हूदड़ो एक्सकैवेशन्स 1935-36; 1943, 38
10. आर.एस. शर्मा, पूर्व., 1983, 30-31; ए.एल. बैशम, पूर्व., 32-38
11. उषः तं अश्यां यशसं सुवीरं दास-प्रवर्गं रयिं अश्व-बुध्यम्। ऋ. 1.92.8. 'दास-प्रवर्ग' की व्याख्या करते हुए सायण लिखते हैं, "प्रकृष्टो वर्गः संघः प्रवर्गः। दासानां कर्मकाराणां प्रवर्गो यस्मिन् तम्। अनेकैः भृत्यैः उपेतं इति अर्थः।" ग्रिफ़िथ इसका अर्थ 'दासों के दल' (ट्रुप्स ऑफ़ स्लेव्ज़) करते हैं।
12. 8.56.3
13. 1.84.16; 8.66.1; 9.103.1, आदि।
14. ऋ. 1.103.3, 'दासीः दस्युसम्बन्धीनि'; 2.11.4, 'दासीः उपक्षयित्री'; 2.20.7, 'दासीः उपक्षयित्री (आसुरी) सेना', 4.28.4, 'दासी विशः कर्म-हीनाः मानुषी प्रजाः'; 4.32.10 'दासीः क्षेप्तुः असुरस्य स्वधूता याः पुरः यानि नगराणि', आदि।
15. यदि सेवकों की स्थिति ऐसी थी कि उन्हें दान में भेड़ बकरी की तरह दिया जा सकता था तो उनकी स्त्रियों को मनचाहे ढंग से काम पर लगाया जाता रहा होगा, यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है।
16. उप मा श्यावाः स्वनयेन दत्ता वधूमन्तः दश रथासः अस्थुः। ऋ. 1.126.3; द्वयान् अग्ने रथिनः विंशतिं गाः वधू-मतः मघवा मह्यं सम्राट्। ऋ.6.27.8; द्वैव नप्तुः देव-वतः शते गोः द्वा रथा वधू-मन्ता सुदासः। ऋ. 7.18.22; ग्रिफिथ, दि हीम्ज़ ऑफ़ दि ऋग्वेद, 1.126.3
17. देखें 6.28.8 पर सायण भाष्य।
18. ऋ. 8.68.17 में 'षट् अश्वान् अतिथिग्वः वधूमतः' पर टिप्पणी करते हुए सायण लिखते हैं, 'वधूभिः वडवाभिः तद्वतः षडश्वान्।' मोनियर विलियम्स, ऋ. 5.47.6 तथा 8.19.36 में वधूमत के सन्दर्भ में वधू का अर्थ गाय या घोड़ी करते हैं। देखें, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, 'वधू' भी। मादा का भाव वधू के साथ इस तरह इस शब्द से जोड़ दिया गया है कि इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया कि यह उसी 'वह्—' धातु से निकला है जिसका

मूल अर्थ ढोना या ले जाना है और स्वयं वधू—स्त्री, के लिए यह प्रयोग लाक्षणिक रूप में 'वह जिसे ले जाया जाता है' होता आया है। ऋग्वेद के दान के प्रसंगों में इसका अर्थ ढोने वाला ही है, अन्यत्र स्त्री है।

19. 8.66.10
20. 8.47.17
21. 8.21.16., मा भ्रातुः अग्ने अनुजः ऋणं वेः मा सख्यु-दक्षं रिपोः भुजेम। ऋ. 4.4.13
22. 10.34.10.
23. मैकडनेल व कीथ, वैदिक इंडेक्स, 1, 'ऋण'।
पाद-टिप्पणी में वे लिखते हैं, "ऋ. 10.34.4 में ऐसा प्रतीत होता है कि उसे (कर्जदार को) दास की भाँति बाँधकर अपने साथ ले जाया जाता था, यद्यपि पिशल (देखिए, वेदिक स्टूडिएन 1,228) में एक अस्पष्ट मंत्र (1.169.7) की व्याख्या के आधार पर यह कहते हैं कि ऋणग्रस्त व्यक्ति द्वारा ऋण न चुकाने की दशा में उसे बाँधा जाता था। किन्तु अथर्ववेद 6.115.2-3 से ऋण का तात्पर्य है और यदि यही अर्थ ठीक है तो दंड-स्वरूप खंभे से बाँध रखने का स्पष्ट संकेत मिलता है।

मैकडनेल और कीथ ने कला और शफ को (सोलहवाँ और आठवाँ हिस्सा) व्याज की दर माना है और ऐसा अर्थ करने में सूक्त कोई कठिनाई नहीं पैदा करता, क्योंकि "यथा कलां यथा शफं यथा ऋणं सन्नयामसि" 'यथा' का अर्थ के अनुसार या "की दर से" लिया जा सकता है, पर साहित्य की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार का अर्थ दूरारूढ़ लगता है। अन्य बात यह कि ऋण का जो आतंक ऋग्वेद में दिखायी देता है उसे ध्यान में रखते हुए ब्याज की दर बहुत अधिक होनी चाहिए। अतः कला और शफ का जो अर्थ सायण ने लिया है वही ठीक लगता है और यह है 'शनैः शनैः' या धीरे-धीरे चुकाना। इस सन्दर्भ में आम बोलचाल में भी "रत्ती-पाई करके चुकाने" या "जिस-तिस तरह चुकाने" का मुहावरा चलता है।

24. इन्द्रं अहं वणिजं चोदयामि।···अथर्व. 3.15.1
25. ऋग्भ्यः जातं वैश्यं वर्णं आहुः। तैस. 3.12.9.2
26. अर्यः स्वामिवैश्ययोः। पाणिनि 3.1.103.
27. बर्न्ट, रोनाल्ड एम. और सी.एच.बर्न्ट, दि वर्ल्ड ऑफ़ आस्ट्रेलियन्स, 1964, 115-17
28. ऋग्वेद में भूरि का 112 बार प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त भूयस्, भूयिष्ठ, भूमान जिसका शाब्दिक अर्थ ही हुआ दुनिया भर का, बहु, सर्व, विश्व आदि शब्दों पर ध्यान देना उपयोगी होगा। वैदिक असन्तोष की कुछ

झलक उस वाक्य में मिल सकती है जिसे आगे चल कर आध्यात्मिक अर्थ दे दिया गया—न अल्पे सुखं अस्ति भूमा एव सुखम्। यह भूमा भूमान का ही घिसा रूप है।

29. त्वं नः अग्नेः···कल्याणं वसु विश्वं आ अपिषे। ऋ. 1.31.9; विश्वं सः अग्ने जयति त्वया धनं···ऋ. 1.36.4, आदि।

30. ऋ. 6.75.2; 7.35.8; 8.100.4. इन सभी प्रसंगों में सीधे धन की नहीं, अपितु चारों दिशाओं में प्रभुत्व स्थापित करने की कामना व्यक्त की गयी है।

31. सु-आयुधं सु अवसं सनीथं चतुः समुद्रं धरुणं रयीणम्। चर्कृत्यं शस्यं भूरिवारं अस्मभ्यं चित्र वृषणं रयिं दाः ॥ ऋ. 10.47.2.

32. इंद्रं श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वं अस्मे।
पोषं रयीणां अरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वं अह्नाम् ॥ऋ. 2.21.6, आदि।

33. वरेण्य अर्थात् वरणीय शब्द का प्रयोग मुख्यतः धन आदि के लिए ही हुआ है और इसकी आवर्तिता 40 बार से अधिक है। स्पार्ह या स्पृहणीय का भी धन के प्रसंग में प्रयोग होता दिखायी देता है।

34. विल डुरांट, 1954, 79

35. उदाहरण के लिए, यूनान को और रोम को हज़ार से ऊपर के संख्यावाची का ज्ञान न था।

36. ऋ. 4.26.7; 8.34.15; 1.134.2; 138.3 आदि।

37. नि. 3.1

38. देखें, पृ. 134 व 142, टिप्पणी सं. 15 व 165

39. सरस्वती 'वाजेभिः वाजिनीवती' ऋ. 1.3.10; 6.61.4. (आने-जाने वाली मालवाही नौकाओं से भरी हुई ?) है इसका जल गर्जना करता हुआ बहता है, 'अमः चरति रोरुवत्।' यह प्रखर वेग से बहता है, 'त्वेषः चरिष्णु अर्णवः' 6.61.8. सिन्धु भी वृषभ की तरह नाद करती हुई प्रवाहित होती है, 'सिंधुः यत् एति वृषभः न रोरुवत्', 10.75.3 और नदियों में अपने वेग के कारण सबसे आगे है, 'प्रसृत्वरीणां अति सिंधुः ओजसा', 10.75.1. सुसर्त्वा, रसा, श्वेता, कुभा, गोमती, क्रमुः मेहत्ना आदि को भी उनके प्रवाह के सन्दर्भ में ही याद किया गया है, 10.75.6

40. सरस्वती पर्वत से लेकर समुद्र-पर्यंत 'गिरिभ्यः आ-समुद्रात्', ऋ. 7.75.2, प्रवाहित होती है।

41. यः त्वा देवी सरस्वती उपब्रूते धने हिते। ऋ. 6.61.5; सुखं रथं युयुजे सिन्धुः अश्विना तेन वाजं सनिषत् अस्मिन् आजौ। ऋ. 10.75.9, आदि।

42. सिन्धु को सुरथा कहा गया है, ऋ. 10.75.8 और जल को सुगम्य बनाने के

उल्लेख प्रायः आते हैं, 'सुगा अपः चकार वज्रबाहुः' ऋ. 1.165; 'सुतरणान् अकृणोत इन्द्र सिन्धून्।' ऋ. 4.19.6, आदि।

43. सरस्वती के मार्ग से नहुष ने सारी दुनिया का धन दुह लिया था, 'रायः चेतन्ती भुवनस्य भूरेः घृतंपयः दुदुहे नाहुषाय', ऋ. 7.95.2. इसी तरह इसने दिवोदास को इतना लाभ दिया था जो कभी खत्म न हो सके, 'इयं अददात् रभसं ऋणच्युतं दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे', ऋ. 6.61.1. सायण ने रभस् का अर्थ वेगवन्त किया है पर ऋणच्युत, और अददात् को ध्यान में रखते हुए और साथ ही र और ल में अभेद के नियम को ध्यान में रखते हुए इसे 'लभसं', व्यापार से प्राप्त लाभ मानना अधिक संगत है।

44. मा नः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसः अंहति। ऊर्मिः न नावं आ वधीत। ऋ. 8.75.9

45. इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः। ऋ. 10.14.15; त्वं नः गोपाः पथिकृत विचक्षणः, ऋ. 2.23.6; प्र ते अरदत् वरुणः यातवे पथः, ऋ. 10.75.2, आदि।

46. ऋ. 1.64.14; 79.8; 119.10; 139.8; 2.2.10; 26.1; 34.7; 3.24.1; 3.37.10; 4.36.6; 5.15.3; 35.1; 7; 38.2; 8.46.8; 9.16.3; 63.11, आदि।

47. ता नः वसू सुगोपा स्यातं पाहि नः वृकात् अघायोः। ऋ. 1.120.7; यः त्वा स्वश्वः सुहिरण्ययः अग्ने उपयाति वसुमता रथेन। तस्य त्राता भवसि तस्य सखा यः त आतिथ्यं आनुषक् जुजोषत्। ऋ. 4.4.10; पिपर्तु नः अदिती राजपुत्रा अति द्वेषांसि अर्यमा सुगेभिः। ऋ. 2.27.7, आदि।

49. द्रुहः रिषः संपृचः पाहि सूरीन्। ऋ. 2.35.6; अप स्म तं पथः जहि। ऋ. 1.42.2 दूरे अधि सुतेः भज। ऋ. 1.42.3; इंद्र त्वं रथिरः पाहि नः रिषः। ऋ. 3.31.20 : बाधतां द्वेषः अभयं कृणोतु। ऋ. 6.47.12, आदि।

49. अस्वप्नजः तरणयः सुशेवा अतन्द्रासः अवृकाः अश्रमिष्ठाः। ते पायवः सध्र्यंचः निषद्य अग्ने तव नः पान्तु अमू। ऋ. 4.4.12; मा नः निद्रा ईशत् मा उत् जल्पिः। ऋ. 8.48.14

50. देखें ऊपर, तथा 5.19.2; 10.102.12, आदि।

51. सुदास पर दस राजाओं का आक्रमण जिसमें उनकी विजय नहीं अपितु बचाव ही हुआ था, और अभ्यावर्ती चायमान पर वरशिख के पुत्र वृचीवान का आक्रमण, पणियों द्वारा आर्यों की गायों—मुमकिन है बैलों पर लदे माल, क्योंकि गो शब्द गाय बैल दोनों के लिए प्रयोग हुआ है, और कभी-कभी वाहन मात्र के लिए—का हाँक ले जाया जाना, इस दृष्टि से रोचक है। वाहन पर लदे माल के लिए भी वाहन का ही प्रयोग होता है, यथा गाड़ी लूट ली,

डोली छीन ली, जहाज उड़ा ले गये।

52. 6.47.12; 7.50.2; 10.35.3, आदि। वृत्र व शम्बर का अर्थ भी बाधक ही है।

53. 1.42.4; 2.35.5, आदि।

54. 1.42.2

55. 6.51.13; 7.18.8; 32.27; 8.71.7, आदि।

56. 7.104.1; 2.17.4; 23.3; 3.27.13 आदि।

57. न यः संपृच्छे न पुनः हवीतवे न संवादाय रमते। ऋ. 8.101.4

58. 1.25.7

59. 1.116.5

60. अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णा अविदत् जरितारम्। ऋ. 7.89.4

61. 1.112.6; 20; 116.3.5; 117.14; 119.4, आदि।

62. 1.36.10; 64.14-15; 112.7; 10; 130.6; 6.45.12; 3.45.4, आदि।

63. अयुद्ध इत् युधा वृतः शूरो आजति सत्वभिः येषां इन्द्रः युवा सखा। ऋ. 8.45.3

64. नहि वां अस्ति दूरके यत्र रथेन गच्छथ। ऋ. 1.22.4; स नः दूरात् च आसात् च नि मर्त्यात् अघयोः। पाहि सदं इत् विश्व-आयुः॥ ऋ. 1.27.3; नकिः तं घ्नन्ति अन्तितः न दूरात यः आदित्यानां भवति प्र-नीतौ। ऋ. 2.27.13; ओ सु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वः दूरात् अनसा रथेन। ऋ. 3.33.9; आ ते कारो शृणवाम वचांसि ययाथ दूरात् अनसा रथेन। ऋ. 3.33.10; तिस्रः नासत्या रथ्या परावतः आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्। ऋ. 1.34.7; एनं नयत् मातरिश्वा परावतः देवेभ्यः मथितं परि। ऋ. 3.9.5; आ यातु इन्द्रः दिवः आ पृथिव्याः मक्षुः समुद्रात् उत् वा पुरीषात्। स्वः नरात् अवसे नः मरुत्वान् परावतः वा सदनात् ऋतस्य॥ ऋ. 4.21.3, आदि।

65. सुगा उत् ते सुपथा पर्वतेषु। ऋ. 6.64.4; आ याहि पर्वतेभ्यः समुद्रस्य अधि विष्टपः। 8.34.13; देखें ऊपर 4.21.3 भी और उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। ऋ. 8.6.28

66. यत् इन्द्र सर्गे अर्वतः चोदयासे महाधने। असमने अध्वनि वृजिने पथि श्येनान् इव श्रवस्यतः॥ ऋ. 6.46.13

67. यत् एमि प्रस्फुरन् इव दृतिः न ध्मातः अद्रिवः। ऋ. 7.89.2; यह वस्तुतः एक दर्रे से होकर गुजरते समय अनुभव की जाने वाली ठंड का वर्णन है जिसमें हवा कुछ इस तरह लगती है जैसे धौंकनी से निकल रही हो, जिससे रोम

स्फुरित हो जाते हैं।

68. आ शर्म पर्वतानां उत् अपां वृणीमहे। ऋ. 8.18.16; आ शर्म पर्वतानां वृणीमहे नदीनाम। ऋ. 8.31.10; सुदासे दस्रा वसु बिभ्रता रथे पृक्षः वहतं अश्विना। रयिं समुद्रात् उत वा दिवस्परि अस्मे धत्तं पुरुस्पृहम्। ऋ. 1.47.6

69. अपो सु म्यक्ष वरुणं भियसम्। ऋ. 2.28.6
स्वप्ने भयं भीखं मह्यं आह। ऋ. 2.28.10
मा वः रथः मध्यमवाट् ऋते भूत मा युस्मावत्सु आपिषु श्रमिष्म। ऋ. 2.39.4; आ वहः हार्दि भयमानः व्ययेयम्। ऋ., आदि।

70. संवादेषु आह वाक्यं यः सः तु तस्मिन् भवेत् ऋषिः। बृहद्देवता, 2.88. देखें पीछे 'समस्या का स्वरूप', पृ. 18 भी।

71. 7.18.15; 19; 83.8, आदि।

72. 3.53.10; 11, आदि।

73. 7.7.7; 8.7; 12.3; 33.1; 7; 9; 37.4, आदि।

74. 3.26.1; 29.15; 30.20; 42.9; 50.4. देखें विश्वामित्राः 3.53.13. विश्वामित्रेभिः 3.1.19; विश्वामित्रेषु 3.18.4 भी।

75. दर्शनात् ऋषिः। निरु. 2.3.11

76. ऋषी गतौ। धा. पा.

77. ये गत्यर्थाः ते ज्ञानार्था। निरु. 2.3.11

78. यज्ञेः अथर्वा प्रथमं पथः तते... ऋ. 1.83.5

79. 10.14.15

80. तत् यत् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभु अभ्यानर्षत् ते ऋषयः अभवन्... निरु. 2.3.11
स्तोमान् ददर्श इति औपमन्यवः। निरु. 2.3.11

81. धियं वः अप्सु दधिषे स्वर्षां यया अतरन् दशमासः नवग्वाः।
अया धिया स्याम देव-गोपाः अया धिया तुतुर्याम अति अंहः॥ ऋ. 5.45.11

82. तमु नः पूर्वे पितरः नवग्वाः सप्त विप्रासः अभि वाजयन्तः।
नक्षत् दाभं ततुरि पर्वतेष्ठां अद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम्॥ ऋ. 6.22.2.

83. गव्यं चित् ऊर्वं अपिधानवन्तं तं चित् नरः शशमानाः अप-व्रन। ऋ.5.29.12

84. येन नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः अर्चंतः अंगिरसः गाः अविन्दन्। ऋ. 1.62.2
येन नः पूर्वे पितरः पदज्ञा स्वर्विदः अभि गाः अद्रिं उष्णन्। ऋ. 9.97.39
सायण ने भी इसका शाब्दिक अर्थ यही लिया है, यथा, 'पदज्ञः पणिभिः अपहृतानां गवां पदं जानन्तः।' 9.97.39 पर भाष्य। 'कर्माणि अनुष्ठाय देव पदं अनुभवन्तः।' ऋ. 3.55.2 पर भाष्य।

85. ऊपर, ऋ. 5.29.12; 9.97.39
86. 1.62.4.; 6.22.2
87. 'सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्' । ऋ. 3.39.5
88. 1.33.6, आदि ।
89. उनका गायों का अनुसरण करना, 3.39.5; सोम से प्रेरित होकर यात्रा करना, 9.96.11 : वाज पर जाना, 6.22.2; रेवत या धनवान होने का प्रयत्न, 5.29.12 द्रष्टव्य है ।
90. 5.45.11; 8·12.2
91. वही ।
92. देखें, 1.33.6; 8.12.2 पर सायण भाष्य ।
93. 1.164.34
94 देखें, अध्याय छह ।
95. सुदासे दस्रा वसु बिभ्रता रथे पृक्षः वहतं अश्विना । रयिं समुद्रात् उत् वा दिवः परि अस्मे धत्तं पुरुस्पृहं ॥ ऋ. 1.47.6; अश्वं राये प्रमुंचता सुदासः । ऋ. 3.53.11, आदि ।
96. देखें, सूक्त 3.23 और ऋ. 3.33.11; 5.53.9-11, आदि ।
97. आघ्रेण चित् तत् ऊं एकं चकार सिंह्यं चित् पेत्वेन जघान ।
अव स्रक्तीः वेश्या अवृश्चत् इन्द्रः प्र अयच्छत् विश्वा भोजना सुदासे ॥ ऋ. 7.18.17
98. तुलना करें, सच्चिदानन्द मिश्र, 1984, 171-81, जहाँ वह भाषिक विश्लेषण के माध्यम से राजा को नेता, मार्गदर्शक, अनुचरों के साथ जाने वाला, आदि रूपों में व्याख्यायित करते हैं ।
99. ता ईं विशः न राजानं वृणानाः बीभत्सुवः अप वृत्रात् अतिष्ठन् । ऋ. 10.124.8
100. 2.12.7; 10.126.6, आदि । नेता की भूमिका में इन्द्र से भी अधिक बार अग्नि का उल्लेख आया है और इसके अन्य कारणों के अलावा ऋषियों की मार्गदर्शक की भूमिका भी ध्यान देने योग्य है । इनके नाम भी अग्निपरक हैं ।
101. देखें आगे ।
102. यः रायः अवनिः महान् सुपारः सुन्वतः सखा । ऋ. 1.4.10, आदि ।
103. चित्र इत् राजा राजका इत् अन्यके यके सरस्वती अनु ।
पर्जन्य इव ततनत् हि वृष्ट्या सहस्रं अयुतं ददत् । 8.21.18
104. 1.8.8-9; 27.6; 35.8; 2.19.4; 32.5; 3.24.5; 62.4, आदि ।
105. 1.9.8; 4.17.20; 4.31.15; 5.18.5, आदि ।

106. 1.162.3

107. सं पूषन् अध्वनः तिर वि अंहः विमुचः नपात् । सक्ष्व देव प्र नः पुरः ॥
य: नः पूषन् अघः वृकः दुःशेव आदिदेशति । अप स्म तं पथः जहि ॥
अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरः चितं । दूरं अधि स्रुतेः अज ॥
त्वं तस्य द्वयाविनः अघशंसस्य कस्य चित् । पदा अभि तिष्ठ तपुषिम् ॥
ऋ. 1.42.1-4; ऋ. 6.54.5;6; 10 में वह जानवरों को बचा कर ले आते हैं; ऋ. 4.57.7 में वह हराई को ठीक रखते हैं, और इस तरह क्रमशः अपनी भूमिका बदलते हुए, भटके हुए यात्रियों—व्यापारियों—को सही रास्ते पर लगाने लगते हैं और पशुओं को बचाने के स्थान पर धन-जन को बचाने लगते हैं। ऋ. 1.89.5

108. 8.4.15; 1.42.6, आदि। यही नहीं, वह शिल्पी भी बन जाते हैं। ऋ. 1.42.10; 1.138.4;6.58.4, आदि।

109. वेद यः वीनां पदं अन्तरिक्षेण पतताम् । वेद नावः समुद्रियः ॥ ऋ. 1.25.7; इसमें आकाश से उतरने वाले पक्षियों के स्थान को जानने की जिस विशेषता की बात की गयी है, उसे तब तक समझा नहीं जा सकता, जब तक हम स्थल का पता लगाने के लिए प्राचीन नाविकों द्वारा कौए छोड़ने को पद्धति पर ध्यान न दें।

110. बिभ्रत् द्रापिं हिरण्ययं वरुणः वस्त निर्णिजं। परि स्पशः नि सेदिरे ॥ ऋ. 1.25.13

111. ऋजुनीती नः वरुणः मित्रः नयतु विद्वान् । अर्यमा देवैः सजोषाः ॥ ऋ. 1.90.1

112. आ चष्टे आसां पाथः नदीनां वरुण उग्र सहस्रचक्षाः । ऋ. 7.34.10

113. आ यत् रुहाव वरुणः च नावं प्र यत् समुद्रं ईरयाव मध्यम् ।
अधि यत् आपां स्नुभिः चराष प्र ईंख ईंखयावेह शुभ कम् ॥ऋ. 7.88.3

114. अव सिन्धुं वरुणः द्यौः इव स्थात् द्रप्सः न श्वेतः मृगः तुविष्मान् ।
गभीरशंसः रजसः विमानः सुपारक्षत्रः सतः अस्य राजा ॥ ऋ. 7.87.6

115. राजा राष्ट्रानां पेशः नदीनां अनुत्तं अस्मे क्षत्रं विश्व-आयुः । ऋ. 7.34.11

116. प्र नः आयूंषि तारिषत्। ऋ. 1.25.12

117. इन्द्रावरुणा वां अहं हुवे चित्राय राधसे । अस्मान् सु जिग्युषः कृतम् ॥
ऋ. 1.17.7

118. ऋ. 1.25.2

119. अतः विश्वानि अद्भुता चिकित्वान् अभि पश्यति । कृतानि या च कर्त्वा ॥
ऋ. 1.25.11;
दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथं अधि क्षमि । ऋ. 1.25.18; एक अनुभवी

नौचालक की तरह उन्हें वर्षचक्र का भी अच्छा ज्ञान है। ऋ. 1.25.8 व 9. जो व्यापारिक हवाओं के साथ संतुलन बैठाने और यात्राओं को तदनुकूल निर्देशित करने के लिए जरूरी था।

120. मघवा और मघवत् का प्रयोग ऋग्वेद में 200 बार हुआ है।

121. 8.54.5

122. इन्द्रं अहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुर एता नः अस्तु। नुदन् अरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानः धनदा अस्तु मह्यम्। अथ. 3.15.5

123. 1.9.9

124. तत् इन्द्रः अर्थं चेतति। ऋ. 1.10.2

125. अत्यं इव शवसे सातये धना विश्वा धनानि सातये। ऋ. 1.130.6

126. अध्वर्यवः यः दिव्यस्य वस्वः यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा। ऋ. 2.14.11.

127. यत् इन्द्र सर्गे अर्वतः चोदयासे महा धने। असमने अध्वनि वृजिने पथि श्येनान् इव श्रवस्यतः। ऋ. 6.46.13

128. इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि। ऋ. 2.21.6

129. ऋ. 3.42.6

130. 'वाजं भरति स्पार्हं राधाः', ऋ. 4.16.16; 'दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु'। ऋ. 2.22.3

131. भद्रा ते हस्ता सुकृता उत् पाणी प्रयन्तारा स्तुवते राधः इन्द्र। ऋ. 4.21.9

132. रयि स्थानः रयिं अस्मासु धेहि। ऋ. 6.47.6; अस्माकं बोधि अविता महाधने। ऋ. 6.46.4

133. रायः कामः वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रः न पितरं हुवे। ऋ. 7.32.3.

134. सनेम ये ते ऊतिभिः तरन्तः विश्वाः स्पृधः आर्येण दस्यून्। ऋ. 2.11.19; सनात् युवानं अवसे हवामहे। ऋ. 2.16.1; यत् मानुष प्रधनाः इन्द्रं ऊतयः। ऋ. 1.52.9

135. सुगाः अपःचकार वज्रबाहुः, ऋ. 1.165.8; सुतरणा अकृणोत् इन्द्र सिन्धून्, ऋ. 4.19.6; वृत्रं जघन्वान् असृजत् वि सिधून्। ऋ. 4.19.8; सुगान पंथः अकृणोत...ऋ. 3.30.10.

136. य आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुं। इन्द्र सः नः युवा सखा॥
ऋ. 6.45.1

137. भव सुपारः अतिपारयः नः भव सुनीतिः उत् वामनीतिः। ऋ. 6.47.7; तव प्रनीति हर्यश्व सूरिभिः विश्वा तरेम दुरिता। ऋ. 7.32.15

138. सः नः पप्रिः पारयति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। इन्द्रः विश्वाः अति द्विषः।
ऋ. 8.16.11

139. तरणि वः जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः। ऋ. 8.45.28

140. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा: धनं इच्छमाना:। अथ. 3.15.5

141. 'अग्नि: अग्रे प्रथमो देवतानाम्', तैब्रा. 2.4.3.3; 'अग्नि: वै देवानां अवम:', ऐब्रा. 1.1

142. 1.27.11; 44.3, आदि। धूमकेतु: धूमेन ज्ञाप्यमान:। सायण, 1.27.11; हवि, आहुति, हवन—धूम पैदा करने वाले द्रव्यों—में भटके लोगों को राह पर लाने का यह भाव सुरक्षित है। अग्नि को ऋग्वेद में भी बार-बार दूत (2.6.8) कहा गया है।

143. 'त्वां यत् अग्ने पशव: समासते', 3.9.7; 'परि अग्नि: पशुपा न होता', 4.6.4

144. ब्राह्मणों के अनुसार पहले धरती और आकाश दोनों मिले हुए थे। कोई हाथ बढ़ाकर आकाश को यूं छू सकता था। अत: स्थान का अभाव था। यह वन्य अवस्था में पेड़ों से घिरे हुए परिवेश में धरती और आकाश की कल्पना है। फिर देवों ने यज्ञ से अन्न के लिए भूविस्तार करने को दोनों को अलग किया और फिर बहुत सारा स्थान हो गया, जंगलों की सफ़ाई के बाद खुले आसमान के साथ धरती और आकाश की दूरी बड़ी दिखायी देने लगी। देखें शतब्रा. 1.4.1.22-23. "सं अन्तिकं इव ह वा इमे अग्रे लोका आसु: इति उन्मृश्या ह एव द्यौ: आस।...तान एतै: एव त्रिभि: अक्षरै: व्यनयन् वीतये इति त इमे विदूरा लोका:...।"

145. ऋग्वेद में अग्नि द्वारा धरती के विस्तार की और आकाश के निर्माण की बात प्राय: दुहरायी जाती है। देखें, 5.1.7; 6.7.7; 8.2; 3; 10.4; 11.1; 12.5; 7.1.1; 5.4; 1.36.8; 3.6.5, आदि।

146. अग्नि को सृष्टि का कारण मानने, या सूर्य को ब्रह्म मानने की परिकल्पना का विकास किंचित् जटिल है। इस पर कुछ चर्चा हम रुद्र के देवत्व के प्रसंग में करेंगे, परन्तु वह भी इसके विवेचन के लिए पर्याप्त नहीं है।

147. 1.70.2; 2.1.14; 3.1.13; 16; 6.3.7; 12.3; 13.4; 7.4.5; 9.3, आदि।

148. प्रजापति की परिकल्पना खास तौर से ब्राह्मणकाल में जोर पकड़ती है। शतब्रा. 6.21.1; 1.16 में अग्नि को प्रजापति कहा गया है। अग्नि के अतिरिक्त संवत्सर, वायु, सोम, वाक् आदि को भी प्रजापति कहा गया है। इसकी संकल्पना के पीछे सृजन और पोषण का भाव विशेष रूप से दिखायी देता है।

149. 6.3.7; 12.1; 1.7.20; 2.6.5; देखें 'अग्ने: वै धूमो जायते धूमात् अभ्रं।' शतब्रा. 5.3.5.17. अग्नि के तीन रूप पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष के विद्युत और द्युलोकीय इन्द्र या सूर्य माने गये हैं, ऋ. 3.20.2; आगे यह

तीन का जादू कुछ और बढ़ता दिखायी देता है—त्रीणि शता त्रि सहस्राणि अग्नि त्रिशत् च देवाः नव च असर्पयन्, ऋ. 3.9.9—जिसे अन्ततः तैंतीस कोटि तक पहुँचा दिया जाता है।

151. 1.13.3; 44.6; 60.3; यजु. 1.16, आदि।

152. शतब्रा. में ईंट बनाने के विषय में लिखा है कि मिट्टी को पानी से गीला करने के बाद उस मृदा से जब ईंट बनायी जाती है तब पकाने के क्रम में अग्नि ईंट के जल और मिट्टी दोनों को अमर कर देते हैं, कारण 'यत् अग्निना पचन्ति तस्मात् अग्निना इष्टकाः पचन्ति, अमृतः एव एनाः तत् कुर्वन्ति।' 6.1.4.9; और इसका संकेत हमें ऋग्वेद में भी मिलता है, जहाँ अग्नि को अमरता देने वाला और अमृत का निधान बताया गया है, 6.7.7; 7.4.4,आदि। अग्नि जैसे विनाशकारी तत्व को अमृत का गर्भ या निधान मानने के पीछे यह अधिक तर्कसंगत कारण प्रतीत होता है, जिसकी पुष्टि शतपथब्राह्मण की उक्त व्याख्या से भी होती है।

153. अग्नि को ऋग्वेद में बार-बार द्रविणोदा कहकर सम्बोधित किया गया है। यद्यपि द्रविण ऋग्वैदिक काल में भी धन के सामान्य अर्थ में व्यवहृत होने लगा है और अन्य देवताओं से भी द्रविण की इच्छा की जाती है, पर द्रविणोदा नाम विशेष रूप से अग्नि के लिए प्रयोग में आता है, ऋ. 1.15. 7-9; 96.8; 2.1.7; 7.16.11; 8.39.6; 10.2.2, आदि। ऋ. 6.12.3 में अग्नि को द्रविता भी कहा गया है।

154. अग्नि का यह विशेषण ऋ. 2.1.7; 5.8.3; 7.16.6; 12, आदि में। कभी-कभी मरुद्गण (ऋ. 1.15.3), ऋभुगण (4.34.6) के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, जिन्हें मणियों की माला पहने प्रायः दिखाया जाता है। पर अग्नि को विशेष रूप से रत्नधातम (1.1.1; 5.8.3) कहा गया है। यह विशेषण ऋभु को 1.20.1 में केवल एक बार मिला है, जहाँ सायण के अनुसार इसका आशय है, "अतिशयेन रमणीय मणि-मुक्तादि धनप्रदः"। अन्य किसी देवता को यह विशेषण प्राप्त नहीं हुआ है। अतः रत्न या मणि बनाने में अग्नि के उपयोग के अतिरिक्त इसका अन्य कोई कारण नहीं प्रतीत होता। हड़प्पा के क्षुद्र मनकों के निर्माण के विषय में तकनीकी पहलू की छानबीन करने के बाद हेगड़े और कारन्त (हड़प्पा सिविलाइज़ेशन, 1982, पृ. 239-44) इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि हड़प्पा के मणिकार राजस्थान से या अरवली पहाड़ी के ही किसी क्षेत्र से वह चिकना पत्थर प्राप्त करते थे, जिसे पीस और गूँथकर, इसके छोटे मनके बनाकर, इन्हें तार से छेदकर आग में पकाते थे और इन लेखकों के अनुसार मनके इस प्रयोजन के लिए बनाये गये विशेष छिद्रों के द्वारा दबाव डालकर बनाये और 900 से 1000

डिग्री सेंटीग्रेड के तापमान पर विशेष भट्ठियों में पकाये जाते थे। वही, पृ. 242-43

155. अग्नि को प्राय: विभक्ता, (ऋ. 1.27.7), देवभक्त (ऋ. 1.73.10; 10.75.9), भगभक्त (ऋ. 1.24.5) आदि कहा गया है।

156. विभाजन के लिए जिन दूसरे देवताओं का नाम आता है, जैसे इन्द्र (ऋ. 4.17.11; 6.36.1) या सविता(ऋ. 1.22.7), वे भी अग्नि के ही प्रतिरूप हैं। इन्द्र तो यात्री-दल में प्रधान या सबसे बड़े व्यापारी का भी प्रतीक हो चुके हैं। सविता के नाम को लेकर काफ़ी अटकलें लगायी जाती रही हैं, पर यदि इसे स-वितृ या बँटवारा करने वाले अग्नि का या सर्वदर्शी सूर्य का प्रतिरूप मानें तो सभी सन्दर्भ अधिक स्पष्ट हो जायेंगे।

157. आर.एस. शर्मा, 1983, 36 और आगे। सच्चिदानन्द मिश्र, 1984, 141-45 भी देखें।

158. देखें, ऋ. 1.4.6; 36.19; 3.49.1; 4.30.2; 5.19.3; 7.31.9, आदि। जहाँ पंच कृष्टियों का उल्लेख आया है, वहाँ कहीं उनके बीच वितरण का हवाला नहीं है, देवताओं को उनका स्वामी अवश्य बताया गया है, ऋ. 1.59.5; 177.1; 4.17.5; 5.1.6; 6.18.2; 7.5.5, आदि।

159. रक्षोहा या राक्षस-हंता केवल अग्नि ही नहीं, इन्द्र भी हैं, और दूसरे सभी देवता भी हैं जिनको यज्ञ द्वारा प्रसन्न किया जाता है। देखें, ऋ. 1.129.6; 7.8.6; 9.1.2; 17.3; 67.20; 10.97.6; 103.4, आदि।

160 ब्रह्मणस्पति की नयी स्तुतियों से पूरे उल्लास से वन्दना करो ताकि वह प्रसन्न होकर हमारी बुद्धि को धन-सिद्धि में प्रवृत्त करें। उन्होंने ही शंबर को मारकर, पर्वतों को विदीर्ण कर—धन या जल की धाराओं को हमारी दिशा में मोड़ा था। उन्होंने ही पणियों से अंगिरा की गायों को छुड़ाया था। सत्य की धन्वा से जिसकी ओर यह मन्त्र पालक देवता अपने वाण प्रेरित करते हैं उसी के धनुष और वाण शत्रु प्रहार में सफल होते हैं। उनके कर्णयोनि—कान तक पहुँचने वाली प्रत्यंचा के वाण, कान में पड़ने वाले मन्त्र, सर्वसाधक हैं।

161. अग्नि जो मनुष्य तुम्हें हवि आदि देता है, वह तुम्हारी बदौलत खूब सारा धन कमाता है, "विश्वं स अग्ने जयति त्वया धनं य: ते ददाश मर्त्य:।" ऋ. 1.36.4; अग्नि दाता को रत्न और धन देते हैं, "दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषे।" ऋ. 1.94.14; अग्नि धर्मपरायण व्यक्ति के लिए धन देने वाले द्रविणोदा और रत्नदाता सविता हैं। यज्ञ विधान करने वाले व्यक्ति को खूब धन देते हैं और उसकी हर तरह से रक्षा करते हैं, "त्वं अग्ने द्रविण: दा: अरंकृते त्व देव: सविता रत्नधा: असि। त्वं भग: नृपते वस्व:

ईशिषे त्वं पायुः दमे यः ते अविधत्।" ऋ. 2.1.7; अग्नि यज्ञ करने वाले को मालदार बना देते हैं, "कृधि क्षुमन्तं जरितारं अग्ने कृधि पतिं सु अपत्यस्य रायः।" ऋ. 2.9.5

162. असुन्वन्तं समं जहि दूणाशं यः न ते मयः। अस्मभ्यं अस्य वेदनं दद्धि सूरिः चित् ओहते ॥ ऋ. 1.176.4

163. यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट रूप में यजुर्वेद आदि में व्यक्त हुई है। देखें, यजु. 1.28-29

164. 2.34.15

165. 6.52.5

166. 4.25.4

167. 2.30.7

168. 3.28.5; देखें, 1.22.21; 3.10.9; 6.1.3, आदि भी।

169. सः तु वः अग्निः नयतु प्रजानन् अच्छा रत्नं देवभक्तं यत् अस्य।
ऋ. 4.1.10

170. स नः दिवा सः रिषः पातु नक्तम्। ऋ. 1.98.2

171. सः नः सिन्धुं इव नावया अति पर्ष स्वस्तये। अप नः शोशुचत् अघम्। ऋ. 1.97 8. देखें, 4.4.10 भी।

172. वह धन के आधार हैं और माल-असबाब के साथ चलते हैं, "रायः बुध्नः संगमनः वसूनाम्।" ऋ. 1.96.6; अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्, 1.189.1

173. 1.29.1-7; 35.5, आदि।

174. इस दृष्टि से ऋ. 1.83.1; 2.25. 4-5 आदि द्रष्टव्य हैं, जहाँ गोषु का आशय व्यापारिक लाभ से भिन्न करने पर अर्थ बैठ ही नहीं सकता।

175. इस पहलू पर हम पीछे 'वैदिक संघर्षों की प्रकृति' में विचार कर आये हैं। देखें आगे भी।

176. योग क्षेमं च आदायं अहं भूयासं उत्तमः। आ वः मूर्धानं अक्रमीम्।
ऋ. 10.166.5;
पुष्यात् क्षेमे अभि-योगे भवाति उभे वृतौ संयती सं जयाति। ऋ. 5.38.5;
पाहि क्षेमे उत् योगे वरं नः यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः। ऋ. 7.54.3;
शं नः क्षेमे शं ऊँ योगे नः अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः। ऋ. 7.86.8, आदि।

177. इसकी एक मिसाल यह है कि उन देवताओं को भी जिनसे रक्षा की गुहार की जाती है, प्रायः 'अद्रुह' या द्रोह न रखने वाला कहा गया है। देखें, 1.3.9; 19.3; 159.2; 2.1.14; 3.9.4; 22.4; 4.56.2; 5.68.

4; 6.15.7; 7.66.18; 8.46.4; 9.9.4; 10.66.8, आदि। इन्द्र की विजयों के उल्लेख के बावजूद यह दुहराया जाता है कि उनका न तो कोई शत्रु कभी था, न आज है, और न ही उन्होंने कभी किसी से युद्ध किया। ऋ. 10.27.2, आदि।

178. देखें पृ. 49 तथा 81 पर वैदिक शत्रुओं के पर्याय।

179. इन्द्रं शुद्धः नः आ गहि शुद्धः शुद्धाभिः ऊतिभिः।
शुद्धः रयिं नि धारय शुद्धः ममद्धि सोम्यः॥
इन्द्र शुद्धः हि नः रयिं शुद्धः रत्नानि दाशुषे।
शुद्धः वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धः वाजं सिसाससि॥ ऋ. 8.95.7-8

180. ऋ. 1. 67.1; 70.6; 77.3; 124.3; 2.3.6; 27.3; 6; 3.18.1; 5.12.6; 80.4; 6.9.5; 15.16; 7.37.4; 43.2; 8.77.11; 10.80.4; 81.7, आदि।

181. मा कस्य अद्भुतक्रत यक्षं भुजेम तनूभिः। मा शेषसा मा तनसा।
ऋ. 5.70.4;
मा भ्रातुः अग्ने अनृजः ऋणं वेः मा सख्युः दक्षं रिपोः भुजेम। ऋ. 4.3.13;
मा वः एनः अन्यकृतं भुजेम...ऋ. 6.51.7; मा वः भुजेम अन्य जातं एनः। ऋ. 7.52.2

182. हत वृत्रं सुदानवः इन्द्रेण सहसा यजा। मा नः दुःशंसः ईशत। ऋ. 1.23.9

183. घना इव विष्वक्र वि जहि अरावमः तपुः जम्भ यः अस्म-ध्रुक।
यः मर्त्यः शिशीते अति अक्तुभिः मा नः सः रिपु ईशत॥ ऋ. 1.36.16

184. मा नः अरातिः ईशत देवस्य मर्त्यस्य च। पर्षि तस्याः उत् द्विषः॥
ऋ. 2.7.2

185. मा नः दुःशन्सः अभिदिप्सु ईशत प्र सुशंसाः मतिभिः तारिषीमहि॥ ऋ. 2.23.10

186. अदेवेदन मनसा यः रिषण्यति शासां उग्रः मन्यमानः जिघांसति।
बृहस्पते मा प्रणक् तस्य नः वधः नि कर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः॥
ऋ. 2.23.12

187. मा वः स्तेनः ईशत मा अघशंसः परि वः हेतिः रुद्रस्य वृज्याः। ऋ. 6.28.7

188. अदब्धेभिः सवितः पायुभिः त्वं शिवेभिः अद्य परि पाहि नः गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्ष माकिः नः अघशंसः ईशत॥ ऋ. 6.71.3

189. ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नः द्यावा पृथिवी अनेहसा।
पूषा नः पातु दुरितात् ऋतवृधः रक्ष माकिः नः अघशंस ईशत॥
ऋ. 6.75.10

190. अथ. 3.15.1

191. ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावा-पृथिवी संचरन्ति ।
ते मां जुषन्ता पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनं आहराणि ।। अथ. 3.15.2

192. शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु । अथ. 3.15.4

193. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवाः धनं इच्छमानः । अथ. 3.15.5; 6

194. स नः प्रजासु आत्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि । अथ. 3.15.7; अब इस पक्ष को सामने रखते हुए देखें, पूषन्, हमारे लाभ के लिए गवेषणा पर जाने वाले लोगों को संभालो, तुम दूर देश में भी प्रख्यात हो,'इमं च नः गवेषणं सातये सीसधः गणं । आरात् पूषन् असि श्रुतः ।' ऋ. 6. 56.5; और मित्रावरुण तुम्हारे अनुग्रह मे गविष्टि के लिए मरुद्गण कल्याण भाव से रथ को अच्छी तरह जोतते हैं...'रथं युंजते मरुतः शुभे सुखं शूरो न मित्रावरुणा गविष्टिषु ।' ऋ. 5.63.5, आदि ।

195. आ नः गव्येभिः अश्व्यैः सहस्रैः उपगच्छतम् । अन्ति सत् भूतु वां अवः ।।
ऋ. 8.73.14;
मा नः गव्येभिः अश्व्यैः सहस्रैभिः अति ख्यतम् । अन्ति सत् भूतु वां अवः ।।
ऋ. 8.73.15

196. 6.19.9; 10.42.11; 43.11; 44.11, आदि ।

197. उत स्म आसु प्रथमः सरिष्यन् नि वेवेति श्रेणिभिः रथानाम् ।
स्रजं कृण्वानः जन्यः न शुभ्वा रेणुं रेरिहत् किरणं ददश्वान् ।।
...तुरं यतीषु तुरयन् नृजिष्यः अधि भ्रुवोः किरते रेणुं ऋंजन् ।।
ऋ. 4.38.6-7

198. स दुन्दुभे सजूः इन्द्रेण देवैः दूरात् दवीयः अप सेध शत्रून् ।
आ क्रंदय बलं ओजः नः आ धा निः स्तनिहि दुरिता बाधमानः ।
अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुनाः इतः इन्द्रस्य मुष्टिः असि वीलयस्व ।।
आमूरज प्रति-आवर्तय इमाः केतुमत् दुन्दुभिः वावदीति ।
समश्वपर्णाः चरन्ति नः नरः अस्माकं इन्द्र रथिनः जयन्तु ।।
ऋ. 6.47.29-31

199. समानं चित् रथं आतस्थिवांसा नाना हवेते सः जनासः इन्द्रः । ऋ. 2.12.8

200. यस्मात् न ऋते विजयन्ते जनासः यं युद्धमानाः अवसे हवन्ते । ऋ. 2.12.9

201. ऋ. 8.5.37; 8.46.28; 29; 31

202. उत एनं आहुः समिथे वियन्त परा दधिक्रा असरत् सहस्रैः । ऋ. 4.38 9
देखें, 6.60.14; 10.160.5 भी ।

203. प्र यत् समुद्रं अति शूर पर्षि पारय तुर्वशं यदुं स्वस्ति । ऋ. 1.174.9; 6.10.12;
उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः । इन्द्र विद्वान् अपारयत ।

ऋ. 4.30.17

यः आनयत् परावतः सुनीतिं तुर्वशं यदुं । इन्द्र सः नः युवा सखा ॥

ऋ. 6.45.1

येन अवः तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम् । राये सु तस्य धीमहि ॥

ऋ. 8.7.18, आदि ।

204. सायण ने अपने भाष्य में जिस अन्तर्कथा का उल्लेख किया है उसके अनुसार तुग्र स्वयं यात्रा पर गये हुए थे और वहाँ वह शत्रुओं से घिर गये थे । अपनी सहायता के लिए उन्होंने भुज्यु को बुलाया था । भुज्यु अपनी सेना लेकर जा रहे थे, पर इस यात्रा के समय उनकी नौका दुर्घटनाग्रस्त हो गयी थी । फिर उन्होंने अश्विनीकुमारों का स्तवन किया था और अश्विनीकुमारों ने अपने जहाज़ में बैठाकर भुज्यु को लगातार तीन दिन और तीन रात की यात्रा के बाद तुग्र के पास पहुँचाया था । पर यह कथा कुछ असंगत है । तुग्र का अनिच्छापूर्वक भुज्यु को भेजना उनकी ओर से आमन्त्रण का सूचक नहीं लगता । इसके अतिरिक्त समुद्र में दस्युओं से घिर जाने के बाद बचाव के लिए इतना समय मिलने का प्रश्न नहीं उठता ।

205. 1.112.6; 20; 117.14; 119.4; 4.27.4; 6.62.6; 7.68.7; 69.7; 8.22.2; 46.20; 10.40,7; 65.12; 95.8; 143.5; भुज्यु का पोत नष्ट हो गया था इसकी सूचना ऋ. 1.119.4 में भी मिलती है ।

206. अग्निना तुर्वशं यदुं परावतः उग्रादेवं हवामहे ।
अग्निः नयत् नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सह ॥ ऋ. 1.36.18

207. दिवः पुत्राः अंगिरसः भवेम अद्रिं रुजेम धनिनं शुचंतः । ऋ. 4.2.15
ऋतेन अद्रिं वि असन् भिदन्तः सं अंगिरसः नवन्त गोभिः । ऋ. 4.3.11, आदि ।

208. त्वं रथं एतशं कृत्व्ये धने त्वं पुरः नवन्ति दम्भयः नव । ऋ. 1.54.6

209. ऋज्राश्वः प्रष्टिभिः अम्बरीषः सहदेवः भयमानः सुराधा । ऋ. 1.100.17
याभिः रेभं निवृतं सितं अद्भ्यः उत् वन्दनं एरयतं स्वः दृशे ।
याभिः कण्वं प्र सिसासन्तं आवतं ताभिः ऊँ सु ऊतिभिः अश्विना गतम् ॥
याभिः सुचन्ति धनसां सुसंसदं तप्तं घर्मं ओम्यावन्तं अत्रये ।
याभिः पृश्निगुं पुरुकुत्सं आवतं...॥
याभिः सिन्धुं मधुमन्तं असश्चतं वसिष्ठं याभिः अजरौ अजिन्वतम् ।
याभिः कुत्सं श्रुतर्यं आवतं...॥
याभि विश्पलां धनसां अथर्व्यं सहस्रमीड़हे आजौ अजिन्वतम् ।
याभिः वशं अश्वयं प्रर्णि आवतं...॥
याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधुकोशः अक्षरत् ॥

याभिः सूर्यं परियाथः परावति मन्धातारं क्षेत्रपत्येषु आवतम् ।
याभिः विप्रं भरद्वाजं आवतं...॥
याभिः महाँ अतिथिग्वं कशः-जुवं दिवोदासं शम्बर हत्ये आवतम् ।
याभिः पूर्भिद्ये त्रसदस्युं आवतं...॥
याभिः वम्रं विपिपानं उपस्तुतं कलिं याभिः वित्तजानिं दुवस्यथः ।
याभिः वि-अश्व्यं उत् पृथिं आवतं...॥
याभिः पठर्वा जठरस्य मज्मना अग्निः न अदीदेत् चितः इद्धः अज्मन् आ ।
याभिः शर्यातं अवथः महाधनै...॥
याभिः अंगिरः मनसा निरण्यथः अग्रं गच्छ्थः विवरे गो-अर्णसम् ।
याभिः मनुं शूरं इषा सं-आवतं...॥
याभिः कुत्सं आर्जुनेयं शतक्रतू प्र तुर्वीतिं प्र च दभीतिं आवतम् ।
याभिः ध्वसन्ति पुरुसन्ति आवतं ताभिः ऊँ सु ऊतिभिः अश्विना आ गतम् ।

ऋ. 1.112.5; 7; 9-11; 13-18; 23

210. वसिष्ठं ह वरुणः नावि आ-अधात् ऋषिं चकार सु-अपां महोभिः । ऋ. 7. 88.4, आदि ।

211. विश्वामित्रः यत् अवहत् सुदासं अप्रियायत कुशिकेभिः इन्द्रः । ऋ. 3.53.9; 3.33.9-11, आदि ।

212. दण्डा इव इत् गो अजनासः आसन् परिच्छिन्नाः भरता अर्भकासः ।
अभवत् च पुरः एता वसिष्ठः आत् इत् तृत्सूनां विशः अप्रथन्त ॥

ऋ. 7.33.6

वसिष्ठस्य स्तुवतः इन्द्रः अश्रोत् उरुं तृत्सुभ्यः अकृणोत उ लोकम् ॥

ऋ. 7.33.5

213. यथा चित् कण्वं आवतं प्रियमेधं उपस्तुतम् । अत्रिं शिजारं अश्विना ।
यथा उत कृत्व्ये धने अंशुं गोषु अगस्त्यम् । यथा वाजेषु सोभरिम् ॥

ऋ. 8.5.25-26

214. दश ते कलशानां हिरण्यानां अधीमहि । भूरिदा असि वृत्रहन् ॥
भूरिदा भूरि देहि नः मा दभ्रं भरि आ भर । भूरि घ इत् इन्द्र दित्सति ॥
भूरिदाः हि असि पुरुत्रा शूर वृत्रहन् । आ नः भजस्व राधसि ।

ऋ. 4.32.19-21

215. 1.29.2; 81.4; 101.10; 3.32.1; 36.10; 5.54.11; 6.44.14; 17.7; 7.25.3; 99.7; 8.7.25, आदि ।

216. हतः वृत्राणि आर्या हतः दासानि सत्पती । हतः विश्वा' अप द्विषः ।

ऋ. 6.60.6

217. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परे अवरे उभयाः अमित्राः । समानं चित् रथं

आतस्थिवांसा नाना हवेते स जनासः इन्द्रः । ऋ. 2.12.8

218. शतं अहं तिरिन्दिरे सहस्रं पर्शावा ददे । राधांसि याद्वानाम ।। ऋ. 8.6.46

219. सं समित युवसे वृषन् अग्ने विश्वानि अर्य आ ।
इड़स्पदे समिध्यसे सः नः वसूनि आ भर ।।
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वः मनांसि जानताम् ।
देवाः भाग यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।
समानः मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तं एषाम् ।
समानं मन्त्रं अभि मन्त्रये वः समानेन वः हिविषा जुहोमि ।।
समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानं अस्तु वः मनः यथा वः सुसहासति ।। ऋ. 10.191

220. स नः दूरात् च असात् च नि मर्त्यात् अघायोः पाहि सदं इत् विश्व-आयुः ।।
ऋ. 1.27.3

न किः तं घ्नन्ति अन्तितः न दूरात् यः आदित्यानां भवति प्रणीतो ।
ऋ. 2.27.13, आदि ।

221. तिस्रः नासत्या रथ्या परावतः आत्मा इव वातः स्वसराणि गच्छतम् ।
ऋ. 1.34.7

अर्वावतः नः आ गहि अथो शक्र परावतः । ऋ. 3.37.11 आदि ।

222. वही ।

223. आ नः इन्द्रः दूरात् आ नः आसात् अभिष्टिकृत अवसे यासत् उग्रः ।
ऋ. 4.20.1, आदि ।

224. वयं हि ते अमन्महि आ अन्तात् आ पराकात् । अश्वे न चित्रे अरुषि ।
ऋ. 1.30.21, आदि ।

225. यह ख़याल विवियन सेंट मार्टिन को सूझा था । मैक्समूलर ने (सै. बु. ई. सी. 32, 61 और आगे) विस्तार से चर्चा करते हुए इस मान्यता का खण्डन किया था । लास्सन, त्सिमर आदि ने भी इसे दबे स्वर में स्वीकार किया था । विल्सन (ऋग्वेद 1, पृष्ठ 41वाँ) ने तो बहुत विश्वास से और प्रमाण-पूर्वक यह दावा किया था कि न केवल वैदिक जन समुद्र से परिचित थे, अपितु उनके व्यापारी समुद्री व्यापार में भी प्रवृत्त थे, पर विल्सन को भी इस बात का सही अनुमान नहीं हो सकता था कि यह कितना व्यापक था ।

226. राजा समुद्रं नद्यः विगाहते । ऋ. 9.46.6; समस्य मन्यवे विशः विश्वा नमन्त कृष्टयः । समुद्राय इव सिन्धवः । ऋ. 8.6.4; अग्ने धृतव्रताय ते समुद्राय इव सिन्धवः । गिरः वाश्रासः ईरते । ऋ. 8.44.25; समुद्रेण सिन्धवः यादमाना इन्द्राय समं सुषुतं भरन्तः । ऋ. 3.36.7, आदि ।

227. 1.116.5; 182.6

228. अध यत् एषां नियुतः परमः समुद्रस्य चित् धनयन्ति पारे ।। ऋ. 1.167.2

229. अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णा अविदत् जरितारम् । ऋ. 7.89.4
पिबतं ज तृष्णुतं च आ च गच्छतं प्रजा च धत्तं द्रविणं च धत्तम् ।...
जयतं च प्र स्तुतं च प्र च अवतं···
हतं च शत्रून् यततं च मित्रिणः प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम् ।
सजोषसौ ऊषसा सूर्येण च ऊर्जं नः धत्तं अश्विना ।। ऋ. 9.35.10-12

230. देखें, 1.24.10

231. वेद यः वीनां पदं अन्तरिक्षेण पततां । वेद नावः समुद्रियः । ऋ. 1.25.7; 10.165.1-4

233. पालों के लिए पत्व, पर्ण, अश्व आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऋ. 1.116.4

234. 1.116.5

235. 3.3.4; 3.26.7; 7.87.2; 9.92.14; 10.95.17, आदि ।

236. त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातं अर्वाक् । ऋ. 1.118.2; त्रिवन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा रथेन यातं अश्विना । ऋ. 1.47.2

237. आ वां रथः अश्विना श्येन-पत्वा सुमृड़ीकः स्ववान् यातु अर्वाक् ।
यः मर्त्यस्य मनसः जवीयान् त्रिवन्धुरेण वृषणा वातरंहाः ।। ऋ. 1.118.1

238. क्व त्री चक्रा त्रिवृतः रथस्य का त्रय वन्धुरः ये सनीड़ा ।
कदा योगः वाजिनः रासभस्य येन यज्ञं नासत्या उपयाथः ।। ऋ. 1.34.9

239. त्रयः पवयः मधुवाहने रथे सोमस्य वेनां अनु विश्वे इत् विदुः ।
त्रयः स्कभासः स्कभितासः आरभे त्रिः नक्तं याथः त्रि अश्विना दिवा ।।
ऋ. 1.34.2

240. अनश्वः जातः अन-अभीशुः उक्थ्यः रथः त्रिचक्रः परिवर्तते रजः ।
ऋ. 4.36.1

241. दुर्गाचार्य, निरु. 5.4.23 और सायण ऋ. 54.12 पर भाष्य ।

242. 1.118.1

243. अप्-जां उक्थ्यैः अहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजः सु सीदन् । ऋ. 7.34.16

244. 1.116.4; 118.1

245. सद्यः जंघां आयसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रति अधत्तम् ।
ऋ. 1.116. 15

246. याभिः विश्पलां धनसां अथर्व्यं सहस्रमीलहे आजौ अजिन्वतम् ।
ऋ. 1.112.10

247. च्यवनः च्यावयिता । निरु. 4.3.19. इसकी व्युत्पत्ति 'च्युङ् गतौ' से भी की गयी है, जो और भी उपयुक्त है ।

248. वस्तुतः च्यवन को युवा बनाने के सन्दर्भ में इस अद्भुत कारनामे की प्रशंसा यह कह कर की गयी है कि उसे रथ की तरह पुनः चलने योग्य बना दिया : युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनः युवानं चरथाय तक्षथुः । ऋ. 10.39.4 यहाँ रथ की तरह चलने के लिए प्रयोग के साथ गढ़ा 'तक्षथुः' प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है।

249. 1.117.13; 118.6; 5.75.5, आदि में इसी तरह के अन्य मिथकीय वृत्तों के साथ व्यक्तिनाम के रूप में च्यवन का उल्लेख इसी बात का सूचक है ।

250. 10.30.4

251. 4.34.5; 35.1; 8; 37.1; 8.35.15

252. ततक्षन् नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम् । ऋ. 1.20.3 रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठाम् । ऋ. 4.33.8, आदि ।

253. 4.36.1

254. आ एनं नयत् मातरिश्वा परावतः देवेभ्यः मथितं परि । ऋ. 3.9.5

255. अमृतं हि एतत् अमृतेन क्रीणाति यत् सोमं हिरण्येन । शतब्रा. 3.3.3.6; अमृतं हिरण्यम् । तैब्रा. 1.7.6.3; 8.1; शतब्रा. 6.7.7.2

256. ह्वीलर, पूर्व., 1953, 60

257. सः नः पर्षत् अति दुर्गाणि विश्वा नावा इव सिन्धुं दुरिता अति अग्निः । ऋ. 1.99.1

258. रथं न दुर्गात् वसवः सुदानवः विश्वस्मात् नः अंहसः निः पिपर्तन ।। ऋ. 1.106.1-6

259. वि यत् अत्रान् अजथ नावः ईं यथा वि दुर्गाणि मरुतः न अह रिष्यथ ।। ऋ. 5.54.4

260. सः नः वक्षत् अनिमानः सुवह्या इन्द्रः विश्वानि अति दुर्गहाणि । ऋ. 6.22.7

261. परि नः वृणजन् अधा दुर्गाणि रथ्यः यथा । ऋ. 8.47.5

262. न अंहं अतः निः अय दुर्गहा एतत् तिरश्चता पार्श्वात् निर्गमानि । बहूनि में अकृता कर्त्वानि युद्धयै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ।। ऋ. 4.18.2

263. यत् इन्द्र सर्गे अर्वतः चोदयासे महाधने । असमने अध्वनि वृजिने पथि श्येना इव श्रवस्यतः । ऋ. 6.46.13

264. यत् विद्वांसा निधिं अपगूढ़हं उत् दर्शतात् ऊहथुः वन्दनाय । ऋ. 1.116.11

265. अभि नक्षतः अभि ये ते आनशुः निधिं पणीनां परमा गुहा हितम् । ऋ. 2.24.6

मयोभुवा सरथा आ यातं अर्वाक् गतं निधिं धुर आणिः न नाभिम्।
ऋ. 5.43.8

266. अप ज्योतिषा तमः अन्तरिक्षात् उद्गा शीपालं इव वात आजत्
बृहस्पतिः अनुमृश्य वलस्य अभ्रं इव वातः आ चक्रे आ गाः॥
ऋ. 10.68.5

267. वि पर्वतस्य दृंहितानि ऐरयत्। ऋ. 2.15.8; इन्द्रः दृङ्हा चित् आरुजत्।
ऋ. 3.45.2

268. भिनत् वलं इन्द्रः अंगिरस्वान्। ऋ. 2.11.20; इन्द्र यत् अभिनत् वलं।
ऋ. 8.14.7

269. उद्गाः आजत् अंगिरोभ्यः आविष्कृण्वन् गुहा सती। अर्वांच नुनदे वलम्।
ऋ. 8.14.8

270. करेण इव वि चकर्त रवेण। ऋ. 10.67.6; रुजन् अरुग्णं वि अलस्य सानुम्।
ऋ. 6.39.2

271. त्वं वलस्य गोमतः अप अवः अद्रिवः बिलम्। ऋ. 1.11.5; सरण्युभिः फलिगं इन्द्र शक्र वलं रवेण दरयः दशग्वैः। ऋ. 1.103.4; वलं रुरोज फलिगं रवेण। ऋ. 4.50.5

272. आ शर्म पर्वतानां वृणीमहे नदीनाम्। ऋ. 8.31.10
आ शर्म पर्वतानां उत अपां वृणीमहे। ऋ. 8.18.16

273. आ याहि पर्वतेभ्यः समुद्रस्य अधि विष्टपः।...
आ नः गव्यानि अश्व्या सहस्रा शूर दर्दृहि।...
आ नः सहस्रशः भर अयुतानि शतानि च।
दिवः अमुष्य शासतः दिवं यय दिवावसो॥
आ यत् इन्द्रः च दद्वहे सहस्रं वसु-रोचिषः। ओजिष्ठं अश्व्यं पशुम्॥
य अज्राः वात-रंहसः अरुषासः रघुस्यदः। भ्राजन्ते सूर्या इव॥
पारावतस्य रातिषु द्रवत् चक्रेषु आशुषु। तिष्ठं वनस्य मध्ये आ॥
ऋ. 8.34.13-18

274. मित्रः अध्वर्युः इषिरः दमूनाः मित्रः सिन्धूनां उत पर्वतानाम्।
ऋ. 3.5.4

275. या पर्वतेषु ओषधीषु अप्सु या मानुषेषु असि तस्य राजा। ऋ. 1.59.3

276. यत् इन्द्राग्नी दिवि स्थः यत् पृथिव्यां यत् पर्वतेषु ओषधीषु अप्सु।
ऋ. 1.108.11

277. अधारयः पर्वते दानुमत् वसुः। ऋ. 1.51.4

278. सुगा उत ते सुपथा पर्वतेषु। ऋ. 6.64.4

279. देखें आगे, 'समुद्र मन्थन'।

280. ऋ. 4.38; 39 व 40

281. अप्सु योनिः वा अश्वः। तैब्रा. 3.8.4.3; अप्सुजा उ वा अश्वः। शतब्रा. 7.5.2.18

282. इस दृष्टि से निम्न कुछ अंश रोचक प्रतीत होंगे :

ये पन्थानः बहवः देवयानाः अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनं आहराणि ॥ अथ. 3.15.2
यत् हविष्यं ऋतुशः देवयानं त्रिः मानुषाः परि अश्वं नयन्ति।
ऋ. 1.162.4
अन्तर्विद्वान् अध्वनः देवयानान् अतन्द्रः दूतः अभवः हविः वाट्।
ऋ. 1.72.7
मा वः ध्नन्तं मा शपन्तं प्रति वोचे देवयन्तम्। सुम्नैः इत् वः आ विवासे।
ऋ. 1.41.8

283. यत् स्थः दीर्घ प्रसद्मानि यत् वा अदः रोचने दिवः।
यत् वा समुद्रे अधि आ-कृते गृहे अतः आ यातं अश्विना ॥ ऋ. 8.10.1

284. आपः न द्वीपं दधति प्रयांसि। ऋ. 1.169.4

285. वि द्वीपानि पापतन् तिष्ठत् दुच्छुना। ऋ. 8.20.4

286. 8.33.19

287. 1.134.4

288. 5.47.6

289. मार्शल, पूर्व., 1, 32-33; पिगट, पूर्व., 210

290. ओटो श्रेडर, ऐंटीक्विटीज़ ऑफ़ दि आर्यन पीपुल्स, 1972, सं. 330-37

291. देखें, मैकडनेल, 'वासस्', वैदिक इण्डेक्स, 1962, 2, 326; आप्टे, दि वैदिक एज, 1965, 393-94; मैकडनेल ने इस बात की चर्चा नहीं की है कि वैदिक जन सूती वस्त्रों से परिचित नहीं थे। उनके अनुसार, "कपड़े अकसर भेड़ के ऊन से बिने जाते थे। (तु. की. ऊर्णा); पूषन देवता को 'वस्त्रों का बुनने वाला' (वासो-वाय) कहा गया है, क्योंकि इनका आकृतियाँ निर्माण करने के साथ सम्बन्ध है। धारण किये जाने वाले परिधान अकसर कढ़े होते थे, और मरुतों को स्वर्ण से अलंकृत परिधान धारण किये हुए बताया गया है। जहाँ अश्वों और स्वर्ण का दान करने के साथ वस्त्रों का दान करने का उल्लेख है, वहाँ सम्भवतः कढ़े हुए वस्त्रों का ही तात्पर्य है। भारतीयों के अलंकार-प्रेम के ऋग्वेद में अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, जिसकी मैगस्थनीज़ ने भी अपने समय में पुष्टि की है। ऋग्वेद में 'सु-वसन' और 'सु-रभि' जैसी उपाधियाँ भी मिलती हैं, जिनसे वस्त्रों के अच्छे लगने अथवा शरीर के ठीक नाप से सिले हुए होने का तात्पर्य है।" वही, 326-

27. मैकडनेल की मान्यता को दूसरे शब्दों में रखें तो कह सकते हैं कि ऋग्वेद से एक उन्नत वस्त्र-उद्योग की पुष्टि होती है और इस पर जरी आदि के काम इसे एक मूल्यवाल और पण्यमाल बनाने के लिए काफ़ी हैं। यदि ऊन का स्पष्ट उल्लेख आया है तो इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि मध्येशिया के क्षेत्र को भेजी जाने वाली वस्तुओं में ऊनी वस्त्र भी रहे होंगे। चूँकि अन्यत्र भी, जैसा हम देख आये हैं, व्यापारी वर्ग से सम्बन्धित वस्तुओं का ही अधिक उल्लेख है अतः, सम्भव है, ऊनी वस्त्रों का उल्लेख विशेष रूप से आया हो। यद्यपि ऊर्णा, जिसका ऋग्वेद में दो बार उल्लेख आया है, ऊन का सूचक नहीं लगता। सायण ने 5.52.9 में इसका अर्थ 'दीप्ति' और 4.22.2 में 'आच्छादक' माना है। ऊर्ण का प्रयोग सूत के अर्थ में भी होता रहा है और इसी से मकड़ी का नाम 'ऊर्णनाभ' पड़ा है। जो भी हो, जहाँ तक वस्त्र-उत्पादन का सम्बन्ध है, इसका स्तर ऊँचा था। एक स्थल पर आश्चर्यजनक धागों 'दंसु रश्मिषु' से वस्त्र बुनने का उल्लेख, आश्चर्यजनक रूप से बारीक वस्त्रों के चलन का द्योतक लगता है(1.134.4) और इस कल्पना का आधार बारीक सूती वस्त्र ही हो सकता है।

कुछ अध्येता ऊनी और सूती के फ़र्क़ को लेकर ऋग्वैदिक काल को हड़प्पा से इतना अधिक पीछे खींच ले जाते हैं कि हड़प्पा काल सूत्र काल के समकक्ष आ जाता है। देखें, के.डी. सेठना, कार्पास इन प्रीहिस्टॉरिक इंडिया, 1981. नकारात्मक प्रमाणों का उपयोग किसी अध्येता को किन तार्किक परिणतियों पर पहुँचा सकता है, इनकी यह एक अच्छी मिसाल है।

जहाँ तक वस्त्रों के निर्यात का प्रश्न है, यह स्वीकार किया जाता है कि पश्चिमी जगत को कपास और सूती वस्त्र का परिचय भारतीय व्यापारियों से ही मिला था, यद्यपि क्रैमर (के.डी. सेठना को लिखित पत्र, उद्धृत, पृ. 4) के अनुसार अक्कादियन पट्टिकाओं पर प्रयुक्त शब्द 'सिन्धु' न होकर 'शितु' है, जिसका अर्थ किंचित अनिश्चित है, पर सम्भवतः इसका प्रयोग विशेष रूप से विनिर्मित ऊन या वस्त्र (स्पेशली प्रासेस्ड वूल ऑर गार्मेंट) के लिए होता रहा है। क्रैमर के कथनानुसार इस बात की हर सम्भावना है कि इनमें से कुछ का चलन प्राचीन बैबीलोनी काल में, अर्थात् लगभग 1800 —1600 ई. पू. के लगभग था। इस शितु शब्द से ही अंग्रेजी का—शिट —भी निकला है जिसका भारतीयकरण छींट है और जो सूती वस्त्र के लिए ही प्रयोग में आता रहा है।

292. देखें, पृ. 128 व पृ. 143, परिशिष्ट 189-96

293. हड़प्पा के मनकों, या कहें वैदिक मणियों और रत्नों का निर्यात इसके व्यापारिक सम्पर्क के देशों में होता था। रत्न जिनमें लाजवर्द और फ़ीरोज़ा

हड़प्पा के सन्दर्भ में सार्थकता रखते हैं, मध्येशिया फरस और अफ़ग़ानिस्तान से प्राप्त किये जाते थे। इनका स्थानीय स्तर पर तो उपयोग होता ही था, पश्चिमी एशिया की सभ्यता को भी इनका निर्यात होता था। देखें, शशि अस्थाना, 'हिस्ट्री ऐंड आर्कियालॉजी ऑफ़ इंडियाज कांटैक्ट्स विद अदर कंट्रीज', 1979, 31, 44, 55, 57, 69, 70, 77, 82, 83, 100, 101, 104, आदि; 'हड़प्पन ट्रेड इन मेटल्स ऐंड मिनरल्स', हड़प्पा सिविलाइज़ेशन, 1982, 271-85, आदि।

294. देखें पीछे, 'आर्थिक आधार'। एक स्थल पर अलक्ष्मी या दरिद्रता दूर करने के प्रसंग में नदी में बहती हुई लकड़ी का उल्लेख ऋग्वेद में आया है।

295. 7.59.12; 8.19.24; विशेषतः 5.1.6, जिसमें हवि के प्रसंग में सुरभि का उल्लेख है।

296. 7.55.8; गन्धर्वों से सुगन्धित द्रव्यों का विशेष रूप से प्रेम रहा लगता है, जो उनके नामकरण का भी कारण प्रतीत होता है। इसको मातृसत्ताक या स्त्रियों का विशेष रूप से प्रेमी और संगीत आदि का शौकीन माना जाता रहा है। ये उनके सम्भावित ग्राहकों में रहे लगते हैं।

297. ऋ. 10.85.7

298. वही, और 1.173.6; 8.14.5; 9.71.1; 10.85.8; मैकडनेल लिखते हैं, "ओप एक सन्दिग्ध शब्द है जो ऋग्वेद, अथर्ववेद, और कभी-कभी बाद में भी आता है। इसका अर्थ सम्भवतः एक 'वेणी' है, जिसका केशमार्जन के लिए विशेषतः स्त्रियाँ प्रयोग करती थीं; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पहले पुरुष भी इसका प्रयोग करते थे।...'पृथुष्टक' (चौड़ी वेणीवाला), और विषित्.ष्टुक (ढीली वेणीवाला) में क्या अन्तर था, विशेषणों में इंगित प्रवेणी तथा ओपश में क्या अन्तर है, यह उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर निश्चित नहीं किया जा सकता।" वैदिक इंडेक्स, 1.130.40

299. 1.114.5; 5.55.2; 7.83.8

300. वैशम, पूर्व., 26; यजु. 1.16

301. 2.43.1-3; सायण ने इसका अर्थ कपिंजल किया है जो पुनः कुछ दुरूह है। 'उद्गातेव शकुने साम गायसि' से इसके तोता या मैना होने की ही पुष्टि होती है। हड़प्पा के अवशेषों में पक्षियों के पिंजड़े भी मिले हैं, जो कुछ पक्षियों को पोसने के चलन का प्रमाण है।

302. मोर के निर्यात का उल्लेख जातक कथाओं से पहले नहीं मिलता, पर इसका यह अर्थ लेना उचित नहीं कि इसका निर्यात ठीक उसी समय आरम्भ हुआ होगा जब इसका प्रथम उल्लेख मिलता है। ऋ. में मयूर का उल्लेख 3.45.1; 8.1.25, आदि में आया है।

303. घोड़ा वैदिक जनों की खरीद और बिक्री दोनों मदों में रहा हो सकता है।
304. भारत से निर्यात होने वाले पशुओं में ऊँट और विशेषतः दो कूबड़ वाला ऊँट भी शामिल रहा है। बुखारी मुकद्दसी के अनुसार, जिनकी पुस्तक का हवाला मौलाना सैयद सुलेमान नदवी द्वारा दिया गया है, ऐतिहासिक कालों में भी अरब और ईरान आदि में अच्छी नस्ल के ऊँटों के लिए सिन्ध से ऊँट मँगाकर संकर नस्ल तैयार की जाती थी। अहसनुत् तकासीम फी मारफि-तल अकालीम, बुखारी मुकद्दसी, लीदन, पृ. 474-82, नदवी द्वारा उद्धृत 1929, 65; देखें, रालिसन, इंटरकोर्स बिटविन इंडिया एंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, 1916, 93-94; अस्थाना, हिस्ट्री एंड आर्कियालोजी ऑफ़ इंडियाज़ कान्टैक्ट विद अदर कंट्रीज़, 1976, 189 भी।
305. हाथी को उपयोग में लाने की सूचना इसके सन्दर्भ में अंकुश(ऋ. 10.44.9) के प्रयोग से मिलती है। यहाँ हाथी का पर्याय शफारुज अर्थात् 'पाँव से रौंदने वाला' आया है।
306. 1.84.17; 4.4.1; 9.57.3 आदि।
307. 8.33.8
308. मैकाय, 1937, 2, 94 और ह्वीलर, 1953, 92
309. देखें, सांकलिया, 1962, 60
310. भगवान सिंह, आइडेंटिफ़िकेशन ऑफ़ सोम, पुरातत्व, 1982-83

अध्याय छह

वैदिक उद्यमियों के खनिज स्रोत

वैदिककालीन व्यापार और वाणिज्य पर विचार करते हुए हम देख आये हैं कि कैसे व्यापारिक सार्थों के लिए प्रयुक्त विविध शब्दों को भ्रमवश युद्ध का पर्याय माना जाता रहा और इसके आर्थिक पक्ष को सही सन्दर्भ न दे पाने के कारण इस युद्ध को ही लूट-पाट करार दे दिया गया। ऐसा करने के लिए हम आधुनिक अध्येताओं को बहुत अधिक दोष नहीं दे सकते। इन विविध शब्दों का अर्थ परम्परागत रूप में युद्ध के ही परिप्रेक्ष्य में किया जाता रहा और इनके सन्दर्भों को देखते हुए विजय की अपेक्षा धन-लाभ ही इनका प्रधान लक्ष्य प्रतीत होता है, अतः आधुनिक अध्येताओं को सीधा विकल्प लूट-पाट का ही दिखायी दे रहा था। इस आग्रह के कारण वैदिक जनों के यात्रा-पथों में होने वाली लूट-पाट की घटनाओं को भी, जिनके वास्तविक भुक्तभोगी वे स्वयं थे और जिनके विवरणों में वे स्पष्टतः अपने को लुटने वाला और अपने शत्रुओं को लुटेरा कह रहे थे, इनके द्वारा किये गये हमलों आदि के रूप में कल्पित किया जाता रहा है।

परन्तु इनकी क्रियाशीलता का एक क्षेत्र ऐसा था जिसने वैदिक अध्येताओं को निरन्तर भटकाया है; कारण, इसकी व्याख्या न तो लूट-पाट की मान्यता से हो सकती थी, न ही आक्रमण और युद्ध के व्याज से। यह है बलूचिस्तान से लेकर मध्येशिया पर्यन्त के क्षेत्र में वैदिक उद्यमियों का खनन कर्म। जहाँ व्यापार की बात को ही अस्वीकार किया जाता रहा हो वहाँ खानों की खुदाई की ओर ध्यान जाने का प्रश्न ही नहीं था और इस सूत्र को समझे बिना पणियों द्वारा छिपायी गयी गायों के उद्धार की या वल के भेदन की कथा का पूरा मर्म उद्घाटित ही नहीं हो सकता था। अतः इन रहस्यमय गायों को जल, किरण, स्वर्गीय खज़ाना आदि विभिन्न लाक्षणिक आशयों में ग्रहण करके इस प्रसंग की व्याख्या के प्रयत्न किये जाते रहे, और इसके बावजूद भी यह अनुभव किया जाता रहा कि इनमें से कोई भी व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। इन विशेष प्रसंगों में गो का अर्थ और जो कुछ भी हो, गाय

नहीं है, यह प्राचीन भाष्यकारों से लेकर आधुनिक विद्वानों तक सभी मानते रहे हैं।

वस्तुतः इस रूपकीय विवरण की कठिनाई यह है कि इसकी कोई ऐसी व्याख्या सन्तोषजनक नहीं जो सकती हो अंगिराओं, मरुतों, इन्द्र, पणियों, गायों और बल के चरित्रों से एक साथ मेल न खा सके और उन सभी ब्यौरों पर कसने पर खरी न उतर सके जो इनके विषय में ऋग्वेद में पाये जाते हैं।

इनमें अंगिराओं के विषय में हम नवग्वों और दशग्वों पर विचार करते हुए यह देख आये हैं कि इनके नव और दश महीनों के यज्ञ-सत्र ऐसे आर्थिक अभियान थे जिन पर सम्भवतः मार्गदर्शक या व्यापारियों के प्रतिनिधि की हैसियत से वैदिक ऋषिगण भी जाते रहते थे। बल के रूपक में मार्गों की खोज और दर्रों के एक पक्ष का भी हम उल्लेख कर आये हैं और साथ ही यह संकेत कर आये हैं कि इसका एक पक्ष खानों की खुदाई से सम्बन्ध रखता है। इस दूसरे पक्ष पर, और पणियों और मरुद्गणों वाले पहलू पर, हम यहाँ विचार करेंगे।

मरुद्गण—ऋग्वेद-काल तक मरुद्गण दो गतिविधियों से जुड़े दिखायी देते हैं। इनमें से एक है कृषि[1] और दूसरा व्यापार।[2] यास्क ने निघण्टु में मरुत् को हिरण्य के पर्यायों में गिनाया है।[3] हिरण्य के पर्यायों में समस्त धातुएँ आ जाती हैं। ऐसी दशा में यह सोचना ग़लत नहीं होगा कि मरुद्गणों का सम्बन्ध खनन कार्य से और सार्थों में शामिल होने वाले वैश्यों या सामान्य व्यापारियों से हो सकता है। इस विशेष दृष्टि से मरुद्गण का अर्थ खानकर्मी भी किया जा सकता है।

व्यापारिक सार्थों में शामिल होने वाले सदस्यों की स्थिति एक जैसी हुआ करती थी, जो बिरादरी की आम अवधारणा में भी देखी जा सकती है, जिसमें अमीर-ग़रीब सभी एक दर्जे के समझे जाते हैं। यही कारण है कि मरुद्गणों को हर दृष्टि से बराबर माना जाता है जिनमें न तो कोई ज्येष्ठ है, न कनिष्ठ, न मध्यम।[4] इस विशिष्टता के कारण और इनके जत्थों में या सार्थों में चलने के कारण कुछ अध्येताओं को यह लगता है कि ये स्थानीय आबादी से निकले हुए और आर्यों के भृत्य वर्ग में शामिल लोग हैं जिनमें कबीलाई ढाँचा अभी बाकी रह गया है।[5] पर अज्येष्ठ, अकनिष्ठ आदि होने के साथ ही मरुद्गण सुजात भी हैं और इन्हें विश्ववेद्स या हर तरह से सम्पन्न और विश्वदेवों का प्रतिरूप (यंजन्तु त्वा मरुतो विश्ववेद्स इति युंजन्तु त्वा देवा इति एव एतत् आह। शतब्रा. 5.1.4.9) तथा मरुत् को ऋत्विक् का भी पर्याय माना गया है[6] और ऋत्विक् का अर्थ है ऋतुकाल में गमन करने वाला या यजन करने वाला (ऋत्विक् ईरणः ऋक्यष्टा भवति इति शातपूणिः। ऋतुयाजी भवतीति वा। नि. 3.19)। इस दृष्टि से इनका नवग्वों और दशग्वों से अभेद हो जाता है।

मरुद्गणों का नेतृत्व इन्द्र करते हैं या वे इन्द्र-ज्येष्ठ हैं।[7] सोना-चाँदी और मणियों के विविध आभूषण पहनने का इन्हें बहुत शौक है।[8] इनके हथियारों में

धनुष और वाण आते, हैं[9] पर साथ ही इनको अनेक औज़ारों से, जिनमें ऋष्टि[10], वज्र या पवि[11], दात्र[12], वाशी[13] और कृति[14] आदि आते हैं, सज्जित दिखाया जाता है। इन औज़ारों में से कुछ का उपयोग पर्वतों को तोड़ने या पथरीली मिट्टी और चट्टानों को तोड़ने और खुदाई करने के लिए किया जाता रहा लगता है। कारण, इनको प्रायः पर्वतों को तोड़ते हुए दिखाया गया है।[15] इनके चलने से धरती काँपती है और आकाश थर्राने लगता है। उनको पहाड़ी रास्तों से जिनमें तरह-तरह की चढ़ाई-उतराई आती है—आपथ, विपथ, अन्तस्पथ, अनुपथ—से गुज़रते दिखाया गया है।

इस तरह हम पाते हैं कि मरुतों का उन उत्साही नौजवानों से पूरा सादृश्य है जो मालामाल होने के लिए लम्बी यात्राओं पर निकलते थे और सुदूर व्यापार के अतिरिक्त जिनका सम्बन्ध खानों की खुदाई से भी था।

वल—वल शब्द पर हम पीछे कुछ विचार कर आये हैं। यहाँ इस विषय में मैकडनेल की टिप्पणी को ही रखना उपयोगी होगा। वे लिखते हैं,"यह शब्द ऋग्वेद में लगभग चौबीस बार आया है और नियमित रूप से इन्द्र और उनके सहयोगियों, विशेषतः अंगिरसों, द्वारा गौओं को मुक्त कराने से सम्बन्धित है। तैत्तिरीय संहिता (2.1.5.1) में इन्द्र को वल का बिल खोदने वाला कहा गया है। परन्तु ऐसे अनेक सूक्त हैं जिनमें इस शब्द का मानवीकरण नहीं किया गया है। इन मामलों में मूल अर्थ आवरण (कवरिंग) या गुफा (केव) प्रतीत होता है।...कहा गया है कि इन्द्र ने गायों को बाहर निकाला और वल को खोला (अपावर्) या वल के उस विवर को खोल दिया (अपावर्) जिसमें गायें बन्द थीं। पंचविंश ब्राह्मण में असुरों की गुहा (वल) का उल्लेख आया है जो पत्थर से बन्द थी। अनेक ऋचाओं में इस शब्द का मूल या मानवीकृत भाव हो सकता है। इन्द्र के विशेषण 'वल रुज्' (वल भंजक) में जो वृत्रखाद (वृत्र विनाशक) के ठीक बाद आता है, बाद वाला भाव हो सकता है। मानवीकृत आशय की ओर संक्रमण 3.30.10 में प्रकट होता है जिसमें वल को गोष्ठ (व्रज) कहा गया है, जिसने इन्द्र के प्रहार से बचने के लिए अपने को खोल दिया था। यह मानवीकरण पूरी तरह विकसित नहीं हो पाया है, यह इन्द्र और दूसरों की उस कार्रवाई से प्रकट होता है जो वे वल पर प्रहार करते समय करते हैं जिसे 'भिद्' तोड़ना और कभी-कभी 'दृ' फाड़ना या 'रुज्' खण्डित करना द्वारा तो व्यक्त किया गया है, पर जैसा कि वृत्र के मामले में किया गया है, 'हन्' मारना द्वारा नहीं। वल के साथ 'भिद्' का सम्बन्ध 'वलभिद्' में सुरक्षित है जो उत्तरवैदिक साहित्य में इन्द्र का अकसर प्रयोग में आने वाला पर्याय है।"[17]

स्पष्ट है कि वल का सम्बन्ध किसी व्यक्ति या असुर से नहीं है। इसे वैदिक कवियों की उक्ति-वैचित्र्य की भूख ने खनिज भण्डारों तक पहुँचने वाले मार्ग या सुरंग से उठा कर मानवीकृत रूप दे दिया, पर जिसकी पहचान, इसके बावजूद,

उनके अपने विवरणों में उभरती रहती है। मैकडनेल ने इन दोनों पहलुओं को कुछ इस रूप में पेश किया है मानो प्राथमिक विवरण बिलकुल वस्तुपरक रहे हों और इन्हें बाद में ही मानवीकृत किया गया हो और इस अगले चरण पर इसकी पहली पहचान मिट सी गयी हो'। पर हमें ऐसा लगता है कि काव्यात्मकता का यह पुट आरम्भ से ही था और बहुत बाद तक भी इसके वस्तुगत रूप की पहचान साफ़ बनी हुई थी जैसा कि उनके अनुसार भी तैत्तिरीय संहिता और पंचविंश ब्राह्मण से प्रकट होता है, पर कालक्रम से इसमें कुहरिलता अवश्य आती गयी जो वालि की कथा में देखी जा सकती है जिसमें एक असुर का पीछा करते हुए उसके सुरंग या विवर में प्रवेश के विवरण में उसके अपने नाम और पीछा किये जाने वाले के असुरत्व का विशाखन हो गया है।

हड़प्पा सभ्यता के व्यापारी बलूचिस्तान से लेकर पूर्वी मध्येशिया तक की खनिज सम्पदा का उत्खनन और उपयोग कर रहे थे और अब पिछले कुछ दशकों में सामने आने वाले प्रमाणों से ज़ाहिर है कि इन खनन कार्यों में उनकी पहल ही नहीं थी, अपितु कुछ क्षेत्रों पर उनका एकाधिकार भी कायम हो चुका था।[18] इन विभिन्न खनिज पदार्थों की खानों और खुदाइयों के विषय में हमें बहुत स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त है, पर अफ़ग़ानिस्तान की लाजवर्द की खानों के विषय में ए. नासिर ने जो कुछ लिखा है वह वल की कथा को समझने में उपयोगी हो सकता है। उनके द्वारा दी गयी सूचना के अनुसार लाजवर्द संगमर्मर की मोटी चट्टानों के नीचे पायी जाती है। बदख़्शाँ की लाजवर्द की खानों में इसके टुकड़े एक ग्राम से लेकर एक अंडे के आकार तक के पाये जाते हैं। सारीसुंग क्षेत्र में पुर-दारा और रोबत के चरागाहों के बीच पुरदर्रा घाटी (दर्रा शब्द का अफ़ग़ानी में अर्थ होता है घाटी) में एक का जो विवरण उन्होंने दिया है उसके अनुसार खान घाटी के तल से 350 मीटर की चढ़ान पर संगमर्मर की मोटी पर्त को काट कर निकाली गयी है। इसमें कई गलियारे खोदे गये हैं, जिनमें उत्तर की ओर जाने वाला गलियारा तो कई हज़ार वर्ष पहले खोदा गया था और इसकी खुदाई लम्बे समय तक चलती रही थी। यह सुरंग 75 फुट लम्बी है जिसके अन्तिम सिरे पर एक विशाल गुफा-सी बन गयी है। इस गुफा की चौड़ाई 10 मीटर, लम्बाई 34 मीटर और ऊँचाई फ़र्श से 25 मीटर है। यहाँ खनन क्षेत्र 6 से 8 मीटर तक गहरा है। खुदाई करने वालों को खुदाई के लिए इस क्षेत्र तक पहुँचने के लिए एक पतली सुरंग का प्रयोग करना पड़ता था।[19]

नासिर कुछ दूसरी खानों का भी उल्लेख करते हैं जिन तक पहुँचने का रास्ता अधिक कठिन है और जिनकी ऊँचाई भी बहुत अधिक है। उदाहरण के लिए, प्रोरा में स्थित चलमक खान घाटी से 450-500 मीटर के चढ़ान पर स्थित है। वह आगे लिखते हैं, "प्राचीन काल में टोहपरक खननों के प्रयोग लगभग संगमर्मर

की सभी चट्टानों पर किये गये थे। उन्हें जहाँ कहीं भी लाजवर्द का तनिक भी आसार दिखायी देता वे गड्ढे और सुरंगें खोदना शुरू कर देते थे। इसी तरह की एक प्रायोगिक सुरंग सारीसुंग घाटी में मूल खानों के निकट पूर्व-पश्चिम के रुख में खोदी गयी है। इन खननों को चार गर्तों में, जो विविध आकारों के हैं, पूरा कर लिया गया था। ये लगभग 20 से 50 मीटर लम्बी टीहपरक सुरंगें हैं जो डेढ़ से तीन मीटर गहरी और डेढ़ से तीन मीटर चौड़ी हैं।[20]

लाजवर्द की इन खानों के विषय में इस सूचना के बाद हम आसानी से समझ सकते हैं कि गुहाहित या गूढ़ निधि के उद्धार की जो कहानी ऋग्वेद में इतने आवेग के साथ बार-बार दुहरायी जाती है उसका सम्बन्ध किन निधियों से हो सकता है? मरुतों, अंगिराओं, इन्द्र और अग्नि के पर्वतों को तोड़ने, भेदने, इनमें छेद करने का प्रयोजन क्या है? यह प्रयोजन मन्त्रांशों में भी प्रायः स्पष्ट होकर आया है, जैसे मरुतों के प्रसंग में 'तुविद्युम्नासः धन्यन्ते अद्रिम्', 'वाजे अद्रि मरुतः रन्धयन्तः' और अंगिराजों के प्रसंग में,'दधन् ऋतं धनयन् अस्य धीतिभिः'[21], आदि में धन या खनिज सम्पदा के लिए पर्वतों की खुदाई के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। पर धन के लिए इसके एक अन्य पर्याय 'गो' के उल्लेख धन या निधि की तुलना में कुछ अधिक आये हैं, अतः धन को भी भाष्यकारों ने गोवाची मान लिया जब कि सन्दर्भ और प्रसंग को देखते हुए और इस तथ्य को देखते हुए कि गो शब्द स्वयं धन का पर्याय है और इस रूप में इसका प्रयोग होता आया है, इसे खनिज सम्पदा का भी सूचक माना चाहिए था। पर इसके साथ उस मनोबाधा का भी हाथ कम नहीं है जिसके चलते परम्परागत व्याख्याकार ऋग्वेद से यथासम्भव आध्यात्मिक अर्थ की तलाशते रहे हैं और जहाँ भौतिक पक्ष स्पष्ट है वहाँ भी इसे रहस्यात्मक बनाकर तरह-तरह के आशय ढूँढ़ते रहे हैं और आधुनिक विद्वान जिन्होंने वैदिकों को पशुचारी आदि मान रखा था, यह भूलकर भी सोचने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे कि खानों की खुदाई जैसे उद्यम में स्वयं वैदिकों की पहल हो सकती थी। वल के मानवीकरण के बावजूद नये मण्डलों में भी यह बात कतई भुलायी नहीं गयी है कि यह सुरंगों और खानों के गर्भ का ही मानवीकृत रूप है। उदाहरण के लिए, इसे स्पष्टतः 'बिल'[22] और विवर[23] तो कहा ही गया है, साथ ही इसे लगभग नियमित रूप से गुहा कहा गया है।[24] इन लम्बी सुरंगों से गुजरते हुए अंधेरे में जिस गहरी असुरक्षा और भय की अनुभूति होती रही होगी और दिन ढलने के समय जो आकुलता बनी रहती रही होगी कि रोशनी कुछ अधिक देर तक बनी रहे, इन सुरंगों को तय करके पुनः रोशनी में आने पर जिस सन्तोष और उल्लास की अनुभूति होती रही होगी इसे उन विभिन्न उक्तियों में देखा जा सकता है जिनमें अन्धकार में जाने से भय, अन्धकार की जगह प्रकाश को चुनने, लम्बे समय तक सूर्य के दिखायी देने[25], अन्धकार से प्रकाश में जाने या

ले जाये जाने[26] की उत्कट कामनाएँ व्यक्त की गयी हैं। मैक्समूलर ने कहा था कि ऋचाओं की तो बात ही नहीं, ऋग्वेद के सूक्त-के-सूक्त हमारे लिए निपट दुर्बोध (डेड लेटर) बने रहेंगे।[27] हम कह आये हैं कि इस दुर्बोधता का उतना बड़ा कारण भाषा की दुरूहता नहीं है जितनी इनको सही सन्दर्भ न दे पाना और अब हम पाते हैं कि वल की इस कथा के मर्म को समझते ही दसियों सूक्तों का मर्म उद्घाटित हो जाता है; कारण, वल की कथा केवल उन्ही सूक्तों या मन्त्रों में नहीं आयी है जिनमें वल शब्द का प्रयोग हुआ है अपितु यह उन सूक्तों और मन्त्रों में भी दुहरायी गयी है जिनमें अंगिराओं (नवग्वों, दशग्वों) और पणियों के हवाले आये हैं। ऐसे बहुत-से मन्त्र जिसमें इनके नाम नहीं आये हैं पर जिनमें गायों के उद्धार का रूपक मात्र आया है या जिनमें मरुतों के शौर्य की चर्चा है, इस खनन उद्योग की छाया लिये हुए हैं। आज इसकी कल्पना करना भी कठिन है कि यह उपक्रम जिसके हवाले इतने अधिक मन्त्रों में आये हैं अपने समय में कितना आकर्षक, व्यस्ततापूर्ण और चुनौती-भरा रहा हो सकता है।

वल की इस कथा का मर्म खुलने पर कुछ दूसरे प्रसंग भी अधिक बोधगम्य हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब गो का एक अर्थ खनिज द्रव्य भी हो जाता है और खनन अभियान को भी असुरों पर विजय के रूप में या विजय के लिए प्रस्थान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब गविष्टि और गवेषण जैसे शब्दों का अर्थ न केवल बदल जाता है, अपितु यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिन्हें युद्ध-अभियान समझा जाता रहा है उनमें बिना किसी अपवाद के भारी लाभ की बात क्यों की जाती है। जहाँ किसी एक व्यक्ति के धन को इन्द्र द्वारा दूसरे को दे देने के उल्लेख हैं, वहाँ इनकी एक नयी व्याख्या भी सम्भव दिखायी देती है। उदाहरण के लिए, यदि किसी भी क्षेत्र में आरम्भिक टोहपरक खनन करने के बाद एक दल ने निराश होकर आगे की खुदाई छोड़ दी हो और इसके बाद किसी दूसरे ने इसके बावजूद इस क्षेत्र को सम्भावनापूर्ण मान कर काम शुरू किया हो और उसे बहुत स्वल्प आयास से ही खनिज भण्डार मिल गया हो तो इस लाभ को क्या कहेंगे? जिन लम्बी टोहपरक खुदाइयों के उल्लेख नासिर ने किये हैं उनमें अपना पूरा मौसम खराब करने और खाली हाथ लौटने वालों और दूसरी ओर अपने उपक्रम में सफल होने वालों के भाग्य को देखते हुए पुरोहितों के इस प्रचार का कि दानशील, यज्ञपरायण और उदार व्यक्तियों को ही धन मिलता है और देवता उन्हें कृपण, अनुदार और अयजनशील व्यक्ति के हिस्से का भी धन दे देते हैं, एक नया पक्ष सामने आता है, जिसे लड़ाई-झगड़े वाले नुक़्ते से समझा ही नहीं जा सकता था। हमने यह सुझाया है कि व्यापारिक सार्थों के साथ ऋषि माने जाने वाले लोग भी जाते दिखायी देते हैं। वैदिक मानसिकता को देखते हुए यह सोचना ग़लत नहीं होगा कि नये स्थलों पर खनन आरम्भ करने से पहले या पिछले

मौसम में जहाँ तक काम पहुँचा था उसे नये मौसम में आगे बढ़ाने से पहले मुहूर्त करने या पूजा-पाठ जैसा कुछ विधान अवश्य किया जाता रहा होगा और अन्य बातों के अलावा एक पुरोधा का अभियान दल के साथ जाना इसलिए भी जरूरी समझा जाता रहा होगा।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण है ऋग्वेद की भौगोलिक परिधि। अभी तक इस पर दो तरह की प्रतिक्रियाएँ रहीं हैं। कुछ विद्वान, जिनमें से हिल्लेब्रांट एक हैं, यह मानते रहे हैं कि ऋग्वेद की रचना के दो ही नहीं तीन चरण हैं, अर्थात् पुराने मण्डलों में से भी कुछ अधिक पुराने मण्डल, जैसे छठा मण्डल, हैं जिनकी रचना उस समय हुई थी जब आर्य अभी भारत में नहीं आये थे और फिर भारत में रचे गये शेष ऋग्वेद में नये और पुराने मण्डलों का सवाल आता है। इनकी समझ के अनुसार ऋग्वेद आमू दरिया के क्षेत्र से लेकर भारत तक की घटनाओं और जनों को समेटता है जिनमें पुराने मण्डलों का सम्बन्ध तो आमू दरिया क्षेत्र या कहें बदख्शाँ और मध्येशिया के क्षेत्र तक सीमित है, क्योंकि इस समय तक आर्य भारत में पहुँचे ही नहीं थे, पर नये मण्डलों की रचनाओं की परिधि में यह पूरा क्षेत्र आता है क्योंकि इस समय तक आर्य भारत में तो आ ही चुके थे और आमू दरिया क्षेत्र के अनुभव भी परम्परालब्ध रूप में रचनाकारों को प्राप्त थे। दूसरी ओर, अधिकांश विद्वान जो समूचे ऋग्वेद की रचना भारत में ही सम्पन्न मानते रहे हैं, इसके विवरणों को खींच-तान कर भारतीय भूभाग तक ही और इसके भी पंजाब तक ही सिमटा मानते रहे हैं और असुरों, दासों, मित्रों और शत्रुओं सभी की पहचान इसी दायरे में करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। व्यापार और वाणिज्य के प्रसंग में हमने जो कुछ कहा है और विशेष रूप से वैदिक खान उद्योग से जो तसवीर उभरती है वह उक्त दोनों ही सरलीकरणों का निषेध करती प्रतीत होती है। पहली मान्यता के विपरीत हम पाते हैं कि ऋग्वेद की रचना निरपवाद रूप में भारत में हुई थी और बहुत पहले से भारत में ही आबाद जनों के अपने बुद्धिजीवियों द्वारा ही हुई थी और दूसरे के विपरीत हम पाते हैं कि इसमें उन गतिविधियों और उनके दौरान अर्जित अनुभवों को भी समेटा गया है जिनका सम्बन्ध भारत से बाहर के, और वह भी दूरस्थ, देशों से था, अतः इसमें वर्णित घटनाओं को इस व्यापक दायरे में ही समझा जा सकता है और इस दायरे को छोटा करने का कोई भी प्रयत्न मूल पाठ को समझने में तदनुरूप बाधा उत्पन्न करता है।

इस प्रसंग में हिल्लेब्रांट द्वारा उनकी पुस्तक **वैदिक माइथॉलॉजी** के भाग एक में दिये गये तर्कों और प्रमाणों पर कुछ रुक कर विचार करना जरूरी है। हिल्लेब्रांट अपने उक्त निष्कर्ष पर मुख्यतः दो कारणों से, या कहें अपनी समझ से दो कारणों से, पहुँचे हैं। वह एक लम्बी जाँच-पड़ताल और उतनी ही लम्बी तर्कशृंखला से यह नतीजा निकालते हैं कि सोम वैदिकों का एक अति प्राचीन

पेय था जो उस समय प्रचलित था जब वे भारत में नहीं पहुँचे थे और इसकी सुलभता उनके पश्चिमोत्तर भारत में बसे रहने तक जारी थी, पर जब वे और पूर्व की ओर खिसक गये तो यह सुलभ नहीं रह गया और बाद की कृतियों में इसके उल्लेख मात्र अपनी पवित्र परम्परा की आवृत्ति हैं। सोम का मूल क्षेत्र वह आमू दरिया का क्षेत्र मानते हैं।[28] ब्राह्मणों में पणियों से सोम खरीदने के कर्मकाण्डीय हवालों को देखते हुए वह पणियों की शिनाख्त और उनके निवास का निर्धारण इस पुस्तक के परिशिष्ट एक में करते हैं और जैसा कि स्वाभाविक है इन्हें भी उसी क्षेत्र का निवासी सिद्ध करते हैं।

सोम की वानस्पतिक पहचान और इसके प्रतीकात्मक अर्थ की जटिल समस्या पर हिल्लेब्रांट ने जो कुछ कहा है उसकी तफ़सील में जाना यहाँ सम्भव नहीं है, पर कुछ असंगतियों का ध्यान उन्होंने नहीं रखा है, यह तो उनके लम्बे विवेचन पर सरसरी नज़र डालने पर भी पता चल जाता है। उदाहरण के लिए, यदि पश्चिमोत्तर भाग में और वह भी मध्यदेश में बसने के समय तक भी सोम उपलब्ध था तो कम-से-कम इस क्षेत्र के लिए तो यह बाद में भी उपलब्ध रह ही सकता था। फिर सूत्रकाल तक भी सोम का क्रय-विक्रय जारी था[30], जो हमें इस विषय में सचेत करने के लिए पर्याप्त है कि इस काल में भी सोम की पहचान लुप्त नहीं हुई थी। यदि इसने एक असाधारण महत्व और विचित्र अर्थ पा लिया तो यह अर्थ इसे वैदिक काल से पहले ही मिल चुका था और इस प्रतीकात्मक अर्थ ने ही इसके वानस्पतिक रूप को कुहरिल बना दिया। हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि हिल्लेब्रांट स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि वैदिक जनों के लिए सू—का अर्थ सोम का रस निकालने से कहीं अधिक गहन था।[31]

पणि शब्द का अर्थ हिल्लेब्रांट से पहले के व्याख्याकारों ने कंजूस और यज्ञविरत व्यापारी, आदिवासी, संचरणशील व्यापारी, लोभी, असुरों के खज़ाने पर पहरा देने वाले आदि के रूप में किया था।[32] वह इस दृष्टि से ऋग्वैदिक उद्धरणों को पेश करते हुए यह दिखाते हैं कि पणि संचरणशील व्यापारी नहीं हो सकते थे और फिर इनको दासों से अभिन्न और इन्द्र के आराधकों और सोम सेवन करने तथा दक्षिणा देने वालों से मतभेद रखने वाले रूप में कल्पित करते हैं जो स्तेपी के मैदान में बसे हुए थे और जिनकी पहचान ग्रीक लेखकों ने पनियनों के रूप में की है। वह पाते हैं कि पणियों का सबसे अधिक ज़िक्र छठे मण्डल में आया है जिसके पुरोहित भारद्वाज थे और इनके प्रधान संरक्षक दिवोदास थे जो सरस्वती तट के राजा थे और छठे मण्डल की सरस्वती अर्कोसिया की हरौती थी। उनके ऐसा मानने के अनेक कारणों में से एक यह था कि छठे मण्डल में जिस सरस्वती का वर्णन आया है वह मध्यदेश की सरस्वती जैसी कोई मामूली (इंसिग्निफ़िकेंट लिटिल स्ट्रीम) नहीं हो सकती जो बाद में सूख गयी थी। रसा को वह आमू दरिया मानते

हैं। सरस्वती तट के राजा दिवोदास को वह अर्कोसिया में राज करता दिखाते हैं, जहाँ ही उसकी शत्रुता पणियों से हो सकती थी। दिवोदास को वह दास कबीले का राजा मानते हैं और इस मामले में वह पणियों के ही गोत्र का था और दोनों में फ़र्क मात्र धार्मिक रीति-विधान का था और इसे छोड़कर, ज़ाहिर है, आर्यों और दासों में कोई फ़र्क नहीं रह जाता। इसी तरह बृबु, बृसय, पारावत आदि की भी रोचक व्याख्याएँ उनके द्वारा दी गयी हैं।

हिल्लेब्रांट नतीजा निकालते हैं, "ऋग्वेद में वर्णित कुछ घटनाएँ सिन्धु से पश्चिम अर्कोसिया और इसके पड़ोस के ईरानी क्षेत्र में घटित हुई थीं और शत्रुओं में एक क़बीला पनियनों का था जिसका उल्लेख बाद के कालों में अकसर आता रहता है।"[33] "दिवोदास निश्चय ही अर्कोसिया की हरौती (हेराक्वती) के तट पर अर्थात् एक ऐसे क्षेत्र में रहते रहे होंगे जिस पर पनियनों के, जो कि इससे उत्तर या उत्तर-पश्चिम में रहते थे, हमले होते रहते थे।" "यदि दिवोदास के नाम से निकाला गया हमारा यह निष्कर्ष सही है कि वह स्वयं भी दास था तो ज़ाहिर होगा कि वह अपने ही कबीले के सदस्यों से राड़ ठाने बैठा था। ...दास-राजा दिवोदास ने पनियनों के क़बीले से अर्कोतस के तट पर युद्ध किया और भरद्वाज उसके सहायकों में थे।"[34] दिवोदास के वंशधर सुदास "एक विजेता के रूप में पूर्व की ओर बढ़ते हुए उस क्षेत्र में पहुँचे जहाँ विश्वामित्र और वसिष्ठ के परिवार रहते थे जिनमें से विशेषतः वसिष्ठ को मालूम था कि इस शक्तिशाली विदेशी की कृपा कैसे प्राप्त की जा सकती है।"[35] और "हमारी इस परिकल्पना से सिद्ध होगा कि आर्यों के एक पूर्ववर्ती आव्रजन के बाद दासों के नेतृत्व में एक नया आव्रजन हुआ। हम सम्भवतः तृत्सुओं को पहले के बाशिन्दों का प्रतिनिधि मान सकते हैं।"[36] हिल्लेब्रांट के अनुसार पुरु भी पहले दिवोदास के पड़ोस में अर्कोसिया के पास रहते रहे होंगे, क्योंकि शम्बर को उन्होंने भी अग्नि वैश्वानर की सहायता से हराया था।[37] साथ ही भरद्वाज जो दिवोदास के पुरोहित थे वे ही पुरुओं के भी पुरोहित थे[38] अतः, "पुरु या उनका एक हिस्सा दिवोदास की राजधानी से अधिक दूर नहीं बसा रहा होगा और ऋ. 7.8.4 में एक पुरु पर भरतों की विजय की घोषणा है, अतः पुरुओं ने अपना राज्य यमुना और परुष्णी तक फैला रखा रहा होगा और लगता है वे भरतों से अलग ज़बान बोलते थे। ऋ. 7.18.13 में उन्हें मृध्रवाच कहा गया है जिसका अर्थ है 'विदेशी भाषा बोलने वाला,' न कि भर्त्सनापूर्ण कथन करने वाला।"[39] और भाषा का यह अन्तर हैरत की बात नहीं है, खास तौर से तब जब कि भरत उस क्षेत्र में पुरुओं के बाद आव्रजित हुए हों।[40]

वल के इस प्रसंग में पणियों के साथ-ही-साथ दिवोदास और पुरुवंश तक के बड़े दायरे को समेटने की और इस पर विचार करने की बाध्यता इसलिए उत्पन्न

होती है कि ये सवाल एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं और इनके बीच संगति स्थापित करना ज़रूरी है।

हिल्लेब्रांट की इस तर्कपद्धति और उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्षों या उनके द्वारा लगायी गयी अटकलों को अनेक विद्वान खासा महत्व देते हैं। यद्यपि कीथ ने बहुत पहले ही इसे अमान्य कर दिया था, पर हिल्लेब्रांट ने अपने पक्ष को कुछ और युक्तियाँ देते हुए पुनः दुहराया था।[41]

ऋग्वेद में पणियों को कहीं व्यापार करते नहीं दिखाया गया है, अतः हम हिल्लेब्रांट से इस मामले में आंशिक सहमति प्रकट कर सकते हैं कि पणि शब्द को 'पण्-वण्' से व्युत्पन्न मानने के कारण इन्हें व्यापारी मान लिया गया है। परन्तु पणियों को पनियन क़बीला मानने और इन्हें आमू दरिया के निकट और वहीं बसा हुआ सिद्ध करने के लिए हिल्लेब्रांट ने जिस तर्क का सहारा लिया है उसमें भी इकहरापन है। वह छठे मण्डल की ही उस ऋच के उत्तरार्ध को जानबूझ कर नज़र, अन्दाज़ कर गये हैं जिसके पूर्वार्द्ध का उपयोग उन्होंने पणियों का सम्बन्ध बृबु से कायम करने के लिए किया है और जो पणियों की पहचान के लिए बहुत महत्व रखता है। यह है "उरुः कक्षो न गांग्यः।" स्पष्टतः भरद्वाजों का सम्बन्ध भारत से था और यदि छठें मण्डल को सबसे पुराना माना जाये तो भी इस मण्डल के रचनाकार गंगा के कछार से परिचित थे और उपमा के रूप में भी पणियों का और बृबु का यहाँ उल्लेख, यदि पणियों को एक क़बीले के रूप में लें तो, उनकी भौगोलिक स्थिति को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

पणियों की शिनाख्त के लिए ऋग्वेद में आये इनके विवरणों को भी पेश करते हुए हिल्लेब्रांट खींच-तान से काम लेते हैं। उदाहरण के लिए, प्रथम मण्डल में इनका उल्लेख नव बार, छठे में बारह बार और दसवें में पन्द्रह बार आया है। इसके विपरीत दूसरे और तीसरे मण्डल में पणि शब्द का प्रयोग केवल एक-एक बार, पाँचवें और नवें में केवल दो-दो बार, चौथे और सातवें में तीन-तीन बार हुआ है। हिल्लेब्रांट यह सिद्ध करने के लिए कि छठे मण्डल में पणि शब्द का प्रयोग किसी अन्य मण्डल की तुलना में अधिक बार हुआ है, दसवें मण्डल के एक पूरे सूक्त को अलग कर देते हैं। उसके अनुसार पणियों के साथ शत्रुता या विरोध दिवोदास तक रहती है और शेष परम्परा का पालन है। छठे मण्डल में पणियों के जो विवरण हैं वे अधिक ठोस हैं, बाकी अस्पष्ट और वायवीय हैं।[42]

जहाँ तक प्राचीनता का प्रश्न है, छठे मण्डल को ऋग्वेद में सबसे पुराना माना जा सकता है। पर यह कथन ठीक नहीं है कि इसमें आये शम्बर, पणिगण तथा अन्य विवरण ही ऐतिहासिक हैं। वास्तविकता यह है कि ऋग्वेद की रचना श्रुति-लब्ध वृत्तों को आधार बनाकर की गयी और इसका नाम 'श्रुति' पड़ने का यही कारण है। दूसरे शब्दों में कहें तो, वर्तमान की बड़ी-से-बड़ी घटना इन कवियों के

लिए विशेष महत्व नहीं रखती। वही घटना जब लोक, विश्रुत होकर एक लीजेंड या आख्यान का रूप ले लेती है तब वह इन कवियों के उपयोग की वस्तु बनती है।[43] देश-काल और पात्रों की बहुत धुँधली पहचान, अतिरंजित विवरण आदि का एक प्रधान कारण यही है। अतः यदि कहीं भी कोई ठोस जानकारी मिल जाती है तो इसे एक सुखद सुयोग ही कहा जा सकता है। छठे मण्डल में इस दृष्टि से जो ठोस सूचना मिलती है उनमें से एक है गंगा के कछार का उल्लेख और दूसरा है सरस्वती के सन्दर्भ में पणियों और दिवोदास का उल्लेख।

हिल्लेब्रांट के लिए मध्यदेश की सरस्वती को सरस्वती न मानने के दो कारण थे। एक तो उन जैसे कुछ दूसरे भी लोग थे जो यह देखकर कि सरस्वती आसमुद्र प्रवाहित होती थी यह सुझा रहे थे कि सिन्धु का ही पुराना नाम सरस्वती था, जिसका अन्तरण आर्यों के मध्य देश की ओर बढ़ने के साथ मध्यदेश की एक नदी पर हो गया जिसे वह अग्राह्य पाते हैं।[44] फिर वह मानते हैं कि एक ऐसी नदी जो सूख सकती थी वह बड़ी नदी नहीं रही हो सकती जब कि छठे मण्डल की सरस्वती एक विशाल और ओजस्वी नदी है, अतः वह इसे खींच-तान कर हरौती सिद्ध करना चाहते हैं। यदि उन्हें अपने समय तक इस नदी के सम्बन्ध में प्रकाशित विवरणों का भी ज्ञान नहीं था जिनसे इसकी सूखी हुई धारा से भी इसके एक ऐसी विशाल नदी रहे होने का पता चलता है जो समुद्र-पर्यन्त प्रवाहित होती थी[45] तो इसमें दोष किसका है? सातवें मण्डल की सरस्वती को वह मध्यदेश की सरस्वती मानते हैं। यदि इसी पर उन्होंने समुचित ध्यान दिया होता तो वह यह तो स्वीकार करते ही कि उनके पुराने छठे मण्डल के काल की मामूली और छोटी-सी रेगिस्तान में सूख जाने वाली मध्यदेश की सरस्वती इस बाद के सातवें मण्डल के काल तक समुद्र-पर्यन्त प्रवाहित होती थी। उन्हें इसे अर्कोसिया पहुँचाने की ज़हमत मोल न लेनी पड़ती।

दिवोदास और सुदास के साथ दास उपपद को देखकर उन्होंने, और उन्हीं के सहारे कुछ अन्य विद्वानों ने, इन्हें दास क़बीले का राजा सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया है वह भी तर्कसंगत नहीं है। यदि यह गण या क़बीले के नाम का द्योतक था जो व्यक्ति-नाम के साथ जुड़ता था तो दिवोदास का प्रधान नाम हुआ 'दिव' और सुदास का 'सु' जिनके साथ गण-नाम दास लगा हुआ है। दिवोदास के पिता वध्र्यश्व और सुदास के पिता पिजवन के नाम के साथ वह क़बीलाई नाम नहीं दिखायी देता। कहें, यह एकान्तर क्रम से जुड़ता चलता है। आखिर क्यों?

दास शब्द उस मूल से निकला है जिससे दंस, दस्म, दस्र आदि शब्द निकले हैं। सायण दास का अर्थ सामान्यतः उपक्षयिता करते हैं, पर अनेक स्थलों पर वह इसका अर्थ कर्महीन या अकर्म करते हैं जब कि दंस, दस्म, दस्र वाले वर्ग में कर्म वाले भाव को प्रधानता देते हैं। इसका मूल दम्, दस् मारना, काटना, तोड़ना रहा

है, पर वैदिक काल तक यह गढ़ना, बनाना, तोड़ना, काम करना आदि जैसे आशयों को भी विकसित हो चुका था और दास प्रवर्ग जैसे प्रयोग में[46] यह स्पष्ट है कि सेवक वर्ग के लिए भी दास शब्द का प्रयोग हो रहा था। हम यह सुझा आये हैं कि ऋग्वेद के राजा माने जाने वाले व्यक्तियों में अधिकांश मात्र व्यापारी रहे लगते हैं। दास उपपद सवर्णों में वैश्यों में अधिक लोकप्रिय रहा है जिनके घोषित आदर्श नम्रता, धर्मकातरता और दानशीलता आदि रहे हैं। अतः रामदास और धरमदास से लेकर चरनदास तक जैसे नाम पूरी वैश्य परम्परा में पाये जा सकते हैं और इसे दिवोदास—स्वर्ग का सेवक या देवताओं का सेवक, सुदास—अच्छा सेवक, में भी देखा जा सकता है। दास का मूल हिंसा, छेदन, खंडन, दमन वाला भाव अंग्रेजी के 'डैश' में आज तक सुरक्षित है। यदि अपने व्यापारिक प्रसार के दौरान किन्हीं क़बीलों को उपद्रवी पाकर इन व्यापारियों ने उनके लिए विशेषण के तौर पर इसका प्रयोग करना आरम्भ किया, जो ही इनका प्रसिद्ध नाम बन गया, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। नाम किसी को भी प्रायः दूसरों द्वारा दिये जाते हैं। हिन्द को हिन्द और यहाँ के निवासियों को हिन्दू यहाँ की भाषा को हिन्दी या इन्दी नाम भी बाहर वालों ने ही दिया था जो इस तरह चिपक कर रह गया है कि अपने मूल (सिन्धु) से इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया है।

अब हम पणियों और उनके उस खज़ाने पर विचार कर सकते हैं जिस पर वे पहरा देते हैं और जिसकी ओर पीटर्सबर्ग कोश, और बर्गेन आदि ने तथा परम्परागत व्याख्याकारों ने संकेत किया है, और मुख्यतः जिसके कारण ही इसके साथ कंजूसी वाला भाव जुड़ गया है।[47] कुछ स्थलों पर सायण ने पणि का अर्थ वल के अनुचर 'वलस्यानुचरा असुराः पणयः' किया है।[48] अन्यत्र प्रायः 'पणन्' खरीदना से पणि कंजूस और लोभी वणिक आशय लिया है। पणियों के असाधारण धनी होने की बात एकाधिक स्थलों पर की गयी है, पर यहाँ भी इनकी कृपणता का भाव बराबर बना हुआ है।[49] एक स्थल पर इन्हें दिन गिनने वाला सूदखोर 'अहर्दृश वेकनाट' कहा गया है।[50] तीन-चार स्थलों पर इनकी निष्ठुरता की या इनके न पसीजने की चर्चा है।[51] 'पण् वण्' का मूल अर्थ खरीदना नहीं 'अपितु तोड़ना' फोड़ना है, जिससे वितरण, व्यवहार और इस तरह पणन और विपणन का भाव विकसित हुआ है, अतः कुछ स्थलों पर जहाँ इनको ख़तरनाक और हिंसक बताया गया है, हिंसक वाला भाव भी काम कर सकता है। कुछ स्थलों पर पणियों की निधियों का उल्लेख है और दसवें मण्डल के प्रसिद्ध सरमा सूक्त में पणियों के विषय में जो जानकारी मिलती है उसके अनुसार उनका ठिकाना पश्चिम की ओर लम्बी दूरी पर रसा नाम की नदी के पार, "दूरे हि अध्वा जगुरिः पराचैः...रसायाः अतरः पयांसि" है।[52] उनकी निधि अद्रिबुध्न या पर्वतीय शिलाओं के नीचे छिपी हुई है जिसकी रखवाली में ही पणिगण तत्पर हैं, और इसे बैलों, घोड़ों और गधों पर

लादकर ले जाने योग्य बताया गया है, "अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नः गोभिः अश्वेभिः वसुभिः नि-ऋष्टः। रक्षन्ति ते पणयः ते सुगोपाः रेकुः पदं अलकं आ जगन्थ।"[53] एक स्थल पर पणियों की निधि को परम गुहा में निहित होने की बात की गयी है।[54]

यद्यपि मुक्त कराने के प्रतीकात्मक विवरणों में प्रायः गो शब्द का ही प्रयोग हुआ है, पर गो या बैल पर लाद कर लाये जाने वाले—गव्य—धन के अतिरिक्त अश्व्य या घोड़ों और गधों पर लाये जाने वाले धन की भी चर्चा आयी है।[55] एक स्थल पर "सूनरं वसु" या आसानी से ढोये जा सकने वाले धन की भी बात की गयी है।[56]

वल पर्वत विवर का सामान्य प्रतीक है जिसमें दर्रों से लेकर खानों की सुरंग और खनन स्थल के कोटरों तक को सम्मिलित किया जा सकता है। पर वल के इस खज़ाने पर पहरा देने वाले ये पणि कौन हैं? सरमा वाले सूक्त में इनको एक क़बीले के रूप में प्रस्तुत किया गया है और अन्य उपलब्ध ब्यौरों से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक खनन क्षेत्र के ऐसे स्थानीय कबीलों के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है जो अपने क्षेत्राधिकार के कारण अपने को उन पहाड़ों और अन्य स्थलों का स्वामी तो मानते थे, पर खनन कार्य में जिनकी स्वयं दिलचस्पी नहीं थी। उनका असाधारण धनी होना और फिर भी न तो स्वयं इस धन का उपयोग करना, न ही किसी को देना, इसी का द्योतक हो सकता है जिससे उनके लोभी, कंजूस, अकर्म, अव्रत, अयज्यू आदि होने की बात की गयी है।

इस तरह आरम्भ में जो शब्द सूदखोरों के लिए प्रयोग में आता था, सम्भवतः उसी का प्रयोग इन क़बीलों के लिए भी होने लगा। ऐसा लगता है कि वैदिक खननकर्मियों ने आरम्भ में उनको समझाने, फुसलाने और इस तरह उनके विरोध को कम करने की कोशिश की। यद्यपि उनका प्रतिरोध पूरी तरह कभी खत्म नहीं हुआ, पर सम्भवतः उनके नेताओं को कुछ हिस्सा या प्रतिलाभ मिलने लगा था और क्रमशः खननकर्मियों की गतिविधियों में तेज़ी आने के साथ ये उन क्षेत्रों पर हावी होते चले गये थे। सम्पर्क की इस सघनता के कारण ही इन क्षेत्रों के निवासियों का भाषा, रीति-नीति और विश्वास की दृष्टि से आर्यीकरण भी आरम्भ हुआ था और जहाँ इन्द्र की प्रशंसा में यह दावा किया जाता है कि उसने दस्युओं को आर्य बनाया[57] या जहाँ वैदिक कवि सारी दुतिया को आर्य बनाने या सारी दुनिया में आर्य-व्रत का प्रसार करने[58] के दावे करते हैं वहाँ इनका सम्बन्ध इस प्रकार के प्रभावों से ही हो सकता है जिसमें स्वतः स्फूर्तता के साथ ही साथ सक्रिय प्रयत्न का भी हाथ था।

पनियनों का मूल नाम पणि रहा हो सकता है। दहए का सम्बन्ध दस्, और दस्यु से हो सकता है और इस दृष्टि से इन दोनों का प्रयोग बलूचिस्तान, अफ़ग़ा-

निस्तान, मध्येशिया और ईरान के क्षेत्र में बसे या विचरणशील उपद्रवी क़बीलों के लिए होता रहा लगता है, पर मूलतः ये शब्द उनके अपने क़बीलों के नाम न होकर आर्य व्यापारियों द्वारा उनके लिए प्रयुक्त भर्त्सना के शब्द थे जो क्रमशः क़बीले की संज्ञा बन गये होंगे। आधुनिक काल में 'निगर', 'रेड इंडियन' आदि शब्द इस दृष्टि से रोचक हैं। आपका किसी अन्य को दिया हुआ नाम उनके द्वारा भी कहाँ तक स्वीकृति पा सकता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस क्षेत्र में और इससे बाहर की दुनिया में आपका प्रभाव-मण्डल कितना बड़ा और प्रखर है। जो लोग या क़बीले आर्यों के सम्पर्क के कारण अपनी जीवन-पद्धति में अपेक्षित सुधार करते जा रहे थे वे वैदिक मूल-भूमि के निवासी न होते हुए और उनके समकक्ष समादर न पाते हुए भी वैदिक आचार-पद्धति को या वैदिक व्रत को अपनाने के कारण अपने ढंग से आर्य और भारतीयों की दृष्टि में व्रात्य थे —आर्यों के निकटस्थ पर वैदिक समाज और वर्ण-व्यवस्था से बाहर[59] और जो इस समय भी उपद्रवी बने हुए थे उनको अवज्ञापूर्वक दस्यु ही कहा जा रहा था।

पर यह सोचना ठीक न होगा कि पणि और दस्यु शब्द का प्रयोग केवल भारत से बाहर के उपद्रवकारियों और क़बीलों या व्यक्तियों तक के लिए ही सुरक्षित था। इसका प्रयोग निश्चय ही पहले से इन लक्षणों वाले व्यक्तियों के लिए हो रहा था और बाद में भी होता रहा।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. यवं वृकेण मरुतः वपन्ति। ऋ. 1.117.21; कीनाशः आसन् मरुतः सुदानवः। तैसं. 2.4.8.7. इन्हें भूमि का पुत्र या 'पृश्निमातरः' कहा गया है। ऋ. 1.23.10; 85.2, आदि।
2. मरुतो ह वै देवविशो...। कौब्रा. 7.8; आहुतादो वै देवानां मरुतो विट्। शतब्रा. 4.5.2.16
3. चन्द्रं, रुक्मं, अयः, हिरण्यं, पेशः, कृशनं, लोहं, कनकं, कांचनं, भर्म, अमृतं, मरुत्, दत्रं, जातरूपं इति हिरण्यस्य। नि. 1.2.
4. अश्वाः इव इत् अरुषासः सबन्धवः शूराः इव प्र-युधः प्र उत युयुधुः।...ते अज्येष्ठाः अकनिष्ठासः उद्भिदः अमध्यमासः महसा वि ववृधुः। ऋ. 5.59.5 व 6, आदि।

5. देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय, लोकायत, 1959,148 और आगे।
6. नि. 3.18. ऋ. 1.40.2 में सायण मरुत् का 'अर्थ धनार्थी मर्त्यं' (मनुष्य) करते हैं।
7. ऋ. 1.23.8; 2.41.15; 4.54.5; 6.51.15, आदि। जिस तरह मरुतों के लिए पर्याय रूप में इन्द्रज्येष्ठ आया है उसी तरह इन्द्र का एक पर्याय मरुत्वान् या मरुतों से युक्त है, ऋ. 1.23.7; 100.1-15; 101.1-7, आदि।
8. 5.53.4; 55.6; 60.4, आदि।
9. 5.53.4; 57.2; 8.20.4, आदि।
10. 1.168.5; 5.52.13, आदि।
11. 1.64.11; 166.10; 168.8, आदि।
12. 1.166.12
13. 1.137.2
14. 1.168.3
15. जिहीत पर्वतः गिरिः। ऋ. 1.37.7; गिरीन् अचुच्यवीतन। ऋ. 1.37.12; तुवि द्युम्नासः धनयन्ते अद्रिम्। ऋ. 1.88.3; वाजे अद्रिं मरुतः रन्धयन्तः। ऋ. 1.85.5; येषां अज्मेषु पृथिवी जुजुर्वां इव विश्पतिः। भिया यामेषु रेजते॥ ऋ. 1.37.8; उत पव्या रथानां अद्रिं भिन्दन्ति ओजसा। ऋ. 5.52.9, आदि।
16. आपथ्यः विपथयः अन्तःपथा अनुपथाः।
एतेभिः मह्यं नामभिः यज्ञं विस्तार ओहते॥ ऋ. 5.52.10;
हिरण्येभिः पविभिः पयोवृधः उत् जिघ्नते आपथ्यः न पर्वतान्।
ऋ. 1.64.11
17. मैकडनेल, वैदिक माइथॉलॉजी, 1980,159-60
18. देखें, पीछे पृ. 148
19. ए. नासिर, 'दि लापिस लाजुली इन अफ़ग़ानिस्तान', अफ़ग़ानिस्तान, 17,4, 1962, 48-56; 'दि हिस्ट्री ऑफ़ लापिस लाजुली इन अफ़ग़ानिस्तान', वही, 1963, 18,1,51-56; 18,2,23-28
20. वही, 55-56
21. ऋ. 1.71.3
22. त्वं वलस्य गोमतः अप अवः अद्रिवः बिलम्। ऋ. 1.11.5
23. याभिः अंगिरः मनसा नि-रण्यथः अग्रं गच्छथः विवरे गो-अर्णसम्।
ऋ. 1.112.18
24. अविन्दत् दिवः निहितं गुहा निधिं वेः न गर्भं परिवीतं अश्मनि अनन्ते अन्तः अश्मनि। व्रजं वज्री गवां इव सिसासन अंगिरःतमः अप अवृणोत् इषः इन्द्रः

परिवृताः द्वारः इषः परिवृताः ॥ ऋ. 1.139.3, आदि ।

25. मा ज्योतिषः प्रवसथानि गन्म । ऋ. 2.28.7 निः ज्योतिषा तमसः गा अदुक्षत् । ऋ. 1.33.10; उत् वयं तमसः परि ज्योतिः पश्यन्तः उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यं अगन्म ज्योतिः उत्तमम् ॥ ऋ. 1.50.10; गूहत गुह्यं तमः वि यात विश्वं अत्रिणम् । ज्योतिः कर्त्ता यत् उश्मसि । ऋ. 1.36.10; अभि जैत्रीः असचन्त स्पृधानं महि ज्योतिः तमसः निः अजानन् ।...पतिः गवां अभवत् एकः इन्द्रः ॥ ऋ. 3.31.4; ज्योतिः वृणीत तमसः वि-जानन् । ऋ. 3.39.7; ज्योक पश्यात् सूर्यं उच्चरन्तम् । ऋ. 4.25.4

26. 'असतो मां सद्गमय । तमसो मां ज्योतिर्गमय । मृत्योः मां अमृतं गमयेत ।' की मूल भावना ऋग्वेद में सर्वत्र व्याप्त पायी जायेगी । पर इसके आध्यात्मिक पक्ष को उजागर करते समय इस बात का ध्यान रखना होगा कि इसके ठोस भौतिक कारण थे । यहाँ तक कि 'जीवेम शरदः शतम्...' जैसी कामनाओं में 'शरद' के प्रयोग का भी एक बहुत सार्थक कारण है जिसे प्रायः उल्टे अर्थ में लिया जाता रहा है । कुछ अध्येता यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं कि मूलतः आर्य किसी अधिक शीत-प्रधान क्षेत्र के निवासी थे जहाँ जाड़े में मृत्यु अधिक होती थी, अतः इससे बचने की कामना यहाँ व्यक्त की गयी है । 'पश्येम शरदः शतम्' की उत्कट कामना ही इस बात का प्रमाण है कि यह काल उनके लिए किन्हीं कारणों से हर्ष और उल्लास का था । इसके विपरीत यह मत भी कि शरद में वसन्त होता था और इसलिए यह हर्षोल्लास का काल था उतना ही ग़लत है । कारण, शरद के साथ ही 'हिमाः' (ऋ. 1.64.15; 2.32.2; 5.54.15;6.48.8)का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि यहाँ प्रयोजन शीत-काल से ही है । अन्यथा भी यदि ऋतु-चक्र में कोई बदलाव हज़ारों वर्षों के दौरान आया भी है तो यह क्रमशः ही हुआ है, अतः ऋतुओं का नाम बदलने का कोई कारण नहीं दिखायी देता । इस तथ्य को पश्चिमोत्तर के क्षेत्र में वैदिक-कालीन भारतीय व्यापारियों की गतिविधियों को सामने रखकर ही समझा जा सकता है । ये व्यापारी और खनिकर्मी आदि मधुमास के साथ या फाल्गुनी पूर्णिमा के बाद प्रस्थान करते थे । सम्भवतः इसीलिए इस तिथि को सोम याग किया जाता था और सोमलाभ और सोमपान का सम्बन्ध व्यापारिक लाभ आदि से है । इस फाल्गुनी पूर्णिमा को वार्त्रघ्नी पूर्णिमा या वृत्र या पथ-रोधक शत्रुओं का संहार करने वाली पूर्णिमा(शतब्रा. 1.6.4.12, 20)कहा गया है । गर्मी और बरसात के दिनों में ही इस क्षेत्र में आराम से काम किया जा सकता था; कारण, यहाँ वर्षा नगण्य होती है और जो होती है वह भी जाड़े में । जाड़े के दिनों में तो समीपवर्ती क्षेत्रों में बलूची और अफ़ग़ानी भी पाकिस्तान के मैदानी भाग में आ जाते हैं । अतः जाड़ा आने से पहले वे यात्रा से वापस आ जाते थे

और दीपावली का भारतीय पर्व सम्भवतः उनके आगमन का उत्सव था, जिस पर सफल और लाभाविन्त व्यापारियों की ओर से मुक्त दान आदि किया जाता था। शरदः शतम् में इन निकले हुए व्यापारियों की घर लौटने की और घरवालों की अपने स्वजनों के सकुशल लौटने की, और परिवार के साथ पूरे जाड़े-भर रहने की लालसा मूर्त, है न कि शरद से भय।

27. चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप, 1,1867, 77; देखें विंटरनित्ज, हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर, 1962, 1,59 भी।
28. वैदिक माइथॉलॉजी, 1980,1,178
29. वही, 170-72
30. देखें दि लाज ऑफ़ मनु, सैबुईसी. 25,10.88, जहाँ आफ़त पड़ने पर वणिक् वृत्ति अपनाने पर भी क्षत्रिय और ब्राह्मण के द्वारा बेची जाने वाली वर्जित वस्तुओं में सोम का भी नाम आया है।
31. पूर्व., 325.
32. हिल्लेब्रांट द्वारा उद्धृत, सेंटपीटर्सबर्ग कोश, व बर्गेन, वही, 333
33. वही।
34. वही, 345
35. वही, 349
36. वही, 350
37. वही, 351
38. वही।
39. वही, 352
40. वही।
41. वही, 347 और आगे।
42. वही, 334
43. यह प्रवृत्ति भारतीय साहित्य में बाद तक बनी रही, जिसमें यह माना जाता था कि रस-संचार के लिए नाटक और महाकाव्य आदि के पात्रोंऔर घटनाओं का 'ख्यात' या लोक-प्रसिद्ध होना आवश्यक है। अतः इनमें भी अपने समकालीन प्रसंगों को न लेकर पुरानी और कृति के रचनाकाल तक लोक-विश्रुत घटनाओं और चरित्रों को ही चुना जाता रहा। अन्य देशों में भी प्राचीनकालों में स्थिति भिन्न नहीं थी।
44. पूर्व., 342
45. ऋ. 7.95.2.
46. उषः तं अश्यां यशसं सुवीरं दास-प्रवर्गं रयिं अश्व-बुध्यम्। ऋ 1.92.8
47. वस्तुतः जिन प्रसंगों को पणियों द्वारा गायों का अपहरण करने का अनुमान

लगाया जाता रहा है उनमें भी यह अनुमान इस कारण लगाया जाता रहा है कि वे इन 'गायों' को दबा कर या अपने कब्जे में करके बैठे हुए हैं। उनके द्वारा आक्रमण या छीन-झपट का कोई सीधा हवाला ऋग्वेद में नहीं आता।

48. 6.33.2; 39.9; 10.57.6, आदि पर सायण भाष्य।

49. 1.33.3; 126.10; 151.9; 4.25.7

50. इन्द्रः विश्वान् बेकनाटान् अहः-दृशः उत् क्रत्वा पणीन् अभि। ऋ. 8.66.10. सायण बेकनाटान पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि इसका अर्थ सूदखोर है, वह जो कर्जखोर को एक देकर इशारे से बताता है कि इसके बदले मुझे दो चाहिए,"अनेन कुसी दिनो वृद्धिजीविनो वार्धुषिका उच्यन्ते।...एकं कीर्षापणं ऋणिकाय प्रयच्छन द्वौ मह्यं दातव्यं...नयेन दर्शयन्ति ततो द्विशब्देन एकशब्देन नाटयन्तीति बेकनाटाः।

51. रोचक बात यह है कि जहाँ भी उनकी इस कठोरता का वर्णन आया है, सायण ने उनको या तो लोभी बनिया कहा है या स्पष्टतः सूदखोर। लोभी बनिये का आशय भी उनकी दृष्टि से सूदखोर ही है। ऋ. 6.53.5-8 में पणियों के हृदय को नरम बनाने का अनुरोध पूषा से किया गया है और इन चारों ऋचाओं में वह 'वणिजां लुब्धानां' अर्थ करते हैं। इससे पूर्व ऋ. 5.53.3 में "पणेः नित् वि म्रद मनः' का 'वणिजः अपि वार्धुषिकस्य अपि हृदयं दानार्थं मृदु कुरु।" अर्थ करते हैं। ऋ. 7.6.3 में 'नि अक्रतून् ग्रथिनः मृधवाचः पणीन् अश्रद्धान् अवृधान् अयज्ञान्' में भी सायण ने पणि का अर्थ वार्धुषिक ही किया है। ऋ. 6.51.14 में उनकी तुलना भेड़िये से की गयी है, "जहि नि अत्रिणं पणिं वृकः हि सः।"

52. 10.108.1

53. अयं निधिः सरमे अद्रि-बुध्नः गोभिः अश्वेभिः वसुभिः नि-ऋष्टः। ऋ. 10.108.7. अद्रिबुध्न का अर्थ सायण करते हैं, "अद्रिः बन्धको यस्य तादृशः।"

54. निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्। ऋ. 2.24.6

55. सामान्यतः जहाँ अश्व्य और गव्य धनों का उल्लेख आया है, सायण ने इसका अर्थ 'गो सम्बन्धीनि या अश्व सम्बन्धीनि धनानि' किया है और इसे ही सामान्यतः अनुवादकों ने स्वीकार किया है जो पशुचारी समाज की कल्पना को चोट नहीं पहुँचाता। पर हम गव्य और अश्व्य का अर्थ बैल, घोड़े और गधे पर लादकर ले जाया जाने वाला या प्रचुर धन अधिक उपयुक्त समझते हैं। वस्तुतः इनके साथ प्रायः प्रचुरता के संकेत भी देखे जा सकते हैं, यथा, "आ अग्ने स्थूरं रयिं पृथुं गोमन्तं अश्विनम्।" ऋ. 10.156.3

56. 5.34.7

57. 9.63.5
58. 10.65.11
59. व्रात्यों की शिनाख्त वैदिक अध्येताओं के लिए एक टेढ़ी समस्या बनी रही है जिस पर बहुत कुछ लिखा गया है और तरह-तरह के सुझाव रखे गये हैं। वेबर, बोटलिंक, त्सिमर, ब्लूमफ़ील्ड, हाप्किन्स, हिल्लेब्रांट, कार्पेंटियर, कीथ, विंटरनित्ज़, राजाराम रामकृष्ण भागवत, आर. पी. चन्द, के. चट्टोपाध्याय, एन. एन. घोष, बी. एल. मुखर्जी, डी. आर. भंडारकर, ए. पी. करमारकर, आर. जी. ओझा, ए. सी. बनर्जी आदि ने इस पर विचार करते हुए जिन संभावनाओं की ओर संकेत किया है उनके परस्पर असंगत पहलुओं को दूर करना चाहें तो उक्त निष्कर्ष पर ही पहुँचा जा सकता है। यह स्मरण अवश्य रखना होगा कि इसमें केवल भारत से बाहर के ही अवैदिक क्षेत्र और इसके निवासी नहीं आते और कालक्रम से इनका अभिज्ञान बदलता भी रहा है।

अध्याय-सात

आवास और नगर

मोहनजोदड़ो के नगर-विन्यास पर अपने अध्याय की भूमिका मार्शल निम्न वाक्य से आरम्भ करते हैं, "कोई भी आदमी पहली बार मोहनजोदड़ो के बीच से गुज़रते हुए इस भ्रम का शिकार हो सकता है कि वह आज के लंकाशायर जैसे किसी औद्योगिक नगर के भग्नावशेषों से घिरा हुआ है।"[1] और वैदिककालीन नगर-जीवन की ऋग्वेद के आधार पर कल्पना करते हुए उसके अनुवादक विल्सन लिखते हैं, "ऋग्वेद के सूक्तकारों के लिए, ज़ाहिर है, किंचित् शानदार भवनों वाले नगर विरल नहीं रहे होंगे।"[2] इन दोनों उक्तियों में जिनमें से एक हड़प्पा के भौतिक अवशेषों पर आधारित है और दूसरी ऋग्वेद के पाठ पर, कितना साम्य है, यह दुहराने की आवश्यकता नहीं। इसके बावजूद इस बात को बार-बार दुहराया जाता रहा है कि वैदिक आर्य नगर से अपरिचित ही नहीं रहे हैं, बल्कि उनकी ग्राम बस्तियाँ भी अस्थायी प्रकृति की रही हैं और वे जिन मकानों में रहते रहे हैं वे बाँस और फूस के झोपड़े रहे हो सकते हैं; यदि कहीं इन आवासों की विशालता की बात आती भी है तो यह विशालकाय झोंपड़ों की तसवीर हो सकती है जो इनके संयुक्त कुटुम्ब के लिए बनाये जाते रहे हो सकते हैं।

वैदिक आवासों के विषय में टिप्पणी करते हुए वैदिक इंडेक्स के लेखक लिखते हैं :

"गृह— वैदिक आर्यों के 'घर' के अर्थ में इस शब्द का एकवचन अथवा अपेक्षाकृत अधिकतर बहुवचन में प्रयोग किया गया है। 'दम्' अथवा 'दम' का भी यही आशय है, जब कि 'पस्त्या' और 'हर्म्य' विशेष रूप से घर और उसके आस-पास परिवार की अन्य सम्पत्ति के भी द्योतक हैं। केवल परिवार, जो बहुत बड़ा हो सकता था, के लोग ही घर में नहीं रहते थे, वरन् रात के समय मवेशी और भेड़ भी उसी में रहते थे। जैसा कि इनके बहुवचन के प्रयोग से व्यक्त होता है, इनमें अनेक कमरे होते थे, तथा इसे सुरक्षित रूप से बन्द भी किया जा सकता था। 'द्वार्', 'द्वार' का भी अकसर उल्लेख आता है और इसी से घर को दुरोण कहते थे।

प्रत्येक घर में हर समय अग्नि प्रज्ज्वलित रखी जाती थी।"[3]

वैदिक इंडेक्स के लेखकों का सबसे बड़ा संकट यह था कि वे ऋग्वैदिक काल में सभ्यता के इतने ऊँचे स्तर की कल्पना वहाँ भी नहीं कर सकते थे जहाँ इस विषय में धनात्मक साक्ष्य उपलब्ध थे। इतने प्राचीन काल में सुव्यवस्थित नगरों का अस्तित्व रहा हो सकता है, यह उनकी समझ से बाहर था। जहाँ-तहाँ वह इस दुविधा को प्रकट भी करते हैं।[4] अतः वैदिक नगरों और आवासों के विषय में भी उन्होंने बहुत बचते हुए तथ्यों को पेश कर दिया है और जहाँ अपनी ओर से कोई सामंजस्य बैठाने का प्रयत्न किया है वहाँ उनसे चूक हुई है। उदाहरण के लिए, वे मवेशियों को परिवार के सदस्यों के साथ रहने का जो प्रस्ताव करते हैं वह निराधार है। जिन ऋचाओं को उन्होंने इस विषय में उद्धृत किया है उनमें घोड़े और भेड़ का ज़िक्र तो आया है, पर इस अर्थ में नहीं कि इन्हें रिहायशी मकान में बाँधा जाता था।[5] इसी तरह वह विशाल भवनों के सन्दर्भ में यह कहते हैं कि ऋग्वैदिक काल का परिवार आकार में बहुत बड़ा होता था जब कि ऋग्वेद से इसकी कहीं पुष्टि नहीं होती। दादा, परदादा और चाचा-चाचियों से युक्त संयुक्त परिवार की कहीं चर्चा नहीं आती और स्वयं इन लेखकों के अनुसार भी "इस बात को व्यक्त करने के लिए कोई प्रमाण नही है कि बड़ा हो जाने पर पुत्र साधारणतया अपने पिता के साथ ही रहता था और उसकी पत्नी उसके पिता के परिवार की सदस्या हो जाती थी, अथवा वह अपना अलग घर बना लेता था।"[6] वे आगे लिखते हैं, "हमें यह भी ज्ञात नहीं कि विवाह के बाद, अथवा अन्यथा, पुत्र को भूमि का एक विशेष अंश दे दिया जाता था, या वह केवल पिता की मृत्यु के उपरान्त ही ऐसी सम्पत्ति का अधिकारी होता था।...पिता के वृद्ध हो जाने पर या तो उसके पुत्र स्वयं ही उसकी सम्पत्ति विभाजित कर लेते थे, अथवा स्वयं पिता ही उसे पुत्रों में वितरित कर देता था, और यह भी कि जब श्वसुर वृद्ध हो जाता था तब उसे अपनी पुत्रवधू के नियन्त्रण में रहना पड़ता था।"[7] ऐसी स्थिति में लगता है, विशाल आवासों को देख कर ही धर्मसंकट के कारण तथ्यों के विपरीत तदनुरूप विशाल परिवारों की कल्पना कर ली गयी है।

विश्व-सृष्टि के प्रसंग में मैकडनेल लिखते हैं, "ऋग्वैदिक कवि विश्व की रचना की बात करते समय विविध ब्यौरे देते हुए भवन का रूपक खड़ा करते हैं। ऐमायश करने का हवाला बार-बार आता है। इस तरह इन्द्र ने छहों लोकों की माप की, धरती का विपुल विस्तार और आकाश का गुम्बद खड़ा किया, विष्णु ने पृथ्वी के प्रसार को मापा और अपने आवास को ऊर्ध्व विन्दु पर स्थापित किया। जिस मानदण्ड का कभी-कभी उल्लेख आता है, वह है सूर्य, जिससे वरुण ने यह काम किया था। पितरों ने दोनों भवनों को मापा और इन्हें विस्तृत बनाया। स्वाभाविक है कि माप आगे या पूर्व की ओर से आरम्भ होती है। इस तरह इन्द्र ने

उसी तरह माप की जैसे किसी मकान को आगे से मापते हैं। इसी से जुड़ा है धरती को फैलाने का विचार, जिसका श्रेय अग्नि, इन्द्र, मरुतों, आदि को दिया जाता है। चूंकि वैदिक आवास लकड़ी के बने होते थे, इसलिए निर्माण-सामग्री के रूप में एक-दो बार लकड़ी का उल्लेख आता है। कवि पूछता है, 'वह पेड़ कौन-सा था, वह लकड़ी कौन-सी थी, जिससे उन्होंने धरती और आकाश की रचना की ?' ...धरती और द्युलोक को प्रायः स्कम्भ या स्तम्भ पर टिका हुआ दिखाया गया है, पर आकाश को बिना बल्ली के टिका हुआ बताया गया है। आश्चर्य इस बात पर प्रकट किया गया है कि यह गिरता नहीं।...कभी-कभी नींव का भी ज़िक्र आता है।...जहाँ विशेष व्यावसायिक कौशल के ब्यौरों की ज़रूरत होती है वहाँ त्वष्टा या दक्षकर्मी ऋभुओं का उल्लेख आता है। इनके आशयों के बारे में कुछ नहीं कहा गया है, पर विष्णु के विषय में यह कहा गया है कि "जैसे आदमी अपने रहने के लिए मकान बनाता है वैसे ही उन्होंने लोकों को मापा और मनुष्यों के रहने के लिए उनका विस्तार किया।"[8]

इस विवरण को ध्यान से पढ़ने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि यह एक ऐसे समाज के कवियों का विवरण है जो न केवल विशाल भवनों से परिचित थे, अपितु उन्हें नगर-योजना का भी ज्ञान था और इस तरह का ज्ञान हड़प्पा के नगरों की समस्त पूर्वापेक्षाओं की पूर्ति करता है। पैमायश आदि के बाद मकान को बनाना; आवास को ऊँचे स्थान पर स्थापित करना, जो बाढ़ आदि के अन्देशों की छाया लिये हुए है, और जिसकी पुष्टि हड़प्पा के नगरों से होती है; धरती को फैलाने की कल्पना जो नयी बस्तियों को योजनाबद्ध रूप में बसाने की झलक देता है; पूरे आकाश को ही एक विशाल छत के रूप में कल्पित करना जो अपनी सीमा में बड़े मकान बनाने और बड़ी छतें डालने की क्षमता को प्रकट करता है; यह कल्पना कि इतनी बड़ी छत के लिए बहुत-से खम्भों का होना ज़रूरी है और आश्चर्य की बात यह कि यहाँ खम्भा एक भी नहीं है, जो हड़प्पा सभ्यता के सभागारों की याद दिलाता है जिनमें बहुत-से खम्भे खड़े करके अपने समय को देखते विशाल कक्ष तैयार किया गया था; इन निर्मितियों के साथ दक्ष पेशेवर कारीगरों का उल्लेख और केवल अपने ही लिए नहीं, अपितु मनुष्यों के लिए लोकों की माप जो बहुत बड़े समुदाय के लिए एक ही उपक्रम में नगर या बस्ती बसाने का या अपने नौकरों-चाकरों के लिए भी अपने भवन के पास आवास बनाने का आभास देता है; माप की दिशा का पूर्व से आरम्भ होना जो सम्भवतः सरस्वती के क्षेत्र में पूर्व से पश्चिम की ओर जाकर बस्तियाँ बसाने का स्मृतिशेष हो सकता है; अपने समग्र दबाव से हमें वैदिक आवासों और नगरों के विषय में गम्भीरता से विचार करने को बाध्य करता है।

लकड़ी का उल्लेख देख कर यह कल्पना कर लेना कि वैदिककालीन मकान केवल लकड़ी के ही बनते थे, उचित नहीं है। देखना यह चाहिए कि हड़प्पा के

मकानों में लकड़ी का कितना उपयोग होता था। मार्शल लिखते हैं, "इसके अलावा अग्निकाण्डों के साक्ष्य से जो मोहनजोदड़ो के अनेक मकानों को अपना ग्रास बना चुके थे, हम यह जानते हैं कि इनके ऊपरी ढाँचे में लकड़ी का खुल कर उपयोग किया गया होगा।"[9] और ऋग्वैदिक आवासों की कल्पना में भी लकड़ी का उल्लेख मुख्य रूप से ऊपरी ढाँचे के सन्दर्भ में ही आया है। अतः लकड़ी के प्रचुर उपयोग से दोनों की भिन्नता नहीं, अपितु अभिन्नता का ही पता चलता है। छत के पटाव के लिए कड़ियों के रूप में बाँस का ही उपयोग हड़प्पा सभ्यता में भी होता था, इस बात को लकड़ी की चिराई के लिए प्रयुक्त औजार की सीमाओं को सामने रखते हुए समझा जा सकता है।

1

आवास के पर्याय

ऋग्वेद में आवास के लिए जिन पर्यायों का प्रयोग हुआ है उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं: शर्म[10], धाम[11], क्षय[12], दम[13], गुहा[14], गृह[15], दुरोण[16], अस्त[17], सदन[18], सद्म[19], वरूथ[20], वास्तु[21], गय[22], दुर्य[23], छदि[24], छर्दि[25], वसति[26], हर्म्य[27], वेश्म[28], निवेश[29], भुवन[30], पस्त्या[31], नीड़[32], कृत्ति[33], शरण[34], अज्म[35], गर्त[36] और योनि[37]। इनमें से अनेक का प्रयोग अभेदक रूप में किया जाता रहा होगा। व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से विचार करने पर इनमें से अनेक का सही रूपाकार नहीं समझा जा सकता; कारण, आवास के लिए प्रयुक्त किसी भी भाषा के शब्दों में छाया, घेरा, रहने या ठहरने की जगह, निर्मित चीज आदि का सरल भाव ही मूल रूप में देखने में आता है। इनमें से कुछ का प्रयोग मामूली क़िस्म के आवासों के लिए ही होता रहा होगा। कोई भी समाज केवल धनिकों का समाज नहीं होता और धनी-ग़रीब सभी अपने मकान अपनी आर्थिक हैसियत के अनुसार ही बनाते हैं और पूरे समाज को ध्यान में रखें तो अच्छे मकानों की तुलना में घटिया क़िस्म के मकानों की हमेशा अधिकता रही है, कारण, एक व्यक्ति का धनी होना अनेक की निर्धनता पर ही निर्भर करता था जिनके संचित और अपहृत श्रम और उत्पाद ही उसकी समृद्धि में प्रकट होते थे। प्रश्न यह है कि क्या इनमें से कुछ मकान उस कोटि के भी रहे हो सकते हैं जिन्हें हम हड़प्पा के नगरों में देखते हैं?

ऋग्वैदिक आवासों के रूपाकार का निश्चय करने में आवास के लिए प्रयुक्त शब्दावली कुछ अन्य कारणों से भी हमारी सहायता नहीं करती। अनेक शब्द जो आवास के लिए प्रयुक्त हुए हैं, आवास के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिए, 'शर्म' का प्रयोग प्रायः सुख के लिए, 'धाम' का प्रायः प्रकाश,

स्थान, पद या कर्म के लिए और 'गय' का प्रयोग अनेक बार धन के लिए भी हुआ है। साथ ही ऋग्वैदिक कवि अपनी झक के अनुसार विभिन्न शब्दों का प्रयोग वाचिक और लाक्षणिक दोनों आशयों से करते हैं और इस तरह एक ही शब्द अपने पूर्वरूपों, रूपान्तरों, व्यंग्यार्थों आदि के साथ अपना रूढ़ अर्थ भी रखता है, जो शाब्दिक प्रयोगों पर कुछ सतर्कता से विचार करने की माँग करता है। पर इसके बावजूद हम एक सीमा तक यह अनुमान कर सकते हैं कि यदि शर्म आवास और सुख दोनों का वाचक है तो जहाँ इसका प्रयोग घर के लिए हुआ है वहाँ आशय आरामदेह मकानों से या अच्छे मकानों से हो सकता है, विशेषतः वहाँ जहाँ सन्दर्भों से इसकी पुष्टि होती लगे। इसी तरह धाम अच्छी तरह लिपे-पुते मकानों का भाव और गय सम्पन्न मकानों और, बहुत सम्भव है, अनाज आदि रखने के कोठारों का, या पशुओं आदि के लिए बने साधारण छाजनों में से किसी का सूचक हो सकता है। वैदिक आवासों के विषय में और इनमें भी अधिक भव्य आवासों के विषय में हमें अधिक सार्थक संकेत आवास-विषयक वैदिक कामनाओं में और इनकी निर्मिति के विषय में उपलब्ध क्षीण सूचनाओं में मिल सकते हैं।

2

पक्की ईंटों का प्रयोग

वैदिक जन अपने यज्ञकुण्ड की चिनाई भी ईंटों से करते थे। यह एक अकल्पनीय-सी बात है कि जो लोग यज्ञकुण्डों तक में ईंटों का प्रयोग करते थे वे इनका उपयोग मकानों या अन्य निर्मितियों – कुँआ, घाट आदि – में न करते रहे हों। ऋग्वेद में ईंटों के उल्लेख को देखकर कोसम्बी यह प्रस्ताव रखते हैं कि जिस ऋचा में यह प्रयोग आया है उसकी रचना मेसोपोटामिया में हुई हो सकती है; कारण, यायावर वैदिक आर्य भला ईंट से कैसे परिचित रहे हो सकते हैं?[38] यह इस बात का अच्छा प्रमाण है कि यायावरी और बर्बरता की छवि को बनाये रखने के लिए विद्वान किस सीमा तक जा सकते हैं। प्रश्न यह है कि मेसोपोटामिया से भारत आने वाले आर्य वहाँ से इस ऋचा को ही लेकर चले आये थे या ईंट पकाने की कला भी? साथ ही यह भी कि पकी ईंटों के आविष्कार और प्रयोग की दृष्टि से मेसोपोटामिया आगे पड़ता है या हड़प्पा? यदि कोसम्बी को इस बात का यक़ीन था कि यायावर जन ईंटों से अपने यज्ञ की वेदी बना सकते थे तो उन्हें कम-से-कम इतना तो मानना ही चाहिए था कि 'भारत में आये हुए' आर्य यायावर नहीं थे और मजबूत तथा स्थायी बस्तियाँ बसाकर रहते थे।

व्यापार और वाणिज्य के सन्दर्भ में विचार करते हुए हम यह संकेत कर आये

हैं कि अग्नि को अमरता का धाम और ऋत का धाम इसलिए कहा जाने लगा कि यह कच्ची मिट्टी के बर्तनों, ईंटों आदि को पकाकर अमर कर देते हैं।[39] धातुओं के निस्सार तत्त्वों को छाँटकर इनके सार तत्व को अलग कर देते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार ईंट का इष्टक नाम ही इसलिए पड़ा कि इसका जन्म इष्टि अर्थात् यज्ञ से हुआ। शतपथ ब्राह्मण में जिस रूपकीय शैली में इसे व्यक्त किया गया है वह इस प्रकार है :

"प्रजापति ने अग्नि के रूपों का ध्यान किया। वह उस कुमार की खोज करने लगा जो विभिन्न रूपों में प्रवेश कर गया था।...उसने विचार किया कि मैं उस रूप की खोज करूँ जिसे मैं जल पर प्लवित रहने देता हूँ। उनकी उसने खोज की और उसका जो अंश जल में प्रविद्ध हो गया था उस जल को उसने लिया और इसमें जो मिट्टी थी उसे भी एकत्र किया। जल और मिट्टी दोनों को लेकर उसने ईंट बनायी। अतः ईट में दो चीजें होती हैं, मिट्टी और पानी। उसने फिर विचार किया, यदि मैं इस तत्व को अपने भीतर स्थापित कर लूँ तो पाप से लिप्त होने के कारण मैं मर्त्य हो जाऊँगा। 'अच्छा, तो मैं इसे आग में पकाऊँगा।' ऐसा कहकर उसने इसे आग से पकाया और इस तरह इसे अमर बना दिया, क्योंकि अग्नि में पककर हवि अमृत हो जाती है। इसलिए ईंटों को आग में पकाते हैं और उन्हें अमर बनाते हैं।"[40]

इस तरह वैदिक परम्परा के अनुसार ईंट और, सम्भव है, बर्तन पकाने की युक्ति की भी खोज यज्ञ के माध्यम से ही हुई। शतपथ ब्राह्मण में ही उखा या यज्ञ-पात्र तथा विश्वज्योति इष्टक के निर्माण का एक हवाला आता है जिससे प्रकट होता है कि विश्वज्योति इष्टक के रूप में मिट्टी की पट्टियों पर देवताओं की प्रतिकृतियाँ बनायी जाती थीं और उन पर वाणी को मूर्त करने के लिए कुछ रेखांकन किया जाता था।[41] ऐसा लगता है कि आरम्भिक अवस्थाओं में देवताओं को कल्पित किया या मूर्त रूप में गढ़ा जाता था और यज्ञ भाग ग्रहण करने के लिए इन्हें सीधे यज्ञ-कुण्ड में ही डाल दिया जाता था। इन प्रतिमाओं के पकने और इस तरह अमर होने के अनुभव ने ही सम्भवतः इस विचार को जन्म दिया कि विशेष आकार में मिट्टी को ढालकर इससे पक्के बर्तन और ईंट बनायी जा सकती है। दूसरे शब्दों में कहें तो, वैदिक आर्यों के पूर्वजों ने स्वयं अपने अनुभव से ईंटों का आविष्कार किया था और यह बात भी उन्हें हड़प्पा सभ्यता का जनक और निर्माता सिद्ध करती है।

3
आवास की कामना

वैदिक जन केवल अपने यज्ञ, कुण्डों में ही पक्की ईंटों का प्रयोग नहीं करते थे—अधिक सम्भावना तो यह है कि वे सामान्यतः इनमें कच्ची ईंटों का ही प्रयोग करते रहे हों—अपितु अपने मकानों में भी पक्की ईंटों का प्रयोग करते थे। एक स्थल पर यह अनुरोध किया गया है कि 'हे वरुण, मुझे मिट्टी के घर में न जाना (रहना) पड़े। हे सुक्षत्र, मुझसे प्रसन्न होओ।'[42] यह उल्लेख निषेधपरक है, पर यदि मिट्टी के या कच्चे मकान की कामना नहीं की गयी है तो ज़ाहिर है कि यह कामना झोपड़े की नहीं, अपितु पक्के मकान की ही हो सकती है। एक अन्य स्थल पर पुष्करिणीयुक्त, देवोपम मनोहर और परिष्कृत भवन का उल्लेख आया है।[43] ये दोनों हवाले वैदिक आवासों के विषय में प्रचलित भ्रान्तियों और हड़प्पा से इनकी भिन्नता को समाप्त कर देते हैं और अन्य विवरणों पर कुछ अधिक आश्वस्त होकर विचार करने की छूट देते हैं।

ऋग्वेद में जहाँ आम या आमा शब्द आया है, सायण ने सामान्यतः इसका अर्थ कच्चा या अपक्वा किया है।[44] 'अम्' का मूल अर्थ जल (तु. अम्बु, आम्र, अमृत, आदि) है, पर अपने आर्थी विकास में अनेक शब्द अपने विपरीतार्थी रूप में भी प्रयोग में आते दिखायी देते हैं। सम्भवतः मूलतः यह फ़र्क़ स्वराघात आदि के द्वारा व्यक्त किया जाता रहा होगा। इस तरह हम 'अम्' शब्द का प्रयोग मज़बूत के अर्थ में भी ऋग्वेद में पाते हैं और आमा या आँवा—ईंट पकाने की भट्टी, आमाशय—पक्वाशय आदि इसी की देन हैं। ऋग्वेद में प्रायः अमवत वरुथ का उल्लेख आता है।[45] सायण ने ऐसे स्थलों पर अमवत का अर्थ 'मज़बूत' या 'विस्तृत' ही किया है।[46] इसका यही आशय मोनियर विलियम्स भी ग्रहण करते हैं।[47] ज़ाहिर है, ऋग्वेद में अमवत वरुथ की कामना पक्के मकानों के लिए ही व्यक्त हुई है।[48] कोई अपनी ओर से कमज़ोर या कच्चे मकान में रहने की कामना करेगा भी क्यों?

ऋग्वेद में 'त्रिधातु शर्म' की कामना भी देखने में आती है। सायण ने इसका अर्थ 'वात-पित्त-कफ़ का शमन करने वाला सुख' किया है जो स्वयं सायण को भी अटपटा लगता है, अतः वह इसकी दूसरी संगति 'पृथ्वी आदि तीन स्थानों पर अवस्थित आवास' मानते हैं।[49] पृथ्वी पर आवास की कल्पना तो ठीक है, पर कोई अपने जीते जी स्वर्ग में मकान की बात क्यों सोचेगा और अन्तरिक्ष में तो यह कल्पना और भी आयासकर प्रतीत होती है। अतः इसका एक ही विकल्प हो सकता है और वह है एकाधिक मंज़िलों वाले मकान या तीन तल्लों के मकान।

त्रिधातु शर्म के अतिरिक्त 'त्रिवरुथ शर्म'[50] का भी उल्लेख बार-बार आता है। वरूथ का शाब्दिक अर्थ है 'श्रेष्ठ आवास'।[51] सायण ने इसका अर्थ 'शीत-ताप-

वृष्टि-निवारक गृह' माना है[52], पर कहीं-कहीं वह इसे 'त्रिभूमिक' अर्थ में ग्रहण करते हैं।[53] प्रसंग और औचित्य को ध्यान में रखते हुए इसे तीन तल्लों का मकान मानना उचित लगता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वैदिककालीन आवासों में तीन तल्ले होते ही थे। इस बात की कुछ सम्भावना हो सकती है कि एक-आध मकान ऐसे भी रहे हों, पर महत्वपूर्ण बात यह है कि वे इन एकाधिक तल्लों वाले आवासों की बात अपने प्रसंग में कर रहे हैं। मार्शल ने मोहनजोदड़ो से एकाधिक तल्लों वाले भवनों का बहुत ब्यौरे से उल्लेख किया है।[54] महत्वपूर्ण बात यह है कि लकड़ी का प्रचुरता से उपयोग मकानों की छत बनाने के लिए ही नही किया जाता था, अपितु ऊपरी मंज़िल में लकड़ी का उपयोग अधिक उदारता से किया जाता था। मार्शल के अनुसार, "ऊपरी तल्ले के निर्माण में लकड़ी का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता था, यह मलबे में पाये गये प्रचुर कोयले से स्पष्ट है और साथ ही इस तथ्य से कि जिस अग्निकाण्ड ने इस मकान को नष्ट किया था वह इतनी भयानक थी कि इसके कारण दीवार का कुछ हिस्सा पिघल गया था।"[55] इस तरह हम देखते हैं कि ऋग्वेद में भवन निर्माण के सन्दर्भ में लकड़ी के उपयोग के जिस तथ्य से हड़प्पा के आवासों से इनके आवासों की अभिन्नता सिद्ध होती है उन्हीं क उपयोग स्वयं मार्शल ने भी दोनों के बीच भिन्नता प्रमाणित करने के लिए किया।[56]

आवास के विषय में जिन अन्य आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई है वह यह कि यह बड़ा हो[57], खुला लम्बा-चौड़ा या सप्रथ हो[58], अछिद्र हो[59], मज़बूत हो[60], आदि। राजाओं के निवास के सन्दर्भ में 'ध्रुव', 'उत्तम' और 'सहस्रस्थूण'[61] या हज़ार खम्भों वाले तथा प्रशासन और न्याय के लिए प्रायः याद किये जाने वाले वरुण के विशालतम और सहस्रद्वार[62] भवन का उल्लेख आता है जो हड़प्पा के आवासों से इतना साम्य रखता है कि इससे अधिक की आशा किसी कृति से, विशेषतः ऋग्वेद जैसी किसी कृति से, करना दुराग्रहपूर्ण होगा।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के मकानों की दीवारें पाँच से सात फुट तक मोटी बतायी जाती हैं। वीड़ु या मज़बूत और अछिद्र या ऐसे मकान जिनमें आसानी से सेंध आदि न लग सके, स्वस्तिमान या सायण के शब्दों में 'अविनाशयुक्त' भवन कहें या परम्परागत अमरावतियाँ कैसे मकानों से बनी रही हो सकती हैं, इसका सही मूल्यांकन इन भवनों को देख कर ही किया जा सकता है। मकानों की विशालता के विषय में मार्शल लिखते हैं, "उच्च वर्ग के औसत मकानों का पाठकों को यथासम्भव सुस्पष्ट बोध कराने के लिए, मैंने दो नमूने तिर्यक प्रक्षेपों में तैयार कराये हैं।...इनमें पहले (फलक चौथा और पैंतालीसवाँ ए) का सामने का हिस्सा 85 फुट और गहराई (लम्बाई) 97 फुट है। इसकी बाहरी दीवारें 4 से 5 फुट

तक मोटी हैं और इनमें बाहर की ओर हलका-सा फैलाव है।[63]...जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, मोहनजोदड़ो में ऐसे अनेक भवन हैं जो ऊपर वर्णित दोनों इमारतों से बहुत अधिक विशाल हैं। इस तरह उसी वी एस क्षेत्र (खण्ड ए) में एक विशाल इमारत सं. 27 है,...और एच. आर. क्षेत्र में, खण्ड बी, ब्लाक 2 में एक बहुत बड़ा मकान सं. 5 है। मध्यवर्ती काल में इसमें उन प्रांगणों और कक्षों के अतिरिक्त जिनको श्री साहनी ने इससे सम्बद्ध माना है, दूसरे अनेक प्रांगण और कक्ष रहे प्रतीत होते है।...एक तीसरी इमारत जिसकी योजना बहुत विशाल पैमाने पर बनायी गयी थी, इसी क्षेत्र में है जो मेरी दृष्टि में पूरे ब्लाक 4 को समेटे हुई थी और इसी में सं. 19-22 तक के अनुलग्न क्वार्टर भी शामिल रहे होंगे।"[64] मार्शल ने अपनी राय को सार रूप में रखते हुए यह कहा है कि मोहनजोदड़ो के समृद्ध वर्ग के आवास महलों जैसे प्रतीत होते हैं।[65] मैकडनेल और कीथ को गृह शब्द के बहुवचन में प्रायः आने वाले प्रयोगों को देखकर जो उलझन हो रही थी उसका समाधान मार्शल द्वारा वर्णित इन भवनों से हो जाता है, जिनमें एकाधिक प्रांगण हुआ करते थे और इनकी विशालता का रहस्य यह नहीं है कि ये वैदिककालीन विशाल परिवारों के रहने के लिए बने थे, न यह कि इनमें मवेशी और मनुष्य एक साथ रहते थे। पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हड़प्पा के नगरों के इन बहुखण्डीय भवनों में अपने वाहनों को टिकाने, गायों, घोड़ों आदि को बाँधने और सेवकों के निवास का प्रबन्ध भी—स्वामी के भवन के पास ही और उसी से सटे क्वार्टरों और प्रांगणों में—रहता रहा होगा। यह स्थिति तो नगरों की है, गाँवों में किसानों के पशुओं के लिए घर उनके मकान के पास ही बने रहते हैं, इस विषय में किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

ऊपर के सादृश्यों से यदि यह भ्रम पैदा हो कि ऋग्वेद में मोहनजोदड़ो या हड़प्पा के ही मकानों का वर्णन आया है तो यह अतिकथन-सा होगा, यद्यपि यदि ये ही इस काल के सबसे उन्नत नगर रहे हों तो इनके अनुरूप भवनों की कामना ग़लत भी नहीं हो सकती। यदि कामना ही करनी है तो जो कुछ देखा-जाना है उसमें से सर्वोत्तम की ही क्यों न की जाये! हड़प्पा के नगरों में कुछ तत्व सर्वनिष्ठ हैं और ये सम्भवतः परिपक्व हड़प्पा या, कहें, सैन्धव हड़प्पा की स्थापना से पहले ही विकसित हो चुके थे, अतः इनके इतने सटीक विवरण ऋग्वेद में पाकर चौंकने की जरूरत भी नहीं। अब हम इन सहस्रद्वार और बहुकक्षीय भवनों पर दृष्टिपात करने के बाद उस विशेष भवन पर दृष्टि डाल सकते हैं जिसे वरुण से सम्बन्धित माना जा सकता है और जिसे सहस्रस्थूण कहा गया है।

मार्शल लिखते हैं, "मोहनजोदड़ो के वास्तु-अवशेषों के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण को समाप्त करने से पहले दो अन्य इमारतों पर ग़ौर कर लेना होगा जो इस स्थल

के पश्चिमी हिस्से में हैं, अर्थात्, एल क्षेत्र के खण्ड सी के ब्लाक 4 का खम्भों वाला विलक्षण हाल और स्तूप के पश्चिम एस डी क्षेत्र में विशाल स्नानागार। इनमें से पहला जो 90 फुट वर्ग (अर्थात् 8100 वर्गफुट) का है...इसकी योजना मूल रूप में मध्यवर्ती काल में बनी थी।...इसकी छत ईंट के 20 खम्भों पर, जो पाँच-पाँच की चार क़तारों में थे, टिकी थी, और यह बहुत विशाल था।"[66]

इस भवन या हाल को दरबार के रूप में में देखा गया है[67] और इसका विस्तृत विवरण देने वाले मैकाय और स्वयं मार्शल भी पदक्रम आदि के अनुसार लोगों के बैठने के लिए आसन आदि से इसके सजे होने की कल्पना करते हैं।

यहाँ इस बात पर बल देना जरूरी है कि ऋग्वेद में सहस्रद्वार और सहस्रस्थूण भवनों को ही राजाओं या प्रशासकों के साथ सम्बन्धित किया गया है और इन्हें पाने का नहीं, बल्कि इन तक पहुँचने का ही उल्लेख आता है। शेष आवासों के विषय में यही कामना की गयी है कि ये हमें प्राप्त हों, या ऐसे बने रहें। इसके बावजूद कुछ लेखकों का ख़याल है कि ऋग्वेद में मकान की कामना नहीं व्यक्त की गयी है। ऐसी शंकाओं को लाजवाब रहने देना ही अच्छा है।

सुन्दर और सुनियोजित भवनों का वैदिक जीवन में क्या महत्व था, इसका एक अच्छा प्रमाण यह भी है कि इनके यहाँ वास्तु का एक अलग देवता कल्पित किया गया है जिसका नाम है वास्तोष्पति। वास्तोष्पति की स्तुति में बहुत अधिक मन्त्र नहीं आये हैं, पर जो थोड़े-से मन्त्र आये हैं वे आवास के विषय में वैदिकों के गहरे सरोकार को तो प्रकट करते ही हैं। इस देवता का सम्बन्ध केवल मकान के कल्याण से ही नहीं, अपितु इसके निर्माण से भी है। एक बार उसे त्वष्टा या निर्माता के रूप में स्मरण किया गया है।[68] हमें ऐसा लगता है कि यह स्थपतियों का अपना देवता था जिसकी प्रतिष्ठा वे अपने निर्मित मकानों के मुख्य द्वार पर इस आश्वासन के साथ कर देते थे कि जब तक इस देवता का सम्मान होता रहेगा मकान में अभाव और व्याधियों का प्रवेश नहीं होगा और सम्भवतः यही देवता आज भी परम्परागत मकानों में दरवाजे के दायीं ओर बने ताखे में पिण्डी के रूप में स्थापित रहता है जिसकी पूजा गृहप्रवेश और विवाह आदि के अवसर पर गृह-देवता के रूप में की जाती है।

एक स्थल पर वास्तोष्पति से घर के खम्भों को सुदृढ़ बनाये रखने का अनुरोध किया गया है।[69] अन्यत्र उन्हें विविध वास्तुकृतियों में प्रविष्ट रोग आदि का नाशक बताया गया है।[70] एक अन्य स्थल पर स्वयं वास्तोष्पति को देवताओं द्वारा गढ़कर तैयार करने की बात की गयी है।[71] सूक्त 7.54 जो वास्तोष्पति को ही सम्बोधित है, उनको रोग-नाशक, धन-धान्य बढ़ाने वाला और योग-क्षेम में सहायक बताता है।[72]

एक कल्पना जिसका आधार सम्भवतः अग्नि का गार्हस्पत्य रूप है, यह कर ली गयी है कि वैदिक आर्यों के प्रत्येक घर में एक अग्निकुण्ड हुआ करता था। मार्शल ऐसे कुण्डों के अभाव को भी यह सिद्ध करने का आधार बनाते हैं कि मोहनजोदड़ो के भवन वैदिक आर्यों से सम्बन्धित नहीं हो सकते। वस्तुतः गार्हस्पत्य अग्नि वह अग्नि है जिसे घर के भीतर रसोई आदि बनाने के लिए उपयोग में लाया जाता है। वैदिक यज्ञ घर के बाहर हुआ करते थे और यज्ञ के समय मन्थित आग के साथ गार्हस्पत्य आग भी मिलायी जाती थी। सम्भव है, मन्थन से आग पैदा करने के कष्टसाध्य प्रयत्न को देखते हुए, क्रमशः अरणि मन्थन मात्र एक औपचारिकता ही रह गयी हो और इस औपचारिकता को कुछ समय तक चलाने के बाद असल काम गार्हस्पत्य अग्नि से ही चलाया जाता रहा हो। परन्तु दिया-सलाई के चलन से पहले प्रत्येक घर में आग जला कर रखी जाती थी। इसका इससे अधिक आशय लेना ठीक नहीं है। कहीं जाते समय आग को साथ लेकर चलना जरूरी था, क्योंकि खाद्य-पदार्थ और जल की ही तरह आग भी उनकी आवश्यकताओं में आती थी, पर यह बात सुदूर अभियानों पर ही लागू होती थी। आग को साथ लेकर चलने की रीति क्या थी यह कहना कठिन है, पर सम्भव है वे झझरीदार पात्र जिन्हें इंसेंसबर्नर या धूपदानी कहा गया है, आग (अर्थात् उपले सुलगा कर इनमें रख कर) ले जाने के प्रयोग में आते रहे हों। यह सुझाव इसलिए रखा जा रहा है कि इनमें आग को रखकर टाँग कर ले जाना अधिक सुकर था और नीचे के छिद्रों के कारण निरन्तर ऑक्सीजन मिलती रहने से इनमें आग बुझने का भय नहीं रहता रहा होगा।

जो भी हो, न तोयज्ञ करना वैदिक नित्यकर्म में था, न ही प्रत्येक घर में हवन-कुण्ड हुआ करते थे। जो लोग अधिक धर्मपरायण थे वे भी नित्य कर्म में भजन और ध्यान को, सन्ध्या और वन्दन को ही निभाते प्रतीत होते हैं। एक स्थल पर ऋषियों की स्तुति और साधारण गृहस्थों (मनुष्यों) के यज्ञ को इन्द्र को वहन करने वाले रथ के दो घोड़ों के रूप में कल्पित किया गया है।[73] कहें, व्रतपरायण लोग भी नियमित रूप में स्तुति आदि ही करते थे और सामान्य मनुष्य विशेष अवसरों पर, विशेष कामनाओं की पूर्ति अथवा अनिष्टों और विघ्नों के निवारण के लिए यज्ञ का आयोजन करते थे जिनमें पुरोहित आदि का होना जरूरी था। वर्ष में कुछ विशेष अवसरों पर भी यज्ञ का आयोजन होता था। अतः यदि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के घरों में अग्निकुण्ड नहीं मिले तो चिन्ता की बात नहीं; हाँ, यदि उनमें रसोई ही न बनती रही हो और घर में आग ही न रखी जाती रही हो तो कुछ चिन्ता की बात अवश्य होगी, जिस विषय में मार्शल हमारी कोई सहायता नहीं करते।

4
नगर

भारत आज भी एक ग्राम-प्रधान देश है। प्राचीन काल की सभी सभ्यताओं के मेरुदण्ड उनके गाँव ही रहे हैं और हड़प्पा सभ्यता को भी हम ग्राम-प्रधान ही पाते हैं। प्रश्न यह है कि क्या वैदिक साहित्य में नगरों के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं ? गोपथ ब्राह्मण में प्राचीन काल में प्रचुर जल-सम्पदा वाली नदियों पर इन्द्र के नगर के बसे होने का ज़िक्र आता है जिसे असुरों ने घेर लिया था।[74] यह विवरण प्राचीन परम्परा पर ही आधारित हो सकता है। सृष्टि के प्रसंग में कहा जाता है कि जैसे मानदण्ड से माप कर मकान बनाया जाता है उसी तरह इन्द्र ने पहले पैमायश की और फिर नदियों को खोदा। नदियों के निर्माण के प्रसंग में पैमायश करने के बाद वज्र या यन्त्र से खुदाई करने की बात वे ही कर सकते थे, जो जल-निकास आदि के लिए सुनियोजित रूप में नालियों, नालों और नहरों का निर्माण करने का ज्ञान, कौशल और अनुभव रखते रहे हों।[75] ऋग्वेद में जिन विशाल भवनों के उल्लेख मिलते हैं वे भी नगरों में ही निर्मित हो सकते थे। सभागार की ओर रथ पर सवार होकर आने वाला अपने गाँव की बैठक में तो नहीं ही आ रहा होगा।[76] अरेणु या धूलरहित मार्गों की[77] कल्पना भी वे ही कर सकते थे जिनके अपने नगर की सड़कों की नियमित सफ़ाई और धुलाई होती रही हो। स्वल्पवृष्टि के बावजूद सिन्धु के नगरों में बनी परनालियाँ इस बात की सूचना देती हैं कि इसके पक्के मार्गों की धुलाई भी हुआ करती थी और धुलाई के लिए प्रयुक्त होने वाले मशक या दृति[78] को ऋग्वेद से ही समझा जा सकता है।

इसी तरह नागर-आचार, जिसकी झलक हड़प्पा के अवशेषों में सर्वत्र मिलती है, की दृष्टि से भी हम वैदिक परम्परा को ही अधिक आग्रहशील पाते हैं। स्वच्छता चाहे वह शरीर की हो या वस्त्रों की या परिवेश की; शील या शिष्टाचार —पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता और माता के प्रति, छात्र का गुरु के प्रति, शिक्षित और विद्वान व्यक्तियों का सामान्य जनों और सामान्य जनों का उनके प्रति, विभिन्न हैसियत के व्यक्तियों का एक-दूसरे के प्रति; नारी का पुरुष और पुरुष का नारी के प्रति क्या व्यवहार होना चाहिए, इनका आमना-सामना होने पर कैसे पेश आना चाहिए, कब और कैसे बोलना चाहिए, कहाँ बैठना चाहिए, खाद्य और पेय पदार्थों को किस तरह साफ़ रखना चाहिए और किन खाद्यों और पेयों से परहेज़ करना चाहिए, आदि के प्रतिबन्ध भी नागरिक व्यवस्था और अनुशासन की देन हैं, जिनके अभाव में हम किसी व्यक्ति को ग्राम्य, गँवार या प्राकृत जन कह दिया करते हैं। प्रातः स्नान का सम्बन्ध भी हड़प्पा और वैदिक नागर जीवन की ही देन है, जिसका सम्बन्ध शारीरिक श्रम से मुक्त 'भद्र जनों' से

है। मिट्टी-धूल में काम करने वाला काम करने के बाद नहाना पसन्द करेगा, न कि नहा कर मिट्टी-धूल में लिपटना।

5

नगर-योजना

यदि हड़प्पा की बस्तियों पर ध्यान दें तो इनसे दो बातें स्पष्ट हो कर सामने आती हैं : इनका निर्माण एक निश्चित योजना के अनुसार हुआ है और इनको वर्गाकार कल्पित किया गया है।[79] वर्ग वृत्त की तरह पूर्णता का प्रतीक है और इसकी रचना में भी मूलतः वृत्त का ही सहारा लिया गया है। अर्थात् वृत्त के व्यास के समानान्तर रेखाएँ खींच कर इसके सिरों को पुनः उसी युक्ति से मिलाकर वर्ग की रचना। वृत्त और वर्ग की इस पूर्णता का आग्रह वैदिक यज्ञ-विधान में भी बहुत स्पष्ट देखा जा सकता है। यज्ञकुण्ड और यज्ञ की वेदी की रचना में ईंटों का चयन वर्गाकृति में ही किया जाता था और आज भी इनको वर्गाकार ही बनाया जाता है। यज्ञकुण्ड को अग्नि के निवास के रूप में और वेदी को देव-समाज के आवास के रूप में कल्पित किया जाता है। यहाँ हड़प्पा की बस्तियों की योजना के पीछे काम करने वाली प्रेरणा को हम वैदिक साहित्य के सहारे ही समझ सकते हैं जो ब्राह्मणों में तो अपनी तार्किक परिणति पर पहुँची दिखायी देती है।

6

नगर-प्रशासन

हम वरुण के सन्दर्भ में इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि क्रमशः विकसित होते हुए यह देवता वैदिक काल तक दो व्यक्तियों में बँट चुका है। एक नौचालन के समय कप्तान का रूप और दूसरा उसका प्रशासनिक रूप। इस दूसरे पक्ष को ही मूल वरुण का सीधा विकास कह सकते हैं। वैदिक काल में वरुण को प्रायः राजा या सम्राट के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। वह व्यवस्था और न्याय के सर्वोच्च देवता हैं। हड़प्पा सभ्यता के नगरों की व्यवस्था को देखते हुए विद्वान इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि नगर-नियमों का कठोरता से पालन करने के लिए उस समय किसी संस्था का अस्तित्व रहा होगा।[80] ऋग्वेद में वरुण के विषय में जो सूचनाएँ मिलती हैं वे इस तरह की व्यवस्था को सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त मानी जा सकती हैं। केवल धरती का ही नहीं, समस्त सृष्टि का नियमित संचालन, सूर्य

चन्द्रमा, और नक्षत्रों की गति और नियमबद्धता—सब कुछ वरुण के शासन के अधीन है। उनका व्रत या विधान सर्वमान्य है। इनका कोई उल्लंघन नहीं हो सकता।[81] स्थापित मर्यादा का उल्लंघन करने वाले को प्राणदण्ड तक प्राप्त हो सकता है।[82] उनके पाश से मुक्ति नहीं है, या है तो उन्हीं की कृपा से।[83] वह उरुचक्षु या सब पर खुली नज़र रखने वाले हैं।[84] उनके चर अनिमिष भाव से अच्छे-बुरे कामों पर नज़र रखते हैं।[85] स्वयं वरुण लोगों के अच्छे-बुरे कर्मों का निरीक्षण करते चलते हैं।[86]

ऋण की अदायगी न कर पाना दण्डनीय है।[87] चोरी करना दण्डनीय है।[88] दूसरे की कमाई पर पलना या दूसरे की कमाई हड़पना पाप है।[89] झूठ बोलना अपराध है।[90] अभिचार करना या जादू-टोना करना अपराध है।[91] किसी स्त्री का विवाह से पूर्व सहवास करना वर्जित है।[92] हत्या, लूट आदि निश्चय ही दण्डनीय हैं। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में मानसिक या अकृत पापों या एनसों-आगसों का उल्लेख प्रायः आता है।[93] यह इस समाज की नैतिक चेतना को समझने के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है अपितु, इससे यह भी प्रकट होता है कि नियमों के कठोर परिपालन और प्रवर्तन के एक लम्बे क्रम के दौरान इन सामाजिक और नागरिक मूल्यों को जनचेतना का अंग बना दिया गया था। इसके अभाव में उस काल में इतने बड़े क्षेत्र में समान रूप से नियमितता और समस्त पुरवासियों और, संभवतः, ग्रामवासियों द्वारा नियम, व्यवस्था और स्वच्छता का परिपालन सम्भव नहीं था, जो हड़प्पा सभ्यता के पूरे प्रसार में देखने को मिलता है।[94]

7

भोगवादिता और दुर्व्यसन

नागरिक सभ्यता का अधिक मुखर रूप इस समाज की भोगवादिता में प्रकट होता है। धन और उत्तम भोगों के पीछे इसके पागलपन में इसका दर्शन होता है। वरुण के कठोर आग्रहों के बावजूद इस समाज में कम-से-कम एक वर्ग तो ऐसा है ही जो सारे बन्धनों को तोड़ कर अपने अतिरिक्त धन-संचय को शराब, जुआ और वेश्यागमन आदि पर लुटाता है।

द्यूत—वैदिक कालीन दुर्व्यसनों में से एक जुआ है, जिसके लिए सभागार या अड्डे बने प्रतीत होते हैं।[95] जुए का कुछ विस्तार के साथ उल्लेख केवल एक ही सूक्त में आया है, जिसे इतने प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है कि लगता है इसने वैदिक समाज में एक व्याधि का-सा रूप ले लिया था। यह मात्र संयोग नहीं है कि आज भी पूरे विश्व में जुए के अड्डे उन देशों में और उसी भयानक

रुग्णता के साथ देखने में आते हैं जिनमें आर्थिक विषमता बहुत अधिक है और इसके चलते एक वर्ग के मनोरंजन का साधन जुआ बन जाता है। रातोंरात सही-गलत किसी भी तरीके से अमीर बनने का स्वप्न इसे समाज के उन हिस्सों में भी उतार देता है जिनकी सामान्य हैसियत ऐसी नहीं होती कि वे इस दुर्व्यसन में पड़ें। वैदिक काल में जुए का चलन कितना अधिक था, इसे समझने के लिए इस सूक्त के कुछ अंशों पर दृष्टिपात करना अप्रासंगिक न होगा : यह पत्नी मेरी और मेरे बन्धुओं की विशेष सेवा-सुश्रूषा करती थी, किन्तु केवल पासे के कारण मैंने उस परम अनुरागिनी को खो दिया।[96] जो जुआरी जुआ खेलता है उसकी सास उसकी निन्दा करती है और उसकी पत्नी उसका साथ छोड़ देती है। जुआरी किसी से कुछ माँगता है तो उसे कोई कुछ नहीं देता। जैसे बूढ़े घोड़े को कोई नहीं ख़रीदता, उसी तरह जुआरी का कोई आदर नहीं करता।[97] पासे का आकर्षण बहुत कठिन है। यदि किसी के धन के प्रति उसकी लोभदृष्टि हो जाये तो पासे वाले की पत्नी व्यभिचारिणी हो जाती है। जुआरी के माता-पिता और सहोदर कहते हैं, हम इसे नहीं जानते। जुआरियो, इसे पकड़ कर ले जाओ।[98] जिस समय मैं इच्छा करता हूँ कि अब मैं जुआ नहीं खेलूँगा उस समय मैं पासे के पास से हट जाता हूँ। किन्तु नक्शे पर पीले अक्षों को चलते देख कर मुझसे ठहरा नहीं जाता। जैसे कुलटा स्त्री अपने यार के पास जाती है वैसे ही मैं जुए के अड्डे पर चला जाता हूँ।[99] कभी-कभी पासा बेहाथ हो जाता है—अंकुश के समान चुभता है, वाण के समान छेदता है, छुरे की तरह काटता है, तप्त वस्तु की तरह जलाता है। जो जुआरी जीतता है, उसके लिए पासा पुत्र-प्रसवा के समान सुख-दायी होता है, मधुरता से युक्त होता है, मानो मीठे स्वर में आलाप कर रहा हो, किन्तु हारे हुए जुआरी की तो जान ही चली जाती है।[100] कोई कितना भी प्रबल क्यों न हो, पासा किसी के काबू में नहीं आता। राजा तक पासे को नमस्कार करते हैं।[101] जुआरी की स्त्री दीन-हीन वेश में यातना भोगती है, बच्चे मारे-मारे फिरते हैं, माँ उसका चलन देख कर बिलखती है, कर्ज़ देने वाला सन्देह में रहता है कि उसका धन वापस मिलेगा भी या नहीं। जुआरी बेचारा दूसरों के घर रात काटता है।[102] जो जुआरी सुबह घोड़े पर सवार हो कर आता है, वही शाम को दरिद्र के समान जाड़े से बचने के लिए आग ताप रहा होता है। उसके शरीर के वस्त्र तक उतर जाते हैं।[103]

यह कहा जा सकता है कि यह सूक्त दसवें मण्डल में आया है जो नया है, पर इसके प्रचलन की पुष्टि प्राचीन मण्डलों से भी होती है।[104] उक्त सूक्त जैसा कोई उपदेशात्मक सूक्त भले ही पुराने मण्डलों में न मिले, जो उनकी प्रकृति और विषय-सीमा में भी नहीं आता, पर प्रासंगिक उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि यह इस

समाज की एक पुरानी व्याधि थी। यह हड़प्पा सभ्यता की भी एक प्रचलित बुराई दिखायी देती है।[105] वैदिक जुए का खेल शतरंज के खेल से मिलता-जुलता प्रतीत होता है और इसकी गोटियों को हड़प्पा के अवशेषों में पहचाना जा सकता है, जहाँ से एकाधिक प्रकार की गोटियाँ प्राप्त हुई हैं।[106] ऋग्वैदिक काल में जुए की गोटियों के लिए 'विभीतक' शब्द का व्यवहार देख कर यह भ्रम पैदा हो सकता है कि जुए में गोटों के स्थान पर हारीतकी की गुठली का प्रयोग होता था। परिष्कृत और मानकीकृत रूपों के लिए भी पुराने ग्राम, ग्रेन, भाष, कृष्णल आदि प्रयोग चलते आये हैं। हड़प्पा-काल के बाद फिर मौर्य-काल में ही गोटियों के दर्शन होते हैं।

स्वैराचार—अपेक्षा से अधिक लाभ और संग्रह अपने निकास के लिए जिस दूसरे रास्ते की तलाश करता है वह है स्वैराचार और वेश्यावृत्ति। जारवृत्ति वैदिक काल में इतने जोर पर दिखायी देती है कि मनुष्य ही नहीं, देवताओं को भी इसमें शामिल कर लिया जाता है।[107] देवताओं तक के प्रति किसी तरह की रियायत का न होना यह प्रकट करता है कि जुए की तरह ही यह बुराई भी एक वर्ग-विशेष में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी। इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद के कुछ अंश ऐसे हैं जिन्हें घोर अश्लील कहा जा सकता है।[108] अश्लीलता की खपत भी सम्भवतः आशातीत लाभ या धनसंचय के साथ गहरा सम्बन्ध रखती है, इसे हम आज के उदाहरणों से भी समझ सकते हैं।

नृत्य वैदिक जनों के मनोरंजनों में से एक है, पर यह नृत्य सामुदायिक उल्लास की अभिव्यक्ति नहीं है जिसमें सभी शामिल होते हैं। यहाँ नर्तकियों का एक पेशा है।[109] इन नर्तकियों का काम केवल नाचना ही नहीं है, वे इस पेशे के साथ जुड़े अन्य रूपों में भी अपने ग्राहकों का मनोरंजन करती प्रतीत होती हैं। बहुसूवरी,[110] विश्पत्नी[111], साधारणी[112], देवपत्नी[113], आदि विशेषणों का प्रयोग इनके लिए ऋग्वेद में देखने में आता है। उर्वशी की कथा तो ऋग्वेद की मार्मिक गाथाओं में से एक है ही।[114] वैदिक ऋषियों में भी कम-से-कम दो—वसिष्ठ और अगस्त्य अप्सराओं से उत्पन्न अज्ञात पितृत्व वाले देव-पुत्र हैं।

जुए की ही तरह वेश्यावृत्ति से भी घरों के तबाह होने और समृद्ध लोगों के रंक बनने की सूचना मिलती है।[115] अतः यह मानने का कोई कारण नहीं दीखता कि यौन आचरण में यह शिथिलता आदिम कबीलाई समाजों में स्त्रियों को प्राप्त छूट का द्योतक है। यह अवस्था वैदिक समाज के सुदूर अतीत के गर्भ में चली जा चुकी है। कबीलाई निर्बन्धता में स्वच्छन्द वरण का प्रश्न तो आता है, पर पैसे के लिए अपना शील बेचने का सवाल नहीं पैदा होता। यह एक प्रमुख बात है और नृशास्त्र में इसके प्रमाण भरे पड़े हैं। भावुकता और रागात्मकता से शून्य, केवल पैसे के

लिए अपने को समर्पित करने की वेश्याओं की प्रवृत्ति के कारण ही सम्भवतः स्त्रियों की उस निष्ठुरता और हृदयहीनता का मुहावरा चला है जो शृंगारिक कविताओं में आज तक चला आया है और जिसकी छाप ऋग्वेद में भी मिलती है; कारण, वेश्याएँ तब तक तो असाधारण स्नेह दिखाती हैं जब तक उन्हें सम्बन्धित व्यक्ति से उपहार और पुरस्कार मिलते रहते हैं, पर उनके कंगाल होते ही उसे पहचानती तक नहीं। यह मात्र संयोग नहीं है कि स्त्रियों की इस निष्ठुरता का उल्लेख स्वयं उर्वशी द्वारा किया जाता है, जो एक अप्सरा है।[116]

गणिका वृत्ति का सम्बन्ध भी नगरों से है, इसे नगरवधू, नागरी, कसबिन, आदि शब्दों में देखा जा सकता है। यदि वैदिक जन कबीले वाली स्थिति में होते तो इस प्रकार के प्रसंगों को कभी उठाया ही नहीं जा सकता था। गोंड, कोल, टोडा, इरुला आदि वनवासी जातियों के विषय में 19वीं शती की रचनाओं को उठाकर देखें तो यह स्पष्ट हो जायेगा।

मदिरा—जुए और गणिका-वृत्ति की ही तरह सुरापान का चलन भी वैदिक जनों में देखने में आता है। जुए और वेश्यावृत्ति को जिस तरह शहरी जीवन की बुराइयाँ माना जा सकता है, उसी तरह सुरापान को नहीं। सुरापान या किसी-न-किसी तरह के नशे का सेवन कबीलों में भी पाया जाता है। पर यहाँ हम इसके चलन को नहीं, अपितु इसके प्रति सामाजिक दृष्टिकोण को शहरी जीवन का प्रमाण मान सकते हैं। कबीलों में जहाँ मादक द्रव्यों का सेवन होता है, इसमें किसी तरह की बुराई नहीं मानी जाती। पर सभ्य समाज में नशे के कारण उत्पन्न होने वाली मानसिकता—उग्रता, कलह, अपराध की प्रवृत्ति आदि को शिष्ट लोगों के लिए निन्दनीय मानने के कारण, इसकी आलोचना की जाती है। वैदिक समाज में सुरा-पान का चलन तो है[117], पर इसकी निन्दा की जाती है। सामान्यतः सुरापान को ही अन्य बुराइयों की जड़ भी माना जाता है। ऋग्वेद में भी सुरापान के विषय में ठीक यही दृष्टिकोण देखने को मिलता है।[118]

हड़प्पा सभ्यता में मदिरापान का चलन किस सीमा तक था, यह कहना कठिन है, पर नृत्य आदि के प्रचलन के विषय में किसी को सन्देह नहीं है। वास्तविकता यह है कि यदि हड़प्पा की कांस्य नर्तकी को सिनीवाली के पूर्व-विवरण से मिलाकर देखें तो ही यह समझा जा सकता है कि ऋग्वैदिक विश्पत्नी के सुबाहु, सु-अंगुलि, सुषूमा और ब्राह्मणों की सुकपर्दा, सुकुरीरा[119] शिनीवाली का आशय क्या है।

प्रकारान्तर से कहें तो धनात्मक उपलब्धियों के मामले में ही नहीं, अपितु दोषों के मामले में भी वैदिक समाज हड़प्पा नगर सभ्यता से अद्भुत साम्य रखता है। इसकी ये सभी विशेषताएँ और दुर्गुण नगर सभ्यता, और उसके भी सम्पन्न और भोगवादी वर्ग, की विशेषताएँ और दुर्गुण हैं। ऋग्वेद के विषय में यह मत

प्राय: व्यक्त किया गया है कि इसमें आध्यात्मिकता का वह आग्रह नहीं मिलता जो उपनिषद्-काल में देखने को मिलता है।[120] यह समाज घोर भौतिकवादी है, जीवन के उल्लास और आनन्द को न केवल मुक्त रूप में स्वीकार करता और भोगता है, अपितु कुछ मामलों में इसकी यह प्रवृत्ति रुग्णता की सीमा तक पहुँच गयी है। इसके देवताओं में भी इस भोगवादिता ने वही उच्छृंखलता पैदा कर रखी है जो उसके अपने समाज में है। रीतिकालीन कवियों के कृष्ण की तरह वैदिक इन्द्र भी असाधारण रूप से रतिमय दिखायी देते हैं[121], इन्द्राणी की दर्पोक्ति तो किसी गणिका को ही शोभा दे सकती है।[122] उषा तक को अनेक बार एक वारांगना के रूप में दिखाया गया है।[124] पौराणिक इन्द्र को जिस तरह कामी के रूप में चित्रित किया जाता है और उनके सहयोगी के रूप में प्राय: चन्द्रमा (सोम) को ले लिया जाता है, वह कोई नयी बात नहीं। यह वैदिक भोगवादिता और विलासिता का खुमार है। इन्द्रलोक की कल्पना, अप्सराओं, यक्षों और किन्नरों से उनका घिरा रहना, दिन-रात विलासिता में लिप्त रहना, अपने प्रतिस्पर्धियों से आशंकित रहना और उन्हें तबाह करने के लिए शिष्ट और न्यायोचित तरीकों को छोड़ कर धूर्तता और छल तक उतर आना, ये सभी उस नगर सभ्यता और इसके सम्पन्न वर्ग की जीवन-पद्धति की छायाएँ हैं। जैसा हम कह आये हैं, इन्द्र की अमरावती को मोहन-जोदड़ो की ऊँचे नगर-प्राचीर से वेष्ठित बस्ती और इसकी सात फुट मोटी दीवारों वाली इमारतों को सामने रख कर ही समझा जा सकता है। साथ ही, इस नगरी का नाम 'अलका' नदी-तट पर बने नगर को सामने रख कर ही समझा जा सकता है। लंका का अर्थ है द्वीप या जल से चारों ओर से घिरा भूभाग और अलका का अर्थ हुआ जल के साथ स्थित, पर घिरा हुआ नहीं। यदि अलका का अर्थ अलंकृत नगरी या सुसज्जित नगरी करें, या अरंका या समृद्ध नगरी करें तो भी कोई कठिनाई नहीं होगी। है यह नगरी ही।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस वैली सिविलाइज़ेशन, 1931, 1, 15
2. विल्सन, ऋग्वेद, खण्ड 3, 1926 सं., भूमिका, पृ. 12
3. वैदिक इंडेक्स, 1, 255-56
4. देखें, 'पुर' पर टिप्पणी, वही, 614

5. देखें, ऋ. 7.56.16 और 10.106.5 पर सायण भाष्य, विल्सन और ग्रिफ़िथ आदि के अनुवाद भी। उदाहरण के लिए, 7.59.16 का अनुवाद ग्रिफ़िथ निम्न प्रकार करते हैं :

   The Maruts, flee as courser, while they deck them like youths, spectators of a festal meeting.

   Linger like beauteous colts about the dwelling like frisking calves, these who pour down the water.

   अब यदि मकान के आस-पास कुलाँचें भरते हुए बछड़ों का आशय इतनी दूर तक खींचा जा सकता है कि इसे मनुष्यों और मवेशियों के एक ही मकान में रहने का प्रमाण बनाया जा सके तो ऋग्वेद से कुछ भी सिद्ध करना असम्भव नहीं है।

6. वैदिक इंडेक्स, 1,600
7. वही।
8. मैकडनेल, वैदिक माइथॉलॉजी, 1981 सं., 11
9. मार्शल, पूर्व; 1931, 1, 15
10. 1.17.8; 46.15, आदि।
11. 7.61.4; 8.41.10, आदि।
12. 3.8.1; 5.12.6; 7.66.5, आदि।
13. 2.1.7; 8, आदि।
14. 2.4.9; 11.5; 3.1.9, आदि।
15. 1.22.4; 2.41.2; 4.49.3, आदि।
16. 1.69.2; 3.1.18; 4.2.7
17. 1.66.5; 3.53.4; 4.16.10, आदि।
18. 1.31.17; 3.30.9, आदि।
19. 3.55.14; 4.1.8, आदि।
20. 1.23.21; 2.34.14, आदि।
21. 1.54.6
22. 5.44.8; 7.18.13, आदि।
23. 1.51.14; 2.38.5, आदि।
24. 10.85.10
25. 4.53.1; 6.15.3, आदि।
26. 6.3.3; 10.97.5, आदि।
27. 5.32.5; 7.55.6, आदि।
28. 10.107.10; 146.3

29. 6.71.2; 7.19.5
30. 1.35.6
31. 1.25.10; 4.1.11, आदि।
32. 4.1.11; 12, आदि।
33. 8.90.6
34. 1.158.3; 2.3.8, आदि।
35. 1.37.8; 5.87.7, आदि।
36. 2.33.11; 5.62.5, आदि।
37. 3.29.10; 4.3.2, आदि।
38. 1.122.13. देखें, कोसम्बी, अर्ली स्टेजेज़ ऑफ़ कास्ट सिस्टम इन नार्दर्न इंडिया, जबंराएसो, 23, 1946, 35
39. शतब्रा. 6.2.1.1 व 8-9. देखें, 6.1.2.22 भी, जिसके अनुसार ईंट का नाम इसलिए इष्टक पड़ा कि यह यज्ञ से उत्पन्न हुआ, "तत् यत् इष्टात् समभवन् तस्मात् इष्टकाः, तस्मात् अग्निना इष्टकाः पचन्ति।"
40. शतब्रा. 6.5.3.1-3. इसके अतिरिक्त देखें, 6.2.3.2 भी जिसमें 'पशु इष्टक' या पशुओं की आकृतियों वाली लघु-पट्टियों के चयन का उल्लेख है। इन विवरणों को हड़प्पा की मुद्राओं को सामने रखे बिना समझा ही नहीं जा सकता।
41. मो सु वरुण मृत-मयं गृहं राजन् अहं गमम्। मृड़ सुक्षत्र मृड़य। ऋ. 7.89.1.
42. भोजस्य इदं पुष्करिणी इव वेश्म परिष्कृतं देवमाना इव चित्रम्। ऋ. 10.107.10
43. ऋ. 1.162.10; 2.35.6; 3.30.14; 4.3.9; 8.89.7, आदि।
44. शर्म नः यन्तं अमवत् वरूथम्। ऋ. 4.55.4
45. देखें, उपर्युक्त ऋचा पर सायण भाष्य।
46. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ. 80
47. आमा पुरों या नौकाओं के विषय में भी यही आशय लेना ठीक है या नहीं, कहना कठिन है।
48. 'वात-पित्त-श्लेष्म-धातु-त्रय-शमन विषयक' सायण।
49. 'पृथिव्यादिषु त्रिषु स्थानेषु अवस्थितान्', वही।
50. ऋ. 4.53.6.; 5.4.8; 6.26.7.; 8.18.21, आदि।
51. दवैको., 1975, 826.
52. वस्तुतः कोई भी घर इन अल्पतम आवश्यकताओं की पूर्ति अपने ढंग से

करता ही है चाहे वह आदि मानव की गुफा ही क्यों न हो, अतः इन गुणों से युक्त आवास की कामना का कोई विशेष महत्व नहीं है।

53. ऋ. 4.53.6 में पापियों या दुष्टों से रक्षा के लिए त्रिवरूथ शर्म की कामना की गयी है, 'सः नः देवः सविता शर्म यच्छत अस्मे क्षयाय त्रि-वरूथं अंहसः।' ऋ. 6.46.9 में 'त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत' की याचना की गयी है यहाँ त्रि-धातु का अर्थ सायण 'त्रिभूमिकं' और 'स्वस्तिमत' का अर्थ 'अविनाशयुक्तं' करते हैं ; पर ऋ. 6.26.7 में वह 'त्रिवरूथ' का अर्थ 'त्रीणि वरूथानि आवरकाणि भुवनानि' ही करते हैं। जो भी हो, 'स्वस्तिमत' की उनकी व्याख्या 'अविनाशयुक्त' काफ़ी महत्वपूर्ण है।

54. मार्शल, पूर्व; 1931, 1, 16-17

55. वही, 19

56. वही, 110-11

57. 'अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्तन।' ऋ. 5.55.9; 'विशे जनाय महि शर्म यच्छतम्'। ऋ. 1.93.8

58. 'वृंजे देवव्यचःतमं इन्द्राय शर्म सप्रथः।' ऋ. 1.142.5; 'छर्दिः यच्छ वीतहव्याय सप्रथः भरद्वाजाय सप्रथः।' ऋ. 6.15.3; देखें, 6.16.33; 7.82.10, आदि भी।

59. ऋ. 1.58.8; 2.3.8, आदि।

60. 'आत् अस्य आयुः ग्रभणवत् वीड़ु शर्म न सूनवे।' ऋ. 1.127.5

61. राजानौ अनभिद्रुहा ध्रुवे सदसि उत्तमे। सहस्र-स्थूण आसाते ॥ ऋ. 2.41.5

62. बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगम गृहं ते॥ ऋ. 7.88.5

63. मार्शल, पूर्व, 1931, 1,17.

64. वही, 22; देखें, ह्वीलर, दि इंडस सिविलाइजेशन, 1953, पृ.33 व 41, भी।

65. वही, 17

66. वही, 22

67. मैकाय, वही, अध्याय 11, 30; ह्वीलर, पूर्व, 34

68. अभि वः अर्चे पोष्यावतः नॄन् वास्तोः पतिं त्वष्टारं रराणः। ऋ. 5.41.8

69. वास्तोः पते ध्रुवा स्थूणा अंसत्रं सोम्यानाम्। ऋ. 8.17.14

70. अमीवहा वास्तोः पते विश्वा रूपाणि आविशन्। सखा सुशेवः एधि नः॥ ऋ. 7.55.1.

71. वास्तोः पते प्रति जानीहि अस्मान् सु-आवेशः अनमीवः भव नः।
यत् त्वा ईमहे प्रति तत् नः जुषस्व शं नः भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥

वास्तोः पते प्रतरणः न एधि गयस्फानः गोभिः अश्वेभिः इन्दो ।
अजरासः ते सख्ये स्याम पिता इव पुत्रान् प्रति नः जुषस्व ।।
वास्तोः पते शग्मया सं-सदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या ।
पाहि क्षेमे उत् योगे वरं नः यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।। ऋ. 7.54

72. सम्भवतः आग रखकर ले जाने के लिए प्रयुक्त इस शतछिद्र पात्र का नाम 'वनी' था। देखें, सच्चिदानन्द मिश्र, 1984, 40-41

73. ऋषीणां च स्तुतीः उप यज्ञं च मानुषाणाम् । ऋ. 1.84.2

74. वसोः धाराणां ऐन्द्र नगरं तत असुराः परि अवारयन्त, ते देवाः भीताः आसन् क इमान् असुरान् अपहनिष्यति इति ।...गोपब्रा. 1.23

75. सद्म इव प्राचः वि-मिमाय मानैः वज्रेण खानि अतृणत् नदीनाम् ।
वृथा असृजत् पथिभिः दीर्घयाथैः सोमस्य ता मदे इन्द्रः चकार ।
ऋ. 2.15.3

76. अश्वी रथी सुरूपः इत् गोमान् इत् इन्द्र ते सखा ।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रः याति सभां उप ।। ऋ. 8.4.9

77. ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासः अरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।
तेभिः नः अद्य पथिभिः सुगेभिः रक्ष च नः अधि च ब्रूहि देव ।।
ऋ. 1.35.11

78. 1.191.10; 4.45.1; 3; 5.83.7; 7.89.2, आदि

79. देखें, जगतपति जोशी, 'हड़प्पा कल्चर : इमर्जेंस ऑफ़ ए न्यू पिक्चर'; 25-27 अक्तूबर, 1982, दि इंडियन आर्कियॉलॉजिकल सोसायटी और इंडियन सोसायटी ऑफ़ प्री हिस्टारिक ऐंड क्वार्टर्नरी स्टडीज़ के अवसर पर पढ़ा गया निबन्ध, साइक्लो. प्रति पृष्ठ 8, जिसमें लेखक ने 1500 : 1500, 900 : 900, 500 : 500, 400 : 400, 200 : 200 मीटर की शतरंज के बोर्ड की आकृति वाली बस्तियों का उल्लेख किया है। इन्हें शतरंज-बोर्ड की आकृति के स्थान पर यज्ञ-वेदी की आकृति की बस्तियाँ भी कहा जा सकता है।

आबादी के बढ़ने के साथ इस वर्गाकृति की रक्षा कैसे की जाती रही होगी, यह कहना कठिन है। पर भारतीय गाँवों में आज भी यह धारणा प्रचलित है कि नये मकान मूल बस्ती के उत्तर और पूर्व की ओर ही बनाये जाने चाहिए। यदि छोटे वर्ग को क्रमशः दो पार्श्वों की ओर इस तरह बढ़ाते हुए चलें तो आगे भी वर्गाकृति अप्रभावित ही रहेगी। इस मान्यता का पालन हड़प्पा-काल में कुछ अधिक नियमित और व्यवस्थित रूप में किया जाता रहा होगा।

80. बैशम, पूर्व., 27

81. 1.24.6; 10; 5.63.7; 69.4; 8.41.7; 10.36.3, आदि।
82. 1.24.11; 25.2; 2.28.5; 7.86.4, आदि।
83. 1.24.13; 25.21, आदि।
84. 1.25.5; 8.41.3, आदि।
85. 1.24.13; 7.67.5, आदि।
86. यासां राजा वरुणः याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्।
ऋ. 7.49.3
87. 2.27.4
88. 7.55.3
89. परा ऋणा सावीः अध मत्कृतानि मा अहं राजन् अन्यकृतेन भोजम्।
ऋ. 2.28.9
90. 1.23.22; 1.28.4; 105.2; 139.2, आदि।
91. 7,104.15; 16
92. 10.75.24
93. 1.179.5; 185.8; 2.27.14; 28.5; 4.3.5; 12.4; 5.3.7; 12; 85.7; 7.57.4; 86.4; 87.7; 93.7; 10.15.6, आदि।
94. ऋग्वेद में परिष्कृति, 3.28.2; 8.39.9; 9.43.3; 10.32.3; 135.7; सुकृत, 1.48.11; 117.2; 147.3; 3.31.12; 38.2; 60.3; 4.4.13; 13.1; 5.4.8; 7.35.12, आदि, के उल्लेख विविध प्रसंगों में आते हैं। ऋत का प्रयोग भी निरे सत्य के अर्थ में नहीं होता, अपितु इसमें व्यवस्था और सामाजिक दायित्व का भी एक भाव बना रहता है। ऋजुमार्ग का उल्लेख विहित आचार-पद्धति आदि के आशय को भी प्रकट करता है। ये सभी बातें इस का संकेत करती है कि सामुदायिक और नागरिक दायित्वों और नियमों के निर्वाह की चेतना बहुत व्यापक थी और व्यक्तिगत शुद्धता तथा अपने परिवेश की सफ़ाई पर विशेष ध्यान दिया जाता था। ब्राह्मणों आदि में साफ़ और सुन्दर वस्त्र पहनने के उल्लेख तो मिलते ही हैं (शतब्रा. 3.1.2.12), इस बात के भी विधान दिखायी देते हैं कि न तो मलिन वस्त्र पहनने वाले के साथ बात करनी चाहिए, न उसके साथ बैठना चाहिए। यह भेद परवर्ती काल में अस्पृश्यता को बल देता प्रतीत होता है और श्रमिकों—जो अपना वस्त्र सदा स्वच्छ नहीं रख सकते—तथा उपजीवी वर्गों के बीच फ़र्क का आधार बनता है। पर ऋग्वेद में भी सुवसन, सुरभि, सुपेश, सुवेश और परिवीत अर्थात् अच्छी तरह वेष्ठित होने (1.128.1; 3.8.4; 4.1.7; 3.2; 4.39.5; 6.51.

4;7.32.13), आदि पर विशेष बल यह ज़ाहिर करता है कि कपड़े-लत्ते की सफ़ाई का ध्यान ऋग्वैदिक काल में पूरा रखा जाता था। देखें, वैदिक इंडेक्स,2, 'वासस्'भी।

95. 10.34.1

96. न मा मिमेथ न जिहीड़े एषा शिवा सखिभ्यः उत मह्यं आसीत्।
अक्षस्य अहं एक-परस्य हेतोः अनव्रतां अप जायां अरोधम्॥
ऋ. 10.34.2

97. द्वेष्टि श्वश्रूः अप जाया रुणद्धि न नाथितः विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्य इव जरतः वस्न्यस्य न अहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥
ऋ. 10.34.3

98. अन्ये जायां परि मृशन्ति अस्य यस्य अगृधत् वेदने वाजी अक्षः।
पिता माता भ्रातरः एनं आहुः न जानीमः नयत बद्धं एतम्॥
ऋ. 10.34.4

99. यत आदीध्ये न दविषाणि एभिः परायद्भ्यः अव हीये सखिभ्यः।
नि उप्ताः च बभ्रवः वाचं अक्रत एमि इत् एषां निकृतं जारिणी इव॥
ऋ. 10.34.5

100. अक्षासः इत् अंकुशिनः नितोदिनः निकृत्वानः तपनाः तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णाः जयतः पुनः हनः मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा॥
ऋ. 10.34.7

101. उग्रस्य चित् मन्यवे न नमन्ते राजा चित् एभ्यः नमः इत् कृणोति।
ऋ. 10.34.8

102. जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः स्वित्।
ऋणवा बिभ्यत् धनं इच्छमानः अन्येषां अस्तं उप नक्तं एति॥
ऋ. 10.34.10

102. स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापं अन्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून् सः अग्नेः अन्ते वृषलः पपाद॥
ऋ. 10.34.11

104. देखें, ऋ. 2.29.5; 5.85.8; 7.86.6

105. डब्ल्यू. एन. ब्राउन, 'इंडियन गेम्स ऑफ़ पचीसी, चौपड़ ऐंड चौसर, ऐंटीक्विटी 6,3, 1964,32-35; शशिप्रभा अस्थाना, पूर्व., 1979,61, आदि।

106. देखें, वही। तुलना करें ऋ. 10.34. जिनमें इसकी 53 गोटों, इसकी गति और गोटों में राजा, सेनानी आदि के उल्लेख आये हैं।

107. 1.46.4; 66.4; 69.1; 5; 117.18; 134.3; 6.55.4; 5; 7.9.1;10; 76.3; 9.32.5; 38.4; 96.23; 101.14; 10.3.3; 11.6; 111.10; 162.5, आदि।

108. 10.86.6; 15-17; 95.5, आदि।

109. 1.92.4; 130.7; 5.52.12; 6.29.3; 63.5; 8.24.9; 12; 68.7; 92.3; 10.18.3, आदि।

110. सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानां असि स्वसा।...
या सुबाहुः सु-अंगुरिः सुषूमा बहुसूवरी।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ।। ऋ. 2.32.6;7

111. वही।

112. 1.168.4

113. 2.32.8; 5.46.8. वेश्याओं के लिए देवांगना, देवदासी, आदि विशेषण आज तक प्रचलित हैं।

114. ऋ. 10.95

115. ऋ. 1.115.2; 117.18; 123.11; 7.55.5 आदि।

116. न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयानि एता।
ऋ. 10.95.15

117. 1.116.7; 191.10; 8.2.12; 21.14; 10.107.9; 116.7; 131.4; 5

118. न सः स्वः दक्षः वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युः विभीदकः अचित्तिः।
अस्ति ज्यायात् कनीयसः उप अरे स्वप्नः चन इत् अनृतस्य प्रयोता ।।
ऋ. 7.86.6

119. 2.36.6-8; शतब्रा. 6.3.6.10

120. ऋग्वेद में भी यह डट कर खाने वाले, छक कर सोम पीने वाले, माया से दूसरों को छलने वाले, और मुक्त विलास करने वाले देवता हैं, देखे, ऋ. 2.15.2; 10.10.86; 119; 120.3; आदि।

121. 10.86.

122. 1.92.4

123. कस्त उषः कध प्रिये भुजे मर्त्यः अमर्त्ये। कं नक्षसे विभावरि।।
ऋ. 1.30.20

अध्याय आठ

भाषा और भारोपीय जन

साहित्य समाज का दर्पण हो या न हो, भाषा पूरे समाज का अचूक दर्पण होती है। यह समाज की समग्र उपलब्धियों को व्यक्त करती है। यह सामाजिक व्यवहार का ही एक रूप है। अतः भाषा इतिहास के अध्ययन में उसी स्थिति में सहायक हो सकती है जब हम केवल शब्दों को नहीं, अपितु समाज-विशेष के सांस्कृतिक स्तर को सामने रख कर उस पर विचार करें। सिद्धान्ततः इस मान्यता से किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, पर जब व्यवहार की बात आती है तो हम प्रायः इस तथ्य को भूल जाया करते हैं।

सामान्यतः ऐतिहासिक दृष्टि से भाषाओं पर विचार करते समय हम भाषा-परिवारों की बात करते हैं, पर भाषा का उसी तरह कोई परिवार नहीं होता जैसे मनुष्य-समाज द्वारा विकसित किसी संस्था या माध्यम का कोई परिवार नहीं होता। इसकी एक स्थानीय प्रकृति अवश्य होती है। परिवार के साथ वंशधरता का भाव अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है।[1] भाषाओं का न तो आपस में विवाह होता है, न ही उनके बच्चे पैदा होते हैं।[2] भाषा का निर्माण और विकास परस्पर सम्पर्क में आने वाले मानव-समुदायों द्वारा, सामूहिक भागीदारी के क्रम में होता है। यदि अर्थ-व्यवस्था ऐसी है कि वह बहुत बड़े मानव-समुदाय को परस्पर निकट सम्पर्क में ला सके तो सम्पर्क में आने वाले लोग भले ही अलग-अलग बोलियाँ बोलते हों, उनकी बोलियों में से ही कोई एक शेष बोलियों के शब्द-भण्डार और अन्य विशेषताओं को आत्मसात् करती हुई सभी के सम्पर्क की भाषा बन जायेगी और इसके बाद इस समाज के तकनीकी और सांस्कृतिक विकास के अनुरूप अपने को ढालती, सँवारती और परिनिष्ठित करती, सभ्यता के अनुरूप प्रखरता और परिष्कृति प्राप्त करती चली जायेगी और इस सभ्यता के विस्तार के साथ इसका भी प्रभाव फैलता चला जायेगा। यह विकास उस समय तक जारी रहेगा जब तक इस सभ्यता का विकास जारी रहेगा। अंग्रेज़ों का व्यापार-तन्त्र उनके वैज्ञानिक

और तकनीकी विकास, उसमें प्रयुक्त होने वाली शब्दावली को अनेक देशों में 18वीं, 19वीं एवं प्रारम्भिक 20वीं शतियों में ले गया और उसने स्थानीय भाषाओं में अपना स्थान ग्रहण किया।

इसके विपरीत यदि भाषा और बोली एक ही हो, पर अर्थव्यवस्था निम्न स्तर की हो, और अविकसित अर्थव्यवस्था के कारण इसके बोलने वालों को अपने जीवन-यापन के लिए बिखरने को बाध्य होना पड़े तो उस एक ही बोली के इतने स्थानीय भेद हो जायेंगे कि किन्हीं स्थितियों में यदि मूल कबीले का कोई आदमी अपने ही कबीले के दूर पड़े लोगों के सम्पर्क में एक लम्बे अन्तराल के बाद आये तो उनकी बातों को समझने में कठिनाई अनुभव करेगा। दूसरे शब्दों में कहें तो, सम्पर्क गहन होने पर भिन्न और सर्वथा असम्बद्ध स्रोतों से निकली बोलियाँ परस्पर रच-पच कर एक सर्वग्राह्य सम्पर्कसूत्र का या उन्नत भाषा का निर्माण कर सकती हैं और सम्पर्क टूटने पर एक ही बोली अनेक उपबोलियों में बँट सकती है। बिहार की भोजपुरी मारीशस, त्रिनिदाद, फिजी, सूरीनाम आदि संसार के अनेक देशों में 19वीं शती में गयी—और ठीक इसी कारण आज उसके अलग-अलग रूप हो गये हैं। इस तथ्य को हम निम्न रूप में सूत्रबद्ध कर सकते हैं :

1—एक उन्नत और विकसित भाषा का नस्ल या जाति से नाममात्र का सम्बन्ध होता है। इसका निर्माण अनेक स्रोतों से ग्रहण की गयी शब्दावली और रूपावली से होता है। यह एक विशाल नदी की तरह होती है जिसकी विशालता और प्रवाह-क्षेत्र की लम्बाई इस बात पर निर्भर करती है कि इसका ग्रहण-क्षेत्र कितना व्यापक है, इसमें कितनी जलधाराएँ आकर मिलती हैं। शुद्ध और केवल एक स्रोत तक सीमित भाषा एक कपोल-कल्पना है और एक स्रोत से इसका सम्बन्ध केवल इस अर्थ में ही कोई संगति रखता है कि उस उत्सविन्दु से पीछे के ग्रहण-क्षेत्रों तक हमारी दृष्टि नहीं पहुँच पाती। सबसे बड़ी बात यह कि ऐसी कोई शुद्ध भाषा कमज़ोर, अनगढ़ और अविकसित ही रह सकती है जिसे खींच-तान कर बोली भले कह लिया जाये, भाषा नहीं कहा जा सकता।

2—भाषा का सम्बन्ध सामाजिक सम्पर्क से, विकसित भाषा का सम्बन्ध व्यापक सम्पर्क से और व्यापक सम्पर्क का सम्बन्ध उन्नत अर्थतन्त्र से है। संकल्पनाओं का विकास तकनीकी और औद्योगिक विकास से भी जुड़ा हुआ है। यदि हम किसी उन्नत और काफ़ी बड़े क्षेत्र में फैली सभ्यता को देखते हैं तो इस बात का दावा अन्य किसी साक्ष्य की अपेक्षा किये बिना कर सकते हैं कि इस पूरे क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा भी अपनी सभ्यता के अनुरूप ही उन्नत और परिष्कृत रही होगी। इसी तरह यदि हम किसी भाषा को बहुत बड़े भूभाग में फैली पाते हैं तो हम अन्य किसी बात की अपेक्षा किये बिना भी यह मान सकते हैं कि इस प्रसार से

पहले और इसके दौरान उससे सम्बद्ध सभ्यता का स्तर अपने युग को देखते हुए उसी अनुपात में उन्नत था।

3—भाषा में सभ्यता का प्रतिबिम्बन मात्र इसके शब्द-भण्डार में ही नहीं होता; इसकी अभिव्यक्ति शब्द-निर्माण की युक्तियों, व्याकरण के नियमों, वाक्य रचना, छन्द-विधान और अलंकार-योजना आदि में भी होती है। एक परिनिष्ठित भाषा सम्बन्धित जन-समाज के जीवन में भी तदनुरूप नियमबद्धता और अनुशासन-प्रियता को प्रकट करती है। इस अनुशासन की कठोरता और शिथिलता की ही अभिव्यक्ति इसके कठोर या शिथिल छन्द-विधान में भी होती है। रूढ़ियों से मुक्ति की माँग मुक्त छन्द की भी माँग बन जाती है। अलंकार योजना मात्र सौन्दर्या-भिरुचि को ही नहीं प्रकट करती, अभिव्यक्ति में स्पष्टता या उलझाव को या भिन्न कारणों से एक ही समाज में मौजूद दुहरी प्रवृत्तियों को भी प्रकट करती है।

यदि भाषा के विषय में किन्हीं नियमों की बात की जा सकती है तो वे ध्वनि-परिवर्तन के नियम नहीं हैं, जिनके सैकड़ों अपवाद प्रत्येक भाषा में मिल जायेंगे, अपितु उक्त नियम ही हैं, जिनका विश्व में कोई अपवाद नहीं देखा जा सकता।

ऐसी स्थिति में यदि हम हड़प्पा सभ्यता के प्रसार-क्षेत्र और इसके विकास के स्तर पर ध्यान दें और इस बात की कल्पना करना चाहें कि इसकी सम्पर्क-भाषा कौन-सी या कैसी रही होगी तो हमारा ध्यान सहज ही संस्कृत के ही किसी रूप की ओर जायेगा। दूसरी ओर, यदि भारत से लेकर यूरोप तक फैली तथाकथित भारोपीय भाषाओं के प्रसार-क्षेत्र और स्तर को ध्यान में रखते हुए किसी सभ्यता की कल्पना करना चाहें जिसके विकास के साथ इस भाषा का जन्म और विकास हुआ होगा तो इस पूरे प्रसार-क्षेत्र में हड़प्पा सभ्यता को छोड़ कर दूसरी कोई सभ्यता या संस्कृति दिखायी नहीं देगी। हमें मूल भाषा की बात सोचते समय उस अर्थ-व्यवस्था को कदापि नहीं भूलना होगा जो इतने विशाल जन-समुदाय को, या इतने व्यापक प्रभाव-सूत्रों को एक सम्पर्क में जुड़ा रख सकती थी।

2

लुप्त भाषा की परिकल्पना

भारोपीय भाषाओं की परस्पर तुलना और ऐतिहासिक क्रम में इनके विकास का अध्ययन करने वाले आरम्भिक विद्वानों ने ऊपर के तथ्यों का ध्यान नहीं रखा। संस्कृत से परिचय होते ही उन्होंने इसके सम्भावित अभारतीय स्रोत की घोषणा कर दी। सन् 1786 में रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल के तृतीय

वार्षिक भाषण में ही सर विलियम जोन्स ने अपने उद्गार जिन शब्दों में प्रकट किये थे वे बहुत ही रोचक हैं: "संस्कृत भाषा कितनी भी पुरानी क्यों न हो, इसका गठन अद्भुत है। यह ग्रीक से अधिक निर्दोष, लातिन से अधिक समृद्ध और इनमें से किसी से भी अधिक उत्कृष्ट या सुपरिमार्जित है; इसके बावजूद धातुओं और व्याकरणिक रूपों में यह इन दोनों से इतना प्रगाढ़ सम्बन्ध रखती है जो केवल आकस्मिक नहीं हो सकता; इतना प्रगाढ़ कि कोई भाषाविद् इनको किसी एक ही स्रोत से, जो अब शायद अस्तित्व में नहीं है, उत्पन्न माने बिना इनकी छान-बीन ही नहीं कर सकता।"[3]

दूसरे शब्दों में कहें तो, जोन्स ने पहले ही झटके में एक लुप्तप्राय आदि-भारोपीय और भारत से बाहर इस भाषा का प्रयोग करने वालों की मूल भूमि की खोज के लिए ज़मीन तैयार कर दी और यही अँटकल भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवेचनों की सबसे बड़ी सीमा बनी रही है। इसी के तहत भारत में आर्य भाषा और संस्कृति को लेकर आने वाले जनों की खोज होती रही है, जो आज तक जारी है।

अन्य भारोपीय भाषाओं की तुलना में संस्कृत की प्राचीनता, परिरक्षणवादिता और नियमितता तथा अन्य दृष्टियों से भारत के पक्ष में अधिक सशक्त कारणों के होते हुए भी, भारतीय मूल निवास के विषय में कभी गम्भीरता से विचार नहीं किया गया और तथ्यों के मुक़ाबले निरे काल्पनिक चित्रों को अग्रता दी जाती रही। उदाहरण के लिए, मध्येशिया स्थित अपने 'मूल-निवास' से आर्यों के बिखराव का चित्र पेश करते हुए मैक्समूलर लिखते हैं:

"पारम्परिक इतिहास की प्रत्यूष वेला में हम आर्य जनों को हिमालय की बर्फ को पार करके दक्षिण की दिशा में सप्त-सिन्धु की ओर जाते हुए देखते हैं। उस समय से ही भारत उनका निवास माना जाता रहा है।...इस विचार पर इतिहासकार अपना सिर हिला सकता है, शरीरविज्ञानी सन्देह प्रकट कर सकता है और कवि इसकी खिल्ली उड़ा सकता है, पर सभी को भाषा द्वारा पेश किये गये तथ्यों के आगे सिर झुकाना ही होगा। एक समय ऐसा था जब केल्टों, जर्मनों, स्कैंडिनेवियनों, यूनानियों और इतालवियों, पारसियों और हिन्दुओं के पूर्वज सामी और तूरानी जातियों के पूर्वजों से अलग, एक साथ, एक ही छत के नीचे रहते थे।

"यह सिद्ध करना अधिक कठिन है कि हिन्दू ने इस संयुक्त आवास को सबसे बाद में छोड़ा, कि वह अपने दूसरे सभी भाइयों को अलग होकर अस्ताचल की दिशा में जाते देखता रहा, और फिर दक्षिण और पूर्व की ओर रुख़ करके, वह अकेले एक नयी दुनिया की तलाश में चल पड़ा। पर चूंकि अपनी भाषा और अपने व्याकरण में उसने उत्तरी बोलियों में विलक्षण प्रतीत होने वाले तत्त्वों का कुछ-न-

कुछ अंश बचा रखा है, क्योंकि जहाँ दूसरी भाषाएँ जर्मन और ग्रीक से भिन्नता रखती हैं वहाँ भी वह भाषा ग्रीक और जर्मन से संगति रखती है, क्योंकि दूसरी कोई भाषा संयुक्त आर्य विरासत—चाहे धातुएँ हों, या व्याकरण, या शब्दभण्डार, या मिथक या गल्प—का उतना बड़ा हिस्सा नहीं पा सकी जितना यह, अतः यह सोचना स्वाभाविक है कि सम्भवतः सबसे बड़ा भाई होते हुए भी हिन्दू ने आर्य-परिवार के पैतृक निवास को सबसे अन्त में छोड़ा।"[4]

यह आर्यों के भारत-आगमन का एक मात्र चित्र नहीं है, ऐसे अनेकानेक जीवन्त चित्र अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग रास्ते सुझाते हुए कुछ इस आत्मविश्वास से पेश किये हैं मानो यह सब कुछ उनकी आँखों के आगे घटित हुआ हो और इसमें किसी फेर-बदल की सम्भावना ही न हो। रोचक बात यह है कि ये सारे यात्रा-विवरण भारत को या भारत की ओर को हुई यात्रा के विषय में ही इतने विश्वसनीय रूप में पेश किये जाते रहे हैं। प्रश्न यह है कि यदि किन्हीं कारणों से दूसरे भाई उस पैतृक निवास को छोड़ कर चले ही गये थे जो इतने बड़े कुनबे का भरण-पोषण करने में समर्थ था, तो फिर अन्त में 'बड़े भाई साहब' को अपना घर उजाड़ कर चल देने की क्या लाचारी आ पड़ी थी? यदि ऐसा किसी प्राकृतिक आपदा के कारण हुआ तो उसकी प्रकृति क्या थी और इसका दौर कितने लम्बे समय तक चलता रहा? सबसे अन्त में अपना पैतृक निवास छोड़ने या बिलकुल न छोड़ने में क्या अन्तर है? सबसे बड़ा भाई कहने का एक मात्र अर्थ यह है कि उनकी भाषा और साहित्य में संयुक्त परिवार के प्राचीनतम अंश सबसे अधिक मात्रा में सुरक्षित हैं, और सबसे अन्त में इस निवास को छोड़ने का अर्थ है कि अन्य शाखाओं के अलग हो जाने के बाद भी मूल भाषा में जो परिवर्तन घटित होते रहे वे भी इसमें परिरक्षित हैं। इन दोनों सूत्रों को मिलाने पर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत भाषा और संस्कृत-भाषी जन अकेले ऐसे हैं जो अति प्राचीन काल से लेकर बाद तक अपनी जगह पर ही बने रह गये। ऐसी स्थिति में यदि किन्हीं के परिव्रजन का चित्र तैयार किया जाना चाहिए था तो वे थीं अभारतीय शाखाएँ, जिनकी ओर ध्यान न देकर उल्टे भारत में इन जनों के आव्रजन की कल्पनाएँ की जाती रहीं। यदि भाषा के तथ्य सचमुच ऐसे तथ्य थे जिनकी कुछ विश्वसनीयता थी और जिनके समक्ष सभी को सिर झुकाना था तो सबसे पहले स्वयं मैक्समूलर को और अन्य भाषाशास्त्रियों को इसका पालन करना चाहिए था, जो उन्होंने नहीं किया।

जो भी हो, यदि हम भाषिक तथ्यों की अवज्ञा करके, इनसे निकलने वाले निष्कर्षों से ठीक उल्टा निष्कर्ष निकाल कर अपनी मनोगत स्थापनाओं को लादना चाहें, और इसके लिए भाषा से खिन्न होकर अन्य अनुशासनों का उपयोग करें कि शायद उनसे अपनी मान्यता को प्रमाणित करने का कोई आधार निकल ही

आये और वहाँ भी तदनुरूप कोई इच्छित प्रमाण न पाकर उन्हें भी अविश्वसनीय मान लें, तो इसमें दोष उन शाखाओं का है या अध्येताओं का? अविश्वसनीय कौन है : ये शाखाएँ या इन क्षेत्रों के पूर्वाग्रहग्रस्त विद्वान? ग्रियर्सन लिखते हैं, "आरम्भिक शोध-कर्ताओं ने अपने निष्कर्ष मुख्यत: भाषाशास्त्र के अधार पर निकाले और पहले यह आम तौर पर माना जाता रहा कि मूल-स्थान की खोज या तो काकेशस में की जानी चाहिए या हिन्दूकुश में। तब से लेकर अब तक इस समस्या के लिए दूसरे विज्ञानों का सहारा लिया गया है। इतिहास, नृतत्व, ज्योतिष, भूगोल और भूगर्भ विज्ञान, इन सभी को इस काम पर लगा दिया गया है।"[5] पर इसका नतीजा क्या निकला? हमारी शिकायत यह है कि किसी विज्ञान का कभी निष्पक्ष भाव से उपयोग किया ही नहीं गया। भाषाशास्त्र के निष्कर्ष बहुत स्पष्ट थे, पर उनको उन आरम्भिक दिनों में भी आधार नहीं बनाया गया। दूसरे विज्ञानों के लिए आँकड़े पर्याप्त तो थे ही नहीं, जो थे वे स्पष्ट नहीं हो सकते थे, अत: इनमें तोड़-मरोड़ करने और अपने आग्रहों को लादने की अधिक सम्भावना थी, पर इनसे निर्णायक प्रमाण तो अपने आग्रहों के अनुरूप नहीं ही पाया जा सकता था। निर्णायक प्रमाण केवल सचाई के होते हैं और जहाँ हम इससे विपरीत प्रमाणों की अपेक्षा करें वहाँ निराशा ही हाथ आयेगी। ऐसी स्थिति में, जैसा कि ऊपर कहा है, सारा निष्कर्ष किसी ठोस आँकड़े पर आधारित न करके अँटकलों और कल्पनाओं पर आधारित करने के प्रयत्न किये गये। टी. बरो या उन जैसे दूसरे अनेक विद्वानों की मान्यता पर ध्यान देना हमारे लिए कुछ उपयोगी होगा :

"भारोपीय जनों के मूल निवास को लेकर काफी अँटकलें लगायी जाती रही हैं। आरम्भिक दिनों में यह माना जाता था कि यह मध्येशिया में स्थित था और प्रव्रजन की एक के बाद दूसरी लहर इस परिवार के सदस्यों को यूरोप में ले आयी। इसका मुख्य कारण संस्कृत को अतिरंजित महत्व देना और आदिम आर्य जनों को...और उनसे बहुत पहले के भारोपीय जनों को भ्रमवश एक मान लेना रहा है। जैसा कि हम देख चुके हैं, अब यह काफ़ी सुनिश्चित हो गया है कि मध्येशिया से, ठीक-ठीक कहें तो आक्सस की घाटी से, भारतीय और ईरानी अपने-अपने क्षेत्र पर क़ब्ज़ा करने के लिए रवाना हुए। पर इस बात का लेश मात्र भी प्रमाण या सम्भावना नहीं है कि जर्मनों, केल्टों, यूनानियों और इस परिवार के अन्य सदस्यों के पूर्वज कभी इस इलाके के क़रीब रहे हों। परिणामत: अब आम तौर पर यह माना जाता है कि मूल निवास कहीं यूरोप में था। इसके लिए मुख्य और सीधा, किन्तु प्रभावशाली, तर्क यह है कि यूरोप में लिखित इतिहास के आरम्भ से ही इनमें सर्वाधिक भिन्नता पायी जाती है। बहुत प्राचीन काल में ही हम एशिया के विशाल भूभाग को इस परिवार की एक सदस्या, भारतीय-ईरानी के अधिकार में पाते हैं और वह भी अब तक बहुत कम भिन्नीकृत रूप में। दूसरी ओर, यूरोप में बहुत-सी भाषाओं का जमाव-

दिखायी देता है जो अपेक्षाकृत बहुत छोटे-छोटे क्षेत्रों में सिकुड़ी हुई हैं, और परस्पर बहुत अधिक भिन्नता रखती हैं। इससे यह अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय-ईरानी क्षेत्र में भारोपीय भाषा की उपस्थिति बहुत बड़े पैमाने पर हुए औपनिवेशिक विस्तार का परिणाम है, जब कि यूरोप में अभिलिखित काल के प्राचीनतम चरण से ही इतनी भिन्न-भिन्न भाषाओं का अस्तित्व वहाँ भारोपीय जनों के सुदूर अतीत काल से ही मौजूद होने को प्रकट करता है।"[6]

हम अलग-अलग विद्वानों को इस 'मुख्य, सीधे और प्रभावशाली' तर्क को अलग-अलग ढंग से दुहराते पाते हैं।[7] जब तब इसमें कुछ पूरक प्रमाण जोड़ दिये जाते हैं, जैसे यदि मूल निवास भारत होता तो पश्चिमोत्तर सीमाओं को पार करने से पहले शेष भारत को आर्य बना लिया गया होता।[8]

प्रश्न यह है कि जिन दिनों संस्कृत को अतिरंजित महत्व दिया जा रहा था उन दिनों भी मूल निवास की खोज भारत में न करके मध्येशिया में क्यों की जा रही थी? क्या संस्कृत का अस्तित्व वहीं था? क्या आज तक के भाषावैज्ञानिक अध्ययनों से संस्कृत के केन्द्रीय महत्व में कोई बुनियादी अन्तर आया है? यदि भारतीय-ईरानी क्षेत्र पर अधिकार बहुत बड़े पैमाने पर हुए उपनिवेशीकरण का परिणाम था तो फिर उन भाषा-क्षेत्रों में से किसी एक से, जो इतिहास के आरम्भ से ही बहुत छोटे-छोटे दायरों में सीमित थे, इतने विशाल भूभाग को आबाद करने के लिए अपेक्षित जमात का आविर्भाव कब और कैसे हो गया? यह भारतीय-ईरानी शाखा जिसमें नगण्य विभेदन आ पाया था किस यूरोपीय भाषा-क्षेत्र से निकल आयी कि इसमें वे सारे लक्षण एकत्र सिमट आये जो यूरोप की विभिन्न भाषाओं में पाये जाते हैं और उन मामलों में भी उन पर प्रकाश डालते हैं जिनमें वे एक दूसरे से अनमेल पड़ती हैं? और अन्ततः, जिसे 'इतिहास का आरम्भ' कहा जाता है उसकी प्राचीनता क्या है?

जैसा कि हम पहले ही सूत्रबद्ध कर आये हैं, यदि यूरोप में ज्ञात इतिहास के आरम्भ से ही भारोपीय भाषाएँ अपने भिन्न-भिन्न रूपों में बहुत छोटे-छोटे अंचलों में व्यवहार में आ रही थीं तो इसका कारण यही हो सकता है कि इससे पहले यूरोप आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था, और इसलिए, न तो कोई व्यापक सम्पर्कभाषा विकसित हो पायी थी, न ही इसका आधार विकसित हो पाया था। अतः बहुत छोटे-छोटे अंचलों में भिन्न-भिन्न बोलियाँ बोली जाती थीं और भारोपीय भाषा का प्रसार इन बोलियों वाले क्षेत्रों में हुआ। एक ही भारोपीय भाषा इन उपस्तरीय बोलियों से प्रभावित होकर अनेक रूपों में बँट गयी या बँटी दिखायी देने लगी।[9] चूँकि प्रत्यक्षतः ये सभी बोलियाँ परस्पर भिन्न थीं, अतः उनके बीच भिन्नता आगे भी बनी रह गयी और चूँकि इन सब पर संस्कृत से अनन्य निकटता रखने वाली भाषा का ही प्रभाव पड़ा, अतः संस्कृत उन मामलों में भी उन पर

रोशनी डालने में समर्थ प्रतीत होती है जहाँ ये भिन्न पड़ती हैं और इन भिन्नताओं के मामले में एक-दूसरे पर प्रकाश नहीं डाल पातीं। इस तरह जिसे सीधा, मुख्य और प्रभावशाली तर्क बताया गया है उसकी तफ़सील में जाने पर भी हम इसी निष्कर्ष की पुष्टि होते पाते हैं कि प्रभाव-विस्तार का मूल केन्द्र यूरोप में न होकर भारत में था। बरो लिखते हैं, "भारतीय-ईरानी का विकास एक समय में निश्चय ही एकनिष्ठ था, इसीलिए यह किसी प्रकार का प्रव्रजन आरम्भ होने से पहले घटित हुआ होगा।"[10] दूसरे शब्दों में कहें, तो यह एकनिष्ठता ही प्रव्रजन से पूर्व की अवस्था की सूचक है, न कि यूरोपीय भाषाओं की विविधता। ध्यान रहे कि यहाँ यही लेखक संस्कृत की इस अतिरंजित प्राचीनता को स्वयं स्वीकार कर रहा है जिससे उसे शिकायत है। इसी तरह तूख़ारी पर विचार करते समय वह इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि इसमें बहुत गहरे ध्वनि-परिवर्तन हुए हैं और इसे वह इस बात का सूचक मानते हैं कि यह अपने मूल निवास से बहुत दूर यात्रा करके आयी है।[11] जैसा कि स्वयं यूरोपीय बोलियों की कथित भिन्नताओं से प्रकट है, इनमें भी भारतीय-ईरानी की तुलना में बहुत गहरे ध्वनि-परिवर्तन हुए हैं, क्या इससे भी यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यूरोपीय भाषाएँ अपने मूल निवास से बहुत दूर चल कर उस अंचल में पहुँची है? आखिर एक ही तर्क को दो स्थितियों में दो तरह कैसे लागू किया जा सकता हैं? न केवल तूख़ारी अपने मूल निवास से चल कर बहुत दूर आयी है, अपितु हित्ती भी अपने मूल निवास से बहुत अधिक दूर चल कर आयी है क्योंकि इसमें भी तूख़ारी की तरह ही बहुत गहरे ध्वनि परिवर्तन हुए हैं।[12] और यही हित्ती है जिसे संस्कृत से भी प्राचीन सिद्ध करने के प्रयत्न जब-तक किये जाते हैं।

बरो यूरोप में भारोपीय भाषाओं के प्रसार का चित्र देते हुए लिखते हैं कि यूरोप में इटली और यूनानी प्रायद्वीपों में आकर बसने वाले वहाँ उत्तर की ओर से आये थे, फ्रांस और ब्रिटिश द्वीप-समूह पर 500 ई.पू. के लगभग मध्य यूरोप के लोगों ने कब्ज़ा किया था। आइबीरियन प्रायद्वीप रोमन काल तक लगभग गैर-भारोपीय बना हुआ था।[13] इन तथ्यों से केवल यही साबित होता है कि यूरोप के अन्य भागों में भारोपीय का प्रसार मध्य यूरोप को केन्द्र बना कर हुआ था और वह भी उससे कहीं बहुत बाद में जब भारतीय-ईरानी क्षेत्र में इसकी एक प्रधान 'शाखा' अस्तित्व में थी। अतः ज्ञात इतिहास का आरम्भ काल यूरोप में काफ़ी बाद का ही है। और मध्य यूरोप में जा कर बसने वाले लोग दक्षिण-पूर्व की ओर से ही गये थे।[14]

पर यहाँ भी स्थिति कुछ उलझी दिखायी देती है। ग्रीक का केंटुम वर्ग की भाषाओं से सब से कम और संस्कृत से किसी अन्य भाषा की तुलना में अधिक गहरा सम्बन्ध दिखायी देताहै।[15] हित्ती अन्य यूरोपीय भाषाओं से इतनी अनमेल पड़ती है

और संस्कृत के साथ इसका सम्बन्ध इतना गहरा है कि विद्वान इसे भारोपीय भाषाओं के सामान्य दायरे से अलग करके भारतीय-हित्ती वर्ग में रखना अधिक संगत मानते हैं।[16] हालाँकि दूसरे कुछ विद्वान जिनमें बरो स्वयं भी आते हैं, इस रुख को अतिवादी मानते हैं और भारतीय-हित्ती तथा शेष भारोपीय के दो वर्गों की अपेक्षा इसे उस अति प्राचीन अवस्था का अवशेष मानना अधिक उचित समझते हैं जब बोलियों का अलगाव नहीं हुआ था। जो कुछ सुनिश्चित रूप से हमें ज्ञात है उसके आधार पर भारतीय-आर्य भाषा और हित्ती उस अति प्राचीन अवस्था को ही प्रकट करती हैं जब बोलियों का अलगाव नहीं हुआ था और हित्ती, जिसमें बहुत गहरे ध्वनि-परिवर्तन हुए हैं, पुनः संस्कृत से बाद की ही भाषा सिद्ध होती है, अतः वस्तु-परक ढंग से देखने पर संस्कृत ही उस अविभाजित अवस्था का सबसे विश्वसनीय अवशेष सिद्ध होती है।

भारत के अतिरिक्त किसी अन्य क्षेत्र को भारोपीय भाषाओं का उत्स केन्द्र मानने वालों को हित्ती अभिलेखों से जितनी मुश्किल पेश आती है उतनी शायद संस्कृत की प्राचीनता और नियमितता तथा इसके विशद शब्द-भंडार को छोड़ कर अन्य किसी कारण पेश नहीं आती। न केवल हित्ती और मितन्नी सूत्र भारतीय देवनामों और इनके युग्मों की पुष्टि करते हैं, जो सीधे वैदिक भारत के देवता हैं,[17] अपितु ये मुख्यतः वे ही देवता हैं जिनका व्यापारिक उपक्रमों से सम्बन्ध रहा है। इन अभिलेखों में जो व्यक्तिनाम आये हैं वे भी भारतीय हैं—सुतर्न (श्रुतर्वन्), पर्शसतर (प्रशस्त्य), शोष्शतर (श्रवस्ति), अर्दंदाम (ऋतधाम), अर्तशुमर (ऋतस्मर), तुशरथ (त्वेशरथ, दशरथ), मतिवाज (मतिवाज), आदि। इनके अतिरिक्त कुछ निजी अभिलेखों में अर्तम्न (ऋतुमन), बर्दश्व (बृहदश्व), विर्पसूर (विप्रसूरि), पुरुश (पुरु), शेमशुर (क्षेमसूरि), सतवाज (सातवाज), आदि नाम आये हैं। पड़ोसी प्रदेशों, सीरिया और फ़िलिस्तीन आदि में भी, जहाँ आर्य-भाषा का प्रसार नहीं था, आर्यों की उपस्थिति की सूचना मिलती है—सुबरदात (स्वर्दात), शतुआर (सध्वर), अर्तमन्य (ऋतुमन्य), वोर्यवाज (वीर्यवाज), इन्दरोत (इन्द्रोत), सुबुदु (सुबन्धु), आदि।[18]

3

संस्कृत का अतिरंजित महत्व

इस विषय में सन्देह नहीं कि अनेक विद्वानों ने संस्कृत के महत्व का सही मूल्यांकन करने में भूलें की हैं। यह भूल केवल संस्कृत के महत्व के अतिरंजन तक सीमित नहीं है। इसकी अभिव्यक्ति उस प्रतिक्रिया में भी हुई है जो इस अति-

रंजित महत्व से खीझ कर प्रकट की गयी है। सबसे बड़ी भूल उस आदि-भारोपीय की परिकल्पना है जिससे तथाकथित भारोपीय परिवार की सभी भाषाएँ निकली सिद्ध की जाती हैं। न तो ऐसी कोई आदि-भारोपीय भाषा थी, न ही उससे भारोपीय भाषाओं का जन्म हुआ। यदि सचमुच किसी भूल को खतरनाक भूल की संज्ञा दी जा सकती है तो वह संस्कृत की नहीं, आदि भारोपीय की अतिरंजना है।

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले, या सम्भव है उससे भी कुछ पहले, भारतीय वैयाकरणों का ध्यान अपने आस-पास बोली जाने वाली भाषाओं की ओर गया। उन्होंने देखा कि चाहे वह शुद्ध पुस्तकीय भाषा हो या बोलचाल की प्राकृत भाषाएँ, इनमें पाये जाने वाले शब्दों और इनके अर्थों में एक अद्भुत साम्य है। बहुत मामूली ध्वनिगत अन्तर रखने वाले बहुत-से शब्द ऐसे हैं जिनमें अर्थ की दृष्टि से ऐसी समानता पायी जाती है मानो इनके नियामक तत्व या धातु एक ही हों। जैसे एक धातु से हम विविध प्रयोजनों के लिए तरह-तरह के उपकरण बना लेते हैं और रूप-भेद के बावजूद तात्विक दृष्टि से उनकी धातु एक ही होती है, वैसे ही विविध प्रयोजनों के लिए किन्हीं तात्विक धातुओं से विविध शब्द गढ़ लिये गये हैं। उन्हें लगा कि उस मूल भाषा का या उस आदिम सूत्र का पुनर्निर्माण किया जा सकता है और ध्वनि के उन नियमों को सूत्रबद्ध किया जा सकता है जिनके द्वारा ये रूपगत और अर्थगत विकास घटित हुए हैं। धातुओं की खोज और शब्दावली के अर्थगत और रूपगत विकास के नियमों की स्थापना का उनका प्रयत्न किसी प्राचीन भाषा की पुनर्सर्जना का सबसे पहला और निश्चय ही बहुत साहसिक प्रयत्न कहा जा सकता है।

भविष्य में, कम-से-कम, पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में वैसी विकृति न आने पाये जैसी तब उन्हें लोक-व्यवहार की भाषाओं में दिखायी दे रही थी, भले इस भाषा का प्रयोग कितने भी व्यापक क्षेत्र में क्यों न हो, और भले ही यह अनन्त काल तक व्यवहार में क्यों न आती रहे, इसके लिए अकाट्य और सबके द्वारा पालनीय व्याकरणिक नियमों की स्थापना उनका दूसरा साहसिक प्रयत्न था। अपने सीमित अनुभव और ज्ञान के आधार पर यदि इन विद्वानों को ऐसा लग रहा था कि सभी भाषाएँ किसी एक ही मूल से निकली हैं तो इसके लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।[19]

संस्कृत से परिचय और लातिन तथा ग्रीक से इसके साम्य को ध्यान में रखते हुए ठीक ऐसा ही विचार आधुनिक भाषाशास्त्रियों के मन में, कम-से-कम भारोपीय परिवार की भाषाओं के विषय में, पैदा हुआ कि इन सभी का जन्म किसी एक ही मूल भाषा से हुआ है। पाणिनि का उदाहरण और अपने सीमित क्षेत्र में

उनकी सफलता ने इन्हें आत्मविश्वास से भर दिया। लातिन, ग्रीक, जर्मन, फ़ारसी और संस्कृत को तथा अन्य भारोपीय भाषाओं को सामने रख कर क्या लगभग उसी तरह ध्वनि-नियमों के आधार पर उस आदि-भाषा की ध्वनिमाला, धातु-सम्पदा आदि का निश्चय नहीं किया जा सकता जिससे संस्कृत सहित ये सभी भाषाएँ निकली हैं ?

इसके लिए पहली जरूरत थी संस्कृत के उस अतिरंजित महत्व को घटाने की, जिसके कारण भारोपीय भाषाओं का सवाल उठने पर यह सबसे प्राचीन मान ली जाती थी और इस प्राचीनता को स्वीकार करते ही उस प्राचीनतर जननी भाषा का अन्य भाषाओं का सहारा लेते हुए पुनर्निर्माण करने का तर्क और औचित्य घट जाता था। पर किसी भी एक भाषा को, चाहे वह संस्कृत हो या कल्पित आदि-भारोपीय, अन्य सभी भाषाओं का मूल मानने पर हम उसी ग़लती को दुहराते हैं जिससे बचना चाहते हैं और चाहे-अनचाहे अन्ततः संस्कृत की श्रेष्ठता की ओर ही लौटते हैं। जो भी हो, जब तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के जनक फ्रांत्स बॉप ने कहा था, "मैं नहीं मानता कि ग्रीक, लातिन और दूसरी यूरोपीय भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं।...इसकी अपेक्षा मैं यह मानना अधिक उचित समझा हूँ कि ये सभी किसी एक ही मूल भाषा के विविध रूप हैं जिसे संस्कृत ने अधिक अविकल रूप में बचा रखा है (ह्विच संस्कृत हैज प्रिज़र्व्ड मोर परफेक्टली)। ...जहाँ ब्राह्मणों की भाषा से ग्रीक और लातिन के आदिम रूपों का अनुमान करने में हमें अकसर सहायता मिलती है, वहाँ.. कभी-कभी ये भाषाएँ भी संस्कृत व्याकरण पर प्रकाश डाल सकती हैं"[20], तब वहसंस्कृत के अतिरंजित महत्व को घटाने का प्रयत्न करते हुए भी प्रकारान्तर से इसके महत्व को ही स्वीकार कर रहे थे।

भारोपीय परिवार में गिनी जाने वाली दूसरी भाषाएँ भी कभी-कभी संस्कृत व्याकरण पर प्रकारान्तर से प्रकाश डाल सकती हैं, और इस तरह इनकी तुलना से उस लुप्तभाषा और उसकी ध्वनियों का निश्चय किया जा सकता है, इस मान्यता को ही हम आदि-भाषा की पुनर्सर्जना के प्रयत्नों की भूमिका मान सकते हैं। पुनर्सर्जना का यह प्रयत्न ध्वनि-परिवर्तन के अकाट्य नियमों की कल्पना पर आधारित था, और इस तरह जिस मूल रूप का प्रस्ताव रखा गया है उस पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इस बात पर बल देना जरूरी है कि जब हम किसी एक ही भाषा से समस्त भारोपीय भाषाओं के निकलने की बात करते हैं, तो भाषा के विकास और प्रसार के कतिपय सर्वमान्य नियमों की उपेक्षा कर जाते हैं, यथा :—

1—ऐसा करते समय हम एक उन्नत भाषा के विकास के उस सामान्य नियम की अवज्ञा करते हैं जिसका उल्लेख हम आरम्भ में कर आये हैं, अर्थात्

आर्थिक आधार सुदृढ़ होने के साथ विभिन्न बोलियाँ बोलने वाले लोग उस आधार से जुड़ते हुए अचेत रूप में ही एक व्यापक सम्पर्क भाषा का विकास करते चले जाते हैं और यह भाषा उनके सांस्कृतिक जीवन के अनुरूप ही विकसित होती है। इसके तत्व उन बोलियों से आये हुए होते हैं जिनके संयुक्त होने से यह बनती है। जब हम एक ही आदिम भाषा के विकसित होकर टूटने और बिखरने की बात करते हैं तो इसके साथ हमें यह भी दिखाना चाहिए कि वह आर्थिक आधार जिसके कारण यह इतनी ऊपर उठी थी, टूट गया और इसके टूटने के साथ मूल जन बिखर गये। इसे ग्राह्य बनाने के लिए आर्थिक आधार के टूटने के कारणों को भी अवश्य दिखाया जाना चाहिए।

2—भारोपीय क्षेत्र का अध्ययन करने वाले विद्वान इस बात को बार-बार दुहराते रहे हैं कि भाषा और नृजाति दोनों एक नहीं हैं।[21] वे इस बात पर खिन्न भी अनुभव करते रहे हैं कि प्रायः भाषा को जाति का पर्याय मान लिया जाता है। पर हम जिस तर्क को ले कर चल रहे हैं उसकी अनिवार्य परिणति से कैसे बच सकते हैं? जब हम यह मान लेते हैं कि मूल भाषा ही क्रमशः टूट कर अलग-अलग भाषाओं में परिणत हुई थी तो हम अपने अनजाने ही उस जातिवादी फंदे में अपना पाँव दे देते हैं जिससे बचना चाहते हैं। यदि मूलतः यह भाषा एक थी तो इसके बोलने वाले लोग किसी-न-किसी एक जाति के रहे ही होंगे। भाषा और जाति का अनिवार्य सम्बन्ध तभी टूट सकता है जब इस विषय में हमारी दृष्टि साफ़ हो, अर्थात् हम यह देख सकें कि एक उन्नत संस्कृति और भाषा अपने निर्माणकाल में ही उन अनेक जनों और बोलियों को आत्मसात करती हुई विकसित होती है जो परस्पर सम्पर्क में आती हैं और उन कारणों को पहचान सकें जिनके प्रभाव से ये परस्पर सम्पर्क में आयी थीं। एक ओर एक ही भाषा के टूटने से विभिन्न भाषाओं का जन्म, उसके बोलने वालों के संचलन या बिखराव से इसका क्षेत्र-विस्तार और प्रभाव-क्षेत्र में प्रव्रजित होने वाले जनों के अनुरूप ही इस भाषा के प्रभाव की अवधारणा और दूसरी ओर यह मान्यता कि भाषा और जाति का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं होता, एक तरह का पदव्याघात है जो इन सभी विद्वानों के लेखन में पाया जा सकता है।

3—यदि भाषा और जाति एक ही नहीं होते तो यह भी सच है कि एक भाषा बोलने वाले सभी जन एक ही कार्य-दिशा नहीं अपना लेते। जब भारत में आगमन या भारत पर आक्रमण की बात की जाती है तो एक ओर तो यह देखते हुए कि वैदिक काल में विभिन्न गण वैदिक समाज के अंग थे, आगन्तुक या आक्रामक समुदाय को बहुजातीय (अनेक बोलियाँ बोलने वाला) माना जाता है और दूसरे इन्हें किसी रहस्यमय कारण से एक ही नेतृत्व में संगठित भी मान लिया जाता है

और भारत में पहुँचा कर उस केन्द्रीय नेतृत्व को अमान्य करके इन्हें भिन्न-भिन्न कबीलों में बँटा हुआ दिखा दिया जाता है। यदि यह एक सुनियोजित अभियान या आव्रजन है तो भारत पर अधिकार के बाद भी उसका वह संगठित जीवन बना रहना चाहिए और आरम्भ से ही एक शासकीय तन्त्र को सर्वोपरि मानकर चला जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहें तो, हमें मात्र कामचलाऊ ढंग से एक सीमित चरण तक किसी प्रस्ताव को न रख कर इसे आदि से अन्त तक अविकल रूप में स्वीकार करके चलना चाहिए, जो कि नहीं किया गया है।

4—यह बात भी अकसर दुहरायी जाती है कि संस्कृत एक कृत्रिम भाषा थी जो अपने प्रचलन-काल में कभी आम बोलचाल की भाषा नहीं थी।[22] सम्भवतः आम बोलचाल की भाषा प्राकृतें थी। पर जब तुलना के लिए किसी भाषा का चुनाव किया जाता है तो प्राकृतों को नहीं, अपितु संस्कृत को ही प्रमाण माना जाता है। यदि आम बोलचाल की भाषा प्राकृत थी और संस्कृत का कृत्रिम विकास और प्रभाव-विस्तार लेखन-पूर्व के चरण से सम्बन्धित है तो आदि-भारोपीय के सूत्र प्राकृतों में ढूँढ़े जाने चाहिए। फिर यह देखा जाना चाहिए कि किन प्रभावों और दबावों में संस्कृत का विकास हुआ। और यदि भारोपीय भाषाओं के व्याकरण से लेकर धातु-रूपों तक में संस्कृत से साम्य दिखायी देता है तो यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इन प्राकृतों से संस्कृत का विकास होने के बाद ही कभी इसका प्रभाव-विस्तार अन्य क्षेत्रों में हुआ था। यही नहीं, अपितु साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि यह प्रभाव-विस्तार आम जनता के प्रव्रजन या आक्रमण के ज़रिये नहीं हुआ हो सकता, अपितु इसके लिए वह विशिष्ट तबका ही जिम्मेदार था जिसने अपने विशिष्ट प्रयोजनों के लिए संस्कृत को एक शिष्ट (शिक्षितों के बीच सम्पर्क की) भाषा के रूप में अपना रखा था। ज़ाहिर है, ऐसी स्थिति में उन्हें अपनी बद्धमूल धारणाओं को उलटना भी पड़ जायेगा।

4

ध्वनि-नियम और मूल भाषा की पुनर्संजना

हम यहाँ इस बात की चर्चा नहीं करेंगे कि मूल भारोपीय की पुनर्संजना के पीछे कौन-से आग्रह काम कर रहे थे, पर यह बात पूरे बल के साथ कही जा सकती है कि भाषा के किसी भी पक्ष के विषय में अकाट्य नियमों की बात करना युक्ति-संगत नहीं है। यदि ऐसा होता तो व्याकरण और वर्तनी की अनेक मुश्किलें आसान हो जातीं जिनका सामना दुनिया की किसी भी भाषा को सीखते समय करना पड़ता है। ध्वनि-परिवर्तन के जिन नियमों पर अनावश्यक भरोसा रखते हुए आदि-

भारोपीय की खोज का दावा किया जाता है, वे नियम भी मात्र प्रवृत्तियों के द्योतक हैं।[23] डॉ. रामविलास शर्मा इस पक्ष का विवेचन करते हुए अन्ततः लिखते हैं, "यदि कोई भाषा-विज्ञानी ऐसे नियम बता दे जिनके अनुसार स्वयं ग्रीक भाषा समुदाय में ध्वनि-परिवर्तन होता है तो ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का मार्ग सुगम हो जाये।"[24]

जब तक हमें भाषा के पूर्ववर्ती और परवर्ती रूपों का पता न हो, हम यह नहीं कह सकते कि परवर्ती भाषा में कौन-से रूप किन पूर्वरूपों से विकसित हुए हो सकते हैं।[25] लुप्त पूर्व-रूप की तो बात ही अलग है। यदि मध्यवर्ती चरण भी लुप्त हो तो भी हम यह बात दावे के साथ नहीं कह सकते कि उसमें किन्ही शब्दों या ध्वनियों ने ठीक क्या रूप लिया रहा होगा।

भारोपीय मूल भाषा के अध्येताओं ने इस बात का भी ध्यान नहीं रखा कि जिन क्षेत्रों में तथाकथित भारोपीय का प्रसार हुआ उनकी अपनी भाषाएँ भी थीं या वे बिलकुल जनशून्य क्षेत्र थे; और यदि वहाँ पहले से कुछ बोलियाँ मौजूद थीं तो उनके सम्पर्क में आने पर विभिन्न क्षेत्रों में एक ही भाषा किन-किन रूपों में प्रभावित हुई हो सकती है? ऐसी स्थिति में सभी बोलियों को सममूल्य पर रखते हुए इनके सर्वनिष्ठ या बहुनिष्ठ ध्वनितत्व के आधार पर मूल भाषा की ध्वनियों का निश्चय करना निरापद नहीं था।

डॉ. रामविलास शर्मा ध्वनितत्व पर विचार करते हुए लिखते हैं, "किसी भी भाषा की मूल ध्वनियों का विकास एक से अधिक केन्द्रों में होता है। इन केन्द्रों के परस्पर सम्पर्क में आने के कारण ध्वनितत्व एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते हैं, और ध्वनितन्त्र की एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत संगठित होते हैं, जिससे यह आभास होने लगता है कि यह व्यवस्था आरम्भ से ही है, और इसके मूल तत्व सदा से इसी प्रकार संगठित रहे हैं।"[26] यहाँ इतना और जोड़ा जा सकता है कि ये विभिन्न केन्द्र भी सांस्कृतिक एवं आर्थिक प्रचालनों के कारण विभिन्न बोलियों के परस्पर सम्पर्क में आने के बाद भी प्रायः छिट-फुट द्वीपों की तरह एक ही भाषा के प्रसार-क्षेत्र में बने रहते हैं। साथ ही यह भी कि ध्वनितत्व में परिवर्तन केवल अलक्ष्य कारणों से नहीं होते। कभी-कभी इनके विकास में सायास हस्तक्षेप भी काम करता है। किसी भी भाषा में व्याकरण के नियमों में जो अनियमितताएँ मिलती हैं उनका भी एक प्रधान कारण यह है कि अपने वर्तमान रूप में विश्व की कोई भी भाषा ऐसी नहीं है जिसमें अनेक बोलियों का और इनके तत्वों का मिश्रण न हुआ हो। प्रमुख बोली के दवाब के बाजजूद कुछ ध्वनियाँ और रूप अपनी मूल विजातीय छाया को बनाये रखती हैं।

आदि-भारोपीय के अध्येताओं को सबसे अधिक उलझन का सामना टवर्ग तथा

सघोष महाप्राण ध्वनियों की व्याख्या करते समय करना पड़ता है। सघोष महाप्राण ध्वनियों का अस्तित्व किसी अन्य भारोपीय शाखा में तो पाया ही नहीं जाता, पड़ोस की ईरानी शाखा में भी नहीं पाया जाता। द्रविड़ भाषाओं में तो सघोष महाप्राण के अतिरिक्त अघोष महाप्राण और सघोष अल्पप्राण ध्वनियों का भी अभाव है। आर्य-भाषा के अतिरिक्त भारत की किसी अन्य बोली में भी सघोष महाप्राण ध्वनियाँ नहीं पायी जातीं। इसके बावजूद इस ध्वनि की कल्पना मूल भारोपीय भाषा में की गयी है। डॉ. शर्मा लिखते हैं, "द्रविड़, कोल, नाग, इन तीनों परिवारों की भाषाएँ बोलने वाले भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से रहते आये हैं। कहा जाता है कि आर्यों ने द्रविड़ों को परास्त किया और उन्हें अपना दास बनाया। न्यूनाधिक मात्रा में उन्होंने यही व्यवहार कोल और नाग जनों के साथ किया। यदि यह बात सही है तो मानना होगा कि मुट्ठी-भर आर्य आक्रमणकारी ऐसे देश में आ गये थे जहाँ की बहुसंख्यक जनता का भाषाई परिवेश घ्, ध्, भ् जैसी ध्वनियों के प्रतिकूल था। इस विरोधी परिवेश में दो-चार पीढ़ियों तक भी इन ध्वनियों का सुरक्षित रहना कठिन था। पर वैदिक काल से लेकर अब तक, कम-से-कम चार हज़ार साल तक, इन ध्वनियों का अविच्छिन्न व्यवहार भारत में होता आया है। नाग-कोल-द्रविड़ भाषाओं के समुद्र में इन ध्वनियों को डूब कर लुप्त हो जाना चाहिए था। यूरोप में इस तरह के विरोधी भाषाई परिवेश का प्रमाण नहीं मिलता। वहाँ तो इनका लोप हो गया और भारत जैसे विरोधी परिवेश में ये ध्वनियाँ कायम रहीं। इसका कारण क्या है ?[27]

इसका कारण डॉ. शर्मा के शब्दों में यह है कि, "महाप्राणता और सघोष महाप्राणता दोनों के प्रसार का मुख्य केन्द्र उत्तर भारतीय क्षेत्र— ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त अथवा मध्यदेश—है। यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि महाप्राणता और सघोष महाप्राणता के जो लक्षण इस उत्तर भारतीय केन्द्र से दक्षिण-पूर्वी एशिया में फैलते दिखायी देते हैं, वे मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया और इसकी सीमान्त भूमि यूरोप में भी प्रसारित हुए होंगे।"[28]

प्रकारान्तर से कहें तो, यदि भाषाविज्ञान से हम कोई नतीजा निकाल सकते हैं तो वह भी इस बात की ही पुष्टि करता है कि मूल भाषा, जिसका प्रसार अन्य भारोपीय क्षेत्रों में हुआ, भारत में ही विकसित हुई थी और भारोपीय अध्ययन में संस्कृत का तथाकथित अतिरंजित महत्व आज तक बना रह गया है। लीमान ने अपनी पुस्तक हिस्टॉरिकल लिंग्विस्टिक्स में श्लीख़र द्वारा कल्पित भारोपीय भाषाओं के वंशवृक्ष को उद्धृत किया है[29]' जो निम्न प्रकार है :

उक्त लेखक ने ही स्मिट द्वारा तरंग सिद्धान्त के रूप में एक अन्य रेखांकन प्रस्तुत किया है।[30] जो निम्न प्रकार है :

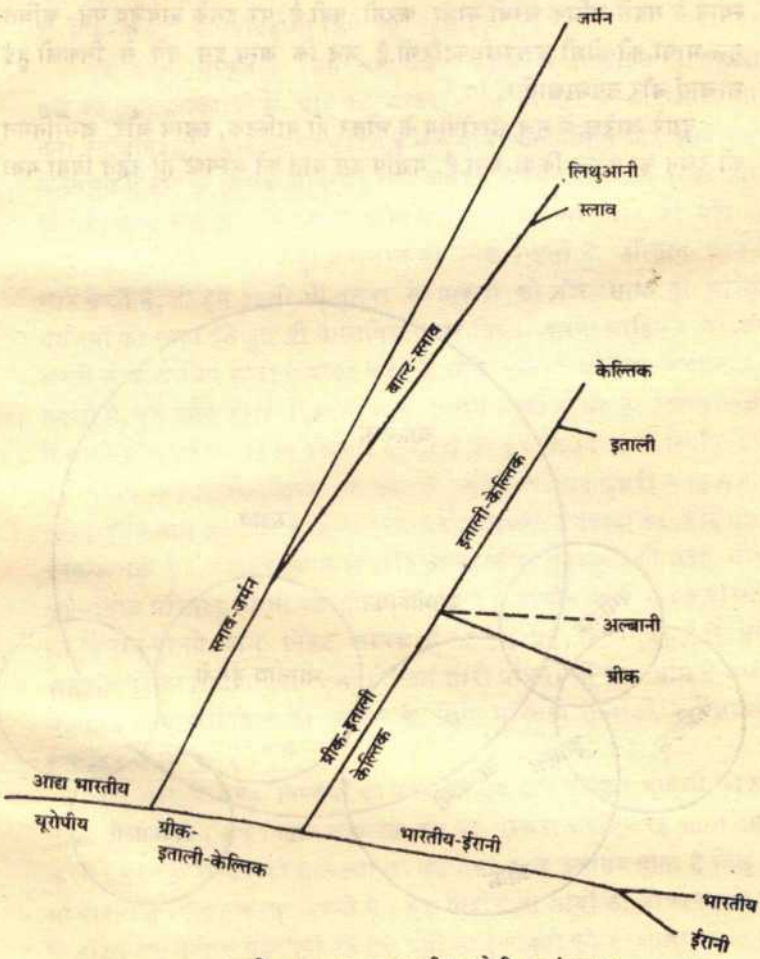

श्लीखर द्वारा प्रस्तुत भारतीय-यूरोपी का वंशवृक्ष

इन दोनों आरेखों से ठीक वही चित्र उभर कर आता है जिसे तुलनात्मक अध्ययन के आरम्भिक दिनों में विद्वानों ने पेश किया था और जिसके विषय में यह शिकायत की जाती रही है कि उनके द्वारा संस्कृत को अतिरंजित महत्व दिया जा

रहा था। पहले वंशवृक्ष में यद्यपि आदि-भारोपीय को भारतीय आर्य-भाषा से सबसे दूर रखा गया है और सरसरी तौर पर इससे लगेगा कि आर्य-भाषा को अपने मूल स्थान से सबसे अधिक लम्बी यात्रा करनी पड़ी है, पर इसके बावजूद यह कथित मूल भाषा की सीधी उत्तराधिकारिणी है जब कि अन्य इस तने से निकली हुई शाखाएँ और उपशाखाएँ।

दूसरे आरेख में मूल भारोपीय के भीतर ही बाल्टिक, स्लाव और अर्मीनियन को रखने का प्रयत्न किया गया है, यद्यपि इस बात को अस्पष्ट ही रहने दिया गया

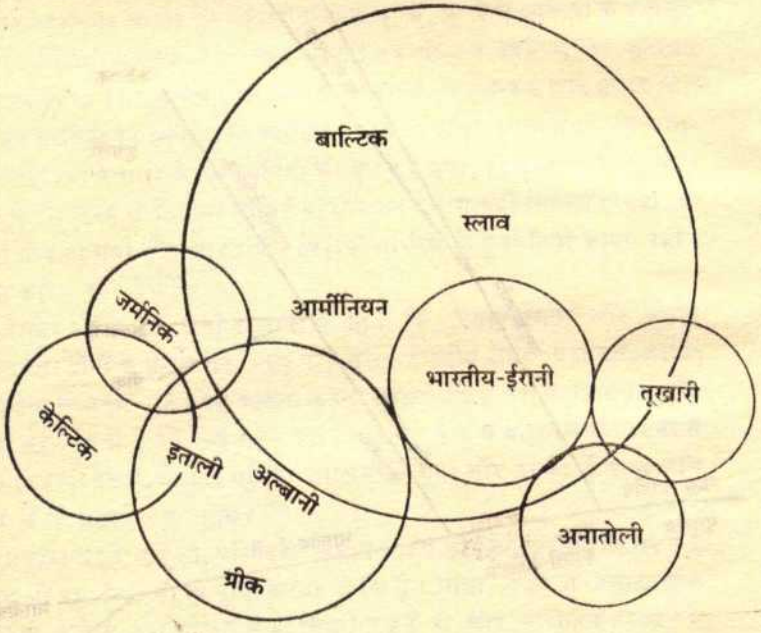

लेमैन द्वारा प्रस्तावित आद्य-भारतीय-यूरोपीय का सम्बन्ध सूत्र

है कि इनकी ठीक स्थिति क्या है। भारतीय-ईरानी शाखा को यहाँ भी नाभिकीय महत्व प्राप्त है जब कि जर्मनिक, केल्टिक, इतालवी, ग्रीक, अल्बानियन, अनातोलियन और तूख़ारी को पार्श्विक स्थान दिया गया है, हालाँकि इन दोनों आरेखों में इनके प्रस्तावकों के पूर्वाग्रह भी छिपे नहीं रहते।

इस तरह संस्कृत के जिस अतिरंजित महत्व से शिकायत है, वह आज तक की सभी व्याख्याओं में, चाहे यह व्याख्या जिस भी सिरे से आरम्भ की जाये, बना रह जाता है[31] और इसका कारण है मूल भाषा की निर्मिति और इसके प्रसार के विषय में हमारी भ्रामक धारणा। यदि यह सच है कि संस्कृत एक शिष्ट भाषा थी और आम बोल-चाल में इसका प्रयोग नहीं होता था और साथ ही यदि हम वैदिक काल में भी भारत में ही बोलचाल की अनेक प्राकृतों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, तो हमें किसी भी तुलना में प्राकृतों को और साथ ही भारतीय बोलियों को स्थान देते हुए ही वास्तविकता पर विचार करना चाहिए। डॉ. शर्मा अपनी मान्यता जिन शब्दों में व्यक्त करते हैं उनसे हमारी आंशिक असहमति हो सकती है, पर उनके द्वारा निकाला गया निष्कर्ष काफ़ी रोचक है, "भाषाविज्ञान में सामी और इंडोयूरोपियन परिवार दो छोरों पर पूरे अलगाव की स्थिति में हैं। तुर्क-मंगोल और फ़िनो-उग्रियन एक जगह हैं, सामी परिवार दूसरी जगह। आर्य-द्रविड़-कोल-नाग समुदायों से सामी और इंडोयूरोपियन समुदायों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इंडोयूरोपियन परिवार की भारतीय पृष्ठभूमि की तरह सामी-तुर्क-मंगोल परिवार की भी भारतीय पृष्ठभूमि है। प्राचीन काल में इन परिवारों की भाषाएँ बोलने वाले निकट सम्पर्क में रहे हैं। यह स्वाभाविक है कि उनमें भाषा-तत्वों का आदान-प्रदान हुआ हो। इस सारी प्रक्रिया की केन्द्र-भूमि है भारत। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की प्रगति के लिए भारतीय भाषाओं का अध्ययन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।"[32]

डॉ. शर्मा के उक्त निष्कर्षों को पढ़ने पर एक बार के लिए त्रांबेत्ती की याद ताज़ा हो आयेगी। कुछ विद्वान सम्भवतः इस पर मुस्करा कर चुप रह जाना पसन्द करेंगे। पर यहाँ स्थिति की जटिलता का एक ऐसा पहलू उजागर होता है जिस पर गम्भीरता से विचार करना ज़रूरी है। कुछ विद्वान जो आर्यों को आक्रामक के रूप में भारत तक लाने के पक्षपाती रहे हैं, इसी तरह द्रविड़ों को भी आक्रामक के रूप में उसी क्षेत्र से लाने के समर्थक हैं और मुण्डा का यूराल-अल्टाई से साम्य देखते हुए वे इसे भी उसी क्षेत्र से उससे भी कुछ पहले लाने का प्रयत्न करते हैं।[33] इसके विपरीत पूर्वेशियाई और प्रशान्त सागरीय द्वीपों की भाषाएँ कुछ भिन्न कहानी कहती प्रतीत होती हैं।[34] ऐसी स्थिति में यदि रामविलास शर्मा को केन्द्र बदला हुआ दिखायी देता है तो इसके पीछे किसी संकीर्ण आग्रह को तलाशने की जगह एक

बदले हुए नज़रिये से विचार किया जाना चाहिए—जिसके लिए पर्याप्त कारण मौजूद हैं।

5

अर्थ-विकास

भारोपीय भाषाओं के अन्तःसम्बन्ध को और मूल भारोपीय निवास को निश्चित करने के लिए, ब्रैंडेस्टाइन के विश्लेषण का उल्लेख प्रायः किया जाता है। ब्रैंडेस्टाइन ने अर्थविकासकी दृष्टि से भारोपीय भाषाओं का विश्लेषण करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि 'भारतीय-ईरानी शाखा' अर्थविकास की दृष्टि से अधिक प्राचीन स्तरों को प्रकट करती है।[35] इस तुलना को यदि भारतीय और ईरानी पर घटित करें तो पता चलेगा कि भारतीय 'शाखा' मूल अर्थों और संकल्पनाओं को अपेक्षाकृत ईरानी से भी अधिक विश्वसनीय रूप में बनाये रही है। इस विशेषता को केवल संस्कृत तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। भारतीय बोलियों में भी आदिम संकल्पना आज तक अनेकानेक मामलों में सुरक्षित पायी जा सकती है। प्रस्तुत लेखक ने शब्द-निर्माण और अर्थ-विकास की इस प्रक्रिया का उल्लेख अन्यत्र किया है।[36] भारतीय वैयाकरणों का यह दृष्टिकोण रहा है कि शब्द का अपना कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। सन्दर्भ से ही वह सुनिश्चित अर्थ ग्रहण करता है।[37] आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों का क्षेत्र-सिद्धान्त भी इसी मान्यता की पुष्टि करता है।[38] भाषा के शब्दों में अनेकार्थता का बीज उस प्राचीन अवस्था में ही मौजूद था जब विभिन्न परिवेशीय ध्वनियों को कुछ सुनिश्चित ध्वनियों से व्यक्त करने के कारण अनेक वस्तुएँ, उनके कार्य आदि उस ध्वनि से ही अभिहित होने आरम्भ हुए थे और इनके क्रम-विकास से एक ही ध्वनि से सैकड़ों शब्द मामूली ध्वनि-परिवर्तन से निर्मित होते चले गये थे और इनसे धातु, क्रियारूप, संज्ञा, विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि भी विकसित होते चले गये और आगे चल कर इन्होंने सूक्ष्म संकल्पनाओं को जन्म दिया।[39] वस्तुतः भारतीय भाषाएँ—केवल आर्य और द्रविड़ भाषाएँ ही नहीं, अपितु संताली आदि भी—भाषा के आदिम निर्माण और अर्थ-विकास के इस क्रम को जितने विश्वसनीय रूप में पेश करती हैं, उतने विश्वसनीय रूप में अन्य कोई भाषा यदि प्रकट करती हो तो इसकी हमें जानकारी नहीं है।

ब्रैंडेस्टाइन ने भारतीय और ईरानी के उक्त वैशिष्ट्य को ठीक उसी तरह उलट कर पेश किया जैसे अन्य मामलों में इन्हें पेश किया जाता रहा है। अर्थात् जहाँ सहज निष्कर्ष यह निकलता है कि चूँकि भारतीय-ईरानी में अर्थ-विकास की दृष्टि से अधिक प्राचीन अवस्था का परिचय मिलता है, अतः यदि भारोपीय

भाषाओं का उत्स केन्द्र कहीं हो सकता है तो इन भाषाओं के प्रसार-क्षेत्र के भीतर ही, वहाँ ब्रैंडेस्टाइन ने यह सुझाया कि मूल निवास से सबसे पहले अलग होने वाली शाखा भारतीय-ईरानी ही थी। परन्तु यदि हम नाभिकीय अर्थ और उन परिवेशीय ध्वनियों पर ध्यान दें जिनसे इस शब्दावली का विकास हुआ तो पता चलता है कि यह एक जल-बहुल, गर्म प्रदेश था। इस दृष्टि से भारत से बाहर का अन्य कोई क्षेत्र उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।[40]

6
प्राकृतिक परिवेश

भारोपीय भाषाओं के उद्गम का निर्णय करने के लिए एक और तरीका काम में लाया गया। यह विभिन्न भारोपीय भाषाओं में प्राकृतिक परिवेश को व्यक्त करने वाली शब्दावली में साम्यों का अध्ययन था। इसके अनुसार, "हाथी, गैंडा, शेर, बन्दर, घड़ियाल, तोता, चावल, बरगद, बाँस, ताड़, आदि के लिए भारोपीय भाषाओं में मिलते-जुलते शब्द नहीं हैं, पर बर्फ़ और पाले के लिए, ओक, बीच, पाइन, बर्च, विलो, भालू, भेड़िया, ऊदबिलाव, बनबिलाव, पोलकैट, मार्टेन, लकड़बग्घा, हिरन, खरगोश, चूहा, घोड़ा, बैल, भेड़, बकरी, सूअर, कुत्ता, ईगल, बाज, उल्लू, नीलकण्ठ, जंगली बतख़, डक, पैट्रिज/फीजैंट, साँप, केंकड़ा, चींटी, मक्खी, मधुमक्खी आदि के लिए कम या अधिक मिलते-जुलते शब्द पाये जाते हैं।" और इससे यह ज़ाहिर होता है कि मूल निवास कहीं शीतोष्ण कटिबन्ध में था, न कि ऊष्ण कटिबन्ध में।[41]

यदि इन तर्कों की कुछ बारीकी से जाँच करें तो पायेंगे कि इनका लक्ष्य मूल निवास का निर्णय करना नहीं था, अपितु भारत को सम्भावित मूल क्षेत्र से काटने के लिए दलीलें तैयार करना था। उदाहरण के लिए, ब्लूमफ़ील्ड लिखते हैं, "हम नहीं जानते कि आदिम भारोपीय कहाँ बोली जाती थी, न ही यह कि यह किस तरह के लोगों द्वारा बोली जाती थी; हम आदिम भारोपीय बोलियों को किसी विशेष प्रकार की प्रागैतिहासिक वस्तुओं के साथ भी नहीं जोड़ सकते। भारोपीय भाषाओं में 'स्नो' संज्ञा और क्रिया-रूपों में इतना प्रचलित है कि हम भारत को भारोपीय समाज के आदिम निवास से बाहर रख सकते हैं।[42] चाहे वह स्नो हो या सालमन या समुद्र, इस जटिल समस्या का समाधान प्रायः एकल शब्दों के एकांगी प्रस्तुतीकरण के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया है।

यह लँगड़ा तर्क एक समय में बहुत लोकप्रिय था और इस पर आवश्यकता से अधिक भरोसा किया जाने लगा था। पर जल्द ही इसकी सीमाएँ स्पष्ट हो गयीं

और इसकी विश्वसनीयता ख़त्म हो गयी। पहली बात तो यह कि जब कोई जन-समाज अपना स्थान बदलता है और ऐसे परिवेश में पहुँच जाता है जहाँ उसकी पूर्व-परिचित वस्तुओं का अभाव हो तो उसकी भाषा से उन वस्तुओं को व्यक्त करने वाले शब्द प्रयोग में न आने के कारण मर जाते हैं। इक्के-दुक्के मामलों में पुराने परिवेश की परिचित वस्तुओं का नाम उनसे मिलती-जुलती ऐसी वस्तुओं को दे दिया जाता है जो नये परिवेश में उपलब्ध होती हैं। इसके बावजूद यदि अन्य भारोपीय भाषाओं में ऋग्वेद जैसा कोई अतिप्राचीन साहित्य अपने अविकल रूप में उपलब्ध होता तो भी यह जानने में कुछ सहायता मिल सकती थी कि भारतीय परिवेश की सूचना देने वाले कुछ शब्द उस समय अन्य भाषाओं में पहुँचे भी थे या नहीं। जहाँ तक ऋग्वेद की बात है, इसमें कोई ऐसा शब्द नहीं आया है जिसका भारत में अभाव हो और जो किसी अभारतीय मूल की सूचना देता हो। तीसरी बात यह कि अनेक ऐसी चीजें हैं जिनसे मूल भारोपीय जन असन्दिग्ध रूप से परिचित थे, पर उनसे सम्बन्धित समान शब्दावली का अभाव देखने में आता है। जैसा कि शीयर्ड ने लिखा है, "हमारे पास हाथ के लिए कोई समान शब्द नहीं है; क्या हम यह दलील दे सकते हैं कि जब-तक ये लोग छोटे-छोटे जत्थों में नहीं बँट गये तब तक उनके हाथ नहीं निकले थे? दूध के लिए भी कोई समान शब्द नहीं है, फिर भी हम जानते हैं कि उनके पास ढोर और रेवड़ थे।"[43]

परिवेश का निर्धारण करने का कोई औचित्य तब हो जब हम यह सुनिश्चित रूप से जानते हों कि सचमुच भारोपीय जनों का किसी बड़े पैमाने पर प्रव्रजन हुआ भी था। पर जैसा कि इमेनो और कीथ आदि ने स्वीकार किया है, इस विषय में हम बिलकुल अन्धकार में हैं।[44] ठीक यही निष्कर्ष पुरातत्व की खोजों से भी निकलता है। श्री बालकृष्ण थापड़[45] और डॉ० स्वराज्यप्रकाश गुप्त ने इसका विशद् निरूपण किया है।[46] यदि ऋणात्मक प्रमाणों का कोई अर्थ होता है तो सबसे पहले इनको इस विन्दु पर ही अमल में लाया जाना चाहिए कि चूँकि हमें प्रव्रजन के विषय में इतनी सारी ऊहापोह के बावजूद एक भी प्रमाण नहीं मिला है अतः प्रव्रजन की बात सर्वथा सन्दिग्ध है। सारा मामला भाषा और सांस्कृतिक तत्वों के प्रसार का है और निश्चय इस बात का किया जाना चाहिए कि बड़ी संख्या में जन-संचलन के बिना भी क्या भाषा और संस्कृति का प्रसार हो सकता है? और यदि हाँ, तो किन रूपों में? और फिर यह तय किया जाना चाहिए कि प्रस्तुत मामले में इनमें से कौन-सा कारण इसके लिए उत्तरदायी रहा हो सकता है?

एक और तरीका तुलना के लिए अपनाया जाना चाहिए था। वह था ऋणात्मक के स्थान पर धनात्मक साक्ष्यों का। चूँकि नये परिवेश में अनुपयुक्त शब्द मर जाते हैं, अतः यह देखना अधिक उचित था कि जो शब्द दोनों परिवेशों में जीवित

हैं उनके आर्थी स्रोत किस मूल परिवेश की सूचना देते हैं। उदाहरण के लिए, 'स्नो' शब्द को लिया जा सकता है, जिस पर ब्लूमफ़ील्ड ने आवश्यकता से अधिक भरोसा कर लिया है। भारत के लिए बर्फ़ कोई अजूबा नहीं है। प्राचीनतम काल से ही भारतीय हिमालय से परिचित रहे हैं और हड़प्पावासियों को पहाड़ों का बहुत निकट से परिचय प्राप्त था। उनके लिपि-चिह्नों में से एक पहाड़ का ही सूचक माना जाता है। वैदिक साहित्य में भी हिमालय से परिचय का संकेत मिलता है।[47] भारत में बर्फ के लिए हिम शब्द प्रचलित रहा है। ला. 'हिएम्स' और प्रा. स्ला. 'ज़िम' आदि में यह शब्द सुरक्षित पाया जा सकता है। यदि इसके लिए अधिक प्रचलित शब्द 'स्नो'—जेंद 'स्निज्ल', गॉ, 'स्नेइव्स', लिप्त, स्निग्-ति' आदि—था तो भारतीय शाखा में यह लुप्त क्यों हो गया? 'स्नो' प्रवाही जल 'स्र-/स्न-' सं. स्नेह, स्नान, सर-सल् से व्युत्पन्न है। इसके गति या प्रवाह का मूल भाव अं. स्नेक सर्पेंट, सर्कल आदि में सुरक्षित है। मूलतः प्रवाही जल के लिए प्रयुक्त शब्द का ही बर्फ़ के लिए प्रयोग क्या इस बात का सूचक नहीं है कि पहले इन लोगों का परिचय जमे हुए जल की तुलना में प्रवाहशील जल से अधिक था? इसी तरह फा. 'बर्फ़' संस्कृत 'वृष्/ वर्षा' से अभिन्न सादृश्य रखता है। हम अन्यत्र देवत्व पर विचार करते हुए यह देख आये हैं कि यूरोपीय भाषाओं और देवशास्त्रों में भी जहाँ मुख्यतः बर्फ़ पड़ती है, हिम का कोई देवता नहीं है, अपितु वर्षा का ही देवता पाया जाता है।

कहा यह जाता है कि मूल जन समुद्र से भी परिचित नहीं थे; कारण, इसके लिए शब्दावली में समानता नहीं पायी जाती। संस्कृत 'सार' और अंग्रेज़ी 'साल्ट' का यदि कोई अर्थ निकल सकता है तो यही कि इसे सलिल या सर, अर्थात् जल से प्राप्त किया जाता था जो समुद्र से परिचय का सूचक है। ऋग्वेद में भूख या 'क्षुधा' की तुलना में 'तृषा', 'तृष्णा' आदि का विविध रूपों में चारगुने से अधिक बार प्रयोग हुआ है जो इस बात का सूचक है कि वैदिक जनों को प्रायः किन्हीं ऐसी परिस्थितियों में रहना पड़ता था जिनमें पेय जल का अभाव हो जाता था। पानी का इन स्थितियों में अभाव कितना भयानक और यन्त्रणापूर्ण हो सकता था, इसे 'त्रास' शब्द से समझा जा सकता है। हमने इन परिस्थितियों को समुद्र यात्राओं के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है। यह एक रोचक बात है कि क्षुधा नहीं, अपितु 'तृषा' के लिए विभिन्न भारोपीय भाषाओं में प्रयुक्त शब्दावली—ईरानी 'तरसना', ग्रीक 'तर्सस्थेह', ला. 'तोरेरे', प्राउज़. 'डर्स्ट', अंग्रेज़ी 'थर्स्ट'—में गहरा साम्य पाया जाता है। इसी तरह सं, 'स्वेद', अं. 'स्वेट,' ला. 'सुदोर', प्राउज. 'स्वेहज़' आदि का साम्य भी रोचक है। 'स्नो', 'स्वेट', 'साल्ट' और 'थर्स्ट' को यदि सही सन्दर्भ दें तो इन सभी से किसी ठण्डे देश

की नहीं, अपितु गर्म देश और वह भी भारत की सम्भावना बढ़ती दिखायी देगी। श्रेडर जो स्वयं भी भारोपीय मूल निवास के रूप में उत्तरी यूरोप के ही पक्षधर रहे हैं, यह स्वीकार करते हैं कि भारोपीय भाषाओं में कम-से-कम दो शब्द ऐसे हैं जो मूल क्षेत्र में नौचालन के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं।[48] वह यह भी स्वीकार करते हैं कि मूल जन अनसिले और खुले वस्त्र पहनते थे।[49] वे ऊनी ही नहीं, सूती कपड़ों से भी परिचित थे।[50] जंगल से उनका कुछ ऐसा खास लगाव था कि अनेक यूरोपीय भाषाओं में मन्दिर और वृक्ष पर्याय-से बन गये थे और यूनान में तो देवताओं की[51] मूर्तियाँ या तो पेड़ पर टाँग दी जाती थीं या इनके नीचे ही स्थापित की जातीं थीं और अवेस्ता के अनुसार आर्यों के मूल निवास ऐरन वेजा में सदा ग्रीष्म ऋतु रहती थी जो अग्रमैन्यु द्वारा नष्ट कर दी गयी, क्योंकि वह लोगों को खुश नहीं देखना चाहता था।[52]

अनेक विद्वान आज भी अपनी व्याख्याओं में आदिम भारोपीय के परिकल्पित रूपों का और वनस्पतियों तथा प्राणियों की तुलनाओं का सहारा लेते हैं। उदाहरण के लिए, मूल भारोपीय क्षेत्र का निश्चय करने के लिए पाल फ्रीड्रिक ने पुनः उसी पद्धति को अपनाया है। उन्होंने इसके लिए पुरावानस्पतिकी (पराग विश्लेषण) को आधार बनाया है। उनके मत से 18 वनस्पतियों के लिए विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त शब्दावली में साम्य पाया जाता है, जिससे पता चलता है कि भारोपीय मूल निवास में ये पौधे पाये जाते थे। इनमें से 12 को उन्होंने प्रधान माना है।

उक्त लेखक ने जिन समानताओं पर बल दिया है उनमें से कुछ ऐसी हैं जिनसे मिलते-जुलते शब्द भारतीय भाषाओं में नहीं पाये जाते। ऐसी वनस्पतियों पर विचार करने का कोई औचित्य नहीं है। हम यहाँ केवल उन वनस्पतियों के विषय में विचार करेंगे जिनसे मिलते-जुलते नाम भारत में पाये जाते हैं। फ्रीड्रिक ने अपनी व्याख्या के लिए विचारणीय काल को तीन भागों में बाँटा है: बोरियल—7000 = 5500 ई. पू.; अटलांटिक = 5500 = 3000 ई. पू. और कांटीनेंटल—3000 = 800 ई. पू.। उन्होंने विशेष बल अटलांटिक काल पर दिया है जिसे वह भारोपीय एकता का काल मानते हैं।[53] हम उनके द्वारा प्रस्तुत वनस्पतियों में से कुछ पर यह देखने के लिए विचार करेंगे कि यदि इस प्रकार के शब्द-भण्डार के भी विवेचन में उतरें तो भी यूरोपीय या मध्येशियाई मूल निवासों की और वहाँ से इन जनों के प्रसार की कल्पना सतही अँटकल बाज़ियों पर आधारित सिद्ध होती है।

बर्च—सं. भूर्ज, प्रा. प्र. 'बेर्ज', 'रूसी' 'बेरेज़ा', ईरानी 'बार्ज' में इसकी छाया दिखायी देती है। इसका मूल भारोपीय रूप 'भेर्ह्-ग्'—कल्पित किया गया है।[54] यह वृक्ष बोरियल काल में लेखक द्वारा प्रस्तावित मूल निवास में प्रचुरता ले पाया जाता था। पर अटलांटिक काल में इसकी संख्या घट गयी और तब से यह वृक्ष

विरल रूप में ही मध्य यूरोप, जिसमें रूसी यूरोप भी आता है, में पाया जाता है।

यह वृक्ष भारत में हिमालय क्षेत्र में अति प्राचीन काल से पाया जाता है और यहाँ के बहुत महत्वपूर्ण वृक्षों में से एक रहा है, क्योंकि इसकी छाल से भूर्ज-पत्र प्राप्त होता था जो लेखन-सामग्री के रूप में उपयोग में लाया जाता रहा है। बर्च के साथ यदि बार्क – पेड़ का छिल्का—शब्द पर ध्यान दिया जाये तो पता चलेगा कि लेखन के लिए भले वहाँ भूर्जपत्र का प्रयोग न हो सका हो, पर इस वृक्ष के नामकरण के पीछे छिल्के का हाथ है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बिखराव के लिए परिकल्पित काल में यह वृक्ष प्रस्तावित भारोपीय क्षेत्र में नहीं के बराबर ही पाया जाता था और यही स्थिति तब से लेकर लगभग आज तक बनी चली आयी है। यह मृतप्राय पौधा, जिसके आर्थिक उपयोग के विषय में भी वहाँ कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती है, क्यों बिखरने वाले जनों की स्मृति में चिपका रह गया और भारत तक चला आया, यह स्पष्ट नहीं किया गया है। इसके विपरीत भारतीय पृष्ठभूमि को सामने रखने पर इसकी उपस्थिति, उपयोगिता और महत्व के बिषय में कोई भ्रम नहीं रह जाता, अतः यदि यह नाम इस वृक्ष के लिए अनेक यूरोपीय भाषाओं में भी प्रयोग में आता है तो यह भारत से ही गया प्रतीत होता है।

स्काच पाइन—इसके लिए भारोपीय मूल रूप 'प्यत् (व)' कल्पित किया गया है। यही अल्बा. 'पिशे' है, जो मीयर के अनुसार 'पीत्-सिया' और संस्कृत 'पीतदारु' में प्रतिम्बिबित है। इसका एक अन्य प्राचीन रूप कल्पित किया गया है जिसमें 'क्' जुड़ा हुआ माना गया है। इसकी पुष्टि लिथु. पुशिस, प्राउज. फिउहता और मआ. ओक्टाक से होती है। लेखक के अनुसार इन विभिन्न शब्दों का प्रयोग पाइन, फ़र, स्प्रूस के पौधों के लिए और इनके विशिष्ट उत्पाद—गोंद—के लिए किया जाता रहा है। लेखक ने शंकु वृक्षों के लिए भेदक शब्दावली के अभाव को एक समस्या माना है। इसका समाधान उसने इस रूप में सोचा है कि अटलांटिक काल में भारोपीय निवास में फ़र नहीं पाया जाता था। अटलांटिक काल के अन्तिम दौर में यह अर्मीनिया और प्राइपेट डेस्ना के समीपवर्ती क्षेत्रों में रहा हो सकता है। इन वृक्षों में सबसे प्रधान है स्काच पाइन जो बोरियल काल में तो अस्तित्व में था, पर अटलांटिक काल में अधिक सख्तजान वृक्षों ने इसे उजाड़ दिया। दूसरे शब्दों में कहें तो, प्रस्तावित काल में उक्त लेखक द्वारा प्रस्तावित क्षेत्र में यह वृक्ष नहीं था और बाद में भी यह कभी प्रमुख वृक्ष नहीं बन पाया।

ऐस्पेंस और पोप्लर—फ्रीड्रिक लिखते हैं, "वानस्पतिक दृष्टि से 'पोपुलस' की प्रजातियाँ विगत हिम-काल से ही मौजूद रहीं और...अटलांटिक काल में ये एक अल्पसंख्यक सदस्य के रूप में ही जीवित रही हैं।"

ऐपेंस का मूल रूप 'अस्प' कल्पित किया गया है। लेखक के कथनानुसार कुछ अध्येता इसे संस्कृत के 'स्फ्य' से जोड़ते हैं जो लकड़ी का बना एक याजिकीय उपकरण था। 'अस्प'—की छाया मूल बाल्टिक, जर्मनिक, स्लाविक, प्रास्ला, आदि में प्रचलित 'ओप्स' में देखी जा सकती है। यूराल-अल्टाई भाषाओं में 'अप्सक' और 'अस्पक' में भी इसका प्रभाव दिखाई देता है, अतः लेखक ने इसे भाषा विशेष का शब्द न मान कर क्षेत्रीय शब्द माना है। क्षेत्रीय शब्द क्या होता है इसे लेखक ने स्पष्ट नहीं किया। कोई शब्द चाहे जिस भी क्षेत्र में हो, होगा तो किसी न किसी भाषा का ही। जो भी हो, "पोप्लर" की एक किस्म 'पोप्लर ट्रेमुला या झूमने वाला पोप्लर है।

यह बात कुछ अजीब सी है कि पण्डितों का ध्यान 'स्फ्य की ओर तो गया पर उनका ध्यान 'अश्वत्थ' की ओर नहीं गया जो 'अस्प'—से अधिक निकटता रखता है। उनका ध्यान पोप्लर और पीपल के साम्य की ओर भी नहीं गया। अपनी बनावट में पोप्लर पीपल से इतनी निकटता रखता है कि इसका हिन्दी पर्याय कामिल बुल्के ने अपने कोश में वन-पिप्पल किया है। इसका 'अश्वत्थ' नाम इसकी पत्तियों की चंचलता के कारण पड़ा है। इसी चंचलता के कारण बिजली या चंचला का एक पर्याय 'अश्वजनी' है। 'पोप्लर ट्रेमुलस' में भी इस चंचलता की अर्थ-छाया शेष है।

ऐसी स्थिति में जिन लोगों ने पोप्लर को यह नाम दिया वे पीपल से और इसके अन्य पर्याय 'अश्वत्थ' से भी परिचित थे। रूपसाम्य को देखते हुए उनका ऐसा करना अस्वाविक नहीं था। इस तर्क को उलट कर यह भी कहा जा सकता है कि पोप्लर से पहले से परिचित लोगों ने भारत में आने के बाद पीपल को ये नाम दिये। पर एक तो पोप्लर कभी अपने क्षेत्र का प्रधान वृक्ष था भी तो हिम युग से पहले ही। विचारणीय काल में वह एक विरल पौधा ही था। इसका ऐसा कोई उपयोग भी नहीं था जिससे वहाँ इसकी कोई विशेष प्रतिष्ठा मानी जाए। पर पीपल नाम 'पिप्यु' से निकला है जिसका अर्थ 'खाद्य'। ऋग्वेद में 'पिप्युषी,[55] 'सुपिपल्ला[56] आदि प्रयोग देखने में आते हैं और आगे चल कर तो 'पैप्पलाद शाखा' का अस्तित्व भी देखने में आता है। ऐसा लगता है कि आहार संचय के दिनों में पीपल का गोदा मनुष्य के खाद्य पदार्थों में था और इसको सुखाकर अभाव के दिनों के लिए भी रखा जा सकता था। गोदा शब्द स्वतः भी—'गुद' आनन्द लेना तृप्त होना—खाद्यपरक अर्थ रखता है। यही कारण है भारतीय समाज में पीपल एक पवित्र और समादृत वृक्ष माना जाता रहा है। हड़प्पा के भाण्डों आदि पर भी पीपल की पत्ती के आशय चित्रित हैं और मेहरगढ़, मुंडीगाक आदि स्थलों से प्राप्त ठीकरों आदि पर इसके आशय को लक्ष्य किया तथा प्रसार की दिक्षा को पहचाना जा सकता है। अतः पोप्लर को उसका यह नाम ऐसे लोगों द्वारा ही दिया गया

हो सकता है जो पीपल से पहले से परिचित थे।

विलो—इसके आदि भारोपीय 'स्/व्—व्ल्यक' रूपों की कल्पना इस आधार पर की गयी है कि इसके दो समानान्तर रूप यूरोपीय भाषाओं में देखने में आते हैं। ला. 'सैलिक्स, प्रा. आय. 'सेलेक', ग्रीक 'हेलिकोन' और प्राउज. 'सलह' एक श्रेणी में आते हैं और ग्रीक 'वेलिकोन', जर्मनिक 'विल्ज' दूसरे वर्ग में आते हैं। पहले वर्ग के आदि में 'स—' है और दूसरे वर्ग के आदि में 'व्—'। हित्ती में 'युएल्लु'—चरागाह और 'युएल्कु' घास के अर्थ में प्रयोग में आता था। 'स्/व्—व्ल्यक' के विषय में कल्पना यह की गयी है कि ये 'सेल्क-' बटना, ऐंठना और 'व्यट्-', मूल धातु 'व्य-' झुकना, मुड़ना से निकले हैं। विलो का पौधा इन दो नामों से कैसे पुकारा जाने लगा, इसका स्पष्टीकरण यह है कि 'दोनों मूलों वाले शब्द किसी न किसी तरह इस आर्द्रता-प्रेमी और सर्वाधिक व्यापक प्रजाति के दो प्रभेदों के लिए प्रयोग में आते रहे होंगे। 'यह पौधा झाड़ी और वृक्ष दोनो रूपों में पाया जाता है और ख़ास कर नदियों के किनारे उगता है। वाइन या 'विनी' को ध्यान में रखते हुए अनुस्वरांत 'व्यं' की सम्भावना भी मानी गयी है।

ध्वनिविशारदों द्वारा कल्पित मूल रूप कितने प्रामाणिक या अप्रामाणिक हैं इस पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं, पर 'सेल्क' और सं. 'शर' 'व्यट्'और 'वेतस्' न केवल परस्पर ध्वनि-साम्य रखते हैं अपितु इनसे सम्दर्भित पौधों और इनके आर्थी स्रोतों पर भी प्रकाश पड़ता है। ये अन्य बातों के अतिरिक्त इस मामले में भी समानता रखते हैं कि आर्द्रता से और नदियों के किनारे की नम ज़मीन से इन दोनों का भी सम्बन्ध है। शर में कुश और कास से लेकर सरकण्डा तक और वेतस् में पतले बेंत से लेकर बाँस जैसे मोटे बेंत तक आते हैं। वेतस् अर्थात् 'व्-ए-तस' का 'ए' अय-अइ, आई और घिस कर 'इ' बन सकता है और 'वाइन' 'विनी' बन सकता है। 'सेल्क' में उच्चारण स्थान अग्रवर्ती हो कर अ-ए में, श—स में और र—ल में परिवर्तित होगा, जो सर्वथा नियमानुसार है।

ऐपल—इसके लिए प्रयुक्त केल्टिक 'एल्बु' प्रा. बा. ऐबोल में मध्यस्थ /-ब्-/-ल्-/ के उच्चारण की अनिश्चितता के कारण अधिकांश भारोपीय विशेषज्ञ उलझन महसूस करते हैं। और इसके पूर्वरूप, 'ऐब्ल—को गैर-भारोपीय मानना अधिक पसन्द करते हैं। कुछ का ख्याल है कि यह शब्द कभी केल्टिक में उधार लिया गया था और फिर जर्मनिक, बाल्टिक, स्लाव, और इतालवी में पहुँचा।"

ऐपल का एक अन्य पर्याय ग्रीक 'मेलोन', ला. 'मालम्'—में पाया जाता है और तूखारी 'मला', माल तथा हित्ती 'मह्ल'—अंगूर की याद दिलाता है, पर इसे भरोसे का नहीं माना जाता। लेखक ने दोनों शब्द रूपों को ग़ैर भारोपीय स्रोत का माना है और ग्रीक, तूखारी तथा हित्ती शब्दों के बीच पाये जाने वाले

ध्वनिसाम्य को ध्यान में रखते हुए इनके बीच अर्थगत सम्बन्ध में स्वीकार किया है। जो भी हो, यदि इसे अभारोपीय मूल का माना जाता है और साथ ही यह भी स्वीकार किया जाए कि यह पौधा तथाकथित मूल भारोपीय क्षेत्र का है तो इससे यही सिद्ध होगा कि जिसे मूल भारोपीय क्षेत्र कहा जा रहा है वह प्रभाव विस्तार का गौण केन्द्र हुआ, जहाँ की स्थानीय बोलियों में से किसी से यह शब्द यूरोपीय तथा अन्य बोलियों में पहुँचा था।

मैपल, नट और ओक— मैपल के लिए ग्रीक में 'अक्स्तोस्' शब्द व्यवहार में आता है। इसकी तुलना सं. 'अक्ष'—बहेड़ा से की जा सकती है। यह स्मरणीय है कि मैपल के बीज के मनके भी बनते रहे हैं और मनके का एक पर्याय अक्ष भी है। अक्ष का प्रयोग बहेड़े के बीज के लिए भी होता रहा है। ग्रीक में मैपल के लिए एक अन्य शब्द 'एकॉर्न' है। ओक के लिए हित्ती 'तरु', तूखा. 'दोर्' तथा लगभग बारह शाखाओं में 'द्रेव' 'दोर्व' और 'देर्व आदि रूप पाये जाते हैं। ये सभी शब्द सं. 'तरु' 'दारु' से इतना निकट साम्य रखते हैं कि इनके बीच किसी सम्बन्ध की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। मूलतः यह शब्द वृक्ष मात्र के लिए प्रयोग में आता था, यह अंग्रेजी 'ट्री' में स्पष्ट देखा जा सकता है। ओक के लिए ही दूसरा पर्याय प्रा. नार्स फ्ज्योर्नयन्' तथा प्राउज. 'फरेह-ईह' है जिसे लेखक ने संस्कृत 'पर्जन्य' से सम्बद्ध माना है। वृष्टिप्रेमी या बरसात में विकास वाले पौधों के लिए संस्कृत में पर्जन्यवृद्ध और वृष्टिजनी शब्दों का प्रयोग देखने में आता है।

इन वृक्षों के लिए प्रयुक्त समान शब्दावली पर विचार करते समय जो तथ्य उभरकर आते हैं वे काफ़ी रोचक हैं। अनेक वृक्ष प्रस्तावित भारोपीय निवास में प्रस्तावित प्रसार-काल में या उसके बाद मृतप्राय से दिखाई देते हैं। इस काल के जो प्रधानवृक्ष थे उनके लिए प्रयुक्त शब्दावली में पूरे भारोपीय क्षेत्र में अपेक्षाकृत सादृश्य का अभावहै और जो मरणासन्न वृक्ष हैं उनकी शब्दावली में समानता दिखाई देती है और इस शब्दावली की व्याख्या कल्पित भारोपीय रूपों की तुलना में संस्कृत प्रतिरूपों से अधिक आसानी से होती है। यूरोप में इन वृक्षों की कोई आर्थिक उपादेयता या सांस्कृतिक अर्थवत्ता भी नहीं दिखाई देती, पर भारतीय भूमि में इनका महत्व स्पष्ट है। यूरोपीय भाषाओं में इनके नाम एकल और रूढ़ प्रतीत होते हैं, भारतीय भू भाग में ये जातीय शब्द प्रतीत होते हैं। जल और पर्जन्य-से सम्बन्ध जलवायु के सम्बन्ध में भी कुछ संकेत देता है। इस तरह वानस्पतिक जगत से भी लगभग वैसा ही चित्र उभरता है जैसा भाषिक विश्लेषण के अन्य पक्षों से उभरता है।

उपसंहार

इस तरह हम पाते हैं कि हम जिस भी दृष्टि से विचार करें मूल भारोपीय भाषा का उदय भारत में ही हुआ दिखाई देता है। भारोपीय जनों के विषय में जो कहानियाँ गढ़ी गयी हैं वे निराधार सिद्ध होती हैं। उनके पक्ष में कोई ठोस प्रमाण किसी ओर से आता नजर नहीं आता। पर भाषा और संस्कृति का सादृश्य एक कठोर वास्तविकता है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता और जिसके विषय में इससे अधिक किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि यह इस पूरे क्षेत्र में सबसे प्रभावशाली दाय के रूप में आज तक मौजूद है। यह सच है कि भाषा का अर्थ नृजाति नहीं होता और इनके बीच अनिवार्य सम्बन्ध भी नहीं होता। यही बात संस्कृति के विषय में भी कही जा सकती है। इस बात को कुछ और बल देकर कहें तो भाषा के प्रसार और प्रभाव के लिए न तो आक्रमण जरूरी है, न ही बड़े पैमाने पर प्रव्रजन। आक्रमण और प्रव्रजन की तुलना में मनुष्य की आर्थिक गतिविधियों, विशेषकर वाणिज्य, का भाषा और संस्कृति के प्रसार में अधिक योगदान हुआ करता है और भारतीय प्रभाव विस्तार भी इसी तरह का हो सकता है। जैसा कि हमने आरम्भ में कहा है, यद्यपि आज तक हड़प्पा की लिपि पढ़ी नहीं जा सकी है, हड़प्पा सभ्यता की भाषा का विकास जिस स्तर का होना चाहिए वह स्तर संस्कृत में वैदिक काल से ही दिखाई देता है और ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों की भाषा भी इतनी सशक्त है कि इससे प्रकट होता हैं कि ऋग्वेद की रचना आरम्भ होने से पहले ही इसने असाधारण विकास कर लिया था। इसके विपरीत वैदिक भाषा जिस सभ्यता का पूर्वानुमान जगाती है वह पूरे भारोपीय क्षेत्र में केवल भारत और वह भी हड़प्पा सभ्यता में ही चरितार्थ होती दिखाई देती है। अतः हड़प्पा की लिपि पढ़ी गयी है या नहीं, कभी पढ़ी जा भी सकेगी या नहीं, पर वैदिक भाषा और हड़प्पा सभ्यता, वैदिक साहित्य और हड़प्पा का जीवन दोनों एक दूसरे की अपरिहार्यता को सिद्ध करते हैं। इसके बावजूद इस बात की पूरी सम्भावना हो सकती है कि हड़प्पा के अभिलेखों की भाषा वैदिक संस्कृत न होकर वैदिक प्राकृत ही हो जो ही आम व्यवहार में काम में लायी जाती रही हो। पर इस प्राकृत का रूप निश्चय ही परवर्ती कालों की पालि और प्राकृतों जैसा रहा होगा, इसमें सन्देह है। यह भी जरूरी नहीं कि समूचे हड़प्पा क्षेत्र में अन्य भारतीय बोलियों के छिट फुट-द्वीप न रहे हों। बल्कि इसकी सम्भावना निश्चय ही अधिक दिखाई देती है। प्रकारान्तर से कहें तो यदि प्रसार हुआ तो वह केवल संस्कृत या प्राकृतों का ही नही अपितु द्रविड़ और आस्ट्रिक तत्वों का भी हुआ और यह प्रसार विशिष्ट अंचलों से जाने वाले व्यापारियों की संख्या पर निर्भर करता दिखाई देता है। जो भी हो, भारत से बाहर से वैदिक या आर्य भाषा के आने का कोई प्रमाण

दिखाई नहीं देता जब कि हड़प्पा के व्यापारियों के साथ इस प्रभाव के बाहर फैलने की हर सम्भावना दिखाई देती है। इस दृष्टि से इस प्रभाव विस्तार के दो चरण मानने होंगे—प्राथमिक प्रसार जो भारत से हड़प्पा के व्यापारियों के जरिए उन क्षेत्रों तक हुआ जहाँ से इनके व्यापारिक सम्पर्क थे ओर जहाँ अपने व्यापारिक हितों के कारण इन्होंने सम्भवत: स्थायी बस्तियाँ भी बसा ली थीं जैसा कि पुरातत्व ने हाल ही में प्रमाणित किया है; वक्षु (आक्सस) नदी पर बसी शोर्तुगाई हड़प्पा वासियों की एक ऐसी ही स्थायी बस्ती थी। दूसरा, परवर्ती प्रसार जोइन केन्द्रों से आगे की ओर हुआ लगता है। पहले चरण में भारतीय मूल के व्यापारियों का योगदान इस प्रसार कार्य में जरूरी था पर दूसरे चरण के लिए यह कदापि जरूरी नहीं। आगे का काम उनके द्वारा पैदा किया प्रभाव कर सकता था। इस प्रसार को रिले दौड़ के रूप में ही समझा जा सकता है। यूरोपीय भाषाओं में परस्पर पायी जाने वाली ऐसी समानताएँ जिनको हम भारतीय क्षेत्र में नहीं पाते और जिनका सन्तोषजनक समाधान भारोपीय या वैदिक भाषा-तत्वों से नहीं हो पाता, इन उपकेन्द्रों से, वहाँ की स्थानीय बोलियों से लिए गये हो सकते हैं।

बैक्ट्रिया, तूरान, सीस्तान या रूसी तुर्कमीनिया की संस्कृतियों के कतिपय तत्व जो भारत के साथ कुछ साम्य प्रकट करते हैं इन प्रभावों की ही देन हो सकते हैं। यद्यपि इस बात का ध्यान रखना होगा कि कुर्गन, त्रिपोली आदि के अनेक साम्य सतही और भ्रामक हैं।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. ह्वाटमो, लैंग्वेज : ए माडर्न सिंथीसिस, 1956, 12
2. वही, 13.
3. विलियम जोन्स, एशियाटिक रिसर्चेज, 1788, 422-23.
4. मैक्समूलर, चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1867, 1, 63-65.
5. ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया, 1967, 1, 1, 8, 95.
6. टी. बरो, संस्कृत लैंग्वेज 1955, 9-10.
7. गाइल्स, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, 1, 1921 (1962 सं०); 1959, 262-64, बी. के. घोष, 'दि आर्यन प्राब्लम' दि वैदिक एज, 1965, 206 गुड एनफ, इंडोयूरोपियन ओरिजिन्स', 1970, 255, 261; 'दि इवोल्यूशन ऑफ़ पैस्टोरलिज्म ऐंड चाटुर्ज्या, बाल्टस ऐंड आर्यन्स..., 1968,

जिम्बुतास, दि बाल्ट्स 1963; ,प्रोटो इंडो-यूरोपियन कल्चर...' 1970 आदि,

8. बी. के. घोष, 'दि ओरिजिन आफ़ दि इंडो-आर्यन्स', कहेइं, 1958, 138
9. देखें, येस्पर्सन, लैंग्वेज इट्स नेचर, ओरिजिन, ऐंड डवलपमेंट 1954, 191-210 येस्पर्सन ने बताया है कि नये क्षेत्र में पहुँचने वाली भाषा किन-किन स्थितियों में किन रूपों में पहुँचती है, और उसमें प्रत्येक स्थिति में क्या परिवर्तन होते हैं।
10. पूर्व, 12 तु. करें मैक्समूलर के 'बड़े भाई' और सबसे अन्त में मूल निवास छोड़ने की कल्पना से।
11. वही, 10.
12. वही।
13. वही।
14. मारिजा जिम्बुतास, 1970, 178-75.
15. बरो, पूर्व, 15.
16. वही, 17.
17. वही, 27; ब्लाख़, इंडो आर्यन 1962, 11.
18. बरो, वही।
19. किसी एक ही मूल भाषा से संसार की अन्य भाषाओं की उत्पत्ति की सम्भावना कुछ विद्वानों को उन्नीसवीं शताब्दी तक आकर्षक लगती रही। उदारण के लिए ऐल्फ्रेड त्रांबेत्ती ने अत्यन्त व्यापक और विशद अध्ययन के आधार पर भाषाओं के विशद और विशदतर परिवारों की कल्पना करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि संरचनापरक शब्द अपने रूप में अधिक पुरातनवादी होते हैं और इन्हें आसानी से एक भाषा से दूसरी में उधार नहीं लिया जा सकता। उन्होंने सूडानी की बांतू और आस्ट्रो-एशियाटिक की ख्मेर में संख्यावाचियों की समानता, हैमिटिक—सामी, द्रविड़, मुंडा और पोलीनेशियन के बीच सर्वनामों की समानता, डकोटा (अमेरिकन इंडियन) और जार्जियन (काकेशियन क्षेत्र) की क्रियाओं की समानता का विवेचन करते हुए यह नतीजा निकाला कि सबसे अधिक समानताएँ भारतीय केन्द्र को घेर कर फैली हैं और परस्पर दूरस्थ भाषाओं में पायी जाती हैं, अतः भारत ही वह मूल निवास है जहाँ से सभी जातियाँ और भाषाएँ अलग-अलग दिशाओं में पहुँची हैं। मार्गरेट श्लाफ गिफ्ट ऑफ़ टंग्स 1949, 73-74.

श्लीगल ने 1808 में यह दावा किया था कि सभी भारोपीय भाषाएँ संस्कृत से ही निकली है। कर्जन ने 'ऑन दि ओरिजिनल एक्सटेंशन ऑफ़ लैंग्वेज ओवर सर्टेन पोर्शन्स ऑफ़ एशिया ऐंड यूरोप', जर्नल ऑफ़ रायल

एशियाटिक सोसाइटी, 16, 1856, 172; लगभग यही विचार प्रकट किए थे। इस तरह के विचार उन्नीसवीं शताब्दी में ही अपनी लोकप्रियता खो चुके थे।

20. येस्पर्सन, 1954, 48; लॉकवुड, इंडोयूरोपियन फिलॉलॉजी, 1969, 23-24 आदि द्वारा अद्धृत। भाषा में सर्वत्र समान गति और रीति से परिवर्तन नहीं हुआ करते और परिवर्तन को रोकने का चाहे जितना भी प्रयत्न हो इसे पूरी तरह रोका नहीं जा सकता। अत: किसी भी क्षेत्र से अन्यत्र फैली भाषाओं में अनेक प्राचीन रूप बने रह जाते हैं जो मूल क्षेत्र की भाषा में बदल चुके होते हैं। यह एक सामान्य नियम है।

21. मैक्समूलर ने इस पर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा था, 'जो नृत्तवशास्त्री आर्य जाति, आर्य रक्त, आर्य आँख और केश की बात करता है वह मेरी नजर में उसी तरह गुहनगार है जैसे कोई भाषाविद जो लघु कपालशब्द-कोश या दीर्घकपाल व्याकरण की बात करे। यह भाषाओं के बेबीलोनी घालमेल से भी बदतर है—यह सरासर चोरी है।" बायग्राफीज़ ऑफ़ वर्ड्स ऐंड दि होम ऑफ़ दि आर्यन्स, 1888, 120

22. ग्रियर्सन, 1967, 1, 357 और आगे; बाकरनैगल, आल्तिन्दिशे ग्रामातीक 1, 18वां; माइकेलसन, जएओसो, 33, 145-9; कीथ, एतरेय आरण्यक 180, 196; दि एज ऑफ दि ऋग्वेद, 1921, 97-98; इमेनो, 1966 आदि।

23. रामविलास शर्मा, भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी 1979, 1, 38

24. वही, 2, 1980, 14

25. येस्पर्सन, 1954, 44.

26. रामविलास शर्मा, 1980, 13-14.

27. वही, 17.

28. वही, 26.

29. विन्फ्रेड लेमन, हिस्टॉरिकल लिंग्विस्टिक्स, 1966, 139.

30. लेमैन, 141.

31. कीथ लिखते हैं, "The Language is of the highest interest, as it reveals to us an Indo. European speech with a singular clarity of structnre and wealth of inflection, even if we admit that the first discoveries of its importance from the point of view of Comparative philology exaggerated in

some degree these characteristics ." कीथ, 1921, 97

32. वही, 1980, 378.
33. देखें, काल्डवेल, 1915; चटर्जी, ब्लाख, प्रित्स्लुस्की आदि '1929; टी. बरो,' 1955; राहुल, 1964; आदि। प्रित्स्लुस्की आस्त्रिक प्रभाव केवल संस्कृत पर ही नहीं, अपितु इसकी छाया ईरानी पर और यहाँ तक कि मैसोपोटामिया की ज़बान पर भी देखते प्रतीत होते हैं। देखें, चटर्जी, 1965, 155.
34. देखें, इनसाइडर डायन,' बैकग्राउंड 'न्वाएज' ऑर 'इविडेंस' इन कंपैरेटिव लिंग्विस्टिक्स : दि केस ऑफ़ आस्ट्रोनेशियन-इंडोयूरोपियन हाइपोथेसिस इंडोयूरोपियन ऐंड इंडोयूरोपिन्वस, 1970, 431-440। लेखक ने आस्ट्रोनेशियन भाषाओं से अनेक ऐसे सादृश्यों की ओर ध्यान दिलाया है जो प्रचलित मान्यता में संशोधन की माँग करते हैं।
35. बी. के. घोष, 'दि आर्यन प्राब्लम' 'दि वैदिक एज, 1965, 215 में उद्धृत।
36. भगवानसिंह, आर्य द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता, 1873, 153 और आगे।
37. डा. कपिलदेव द्विवेदी, 1951, 150 और आगे।
38. राबर्ट लार्ड, 1966, 241 और आगे।
39. भगवान सिंह, 1973, 154 और आगे।
40. वही, 31 और आगे।
41. बेंडर, दि होम ऑफ़ दि इंडोयूरोपियन्स, 1922, शीयर्ड द्वारा उद्धृत, 1954, 117-18; देखें, श्रेडर, श्रीहिस्टारिक एंटीक्विटीज ऑफ़ दि आर्यरन पीपुल्स, 1890, अं. अनु. राजेन्द्र शर्मा, 1972, भी।
42. एल. ब्लूमफील्ड, लैंग्वेज 1965, 319
43. शीयर्ड, पूर्व., 112; देखें, लक्ष्मीधर कल्ल, 1930 भी
44. इमेनो, 'दि डायलेक्ट्स ऑफ ओल्ड इंडो आर्यन', ऐंशंट इंडो यूरोपियन डायलेक्ट्स, 1966, 132; कीथ, 'दि एज ऑफ दि ऋग्वेद', दि कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1962 सं०, 1, 70.
45. थापर, 'दि आर्यन्यस : ए रीऐप्रेजल ऑफ़ दि प्राब्लम', 1970, 147-64
46. एस. पी. गुप्ता, आर्कियालोजी ऑफ़ सोवियत सेंट्रल एशिया ऐंड दि इंडियन बार्डरलैंड्स, 2, 1976, 318.
47. नदियों के उद्गम स्थल, सोम के प्राप्ति के स्थान, रुद्र के निवास आदि के रूप में पर्वत के उल्लेख देखे जा सकते हैं।
48. ओ. श्रेडर, पृ. 353.

49. वही, 331-35.
50. वही, 333.
51. वही, 278 व 302.
52. हर्ज़फील्ड, 1947, 2,688-703; अवेस्ता, सैबुईसी, 5
53. पाल फ्रीड्रिक ; प्रोटो इंडोयूरोपियन ट्रीज, इंडोयूरोपियन ऐंड इंडीयूरोपियंस 1970, 11-34.
54. लेमैन, 1957, 53.
55. 2.13.1; 16.8; 5.73.8; 8.14.3; 9.16,7 आदि।
56. 7.101.5.

अध्याय नौ

समाज

वैदिक समाज एक संश्लिष्ट समाज था। इसका निर्माण जिन गणों से हुआ था उनमें कभी भिन्न-भिन्न भाषाएँ, सामाजिक रीति-नीति और विश्वास प्रचलित थे। वाणिज्य पर आधारित आर्थिक प्रचालनों ने क्रमशः इनके बीच जो निकट सम्पर्क और फिर सामंजस्य पैदा किया उसी का परिणाम थी वह उन्नत भाषा, व्यापक सांस्कृतिक और नैतिक चेतना तथा विश्वासों की वह कमोबेश समानता जो ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित हुई है। पर यह भिन्नता सम्पर्क की प्रकृति और मात्रा के अनुरूप उस काल में भी मौजूद थी और आगे भी बनी रही। अनेकता में एकता की जो बात भारत के विषय में प्रायः दुहरायी जाती है वह हड़प्पा-वैदिक काल में भी मौजूद थी। अपनी मान्यताओं और विश्वासों के प्रसार के लिए बौद्धिक और यदा-कदा भौतिक संघर्ष, जो कभी-कभी भिन्न मान्यताओं और विश्वासों की आलोचना तक ही सीमित न रह कर कटु निन्दा और घृणा के प्रचार का भी रूप ले लेते थे, और दूसरी ओर उनसे जुड़े लोगों को अपने भीतर समेटने के लिए उनके कतिपय अंशों को आत्मसात् करते जाने का क्रम, हड़प्पा-वैदिक काल से पहले से ही आरम्भ हो गया था, जिसका प्रमाण अब पुरातत्व दे रहा है, विशेष रूप से कोट दीजी संस्कृति द्वारा। इसके बावजूद न तो यह भिन्नता कभी पूरी तरह समाप्त हुई, न ही इसने कभी इतना उग्र रूप लिया कि सामाजिक सम्पर्क को पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दे। यह बात पूरी तरह हड़प्पा के नगरों की योजना और उनसे प्राप्त मुहरों, मृद्भाण्डों आदि से भी प्रमाणित होती है।

इस भिन्नता के तत्व भारत में जाने कितने लम्बे समय से मौजूद थे और इस सामंजस्य के लिए आर्थिक विकास भी वैदिक काल से बहुत पहले आरम्भ हो चुका था। प्रायः 7000 ई. पू. में इसका प्रमाग बोलन नदी पर बसे मेहरगढ़ से मिलता है। जो विद्वान सामाजिक-आर्थिक तनाव और जुड़ाव के इन दोनों पक्षों की ओर ध्यान नहीं दे पाते और भिन्नता का अर्थ जिनके लिए आदिम कबीलाई स्तर

का प्रखर अलगाव तथा एकता का अर्थ जिनके लिए विविध रसायनों के रचपच कर एक होने, या किसी एक शक्तिशाली द्वारा शेष को खा-चबाकर हज़म कर लेने का पर्याय दिखायी देता है, वे ही अपनी इस यान्त्रिक दृष्टि के कारण ऋग्वैदिक और उत्तर-वैदिक सामाजिक, रीतिगत और भाषाई रंगतों को आर्य-आव्रजन या आक्रमण से जोड़ कर देख सकते हैं।

पर जब ऐसे इतिहासकार भी हड़प्पा सभ्यता के विषय में विचार करते हैं और उसमें सम्मिलित जनों, प्रचलित विश्वासों और आर्थिक उपक्रमों की भिन्नताओं से उनका सामना होता है तो इनका निषेध करने का उनका साहस नहीं हो पाता। हड़प्पा से प्राप्त कंकालों से किसी नर-हत्या की पुष्टि भले ही न हो, पर इस बात की पुष्टि तो होती ही है कि इसका निर्माण जिन जनों से हुआ था उनमें से कोई चपटनास नहीं था[1] और इनमें अनेक नृजातीय तत्व विद्यमान थे, जो आज भी उस क्षेत्र में विद्यमान हैं।[2] इस तथ्य को स्वीकार कर लेने के बाद वैदिक साहित्य में प्रतिबिम्बित वैविध्यों को समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

विद्वानों का ध्यान इस ओर गया है कि वैदिक समाज एकपिण्डीय नहीं था।[3] इसमें अनेक गण सम्मिलित थे। ऋग्वेद में यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, पक्थ, भलान, अलि, शिव, पुरु, कुरु, शिग्रु आदि गण-नामों के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।[4] ये उल्लेख विशेष सन्दर्भों से सम्बन्ध रखते हैं, अतः उक्त गणों को अपने समय की पूरी वास्तविकता का सूचक नहीं माना जाना चाहिए। इनमें से कुछ नामों को टोटेम से जुड़ा हुआ माना गया है।[5] यदि टोटेम के तर्क को मान कर चलें तो इन गणों के उद्भव-क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति की भी कुछ झलक मिल जायेगी, क्योंकि कौशिक, काश्यप, अलिन, मत्स्य, अज, ऋषभ, ऐल, वेन, मातंग आदि अनेकानेक प्राचीन नाम हैं जिनमें जीवों-जन्तुओं के नाम ढूंढ़े जा सकते हैं। यह क्रम वैदिक काल तक ही सीमित नहीं रहता। महाभारत-काल में नकुल, शिखण्डी, शकुनि आदि नामों में भी इस तरह की छाया देखी जा सकती है। इनको टोटेम मानना कहाँ तक ठीक है, यह कहना कठिन है, पर इनको आधार बनाकर यह नतीजा निकालना कि वैदिक समाज वैदिक काल में भी कबीलाई स्तर पर जी रहा था, कुछ ज्यादती है। ये और इस तरह के अन्य नाम बौद्ध और उत्तर-बौद्ध काल तक जीवित रहते हैं और गौतम, काश्यप, कौशिक आदि गोत्र-नाम तो आज भी प्रचलित हैं।

जो भी हो, वैदिक समाज की रचना जिन गणों से हुई थी उनमें रीति और विश्वासों की भिन्नता थी। यदुओं और तुर्वशों को तो स्पष्टतः 'अस्नाता' या उपनयन से वंचित भी कहा गया है।[6] पुरुओं को तो असुर तक कहा गया है।[7] इन्द्र की श्रेष्ठता के विषय में सन्देह का स्वर वैदिक साहित्य में देखा जा सकता है[8] और आगे चलकर तो यह विवाद किंचित् और ज़ोर पकड़ता है। इसके साथ केवल वरुण की ही नहीं, इन्द्र की भी प्रतिष्ठा घटती है।[9] वैदिक अध्येताओं ने इस बात पर तो

ग़ौर किया है कि वरुण एक प्राचीन और प्रभावशाली देवता थे और नये मण्डलों में इनकी प्रतिष्ठा ह्रास पर दिखायी देती है, पर वे यह भूल जाते हैं कि वैदिक काल के इसी चरण में इन्द्र की मर्यादा भी घटती है[10] और वैदिक समाज आगे अपना ही नहीं, अपने देवताओं का भी नये सिरे से समायोजन करता दिखायी देता है।

2
विवाह

सामाजिक घटकों की विविधता की पुष्टि अन्त्येष्ठि और विवाह की प्रचलित रीतियों से भी होती है। मनु ने आठ प्रकार की विवाह-रीतियों का उल्लेख किया है।[11] ये हैं ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस और पैशाच। ब्राह्म विवाह में वर को बुलाकर लड़की को यथाशक्ति अलंकृत करके दे दिया जाता था।[12] देव विवाह में कन्या यज्ञ के पुरोहित को दी जाती थी।[13] आर्ष विवाह में कन्या के साथ वर को गायों की दो जोड़ी दी जाती थीं।[14] प्राजापत्य में कन्या का पिता बिना किसी आपत्ति के या स्वेच्छा से कन्या को उसके पति को सौंप देता था कि वे सुख-सद्भाव से रह सकें।[15] आसुर विवाह में कन्या का क्रय होता था।[16] गन्धर्व विवाह में प्रेम और वरण ही पर्याप्त था। इसके लिए विवाह की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं होती थी।[17] अपहरण करके विवाह करने को राक्षस[18] और आपराधिक बलात्कार को वैध रूप देने को पैशाच[19] विवाह की संज्ञा दी गयी है।

ये सभी विवरण बाद के हैं और इनकी पुष्टि वैदिक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक काल के अनेक विवाहों से भी होती है, पर इन सभी के साथ सामाजिक मर्यादा की चेतना देखी जा सकती है। इनमें आर्ष और आसुर विवाह पशुचारण की अवस्था के और राक्षस आहार-संग्रह और आखेट की अवस्था के अवशेष हो सकते हैं, पर सबसे अधम पैशाच विवाह से जुड़ी अपराधवृत्ति, लड़की या उसके स्वजनों की इच्छा के विपरीत, पर शीलभंग हो जाने के बाद सामाजिक मर्यादा के कारण इसे विवाह में परिणत करना, निश्चय ही उन्नत समाज के धूमिल पक्ष को उजागर करता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक ही समाज में एक समय में नयी-पुरानी अनेक विवाह-रीतियाँ प्रचलित हो सकती हैं और ये सामाजिक वर्गों और आर्थिक स्तरों से तो कुछ सम्बन्ध रखती हैं, पर नृतात्विक भिन्नता की कसौटी नहीं हैं।

विवाह की ये विभिन्न रीतियाँ वैदिक काल में प्रचलित रही हो सकती हैं, पर ऋग्वेद से विवाह के विषय में बहुत कम जानकारी मिलती है। इसका कुछ विस्तृत

उल्लेख सूर्या के विवाह के प्रसंग में मिलता है जो अब तक प्रचलित वैवाहिक रीतियों से काफ़ी साम्य रखता है । इसमें कन्या को सविता द्वारा सोम को, सोम द्वारा गन्धर्व को, गन्धर्व द्वारा अग्नि को और अन्ततः अग्नि द्वारा मानव-पति को दिये जाने को[20] कुछ इतिहासकारों द्वारा इस बात का सूचक माना गया है कि एक स्त्री प्राचीन काल में एक पति को छोड़ती हुई दूसरे, तीसरे या चौथे पति का वरण कर सकती थी ।[21] इसमें सच्चाई हो सकती है । अनेक जातियों में इस तरह की छूट आज भी पायी जाती है । पर प्रस्तुत मामले में यह विवाह के समय अनेक देवताओं को साक्षी बनाने का द्योतक है ।

महत्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक और उत्तर-वैदिक कृतियों में उस समाज में जो वैदिक काल में कठोर व्यवस्था से बँधा था किसी सुदूर प्राचीन काल में विवाह संस्था के अभाव का[22], स्त्रियों को प्राप्त पूर्ण निर्बन्धता का[23] भी उल्लेख मिलता है। बहू द्वारा वर की माता के लिए और वर द्वारा वधू की माँ के लिए प्रयुक्त सम्बोधन 'सास' से भी यह प्रकट होता है कि किसी पूर्ववर्ती चरण में यह समाज पितृसत्ताक न हो कर मातृ-प्रधान था, अर्थात् परिवार की शासिका माँ हुआ करती थी ।[24] उससे विकास करके यह वैदिक काल से काफ़ी पहले ही पितृ-प्रधान हो चुका था और भारोपीय समाज सर्वत्र पितृप्रधान दिखायी देता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि भारोपीय प्रभाव का विस्तार इस परिवर्तन के घटित होने से बहुत बाद की घटना है और इसके पूर्ववृत्त इन जनों के सम्बन्ध में केवल भारत में ही उपलब्ध होते हैं ।

3
अन्त्येष्ठि

विवाह की विभिन्न रीतियों के ही समान अन्त्येष्ठि की भी अनेक रीतियाँ वैदिक समाज में प्रचलित थीं । 'अग्निदग्ध' पर टिप्पणी करते हुए वैदिक इंडेक्स के लेखक लिखते हैं कि वैदिक काल में अन्त्येष्ठि की मुख्यतः दो रीतियाँ प्रचलित थीं : शवदाह और समाधि । इसकी पुष्टि में उन्होंने 'अग्निदग्ध' और 'अनग्निदग्ध' शब्दों की ओर संकेत किया है। अथर्ववेद में 'परोप्त' और 'उद्धित' को वे कुछ सन्दिग्ध आशय का मानते हैं[25], पर त्सिमर के अनुसार 'परोप्त' ईरानियों की तरह शव को जानवरों के खाने के लिए छोड़ देने का सूचक है और 'उद्धित' को ऐसी पद्धति माना जा सकता है जिसमें निस्सहाय बूढ़ों को निराश्रित मरने के लिए छोड़ दिया जाता था ।[26] ह्विटने ने 'उद्धित' प्रथा को मृतक को किसी ऊँचे चबूतरे पर छोड़ देने की पद्धति माना है ।[27]

ऋग्वेदकालीन प्रचलन पर टिप्पणी करते हुए वह लिखते हैं, "गाड़ने की विधि ऋग्वैदिक काल में दुर्लभ नहीं थी, एक सम्पूर्ण सूक्त इससे सम्बन्धित संस्कारों का वर्णन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मृत अपने सम्पूर्ण परिधान के साथ गाड़ा जाता था। उसका धनुष उसके हाथ में रहता था और सम्भवतः जंगली जातियों में प्रचलित प्रथा के अनुसार एक बार उसकी पत्नी भी मृतक के साथ जाने को विवश थी। परन्तु वैदिक काल में दोनों प्रथाएँ एक परिष्कृत रूप में प्रकट होती हैं : मृतक के हाथ से उसका पुत्र धनुष ले लेता है और विधवा अपने पति के शव के पास से उसके भाई अथवा अन्य किसी निकट सम्बन्धी द्वारा अलग हटायी जाती है। मृत और जीवित व्यक्तियों को अलग करने के लिए उनके बीच एक पत्थर गाड़ दिया जाता था। ऋग्वेद में नहीं, तो अथर्ववेद में शव रखने के एक बाक्स, 'वृक्ष' का भी उल्लेख है। दोनों संहिताओं में 'धरती के घर', भूमि-गृह के अन्य संकेत भी मिलते हैं।"[28]

वह आगे लिखते हैं, "तथापि जलाना उतना ही परिचित था और क्रमशः इसके प्रसार में वृद्धि होती गयी, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद में मृतक के शरीर को परलोक प्राप्त कराने के लिए दही (आमिक्षा) और वस्त्रालंकारों से सजाने को सदोष और त्रुटिपूर्ण माना गया है, तथा वाजसनेयि संहिता के अन्त्येष्ठि सम्बन्धी मन्त्रों का आशय भी केवल जलाना ही है। इस स्थान पर जो पद गाड़ने का उल्लेख करते हैं उनका आशय वास्तव में गाड़ने के स्थान (श्मशान) पर राख या अस्थियाँ गाड़ना है। जैसा कि ऋग्वेद के अन्त्येष्ठि सूक्त से प्रकट होता है, शव में तेल का लेप कर दिया जाता था तथा परलोक में उसका पथ-प्रदर्शन करने के लिए सम्भवतः एक बकरा उसके साथ जला दिया जाता था...।"[29]

संक्षेप में कहें तो, इस बात के पर्याप्त संकेत मिलते हैं कि जिन जनों से वैदिक समाज की रचना हुई थी उनमें बहुत पहले कुछ अलग-अलग अन्त्येष्ठि संस्कार प्रचलित थे, जिनका क्रमशः लम्बे सम्पर्क के दौरान परस्पर समन्वय भी होता आया था। प्राचीनतर रीतियों में कुछ अपेक्षाकृत अधिक असंस्कृत रही हो सकती हैं, पर वैदिक काल तक इनमें एक मार्जन और परिष्कार दिखायी देता है, जैसे पति के साथ पत्नी के दाह के स्थान पर उसका आत्मदाह के लिए तैयार होना और किसी सम्बन्धी द्वारा उठा लिया जाना।

डॉ. गुप्त ने इस मान्यता को गलत ठहराया है कि एक संस्कृति के साथ एक ही अन्त्येष्ठि की रीति प्रचलित होती है।[30] उनकी यह राय बहुत ठीक लगती है, पर इसके साथ ही इस बात का भी ध्यान में रखना होगा कि एक संस्कृति का अर्थ एक नृजाति या जनजाति नहीं होता, और यह भी कि एक नृजाति में भी एक ही अन्त्येष्ठि या अन्य रीतियाँ प्रचलित होना ज़रूरी नहीं। सभ्यता का विकास कितने भी छोटे कालखण्ड तक सीमित क्यों न माना जाये, आदमी का जीना-मरना आदि

काल से ही लगा रहा है और इस पूरे दौर में भी विभिन्न जनों का कभी प्रगाढ़ और कभी शिथिल सम्पर्क बना रहा है और आदिम समाजों की समस्त रूढ़िवादिता के बावजूद यत्किंचित लेन-देन होता रहा है। अतः आदिम भाषाओं और संस्कृतियों को भी सर्वथा शुद्ध और प्रभाव-शून्य नहीं माना जाना चाहिए। उच्चतर सांस्कृतिक विकास के साथ सम्पर्क अधिक गहन होते ही हैं। अतः न तो हम यह कह सकते हैं कि कोई संस्कृति किसी एक ही जनजाति से निर्मित हुई थी, न ही यह कि उसमें प्रचलित कोई भी रीति इकहरी और एक-जातीय रही है।

जो भी हो, वैदिक अन्त्येष्ठि रीतियों में से अधिकांश को हम किसी-न-किसी रूप में आज तक प्रचलित पाते हैं। यद्यपि, जैसा कि वैदिक इंडेक्स के लेखकों का विचार है, दाहसंस्कार उत्तर-वैदिक काल में अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया और आज यह सबसे प्रचलित अन्त्येष्ठि-रीति है, पर समाधि देने की प्रथा कुछ मतों के लोगों में आज तक प्रचलित पायी जा सकती है। त्सिमर ने 'उद्धित' को समझने में कुछ ग़लती की है, इसे 'उद्-हित' या जल-प्रवाह की रीति माना जाना चाहिए। शिशुओं और कुछ व्याधियों से ग्रस्त व्यक्तियों को आज भी जल प्रवाह देने का चलन है। अस्थिकलश और अस्थि-विसर्जन की रीतियाँ आज तक चली आयी हैं। कलश में भस्मावशेष को रख कर समाधि देने का चलन बौद्ध काल तक तो प्रचलित था ही। मृत शरीर भी व्यर्थ न जाये, कम-से-कम शवभक्षी पशुओं-प्राणियों के ही काम आ जाए, यह मान्यता एक विशेष जीवन-दृष्टि से सम्बन्धित है और जैन विचारधारा के अधिक अनुरूप है। शवदाह के समय कुछ लोग इस बात का ध्यान रखते हैं कि यह पूरी तरह जल कर भस्म न हो जाये, अपितु कुछ अंश जलचर प्राणियों के लिए बचा रह जाये।

ऐसा लगता है कि जीवन-दृष्टि में परिवर्तन ने भी अन्त्येष्ठि-रीतियों को प्रायः प्रभावित किया गया है, जैसे कि परजीव-कातरता के दृष्टिकोण ने और इसके साथ पर्यावरण की शुद्धता आदि के विचारों ने भी इन रीतियों को संशोधित किया है। अग्नि को अमृत का धाम कहा गया है और ऐसा लगता है कि दाह-संस्कार के प्रचलन का इससे गहरा सम्बन्ध है। जैसे आग धातुओं आदि के निस्सार तत्वों को जलाकर उनके अमर या शुद्ध अंशों को बचा लेती है और 'अमर' बना देती है, वैसे ही वह मृत व्यक्ति की काया के नश्वर तत्वों को जला कर अमर तत्वों को या आत्मा को दीप्त और शुद्ध कर देती है।[31] यह मात्र एक अनुमान ही है, पर आत्मा के सन्दर्भ में इसके शुद्ध ज्योति रह जाने या अंगुष्ठ मात्र शरीर के रह जाने की अवधारणा से इसका मेल दिखायी देता है। ऐसा सोचने का एक कारण यह भी है कि ऐसी बालिका जिसका कर्णवेध न हुआ हो या बालक जिसका चूड़ा-संस्कार न हुआ हो, उसे जलाया नहीं जाता रहा है। अतः कर्णवेधन और चूड़ाकर्म से वंचित शिशुओं के प्रवाह की आज जो रीति है वह इस बात की सम्भावना प्रकट

करती है कि दाहकर्म का चलन वैदिक विश्वासों के क्रमशः जोर पकड़ने के साथ और स्नातों के लिए ही आरम्भ हुआ था।

हड़प्पा और वैदिक रीतियों में कुछ साम्यों को स्पष्ट लक्ष्य किया जा सकता है। पहली बात तो मृत व्यक्ति को सुलाने की रीति ही है।[32] हड़प्पा के शवों के पाँव भी दक्षिण की ओर रखे जाते थे। यह चलन आज तक पाया जाता है। दक्षिण दिशा को वैदिक साहित्य में पितरों की दिशा कहा गया है।[33] दूसरी समानता मृत शरीर को अनावश्यक रूप से अलंकृत न करने आदि की मानी जा सकती है, जिसकी ओर हड़प्पा के अध्येताओं ने प्रायः ध्यान दिया है[34], और जिसके विषय में वैदिक मान्यता छांदोग्य उपनिषद् की वर्जना में देखी जा सकती है।[35] तीसरी समानता, इस सादगी के बावजूद, मृतकों के प्रति यथोचित सम्मान और अन्त्येष्ठि के किंचित् विस्तृत रीति-विधान की है[36] जिसमें मिट्टी के सादे नये भाण्डों का विशेष महत्व रहा है जो आज तक जीवित है। मृत व्यक्ति को भी भूख प्यास लग सकती है और जल तर्पण तथा घटबन्ध से उनकी भूख-प्यास मिटाने की रीति सम्भवतः समाधि पद्धति का नयी परिस्थितियों में रूपान्तरण है जिसमें कुछ खान-पान के सामान मिट्टी के पात्रों में शव के साथ रख दिये जाते थे।[37] सधवा स्त्रियों के मरने पर उनको सजाने का आज तक चलन है और इसकी भी पुष्टि हड़प्पा की समाधियों से होती है।[38] शिशुओं को जल-प्रवाह देने की रीति को भी हड़प्पा की प्रचलित रीति माना गया है।[39] और अन्ततः जिसे डॉ. गुप्त ने "हड़प्पा की अन्त्येष्ठि रीतियों की आधारभूत एकरूपता और साथ ही क्षेत्रीय प्रकार-भिन्नता" कहा है उसे भी इन दोनों के बीच समानता का ही सूचक मानना होगा।

4
वर्ण-विभाग

यदि उत्पादन का स्तर उठेगा तो उसके ही अनुसार विशेषज्ञता का भी प्रश्न आयेगा और विशेषज्ञता का प्रश्न तदनुरूप शिक्षा या प्रशिक्षण की अपेक्षा रखेगा। कौशलों के प्रशिक्षण सामान्यतः पिता-पुत्र क्रम से चलते रहे हैं, या कहें बच्चा छोटी उम्र से ही अपने माता-पिता के काम में हाथ बँटाते हुए उनके कौशल में प्रशिक्षित होता रहा है। अतः प्राचीन समाजों में व्यवसाय सामाजिक हैसियत और ऊँच-नीच की भावना का जनन करता रहा हो या नहीं, इसमें आनुवंशिक क्रम से चलने की और जाति का रूप लेने की प्रवृत्ति बहुत आरम्भ से ही रही है। पर कौशल के आनुवंशिक हस्तान्तरण और उस कौशल या व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य किसी विकल्प का अभाव, सामाजिक प्रतिबन्धों द्वारा व्यक्ति को उसके आनुवंशिक

पेशे में जकड़ दिया जाना, दोनों अलग चीज़ें हैं।

ऋग्वैदिक काल में विभिन्न व्यवसायों में दक्षता का एक सराहनीय स्तर प्राप्त हो चुका था और इसका उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। भारत में वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था स्थापित करने की ज़िम्मेदारी आर्यों की मानी जाती है। इसके लिए उन्हें कोसा भी जाता है और जब-तब तत्कालीन स्थिति को देखते हुए इनकी हिमायत भी की जाती है। जो भी हो, इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि वर्ण-व्यवस्था मूलतः गुण-कर्म-विभाग के अनुसार की गयी थी। दूसरे शब्दों में कहें, तो इसका सीधा सम्बन्ध उत्पादन से था और आगे चलकर इसने सामाजिक हैसियत और जन्म से ही उस हैसियत से जुड़ाव का रूप ले लिया।

हम यहाँ इस ब्यौरे में नहीं जायेंगे कि वर्ण-व्यवस्था कब आरम्भ हुई और कब इसने जाति का रूप लिया। प्रश्न यह है कि जब हम हड़प्पा सभ्यता की कलात्मक उपलब्धियों को देखते हैं तो क्या एक क्षण के लिए भी यह सोच सकते हैं कि ये काम तकनीकी दक्षता और तदनुकूल प्रशिक्षण के बिना ही पूरे किये जा सकते थे? क्या यह सम्भव है कि कार्य-विभाजन के बिना ही वह सभ्यता उस स्तर तक पहुँची हो? ऐसा सम्भव नहीं था, और लगभग सभी विद्वान इस बात पर एकमत हैं कि हड़प्पा-काल में कार्य-विभाजन था।[40] फिर यदि आर्य जन भिन्न थे तो इस विभाजन के रहते उन्हें नये सिरे से यह विभाजन करने की क्या आवश्यकता थी? यह तो पहले से विद्यमान था। पर वैदिक रचनाएँ, समूची परवर्ती परम्परा और भारतीय समाज का अब तक का ढाँचा सभी इस बात की असन्दिग्ध पुष्टि करते हैं कि यह विभाजन स्वयं वैदिकों ने किया था। वसिष्ठ और अगस्त्य जैसे अज्ञात-कुलशील व्यक्तियों का समाज के उच्चतम वर्ण में ससम्मान स्वीकार किया जाना ही इस इस बात का अच्छा प्रमाण है कि आरम्भ में यह व्यवस्था उतनी कठोर नहीं थी जितनी कठोर बाद में बन गयी। पर इस कठोरता का कारण तुर्कों के आगमन को मानना इतिहास की अनदेखी करना है।[41]

वर्ण-व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख पुरुष-सूक्त में मिलता है जो नवीन माने जाने वाले दसवें मण्डल में आता है।[42] इससे प्रायः यह समझ लिया जाता है कि वर्ण-व्यवस्था का अस्तित्व प्राचीन सूक्तों के रचना-काल में नहीं था।[43] इसकी पुष्टि में यह भी सुझाया जाता है कि नवम् मण्डल के एक सूक्त में एक ही परिवार के अलग-अलग लोगों द्वारा अलग-अलग पेशे अपनाये जाने के संकेत मिलते हैं।[44] पर यह मण्डल भी उन्हीं नये मण्डलों में शामिल है। इसके अतिरिक्त पुरुष-सूक्त में वर्ण-व्यवस्था को दैवी सृष्टि माना गया है। जैसा कि हम अन्यत्र भी देखते हैं, दैवी उत्पत्ति उन संस्थाओं की ही मानी गयी है जिनका विकास क्रमशः इतने लम्बे समय के दौरान हुआ था कि उनकी उत्पत्ति के विषय में जातीय स्मृति भी किसी का साथ नहीं दे पाती थी। इससे यह लगता है कि पुरुष-सूक्त के रचना-काल तक

वर्ण-व्यवस्था इतनी पुरानी हो चुकी थी कि लगता था, यह भी सृष्टि के आदि से ही अस्तित्व में है।[45] जहाँ तक नवें मण्डल के एक मन्त्र का प्रश्न है, उसमें कवि के पिता को भिषग और माँ को उपलप्रक्षिणी बताया गया है। चिकित्सक का पेशा भी अन्य बौद्धिक गति-विधियों की ही भाँति वर्ण-विशेष से ही जुड़ा रहा है। सायण ने उपलप्रक्षिणी को भूना भूनने वाली[46] माना है। यह पहले महिलाओं का सामान्य कार्य रहा लगता है। जो भी हो, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वर्ण-व्यवस्था उक्त काल में अस्तित्व में नहीं थी।

ऐसा मानने का एक कारण यह भी है कि पुराने सूक्तों में भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों के उल्लेख किन्हीं विशेष गुणों और कार्यभारों से युक्त व्यक्तियों के रूप में आते हैं।[47] यही बात शिल्पियों के विषय में कही जा सकती है। श्रेष्ठता और कनिष्ठता का आधार भी जन्म को माना गया है।[48] सुजात और सुजाति के उल्लेख इसके विलोम का भी आभास देते हैं।[49] अतः यह मानना अधिक उचित प्रतीत होता है कि कार्य-विभाजन स्तरीभूत होकर जाति का रूप लेने लगा था, पर असाधारण प्रतिभा या प्रयास से कोई व्यक्ति अपने को अपने से ऊँचे वर्ण में स्थापित करा सकता था। ऊँचे वर्ण या जाति में प्रवेश करने के लिए यह संघर्ष या प्रयत्न किसी-न-किसी रूप में वैदिक काल से लेकर बाद के कालों में। कहें,ब्राह्मणों, उपनिषदों, महाकाव्यों में और आगे के कालों में भी बना रहा है।[50]

धर्मशास्त्रों में वर्ण-धर्म के जो विवरण मिलते हैं वे मात्र संकेतपरक हैं। उनके रचनाकाल के सामाजिक सम्बन्धों का, जातियों और उपजातियों का, उनमें कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता। लगता है जैसे स्मृतिकार प्राचीन ग्रंथों में इस विषय में लिखी हुई बातों या विधानों को ही दुहराते चले जा रहे हैं। यह सम्भवतः उस वैदिक स्थिति का ही सूचक है जब वर्ण-विभाजन को सामाजिक आवश्यकता से जोड़ कर रखा गया था और प्रत्येक वर्ण के लोग अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार कोई पेशा अपना सकते थे। उदाहरण के लिए, एक ब्राह्मण या क्षत्रिय चिकित्सक, अध्यापक, सैनिक, पुरोहित आदि हो सकता था। कहें, सैनिक होने के बावजूद ब्राह्मण अपना ब्राह्मणत्व कायम रख सकता था और पौरोहित्य करने के बाद भी क्षत्रिय क्षत्रिय बना रह सकता था। यही बात आर्थिक उपक्रमों के विषय में भी कही जा सकती है। लगता है क्षेत्रीय और सुदूर व्यापार, दोनों में ही वैश्यों के अतिरिक्त क्षत्रिय और ब्राह्मण भी जुटे हुए थे, या यदि यह माना जाये कि धनार्जन केवल वैश्यों के हाथ में था, भले वह कृषि हो या व्यापार, तो मानना होगा कि इस काल के वैश्य ही सर्वोपरि थे, क्षत्रिय मात्र उनके रक्षक और ब्राह्मण उनके उपजीवी पुरोहित की हैसियत रखते थे और प्राचीन वैदिक राजाओं में से अधिकांश वैश्य ही थे। उनमें व्यावसायिक चतुरता तो थी ही, शौर्य का भी अभाव नहीं था और सामरिक नेतृत्वों में भी वे सम्मानजनक स्थान रखते रहे होंगे। इसी तरह

शूद्रों का सम्बन्ध केवल श्रम और सेवा से नहीं था। कौशलों से जुड़े लोग भी इनमें परिगणित थे, गो इनमें व्यवसाय के कारण ऊँच-नीच की भावना नहीं पायी जाती थी।

वर्ण-व्यवस्था को प्रायः गोरे-काले के भेद के रूप में पेश कर दिया जाता रहा है। जैसा कि रोमिला थापर ने कहा है, यह एक जटिल समस्या को अतिसरलीकृत रूप में पेश करने का द्योतक है।[51] वर्ण आरम्भ से ही चार कल्पित किये गये हैं और गोरे-काले का यह भेद इसका समाधान नहीं है। इसके बावजूद अँधेरे में सक्रिय होने वाले—तमोवृद्ध—अपराध-कर्मियों, और जंगली कबीलों के लिए प्रयुक्त होने वाला असुर शब्द रंग से भी जोड़ लिया गया था। यह ध्यान में रखना होगा कि सुविधाजीवी, आरामतलब, सम्पन्न आदमी जो खुली धूप में आम श्रमिकों की तरह काम नहीं कर रहा है, श्रमिकों की तुलना में कुछ हलके रंग का होता ही है और गोरे आदमी को भी धूप में काम करना पड़े तो कुछ ही समय में गोरा रंग ताँबई होने लगता है। यह अन्तर तो कुछ सालों के भीतर ही आ जाता है। कई पीढ़ियों में इससे कुछ अधिक अन्तर आ सकता है। पर वासिष्ठों का अपने को गोरा कहना और इस पर गर्व करना,[52] उसी स्थिति में सम्भव हो सकता था जब कि यह गौरांगता बहुत विरल रही हो। कृष्ण आंगिरस, श्याव काण्व जैसे नामों से भी प्रकट होता है कि उच्च वर्णों के लोगों में भी सभी लोग भारतीय गौरांगता के मापदण्ड से भी गोरे नहीं थे। प्रसंगवश वसिष्ठ उन लोगों में माने जाते हैं जिन्हें कुछ इतिहासकारों ने हड़प्पा के पुरोहितों से सम्बन्धित माना है।[53] अतः गोरे-काले का फ़र्क़ आरम्भिक स्थिति का सूचक नहीं है, यह स्वतः सम्पन्नता के साथ विकसित हुआ है। इस बात को कभी भुलाया नहीं जाना चाहिए कि भारतीय सन्दर्भ में गोरे और साँवले का अर्थ वही नहीं होता जो यूरोपीय सन्दर्भ में।[54]

जो भी हो, कार्य-विभाजन का सम्बन्ध रुचि और दक्षता से था और इस बात की प्रत्येक व्यक्ति से अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने वर्ण के अनुरूप योग्यता प्राप्त करे और सम्भवतः अयोग्य व्यक्ति को तिरस्कृत और कभी-कभी जाति-बहिष्कृत भी होना पड़ता रहा होगा। ऋग्वैदिक काल में जाति ने अपनी जड़ें जमाना आरम्भ कर दिया था। इसके पुराने मोटे विभाग वैश्य और शूद्र थे। वैश्य का पशुधन पर और भूसम्पदा पर सीधा अधिकार था और वाणिज्य उसके हाथ में था, पर उत्पादन में श्रम के लिए वह शूद्रों पर ही निर्भर करता था। अतः स्वामी के रूप में 'वार्ता' वैश्य का धर्म है और सेवक के रूप में शूद्र का। अविकसित औज़ारों से किसी चीज का निर्माण करना भी आसान नहीं है, और यह बात नये युग में शक्ति के नये साधनों का आविष्कार होने से पहले तक बनी हुई थी। अतः तकनीकी काम—पेड़ों की कटाई, चिराई, ढुलाई, वस्त्र-निर्माण, चमड़े के काम,

पत्थर, धातु और लकड़ी के काम—इन शूद्रों के हाथ में ही थे।[53] जब हम यह सोचते हैं कि आर्य-भाषा और संस्कृति का प्रभाव इसलिए फैला होगा कि आर्य तकनीकी दृष्टि से आगे बढ़े हुए थे और इसलिए अपनी अल्प संख्या के बावजूद अपना प्रभाव कायम करने में सफल हो गये[56] तब हम तकनीक और कौशल को पूरे अर्थतन्त्र के अविभाज्य अंग के रूप में न देख कर इन दोनों को अलग कर देते हैं। प्रभाव तकनीकी ज्ञान और उत्पादन से नहीं, अपितु उस उत्पादन पर अधिकार से जुड़ा हुआ है। इसप हलू पर ध्यान न देने पर यह बात एक पहेली बन कर रह जायेगी कि भारत में सारा तकनीकी कर्म और कौशल एक ओर है और इसके सिद्धान्तपक्ष का ज्ञान बीच में और उसका लाभ दूसरी ओर। तकनीकी दृष्टि से आगे बढ़े लोगों को ही हम भारतीय समाज में शूद्रों के रूप में पाते हैं। सम्भवतः दूसरी सभ्यताओं की भी स्थिति इससे बहुत अधिक भिन्न नहीं थी। श्रम और कौशल से जुड़े इन लोगों को केवल अभाव में रख कर और इनके सैद्धान्तिक और सामाजिक ज्ञान को कुण्ठित करके, इनके लिए आचरण के आदर्श बना कर और इन्हें उनका क़ायल बना कर, और सबसे बड़ी बात, शस्त्र-बल से इनको नियन्त्रित करके और इनके विद्रोहों को कुचल कर ही सवर्ण समाज ने अपना प्रभाव और सामाजिक श्रेष्ठता कायम की थी। तन्त्र को बनाये रखने में इसकी भूमिका किसी से कम नहीं है। जो काम क्षत्रिय हथियार से करता था, पुरोहित अन्धविश्वासों और सामाजिक मूल्यों की सृष्टि करके उसी काम को मनोवैज्ञानिक स्तर पर करता रहा है। उसके द्वारा प्रचारित भ्रमों के अभाव में आर्थिक विषमता से ग्रस्त इतने बड़े समाज को केवल हथियारों के बल पर काबू में नहीं रखा जा सकता था। अतः यदि उन्हें इस व्यवस्था में ऊँचा स्थान मिला था तो स्वाभाविक ही था।

पर सामाजिक प्रतिष्ठा को आर्थिक स्थिति का सूचक नहीं माना जा सकता। ब्राह्मणों की आर्थिक स्थिति क्षत्रियों और वैश्यों से निश्चित रूप से ख़राब दिखायी देती है। दान की अतिरंजित महिमा इस वर्ग की समृद्धि नहीं, अपितु विपन्नता को ही प्रकट करती है।[57] क्षुधा से मुक्ति की कामना सम्भवतः उसके अपने अनुभवों की देन है।[58] इसके विपरीत कारीगरों की आर्थिक स्थिति उतनी बुरी नहीं दिखायी देती। इसका एक कारण यह है कि ये कारीगर ही देसी तथा विदेशी व्यापार के मेरुदण्ड हैं। प्राचीन कृतियों में प्रायः जब असुर माया की चर्चा आती है तो यह भ्रम होता है मानो यह वैदिक सभ्यता के समकक्ष ही एक अन्य सभ्यता का वर्णन है जो तकनीकी दृष्टि से इससे भी आगे बढ़ी हुई थी। पर वास्तव में ये वैदिकों के अपने ऋभुगण, रुद्रगण, अश्विनीकुमार, त्वष्टा, विश्वकर्मा और विश्वरूपा हैं। ये उनके अपने कुम्हार, बढ़ई, लोहार, सोनार, मणिकार, थवई, जुलाहे, निषाद, चर्मकार, सूत, मागध और कुशीलव हैं। यदि इनको सुनहरे हार पहन कर, गर्व से अकड़ कर चलते हुए दिखाया जाता है, एक कनिष्ठ के रूप में ही

सही, सोमपान में भागी होते दिखाया जाता है, तो यह इस बात का सूचक है कि उनके शिल्प से व्यापारी खूब लाभान्वित हो रहे थे और इन्हें भी इसी के अनुरूप पुरस्कृत कर रहे थे। जब तक व्यापारिक गतिविधियों में सरगर्मी बनी रहती है, इनको समुचित प्रोत्साहन और पुरस्कार मिलता है। अर्थव्यवस्था डगमगाने के बाद इनकी पहले से प्राप्त सुविधाओं पर भी चोट होती है। हिस्से के लिए कलह भी होता है, इनका दमन भी किया जाता है और इस तरह गिरावट की पूर्णाहुति हो जाती है।[59]

हमारे लिए यह बात अधिक महत्त्व रखती है कि वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध मूलतः कर्म से था और हड़प्पा सभ्यता में व्यापारी वर्ग, उनके रक्षक, पुरोहित और श्रमिक तथा कलाकार थे जो इन चारों वर्णों के अस्तित्व की पुष्टि करता है।

5

स्त्रियों की स्थिति

सुदूर अतीत में स्त्रियों की स्थिति भले अच्छी रही हो, पर वैदिक काल तक स्त्रियों की स्थिति परवर्ती कालों से अच्छी नहीं रह गयी थी। अन्य अनेक बातों की तरह नारी जाति पर प्रतिबन्ध और सामाजिक उत्पादन से उसे अलग करके केवल सन्तान पैदा करने और पुरुष की विलासिता का साधन बनाने का तथ्य भी आर्थिक विषमता को प्रकट करता है। वैदिक काल में एक आदर्श पत्नी की स्थिति एक आज्ञाकारिणी दासी जैसी रह गयी है।[60] दुहिता शब्द से यह समझ लेना कि स्त्रियों का घर की चारदीवारी से बाहर के आर्थिक उपक्रमों में भी हाथ रहा हो सकता है, एक तरह का अतिवाद है। 'दुहिता' का अर्थ यदि स्त्री होता तो ऐसा मानना सर्वथा उचित था। पर ऐसा नहीं है। लड़कियों को पिता के घर में अपेक्षाकृत अधिक छूट हमेशा रही है। प्रश्न उसके विवाह के बाद की स्थिति का है। दुहिता का सम्बन्ध भी घर के दरवाज़े तक के कारोबार से ही लगता है। वह दुहिता तो है पर गोपिका या गोचारिका नही। ऋगवैदिक विवरणों के अनुसार स्त्री का मन चंचल होता है और बुद्धि भी छोटी होती है।[61] उसका विश्वास नहीं किया जा सकता[62], पति युक्त नारी ही अनिन्दनीय होती है[63], सन्तान के रूप में केवल पुत्र की ही इच्छा व्यक्त की गयी है।[64] पिता का प्रेम पुत्र के प्रति ही व्यक्त होता है।[65] विवाह के बाद स्त्री के पाँव घर में पड़ने के जल्द बाद यदि कोई अनिष्ट घटित हो जाता तो उसका दोष भी उसी को दिया जाता था।[66] उससे परदा रखने

की भी अपेक्षा की जाती थी।[67] उसकी कार्यदक्षता का शायद ही कहीं उल्लेख आता हो—यदि आता है तो कूटने[68], भूनने-पीसने[69], आदि श्रम-कार्यों और घरेलू उपयोग के लिए कताई-बुनाई का[70]; पर श्रृंगार-बनाव[71], कामुकता[72] और सुन्दरता[73] का जिक्र बार-बार आता है। सुन्दर स्त्री को देख कर केवल यही विचार आता है कि जाने कौन इसका भोग करेगा।[74] उसके भरण-पोषण का भार पुरुष पर है और यदि पति नालायक निकल जाये तो पत्नी कुलटा हो सकती है।[75] स्त्री पुरुष के लिए एक खेत के समान है जिसमें पुरुष बीज वपन करता है।[76] और इसलिए, जाहिर है, उस खेत से उत्पन्न सन्तान पर भी मुख्यत: पुरुष का ही अधिकार है। एक पुरुष अनेक पत्नियाँ रख सकता था और सपत्नियों के बीच कलह के उल्लेख प्राय: आते हैं।[77] बहुविवाह का, कहें एकाधिक स्त्रियों को अपनी विलासिता के लिए रखने और उन्हें गुलामी के मूल्यों में बाँधने का, उन्हें परदे में रखने से अनिवार्य सम्बन्ध है और यह स्थिति वैदिक काल तक आ चुकी थी। यदि मनु के विधानों की तुलना वैदिक सन्दर्भों से की जाये तो वैदिक-कालीन स्त्री की स्थिति तनिक भी भिन्न दिखायी नहीं देती। मनु का यह दावा कि स्मृति के विधान वेद-सम्मत हैं, दोनों में कोई द्वन्द्व नहीं है, ग़लत नहीं लगता।[78]

हड़प्पा के नगरों से जिनमें खिड़कियों का लगभग अभाव-सा है या यदि खिड़की है तो इतनी सँकरी कि बाहर से भीतर नजर न जा सके तथा मकानों के निकास गलियों में हैं न कि मुख्य मार्ग पर, साथ ही कुछ मकानों में अनेक प्रांगण हैं जो बाद के अन्त:पुरों की याद दिलाते हैं, परदा-प्रथा के अस्तित्त्व की भी सूचना मिलती है।[79]

जैसे वेद तक केवल सवर्णों की पहुँच रही है वैसे ही इन वैदिक विधानों का प्रसार भी केवल सवर्णों तक ही सीमित था। यदि ये वर्ण स्वयं भी शारीरिक श्रम से जुड़े होते तो अपनी स्त्रियों को भी इसमें शामिल किये बिना न रहते। श्रमिक-वर्ग की स्त्रियों पर न तो उस तरह के प्रतिबन्ध रह सकते हैं, न रहे हैं, जो वैदिक महिलाओं पर दिखायी देते हैं। जहाँ तक कुल श्रम-भार का प्रश्न है, चक्की चलाने से लेकर दूसरे घरेलू कामों में उनकी स्त्रियों का बोझ किसी भृत्य से कम नहीं था। इस श्रम पर एक दुहरी पीड़ा घर की सीमा की और बहु-विवाह की स्थिति में एक पत्नी के रूप में भी अपने सीमित अधिकारों के अधिकाधिक परिसीमन और यदा-कदा नारकीय उपेक्षा की थी, जो नारी की स्थिति को शूद्रों से भी बदतर बनाती रही है। इस तरह हम पाते हैं कि यह एक भ्रम मात्र है कि इस काल में स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी का दर्जा प्राप्त था। जहाँ ऋषिकाओं के रूप में किन्हीं महिलाओं का उल्लेख आया है वहाँ वे वस्तुत: उन सूक्तों की रचयिता न हो कर उन उक्तियों या संवादों के पात्रों के रूप में आती हैं और ऋषिका शब्द से अधिक ध्यान इस बात पर दिया जाना चाहिए कि उनसे कहलाया क्या गया है और यह उनकी उक्त

छवि से अननेल पड़ता है, या नहीं।

6
नैतिक आदर्श

वैदिक समाज के नैतिक मूल्य और अपराध की चेतना से एक ऐसे समाज की छवि सामने आती है जिसमें नागरिक दायित्त्वों और सभ्य आचार को व्यक्ति की अन्तश्चेतना का अंग बना दिया गया था। इस क्रम में कितना लम्बा समय लगा होगा, यह केवल अनुमान का ही विषय है। इसके लिए कठोर प्रशासन के साथ-साथ कुकर्म से अनिष्ट की सम्भावना और मरणोत्तर जीवन में दण्ड की सम्भावना को एक हथियार के रूप में काम में लाया गया था। जो कर्म किसी को नहीं दिखायी देते उन्हें भी देवता देख लेते हैं। मन से भी अकृत्य की बात सोचना पाप है, क्योंकि देवताओं से यह भी छिपा नहीं रह सकता।[81] उनके चर बिना पलक झपकाये हर चीज़ को देखते हुए घूमते रहते हैं।[80]

वैदिक जन अपने शत्रुओं को द्वेषधत्त, निन्दक, गृध्नु, तायु, तस्कर, अतिमानी, अनृत, असत्य, पाप्मान, उब्ज, सन्देहवादी, शिश्नदेव आदि कह कर उनकी आलोचना या निन्दा करते हैं। प्रकारान्तर से कहें तो ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा, लोभ, चोरी, लूट, दम्भ, उपद्रव, सामाजिक मान्यताओं पर आपत्ति या सन्देह, लम्पटता आदि को इस समाज में निन्दनीय माना जाता था। किसी समाज के नैतिक आदर्शों का उस समाज के सभी सदस्यों द्वारा पालन ही किया जाता हो, यह ज़रूरी नहीं, पर इतना तो सच है ही कि कोई समाज अपने लिए ऐसे आदर्श ही चुनता है जिस पर उस समाज का अस्तित्त्व टिका होता है।[82] यदि वैदिक जनों का अस्तित्त्व लूट-पाट पर टिका हुआ था तो कम से कम लूटपाट को निन्दनीय नहीं होना चाहिए था। ये आदर्श, जिन्हें ही आगे स्मृतियों में और बाद की सभी वैदिक अवैदिक परम्पराओं में दुहराया जाता है, एक शिष्ट और मर्यादित समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं जो तदनुरूप आर्थिक प्रगति के साथ ही सम्भव है। एक बार इन आदर्शों के स्थापित हो जाने के बाद ये स्वतः एक शक्ति बन जाते हैं।

वैदिक समाज के आदर्श और व्यवहार में अन्तर ढूंढ़ना कठिन नहीं है। आर्थिक समृद्धि ने समाज के एक हिस्से को निश्चय ही उच्छृंखल बना दिया था और रीतिकालीन कवियों की तरह इन उच्छृंखल जनों को रास आने वाली रचनाएँ भी उस समय हो रही थीं। पर सर्वमान्य मूल्यों के रूप में ये नैतिक मान ही निन्दा और प्रशंसा के आधार थे। यहाँ तक कि सर्वोपरि देवता इन्द्र, जिसे रीतिकालीन कृष्ण की तरह विलासियों की छवि में उतार दिया गया था, इस चेतना के कारण

ही अपने पद से स्खलित हो जाता है, यद्यपि इसका एक कारण हड़प्पा के वाणिज्यिक आधार में गिरावट और वैश्य वर्ग की तदनुरूप अधोगति के साथ-ही-साथ इसके प्रतिरूप देवता की प्रतिष्ठा में गिरावट को भी मानना होगा।

यदि मैंने कभी कोई अपराध अनजाने भी किया हो, यदि किसी से द्वेष किया हो, झूठ बोला हो, तो यह जल उसे प्रच्छालित कर दे।[83] मित्र और वरुण झूठ से मुक्तकरें, सत्य या सदभाव से भर दें। किसी कुटिल व्यक्ति से ऋण न लेना पड़े। किसी शत्रु या मित्र का दिया हुआ न खाना पड़े।[84] न तो स्वयं किसी के धन पर जीना पड़े, न ही पुत्र-पौत्रादि को।[85] इन उक्तियों के स्वर पर और इनसे जुड़े हुए मनोभाव पर ध्यान देने पर ये पाखण्डपूर्ण उक्तियाँ नहीं लगेंगी और जिस समाज की मनोकामनाएँ इस प्रकार की हों उसे लुटेरा और बर्बर कहना ठीक नहीं है।

7

खान-पान

मार्शल ने हड़प्पा सभ्यता को वैदिक सभ्यता से भिन्न प्रमाणित करने के लिए इस बात पर भी बल दिया था कि "वैदिक आर्य-जन मांसभक्षी थे, जिनके मन में, लगता है, मछली के लिए एक आम वितृष्णा पायी जाती थी, क्योंकि वेदों में मछली के शिकार का कोई सीधा उल्लेख नहीं है। सैन्धव जनों के मामले में मछली आहार की एक आम-सी चीज़ थी और यही बात केंकड़े, झिंगे, कछुए और अन्य जलीय प्राणियों पर लागू होती है।"[86] जब तक हड़प्पा सभ्यता से तुलना की विवशता नहीं पैदा हुई थी तब तक यही तर्क वैदिक जनों को समुद्र से अपरिचित सिद्ध करने के लिए दिया जाता था, मानो समुद्र तक की यात्रा का प्रधान लक्ष्य मछली मारना ही हो सकता है। हम देख आये हैं कि मछली के अलावा खाद्यान्नों के विषय में भी इस बात पर ज़ोर दिया जाता है कि ऋग्वेद में केवल यव का उल्लेख है, गेहूँ और चावल का नहीं जब कि हड़प्पा-वासियों के आहार में ये अनाज शामिल थे।

ऋग्वेद में खान-पान के सन्दर्भ में केवल भोजन का और कुछ विशेष पकवानों का उल्लेख मिलता है। भोजन के मामले में सुन्दर भोजन[87], सभी प्रकार का भोजन,[88] प्रिय भोजन,[89] चित्र या विविध प्रकार का भोजन[90], श्रेष्ठ भोजन[91], आर्द्र और शुष्क या सम्भवतः तरल और ठोस मधुर भोजन[92] आदि का उल्लेख तो आता है, जिससे यह प्रकट होता है कि उनकी खाने-पीने की रुचि और पाक-विधि काफ़ी विकसित थी, पर इन विविध व्यंजनों वाले भोजन में ठीक क्या चीज़ें शामिल थीं, यह निश्चित करना कठिन है। कुछ चीज़ों के विषय में हम आश्वस्त हो सकते हैं कि उनके भोजन में ये अवश्य शामिल रही होंगी, पर इनकी संख्या बहुत कम है।

इनमें से एक था चावल और खीर या ओदन और क्षीर-पाक-ओदन[93], जो इस भ्रम के निवारण के लिए पर्याप्त है कि वे चावल का सेवन नहीं करते थे। दूसरा है अपूप[94] या पुआ जो बाद के कालों में भी घृतपक्व भोजन के प्रति प्रेम में ज़ारी रहता है। इसके अतिरिक्त सत्तू[95] और धाना[96] या लाजा उनके आहार का अंग था जो शुष्क भोजन की काटि में आता है और जो यात्राओं के दौरान काफ़ी उपयोगी सिद्ध होता रहा होगा। सत्तू को दही में मिलाकर खाया जाता था।[97] मांस का आहार वे करते थे और वलि-पशुओं को ध्यान में रखते हुए यह सोचा जा सकता है कि मांग के रूप में गोमांस और बकरे, भेड़, घोड़े[98] आदि का मांस खाया जाता रहा होगा। मांस को मछली आदि से श्रेष्ठ माना जाता है और देवताओं को श्रेष्ठ पदार्थ ही अर्पित किये जाते हैं, अत: इससे उनके मांसाहार का पूरा परिचय नहीं मिल सकता। शिकार के पशुओं में हिरन, सूअर, खरगोश, गवल तथा कुछ पक्षियों का मांस भी खाया जाता रहा होगा। मछली का शिकार जाल से किया जाता था[99] और इसका उल्लेख उपमा के रूप में आया है। उपमा उसी वस्तु या कार्य की दी जाती है जो सर्वविदित हो, अत: मछली पकड़ने के लिए जाल के प्रयोग और उपमा के रूप में इसके उल्लेख से यह प्रकट है कि मछली मारना बहुत आम था, और इसके लिए अपने समय की सबसे उन्नत विधि काम में लायी जा रही थी। यह इस भ्रम के निवारण के लिए पर्याप्त होना चाहिए कि वैदिक जन मछली नहीं खाते थे। हमें यह मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वे मछलियाँ फँसा कर उन्हें फिर पानी में छोड़ नहीं देते रहे होंगे। पानी के साथ इतना गहरा परिचय रखने वाले और पानी में शिकार करने वाले केंकड़े, झिंगे और कछुए से भी परिचित रहे होंगे और जब तक इनके विषय में निषेधपरक विधान न हों तब तक यह मान लेने में कोई हरज नहीं कि वे इनको खाते भी रहे होंगे।

ऋग्वैदिक काल की सामाजिक मान्यताओं को परवर्ती काल के विवरणों के सहारे पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। अपनी गतिशीलता के कारण बाद के उन कालों की अपेक्षा जब इसकी अर्थव्यवस्था उजड़ चुकी थी और एक कट्टरवादिता इस समाज में घर करने लगी थी, ऋग्वैदिक काल कहीं अधिक ओजस्वी और उदार था। अस्पृश्यता का कोई प्रमाण वैदिक साहित्य से नहीं मिलता और ब्राह्मण-काल तक भी शूद्र खाना बना सकता था। वैदिक काल में पेय पदार्थों को रखने के लिए चमड़े के पात्रों का प्रयोग हो सकता था।[100] यह चलन भी कुछ बाद तक बना रहा। यज्ञ के समय पुरोहित स्वयं पशु-वलि दे सकता था। गोमांस खाने पर कोई रोक नहीं थी, अत: बाद में चर्मकारों को जिस तरह अस्पृश्य माना जाने लगा उस तरह की अस्पृश्यता का न तो भौतिक कारण था, न मनोवैज्ञानिक।

परन्तु रक्षा और रखवाली में कुत्तों के महत्व के कारण कुत्ते का मांस खाना

वर्जित नहीं था। ऐसा करने वालों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। दूसरे शब्दों में कहें तो, चर्मकार तो नहीं, पर श्वपच शब्द ऋग्वैदिक काल में भी गर्हित शब्द था और कुत्ते का मांस खाने वाला पतित तक हो सकता था।[101] इस बात की जाँच कर ली जानी चाहिए कि हड़प्पावासी कुत्ते का मांस खाते थे या नहीं, क्योंकि यह इन दोनों समाजों की पृथकता सिद्ध करने वाला निर्णायक प्रमाण अवश्य बन सकता है।

वैदिक काल में ही कुछ और पशुओं के मांस को, वस्तुतः इनके वध को, वर्ज्य बनाया जाने लगा था और इस दिशा में किये जाने वाले प्रयासों को अभी पूरी सफलता नहीं मिल पायी थी, पर लगता है इनके पक्ष में जनमत तैयार होने लगा था। इन्हीं में एक था गो-वध, जिस पर हम धर्म और विश्वास के अन्तर्गत कुछ अधिक विस्तार में विचार करेंगे। परवर्ती कालों में हम इसी तरह की वर्जना ऐसे पशुओं और प्राणियों के विषय में पाते हैं जो पंचनख होने के कारण मनुष्य के निकट पड़ते थे, और इसलिए इनमें आने वाले कछुए का मांस भी निषिद्ध हो गया था। पर इस वर्जना से ही इस बात का आभास मिलता है कि पहले इनका मांस खाया जाता था।

इस तरह हम पाते हैं कि वैदिक खान-पान का स्तर काफ़ी सराहनीय था और हड़प्पा सभ्यता में प्रचलित खान-पान से इसकी किसी मामले में भिन्नता नहीं थी। इसकी कुछ पाबन्दियाँ भी नागरिक सभ्यता, और इसमें भी एक सराहनीय आदर्शों वाली नागरिक सभ्यता, के अनुरूप थीं। उदाहरण के लिए, सुरा-पान को इसलिए निन्दनीय माना जाता था कि इसके बाद मनुष्य उद्दण्ड हो जाता है और झगड़े तथा कलह पर उतारू हो जाता है तथा चोरी आदि भी करने के लिए तैयार हो जाता है।[102] अपने मादक प्रभाव के बावजूद बहुत हलके किस्म के खुमार के कारण सोमपान पर किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं था और इसमें भी ज़रूरी नहीं कि इसे हमेशा ख़मीर पैदा करके (तीव्र करके) ही पिया जाता रहा हो। अतः इसे पेट भर कर पीने के उल्लेख आते हैं।[103]

अनाजों में यद्यपि मुख्य रूप से यव का ही उल्लेख आता है, पर यह एकमात्र ऐसा अन्न नहीं था जिससे वैदिक किसान परिचित रहे हों। यव का अर्थ सर्वत्र यव है भी नहीं।[104] यव केवल भारत ही नहीं, अपितु दुनिया की ऐसी सभी पुरानी सभ्यताओं का जिन्हें हड़प्पा के समकक्ष रखा जा सकता है, सबसे प्रधान अनाज था और इस विषय में तो किसी सन्देह की आवश्यकता ही नहीं कि यह मानव-उपयोग में आने वाले सबसे पुराने अनाजों में से एक है। पर गेहूँ, धान और अन्य अनाजों से तथा कुछ दलहनों और तिलहनों से वैदिक जन वैदिक काल से पहले से परिचित हो चुके थे, इसकी चर्चा हमने अन्यत्र की है।

8
वेश-भूषा

हड़प्पावासियों के वेश-विन्यास के विषय में हमें इसके अवशेषों से बहुत अधिक सहायता नहीं मिलती। कारण, ऐसी मूर्तियाँ बहुत थोड़ी हैं जिनको किसी तरह के वस्त्र के साथ दिखाया गया है, और इनका भी अधोभाग ग़ायब है। समस्या इस कारण भी कुछ जटिल हो जाती है कि इनको भी अपने समाज के विशेष हैसियत के व्यक्तियों के रूप में कल्पित किया गया है, जो सच भी है। अतः इस बात का निश्चय करना कुछ कठिन हो जाता है कि इस काल के सामान्य स्त्री-पुरुष किस तरह की पोशाक पहनते रहे हो सकते हैं। वस्त्रों की तुलना में अलंकरणों की स्थिति काफ़ी सन्तोषजनक है।

इसके बावजूद हड़प्पावासियों की वेश-भूषा के विषय में कुछ अनुमान आश्वस्त होकर लगाये जा सकते हैं। इनमें से पहली बात तो यह कि वे मौसम के अनुसार सूती और ऊनी वस्त्रों का उपयोग करते थे। दूसरे, उनके वस्त्र खुले और अनसिले वस्त्रखण्ड हुआ करते थे। ऊनी वस्त्रखण्ड बाँधने-ओढ़ने की दृष्टि से कुछ असुविधा-जनक होता है और नित्य स्नान करने के चलन के साथ भी इनका मेल नहीं खाता, अतः यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि उनके वसन अर्थात् पहनने के वस्त्र ऊनी नहीं होते रहे होंगे। जाड़े के दिनों में सूती वस्त्र के ऊपर ही ऊनी शाल या कम्बल ओढ़ लिया जाता रहा होगा। कुछ अंचलों में इन शालों और कम्बलों का भी विकल्प रुई-भरे या सुजनी आदि रहे हो सकते हैं।

हड़प्पावासी पुरुष एक उत्तरीय से अपने धड़ से ऊपर के हिस्से को ठीक उसी तरह अर्ध-आवृत रखते थे जैसे आजकल उत्तरीय का उपयोग करने वाले। इसके अतिरिक्त वे एक तरह की पगड़ी भी पहनते थे। इन दो के अतिरिक्त ऊपर का पूरा हिस्सा नंगा रहता था। उत्तरीय दायीं भुजा के नीचे से होकर आता और बायें कन्धे को ढँकता हुआ पीछे चला जाता था। इस तरह दायाँ हाथ पूरी तरह खुला रहता था और दायें कन्धे से नीचे की ओर लटकता हुआ हिस्सा विशेष स्थितियों में केहुनी के मोड़ पर सँभाल लिया जाता था। अपनी हैसियत के अनुसार व्यक्ति उत्तरीय पर उत्तम कढ़ाई आदि भी करवाता था या, कहें, सम्पन्न व्यक्ति ऐसे उत्तरीय का उपयोग कर सकता था। पर भारत के बाद के कालों के उदाहरण को सामने रखते हुए यह सोचा जा सकता है कि उत्तरीय केवल अभिजात वर्ग के लोग ही प्रयोग में लाते रहे होंगे। यही बात पगड़ी के विषय में कही जा सकती है। काम करने वाले मजदूर इस मामले में इन दोनों से वंचित ही रहे हो सकते हैं, पर उनमें भी कुछ प्रमुख व्यक्ति पगड़ी आदि का प्रयोग करते रहे हों तो आश्चर्य नहीं। कारीगरों की स्थिति अच्छी दिखायी देती है और इनके विषय में यही कहा जा सकता है कि

यदि उत्तरीय आदि से इनको परहेज़ रहा होगा तो इसके काम-काज में असुविधा-जनक होने के कारण ही।

नीचे की ओर उसी तरह धोती पहनी जाती थी जिस तरह पुराने किस्म के लोगों द्वारा आज पहनी जाती है। यह बात कतिपय सीलों पर अंकित मानव आकृतियों से और दायमाबाद से प्राप्त रथ के नमूने (खिलौने) से तो स्पष्ट है ही, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सामान्य श्रमिकों का कमर से ऊपर का हिस्सा, बिलकुल नंगा ही रहता था।

स्त्रियों के वस्त्र के विषय में कोई सुस्पष्ट सूचना नहीं मिलती। अनुमानतः वे भी खुला और अनसिला वस्त्रखण्ड या साड़ी ही पहनती रही हो सकती है, पर कुछ मामलों में लहँगे, चोली और ओढ़नी का चलन रहा हो सकता है।

स्त्री-पुरुष दोनों लम्बे केश रखते थे और वेणियाँ बनाते थे। जैसा कि नर्तकी की मूर्ति से लगता है, केश-सज्जा या जूड़ा बाँधने का भी चलन था। केश-सज्जा के लिए कुछ विशेष युक्तियों का भी सहारा लिया जाता था। कुछ मामलों में पुरुष भी जूड़ा बाँधते थे। दाढ़ी के बाल कटे-छँटे होते थे और मूँछ सफ़ाचट करने का भी रिवाज़ था, पर इन दोनों बातों को सभी मामलों में अनिवार्य मानना ठीक नहीं है।

अलंकरण की प्रवृत्ति स्त्री-पुरुष सभी में पायी जाती थी। पुरुष कान की बाली, भुजबन्ध और शिरोबन्ध का प्रयोग करते थे और गले में मालाएँ पहनते थे। कुछ मामलों में हाथों में कड़ों की और एकाधिक मालाओं की पसन्द भी रही हो सकती है। गले की मालाओं में कई प्रकार के हार प्रचलित थे। आभूषण अपनी हैसियत के अनुसार सोने, चाँदी, मणियों, रत्नों, पत्थरों, हाथी दाँत, सीप आदि के विविध प्रकार के हो सकते थे। जड़ाई का या नग लगाने का भी चलन था। पाँवों में भी कड़े डाले जाते थे। ये कड़े खुले, मुड़े और बन्द सिरों वाले कई तरह के हुआ करते थे। सम्भवतः वेणियों में भी मालाएँ पिरोने का चलन था।

ऋग्वैदिक वेश-भूषा का सवाल आने पर सबसे पहली आपत्ति तो इस बात को लेकर ही उठायी जाती रही है कि वैदिक आर्य सूती वस्त्रों से परिचित नहीं थे और उनके वस्त्र केवल ऊन के ही बने होते थे, क्योंकि ऋग्वेद में कहीं कपास का या कपास के वस्त्र का स्पष्ट उल्लेख नहीं आया है। सामान्य बोध के तकाज़े से यह सवाल उन लोगों को भी नहीं उठाना चाहिए था जो इस दलील के बल पर आर्यों को भारत में उत्तर से आया सिद्ध करना चाहते रहे हैं, क्योंकि उनकी अपनी मान्यता के अनुसार आर्यों का भारत में आगमन लगभग 1500 ई. पू. में हुआ और वेदों की रचना 1200-1000 ई. पू. के बीच हुई है। अतः यह एक कल्पना-तीत बात थी कि इन तीन से पाँच सौ वर्षों के दौरान भी आर्य जन हड़प्पा सभ्यता के वंशधरों को सूती वस्त्र पहनते देख कर और इस वस्त्र को भारतीय जलवायु के

इतने उपयुक्त पाकर भी इसे ग्रहण करने से परहेज करते। हम यह तो कदापि नहीं मान सकते कि 'आर्यों के आते ही' भारत के तत्कालीन निवासी उनकी नकल पर सूती कपड़ा छोड़कर सिर्फ़ ऊनी कपड़ा पहनने लगे होंगे, न ही यह कि उनको झाँसा देने के लिए उन्होंने अपने सारे कपड़े उतार दिये होंगे और नंगे रहने लगे होंगे कि कहीं आगन्तुक उनकी पोशाक की नकल न कर लें। इस समस्या का एक उतना ही बेढब जवाब सेठना ने दिया है जो यह मानते हैं कि चूँकि कार्पास शब्द का प्रयोग पहली बार कल्पसूत्रों में हुआ है, अतः कल्पसूत्रों से पहले का सारा साहित्य हड़प्पा सभ्यता से पहले का है और कल्पसूत्रों का रचनाकाल हड़प्पाकाल है।[105] इस उत्तर पर हँसने की ज़रूरत नहीं। ठोस और निर्भ्रान्त उल्लेखों के बिना किसी बात को इनकार करते रहने वालों को जिस तर्क से सन्तोष हो सकता है वह यही है। यद्यपि सेठना अपनी बात पूरी गम्भीरता से कहते हैं, पर उनकी मान्यता उन लोगों के आग्रह से कम हास्यास्पद है जो यह मानते चले आ रहे थे कि वैदिक रचनाकाल में आर्य जनों को सूती वस्त्र का परिचय नहीं मिला था।

हमारे पास इस विषय में और वैदिक जनों की वेशभूषा के विषय में कुछ अधिक रोचक जानकारी गैर-भारतीय क्षेत्रों से मिलती है। श्रेडर, जिनका उल्लेख हम पहले भी कर आये हैं, लिखते हैं, "अतः मैं समझता हूँ कि हमें यह सोचने का अधिकार है कि वस्त्र (जिसके सादृश्यपरक शब्दों में से अनेकानेक का हम उल्लेख कर आये हैं) के लिए जिन सामग्रियों का उपयोग होता था उनमें क्षौम (लिनन) और ऊन दोनों ही आते थे। कम-से-कम यूरोपीय शाखा के मामले में तो ऐसा था ही।[106]

जिन सादृश्यमूलक शब्दों पर श्रेडर ने विचार किया है उनसे सचमुच क्षौम या रेशों से बने कपड़े से यूरापीय शाखा के परिचित होने का पता चलता हो, पर कपास के बने कपड़े का नहीं, ऐसी बात नहीं है। उनका निष्कर्ष इस बात पर आधारित है कि आदि भारोपीय चरण में भी कताई-बुनाई की दिशा में काफ़ी प्रगति हो चुकी थी और प्राचीन कालों में ऊनी वस्त्र बुन कर नहीं अपितु, गूँथ कर (प्लेटिंग से) बनाये जाते थे और इन दोनों के लिए भेदक शब्दावली पायी जाती है। वह भारोपीय मूल स्थान में एक ऐसे चरखे की कल्पना भी करते हैं जो खड़ा हो कर चलाया जाता था।[107] वास्तव में यह सूत कातने की पुरानी भारतीय पद्धति है जो चरखे से पूर्ववर्ती चरण की है जिसमें स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुष भी तकली चलाते थे। स्त्रियाँ तकली के नीचे एक पत्थर की उथली प्याली रखती थीं और तकली उसी के भीतर चलती रहती थी और पुरुष चलते-फिरते हुए भी जहाँ अवकाश मिला रुक कर सूत कात लिया करते थे। स्त्रियाँ तकुए को अपनी चिटकी में दबा कर घुमाती थीं और पुरुष तकली की उपरी डण्डी को जाँघ पर रख कर हथेली से रगड़ते हुए उसे चक्कर देते थे और इसे नाचती छोड़ कर सूत को एक झटके में आदम-

कद लम्बाई तक निकालने में समर्थ होते थे। यही खड़ा हो कर की जाने वाली वह कताई है जिसे श्रेडर ने केवल भाषिक साक्ष्यों पर ध्यान रखने के कारण कताई का ऐसा चरखा मान लिया है जिसे खड़ा हो कर चलाया जाता था। अन्यथा अपनी समस्त सरलता के बावजूद चरखा सम्भवतः उस प्राचीन काल में तैयार नहीं हो सका था। हड़प्पावासी भी सूत कातने के लिए तकली का ही प्रयोग करते थे और जनेऊ के लिए सूत कातने के लिए ब्राह्मण चरखे का आविष्कार हो जाने के बाद भी उसी पुरानी रीति से तकली से ही सूत काता करते थे जो चरखे के सूत से अधिक बारीक भी होता था।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्रेडर इस तथ्य के बावजूद कि यूरोप में ऊनी कपड़ों का ही प्रयोग होता है, भाषा-वैज्ञानिक साक्ष्यों से इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कम-से-कम यूरोपीय शाखा तो क्षौम वस्त्रों का उपयोग करती ही थी। मुमकिन है, गर्म क्षेत्रों की ओर आने वाली शाखा ने ऊन को लिनन से अधिक उपयोगी पाया हो और ठण्डे देशों के निवासियों ने ऊन की सुलभता के बावजूद पहले लिनन पर ध्यान दिया हो और फिर उनकी नज़र ऊन पर गयी हो और उन्होंने क्रमशः लिनन को त्याग दिया हो। भारोपीय क्षेत्र उलटबाँसियों का क्षेत्र तो है ही।

वस्त्र की बनावट के विषय में वह लिखते हैं कि यह अनसिला होता था और स्त्री-पुरुष दोनों ही एक तरह का ही वस्त्र पहनते थे, जिसे शरीर पर लपेट लिया जाता था और नीचे कौपीन की तरह लपेटा जाने वाला वस्त्रखण्ड एक काँटे के सहारे खोंस लिया जाता था। ट्यूटनों के विषय में उनकी जानकारी टैसिटस के विवरण पर आधारित है और यूनानियों के विषय में जानकारी का आधार कुछ व्यापक है। पर यूनानी क्षेत्र के चलन से यह प्रकट नहीं होता कि स्त्री-पुरुष दोनों के पहनावे एक थे। इनके लिए पृथक नाम थे और दोनों में कुछ भेद अवश्य रहा होगा। इसके बावजूद मुख्य मामलों में इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। दोनों ऊन के बने हुए सादे वस्त्रखण्ड हुआ करते थे जिन्हें बुनाई के आदिम किस्म के यन्त्रों से तैयार किया जाता था; कटाई और सिलाई तो कतई होती ही नहीं थी; इनको सिर्फ़ शरीर के चारों ओर लपेट कर ही पहनावे का रूप दिया जाता था और इसे एक काँटे में फँसा लिया जाता था।[108] यह आदिम चलन ऐतिहासिक कालों में भी यूनान में था।

श्रेडर लिखते हैं, "यह प्रचलन ऐतिहासिक कालों में स्पार्टन लड़कियों की पोशाक में जारी रहा। आवरक लिबास ऐड़ी तक लटका रहता था और इसे बायें से दायें की ओर शरीर से लपेटते हुए गले के पास घुमा कर फँसा दिया जाता था। इस तरह शरीर का बायाँ हिस्सा ढँका तो रहता था, पर इस तरह कि बायें हाथ के लिए अवकाश बना रहता था; दायीं ओर वस्त्र के दोनों सिरे नीचे लटके तो रहते थे, पर परस्पर जुड़ते नहीं थे।"[109]

इस विषय में किसी सन्देह की आवश्यकता नहीं कि यूरोपीय शाखा के लोग भी ठीक वही वस्त्र ठीक उसी तरह पहनते थे जो भारत में हड़प्पा सभ्यता में पहना जाता था। जलवायु की दृष्टि से अनुकूल न होने के बावजूद वे लम्बे समय तक खुले और अनसिले वस्त्रों का उपयोग करते रहे और ऊनी के स्थान पर गैर-ऊनी वस्त्रों को अपनाये रहे। गैर-ऊनी वस्त्रों को अपने नये परिवेश में असुविधा-जनक पाने के बाद जब उन्होंने ऊनी वस्त्रों को अपनाया तो भी वे लम्बे समय तक इन्हें भारतीय ढंग से ही पहनने की कोशिश करते रहे, यद्यपि ऊनी वस्त्रों को इस तरह लपेटना और बाँधना बहुत असुविधाजनक था और इन्हें कटिबन्ध आदि में उस तरह लपेट कर भी नहीं रखा जा सकता था जैसे सूती या ग़ैर-ऊनी वस्त्रों को और इसलिए इसमें जगह-जगह काँटे आदि लगा कर फँसाने की कोशिश करते रहे। उनके अपने मामले में काँटों से ऊनी कपड़े को फँसाना ही आगे चल कर कटाई और सिलाई आदि का जनक बना लगता है। इससे पहले इन अंचलों के मूल निवासी सम्भवतः ऊनी कपड़े बनाने से भी परिचित नहीं थे और जानवरों की खाल को उनके ही स्नायुओं और फीतों से कस-बाँध कर अपना काम चला लिया करते थे। इन शीत कटिबन्धीय क्षेत्रों में भी ग़ैर-ऊनी वस्त्रों का प्रवेश तथाकथित आर्यों के मूल स्थान का निश्चय करने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

ऋग्वेद में वस्त्रों के सन्दर्भ में एक बार भी ऊनी या सूती का भेदक प्रयोग देखने में नहीं आता है। ऊर्ण का उल्लेख एक बार भी किसी वस्त्र के सन्दर्भ में नहीं दिखायी देता। इसका शब्दिक अर्थ सायण 'आच्छादित करनेवाला' करते हैं और इसी भाव का कुछ विस्तार नदियों के सन्दर्भ में सम्भवतः उफनने वाली, बाढ़वाली आदि के रूप में आया है। ऊर्ण के क्रियारूप—ऊर्णुषे, ऊर्णुष्व, ऊर्णुहि, ऊर्णोति आदि—भी सायण की व्याख्या को अधिक तर्कसंगत सिद्ध करते हैं। इस तरह यह एक भ्रम मात्र है कि वैदिक काल में सूती वस्त्र नहीं पहने जाते थे। वास्तविकता यह है कि न तो वैदिक समाज ऊनी वस्त्र पहनता था, न हड़प्पा के अवशेषों से इसकी पुष्टि होती है। उस प्राचीन काल में ऊनी वस्त्र बहुत अच्छे नहीं बन सकते थे। इसके लिए उपयुक्त तकनीकी विकास अभी हो नहीं पाया था। अतः ऊनी कपड़े के नाम पर मुख्य रूप से कम्बल और शाल आदि ही बुने जाते थे और इसे बुनाई उस व्यापक अर्थ में ही कहा जा सकता है जिसके भीतर कालीन से स्वेटर तक के लिए भी बुनाई शब्द का प्रयोग किया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें, तो इसके लिए करघे का प्रयोग होता नहीं था।

बुनाई के सन्दर्भ में करघे का प्रयोग इस बात का निश्चय करने के लिए काफ़ी महत्त्वपूर्ण है कि यहाँ सन्दर्भ सूती वस्त्र का ही है। जैसा कि श्रेडर ने सुझाया है, ऊनी बुनाई गुँथाई करते हुए की जाती थी। करघे में सूत को तानने, उठाने-दबाने और इसके बीच से फिरकी के घूमने और दाबी के एक ही झटके में पूरे सूत

को दबा कर बुनावट को सघन बनाने के लिए जिन दो बातों की आवश्यकता होती है उनका ऊनी धागों में अभाव था। ये दो गुण थे मजबूती और चिकनापन। ऊनी धागे में अधिक ऐंठन देने पर धागे में बल पड़ जाता है और कम ऐंठन पर इसके लम्बे तार खुल कर टूट जाते हैं, अतः इसे थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते हुए ही बुनने का चलन अभी नयी प्रविधियों के विकास से पहले तक था। इसके विपरीत सूती धागे के साथ सामान्यतः इस तरह की कोई समस्या पैदा नहीं होती। इसके अतिरिक्त फिरकी के घूमने और तारों को कसने के लिए इनका चिकना होना ज़रुरी है और इसके लिए सूती धागों में भी माँड़ी लगा कर इनको चिकना किया जाता है जो ऊनी धागों के मामले में सम्भव नहीं था। हड़प्पा में वस्त्र बनने के लिए करघे का प्रयोग किया जाता था, यह सर्व विदित है।[110]

ऋग्वेद में करघे से कपड़ा बुनने का उल्लेख स्पष्ट रूप में एक बार और सांकेतिक रूप में—जहाँ तारों को बुनाई के लिए तानने आदि के हवाले हैं—प्रायः आता है। यहाँ वासोवाय या बुनकर का एक अलग पेशा ही दिखायी देता है।

ऋग्वेद में वेश-भूषा का वर्णन लगभग उतने ही अस्पष्ट रूप में आया है जितने अस्पष्ट रूप में खाने-पीने की वस्तुओं का। उदाहरण के लिए 'सुवेश';अच्छी पोशाक में होने की चर्चा तो आती है, पर सुवेश ठीक क्या है इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। वस्त्र से अच्छी तरह लिपटी हुई (सुः अभि) वधू का हवाला तो आता है, जिससे प्रकट होता है कि स्त्रियों की पोशाक कुछ ऐसी थी जिससे वे सिर से पाँव तक अपने शरीर को ढँके रह सकें, पर इसमें परवर्ती कालों की अवगुंठनवती स्त्री का भी भाव था या नहीं, यह पता नहीं चलता, यद्यपि इसके लिए प्रयुक्त शब्द अधिवस्त्रा अवगुंठनवती से अर्थ की दृष्टि से बहुत दूर नहीं है। स्त्री को अपनी पिण्डलियों को अच्छी तरह ढँक कर रखना होता था, ऐसा अवश्य लगता है।

वस्त्र सादे और रंगीन दोनों तरह के होते थे और सम्भवतः नये वस्त्रों को हल्दी में रंगने का भी चलन रहा हो। बुनाई में भी-कम-से कम धारीदार या चारखाने वाले कपड़े तैयार किये जाते थे, पर सजावट के लिए क़सीदे का चलन ही अधिक लोकप्रिय लगता है। सुनहली पोशाक यदि सचमुच हल्दी में रंगे कपड़ों का ही सूचक नहीं है तो यह सोचा जा सकता है कि ज़रीदार कपड़ों का भी चलन था, जिसे वैभवशाली परिवारों के लोग उपयोग में लाते रहे हो सकते हैं।

'वासस्' शब्द पर टिप्पणी करते हुए वैदिक इंडेक्स के लेखक लिखते हैं, कि यह ऋग्वेद और बाद में 'वस्त्रों' के लिए प्रयुक्त सर्वाधिक प्रचलित शब्द है। कपड़े अकसर भेड़ की ऊन से बिने जाते थे। पूषन् देवता को 'वस्त्रों का बुननेवाला' (वासोवाय) कहा गया है, क्योंकि इनका आकृतियाँ निर्माण करने के साथ सम्बन्ध है। धारण किये जाने वाले परिधान अकसर कढ़े (तु. की. पेशस्) होते थे, और मरुतों को स्वर्ण से अलंकृत परिधान धारण किये हुए बताया गया है। जहाँ अश्वों तथा

स्वर्ण का दान करने वालों के साथ 'वस्त्रों का दान करने वालों' का उल्लेख है, वहाँ सम्भवतः कढ़े हुए वस्त्रों का ही तात्पर्य है। भारतीयों के अलंकार-प्रेम के ऋग्वेद में अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, जिसकी मेगास्थनीज़ ने भी अपने समय में पुष्टि की है। ऋग्वेद में 'सु-वसन' और 'सु-रभि' जैसी उपाधियाँ भी मिलती हैं, जिनसे वस्त्रों के अच्छे लगने अथवा शरीर के ठीक नाप से सिले होने का तात्पर्य है।

अकसर ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक तीन वस्त्र धारण करते थे—एक भीतरी वस्त्र (तु. की. नीवि), एक परिधान, और एक ऊपरी परिधान (तु. की. अधीवास), जो सम्भवतः चोगा होता था और जिसके लिए 'अत्क' और 'द्रापि' का भी प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। यही शतपथ ब्राह्मण में दिये हुए यज्ञीय परिधानों के उस वर्णन के भी अनुकूल है जिसके अन्तर्गत सम्भवतः एक 'रेशमी भीतरी वस्त्र' अथवा 'तार्प्य', बिना रँगा हुआ ऊनी परिधान, और सम्भवतः एक चोगा आता था। यह अन्तिम उल्लेख सामान्य जीवन का कदाचित ही प्रचलित प्रयोग रहा होगा, 'किन्तु संस्कार का एक विशेष कृत्य अवश्य प्रतीत होता है। ठीक-ठीक यह दिखाने के लिए कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि स्त्रियों और पुरुषों की वेश-भूषा में क्या अन्तर था, और न यही स्पष्ट है कि इन दोनों के वस्त्रों का ठीक-ठीक क्या स्वरूप था।

"यह उल्लेखनीय है कि प्रत्यक्षतः वैदिक भारतीय ऐसा मानते थे कि मुनियों के अतिरिक्त सभी सभ्य व्यक्तियों को किसी प्रकार का वस्त्र धारण करना चाहिए।"[111]

मोटे तौर पर कहें तो, वैदिक इंडेक्स का उक्त विवरण वास्तविकता के काफ़ी निकट है, पर कुछ पहलुओं को समझने में भूल की गयी है। उदाहरण के लिए, वस्त्र केवल ऊन के बनते थे, यह, जैसा कि हम देख आये हैं, ठीक नहीं है। नीवी को वस्त्र मानना भी ठीक नहीं है। वास्तव में धोती या साड़ी बाँधते समय इसके बीच के ऊपरी छोर पर कमर की लपेट भर के हिस्से को लेकर एक गाँठ-सी लगायी जाती है और इसे सूत की मेखला से, 'जिसे स्त्री पुरुष दोनों धारण करते थे, लपेट दिया जाता है और स्त्रियाँ शेष दो हिस्सों में से एक को चुन्नट बनाकर इसे इजारबन्द या मेखला के भीतर खोंस लेती हैं और दूसरे को उससे आगे बढ़ाकर कमर से ऊपर ले जा कर अपने ऊपरी हिस्से को एक लपेट से ढँकती हुई कन्धे पर ले जाती हैं, जहाँ से सिर को ढँकता हुआ यह सिरा पुनः कमर से कुछ नीचे तक आ कर लटकता रहता है। पुरुष गाँठ को बीच में न बाँध कर एक ओर को बाँधते हैं, उसे मेखला में लपेटते हैं, या कहें जब इसका चलन आम था तब लपेटते थे, और लटके हिस्से को पीछे ले जाकर खोंस लेते हैं और बाकी हिस्से को या तो चुन कर इसके छोर को भी पछोटे के रूप में बाँधते हैं या इसे कमर में लपेट कर इसके बन्ध को अधिक मज़बूत कर लेते हैं। धोती और साड़ी के इस लपेट को ही नीवी

कहते हैं जो कभी केवल उस गाँठ के लिए भी प्रयोग में आता रहा है जो बाँधते समय लगायी जाती है और कभी उस चुन्नट की गाँठ के लिए जिसे पहले महिलाएँ एक इजारबन्द से बाँधती थीं। अथर्ववेद के जिन दो स्थलों[112] का हवाला वैदिक इंडेक्स में दिया गया है, उनमें भी वासस् के साथ नीवी बनाने का ज़िक्र है जो भी इसी की पुष्टि करता है। जहाँ तक 'तार्प्य' का प्रश्न है, कात्यायन और सायण आदि परम्परागत व्याख्याकार इसके विषय में खासी उलझन में पड़े दिखायी देते हैं।[113] हमें इस विषय में सन्देह है कि वैदिक काल में रेशम के वस्त्र,और वह भी भारत में, प्रचलित हो चुके थे, पर इस विषय में सन्देह की पूरी सम्भावना है कि यह किसी तरह का 'भीतरी वस्त्र' होता था।[114] शतपथ ब्राह्मण में केवल यह उल्लेख है कि "पुरोहित राजा को (अभिषेक के इस अवसर पर) वस्त्र पहनाता है। यह तार्प्य होता है...। फिर पाण्डु (बस्त्र) पहनाता है...।"[115] कहें, तार्प्य से न तो स्पष्ट रेशम का भाव प्रकट होता है, न सिले हुए भीतरी कपड़े का, न ही पाण्डु से ऊनी का। पाण्डु का अर्थ केवल सफ़ेद है और यह अनरंगे कपड़े का द्योतक है। जो भी हो, ये बाद के विवरण हैं और इनकी तफ़सील में जाना हमारे लिए उपयोगी नहीं है।

ऋग्वेद में जिन वस्त्रों का वर्णन है उनमें वास[116],अधिवास[117] और शिप्रा[118] या, कहें, शिर की पगड़ी आती है। ऊष्णीष, जिसका प्रयोग पगड़ी के लिए बाद में आता है,से लगता है कि इसका मुख्य प्रयोजन सिर को गर्मी या, कहें, धूप से बचाना था। वास को साड़ी और धोती का सूचक माना जा सकता है, अधिवास को पुरुषों के मामले में उत्तरीय या शाल का और स्त्रियों के मामले में चादर या ओढ़नी का; वह भी तब जब यह मान लें कि पुरुषों के ही सामानान्तर स्त्रियों का भी एक वसन अवश्य होता था। शिप्रा[119] और ओपस[120] क्रमशः पुरुषों के मामले में पगड़ी और स्त्रियों के मामले में वह सज्जा होती है जो हड़प्पा की कुछ मूर्तियों से व्यक्त होती है। कुरीर लकड़ी या सींग का कुछ विशेष शैलियों के लिए बना यन्त्र है जिसके सहारे कुछ अतिशय आडम्बरपूर्ण केश-सज्जा की जाती प्रतीत होती है। इसे हड़प्पा की प्रतिमाओं में आसानी से लक्ष्य किया जा सकता है।

ऋग्वैदिक समाज में केश-सज्जा की अनेक रीतियों के आभास मिलते हैं। केश रखने का चलन स्त्रियों और पुरुषों में समान रूप से पाया जाता था। बालों की वेणियाँ गूँथने का और वेणियों को विभिन्न रूपों में सँवारने का चलन दिखायी देता है।[121] वसिष्टों को एक स्थल पर 'दक्षिणतः कपर्द'[122] कहा गया है और अन्यत्र चार वेणियाँ रखने वाली लड़की का ज़िक्र आता है जिसके लिए चतुष्कपर्दा[123] प्रयोग में आया है। चौड़ा जूड़ा बाँधने वाली या पृथुष्टुका[124] और बालों को मुक्त रखने वाली 'विषितष्टुका[125] का उल्लेख भी पाया जाता है। सिनीवाली के लिए तो सुकुरीरा, सु-ओपशा, सुकपर्दा आदि विशेषण आते ही हैं।[126]

अलंकारों के प्रति प्रेम भी स्त्रियों और पुरुषों में समान रूप से पाया जाता था। हाथों और पाँवों में खादि या कंगन, जिनको हड़प्पा के अवशेषों से ही पहचाना जा सकता है, स्त्रियों और पुरुषों में समान रूप से प्रचलित दिखायी देते हैं।[127] इनको चूड़ियों की तरह, एक हाथ में अनेक, पहना जा सकता था जो कि खादि के बहुवचन प्रयोगों[128] से और हड़प्पा की नर्तकी और रुद्र की प्रतिकृति में भी देखा जा सकता है। कानों का आभूषण[129] भी ठीक उसी तरह प्रचलित है जैसा हड़प्पा के अवशेषों में दिखायी देता है। गले के आभूषणों के उल्लेख मणिग्रीव[130], निष्कग्रीव[131], स्रक्[132] आदि के प्रयोगों में स्पष्ट हैं और इन्हीं से यह भी स्पष्ट होता है कि ये आभूषण सोने, चाँदी, मणि, रत्न आदि के बनते थे। आभूषण का प्रयोग और इसके लिए चाव कितना गहरा था, यह आभूषेण्य[133] जैसे प्रयोगों में भी स्पष्ट है और एक स्थल पर तो पुष्करस्रज[134] से फूलों की माला पहनने का भी पता चलता है।

जहाँ हिरण्ययी द्रापी और शिप्रा[135] के उल्लेख आये हैं वहाँ हम वस्त्र के जरीदार होने की कल्पना कर सकते हैं। सत्ता के प्रतीक के रूप में सुनहली जरी या स्वर्णखण्ड-युक्त पगड़ी की बात तो स्पष्ट है ही। हड़प्पा की उस विशेष प्रतिमा को सामने रखते हुए जिसे पुजारी शासक की प्रतिमा माना गया है, वरुण के वेश का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

सूर्या के विवाह के प्रकरण में तथा अन्यत्र अंजन, गन्धलेप या उपलेप का उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। अंजन और उपलेप का चलन हड़प्पा के अवशेषों से भी प्रमाणित होता है और इसका निर्यात सम्भवतः पश्चिमी देशों को भी किया जाता था।[136] इस तरह हम वेश-भूषा के मामले में भी वैदिक विवरणों और हड़प्पा के साक्ष्यों में पूर्ण संगति पाते हैं।

9

राजसत्ता व प्रशासन

हड़प्पा सभ्यता के समूचे प्रसार-क्षेत्र में मामूली आंचलिक भेदों के बावजूद नीचे से ऊपर तक ऐसी एकरूपता और व्यवस्था पायी जाती है जो एक लोकप्रिय प्रशासन की देन प्रतीत होती है। इसके बावजूद शासन-व्यवस्था का रूप ठीक-ठीक क्या था और इस पूरे प्रसार-क्षेत्र में कितने राज्य थे, इस विषय में कोई स्पष्ट जानकारी न तो इसके मूक अवशेषों से मिल सकती है, न ही इसकी आशा की जानी चाहिए। इस विषय में विद्वानों ने अँटकलों से ही काम लिया है। कुछ की दृष्टि में पूरा हड़प्पा क्षेत्र एक विशाल साम्राज्य का अंग था, तो कुछ दूसरों की

दृष्टि में उत्तर और दक्षिण के दो प्रधान केन्द्रों से प्रशासित साम्राज्य था और कुछ के अनुसार मोहनजोदड़ो से प्राप्त मूर्ति पुरोहित शासक की है और प्रत्येक नगर का शासन इसके मन्दिर से ही होता था, यद्यपि हड़प्पा या मोहनजोदड़ो से ऐसी कोई इमारत नहीं मिली है जिसे मन्दिर कहा जा सके। वास्तव में प्रशासकीय ढाँचे की व्याख्या के लिए विद्वान पश्चिम के नमूनों को सामने रख कर ही विचार करते रहे हैं, चाहे वह रोमन साम्राज्य का नमूना हो या मेसोपोटामिया का या कुषाण साम्राज्य का।

वैदिक-कालीन शासन-व्यवस्था के विषय में भी उलझन कम नहीं रही है। एक ओर तो वैदिक साहित्य पर काम करने वाले अधिकारी विद्वान इस विषय में एकमत रहे हैं कि वैदिक काल में राजतन्त्र था तो दूसरी ओर इन विद्वानों की रचनाओं और अनुवादों व व्याख्याओं में से अपनेप्र योजन के लिए कुछ शब्दों को अलग छाँट कर कुछ दूसरे विद्वान आदिम कबीलों के सादृश्य पर वैदिक राजा को कबीले का सरदार सिद्ध करते रहे हैं।[137] राजसत्ता को स्वीकार करने वाले भी यह निश्चय करने में कठिनाई अनुभव करते रहे हैं कि इसका स्वरूप वंशागत था या निर्वाचन पर आधारित। उदाहरण के लिए, वैदिक इंडेक्स के अनुसार, "यह सर्वथा स्पष्ट है कि आरम्भिक भारत में यद्यपि सार्वभौम रूप से तो नहीं, तथापि सामान्यतया सरकार का रूप राज-सत्तात्मक ही था।...त्सिमर का विचार है कि जहाँ वैदिक राजसत्ता वंशानुगत होती थी, जैसा कि उन अनेक स्थितियों में व्यक्त होता है जिनमें बंशानुक्रम देखा जा सकता है[138], वहीं अन्य दशाओं में राजसत्ता चुनाव पर आधारित थी, यद्यपि यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि जनता द्वारा केवल राज-परिवार के सदस्यों में से ही किसी एक को राजा चुनना पड़ता था अथवा सभी श्रेष्ठ जातियों के सदस्यों में से। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि चुनाव पर आधारित राजसत्ता के पक्ष में प्रमाण बहुत शक्तिशाली नहीं हैं। जैसा कि गेल्डनर तर्क उपस्थित करते हैं, सभी उद्धृत स्थलों पर विशों द्वारा चुनाव नहीं वरन् प्रजा द्वारा राजा को स्वीकृति प्रदान करने का सन्दर्भ है; यही अपेक्षाकृत सम्भव आशय प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे राजसत्ता की चुनावात्मक प्रकृति के विरुद्ध प्रमाण नहीं मिलता।"[139]

इन अध्येताओं को राजसत्ता के स्वरूप के विषय में कितना भी अनिश्चय क्यों न हो, इसके अस्तित्व के विषय में किसी प्रकार का सन्देह इसलिए भी नहीं है कि ऋग्वेद में राजसत्ता के अस्तित्व के सूचक राजा[140], सम्राट्[141], एकराट[142], अधिराट[143], विराट[144], स्वराट[145] आदि अनेक शब्द पाये जाते हैं जिनसे प्रकट होता है कि इन सभी प्रकार के राज्यों और राजाओं का उस काल में भले अस्तित्व न रहा हो, पर छोटे राज्यों में से लेकर विशाल राज्यों की कल्पना का ठोस भौतिक आधार अवश्य था। यदि प्रश्न केवल राजा शब्द के प्रयोग का होता तो इसकी

तुलना कबीलाई सरदार से करना कुछ सार्थकता रखता भी (राजा शब्द का प्रयोग वस्तुतः उन कालों में भी जब राज्य-सत्ता का असन्दिग्ध अस्तित्व था, गणों के प्रधानों के लिए भी होता रहा है), पर जहाँ तुलनात्मक रूप में छोटे-बड़े अनेक आकारों के राज्यों और पदों का उल्लेख मिलता हो, इसे इतने सतही ढंग से नहीं निबटाया जा सकता।

ऋग्वेद में केवल इन विभिन्न प्रकार के राज्यों का ही आभास नहीं मिलता, अपितु अमात्य[146], मित्र[147] या सचिव[148], सेनानी[149], अधिवक्ता[150], उप-वक्ता[151], दूत[152], चर या स्पश[153], आदि पदों के भी आभास मिलते हैं जो अपनी समग्रता में इस बात की अकाट्य पुष्टि करते हैं कि इस काल में एक व्यवस्थित राजतन्त्र और पद-क्रम विद्यमान था। दूसरी ओर ग्रामणी[154], विश्पति[155], नाय[156], नर, नेता[157], गणपति[158], आदि शब्दों का प्रयोग अधिकार और संगठन के एक भिन्न रूप को प्रकट करता है जिसका सम्बन्ध प्रशासनिक दृष्टि से एक या अनेक अधिकार-क्षेत्रों में आने वाले भूभाग में सामाजिक या आर्थिक आधारों पर गठित और संचालित संगठनों से हो सकता है और इसका पहले वर्ग से स्पष्ट अन्तर है। नियमित सेना से अलग जहाँ मात्र कबीलों या गणों के आक्रमण या दल के संकेत मिलते हैं वहाँ इसके लिए दासी—दास वर्ग का जत्था, देवी—स्वामिवर्ग का या धनिक वर्ग का समूह आदि शब्दों के भेदक प्रयोग मिलते हैं। अतः इस विषय में भ्रम की अधिक सम्भावना नहीं रह जाती। इन विभिन्न तथ्यों को सामने रख कर ही हम वैदिककालीन प्रशासन के विषय में संक्षेप में विचार कर सकते हैं।

सबसे पहले इस बात को पुनः दुहराना आवश्यक है कि ऋग्वेद के रचनाकारों के संरक्षक राजा नहीं, अपितु वैश्य थे और इसलिए उन स्थलों पर भी जहाँ राजा शब्द का प्रयोग विशेष व्यक्तियों के लिए हुआ है, इस बात की सम्भावना अधिक है कि ये प्रशासक राजा न होकर प्रधान व्यापारी रहे हों। ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि वास्तविक राजाओं के विवरण ऋग्वेद में नहीं मिलते, यद्यपि इनके अस्तित्व, कार्यभार, योग्यता और प्रभाव आदि के विषय में निर्भ्रान्त सूचना व्याज रूप में प्राप्त हो जाती है। जैसा कि हम सुझा आये हैं, यदि प्रशासकीय सत्ता भी इन प्रधान सेठों के हाथ में रही हो, या यदि राजा की ओर से भी व्यापारिक गतिविधियों में हिस्सा लिया जाता रहा हो, तो बात ही भिन्न है।

इस विषय में दूसरे अध्येताओं के मतामत की छानबीन करने या प्रत्येक मामले में तफ़सील में जाने के लोभ को रोकते हुए वस्तु-स्थिति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है। व्यापारिक सार्थों के प्रस्थान के समय पूरी यात्रा के दौरान सार्थ के नियन्त्रण और संचालन तथा आपातिक स्थितियों में दस्युओं आदि का सामना करने में अग्रणी भूमिका के लिए सार्थ के व्यापारी सदस्यों या विश द्वारा एक व्यक्ति को नेता चुना जाता था, जिसके लिए भी राजा शब्द का प्रयोग किया जाता

था। कारण, जहाँ तक इस दल का प्रश्न है, इसे उसी प्रकार का अधिकार प्राप्त था जो अपने राज्य में किसी राजा को प्राप्त होता है। इसका चुनाव शौर्य और सम्पन्नता दोनों के आधार पर किया जाता था और, जाहिर है, इसके उपयुक्त कोई तरुण ही हो सकता था। इस राजा के प्रतीक इन्द्र हैं जिन्हें युवा, नेता, नर, जेता, अपराजित, अप्रतिष्कृत आदि विशेषणों के साथ याद किया गया है। सार्थ के सदस्य व्यापारियों के प्रतीक मरुद्गण हैं जो इन्द्र के सखा हैं, सहायक हैं, परस्पर समान स्थिति रखने वाले हैं, सुजात हैं, शौर्य के मामले में भी इन्द्र से कम नहीं हैं और इनका अपना वैभव इनकी सुनहली पगड़ी, गले के कीमती हारों, कानों की सुनहली बालियों आदि से प्रकट होता है और प्रकट होता है विनोद और विलास के कतिपय उल्लेखों से जो प्रकृतितः इन्द्र से भिन्न नहीं है। इन्हीं को विश्वदेव या समग्र देवों के रूप में भी याद किया गया है। सार्थ के सभी व्यापारी ही विश् के रूप में याद किये गये हैं, यद्यपि जहाँ भूसम्पदा का प्रश्न आता है विश् और मरुद्गण किसानों के लिए प्रयुक्त हैं; कारण, भूसम्पदा, पशुसम्पदा और वाणिज्य तीनों पर आरम्भ में वैश्यों का ही अधिकार था, या, कहें, जिनका अधिकार था उन्हें विश् या आर्य कहा जाता था। अतः यात्रा के सन्दर्भों में विश्पति और राजा ही नहीं, अपितु ग्रामणी, चर्षणीधृत और 'वृजनस्य राजा' भी सार्थ के नेता के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। विश् और चर्षणी में अन्तर केवल यह है कि सार्थ के सदस्य व्यापारी, जिनको हर दृष्टि से समान स्तर का माना जाता था, विश् या मरुत् कहे जाते थे जो सजाति, सबन्धु, अज्येष्ठ, अकनिष्ठ, और अमध्यम थे, यद्यपि ये सभी इन्द्रज्येष्ठ थे या, कहें, निर्वाचन के बाद सार्थ के नेता की श्रेष्ठता को स्वीकार करने को बाध्य थे। इसके विपरीत भृत्यों, रक्षकों सहित पूरे सार्थ को ग्राम, चर्षणी और एक दो स्थलों पर प्रजा कहा गया है। तत्कालीन व्यापारिक गतिविधियों की गुरुता आदि के विषय में असावधानी के कारण परम्परागत टीकाकारों से लेकर आधुनिक अध्येताओं तक से इन विविध शब्दों का आशय समझने में चूक हुई है, परन्तु यदि प्रत्येक मामले में समग्र स्थिति को ध्यान में रख कर विचार किया जाये तो किसी तरह की उलझन पेश नहीं आयेगी।

यात्रा के दौरान इन तरुण उत्साही वणिकों के दल को नियन्त्रित करने के लिए एक अनुभवी और अपेक्षाकृत प्रौढ़, यद्यपि वृद्ध नहीं, परामर्शदाता की आवश्यकता थी और इसी प्रयोजन से हम कतिपय ऋषियों को इन सार्थों के साथ जाते देखते हैं। इस परामर्शदाता और अनुभवशील व्यक्ति को विषम स्थितियों में ही अपनी भूमिका नहीं निभानी होती थी, अपितु सार्थ या, कहें, पूरी चर्षणी के भीतर नियम और अनुशासन आदि का भार और इसके लिए कोई भी दण्ड देने का अधिकार उसे प्राप्त था। इसके निर्णय विवादास्पद स्थितियों में सार्थ के सदस्यों सहित इसके नेता तक पर लागू होते थे और स्वयं अपने आचरण में भी वह उन

पाबन्दियों का कठोरता से पालन करता था। यही वरुण का वरुणत्व है और इन्द्र के सन्दर्भ में उनका महत्व या अमहत्व है, यही उनका साम्राज्य है।

यात्राओं के दौरान किन्हीं समस्याओं पर विचार करने की आवश्यकता होने पर विश् के सभी सदस्य मिलकर विचार करते थे और सभी को अपना मत प्रकट करने का अधिकार था। इसमें वरुण की स्थिति मात्र परामर्शदाता की ही थी। अन्तिम निर्णय दल के नेता या राजा (इन्द्र) को ही करना था। अनेक स्थलों पर समिति का सम्बन्ध इन बैठकों से ही है[159] और बाद की परम्पराओं में इन्द्र की परिषद् में हज़ार ऋषियों या परामर्शदाताओं के जो हवाले आते हैं उनका सम्बन्ध इन सार्थ-समितियों से ही है।

दूसरे शब्दों में कहें तो, राजा शब्द का एक व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है जिसमें इसका ऐश्वर्य या अधिकार-पक्ष ही प्रधान है और जिसके पास यह अधिकार या क्षत्र है वह राजा है, चाहे वह सार्थ का नेता हो या परामर्शदाता, प्रशासक राजा हो या मन्त्री। अतः राजा शब्द का प्रयोग इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि और सोम के लिए हुआ है।

दूसरी ओर, राजा का प्रशासकीय रूप है जिसका सम्बन्ध किसी विशेष दल या समूह पर प्रभुत्त्व से नहीं है, अपितु एक निश्चित भूभाग में आने वाले सभी तरह के लोगों, सम्पदाओं और सभी प्रकार की गतिविधियों पर किसी एक व्यक्ति के प्रभुत्व से है। जहाँ सार्थ का नेता या राजा निर्वाचित होता था वहाँ इस प्रशासनिक राजा को सत्ता वंशानुगत रूप में मिलती थी, यद्यपि इस मामले में सन्देह है कि जिन-जिन वंशों को लैनमैन और त्सिमर आदि राजवंश मानते हैं वे सचमुच के राज-वंश थे या श्रेष्ठिकुल। जो भी हो, यहाँ हमें भुवन के राजा[160]; लोक हितकारी राजा[161]; दिव्य, पार्थिव, और क्षम्य या भूगर्भीय सम्पदा के स्वामी राजा[162]; पूरे जगत के एकमात्र राजा[163]; चर्षणी, कृष्टी और मानुषी या व्यापारी, कृषिजीवी, तथा इतर समस्त जनों के राजा[164]; पर्वत, नदी, स्थल सभी के राजा[165]; सार्थ के राजा की तरह से विश के सदस्यों के सखा या भ्राता राजा नहीं, अपितु दूसरों से बिलकुल अलग कोटि का—असमः जनानां—राजा;[166] ऋतजात या ऊँचे कुल में उत्पन्न राजा[167] आदि के विवरण मिलते हैं जो पहले से इसकी भिन्नता को प्रकट करने के लिए पर्याप्त हैं। यह राजा राज श्रेष्ठियों की तरह धन लुटाने वाला नहीं अपितु कर उगाहने वाला या जनन्भक्ष है।

एक राजा को जिन गुणों और शक्तियों से युक्त माना गया है, जरूरी नहीं कि वैदिक राजा इन सब पर खरे उतरते रहे हों, पर इस विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता कि वैदिक जन एक आदर्श राजा को इन विशेषताओं के अनुरूप देखना चाहते थे और साथ ही यह भी कि अधिकांश राजा इन कसौटियों पर खरा उत-रने का प्रयत्न करते रहे होंगे। राजा के साथ एक विशाल भूभाग के शासनाधि-

कार का भाव प्राय: जुड़ा दिखायी देता है।[168] इस विशाल क्षेत्र के शासन के लिए ज़रूरी है कि वह इसकी जानकारी रखे, विद्वान और विचारशील हो।[169] उसका पालन-पोषण और शिक्षा आदि तो विधिवत हो ही, वह राजकुल में ही उत्पन्न हो।[170] वह किसी के अधीन न हो।[171] युद्ध के समय नेतृत्व सँभाल सकता हो।[172] समस्त लोग उसकी अधीनता स्वीकार करते हों और उसके सामने झुकते हों।[173] वह उदार हो[174] और नियमों का स्वयं भी पालन करता हो।[175] राजा के लिए ज़रूरी है कि वह शत्रुओं को जीत कर राज्य-विस्तार करे अथवा उन्हें अधीन करके तथा स्वजनों से कर वसूली करके कोष को भरा-पूरा रखे।[176] उसको निष्पक्ष भाव से न्याय करना और नियम तोड़ने वालों को दण्ड देना चाहिए।[177] राजा के अनुपम वेश[178], वैभव[179], आवास[180], ऊँचे आसन[181] और सुसज्जित रथ का[182] उल्लेख भी आता है। इन विभिन्न योग्यताओं को ध्यान में रखें तो पायेंगे कि वैदिककालीन राजाओं से जो अपेक्षाएँ की गयी हैं, उनका जो चित्र तैयार किया गया है, वह ऐतिहासिक कालों के राजाओं से तनिक भी भिन्न नहीं है।

अन्य पदों के साथ भी अपेक्षित योग्यताएँ पदों के अनुरूप ही दिखायी देती हैं। उदाहरण के लिए, अग्नि को जहाँ दूत के रूप में कल्पित किया गया है वहाँ उन्हें प्राय: विद्वान, कवि आदि कहा गया है।[183] उपवक्ता या राजा के पास जनता की ओर से जाकर फ़रियाद करने वाले के लिए सुवेश और सुरूप होना ज़रूरी है।[184] उपमाओं में भी राजा की तरह त्वेषयुक्त[185], राजा की तरह अमवान या शक्तिशाली[186], राजा की तरह विजयी[187], राजा की तरह प्रतापी[188], राजा की तरह सुव्रत[189], आदि विवरण इस चित्र को इतना स्पष्ट कर देते हैं कि इस तरह के एक स्थायी, सर्वमान्य और न्यायिक तथा प्रशासनिक शक्तियों से युक्त पद के विषय में कोई दुविधा नहीं रह जाती।

हम प्रशासन के अन्य पहलुओं—सभा, समिति और इसके गठन और राज-शक्ति की सीमाओं और जनता के अपने अधिकारों आदि के ब्यौरे में जाना उचित नहीं समझते।[190] यहाँ इतना संकेत ही पर्याप्त है कि इनका किसी प्रकार का सरलीकृत अर्थ लेना, चाहे वह जनतान्त्रिक परिषदों के रूप में हो या व्यापारिक जत्थों या आदिम समाजों की पंचायतों या बैठकों के रूप में, निरापद नहीं है।[191] कुछ विरल मामलों में ही इनका सम्बन्ध प्रशासनिक संस्थाओं से हो सकता है, जिन्हें समझना ज़रूरी है। इसी तरह बलि और शुल्क को लूट का माल मानना भी तर्कसंगत नहीं है। हाँ, इस बात की पूरी सम्भावना है कि दूसरों की अपेक्षा बड़े भूखण्ड का शासक अपने को सम्राट आदि विशेषणों से अलंकृत करता रहा हो, जब कि परवर्ती कालों के विशाल साम्राज्यों की तुलना में उसका राज्य एक प्रान्त के बराबर भी सिद्ध न हो। पर साथ ही यह भी याद रखना

होगा कि सभ्यता के विकास और जनजीवन की खुशहाली का बहुत बड़े क्षेत्र के एक केन्द्र से शासित होने से कोई सीधा सम्बन्ध नही है और अनेक बार तो यह जनता की हालत को अधिक कष्टकर और व्यापार-वाणिज्य के लिए अनिष्टकर भी सिद्ध हो सकता है। बहुत बड़े क्षेत्र पर अधिकार के ठीक बाद ही हम प्रत्येक साम्राज्य का पतन आरम्भ होते देखते हैं। इसके विनाश के बीज उसी के भीतर पैदा होने लगते हैं।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. ऋग्वेद में केवल एक बार प्रयुक्त (5.29.10) इस शब्द को कुछ इस तरह तूल दिया जाता रहा है मानो यह आर्य-अनार्य का भेद स्पष्ट करने वाला सबसे प्रबल साक्ष्य हो,जब कि कम-से-कम हड़प्पा के साक्ष्यों को और भारतीय जनजातीय चित्र को सामने रखते हुए बिना किसी बहस के विद्वानों को यह स्वीकार कर लेना चाहिए था कि इस शब्द का अर्थ करने में उनसे कहीं-न-कहीं कोई भूल हो रही है। पर एक बार तथ्य के रूप में प्रचारित झूठ या भ्रम भी प्रकट वास्तविकता से कितना प्रबल हो जाता है, इसे देखने के लिए धर्म और पुराण कल्पनाओं को देखना ही जरूरी नहीं है। इसके प्रमाण आधुनिक विचारकों की रचनाओं में भी मिल जायेंगे और इनकी पकड़ में ऐसे विद्वान भी आ सकते हैं जिनकी जानकारी और विश्लेषण क्षमता के लिए अन्य मामलों में उनकी सराहना की जा सकती है। देखें, कोसम्बी, 1965, 79; डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, 1954, 39, आदि।

अनास शब्द को मनचाहे ढंग से अ-नास पढ़ने के स्थान पर अन्-आस पढ़ा जाना चाहिए। सायण इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, 'अनासः आस्यर-हितान्। आस्य शब्देन शब्दो लक्ष्यते। अशब्दान् मूकान्।' (ऋ. 5.29.10 पर भाष्य)। अर्थात् अनास का अर्थ है आस या मुख रहित। आस शब्द का लाक्षणिक अर्थ है शब्द और इसलिए अनास का अर्थ है मूक। दवैको. में इसका वाचिक अर्थ ही रख दिया गया है, 'अविद्यमान आस्यान्।' तुलसी ने 'कोउ मुखहीन...' में मुखहीन शब्द अनास के लिए ही रखा है, ऐसा लगता है। पर सायण की व्याख्या अधिक सही है। अपने से भिन्न भाषा बोलने वालों के लिए प्रायः 'गूँगा' शब्द का प्रयोग होता है, जिसका भी अर्थ है 'गूँ-गां करने वाला' या अस्पष्ट बोलने वाला। इनके लिए अन्य प्रयोग 'मृध्रवाच', 'वध्रिवाच'

भी इसी आशय में प्रयुक्त हुए हैं जो इस प्रयोग की संगति को प्रकट करता है। तुलना करें अवेस्ता में विदेशी या भिन्न भाषा बोलने वाले के लिए प्रयोग 'वाचं न्नश असूरह्य', हर्जफील्ड, 1947, 1, 155, अर्थात् बेजबान भी।

2. हड़प्पा सभ्यता के निर्माताओं के विषय में जो उपलब्ध जानकारी है वह इस मान्यता का निषेध करती है कि नये सांस्कृतिक तत्वों को लेकर भारत में किसी भी अन्य क्षेत्र से किन्हीं जनों का प्रवेश हुआ था (डी. के. सेन, 'ऐंश्येंट रेसेज़ ऑफ़ इंडिया ऐंड पाकिस्तान', ऐंश्येंट इंडिया 1964-65, 104-5 या कि पंजाब, बलूचिस्तान सिन्ध और गुजरात में उस काल में बसे हुए लोग, इन क्षेत्रों में आज बसे लोगों से किसी अर्थ में भिन्न थे, (डी. के. सेन, 1964-65, 178-205; शशांक शेखर सरकार 'रेस मूवमेंट ऐंड रेसेज इन इंडिया', कहेइं, 1958; ऐंश्येंट रेसेज़ ऑफ़ बलूचिस्तान, पंजाब, ऐंड सिन्ध, 1964; केनेडी 'स्कल्स आर्यन्स, फ्लोइंड ड्रेन्स...' हसि. 1982, आदि)। वास्तव में जैसा कि एस. एल. बाशबर्न ('थिंकिंग एबाउट रेस' सरकार द्वारा उद्धृत, 1958, 17) ने सुझाया था, भारत दुनिया का सबसे अधिक, और बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे, रक्त मिश्रण का देश है जहाँ, जाति के आधार पर आबादी का वर्गीकरण असम्भव है। नेस्फ़ील्ड ने (रिज़ली, 'एथनॉलॉजी ऐंड कास्ट', 1909, द्वारा उद्धृत) बहुत पहले ही यह सुझाया था कि भारत के सवर्णों और असवर्णों को नृतात्विक आधार पर अलग किया ही नहीं जा सकता। सरकार (दि ऐबोरिजिनल रेसेज़ ऑफ़ इंडिया, 1954) बक्स्टन (रेशियल एफ़िनिटीज़ ऑफ़ दि पीपुल्स ऑफ़ इंडिया, सेंसस ऑफ़ इंडिया 1931, 1, 3), बी. एस. गुहा (रेशियल एफ़िनिटीज़ ऑफ़ दि पीपुल्स ऑफ़ इंडिया, सेंसस ऑफ़ इंडिया, 1931, 1, 3), कीथ (1936, मैन, लंदन, 29, सरकार (1958) द्वारा उद्धृत), आदि ने भी यही विचार प्रकट किये हैं। कीथ के अनुसार तो इस बात की पूरी सम्भावना है कि भारत की वर्तमान जनसंख्या का विकास यहाँ के ही मूल निवासियों से हुआ हो और उनमें जो मामूली अन्तर पाये जाते हैं वे विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारणों की देन हों। बोएज़ हैडन, चाटुर्ज्या, कोसम्बी तथा ऐडम्स के विचारों का उल्लेख हमने अन्यत्र किया है जो नृतत्व को जातीय वर्गीकरण की दृष्टि से लगभग बेकार मानते हैं। भारतीय सन्दर्भ में यह याद रखना होगा कि विभिन्न नृजातीय लक्षणों का समांगीकरण हड़प्पा-काल में भी हो चुका था (सेन, 1964-65) और वस्तुतः द्रविड़, आर्य और मुण्डा-भाषियों में नृतात्विक दृष्टि से कोई प्रधान भिन्नता नहीं पायी जाती (सरकार, 1958, 22)।

3. कीथ, 1921, 74; सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, 1954, 55-56; कोसम्बी, 1965, 73; आर. एस. शर्मा, 1979, 12-13, आदि।
4. ऋ. 7.18. 6-7, इस दृष्टि से विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।
5. कोसम्बी, 1955, 84; 93; 104; 109, 139; दि बेसिस ऑफ़ ऐंश्येंट इंडियन हिस्ट्री', जर्नल ऑफ़ अमेरिकन ओरिएंटल सोसायटी, 75,1, 1955, 41; डी. पी. चट्टोपाध्याय, लोकायत, 1959, 88-91; कीथ, 1921 (1962 सं.), 74.
6. ऋ. 4.30.17.
7. 'पुरुओं' के विषय में देखें, शतब्रा. 6.8-1,14; सैबुईसी 41, 292 भी।
8. ऋ. 10.86.1 और आगे।
9. देखें, म. म. पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, शकाब्द 1881, 190 और आगे।
10. मैकडनेल, वैदिक माइथॉलॉजी, 1980, 65-66.
11. ब्राह्मः दैवस्तथेत्यार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ मनु. 3.21.
12. ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृता। मनु. 27.2; याज्ञ. 1.58.
13. यज्ञस्य ऋत्विजे देवः। याज्ञ. 1.59
14. आहार्य आर्षस्तु गो द्वयम्। मनु. 1.196; याज्ञ. 1.59.
15. सह उभौ चरतां धर्मं इति वाचा अनुभाष्य च। कन्या प्रदानं अभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ मनु. 3.30.
16. आसुरः द्रविणादानात्। मनु. 3.31; 1.61.
17. कथमपि बान्धव कृता स्नेह-प्रवृत्तिः। शाकु. 4.16.
18. राक्षसः युद्ध-हरणात्। मनु. 3.33; याज्ञ. 1.61.
19. सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहः यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठः विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ मनु. 3.34.
20. सोमः प्रथमः विविदे गन्धर्वः विविदे उत्तरः। तृतीयः अग्निः ते पतिः तुरीयः ते मनुष्यजाः। सोमः ददत गन्धर्वाय गन्धर्वः ददत् अग्नये।
रयिं च पुत्रान् च अदात् अग्निः मह्यं अथो इमाम् ॥ ऋ. 10.85.40-41.
21. डांगे, 1972, 71, और आगे।
22. वही।
23. अनावृताः किल पुरा स्त्रियः आसन् वरानने।
कामारण्य विहारिण्यः स्वतन्त्रा कल हासिनी। महाभारत, 1.113.4.
24. कुछ विद्वानों ने माता शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए माना है कि यह उस अवस्था का सूचक है जब वितरण का काम माँ के हाथ में होता था। देखें डांगे,

1972, 69, पर इस इस तरह का व्युत्पादन आवश्यकता से अधिक सुथरा लगता है। जो भी हो, इससे इस बात की पुष्टि तो होती ही है कि आखेट और आहार-संग्रह की अवस्था में यह समाज मातृप्रधान था।

25. वैदिक इंडेक्स, 1962 सं., 1, 9-10.
26. वही, 10.
27. अथर्ववेद का अनुवाद, 841, मैकडनेल और कीथ द्वारा उद्धृत, 1962, 1, 10.
28. वही।
29. वही, 10-11.
30. एस.पी. गुप्त, 1972,78; ठीक ऐसे ही विचार ऐडम्स(1968, 194-125) के भी हैं। जैसा कि हम विवाह-रीतियों के सन्दर्भ में देख आये हैं, एकाधिक अन्त्येष्ठि-रीतियों का एक ही समाज में प्रचलन अन्य कारणों से हो सकता है। अन्त्येष्ठि-रीतियाँ जातीय भिन्नता का प्रमाण नहीं हैं।
31. इसके ठीक विपरीत मान्यता पारसियों में विकसित हो गयी थी जिनके अनुसार जो भी तत्व मृत व्यक्ति या शव के सम्पर्क में आता है वह दूषित हो जाता है, अतः शव-दाह से अग्नि को, प्रवाह से जल को या समाधि से धरती को दूषित करना अक्षम्य अपराध था और इन सबसे बचने के लिए किसी ऊँचे, एकान्त स्थल पर शव को खुला छोड़ देने की प्रथा आरम्भ हुई थी जहाँ शवभक्षी पक्षी इसे खाकर तुष्ट हो सकते थे।
32. एस. पी. गुप्त, 1972, 54, 60, 68, 75; ह्वीलर, 'हड़प्पा 1946 : दि. डिफेंसेज़ ऐंड सिमेटरी आर. 37', ऐंश्येंट इंडिया, 3, 1947, 86; एस. आर. राव, 'फ़र्दर एक्सकैवेशन्स ऐट लोथल', ललित कला, 11, 1962, 29.
33. शतब्रा. 9.3.4.11. तु. करें ऋ. 10.14.2 और 7 से।
34. एस. पी. गुप्त, 1972, 76; छांदोग्य उप. 8.8.5.
35. ऊपर, ऋ. 10.14; मानव श्रौतसूत्र, 8.20 व 21.
36. वही 8.20 व 21.
37. एस.पी. गुप्त, 1972, 77.
38. वही।
39. वही, 76.
40. रोमिला थापर, (1978, 220) लिखती हैं, "यह एक अजीब-सी बात है कि यद्यपि जाति-व्यवस्था को प्रायः आर्यों से जोड़ा जाता है, पर यह केवल भारत में ही पायी जाती है, दूसरे समाजों में, जिन्हें भी आर्य संस्कृति मिली थी, यह नहीं पायी जाती। अतः यह आर्यों के आने से पहले की व्यवस्था रही होगी, जिसका किंचित् पुनर्गठन किया गया और उत्तर-वैदिक साहित्य में

विवेचन किया गया।...जातिपरक समाज के आवश्यक तत्वों में से पहला है असगोत्र और सवर्ण विवाह और पैतृक व्यवसाय (जाति); दूसरा, कार्य-विभाजन का पैतृक प्रणाली से जुड़ाव, जो अन्ततोगत्वा सेवक-सेव्य सम्बन्धों का रूप ले लेता है; तीसरा, अपवित्रता की धारणा जिसमें कुछ समूहों को रीतितः शुद्ध, दूसरों को कुछ कम शुद्ध और शेष को अशुद्ध या दूषित मान लिया जाता है; और अन्तिम है, जातियों को विशेष भौगोलिक अंचलों से जोड़ देना। ये सभी तत्व हड़प्पा सभ्यता में मौजूद रहे हो सकते हैं जिसमें कम-से-कम सामाजिक स्तरीकरण का अनुमान तो लगाया ही जा सकता है।" देखें, टिप्पणी, 35, पृष्ठ 236 भी, जिसमें रोमिला थापर ने इस बात की ओर संकेत किया है कि शुद्धता-अशुद्धता की धारणाएँ कबीलाई जमातों में भी पायी जाती हैं और विवाह आदि की संकीर्णता भी देखी जाती है। जो भी हो, उन्होंने कार्य-विभाजन के साथ इसके आर्थिक पक्ष की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त इस बात पर भी ध्यान देना ज़रूरी था कि चारों वर्णों का और सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से जातियों और उपजातियों का अस्तित्व केवल उस क्षेत्र तक और ठीक उसी अनुपात में दिखायी देता है जिस क्षेत्र तक और जिस अनुपात में वैदिक प्रभाव। यहाँ तक कि द्रविड़ क्षेत्र में भी ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर दो ही वर्ण हैं जिनमें से ब्राह्मण उत्तर भारत से गये हुए हैं।

41. देखें, चाटुर्ज्या, 1958, 44; प्राचीन स्मृतियों के विधानों, गुप्तकाल में कठोर जाति-व्यवस्था तथा अस्पृश्यता के प्रचलन आदि को देखते हुए इस प्रकार के सुझावों को बेबुनियाद माना जा सकता है। तुर्कों के या इस्लाम के प्रवेश से जाति-प्रथा पर प्रहार हुए, जिसका साक्षी सन्त आन्दोलन है।

42. ब्राह्मणः अस्य मुखं आसीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तत् अस्य यत् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रः अजायत्॥ ऋ. 10.90.12, अर्थात् ब्राह्मण उस पुरुष का मुख था, क्षत्रिय उसकी भुजा, वैश्य उसकी जाँघ और शूद्र उसके पाँव से उत्पन्न हुआ। प्रकारान्तर से कहें तो इन वर्णों की उत्पत्ति उस पुरुष के इन अंगों से हुई।

43. काणे, हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, 1, 111; अल्तेकर, 1958, 225 आदि।

44. कारुः अहं ततः भिषक् उपल-प्रक्षिणी नना।
नाना-धियः वसू-यवः अनु गाः इव तस्थिम...॥ ऋ. 9.112.3.

45. वैदिक कवि के अनुसार जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति कितनी पुरानी हो सकती है? सम्भवतः उतनी ही पुरानी जितनी चाँद और सूर्य आदि की उत्पत्ति; कारण :

चन्द्रमा मनसः जातः चक्षोः सूर्यः अजायत ।
मुखात् इन्द्रः च अग्निः च प्राणात् वायुः अजायत ।। ऋ. 10.90.13.

46. 'उपलेषु वालुकासु प्रक्षिणोति यवान् हिनस्ति भृंजति इति । यत् वा । दृषादिषु उपलेषु भृष्टान् यवान् हिनस्ति चूर्णयति इति । अथवा धाना-सक्तु-करम्भादीनां कारिका वा ।' अर्थात् बालू से अन्न भूनने वाली, पत्थर के पात्र में भूने जव को कूटनेवाली, या धाना-सत्तू और करम्भ आदि बनाने वाली ।

47. 'मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य', ऋ. 4.42.1; 'वावृधानौ अमति : क्षत्रियस्य अनु व्रतं रक्षमाणो अजुर्यम् ।' ऋ. 5.69.1; तुलना करें 'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दः भुवनेषु रूढ़ः' रघुवंश 2.53; 'उद्गाता इव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि...। ऋ. 2.43.2, आदि । देखें, बैशम, 1967 सं., 35; चाटुर्ज्या, 1958, 84.

48. ते अज्येष्ठाः अकनिष्ठासः उद्भिदः अमध्यमासः महसा विवावृधुः ।
ऋ. 5.59.6.

49. ऋ. 2.1.15; 6.2; 3.15.2, आदि ।

50. सत्यकाम जाबाल, पाण्डव कुल के विवाह सम्बन्ध आदि इस दृष्टि से रोचक हैं । (शक) शाकद्वीपी ब्राह्मणों, और राजसत्ता कायम करने के बाद अनेक जातियों का क्षत्रियों में शामिल होना, जिनमें मौर्यवंश तक शामिल है, इसके उदाहरण माने जा सकते हैं । आज भी यह प्रयास बन्द नहीं हुआ है । देखें, कोसम्बी, जबंराएसो. 1946; अल्तेकर, वैदिक सोसायटी, कहेइं., 1958, 226; सी. कुन्हराज, 'वैदिक कल्चर कहेइं. 1, 1958, 200.

51. रोमिला थापर, 1978, 220.

52. 7.33.1.

53. कोसम्बी, 1946, 34; 1953, 200; आर.एस. शर्मा, 1983.

54. ऋग्वेद में वर्ण वर्ग-विभाजन या आर्थिक स्तरभेद का सूचक है : आर्यवर्ण-स्वामि वर्ग और दास वर्ण-सेवक वर्ग । जहाँ तक शरीर के रंग का प्रश्न है— कृष्ण आंगिरस, श्याव काण्व जैसे नाम सूचित करते हैं कि वैदिक ब्राह्मणों का रंग भी साँवला हो सकता था । कासं 11.6 में वैश्यों का रंग गोरा और क्षत्रियों का रंग धूम वर्ण या साँवला बताया गया है, "यत् शुक्लानां आदित्येभ्यः निर्वपति तस्मात् शुक्ल इव वैश्यः जायते, यत् कृष्णानां वारुणं तस्मात् धूम इव राजन्यः ।" अब यदि इन्हीं क्षत्रियों के आक्रमण के रूप में भारत पर आर्य आक्रमण को कल्पित किया जाता रहा है तो इसकी असलियत यहाँ पहचानी जा सकती है ।

55. वैश्य का वर्ण-धर्म चाणक्य के अनुसार 'अध्ययनं यजनं दानं वृद्धि पशुपाल्ये

वाणिज्या च' और शूद्र का 'द्विजाति-शुश्रूषा वार्ता कारु-कुशीलवकर्म च।" अर्थ. 1. 1. 3.; और वार्ता की परिभाषा करते हुए चाणक्य लिखते हैं, 'कृषि पाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता।' 1. 1. 4. इससे स्पष्ट है कि अर्थ-व्यवस्था पहले पूरी तरह वैश्यों के हाथ में थी, पर इसका श्रम-भार शूद्रों पर ही था, जिसमें शिल्प या तकनीकी काम भी शामिल था।

56. रोमिला थापर, 1978, 217. यह स्मरणीय है कि प्राचीनतम वैदिक उल्लेखों से लेकर आधुनिक काल तक उच्चवर्णों को कभी तकनीकी दृष्टि से आगे बढ़ा तो दूर, सक्रिय तक नहीं पाया जाता। इसके बावजूद सदा वे ही प्रभावशाली रहे हैं।

57. देखें, 10. 117.

58. कोसम्बी ने ब्राह्मणों की आर्थिक स्थिति की कुछ छानबीन, (अर्ली स्टेजेज़ ऑफ़ कास्ट सिस्टम' जभरासो., 22, 1946, 36 और आगे) की है, जिससे मोटे तौर पर असहमत नहीं हुआ जा सकता।

59. समुद्र-मन्थन और इसके बाद रत्नों के बँटवारे को लेकर हुए कलह और इसके बाद असुरों को छल से वंचित ही नहीं, अपितु उन्हें निश्शेष करने के प्रयत्न में इसी की छाया है।

60. राजा मे वीर तन्वः तत् आसीः। ऋ. 10. 95. 5.

61. इन्द्रः चित् घ तत् अब्रवीत् स्त्रियाः अशास्यं मनः। उतो अह क्रतुं रघुम्॥
ऋ. 8.33. 17.

62. न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयानि एता। ऋ. 10. 95. 15

63. अनवद्या पतिजुष्टा इव नारी। ऋ. 1. 73. 3.

64. इमां त्वं इन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दश अस्यां पुत्रान् आ धेहि...।
ऋ. 10. 85. 45.

65. ऋ. 1. 164. 16; 10. 22. 3; 25. 3, आदि।

66. अदुर्मंगलीः पतिलोकं आविश शं नः भव द्विपदे शं चतुष्पदे।
ऋ. 10. 85. 43.

67. अधः पश्यस्व मा उपरि सन्तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥ ऋ. 8. 33. 19.

68. ऋ. 1. 28

69. ऋ. 9.112. 3.

70. ऋ. 5. 47. 6.

71. ऋ. 10. 27. 12.

72. ऋ. 10. 86.6.

73. ऋ. 10. 86.8.
74. ऋ. 1. 30. 20.
75. ऋ. 10. 34. 10.
76. ऋ. 10. 85. 37.
77. ऋ. 10. 159. 5 व 6.
78. ऋ. 2. 6. 10. तुलना करें, कुह्लन राजा, 1958, 214; अल्तेकर, 1958, 222-23, आदि।
79. देखें मार्शल, 1931, 1, 16-22.
80. त आदित्यासः उरवः गभीरा अदब्धासः दिप्सन्तः भूरि अक्षाः। अन्तः पश्यन्ति वृजिन उत साधुः सर्वं राजभ्यः परम आ चित् अन्ति ॥ ऋ. 2.27.3.
81. न तिष्ठन्ति न निमिषन्ति एते देवाना स्पश इह ये चरन्ति। ऋ. 10.10.8.
82. वास्तव में किसी समाज में आदर्श और आचरण के बीच अन्तर की प्रखरता स्वतः इस बात का प्रमाण है कि यह समाज आर्थिक और सामाजिक विषमताओं से तदनुरूप ग्रस्त है। आदिम कबीलों की साम्यवादी व्यवस्था में कथनी और करनी का यह अन्तर नहीं पाया जाता। अतः यदि यह मान लें कि अपने नैतिक आदर्शों का पालन वैदिक समाज के सदस्य स्वयं भी नहीं करते रहे हो सकते हैं तो इससे भी इस बात का ही पता चलता है कि वे 'सभ्यता' के सराहनीय स्तर पर पहुँच चुके थे।
83. इदं आपः प्रवहत यत् किं च दुरितं मयि। यत् वा अहं अभिदुद्रोह यत् वा शेप उत् अनृतम् ॥ ऋ. 1.23.22
84. मा कस्य यक्षं सदं इत् हुरः गाः मा वेशस्य प्रमिनतः मा आपेः।
मा भ्रातुः अग्ने अनृजोः ऋणं वेः मा सख्युः दक्षं रिपोः भुजेम ॥ ऋ. 4.3. 13.
85. मा कस्य अद्भुत-क्रत यक्षं भुजेम तनूभिः। मा शेषसा मा तनसा ॥ ऋ. 5.70.4. इन उक्तियों की तुलना वैदिकों की 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' से करना और उद्योग और अध्यवसाय पर उनके बल पर ध्यान देना उपयोगी होगा।
86. मार्शल 1931, 1.110.
87. 7.92.3.
88. 'विश्वस्य अमृत भोजन', ऋ. 1.44.5.
89. 'चित्रं ह यद् वां भोखनं नु अस्ति', ऋ. 7.68.5; 'युवं चित्रं ददथुः भोजनं नरा,' ऋ. 7.79.2.
90. 'मा नः प्रिया भोजनानि प्र मोषीः, ऋ. 1.104.8.
91. 'अयं भोजन,' ऋ. 8.1.34.

92. यः भोजनं च दयसे च वर्धनं आर्द्रात् आशुष्कं मधुमत् दुदोहिथ।'
ऋ. 2.13.6.

93. ऋ. 8.69.14; 77.6; 10.

94. ऋ. 3.52.1; 7; 8.91.2; 10.45.9.

95. ऋ. 10.71.2.

96. ऋ. 1.16.2; 3.35.3; 7; 52.5-8; 4.24.7; 6.29.4; 10.28.91.

97. दही औ सत्तू को करम्भ कहते थे। देखें, ऋ.1.187.10; 3.52.7; 6.57.2; 8.91.2' आदि।

98. 'यस्मिन् अश्वासः ऋषभाषः उक्षणः वशाः मेषाः अवसृष्टासः आहुताः।' ऋ. 10.91.14. यहाँ यह उल्लेख करना ज़रूरी है कि बछड़े आदि का वध और आहार तो होता था और गाय की भी बलि दी जाती और इसका मांस खाया जाता था, पर क्रमशः इस विषय में जागरूकता बढ़ने के साथ केवल वन्ध्या गाय ही वध्य रह गयी थी।

99. 'पुरोड़ा इत् तुर्वशः यक्षुः आसीत् राये मत्स्यासः निशिता अपि इव।' ऋ. 7.18.6; ऋ. 10.68.8 में सूखते हुए पानी में विकल मछलियों का दृष्टान्त दिया गया है।

100. ऋ. 1.191.10; 4.45.1; 3; 5.83.7; 6.48.18; 7.89.2; 8.5.19; 9.1.8.

101. ऋ. 4.18.13.

102. सुरा के उल्लेख नये मण्डलों में ही आते हैं, जिससे दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—पहला यह कि सुरापान का प्रचलन अन्य देशों के प्रभाव से परिपक्व हड़प्पा-काल में हुआ; दूसरा यह कि यह पहले से प्रचलित तो था, पर इस काल में इसने एक गम्भीर समस्या का रूप ले लिया और इसलिए इसको वर्जित करार दिया जाने लगा। देखें, ऋ. 1.116.7; 191.10; 8.2.12; 8.21.14; 10.107.9.

103. आ इन्द्र याहि मत्स्व चित्रेण देव राधसा। सरः न प्रासि उदरं सपीतिभिः आ सोमेभिः उरु स्फिरम्॥ ऋ. 8.1.23; इदं वसो सुतं अन्धः पिब सुपूर्णं ऊदरम्। ऋ. 8.2.1 क्रत्वः इत् पूर्णं उदरं तुरस्य अस्ति विधतः। वृत्रघ्नः सोम-पाव्नः। ऋ. 8.78.7

104. देखें, कीथ, 1921 (1962 सं.) 89; अल्तेकर, 1958, 228.

105. सेठना, कार्पास इन इंडिया, 1982, 39.

106. ओटो श्रेडर, पूर्व., 330.

107. वही, 329-31.

108. वही, 335.

109. वही।
110. देखें, ह्वीलर, 1953, 69.
111. वैदिक इंडेक्स, हिंदी अनु. रामकुमार राय, 1962, 2, 326-27.
112. यत् ते वासं परिधानं या नीविं कृणुते त्वम्। अथर्व. 8.2.16; नीविं कृणुष्व...अथ. 14.2.50.
113. देखें, सेबुईसी., 41.86 पर एगलिंग की पाद-टिप्पणी; सेठना, 1982, 31.
114. भीतरी वस्त्र की कल्पना एक साथ दो वस्त्रों के उल्लेख को देखकर कर ली गयी है।
115. अथ एनं वासांसि परिधापयति। तत् तार्प्यं इति वासः भवति...अथ एनं पाण्ड्वं परिधापयति। शतब्रा. 5.3.5.20 व 21
116. वास के लिए अधिक उपयुक्त शब्द परिधान है, जिसका शाब्दिक अर्थ है शरीर को चारों ओर से लपेटने वाला। इसका प्रयोग वास के लिए बाद में आता है। देखें, ऋ. 1.115.4; 162.16; 7.77.2; 8.3.24, आदि।
117. 1.140.9; 162.16; 10.5.4; देखें, अधिवस्त्रा ऋ. 8.26.13भी।
118. ऋ. 5.54.11;8. 7.25.
119. ऋ. 1.173.6; 8.14.5, आदि।
120. ऋ. 10.85.8.
121. देखें, वैदिक इंडेक्स, 1,51.
122. ऋ. 7.33.1.
123. ऋ. 10.114.3.
124. ऋ. 10.86.8.
125. ऋ. 1.167.5.
126. सिनीवाली का यह चित्रण पहली बार यजु. 11.56 में आता है।
127. ऋ. 1.68.3; 5.58.2, आदि।
128. 1.166.9; 5.54.11; 7.56.13; 10.38.1, आदि।
129. ऋ. 8.78.3; 1.122.14.
130. ऋ. 1.122.14.
131. ऋ. 5.19.3.
132. 4.38.6; 8.47.15. एक साथ अनेक हार पहनने की सूचना बहु. व. के प्रयोगों से मिलती है, ऋ. 5.53.4
133. ऋ.5.55.4.
134. ऋ. 10.184.2.
135. ऋ. 1.25.13; 5.54.11;8.7.25, आदि।

136. ह्वीलर, 1953,73; बैशम, 1963 सं, 14, आदि।
137. बैशम, 1967 सं., 34-35; डी. पी. चटोपाध्याय, 1959, 585; आर. एस. शर्मा, 1983, 83.
138. त्सिमर ने अनेक राजवंशों के शासकों के नामों की सूची गिनायी है। वैदिक इंडेक्स, 2, 235, पाद-टिप्पणी, 6.
138. वैदिक इंडेक्स, 2, 234-35; देखें 241 तक।
140. ऋग्वेद में राजा का प्रयोग प्रथमा एकवचन में ही सौ बार से अधिक हुआ है।
141. ऋ. 1.100.1; 3.55.7; 4.19.2; 6.27.8, आदि।
142. ऋ. 8.37.3.
143, ऋ. 10.128.9.
144. ऋ. 1.188.4-6; 10.90.50.
145. ऋ. 1.61.9; 3.45.5; 7.82.2; 8.46.28, आदि।
146. ऋ. 7.15.3.
147. ऋग्वेद में मित्र का सूर्य, वायु, सर्वहितकारी और नियमनकारी आदि अर्थों में 200 से अधिक बार प्रयोग हुआ है। परवर्ती काल में मित्र स्पष्टतः मंत्री के लिए भी प्रयोग में आता रहा है।
148. वस्तुतः सचिविद, 10.71.6; सखा, 1.4.10; 2.1.9, आदि।
149. ऋ. 7.20.5; 9.96.1; 10.34.12; 84.2, आदि।
150 ऋ. 1.100.19;102.11; 2.23.8; 8.96.20, आदि।
151. ऋ. 4.9.5; 6.71.5; 9.95.5, आदि।
152. ऋ. 1.36.5; 2.6.7; 3.3.2; 4.1.8, आदि।
153. ऋ. 1.25.93; 33.8; 4.4.3; 6.67.5, आदि।
154. ऋ. 10.62.11;107.5, आदि।
155. ऋ. 1.26.7; 2.1.8; 3.40.3; 5.4.3; 6.1.8, आदि।
156. ऋ. 6.24.10; 46.11.
157. ऋ. 2.12.7; 3.6.5, आदि।
158. ऋ. 2.23.1; 10.112.9, आदि।
159. राजा न सत्यः समितीः इयानः। ऋ. 9.92.6
160. 'विश्वस्य भुवनस्य राजा', ऋ. 5.85.3; 9.93.56; 10.168.2, आदि।
161. 'हितमित्रः न राजा', ऋ. 1.73.3; 3.55.21 आदि।
162. अध्वर्यवः यः दिव्यस्य वस्वः यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा।'
ऋ. 2.14.11

163. एकः विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान्। ऋ. 3. 46.2.
164. 'राजा कृष्टीणां असि मानुषीणाम्', ऋ. 1.59.5; 'इन्द्रः राजा जगतः चर्षणीनां अधि क्षमि विषुरूपं यत् अस्ति।' ऋ. 2.27.3; 'भुवः जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतः त्वेष संदृक्।' ऋ. 6.22.9.
165. आ सूर्ये न रश्मयः ध्रुवासः वैश्वानरे दधिरे अग्ना वसूनि।
या पर्वतेषु ओषधीषु अप्सु या मानुषेषु असि तस्य राजा। ऋ. 1.59.3.
166. पतिः बसूव असमः जनानां एकः विश्वस्य भुवनस्य राजा। ऋ. 6.36.;4.
'महित्वा एक इत् राजा जगतः बभूव। यः ईशे अस्य द्विपदः चतुष्पदः... ऋ. 10.121.3.
167. ऋतेन यः ऋतजातः वि वावृधे राजा देव ऋतं बृहत्। ऋ. 9.108.8; वैश्वानरः जायमानः न राजा। ऋ. 6.9.1.
168. ऋ. 7.27.3; 6.36.4; 2.27.10; 8.95.3; 6. 22.9; 1.14.11, आदि।
169. एक विश्वविद् पवेत मनीषी सोमः विश्वस्य भुवनस्य राजा। ऋ. 9.97. 56.
170. ऋतेन यः ऋत-जातः वि-ववृधे राजा देवः ऋतं बृहत्। ऋ. 9.108.8.
171. ऋ. 2.9.6; 6.7.7, आदि।
172. ऋ. 2 9.6; 3.46.2, आदि।
173. तस्मै विशः स्वयमेव नमंत यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति। ऋ. 4.50.8
174. ऋ. 8.21.18; 7.27.3; 2.1.4.
175. वरुण आदि देवता जिन्हें प्रायः राजा के रूप में कल्पित किया जाता है, प्रायः धृत-व्रत, 1.15.6; 25.6; 8; 2.1.4; 29.1; 4.43.4; 6.19.5, आदि कहे जाते हैं।
176. अप्रतीतः जयति सं धनानि प्रतिजन्यानि उत या सजन्या। ऋ. 4.50.9.
177. ऋ.1.24.15; 174.1, आदि।
178. ऋ. 1.25.13, आदि।
179. ऋ. 8.21.18, आदि।
180. ऋ. 2.41.5; 3.1.18, 7.88.5, आदि।
181. देखें शतब्रा. 12.8.3.4; हिल्लेब्रांट, 1980, I 210
182. ऋ. 2.18.4-6; 6.29.2, आदि।
183. ऋ. 1.56.3; 2.6.7; 3.5.2, आदि।
184. ऋ. 6.71.5; 9.95.5
185. ऋ. 1.85.8.

186. ऋ. 4.4.1.

187. ऋ. 6.4.4.

188. ऋ. 7.18.2.

189. ऋ. 9.20.5.

190. देखें, जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी 1924; मजूमदार, कार्पोरेट लाइफ इन ऐंश्येंट इंडिया, 1916 (1966 हिन्दी सं.), आदि। आप्टे, 'सोशल ऐंड इकॉनॉमिक कंडीशन्स' दि वेदिक एज 1965, 444; आर. एस. शर्मा, 1983, 36 और आगे।

191. बैशम, 1967, 35; चट्टोपाध्याय, 1959, 585; आप्टे, 1965, 444; आर. एस. शर्मा, 1983, 36.

अध्याय दस

लेखन और शिक्षा

वैदिक काल में लेखन का प्रचलन था या नहीं, इसका निर्णय तीन प्रश्नों को सामने रखते हुए किया जा सकता है :

1. क्या वैदिक सभ्यता का स्तर ऐसा था जो लेखन के अभाव में न तो हासिल किया जा सकता था, न ही इसे क़ायम रखा जा सकता था ?
2. क्या वैदिक साहित्य का परिमाण और स्तर ऐसा है जो लेखन के अभाव में रचा और परिरक्षित नहीं किया जा सकता था ?
3. क्या लेखन के प्रमाण वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं ?

जैसा कि हम देख आये हैं, वैदिक सभ्यता के स्तर के विषय में दो परस्पर विरोधी रुख़ आधुनिक काल में वैदिक साहित्य का अध्ययन आरम्भ होने के समय से ही अपनाये गये थे। एक था आरम्भिक प्राच्यविदों का दृष्टिकोण, जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति को गहराई से समझना चाहते थे और जिनको प्राचीन भारत सभ्यता के एक सराहनीय स्तर पर पहुँचा हुआ दिखायी दे रहा था; और दूसरा था ईसाई मिशनरियों का दृष्टिकोण, जिन्हें अपने सद्धर्म के प्रचार के लिए वह सिद्ध करना ज़रूरी था कि भारत चिर काल से ही बर्बरता और जड़ता की गिरफ़्त में रहा है, और अपनी सत्ता मज़बूत करने के बाद यही दृष्टिकोण अंग्रेज़ प्रशासकों द्वारा और ईसाइयत के प्रचार से भारत का उद्धार करने के उत्सुक मिशनरी और ग़ैर-मिशनरी विद्वानों द्वारा अपनाया जाता रहा। मैक्समूलर, जिन्होंने पहली बार बड़े ज़ोरदार ढंग से इस बात का प्रतिपादन किया था कि पाणिनि के समय तक भारत में लेखन का प्रचार नहीं था, इसी मत के समर्थक थे और,अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ़ ऐंश्येंट संस्कृत लिटरेचर सो फ़ॉर इट इलस्ट्रेट्स दि प्रिमिटिव रिलिजन ऑफ़ दि ब्राह्मणज़' में उन्होंने अपने पूर्वाग्रह को अकादमिक शालीनता की भी परवाह न करते हुए खुल कर व्यक्त कर दिया था। इसके बावजूद विद्वानों का एक ऐसा वर्ग रहा है जो ज़ोरदार ढंग से उन 'कदाशयतापूर्ण'

प्रयत्नों का प्रतिरोध करता रहा जिनमें भारत की अतीत उपलब्धियों को हेय सिद्ध करने के लिए हर चीज का हीनार्थ ग्रहण किया जाता रहा और तथ्यों को सन्दर्भों से काटकर और एकपक्षीय रूप में पेश किया जाता रहा। पहले दृष्टिकोण के अनुसार जहाँ इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि सभ्यता के इतने ऊँचे स्तर पर पहुँचा हुआ कोई समाज लेखन से अपरिचित रह सकता था[1], वहीं दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार बर्बर, अर्धयायावर, लुटेरे और नगर-सभ्यता से अपरिचित ही नहीं, अपितु इसके प्रति द्रोह-भाव रखने वाले वैदिक आर्यों के लेखन से परिचित होने का प्रश्न हो नहीं उठता था।[2]

अपनी छानबीन में हम अब तक देख आये हैं कि वैदिक समाज सभ्यता के एक ऐसे ऊँचे स्तर पर पहुँचा हुआ था जिसका ठीक-ठीक अनुमान उन विद्वानों के लिए भी सम्भव नहीं था जो इसकी सभ्यता को सराहनीय स्तर का मानते थे, और इस तरह परिस्थितिजन्य साक्ष्य वैदिक काल में लेखन के प्रचलन की अकाट्य पुष्टि करता है।

दूसरे प्रश्न के दो उपखण्ड हो जाते हैं : एक परिमाण से सम्बन्धित और दूसरा साहित्य के स्तर से सम्बन्धित। पहले के विषय में किसी प्रकार के सन्देह का प्रश्न नहीं था; कारण, यह अपने अवशिष्ट रूप में भी जितना विराट था वह समूचे ग्रीक और रोमन साहित्य से कुछ भारी पड़ता था और यह लेखन के अस्तित्व को नकारने वालों के लिए मुश्किल पेश करता था। परिमाण को घटाना तो सम्भव नहीं था, पर गुणता या स्तर का अवमूल्यन तो सम्भव था ही और इसका यथा-सम्भव प्रयत्न मैक्समूलर ने किया और यह नतीजा निकाला कि "वैदिक सूक्तों में से अधिक सूक्त नितान्त बचकाने, दुरूह, हेय और मामूली किस्म के हैं।"[3] उन्होंने ऐसे सूक्तों का उदाहरण नहीं दिया; दिया होता तो इनका समकालीन, और बाद की भी, धार्मिक रचनाओं से मिलान करके यह देख पाना आसान होता कि इनमें अधिक बचकाने दुरूह, हेय और मामूली किस्म के अंशों का अनुपात कितना कम या अधिक है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि कुछ थोड़े-से सूक्तों को छोड़कर जिनमें जादू-टोने के प्रसंग आते हैं ऋग्वेद के समस्त सूक्त भाषा, छन्द, अन्तर्वस्तु, और कुछ एक तो काव्यसौष्ठव और वैचारिक गहनता—निश्चय ही अपने समय को देखते हुए—की दृष्टि से भी, बेजोड़ हैं और इनकी रचना निरक्षर व्यक्तियों द्वारा सम्भव ही नहीं थी।

पर थोड़ी देर को मान लें, हलके स्तर के सूक्तों की संख्या काफ़ी है, तो भी बाकी सूक्तों का स्तर ? जो भी हो, न तो मैक्समूलर एक निष्पक्ष अध्येता के रूप में इस सामग्री का अध्ययन कर रहे थे, न ही इसकी तफ़सील में जाकर हम उनसे उत्तर देने की अपेक्षा कर सकते थे। उन्होंने समस्या के एक पहलू को इस तरह निबटा लिया, पर परिमाण का प्रश्न फिर भी मुसीबत पैदा करने वाला था।

इसका समाधान करते हुए उन्होंने बहुत लम्बी दलीलें तैयार कीं, जैसे कि वेदों को श्रुति कहा जाता रहा है, जिसका अर्थ है कि इनका प्रसार और हस्तान्तरण श्रुत परम्परा से ही होता रहा है और यह इस बात का सूचक है कि वैदिक काल में लेखन का प्रचलन नहीं था। रोचक बात यह है कि मैक्समूलर की मान्यता के अनुसार ऋग्वेद ही नहीं, आरण्यकों,ब्रह्माणों और उपनिषदों तक के काल में, यहाँ तक कि पाणिनि के समय में भी लेखन का चलन नहीं था, फिर उनके उक्त तर्क के अनुसार तो इन सबका प्रसार और हस्तान्तरण श्रुत परम्परा से ही होता रहा था, अतः इन सबका नाम श्रुति ही होना चाहिए। ऐसा क्यों नहीं है? यदि वह इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ते तो निश्चय ही उनको श्रुति नाम के पीछे कोई अन्य कारण दिखायी देता। मैक्समूलर अपने उत्साह में बहुत-से अनर्गल और परस्पर विरोधी तर्क देते जाते हैं, जैसे यह कि भारतीय ब्राह्मणों को लेखन की सबसे अधिक आवश्यकता अपने पुनीत ग्रन्थों, वेदों, को परिरक्षित करने की चिन्ता के कारण थी और उन्होंने पश्चिम से लेखन का ज्ञान अर्जित करके इसे नये रूप में ढालकर सबसे पहला काम वेद के संकलन और सम्पादन का ही किया और इसके समानान्तर यह भी कि जब लेखन निश्चित रूप से प्रचलित था और इसका प्रयोग अन्य ग्रन्थों को लिपिबद्ध करने के लिए किया जा रहा था उस समय भी वेदों को लिपिबद्ध करने की मनाही थी? कि गृहसूत्रों आदि में छात्रों के लिए बहुत लम्बे अध्ययन-काल का—जब तक तो अड़तालीस वर्ष तक का—विधान है और इतना लम्बा समय वेदों आदि को कण्ठस्थ करने में ही लगता रहा होगा। वह यह भूल जाते हैं कि इतने लम्बे समय का अध्ययन-काल ग्रन्थों, कहें ग्रन्थालयों, के अभाव में सम्भव ही नहीं है। कारण, यदि इतना समय केवल कृतियों को कण्ठस्थ करने में ही लग जाये तो इनको कण्ठस्थ कराने के लिए भी इतना ही समय लगेगा और इस तरह उपनयन के लिए नियत काल, कण्ठस्थ करने के लिए अपेक्षित अड़तालीसवर्ष के काल और कण्ठस्थ सामग्री यदि अविकल याद भी रह जाये तो, कम-से-कम शिष्यों की एक पीढ़ी को पूरी सामग्री कण्ठस्थ कराने के लिए अपेक्षित इतने ही काल को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक आचार्य का कम-से-कम 106 वर्ष तक न केवल जीवित रहना जरूरी था, अपितु उसकी स्मृति का निर्धूम स्वच्छ रहना भी जरूरी था, जो एक असम्भव सी चीज है। अतः यह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि इतना लम्बा अध्ययन-काल केवल कुछ ऐसे व्यक्तियों का ही हो सकता था जिन्होंने किसी विषय को अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया हो और उनका यह अध्ययन पुस्तकों का अच्छा-खासा संग्रह मौजूद होने की दशा में ही सम्भव था, जिसकी पुष्टि उनके द्वारा अपनी कृतियों में अपने विषय के प्राचीन आचार्यों के मतों के उल्लेख और उनकी आलोचना आदि से भी होती है।[4]

इस तरह हम पाते हैं कि दूसरे प्रश्न का निष्पक्षता से उत्तर तलाशते हुए

भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक काल में लेखन का प्रचलन अवश्य था।

मैक्समूलर को अन्तिम प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक ही देना था; कारण, यदि वैदिक भारत लेखन से परिचित सिद्ध हो जाता तो इनके द्वारा गढ़ी गयी आदिमता की तसवीर और लेखन के प्रचलन के विरुद्ध जुटायी गयी सारी दलील खुद ही धूमिल पड़ जाती। अतः वह ऐसे प्रत्येक साक्ष्य की, जिससे लेखन के प्रचलन की पुष्टि हो सकती थी, इतनी 'बारीकी' से जाँच करते चले गये कि स्वयं पाणिनि भी उनको निरक्षर दिखायी देने लगे। यदि इतनी 'बारीकी' से काम लें तो अंग्रेज़ी के 'बुक', 'पेन', 'राइट', 'रीड' किसी से केवल भाषिक आधार पर लेखन और पठन की पुष्टि नहीं हो सकती।

हम अपने आगे के विवेचन में देखेंगे कि न केवल वैदिक काल में लेखन के प्रचलन के प्रमाणों का अभाव नहीं है, अपितु इनमें से अनेक तत्कालीन लिपि की प्रकृति पर भी कुछ प्रकाश डालते हैं। इनमें से अनेक की ओर इससे पहले दूसरे विद्वानों ने भी संकेत किये थे, यद्यपि कुछ निर्णायक महत्त्व के साक्ष्यों की ओर उनका भी ध्यान नहीं जा सका था।

2

हड़प्पा लिपि और भाषा

हड़प्पा सभ्यता की खोज से पहले तक अशोक के समय से पुराने पुरातात्विक साक्ष्य नहीं थे, अतः सारी बहस का केन्द्र साहित्य ही था। पर इसके बाद समस्या ने एक नया मोड़ लिया। एक ओर तो अशोक के समय से लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष पहले भारत में एक ऐसी लिपि का प्रमाण मिला जो अपने समय की अन्य लिपियों की तुलना में उसी तरह अधिक व्यवस्थित और विकसित होने का आभास दे रही थी जैसे ब्राह्मी अपने समय की अन्य लिपियों की तुलना में। दूसरी ओर, आर्य आक्रमण की मान्यता के चलते हड़प्पा सभ्यता को अवैदिक और मुख्यतः द्रविड़ सभ्यता घोषित किया जाने लगा और ब्राह्मी तथा हड़प्पा-लिपि के बीच एक व्यवधान मान लिया गया। दोनों कालों के पुरातात्विक साक्ष्यों के बीच पाये जाने वाले अन्तराल को ध्यान में रखते हुए यह सुझाया जाने लगा कि हड़प्पा लिपि सम्भवतः इस सभ्यता के विनाश के साथ ही नष्ट हो गयी और ब्राह्मणों को अपने उपयोग के लिए पश्चिमी एशिया की प्रेरणा से ही ब्राह्मी का विकास करना पड़ा, अतः ब्राह्मी और हड़प्पा-लिपि में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस तरह इस समस्या पर विचार करने वाले विद्वानों के बीच खासा मतभेद उभर आया। हाल की खोजों ने इस मिथक को भी तोड़ दिया है कि हड़प्पा सभ्यता एक झटके में ही समाप्त हो गयी थी और अब यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि इसका

ह्रास क्रमिक था[5], अतः इसके साथ हड़प्पा-लिपि के लुप्त होने की बात निरर्थक है।

इसमें एक ओर तो वे विद्वान रहे हैं जो हड़प्पा सभ्यता को द्रविड़ सभ्यता मान कर इसकी लिपि के माध्यम से आद्य द्रविड़ पढ़ने की कोशिश में लगे रहे हैं। इनमें मुख्य रूप से हेरास[6], स्कैंडिनेवियाई पार्पोला दल[7], (रूसी) क्नोरोज़ोव दल[8] और इरावदम् महादेवन[9] का उल्लेख किया जा सकता है। इनकी इस मान्यता का सीधा आधार यह रहा है कि हड़प्पा सभ्यता भारत में आर्यों के प्रवेश से पहले की अनार्य सभ्यता है, अतः इसकी एक सम्भावना यह है कि यह द्रविड़ सभ्यता रही होगी। ये अध्येता लिपि को चित्र-लिपि या शब्द-रेखी (लोगोग्रैफ़िक) मानकर चले हैं और कुछ ने इसे शब्दाक्षरी (लोगोसिलैबिक) माना है।[10] इस तरह के पाठ में आसानी यह रहती है कि आप किसी चिह्न के पीछे छिपी उस मूल वस्तु का अनुमान लगायें और जिस भी भाषा को पढ़ना चाहें उसमें इसके लिए प्रयुक्त शब्द को इसमें पढ़ लें। इसके बावजूद इनमें से कोई भी अध्येता कुछ आरम्भिक अटकलबाज़ियों से आगे सफल नहीं हो सका[11], कारण; यदि चिह्न अनेक हों और उनको अलग-अलग क्रमों में पाया जाये तो इनको जो भी शब्द-मूल्य क्यों न दिया जाये, सर्वत्र इसमें संगति और प्रत्येक इबारत में इसका कोई बुद्धिग्राह्य अर्थ तो होना ही चाहिए।

हड़प्पा की भाषा आर्य भाषा नहीं होनी चाहिए, इसको हंटर भी मान कर चले थे, परन्तु उनके द्वारा लिपि का किया गया बिश्लेषण ऐतिहासिक महत्व का है। उनके कुछ निष्कर्ष तो बहुत ही विचारोत्तेजक हैं: "आप देखेंगे कि मैं फीनीशियन चिह्नों के साथ बूलर के कुछ समीकरणों को स्वीकार करता हूँ। पर ये ठीक वे ही मामले हैं जिनमें लगता है कि सम्भवतः फीनीशियन चिह्न खुद आद्य-भारतीय लिपि से व्युत्पन्न हैं और यह भी याद रखना होगा कि हमें जो लिपि उपलब्ध है वह सारी-की-सारी उत्खचित (मान्युमेंटल)—मुद्राएं, मुद्रांक और सिक्के—है। बहुत सम्भव है कि इसके समानान्तर ही सामान्य उपयोग की कोई लिपि भी प्रचलित रही हो, जो एरण के सिक्के और अशोक के अभिलेखों से अधिक निकटता रखती रही हो।"[12] हड़प्पा लिपि और ब्राह्मी लिपि के सम्बन्धों पर वह लिखते हैं, "इस लिपि के खुले या व्यंजनान्त अक्षरों (ओपन सिलेबल) से ब्राह्मी की अर्धाक्षरी लिपि और सबाइयन का काफ़ी बड़ा अंश निकला है; कि इस बात की ख़ासी सम्भावना है कि फीनीशिया और साइप्रस की लिपियाँ भी इसी तरह आद्य-भारतीय की ही परिष्कृतियाँ हों।"[13]

हड़प्पा की भाषा को वैदिक मान कर पढ़ने का प्रयास करने वालों में प्राणनाथ,[14] स्वामी शंकरानन्द[15] व कृष्णराव[16] आदि के नाम आते हैं। हाल ही में एस. आर. राव ने अपनी पड़ताल के बाद यह नतीजा निकाला है कि इसकी

भाषा वैदिक से प्राचीन थी और यह भारोपीय की एक भिन्न शाखा रही हो सकती है, जिसकी भारतीय-ईरानी से निकटता रही हो सकती है।[17] ग़रज़ कि आर्य आक्रमण या आव्रजन की छाया इतनी गहरी है कि यह लेखक के अपने निष्कर्षों को भी बदलने की शक्ति रखती है।

हड़प्पा लिपि और ब्राह्मी के चिन्हों में सादृश्य की खोज करने का एक प्रयत्न सुधांशुकमार राय द्वारा किया गया[18], जिसे स्वीकार्य नहीं पाया गया। डिरिंजर[19] और दानी[20] दोनों के बीच इसलिए कोई सम्बन्ध नहीं मानते कि प्राचीन भारतीय साहित्य में लेखन का कोई उल्लेख नहीं है। डिरिंजर[21] और दानी[22] दोनों मामूली हेर-फेर के साथ बूलर[23] की ही तरह ब्राह्मी को सामी लिपि से व्युत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं, जिसकी सीमाओं की ओर डॉ. एस. आर. राव ने अपनी पुस्तक में संकेत किया है। डॉ. राव ने हंटर के तर्क को फिर दुहराया है कि सामी लिपियों के कुछ वर्णों के साथ ब्राह्मी का साम्य इस कारण है कि सामी लिपियाँ स्वयं हड़प्पा लिपि से प्रभावित हैं और जिन मामलों में सामी और ब्राह्मी वर्णों में समानता पायी जाती है उनमें से अधिकांश चिह्न हड़प्पा की लिपि में हैं। इसके बावजूद वह इस बात की कुछ सम्भावना मानते हैं कि ब्राह्मी और खरोष्ठी पर कुछ सामी प्रभाव भी पड़ा हो सकता है और इस पर खोज की जानी चाहिए।[24]

ब्राह्मी को हड़प्पा लिपि से व्युत्पन्न मानने वालों में केवल हंटर, राय, और राव ही नहीं आते। ओझा[25], लैंगडन[26], रिमथ[27], डी. सी. सरकार[28], राजबली पाण्डे[29], आदि भी इसी मत के हैं। पर डॉ. राव ने पहली बार इस बात को कुछ व्यवस्थित रूप में पेश किया है कि 2000 ई. पू. से 450 ई. पू. तक के दौर में भारत में लेखन के पुरातात्विक प्रमाणों का वैसा अभाव नहीं है जैसा कि सामान्यतः माना या बताया जाता है।[30] इसके बावजूद उन्होंने इन लिपि-चिह्नों को ब्राह्मी से जोड़ कर रखने के प्रलोभन से अपने को बचाया है और इसके लिए आगे शोध पर ज़ोर दिया है।

हमारे लिए यहाँ दो बातें महत्वपूर्ण हैं: पहली यह कि वैदिक काल में लेखन का प्रचलन था या नहीं और दूसरी बात यह कि हड़प्पा-काल से लेकर या, कहें, ऋग्वैदिक काल से लेकर अशोक के समय तक लेखन की परम्परा अक्षुण्ण रही है या नहीं? क्योंकि जब तक हड़प्पा लिपि का सर्वमान्य पाठ नहीं हो जाता तब तक हड़प्पा लिपि को ब्राह्मी से जोड़ने का और हड़प्पा सभ्यता की अविच्छिन्नता को साबित करने का यही उपाय है।

हड़प्पा की अभिलिखित सामग्री क्षुद्र लेखों की है जिनका प्रयोजन भी सीमित था, पर इसके प्रसार-क्षेत्र में हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, लोथल, चान्हूदड़ो, कालीबंगाँ, कोटदीजी, निंदोवाड़ी, झूकर, अमरी, बालाकोट, देसालपुर, लोहुमजोदड़ो, सूरकोटडा, आलमगीरपुर, रोपड़, मीठाथाल, राखीगढ़ी, बनवाली, चंडीगढ़,

ढोलावीरा तथा भारत से बाहर के स्थलों में ऊर, किश, उम्मा, गिरसू, तेल अस्मर, तेपे गवरा, सूसा, बहरीन, फाइलका, हामा आदि आते हैं। सर्वत्र अभिलिखित सामग्री बहुत छोटी—1.25 : 1 से 5 : 5 सें.मी.—है। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं : पहला यह कि जहाँ लेखन का उपयोग मुहरों आदि के रूप में होता था और इन मुहरों का उपयोग माल की शिनाख़्त और मुहरबन्दी आदि के लिए होता था[31] वहाँ लेखन यहीं तक सीमित नहीं रहा हो सकता। वस्तुत: मात्र शिनाख्त और मुहरबन्दी के लिए लेखन ज़रूरी भी नहीं था। यह काम चिह्नों से या उन आकृतियों से भी लिया जा सकता था जो इन मुहरों पर अंकित हैं। अत: सामान्य लेखन के लिए निश्चित रूप से क्षयिष्णु सामग्री का उपयोग होता था। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि हड़प्पा के अवशेषों में एक स्याही की दावात भी पायी गयी है।[32] दूसरी यह कि लिपि और लेखन का जो चलन भारतीय भूभाग में इतने व्यापक क्षेत्र में दिखायी देता है वह विकास की अगली मंज़िलों की ओर बढ़ कर अपना कलेवर तो बदल सकता है, पर लुप्त नहीं हो सकता। विद्या नगर और किला नहीं है जिसे आक्रामकों ने दख़ल कर लिया और वह हाथ से चली गयी। अत: यदि हड़प्पा-काल से अशोक के काल तक किसी चीज़ का अभाव है तो वह लेखन का नहीं, अपितु उन मुहरों आदि का और उन विशेष प्रयोजनों का है जिनके लिए इन मुहरों आदि का प्रयोग होता था और इसकी खोज हड़प्पा की अर्थव्यवस्था और वाणिज्य में आयी गिरावट में की जानी चाहिए। इसी के साथ इस तथ्य को भी जोड़ा जाना चाहिए कि मृद्भाण्डों आदि पर प्राप्त चिह्न लेखन होकर विशिष्ट चिह्न या लिपि-चिह्नों की अनुकृतिमात्र हैं जिनके पीछे कर्मकाण्डीय या धार्मिक तकाज़ों का भी हाथ रहा हो सकता है। कड़ों और अन्य उपकरणों के चिन्ह भी मुद्रिका आदि के चिन्हों के समान हैं जो लिपि में परिवर्तन के साथ समाप्त हो जाते हैं।

हड़प्पा लिपि में जो भाषा लिखी गयी है वह द्रविड़ नहीं हो सकती। कारण, शब्दरेखी या शब्दाक्षरी लिपि की दृष्टि से हड़प्पा के लिपि-चिह्नों की संख्या बहुत कम है और आक्षरिक लिपि मानी जाने पर, जो ही एक मात्र विकल्प है, इसकी संख्या संस्कृत के लिए भी समस्या पैदा करती है, फिर तमिल को ध्यान में रखते हुए द्रविड़ मूल की भाषा के लिए तो असाध्य हो जायेगी जिसमें वर्गों के घोष और महाप्राण वर्णों का अभाव अपेक्षित संख्या को बहुत घटा देता है। दूसरे, हड़प्पा लिपि के अनेक चिह्नों में असवर्ण संयोग बिलकुल स्पष्ट है, जब कि तमिल में असवर्ण संयोग होता ही नहीं। यही बाध्यताएँ रही हैं जिनके कारण हड़प्पा लिपि की भाषा को आद्य-द्रविड़ मानकर पढ़ने का प्रयत्न करने वाले विद्वानों का साहस इसे आक्षरिक या अर्धाक्षरी मानकर पढ़ने का नहीं हुआ है और शब्दाक्षरी मानने पर उनकी कठिनाइयाँ दोनों ओर से बढ़ जाती हैं—विकारी चिह्नों के लिए उन्हें कोई औचित्य नहीं दिखायी देता और वे पाठ में एक चिह्न पर अटकल लगाने

की खुली छूट लेते हैं, पर आगे बढ़ते ही लड़खड़ा जाते हैं। इसके विपरीत गैड, हंटर, लैंग्डन, राव आदि सभी ठोस कारणों से इसको अर्धाक्षरी मानते हैं।

एक रोचक बात यह है कि जिन विद्वानों ने भाषा को द्रविड़ माना है उन्हें भी दबे स्वर में वैदिक भाषा और वैदिक साहित्य का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरण के लिए, मुद्राओं पर अंकित आशयों की व्याख्या करते समय बोलचोक को निरन्तर वैदिक साहित्य का हवाला देना पड़ता है।[33] पार्पोला को हड़प्पा लिपि में ॐ (𑁌) और स्वस्ति के चिह्न। (𑁍) का दर्शन होता है[34], जिसे वैदिक परम्परा से अलग हट कर समझा ही नहीं जा सकता। महादेवन को हड़प्पा के एकशृंग वृषभ में तो सोम की छाया दिखायी देती ही है, उन्हें इसके पात्रों में भी वैदिक पात्र और लिपि-चिह्नों में भी सोम के विषय में उपलब्ध वैदिक विवरणों का असर दिखायी देता है।[35]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हड़प्पा लिपि के विषय में भले डॉ. राव के वाचन को स्वीकार किया जाये या नहीं, इसकी भाषा किसी भी दृष्टि से विचार करने पर वैदिक सिद्ध होती है और इस लिपि की परम्परा ब्राह्मणी तक आती प्रतीत होती है। डॉ. पाठक के अनुसार बेट द्वारका के निकट चल रही खुदाइयों से मिलने वाले लेखों में प्रयुक्त लिपि हड़प्पा और ब्राह्मी के अन्तर्वर्ती चरण या संक्रमण-काल की लिपि को स्पष्ट करते हुए इस कड़ी को पूरा करने का काम कर रहे हैं।[36]

संक्षेप में कहें तो, हड़प्पा लिपि आक्षरिक थी जिसमें कुछ शब्दाक्षरी चिह्न, जो इसके पूर्ववर्ती चरणों के अवशेष प्रतीत होते हैं, प्रचलित थे। यह ध्यान में रखना होगा कि हम आज भी एक पूरे विचार या शब्द के लिए एक संकेत चिह्न का प्रयोग करते हैं, जैसे गणित आदि के चिह्न। इस तरह वर्णिक या अर्धाक्षरी लिपियों की तुलना में इसके संकेत-चिह्नों की संख्या बहुत अधिक थी और इसके बावजूद यह वाणी को यथातथ्य प्रस्तुत करने की दृष्टि से निर्दोष नहीं थी और लिखित वाक्यों का सही उच्चारण करने में किसी गुरु के सान्निध्य में रह कर इसका अभ्यास ज़रूरी था और ज़रूरी था कण्ठस्थ पाठ पर अपेक्षाकृत अधिक भरोसा। कहें, लेखन स्मृति में सहायक तो था, पर अकेले लेखन के आधार पर किसी कृति का निर्दोष पाठ सम्भव नहीं था। परन्तु एक सीमित रूप में ही सही, क्या अरबी, हिब्रू आदि वर्णिक लिपियों तक पर यही बात आज तक लागू नहीं होती ?

3

भारत की जातीय परम्परा में लेखन के प्रमाण

भारतीय साहित्य में और भारतीय परम्परा में लेखन के प्रमाणों का अभाव

नहीं है, इनका सही मूल्यांकन करने में अवश्य भूल की गयी है। विविध स्रोतों से उपलब्ध इन साक्ष्यों को हम निम्न रूप पाते हैं :

1—कुछ पर्वों और अवसरों पर, यथा—करवा चौथ, गोबर्धन पूजा, कोहबर, आज भी हड़प्पा-काल से भी बहुत पुरानी चित्रलिपि या चित्रकथन की शैली के अवशेष देखे जा सकते हैं। इनमें एक पूरी कथा या वृत्त को एक फलक बना कर उसके भीतर चित्रों के माध्यम से प्रकट किया जाता है। यह कथा इन चित्रों के सहारे किसी महिला द्वारा बनायी जाती है और इसे रैखिक संकेत और मौखिक विवरण के दुहरे माध्यमों का एक साथ उपयोग करते हुए हस्तान्तरित किया जाता है। यह पद्धति केवल महिलाओं तक क्यों सीमित रह गयी, इसका कारण यह है कि शिक्षा से वंचित होने के कारण महिलाएँ भावाभिव्यक्ति की उस प्राचीन शैली से ही चिपकी रह गयीं जब कि पुरुष-समाज लिपि में निरन्तर होते रहने वाले परिवर्तनों और संशोधनों से लाभान्वित होता हुआ, इस पुराने और दोषपूर्ण माध्यम को छोड़कर आगे बढ़ गया। महिलाओं के बीच भी इसका निरन्तर स्खलन ही होता गया है।

2—भारत के कुछ गुह्य सम्प्रदायों, जैसे तान्त्रिकों, में एक गूढ़ संकेत-लिपि का प्रचलन आज तक बना हुआ है जिसे भी हड़प्पा-काल से भी पहले से चले आ रहे शब्दरेखन का अवशेष मानना होगा। इस तरह के बहुत-से संकेत—जैसे स्वस्तिक, ॐ—इन सम्प्रदायों से बाहर भी प्रयोग में आते हैं। हड़प्पा लिपि में भी इनके अवशेष विद्यमान हैं।

3—ऊपर के इन चिह्नों में से कुछ का क्रमशः अक्षरीकरण हो गया था। इनको बीजाक्षर कहा जाता रहा है और इनके संकेतों को समझने के लिए सूत्रों का सहारा लेना पड़ता था। इनकी एक सीमा यह थी कि एक ही चिह्न अनेक अक्षरों या ध्वनियों का सूचक हो सकता था और एक ही ध्वनि के लिए अनेक चिह्नों का उपयोग हो सकता था। किसी ज्ञान को गुह्य रखने के लिए यह एक अनूठा तरीका था जिसमें एक साधारण-सी बात को समझने के लिए ख़ासी माथापच्ची करनी पड़ सकती थी और इसके बावजूद मतभेद की गुंजायश बनी रह सकती थी। इसे विहित सूत्रों के सहारे पढ़ने के बाद गुरु की सहायता से ही अर्थ और उच्चारण को सुनिश्चित किया जा सकता था। स्वामी शंकरानन्द ने इस शैली का बहुत सुन्दरता से प्रतिपादन किया है और उनका ख़याल है इनमें से कुछ चिह्न हड़प्पा-काल में प्रचलित थे[37], भले इनका ध्वनिमूल्य कुछ भिन्न रहा हो।

4—भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्मा जन्म से पहले ही व्यक्ति का भाग्य उसके भालपट्ट पर एक गूढ़ लिपि में टाँकी से लिख देते हैं। व्यक्ति के कर्मों का हिसाब यमराज के महाभिलेखाधिकारी चित्रगुप्त लिखते रहते हैं जिनका नाम—चित्र-गुप्त—बहुत रोचक है। यह हड़प्पा-काल से भी पहले से चित्र-लिपि में लेखन

के प्रचलन और इसके गूढ़ होने का भाव अपने भीतर जिलाए हुए है। इन दोनों तथ्यों से लेखन के आविर्भाव और इसके स्वरूप के विषय में निम्न सूत्र हासिल होते हैं : 1—लेखन-सामग्री के रूप में कभी पट्टियों का प्रयोग भी होता था; 2—स्थायी प्रकृति के लेखन में यन्त्र के रूप में छैनी का भी प्रयोग होता था, क्योंकि ब्रह्मा भाग्य लिखते नहीं, टाँकते या टाँकी से उकेरते हैं; 3—उक्त लेखन चित्रलिपि या गूढ़ लिपि में था जिसे सभी नहीं पढ़ सकते; और, 4—लेखन का विकास हिसाब-किताब रखने की बाध्यता से किया गया था, न कि वेदों को सुरक्षित बनाने के लिए। इसका नाम उस काल में भी ब्राह्मी ही था, यह भारत की जातीय स्मृति में ब्रह्मा के लेख की कल्पना के रूप में आज तक सुरक्षित है। लिपि के जिन चरणों की एक-एक विशेषता याद रह गयी है वह एकाएक लुप्त हो गयी, यह अकल्पनीय है। इसका निरन्तर विकास होता रहा और इसी ने भारतीय लिपियों को जन्म दिया, यही एक मात्र निष्कर्ष इन सबसे उभर कर आता है। इसे पुनः संक्षिप्त रूप में रखें तो, ब्राह्मी सम्भवतः ब्राह्म की लिपि या टंकलिपि के लिए प्रयुक्त शब्द था और आगे भी हम इसे अशोककालीन टंकलिपि में ही पाते हैं। सामान्य लेखन में प्रयुक्त लिपि इससे किंचित भिन्न रही हो सकती है।

इस सामान्य स्थिति के स्पष्ट हो जाने के बाद अब हम वैदिक साहित्य में पाये जाने वाले साक्ष्यों पर विचार कर सकते हैं।

4
वैदिक साहित्य में लेखन के प्रमाण

मैक्समूलर के इस कथन का प्रतिवाद करते हुए कि वैदिक सूक्तों में स्याही या कलम आदि का उल्लेख नहीं है, गोल्डश्टकर ने लिखा था, "वैदिक सूक्तों का उद्देश्य यह बताना नहीं है कि आर्यों को कलम और स्याही का ज्ञान था; इसलिए यह मात्र एक संयोग की ही बात हो सकती है कि इस तरह के किसी नीरस उपादान का इनमें उल्लेख आ जाये।"[38] और फिर उन्होंने उस अकादमिक ग़ैरईमानदारी की चर्चा की थी जिसके चलते मैक्समूलर एक ओर तो पटल शब्द को लेखन का सूचक मानते हैं क्योंकि इसका उल्लेख सूत्रों में आया है, पर काण्ड जो लिखित वस्तु के उपखण्डों का द्योतक है और ग्रन्थ को जो मान्य रूप में पुस्तक के लिए ही प्रयोग में आता रहा है और आया है, लिखित ग्रन्थों के अस्तित्व का सूचक नहीं मानते। श्रुति शब्द पर तो इतना बल देते हैं कि इसके आधार पर यह मान लेते हैं कि यह इस बात का द्योतक है कि वेदों को श्रुत परम्परा से ही हस्तान्तरित किया जाता था, पर वेदों में ही वाणी को देखने के जो उल्लेख आये हैं उनको

लेखन का सूचक न मान कर सुझाते हैं कि 'देखना' समझने के अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकता है।[39] वास्तविकता यह है कि लेखन और पठन तथा लेखन-सामग्री के लिए आज तक प्रयुक्त कोई शब्द ऐसा नहीं है जिसका वाचिक अर्थ करते हुए उसको लेखन का असन्दिग्धप्र माण मानने से इनकार न किया जा सके। अतः प्रश्न प्रयोगों का नहीं, अपितु समग्रता का और इनके साथ जुड़ी मानसिकता का है। वैदिक साहित्य में लेखन के प्रचलन के निम्न प्रमाण देखे जा सकते हैं :

—ब्राह्मण ग्रन्थों का विभाग करते हुए काण्ड, प्रपाठक और अध्याय तथा खण्डों[40] का उल्लेख आता है। यदि यह मान भी लें कि अध्याय का अर्थ 'चैप्टर' नहीं था और इसका प्रयोग एक दिन के अध्ययन के लिए निर्धारित सामग्री से था तो भी खण्ड, काण्ड, प्रपाठक का अर्थ इतना खींच-तान कर नहीं लिया जा सकता। ये लिखित ग्रन्थों के ही विभाग और उपविभाग हो सकते हैं। अन्य किसी भी रीति से इन नामों का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। मौखिक रूप में भी एक दिन का पाठ विभिन्न शिक्षकों, पाठशालाओं और पीढ़ियों में वही बना रहे और वह भी तब जब इनका आकार भी भिन्न हो, लिखित रचना के अभाव में असम्भव था।

2—शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर तीन चित्तियों वाले साही के काँटे को तीनों विद्याओं या तीनों वेदों का रूप माना गया है।[41] साही का काँटा कलम के रूप में प्रयोग में आता रहा है और इसका यह प्रयोग न तो केवल प्राचीन काल तक सीमित था, न ही प्रसार केवल भारत तक। यह निर्विवाद रूप से उस समय प्रयोग में आने वाली लेखनी का सूचक है। अन्यथा केश-वपन के समय ताँबे के उस्तरे के साथ साही के काँटे का और मुड़े हुए सिर पर इसके स्पर्श से तीनों विद्याओं से मुंडित व्यक्ति को सम्पन्न करने का कोई अर्थ नहीं।[42]

3—शतपथ ब्राह्मण और काठक संहिता आदि में वाणी को लिपिबद्ध करने के स्पष्ट उल्लेख हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अषाढ़ेष्टिका निर्माण में उखा बनाने के बाद यजमान विश्वज्योति इष्टकों का, अर्थात् अग्नि, आदित्य और वायु की इष्टकों का निर्माण करता है। इनका निर्माण वह उसी मिट्टी से करता है जिससे उखा या यज्ञ पात्र बनाया है और इस तरह वह इसी दुनिया से इन देवताओं को पैदा करता है। इनको त्रिलिखित करता है। विश्वज्योति इष्टका वाणी है। त्रिलिखित करने के बाद वह वाणी को महिषी (महिमावान) बना देता है, आदि।[43] एगलिंग को या उनके समय के किसी अध्येता को इन इष्टकों का, इन पर बनने वाली देवाकृतियों का, इन पर लिखी जाने वाली वाणी का कोई अर्थ समझ में नहीं आ सकता था, पर अब हड़प्पा की मुहरों को, विशेषतः मिट्टी की बनी मुहरों को सामने रखने पर स्थिति स्पष्ट हो जायेगी और शायद इसी से कुछ भाण्डों पर, जैसे उखा पर हुए रेखांकनों का अभिप्राय भी समझ में आ जायेगा। आप पूरे विश्वास

से इन मुहरों के कम-से-कम एक उपयोग का निश्चय कर सकते हैं और यह भी समझ सकते हैं कि इनको मुद्रा न कहकर इष्टक कहा जाता था, विश्वज्योति इष्टक —या ज्ञान-प्रकाशक इष्टक। डॉ. विश्वम्मरशरण पाठक ने इस विषय में कुछ बहु-मूल्य सुझाव दिये हैं और उनके अनुसार सामान्य मुद्राओं को रिप्र कहा जाता था।[44]

यहाँ प्रश्न कालक्रम का उठाया जायेगा। पर यह ध्यान में रखना होगा कि शतपथ ब्राह्मण ताम्रकालीन रचना है। इसके यजमान का केश-वपन ताँबे के छुरे से किया जा रहा है और यदि लोहे का व्यापक प्रचलन उस काल तक हो चुका होता तो कम-से-कम केश-वपन के लिए प्रयुक्त छुरा अवश्य लोहे का ही होता। इसके अतिरिक्त कुछ अध्येता बहुत आग्रहपूर्वक और कतिपय ठोस तर्कों के आधार पर यह सुझाते रहे हैं कि शतपथ ब्राह्मण तथा कल्प सूत्रों में से कुछ का रचना-काल आज विद्वानों को मान्य काल से कम-से-कम एक हज़ार वर्ष पीछे जाता है।

4—काठक संहिता में तो स्पष्टतः ऋग्वेद की तीन ऋचाओं को लिखने का उल्लेख यज्ञ के प्रसंग में आया है।[45] लिखने का अर्थ अनुवादक रेखा बनाना करते रहे हैं, पर जहाँ गायत्री और अनुष्टुप आदि छन्दों में ऋग्वेद की निश्चित ऋचाओं को विशेष प्रयोजन से लिखने का प्रश्न आये या जहाँ, जैसा कि शतपथ के ऊपर लिखे ब्राह्मण में वाणी को ठीक हड़प्पा जैसी इष्टकाओं पर देवाकृतियाँ बना कर लिखने की बात आये वहाँ लिखने का तात्पर्य क्या हो सकता है, इसके विषय में किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। काठक संहिता में सरस्वती के प्रति भक्ति-वान होने और उसे प्रमा और प्रतिमा आदि द्वारा ग्रहण करने का भी उल्लेख है।[46] यह पुनः हड़प्पा की मुहरों की देवाकृतियों को समझने की दृष्टि से एक सार्थक संकेत है।

5—अथर्ववेद में एक स्थल पर, यद्यपि इसे सम्भवतः इसी कारण से कुछ विद्वानों ने बाद का माना है, कोश या पेटिका से निकाल कर वेद का पाठ करने और फिर इसे सँभाल कर रखने का ज़िक्र आया है।[47] कोश अर्थात् पेटिका में बड़े आकार के ग्रन्थों को सँभाल कर रखने का प्रचलन पुराना है और इसी कारण पिटक और कोश विशाल आकार के ग्रन्थों के पर्याय बन गये। संहिता शब्द भी मोटे तौर पर यही अर्थ रखता है और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद की संहिताएँ एकत्र संचित करके रखी गयी पुस्तकों की द्योतक हैं। कहें, लिखित रूप में आये बिना इनके लिए संहिता शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता था।

5

ऋग्वेद में लेखन के प्रमाण

ऋग्वेद में पाये जाने वाले लेखन के प्रमाणों को तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है : परिस्थितिजन्य, सम्भावनापरक और निर्णायक। परन्तु पहले यह देखना ज़रूरी है कि 'श्रुति' शब्द का क्या अर्थ है, जिसके कारण यह माना जाता रहा है कि वैदिक साहित्य का हस्तान्तरण श्रुत परम्परा से ही होता रहा है। वेद को श्रुति मानने के पीछे जो सम्भावित कारण हो सकते हैं वे निम्न हैं :

1— वेदों की रचना जिस सामग्री के आधार पर हुई थी वह श्रुत परम्परा से वैदिक कवियों को प्राप्त थी। वेदों में स्वयं प्राचीन काल से चली आ रही इन श्रुतियों[48] का उल्लेख है और साथ ही गाथाओं और पुराणों का भी उल्लेख है।[49] ऋग्वेद में ऐसी अनेक कथाओं और घटनाओं के नितान्त सांकेतिक हवाले आये हैं जिनको पुराणों आदि में कुछ विस्तार से बताया गया है।[50] बाद की परम्परा भी यह मानती है कि इनिहास और पुराणों से ही वेदों का सम्यक विवेचन हो सकता है, जो भी इस बात का सूचक है कि वैदिक रचनाकाल में पहले से चली आ रही इन कथाओं का प्रचलन तो था ही—और प्रचलन भी इस सीमा तक था कि किसी रचना में आये संकेत मात्र से पाठक पूरी कथा को समझ सकता था—बाद में भी ये रचनाएँ या कथाएँ स्वतन्त्र रूप में, सम्भवतः कुछ विकृत और रूपान्तरित होती हुई चलती रहीं और इसलिए ऋग्वेद के इन संकेतों को समझने के लिए इन कथाओं या पुराणवृत्तों से परिचित होना ज़रूरी माना गया था। ब्लूमफ़ील्ड के अनुसार ऋग्वेद के प्राचीनतम अंश भी बहुत प्राचीन काल से चली आ रही अपने ढंग की रचनाओं की अन्तिम अभिव्यक्ति हैं।[51] अतः ऋग्वेद के श्रुत और लिखित रूपों में फ़र्क कर लेना उचित है।

2—ऋग्वैदिक काल की लेखन-प्रणाली उस पूर्णता को नहीं पहुँची थी कि यह भाषा को अविकल और निर्दोष रूप में प्रस्तुत कर सकती। ऋग्वैदिक भाषा जिसको मन्त्र का-सा महत्व प्राप्त था, जिसकी ऋचाओं को अस्त्र के रूप में प्रयोग में लाते हुए इष्टसिद्धि की जा सकती थी और उच्चारण में स्वर, वर्ण-प्रयोग आदि की दृष्टि से कहीं भी चूक होने पर अनिष्ट हो सकता था, एक इतनी विकसित और निर्दोष लिपि की माँग करती थी जैसी कोई लिपि आज तक न तो बन सकी, न ही शायद सम्भव है। अतः इसका सम्यक बोध केवल लिपि के माध्यम से सम्भव नहीं था और इसलिए लिपि मात्र स्मृति में सहायता का काम करती थी, वास्तविक पाठ गुरु के सान्निध्य में सही और शुद्ध उच्चारण के द्वारा ही सीखा जा सकता था। काठक संहिता में ऋग्वेद के मन्त्रों को लिखने का उल्लेख इस बात के खण्डन के लिए पर्याप्त है कि वेद लिखा ही नहीं जाता था, यद्यपि धार्मिक उत्साह में सामान्य

व्यक्तियों द्वारा इसके लेखन पर प्रतिबन्ध लगा रहा होगा। वास्तव में महाभारत आदि में वेद को लिपिबद्ध करने को पाप बताने से भी वेद का लेखन प्रमाणित होता है। जिसका प्रचलन ही न हो उसका निषेध कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त वेद-विक्रयी को महाभारत में 'निरयगामी' नरकगामी कह कर कोसा गया है जो वेद के लेखन का ही नहीं, लिखित पुस्तकों के विक्रय को भी प्रकट करता है।

अब हम ऋग्वेद में उपलब्ध प्रमाणों पर विचार कर सकते हैं:

परिस्थितिजन्य—1—ऋग्वेद का साहित्य जितना विशाल है और इसे जितने अविकल रूप में सुरक्षित रखा जा सका है वह लेखन के अभाव में असम्भव है।

2—एक ही ऋचा को जब-तब कई बार अनेक सूक्तों में अन्त में दुहराया गया है। पाण्डुलिपि के अभाव में केवल स्मृति पर निर्भर रहने पर इनको—प्रथम सम्पादकों द्वारा या कण्ठस्थ करने वालों द्वारा किसी एक स्थल या एक सूक्त से सम्बन्धित मान कर शेष से हटा दिया गया होता। लिखित रूप में परिरक्षित होने पर ही सम्बन्धित रचनाकार की अपनी योजना के अनुसार उसकी समस्त रचनाओं के अन्त में इनको रखा जा सकता था। यह आवर्तिता एक कवि की अपनी रचनाओं तक सीमित नहीं है, अपितु पूरे कवि समाज में प्रयोग रूढ़ियों, काव्य रूढ़ियों और मुहावरों तथा पद्यांशों के प्रचलन के कारण ग्राह्य और मान्य है।[52]

3—ब्राह्मणों आदि में ऋग्वेद की जिन ऋचाओं के उद्धरण आते हैं उनमें सूक्तों का क्रम नहीं निभाया जाता। विभिन्न क्रमों में प्रयोग में आते रहने वाले अंशों का एक और अविकल क्रम किसी पुस्तक में लेखन के अभाव में नहीं बना रह सकता था।

4—मौखिक क्रम से चलती रहने वाली रचनाओं में वह कसाव और भाषा का निखार नहीं पाया जाता जो ऋग्वैदिक रचनाओं में पाया जाता है।

5—विषयवस्तु की दृष्टि से मौखिक रचनाएँ भावप्रधान अथवा वर्णनात्मक होती हैं। उनमें वैसी सघन वैचारिकता नहीं पायी जाती जो ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों में पायी जाती है। कभी-कभी तो एक-पर-एक अनेक ऋचाएँ और पूरे-के-पूरे सूक्त मात्र विशेषणों, क्रियाओं या पर्यायों से ही पूरे हो जाते हैं। कथा-सूत्र जहाँ आते भी हैं वहाँ मात्र एक संकेत दे कर गुजर जाते हैं, जो मौखिक रचनाओं की नहीं अपितु लिखित रचनाओं की विशेषता है। ऐसी रचना दूसरे किसी को तो दूर स्वयं रचनाकार को भी रचना के क्षण के तुरन्त बाद लिख न ली जाने पर भूल जायेगी। किसी दूसरे को तो कोई तब कण्ठस्थ कराये जब रचनाकार को वह स्वतः केवल स्मृति के बल पर कण्ठस्थ रह सके।

6—वैदिक भारतीयों का बहुत निकट सम्पर्क प्राचीन तुर्की—हित्ती व

मितन्नी के अभिजातवर्ग और राजकुलों—से था और बोगाजकुई आदि से प्राप्त अभिलेख पूरे भारोपीय परिवार में यदि किसी की भाषा और साहित्य से इसका अनन्य सम्बन्ध प्रकट करते हैं तो वह भारतीय ही हैं, जिसके कारण यह माना जाता रहा है कि या तो भारत्त में आने वाली शाखा तुर्की से आयी थी (गाइल्स, ग्रियर्सन चाटुर्ज्या) या भारत में आने वाले आर्यों में से कुछ को यहाँ से पराजित हो कर या अन्य किसी कारण से लौट कर उक्त क्षेत्र में जाना पड़ा (कोसम्बी), यद्यपि इस मान्यता के दूरागत आशयों को ध्यान में रख कर कुछ विद्वान किसी तीसरी सम्भावना का सुझाव रखते हैं। यदि भारतीय शाखा तुर्की से आयी थी तो वह निर क्षर नहीं रह सकती थी, क्योंकि वहाँ लेखन का प्रचलन था और इसके सबसे-परम्परासजग और प्रबुद्ध लोग भारत में ही दिखायी देते हैं। यदि वे भारत से वहाँ पहुँचे थे (याकोबी) तो भी उनका लिपि और लेखन से अपरिचय सम्भव नहीं था, क्योंकि इस काल तक भारत में हड़प्पा लिपि का व्यापक प्रचार था जिसकी इन मेधावियों को आवश्यकता थी ही।

7—कुछ विद्वानों ने, जैसा कि हम पहले देख आये हैं, तथाकथित आर्य-आगमन का मार्ग सुमेरिया, बेबीलोनिया आदि से होते हुए कल्पित किया है और वे यह भी मानते हैं कि आर्यजन अत्यन्त संवेदनप्रवण थे और किसी भी समाज से उसका सर्वोत्तम ग्रहण करने की दृष्टि से खुले हुए थे। ऐसी स्थिति में भी वे वहाँ प्रचलित लेखन से अनभिज्ञ नहीं रह सकते थे।

8—ईरान में, जिधर से उनके आने की एक अन्य सम्भावना मानी जाती रही है, हर्जफील्ड के अनुसार स्वर्ग में मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्मों का लेखा रखने का ठीक वैसा ही विश्वास रहा है[52] जैसे भारत में यमराज के यहाँ चित्रगुप्त द्वारा। स्वर्गीय लेख को, हर्जफील्ड ने प्राचीन ईरानियों के बीच लेखन के प्रचलन का प्रमाण माना है। ग़रज़ कि आर्यों को ईरान से भारत में आया हुआ मानने या भारत से ईरान पहुँचने के दोनों विकल्पों में से किसी को मान कर चलने पर भी भारतीय आर्यों को लेखन से अपरिचित मानने का कोई तुक नहीं था।

इस तरह हम पाते हैं कि परिस्थितिगत साक्ष्य अपने समग्र दबाव से स्वयं वैदिक भारत में लेखन के प्रचलन का अकाट्य प्रमाण बन जाते थे, पर इनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया।

सम्भावनापरक प्रमाण—इस कोटि में उन प्रमाणों को रखा जा सकता है, जिनसे इस बात का किंचित् आभास मिलता है कि वैदिक काल में लेखन का प्रचलन था। दूसरे शब्दों में कहें तो, जो लेखन की सूचना तो देते हैं, पर जिन्हें अभी निर्विवाद और निर्णायक नहीं माना जा सकता। ये निम्न प्रकार हैं :

1—ऋषि मन्त्र-द्रष्टा हैं। वे मन्त्रों का साक्षात्कार कर सकते थे। दूसरे शब्दों में कहें तो, वे पढ़-लिख सकते थे। वेद तो सृष्टि के आदि से या जातीय स्मृति के

आदि से श्रुत परम्परा से चले आ रहे थे। उन्हें लिपिबद्ध करने और पढ़ सकने और इस आधार पर स्वयं रचना कर सकने वाले कवियों को ऋषि कहा गया।

2—ऋग्वेद में प्रयुक्त पर्यायों का जो संकलन यास्क ने किया है उसमें वाणी के 57 पर्याय दिये गये हैं।[53] इनमें अधिकांश वाचिक भाषा से सम्बन्धित हैं। पर कुछ का नामकरण लेखन के लिए प्रयुक्त साधनों के आधार पर किया गया लगता है, जैसे वाण, वाणीची, वाणी, वाशी, सर, नाड़ी, कशा, पवि और सुपर्णी। लिखने का एक साधन सरकण्डा रहा है जिसके लिए नाड़, सर, वाण आदि शब्दों का प्रयोग होता रहा है। सरकण्डे से ही तीर बनाया जाता था, इसलिए उसके लिए भी वाण और सरका प्रयोग हुआ है। इसी के लेखन-यन्त्र या लेखनी के लिए प्रयोग में आने के कारण सम्भवतः वाक् के पर्यायों में वाण, वाणीची, नाड़ी, वाणी, सर आदि का प्रयोग मूलतः लिखित और बाद में वाणीमात्र के लिए होने लगा। इसी सर से सरस्वती या वीणा-पुस्तकधारिणी वाग्देवी का विकास हुआ लगता है, जो अपने नाम की नदी के नाम से वैदिक काल में ही अभेद कायम कर चुकी है। इसी तरह वाशी भी एक यन्त्र का नाम है, जिसके आकार-प्रकार के बारे में कुछ स्पष्ट पता नहीं चलता। पर यह पत्थर और लोहे दोनों की बनी होती थी। भाषा के लिए वाशी का प्रयोग भी सम्भवतः इस यंत्र का लेखन में, वस्तुतः टंक-लेखन में, प्रयोग होने के कारण सम्भव लगता है। इसी तरह वाक का एक पर्याय कशा है। कशा की व्युत्पत्ति देते हुए यास्क कुछ विकल्प सुझाते हैं जिनमें से एक है 'कृष्यतेः वा अणूभावात्' और पाणिनि के अनुसार कृष् का अर्थ है विलेखन। 'पवि' का वाणी के लिए प्रयोग 'सुपर्णी' की तरह लेखन-सामग्री—पत्थर और भोजपत्र—के कारण प्रचलित हुआ लगता है।

निर्णायक प्रमाण – ऋग्वेद में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनसे लेखन के प्रचलन की अकाट्य पुष्टि होती है। इनमें से कुछ की ओर विद्वानों ने इससे पहले भी ध्यान आकृष्ट किया था, पर इन्हें बद्धमूल आग्रहों के कारण खारिज किया जाता रहा। कुछ की ओर पहले समुचित ध्यान नहीं दिया जा सका। ये निम्न प्रकार हैं :

1—ऋग्वेद 3.53.15 व 16 में विश्वामित्र द्वारा जमदग्नि से ससर्परी वाक प्राप्त करने का उल्लेख आया है।[54] इससे इसके जिन कुछ लक्षणों का पता चलता है वे हैं, अज्ञान को दूर करने की इसकी क्षमता, इसके द्वारा देवताओं की कीर्ति को अमर बनाने की सम्भावना, इसका सूर्य की दुहिता या व्यक्त रूप में होना, इसका सर्पणशील होना, इसके द्वारा शीघ्र ही ज्ञान-भण्डार का बढ़ना, इसका पक्ष्या (या पक्ष द्वारा-लिखित) होना, इसके माध्यम से वाणी का नयी आयु प्राप्त करना या उसकी अतिजीविता का बढ़ जाना, या जैसा कि पहली ऋचा से व्यक्त है, वाणी का अजर-अमर हो जाना, और इसका व्यक्ति-विशेष के माध्यम से अर्जित किया जाना। लेखन का इससे अधिक निर्णायक प्रमाण क्या हो सकता है? ससर्परी शब्द की

व्याख्या करते हुए सायण इसे 'सर्वत्र शब्द-रूप-तया सर्पणशीला वाक्' और 'सर्वत्र गद्य-पद्यात्मकत्वेन सर्पणशीला वाग्देवता' बताते हैं। शौनक ने ससर्परी को स्पष्टतः ब्राह्मी कहा है।[55]

2 – ऋग्वेद के एक अन्य स्थल पर पूषा से इस बात का अनुरोध किया गया है कि वह पापियों के वज्र कठोर हृदय पर आरा या धातु की नोक वाले लेखन-यन्त्र से प्रेम-भाव लिख कर उनको सदाशय और प्रेमयुक्त बना दें।[56]

3—ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर वाणी को देखने का, या अज्ञान और निरक्षरता के कारण देखते हुए भी न देख पाने के विवरण आते हैं। इनमें लेखन की या लिपिबद्ध साहित्य के अस्तित्व की अकाट्य पुष्टि होती है।[57]

4—अनेक स्थलों पर गुहा या गूढ़ संकेतों में नाम आदि को धारण करने वाले अग्नि या ज्ञान के देवता का जिक्र आता है और यह लिपि की प्रकृति को व्यक्त करता है।[58]

5—एक स्थल पर कपोत को निर्ऋति का दूत कहा गया है।[59] कपोत जैसे निरीह पक्षी के विषय में इस प्रकार की उक्ति क्यों ? जन-सामान्य में आज तक यह विश्वास क्यों कि घर में कबूतर का बोलना अशुभ होता है ? इसका एक ही समाधान दिखायी देता है कि कबूतर प्राचीन काल में सन्देश भेजने के लिए उपयोग में आते रहे हैं। इनका सहारा निश्चय ही आपात-कालीन स्थितियों में ही लिया जाता रहा होगा। संचार के त्वरित माध्यमों के प्रति इस प्रकार की आशंका इस शताब्दी तक बनी रही है और गाँवों में तार को आज भी किसी अशुभ समाचार का ही सूचक माना जाता है। अतः कपोत के विषय में इस वैदिक धारणा के पीछे केवल यही बात हो सकती है कि वैदिक काल में भी कबूतरों के माध्यम से संवाद भेजे जाते थे। पर कबूतर का इस रूप में तभी उपयोग हो सकता था जब कि लेखन के लिए सुवाही सामग्री का उपयोग किया जाता रहा हो, ताकि समाचार को लिख कर सन्देशवाहक कबूतर के गले या टखने में बाँधने के बावजूद इसके उड़ने में किसी तरह की रुकावट न पैदा हो।

अब यदि ऊपर के विवरणों के आधार पर हम वैदिक काल में लेखन के प्रचलन और लिपि के स्वरूप तथा लेखन-सामग्री आदि के विषय में उपलब्ध सूचनाओं को सूत्रबद्ध करना चाहें और इसको हड़प्पा सभ्यता की लिपि और लेखन को समझने के लिए निर्देशक संकेत मानना चाहें तो हम पायेंगे कि ये दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं और एक के अभाव में दूसरे का सही मूल्यांकन असम्भव है। दूसरे शब्दों में कहें तो, ऋग्वैदिक काल में लेखन का सन्तोषजनक प्रचार था, पर इसके बावजूद साक्षरता की दर बहुत ऊँची नहीं थी और ज्ञानार्जन का प्रमुख साधन—सम्भवतः पुस्तकों की स्वल्पता आदि के कारण— मौखिक परम्परा ही थी। जैसा कि विश्वामित्र के प्रसंग में जमदग्नि से प्राप्त अक्षर-ज्ञान की कथा से प्रकट होता है, बहुत

सम्भव है, इसे एक गुप्त विद्या बना रखा गया था जिसे विशेष मामलों में योग्य और प्रिय शिष्यों को ही सिखाया जाता था। लेखन पत्थरों या कठोर लेखन-सामग्री के ऊपर नुकीले और ख़ास तौर से धातु की नोक वाली लेखनी से किया जाता था। पर लेखन के लिए सामान्य रूप में व्यवहृत होने वाली सामग्री ताड़पत्र, भोजपत्र और चमड़ा आदि ही था, जिन पर साही के कांटे से या सरकण्डे की कलम से या पक्षियों के पंख के मूल से लिखा जाता था। लिपि बाद के कालों की भाँति सुव्यवस्थित नहीं थी या, कहें, एक प्रकार की गूढ़ लिपि थी जिसके संकेतों में विकारी चिह्नों का भी प्रयोग होता था। लेखन के लिए कर्षण और रेखन शब्दों का व्यवहार होता था। लेखनी के लिए प्रयुक्त शब्द थे—आरा, वाण, वाणी, सर, सलली आदि। याजिकीय प्रयोजनों से रक्षा और इष्टसिद्धि के लिए इष्टकाओं का उपयोग होता था, जिन पर देवताओं के प्रतीकों का अंकन होता था और साथ ही ऋग्वेद की कुछ विशेष महत्व की ऋचाओं के आरम्भिक या संगत अंश अंकित किये जाते थे और इन्हें यज्ञ के अवसर पर यज्ञकुण्ड में भी पकाया जाता था। सम्भवत: याजिकीय पात्रों पर भी इसी तरह कुछ रेखांकन होते थे। लेखन की यह परम्परा अकुण्ठित रूप में वैदिक काल से लेकर बाद तक जारी रही। इसकी सुस्थिर वर्ण-माला का निर्धारण वैदिक काल के अन्तिम चरणों में कभी किया गया और उसी समय स्वर-व्यंजन आदि के भेद और वर्णों के क्रम का निर्धारण किया गया। इस बात की सम्भावना दिखायी देती है कि सामान्य लेखन में उस टंक-लिपि के किसी अधिक आशुलेख्य रूप का व्यवहार होता था और खरोष्ठी के विकास में इसका हाथ रहा लगता है। टंक-लिपि को ब्राह्मी और लेख्य लिपि को सौरी या सर्परी कहा जाता था।

6
शिक्षा

वैदिक काल में किसी देवता या व्यक्ति के जिस पक्ष पर बहुत अधिक बल दिया जाता है वह उसका शौर्य और सम्पन्नता नहीं, अपितु उसका बौद्धिक उत्कर्ष या विचक्षणता है। समाज में अपने को बौद्धिक दृष्टि से सबसे श्रेष्ठ मानने वाले वर्ग द्वारा रचे साहित्य में यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। पर इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि उस समाज में ज्ञान और अध्ययन का महत्त्व बहुत अधिक था, अन्यथा इन पक्षों पर बल देकर भी वह न तो इन देवताओं और व्यक्तियों की श्रेष्ठता प्रमाणित कर सकता था, न ही अपने को सर्वोपरि सिद्ध कर सकता था। यास्क वैदिक साहित्य में प्रयुक्त मेधावियों के जिन पर्यायों का उल्लेख करते हैं वे हैं, विप्र, विग्र, गृत्स, धीर, वेन, वेधा, कण्व, ऋभु, नवेदा, कवि, मनीषी, मन्धाता,

विधाता, विप, मनश्चित्, विपश्चित, विपन्यव, आकेनिप, उशिज, कीस्तास, उद्धाति, मती, मतुथ।[60] बौद्धिक उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए इनके अतिरिक्त कुछ और विशेषणों का भी प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है, यथा – विद्वान, पुरन्धि, विश्वमन, विश्वदर्शी, दक्ष, प्रचेतस्, अक्षण्वान्, श्रुधी, ऋतुविद्, इत्यादि। प्रश्न केवल इन पर्यायों का नहीं है, अपितु इनकी आवर्तिता का भी है जो भी बहुत प्रभावशाली है। यदि हम लोक-गीतों आदि में जननेताओं और प्राचीन नायकों के विषय में प्रचलित गाथाओं पर ध्यान दें और इनकी तुलना करें तो पायेंगे कि उनके बौद्धिक पक्ष पर अपेक्षाकृत कम बल दिया जाता है। प्रायः दूरदर्शिता के अभाव को भी शौर्य और साहसिकता की अतिरंजित उक्तियों से ढक दिया जाता है। यह गुण या दोष वीरगाथाकाल के काव्यों आदि में भी पाया जा सकता है। वैदिक देवताओं में यह शूरवीरता नहीं है। वे वीर हैं, पर शूर नहीं। समझ से काम लेते हैं और आवश्यकता के अनुसार बल की अपेक्षा कौशल से अधिक काम लेते हैं। इन्द्र तो अपनी माया के लिए प्रसिद्ध ही हैं और मायावियों को माया से ही पराजित करते हैं। शौर्य और बौद्धिक उत्कर्ष तथा दूरदर्शिता के बीच का यह अन्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है। युक्ति से काम लेना और भौतिक टकराव से बचना उनका तरीका है और युद्ध अन्तिम विकल्प।

परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण है शिक्षा-संस्थाओं का अस्तित्व।जिनको शिक्षा की यह सुविधा प्राप्त है वे अपने बच्चों को अपने से बहुत दूर इन पाठशालाओं में, अधिकारी आचार्यों के पास पढ़ने को भेजते हैं। इन शिक्षा-संस्थाओं के जो विवरण दिये जाते रहे हैं वे किंचित् एकांगी हैं और पुरोहिती परम्परा ने इसके जिस पक्ष को अधिक बढ़ा कर पेश किया, उसी को आधार बना कर इनकी रूप-रेखा तैयार की जाती है। हम इस पक्ष पर पहले भी बल देते आये हैं कि ऐसे प्रश्नों का निर्णय हर मामले में इनको आर्थिक आधार से जोड़ते हुए ही, वास्तविकता से इनका सामंजस्य बैठाते हुए ही किया जाना चाहिए। किसी भी समाज में प्रचलित शिक्षा उस समाज के युवकों को अपने वास्तविक जीवन की समस्याओं का सामना करने के लिए तैयारी की व्यवस्था है। एक आखेटजीवी समाज भी अपने बच्चों को शिक्षित करता था और निशानेबाज़ी से लेकर तैराकी, और दौड़ आदि के मामले में उसमें अपेक्षित गुणों का विकास करता था, गो इसकी सरल प्रकृति के कारण उसे इसके लिए अलग पाठशालाएँ खोलने की आवश्यकता नहीं होती थी।

7
शिक्षा के विषय

सामान्यतः यह सुझाया जाता है कि वैदिक पाठशालाओं में केवल वेद कण्ठस्थ

कराया जाता था, कि उपनयन तो उसी क़बीलाई रीति को प्रकट करता है जिसके द्वारा किसी सदस्य को वयस्क होने पर समुदाय का विधिवत और मान्य सदस्य बनाया जाता था।[61] यह सच है कि सभ्य समाज की अनेक रीतियों का इतिहास बहुत लम्बा है और इनमें कबीलाई जीवन के अवशेष तलाशे जा सकते हैं, पर वैदिक समाज में उपनयन और शिक्षा का रूप किसी भी दृष्टि से आदिम या अविकसित नहीं प्रतीत होता। इसमें शिक्षण और परीक्षण का रूप बहुत व्यवस्थित और विकसित दिखायी देता है।

परीक्षा की पद्धति आज के समान नहीं रही लगती, पर अपने लिए नियत पाठ पर अधिकार करने के बाद ही छात्र अगले पाठों की ओर बढ़ सकता था और इस तरह पूरा अध्ययन या अपने लिए नियत पाठ्यक्रम सिद्ध कर लेने के बाद वह तीर्ण माना जाता था। पाठ्यक्रम के लम्बे और कठिन विस्तार को पार कर जाने वाले तीर्थ और इस तरह एक साथ पार होने वाले ही सतीर्थ होते थे। सतीर्थ सहपाठी का नहीं, गुरुबन्धु का भी नहीं, बल्कि साथ उत्तीर्ण होने वाले या स्नात होने वाले का ही सूचक है। ऋग्वेद में अनुपनीत और उपनीत का नहीं, अपितु स्नाता और अस्नाता का ही भेद देखने में आता है।

वैदिक काल के पाठ्य विषय क्या थे, इसके विषय में हमें वैदिक साहित्य से कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती। शिक्षा का स्तर क्या था, यह भी बहुत स्पष्ट नहीं है। यदि हम पूरे समाज को या कम-से-कम उन तीन वर्णों को जिनके लिए औपचारिक शिक्षा का विधान था, पुरोहितों की एक जमात में बदलने के उद्देश्य को ही शिक्षा से न जोड़ते हों तो हमें यह भी मानना होगा कि कुछ सामान्य विषयों के अलावा जिन्हें सभी के लिए अनिवार्य बना दिया गया था, सभी को उनकी आवश्यकताओं, रुचियों और योग्यताओं के अनुरूप ही शिक्षा दी जाती रही होगी। वेदों के कुछ चुने हुए अंश निश्चय ही सभी को पढ़ने पड़ते रहे होंगे। इस विषय में स्थिति स्पष्ट भी है। पर यह कुछ वैसा ही रहा लगता है जैसे चर्च के स्कूलों में छात्रों को अनिवार्य रूप से बाइबिल पढ़ाया और याद कराया जाता है। चर्च-स्कूल हों या वैदिक आश्रम, यदि इनकी शिक्षा केवल वेद या बाइबिल तक ही सीमित रहे तो कोई मूर्ख पिता भी अपने बच्चों को इतना कष्ट सहकर उनमें पढ़ने को न भेजे। यह शिक्षा उनके लिए अवश्य उपयोगी हो सकती थी जिनको पुरोहित बनना था; कारण, पुरोहित बन जाने से उनकी अपनी सभी भौतिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं, पर शेष के लिए नहीं।

अतः यदि ऋग्वेद शिक्षा के विषयों और अपेक्षित स्तर के विषय में कोई सूचना नहीं देता तो वैदिक कालीन गतिविधियों और इनके स्तर को ध्यान में रखते हुए हम इस विषय में एक सही राय कायम कर सकते हैं।

ज्यामिति

ऋग्वैदिक काल के तकनीकी विकास और आर्थिक उपक्रमों को ध्यान में रखते

हुए ही हम शिक्षा-संस्थाओं की गतिविधियों को समझ सकते हैं। अभी तक इस दिशा में ठोस काम नहीं हुआ है और इसलिए हमारी समझ भी इसके विषय में काफ़ी धुँधली है। उदाहरण के लिए, कहा जाता है कि ज्योतिष, ज्यामिति और गणित का विकास यज्ञवेदी के निर्माण से जुड़ा हुआ है और इस प्रसंग में कल्पसूत्रों में आये शुल्बसूत्रों का प्रायः हवाला दिया जाता है।[62] प्रश्न यह है कि पहिये का निर्माण करने वाले ज्यामिति से परिचित थे या नहीं? भारतीय अल्पनाओं में एक लोकप्रिय अल्पना—पूर्णिम—वृत्त से सम्बन्धित है। इसका सम्बन्ध वृत्त बनाने, इसे बारह समान भागों में बाँटने और इस प्रकार पहिया बनाने से रहा है। यह अल्पना निम्न प्रकार है:

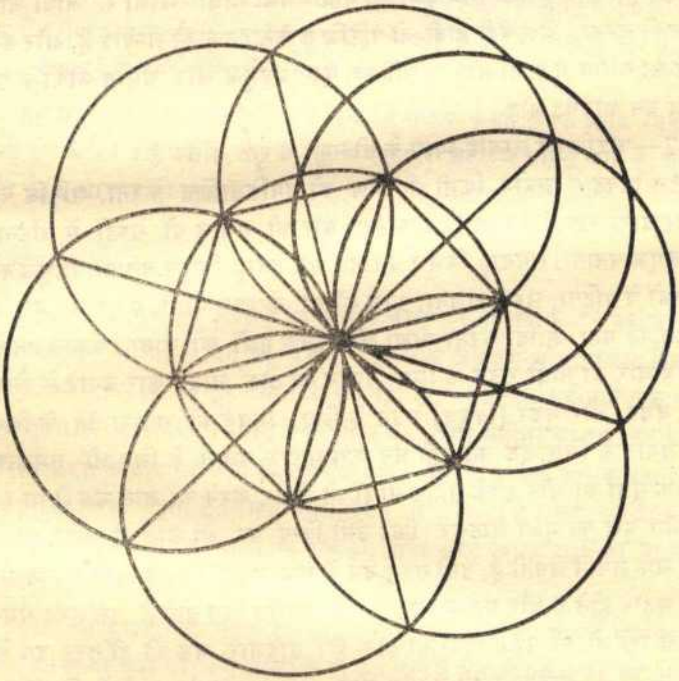

इसको ज्यामिति की निम्न उपपत्तियों का मूल माना जा सकता है:

1—किसी बिन्दु से एक ही अर्ध-व्यास से खींची जाने वाली वृत्तरेखा अन्ततः अपने आदि-बिन्दु पर आ मिलती है;

2—यदि किसी वृत्त की परिधि के किसी बिन्दु से केन्द्र को स्पर्श करती हुई सीधी रेखा खींचें तो यह वृत्त को दो समान भागों में विभाजित करेगी;

3—यदि वृत्त की परिधि के किसी बिन्दु को केन्द्र मान कर उसी के अर्ध-व्यास से वृत्त बनायें और यह वृत्त जिन बिन्दुओं पर परिधि को काटे उन्हें केन्द्र बनाकर वृत्त खींचते चले जायें तो परिधि छह समान भागों में विभाजित हो जायेगी।

4—परिधि के किसी विन्दु को केन्द्र मानकर खींचे गये वृत्त जिन विन्दुओं पर मिलते हैं इनसे पहले वृत्त के केन्द्र को मिलाने वाली सीधी रेखाओं से जो कोण बनेंगे वे समान होंगे;

5—परिधि के केन्द्रों से खींचे गये वृत्त इस परिधि के बाहर जहाँ मिलते हैं, वहाँ से पहले केन्द्र को मिलाने वाली रेखाएँ पुनः इसे छः भागों में और ऊपर क्रम सं. 4 के कोणों को समान कोणों में विभाजित करेंगी और इस प्रकार मूल केन्द्र को बारह समान भागों में विभाजित किया जा सकता है;

6—परिधि के कटाव-विन्दुओं को यदि क्रमशः सीधी रेखाओं से जोड़ा जाये तो इनकी लम्बाई ठीक वही होगी जो परिधि से केन्द्र तक की लम्बाई है, और इस प्रकार छः समान भुजाओं और कोणों का एक षड्भुज और समान कोणों के छः त्रिभुज बन जायेंगे; और

7—परिधि की लम्बाई व्यास के ती नगुने से कुछ अधिक है।

इस युक्ति से उन्होंने किसी भी कोण को समविभाजित करना, परिधि को बराबर बारह खण्डों में विभाजित करना, वृत्त को समान दो खण्डों में बाँटना, समषड्भुज बनाना, समबाहु त्रिभुज बनाना, समद्विबाहु त्रिभुज बनाना, त्रिभुज को दो खण्डों में बाँटना, लम्ब डालना, कोण को दो बराबर भागों में बाँटना, वृत्त के क्षेत्रफल की माप आदि करना सीखा और इनके सूत्रों को जाना। मकान बनाते समय दीवार को सीधी रखने के लिए, मकान को ठीक आयताकार बनाने के लिए धरन, बँडेर, और मुँडेर (बिषुव) रखने के लिए, बिषुव को सहारा देने के लिए स्थूण लगाने के लिए, ईंट को सही घन आयताकार बनाने के लिए भी समकोण बनाने के सूत्रों का और इसके सहारे साँचों को तैयार करने का ज्ञान जरूरी था।

जैसे वृत्त की भुजा लौटकर फिर उसी विन्दु पर आ जाती है और इसका दूसरा चक्र लगाने लगती है, इसी तरह वर्ष के चक्र चलते रहते हैं। वर्ष में लगभग बारह महीने होते हैं और प्रत्येक माह में लगभग तीस दिन होते है, इस तरह सम-संख्या में रखें तो वर्ष 360 दिनों का होता है। द्वादशार चक्र की ही तरह वर्ष के बारह महीने हैं। प्रत्येक महीने में तीस दिन; इस तरह बारह भागों में विभाजित वृत्त का प्रत्येक खण्ड वर्षचक्र में एक महीने के बराबर है और महीने के तीस दिनों को तीस अंश का या कहें प्रत्येक दिन को एक अंश या अंशु (तु. उपांशु) का माना जा सकता है। आख़िर सूर्य भी अंशुमान ही तो है—अंश का मान। इस प्रकार वर्ष के तीन सौ साठ अंशों या वृत्त के किसी विन्दु पर तीन सौ साठ अंशों की कल्पना, एक रेखा पर 180 अंश की कल्पना, समकोण या 90 अंश की कल्पना मात्र दिमाग़ की उपज नहीं, अपितु भौतिक गतिविधियों से प्राप्त ज्ञान और अनुभव का सारसूत्र थी। इन परिकल्पनाओं में से कुछ को प्रायः यूनानी गणितज्ञों की स्वयंसिद्धियों के रूप में किताबों में पढ़ाया जाता है। स्वयंसिद्ध कुछ नहीं होता। ये सभी भौतिक उपक्रमों

से सिद्ध किये गये सूत्र हैं। जिन्हें ये सिद्ध मिले उनके लिए स्वयं-सिद्धियाँ बन गये, जिन लोगों या जिस समाज ने सिद्ध किया उनके यहाँ यह पूरी परम्परा बच्चों के खेल में भी उतर गयी। पिता अपने औज़ार और सामान बनाने के लिए रेखांकन कर रहा है, बच्चे उन्हीं का खेल खेल रहे हैं, पिता मूर्ति बना रहा है तो बच्चे खिलौने, पिता चक्र बना रहा है तो बच्चे मिट्टी पर छोटे रूप में उसी की नकल कर रहे हैं—अल्पवयस्कों का यह रेखांकन किसी के लिए महत्व रखता हो या नहीं उनकी माताओं के लिए अवश्य रखता है, जो उनकी भूलों को भी शायद सुधार रही हैं। अल्पों की यह रचना ही सम्भवतः महिलाओं की अल्पना बनकर एक सांस्कृतिक विरासत बन जाती है, चाहे वह घरौंदों के रूप में हो, या चक्र के रूप में, या उनकी सजावट के रंगों-रोलियों के रूप में हो।

यह मात्र एक उदाहरण है जिससे हम यह समझ सकते हैं कि अनेक विकास जिन्हें हम अपनी सीमाओं के कारण बाद के काल में आरम्भ मानते आये हैं, इससे बहुत पहले आरम्भ हो चुके थे।

ज्योतिष

वैदिक काल तक हम देखते हैं कि ये सारे चरण पूरे हो चुके हैं।[63] चन्द्रमा की गति के अनुसार मास 30 दिन का, पर साथ ही लम्बे अवेक्षण और मिलान केबाद यह बोध भी जागा कि यह पूरे तीस दिन का नहीं होता। प्रत्येक महीने में कुछ बच रहता है, ये बारहों महीने प्रजावत हैं।[64] फिर इन बारह महीनों का वर्ष, पर साथ ही लम्बे अरसे के बाद यह बोध कि वर्षचक्र बारह महीनों से कुछ अधिक पड़ता है, इसका कुछ बचता रहता है जिसका समायोजन भी अपेक्षित है। कहें, उपजात की अवधारणा और प्रजावत मासों की कल्पना, सौर और चान्द्र पद्धतियों के बीच तालमेल बैठाने का अकाट्य प्रमाण है।

इससे भी कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि वर्ष को विषुव सम्पात से विभाजित किया गया था; जैसे शाला के दो पक्ष होते हैं वैसे ही वर्ष के दो पक्ष हैं।[65] वैदिक काल में यह धारणा विकसित हो चुकी थी कि पृथ्वी गोल है और सूर्य कभी अस्त नहीं होता बल्कि जब एक ओर दिन होता है तो दूसरी ओर रात होती है।[66] ज्योतिष के क्षेत्र में एक बड़ी भूल, जो जैन ज्योतिष में बाद तक बनी रह गयी थी, यह अवश्य थी कि चन्द्रमा का स्थान सूर्य से सम्भवतः ऊपर माना गया था[67], पर तत्कालीन गणित तथा अन्य साधनों को देखते यह भूल भी एक वैज्ञानिक आधार पर टिकी दिखायी देगी—यदि चन्द्रमा सूर्य की अपेक्षा अधिक निकट है तो उसमें अधिक दाहकता होनी चाहिए, जो कि नहीं है; अतः उसकी दूरी सूर्य से अधिक हुई। यदि इस विश्वदृष्टि और ज्योतिष के ज्ञान की तुलना पौराणिक

काल से करें, जिसमें गणना-पक्ष का विकास तो पृथक होता है पर धरती को किन्हीं मिथकों के आवरण में ज्यों-का-त्यों समेटकर न जाने किन-किन की पीठ और कन्धे पर रख दिया जाता है और जानें कौन-कौन-से दिग्गज इसका सन्तुलन बनाये रखते हैं, जिसके कारण भारतीय भू-ज्ञान परम्परा के प्रति यदा-कदा सन्देह प्रकट किये जाते हैं, तो यहाँ भी एक उन्नत अवस्था से गिरावट का प्रमाण मिलेगा : ऋग्वैदिक कालीन गोल पृथ्वी यहाँ आकर चपटी हो जाती है, ऋग्वैदिक कालीन निराधार पृथ्वी यहाँ आकर कछुए की पीठ और वराह के थूथन से लेकर शेषनाग के फनों तक पर सवार हो जाती है और बात तब भी नहीं बनती तो दिगपाल आ जाते हैं। निश्चय ही इस काल में विकास विशृंखल हो गया है, विभिन्न अनुशासनों के बीच सम्बन्ध कमजोर पड़ गया है, यद्यपि अलग-अलग विकास जारी हैं। कारण, हड़प्पा के नगरों जैसे प्रधान और संरक्षक केन्द्र नहीं रह गये हैं, जिनमें पारस्परिक आदान-प्रदान अधिक प्रखरता से हो सके। पृथ्वी को यहाँ सर्प के फन पर स्थित मानने के पीछे भी एक वैज्ञानिक तकनीकी शब्दावली की तार्किक परिणति देखी जा सकती है। वैदिक विद्याओं में एक विद्या का नाम सर्पविद्या है; यह धरती सार्पराज्ञी है[68]; अतः सर्प-विद्या के अन्तर्गत सम्भवतः जीव-विज्ञान की या कहें चर जगत की शिक्षा आती थी, पर इस सार्पराज्ञी को आगे सर्प के फन पर बैठाना पौराणिकों के मिज़ाज के अनुकूल ही था। यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि वैदिक ज्योतिर्विदों ने यह भाँप लिया था कि पृथिवी स्वयं गोलाकार है, जो अपने समय को देखते हुए एक आश्चर्यजनक उपलब्धि है।

इस तरह हम देखते हैं कि ज्योतिष के क्षेत्र में अपने समय को देखते हुए वैदिक प्रगति पराकाष्ठा पर थी। यह सोचना ग़लत होगा कि चक्र बनाने वालों ने ही इन सूक्ष्म गणनाओं और संकल्पनाओं का भी विकास कर लिया, पर इस तकनीक के विकास के बिना यह प्रगति असम्भव थी। किसी आविष्कार के हो जाने के बाद उसको एक कुशल मिस्त्री भी उपयुक्त साधन आदि पा जाने पर बना या सुधार सकता है, पर आविष्कार से पहले छोटा-से-छोटा नवप्रवर्तन एक बौद्धिक आयास और चिन्तन की माँग करता है। जो राष्ट्र आविष्कार करता है वहाँ आविष्कृत वस्तु ही नहीं, उसका सैद्धान्तिक पक्ष भी जीवित रहता है और वह चिन्तन और ज्ञान की परम्परा का अंग बन कर अन्य उद्भावनाओं की—जो उन पिछड़े समाजों के लिए जिन्हें सिर्फ़ उस वस्तु की आवश्यकता होती है, संकल्पना की नहीं, किंचित् अतर्क्य और बेकार-से लगते हैं, अतः आविष्कृत वस्तु को ग्रहण करके ही वे सन्तुष्ट हो जाते हैं—सृष्टि करा है जिनके उन्नत ज्ञान पुनः नयी उपलब्धियों का कारण बनते हैं।[69]

गणित

वैदिक काल तक द्विगुण क्रम; द्वादश क्रम, दाशमिक क्रम आदि के विषय में

हम पीछे चर्चा कर आये हैं। दाशमिक क्रम का सार-तत्व है शून्य की परिकल्पना। यह माना जाता है कि शून्य का आविष्कार वैदिक काल के बाद कभी हुआ। पर हम इस बात का भी संकेत कर आये हैं कि यह आविष्कार वैदिक काल तक पूरा हो चुका लगता है। उपनिषद-काल तक तो यह निश्चित रूप से आविष्कृत हो चुका था। उपनिषद का यह श्लोक कि पूर्ण से पूर्ण को निकाल लें तो भी पूर्ण ही बचता है, शून्य के अभाव में समझा ही नहीं जा सकता। शून्य में से ही शून्य को निकालने पर शून्य शेष रहता है। पूर्णता की यह परिकल्पना चक्र की कल्पना की देन है। वैदिक काल में हम शून्य के अस्तित्व को मानने के दो आधार पाते हैं—एक तो ज्योतिष का अपेक्षाकृत उन्नत विकास, जिसमें गणना का बहुत महत्व है; पर इससे अधिक रोचक है एक ही अंक की दहाई के साथ उसकी इकाई का युगपत प्रयोग और इसकी ऋग्वेद में बार-बार आवृत्ति—एकादश, द्वाविंशत, त्रयस्त्रिंशत, चतुःचत्वारिंशत, पंचपंचाशत, षड्षष्ठि, सप्तसप्तति, अष्टासीति, नवतिनव—का इनकी दहाइयों, विशेषकर विंशत, त्रिंशत, चत्वारिंशत, पंचाशत, षष्ठि, सप्तति, असीति, नवति की तुलना में बहुत अधिक प्रयोग। यह संख्याओं का मिथुन या युग्म बनाने के वैदिक मोह का सूचक तो है, पर दाशमिक क्रम के बिना संख्याओं का यह युग्म असाध्य था।

चिकित्सा

चिकित्सा-शास्त्र में भी अपने युग को देखते हुए असाधारण प्रगति की पुष्टि देखने में आती है। भिषग का एक स्वतन्त्र पेशा विकसित हो चुका था।[70] और एक स्थल पर तो रुद्र के लिए भिषक्-तम[71] अर्थात् महाभिषग का उल्लेख देखने में आता है। रुद्र भेषजों के देवता हैं और अश्विनीकुमारों को देवताओं के चिकित्सक के रूप में कल्पित किया गया है। ऋग्वेद में शरीर के विभिन्न अंगों का उल्लेख आता है और यह विवरण क्रमशः अधिक विस्तृत होता चला जाता है। इस विषय में टिप्पणी करते हुए मैकडनेल और कीथ लिखते हैं :

"ऋग्वेद में एक ऐसा सूक्त है जिसमें एक भिषग अपने पौधों और उनकी उपशामक शक्तियों की प्रशस्ति करता है। इसके अतिरिक्त अश्विनों द्वारा आश्चर्यजनक उपचार के सन्दर्भ भी मिलते हैं : लँगड़ों[72] और नेत्रहीनों का उपचार[73], च्यवन और पुरन्धि[74] को पुनः युवक बना देना, विश्पला[75] को एक लौह-पाद प्रदान करना, जो कृत्य उस समय और भी आश्चर्यजनक प्रतीत होगा जब हम, जैसा कि पिशल ने विचार व्यक्त किया है, यह मान लें कि विश्पला एक अश्वी थी।"[76]

इन उपचारों को यथा-तथ्य ग्रहण करना जरूरी नहीं है और इस पर कुछ और खोज जरूरी है, पर चिकित्सा का स्तर सराहनीय था, इस विषय में सन्देह नहीं।

शरीर विज्ञान के विषय में विशेषतः अथर्ववेद में जो विवरण आये हैं और जिनका कुछ अधिक विशद उल्लेख ब्राह्मणों आदि में आया है, उनसे "ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर की आन्तरिक रचना की ओर वैदिक भारतीयों का ध्यान बहुत पहले आकर्षित हुआ था।"[77] वैदिक इंडेक्स के लेखकों ने पार्ष्णि—एड़ियों, मांस, गुल्फ—टखने की हड्डी, अँगुलि, ख—छिद्र, उच्छलक प्रतिष्ठा—पैर के टखनों के मध्यभाग, जानु-सन्धि या घुटनों के जोड़, चतुष्टय—घुटनों के ऊपर चौकोर, सरलता से मुड़ने वाला—शिथिर, कबन्ध—धड़, ऊरु, श्रोणी, कुसन्धि, उरस्—छाती की हड्डियाँ, ग्रीवा, स्तन, कफोड, पृष्टीः—रीढ़ की हड्डियाँ, अंसौ—हँसलियाँ, शीर्ष भाग के सात छिद्रों—सप्त खानि शीर्षाणि, कान, नासिका, नासारन्ध्र, आँख, मुख, हनु—जबड़ा, जिह्वा, मस्तिष्क, ललाट, मुख की हड्डियाँ या ककाटिका, कपाल, चित्या हन्वोः—जबड़ों का ढाँचा, मज्जा, यकृत, क्लोम—फेफड़ा, मस्तना—गुर्दा, पित्त, आन्त्र, गुदा, प्लीहा, नाभि, वनिष्ठु, योनि, प्लाशि—भौं, आसन, पायु, पक्ष्म, करुकर—अनुप्रस्थ प्रवर्ध, जत्रु—वक्ष की सोलह हड्डियों, उरस्—मेरुदण्ड, पर्शु—पसलियों, कुलाप, अनूक अर्थात् दोनों पार्श्वों की छब्बीस पसलियों, उदर भाग के 20 अनुप्रस्थ प्रवर्धों और वक्ष के 32 अनुप्रस्थ प्रवर्धों के साथ बीच की हड्डियों आदि के उल्लेखों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है[78] और उनके मतानुसार "यह पद्धति बाद की चरक और सुश्रुत की पद्धतियों के साथ अत्यन्त समानता व्यक्त करती है।"[79] वैदिक साहित्य में शल्य-चिकित्सा आदि के जो उल्लेख मिलते हैं, उन्हें देखकर प्रायः यह विचार प्रकट किया गया है कि चूँकि वैदिक जन अपने यज्ञों में पशु-वलि आदि देते थे, अतः उन्हें शरीर-रचना के विषय में भी जानकारी मिलनी शुरू हो गयी। कहें, चिकित्सा को पशु-वलि से जोड़ा जाता है और इस विषय में कोई विवाद भी नहीं दिखायी देता। पर हमें ऐसी कोई जाति दिखायी नहीं देती जो शिकार न करती रही हो और मांस न खाती रही हो। फिर वैदिक वलि के साथ ही यह ज्ञान क्यों जुड़ा होना चाहिए? और फिर ये विवरण पशुओं की शरीर-रचना के हैं या मनुष्यों के? वास्तविकता यह है कि शल्यक्रिया के प्रति परवर्ती शुद्धिवादी दृष्टिकोण ने जो भावना पैदा की वह इसके विकास में बाधक रही और इस दृष्टि से वैदिक काल की स्थिति अपने युग को देखते हुए पौराणिक काल से कहीं उन्नत दिखायी देती है। शल्यक्रिया का ठीक स्तर क्या था, इसका निश्चय करना कठिन अवश्य है, पर इसके विकास के बिना मनुष्य के शरीर की आन्तरिक रचना के विषय में अपेक्षाकृत विशद जानकारी का प्रश्न नहीं उठता। पशु-वलि से शल्य-चिकित्सा के विकास को जोड़ना भी आदिमता की धारणा की देन है और इसमें इस बात का ध्यान भी नहीं रखा गया है कि चिकित्सा के दावे और शरीर-रचना के विवरण दोनों में पर्याप्त संगति दिखायी देती है और वलि तथा चिकित्सा के लक्ष्य एक ही नहीं होते, न ही पहले मामले में उस सावधानी

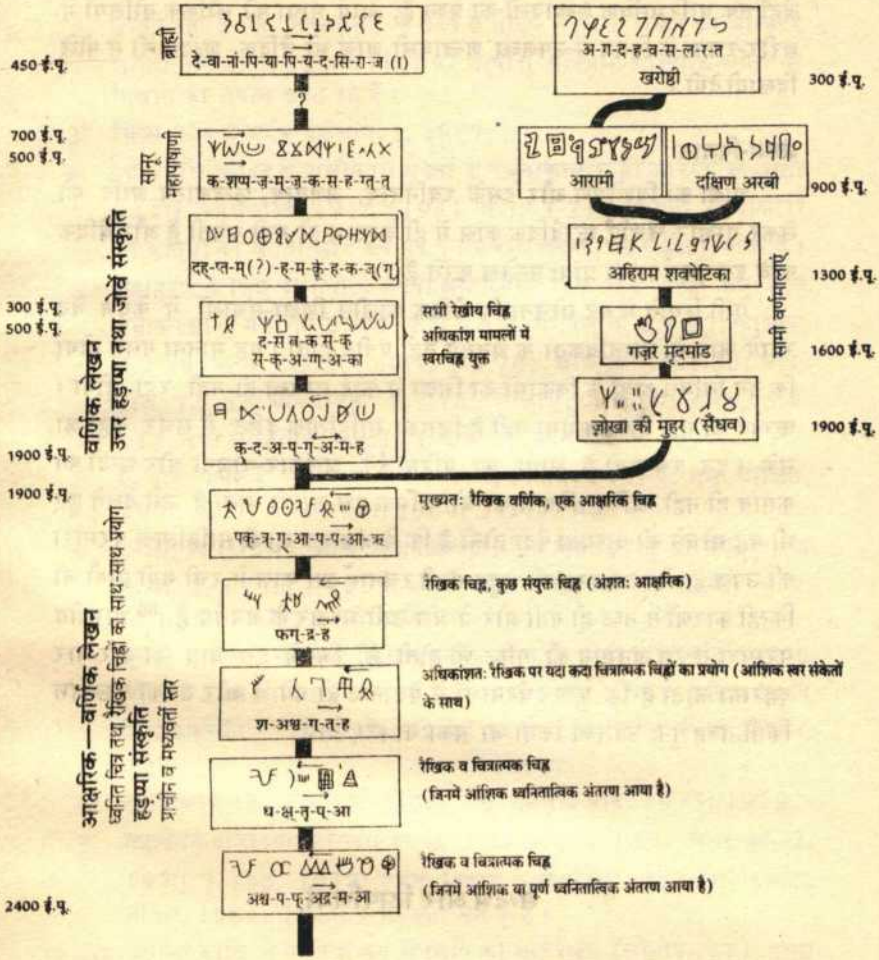

डा. एस. आर. राव द्वारा प्रस्तावित हड़प्पा-लिपि से ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों तक का वशवृक्ष।

और बारीक विश्लेषण की आवश्यकता होती है जो दूसरे मामले में अपेक्षित है। जहाँ तक पारिभाषिक शब्दावली का प्रश्न है, आर्य भाषा की लौकिक बोलियों में शरीर-रचना के विषय में उपलब्ध शब्दावली आज भी वैदिक शब्दावली से पीछे दिखायी देगी।

भाषा-विज्ञान

भाषा का विश्लेषण और इसके ध्वनितत्व, अर्थतत्व, छन्दशास्त्र आदि को लेकर गम्भीर चर्चाएँ ऋग्वैदिक काल में ही आरम्भ हो गयी लगती हैं और वैदिक कवि इत सतर्कता का प्रायः उल्लेख करते हैं।

ऐसी स्थिति में यह सोचना कि वैदिक कालीन शिक्षा-संथाओं में केवल वेद रटाये जाते थे, वास्तविकता के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। यह मानना ग़लत होगा कि इन विविध क्षेत्रों के विकासों का शिक्षा से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा होगा। ऋग्वेद का एक भी अंश ऐसा नहीं है जिसको साहित्यिक दृष्टि से लचर कहा जा सके। इन रचनाओं में भाषा का परिमार्जन, अलंकार-योजना और छन्दों का कसाव ही नहीं, अपितु संवेदना का जो मार्मिक पक्ष सामने आता है, उसे देखते हुए भी यह सोचने की बाध्यता पैदा होती है कि ये अंश एक लम्बी साहित्यिक परम्परा की उपज हैं और इसतरह की बहुत सारी रचनाएँ उस काल में रची गयी होंगी जो किन्हीं कारणों से नष्ट हो गयीं और ये अंश उसी भण्डार के अवशेष हैं।[80] भारतीय परम्परा से इस अनुमान की पुष्टि भी होती है, जिसमें इस बात को बार-बार दुहराया जाता है कि कुछ दुर्घटनाओं में वेद नष्ट हो गये थे और उनका कुछ अंश किसी तरह पुनः उपलब्ध किया जा सका था।[81]

सन्दर्भ और टिपणियां

1. विल्सन, ऋग्वेद संहिता (अंग्रेजी अनुवाद), 2. भूमिका; गोल्डस्टकर, पाणिनि हिज़ प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, 1965 सं., 17-18; ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, 1918; मुखर्जी, ऐंश्येंट इंडियन एजुकेशन, 1960; राजबली पांडे, अशोक के अभिलेख, सं. 2022; शंकरानन्द, दि ऋग्वैदिक कल्चर ऑफ़ दि प्री-हिस्टॉरिक इंडस, 1943-44; आदि।
2. मैक्समूलर, ए हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येंट संस्कृत लिटरेचर सो फ़ॉर इट इलस्ट्रेट्स दि प्रिमिटिव रिलिजन ऑफ़ दि ब्राह्मणाज, 1856; मैक्समूलर के परवर्ती

सभी 'बर्बरताप्रेमी' विद्वान उन्हीं की उक्तियों को मन्त्र की तरह दुहराते रहे हैं, पर अनेक दूसरे शालीन विद्वान, जिनमें बूलर का भी नाम आता है, यह मानते रहे हैं कि मैक्समूलर के तर्कों से वैदिक काल में लेखन का अस्तित्व असिद्ध नहीं होता, यद्यपि वे ब्राह्मी की उत्पत्ति पश्चिम एशियाई स्रोतों से दिखाने का प्रयत्न करते रहे हैं।

3. चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1, 1867, 27.
4. यह प्रवृत्ति ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों के रचनाकाल से ही आरम्भ हो जाती है। देखें, ब्लूमफील्ड, 1916 (1981 सं.), 1-21. पूर्ववर्ती रचनाकारों की कृतियों की चेतना और उन पर पुनर्विचार क्रमशः प्रखर होता जाता है। उदाहरण के लिए पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी में अपने से पहले हुए जिन वैयाकरणों के मतों का उल्लेख किया है वे है, आपिशलि, 6.1.92; काश्यप, 1.2.25; गार्ग्य, 8.3.20; गालव, 7.1.74; चाक्रवर्मण, 6.1.30; भारद्वाज, 7.2.63; शाकटायन, 8.3.18; शाकल्य, 1.1.16; सेनक, 5.4.112; तथा स्फोटायन, 6.1.123. देखें, कपिलदेव द्विवेदी, 1951,4.
5. ए. घोष, 1964, 15; एम. के धवलीकर, 1984, 243; के. एम. दीक्षित, 1984, 267, सौन्दरराजन, 1984, 211-17 आदि।
6. हेरास, दि रिलिजन ऑफ़ मोहनजोदड़ो पीपुल एकार्डिंग टु इंस्क्रिप्शन्स, ज यू. बां. 5, 1936, 1-29; दि स्टोरी ऑफ़ टू मोहनजोदड़ो साहन्स, ज. ब. हि. यू. 2, 1937, 1-36 आदि।
7. ऐस्को पार्पोला तथा अन्य, डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि प्रोटो इंडियन इंस्क्रिप्शन्स ऑफ़ दि इंडस सिविलाइजेशन ,ए फर्स्ट एनउंसमेंट, 1969; प्रॉग्रेस इन दि डिसाइफरमेंट···'1969; फर्दर प्राग्रेस इन दि इंडस स्क्रिप्ट डिसाइफरमेंट, 1970.
8. क्नोरोजोव तथा अन्य, प्रोटो इंडिका, अनु. हेमचन्द्र पांडे, 1973; 1979.
9. महादेवन द्रविडियन पैरेलल्स इन दि प्राटो इंडियन स्क्रिप्ट, ज त स्ट, 2, 1970, 1-120; 1977; इंडस स्क्रिप्ट के कंकॉर्डेंस 1983, आदि; फेयर सर्विस, 1984, 154-61 भी इसी मत के हैं।
10. पार्पोला आदि ने पहले ज्ञापन में लिपि को शब्दरेखी (लोगोग्राफिक) माना था पर दूसरे ज्ञापन में इसे एक भूल बताते हुए शब्दाक्षरी (लोगोसिलैबिक) माना। डिरिंजर इसे चित्रलेखी (पिक्टोग्राफिक) मानते हैं।
11. इन अध्ययनों और दावों की आलोचना के लिए देखें, डा. लाल, "सम आब्जर्वेशन्स ऑन हड़प्पन स्क्रिप्ट', इंकंवथाक, 1970, 189-202; टी. बरो, द्रविडियन ऐंड डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, ऐंटीक्विटी, 43, 172, दिसम्बर 1969, 274-78, क्लाउज़न व चाडविक, 'दि इंडस स्क्रिप्ट डिसाइफर्ड ? ऐंटीक्विटी, 43, 171 सितं. 1969, आदि।

12. हंटर, दि स्क्रिप्ट ऑफ़ हड़प्पा ऐंड मोहनजोदड़ो ऐंड इट्स कनेक्शन विद अदर स्क्रिप्ट्स, 1934, 44-45.
13. वही, 49.
14. 'दि स्क्रिप्ट ऑफ़ दि इंडस वैली सील्स' इंहि क्वा. 7 पूरक व 8, 1931; 32, क्रमशः 1-52 व 1-32, 1935, 1935 बी आदि।
'दि डान ऑफ़ इंडियन राइटिंग', 13 अक्टूबर 1935, 20 व 81 आदि।
15. शंकरानन्द दि इंड्स पीपुल स्पीक, 1955; दि इंडस सील्स स्पीक ? प्रो. इंडस का 23। 1960-61; 1962 दि डिक्शनरी ऑफ इंडियन हायरोग्लाइफ्स 1963 1665 आदि।
16. 'सोल्यूशन ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, दि हिंदुस्तान टाइम्स वीकली, 30 मार्च, 1969, 156.
17. एस. आर. राव, 'दि डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, 235.
18. सुधांशु कुमार राय, इंडस स्क्रिप्ट : ऐन अपील टु दि ओरियंटलिस्ट्स, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ इजिप्टॉलॉजी, मेमोरैंडम नं. 1, 1963; मेमोरैंडम नं. 2, 1965; इंडस स्क्रिप्ट : 1965 बी; मेथड ऑफ़ स्टडी, 1966; इंडस स्क्रिप्ट, शक्ति, 3, 5, 1966, 20-22, आदि।
19. दि अल्फाबेट, 1968 सं., 51.
20. अहमद हसन दानी, इंडियन पैलियोग्राफी, 1963, 8-9 व 24.
21. पूर्व 262.
22. अहमद हसन दानी, 1963, 23-28.
23. बूलर, इंडियन पैलियोग्राफो, 1958 सं
24. एस. आर. राव, दि डिसाइफरमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, 311-12.
25. लैंगडन, मोहनजोदड़ो एंड इंडस सिविलाइजेशन, सं. मार्शल, 1931, II, 423, 55
26. सिडनी स्मिथ, वही, 1931, II, 415-22.
27. डी. सी. सरकार इंस्क्रिप्शन्स ऑफ़ अशोक, 1957.
28. राजबली पांडे, इंडियन पैलियोग्राफी, 1952, अध्याय एक।
29. गौरी शंकर हीराचंद ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, 1905.
30. एस. आर. राव, ऊपर, 1982, चित्र 35.
31. एस. आर. राव 1982, 4.
32. अर्नेस्ट मैकाय, अर्ली इंडस सिविलाइजेशन, 1948, देखें बैशम, पूर्व, 1963, 20.
33. 'इंटरप्रेटेशन आफ़ सर्टेन प्रोटो इंडियन फ़िगर्स', प्रोटो इंडिका, 1970, 1973.

34. पार्पोला, 1969, 21.
35. इरावदम महादेवन, 'कल्ट आब्जेक्ट्स ऑन यूनीकार्न सील्स : ए सैक्रेड फिल्टर ?' 1983,
36. वी. एस. पाठक, 1985, 9.
37. पूर्व, 22.
38. वही 71-72.
39. शतब्रा. का विभाजन काण्ड, प्रपाठक और ब्राह्मण में और ऐब्रा. का अध्याय और खण्ड में किया गया है।
40. त्र्येनी शलली भवति लोहः क्षुरः सा या त्र्येनी शलली सा त्रय्यै विद्यायै रुपम्। शतब्रा. 2.6.4.5
41. लोह क्षुर का अर्थ ताँबे का क्षुरा है, 'लोहित इव हि अग्निः तस्मात् लोहः क्षुरः, वही।
42. देखें, शतब्रा., 6.5.3, 3-4, सैबुईसी. 41, 239.
अथ उखां करोति। इमान् तत् लोकान् करोति अथ विश्वज्योतिषः करोति एता देवता, अग्निं वायुं आदित्यं एता हि एव देवता विश्वं ज्योतिः, ता एतस्या एव मृदः करोति एभ्यः तत् लोकेभ्यः एतान् देवान् निर्मिमीते यजमानः करोति, त्र्य लिखिता भवन्ति...महिषी हि वाक् त्र्यालिखिता भवति...।
43. विश्वम्भर शरण पाठक, 1985.
44. यज्ञमुखे वै यज्ञं रक्षांसि जिघांसन्ति यत् परिलिखति रक्षसां अपहत्यै तिसृभिः परिलिखति, त्रय इमे लोका, एभ्यः एव लोकेभ्यः रक्षसां अपहन्ति 'परि वाजपतिः कविः'...इति गायत्र्या परिलिखति ब्रह्म वै गायत्री ब्रह्मणा एव एनं परिगृह्णाति, 'परि त्वा अग्ने पुरं वयं' इति अनुष्टुभा, वाग्वा अनुष्टुप सर्वाणि छन्दांसि, परिभूः वाचो एव सर्वाणि छन्दांसि परिगृहति 'त्वं अग्ने द्युभिः' इति त्रिष्टुभा, वीर्यं वै त्रिष्टुब वीर्येण एव एनं परिगृहति, अनुष्टुभा मध्यतः परिलिखति...कासं. 19.3.7. यहाँ क्रमशः ऋ. 4.15.3; 10.87.22; 2.1.1 के हवाले आये हैं जो उक्त छन्दों में है। यह इस भ्रम को दूर करने के लिए पर्याप्त है कि वेद लिखे नहीं जाते थे।
45. या सरस्वती वेश भगिनी तस्या नः रास्व तया ते भक्तिवानः भूयास्म यज्ञस्य त्वा प्रमया अभि इमया उन्मया प्रतिमया परिगृह्णामि...। कासं. 5.4.25
46. स्तुता यस्मात् कोशात् उत् अभराम वेदं तस्मिन् अन्तः अव दध्म एनम्। अथर्व. 19.72.1
47. द्वे स्रुती अशृणवं पितृणां अहं देवानां उत मर्त्यानाम्। ताभ्यां इदं विश्वं एजत्

सं एति यत् अन्तरा पितरं मातरं च ।। ऋ. 10.88.15.

48. इन प्राचीन गाथाओं को गा कर सुनाते हुए लोगों का मनोरंजन करने का एक अलग पेशा ही विकसित हो चुका लगता है। गाथिन् या गाथाकार और गायक ऐसे ही लोग थे। विश्वामित्र के पिता का भी पेशा यही था। देखें, ऋ. 1.7.1; 167.6; 190.1; 3.54.9; 58.6; 8.32.1; 98.9; 9.99.4, आदि। यह उनके लिए प्रयुक्त कुशिक (कुणीलव-लोक गायक) से भी यह प्रकट होता है।

49. उदाहरणार्थ, शुन: शेप, ऋ. 1.24.12; 13; 5.2.7; दधीचि, 1.84.13; 119.9; 10.48.2, आदि; नहुष, 1.122.8; 10; 11; 5.12.6; 6.26 7, आदि।

50. The Rgveda in rather the final expression of its own type of composition, presupposing at all points a long period of antecedent activity···I have yet to find any hymns in the collection which shows positive singns of comming from the arche typet period, that is to say from thc period when hymns of this sort were first composed. The authors we know are traditional rather than historieal. Their names are eehoes from an olden semi mythic time. ब्लूमफील्ड, 1916 (1981 सं.), 21.

51. ब्लूमफ़ील्ड, 1916, 5, 19 आदि। But the most repetitions of stanzas, distichs, and padas in the Rguveda are, as we might say litenary not historical. पृ. 19.

52. हर्ज़फील्ड, ज़ोरास्टर ऐंड हिज़ वर्ल्ड, 1947, 1, 307.

53. नि., 1.11

54. ससर्परी: अमतिं बाधमाना बृहत् मिमाय जमदग्नि-दत्ता।
आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रव: देवेषु अमृतं अजुर्यम् ।।
ससर्परी: अभरत् तूयं एभ्य: अधि श्रव: पांच-जन्यासु कृष्टिषु।
सा पक्ष्या नव्यं आयु: दधाना यां मे पलस्ति-जमदग्नय: ददु: ।। ऋ. 3.53.15-16

55. शौनक ने इसके पीछे एक अन्तर्कथा का हवाला दिया है जिसके अनुसार वसिष्ट के पुत्र शक्ति से सुदास के महायज्ञ में शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने के बाद विश्वामित्र ने इस वाक् का ज्ञान करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की थी: ...सुदासश्च महायज्ञे शक्तिना गाथिसूनवे। निगृहीतं बलाच्चेत: सोऽवसीदत् विचेतन:। तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम्।।सू र्यक्षयात् इह आहृत्य ददु: ते जमदग्नय:। कुशिकानां तत: सा वाक् अमतिं तां अपाहनत् ।।

बृह. 4.112.14

56. परि तृन्धि पणीनां आरया हृदया कवे। अध ईं अस्मभ्यं रन्धय ।। वि पूषन् आरया तुद पणेः इच्छ ह्रदि प्रियम्।...आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे।...यां पूषन् ब्रह्मचोदनीं आरा बिभर्षि आघृणे। तया समस्य हृदयं आ रिख किकिरा कृणु। ऋ. 6.53.5-8.

57. गोल्डश्टकर ने, पूर्व. 68, याज्ञवल्क्य, 3.191 का हवाला देते हुए यह स्पष्ट किया था कि पढ़ने के लिए प्राचीन काल में जिन शब्दों का प्रयोग होता रहा है उनमें से एक रहा है दर्शन या देखना। उक्त श्लोक में वेद के द्रष्टव्य, मन्तव्य और श्रोतव्य होने की बात कही गयी है। ऋ. 10.71.2 में लक्ष्मीः निहिता अधि वाचि या लक्षणों या प्रतीक चिह्नों में निहित वाणी का, ऋ. 10 71.4 में ऐसे लोगों का जो देखते हुए वाणी को देख नहीं सकते, सुनते हुए सुन नहीं सकते और इनके विपरीत ऐसे लोगों का जिनके सम्मुख वाणी अपने को पत्नी की तरह अनावृत कर देती है, का, ऋ. 10.71.7 में अक्षण्वन्त और कर्णवन्त या पढ़ने में और सुन कर अर्थ समझने में समर्थ लोगोंका उल्लेख है।

58. बृहस्पति ने विविध वस्तुओं को नाम देते हुए जिस प्रथम वाणी को प्रेरित किया था उसमें जो श्रेष्ठ और दोष रहित है वह इन गूढ़ चिह्नों में निहित है, "...यत् एषां श्रेष्ठं यत् अरिप्रं आसीत् प्रेणा तत् ऐषां निहितं गुहा आविः।" ऋ. 10.71.1. इसी तरह मेधावी जन ऋत् के पद की रक्षा प्राचीन या श्रेष्ठ देवों के नामों को गुहा में रख कर करते हैं, ऋतस्य पदं कवयः नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि।" ऋ. 10.5.2, आदि।

59. देवाः कपोत इषितः यत् इच्छन् दूतः निर्ऋत्याः इदं आजगाम। तस्मै अर्चाम कृणवाम निः कृतिं शं नः अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ।। ऋ. 10.165.1, देखें 10. 165. 2-5 भी। इनमें पहले और चौथे मन्त्र में तो उसे स्पष्टतः दूत कहा भी गया है।

60. नि. 3.15.

61. आर. एस. शर्मा, 1982.

62. हड़प्पा की मुहरों का निर्वचन करने के प्रयत्न में लगे सोवियत विद्वानों में से एक बी. या. वोल्चोक लिखते हैं, कि हड़प्पा लिपि में अनेक चिह्न छः अरों वाले चक्र यूनीकार्न के शरीर पर (10:91; 10:130; 10:140) पाये जाते हैं जिनसे प्रकट होता है कि यूनीकार्न को सूर्यदेव के साथ दिखाया गया है। वह अन्य अनेकानेक मुहरों का हवाला देते हुए वैदिक उल्लेखों से इनकी अकाव्य पुष्टि वर्ष, दिवस और ऋतुओं तथा महीनों के मामले में पाते हैं। देखें, 'इंटरप्रेटेशन ऑफ़ सर्टेन प्रोटो इंडियन फिगर्स,' प्रोटो इंडिका, 1970, 1.0;2.2, तथा तालिका 1 व 2.

63. ऋ. 1.25.8
64. विषुवान् दिवा कीर्त्यं। यथा शलायै पक्षसी। एवं संवत्सरस्य पक्षसी। ऐब्रा. 1.2.3; विषुवन्तं मध्ये संवत्सरस्य एतेन वै देवाः॥ ऐब्रा. 18.18; दीक्षित, भारतीय ज्योतिष, 1957, 71.
65. स वा एष न कदाचन अस्तमेति न उदेति तं यः स्तमेति इति मन्यन्ते अह्न एव तत् अन्तं इति अथ आत्मानं विपर्यस्यते रात्रि एव अवस्तात कुरुते अहः परस्तात् अथ॥ ऐब्रा. 14.6.
66. आदित्यः असि दिवि श्रितः। चन्द्रमसः प्रतिष्ठा।...चन्द्रमा आदित्ये श्रितः। नक्षत्राणां प्रतिष्ठा।...नक्षत्राणि चंद्रमसि श्रितानि। संवत्सरस्य प्रतिष्ठा। तैसं. दीक्षित द्वारा उद्धृत, पूर्व., 25.
67. इयं वै पृथिवी सर्पराज्ञी तत् अनया एव एतत् सर्वं आप्नुवन्ति...शतब्रा. 4.5. 11.17.
68. ऋ. 1.24.9; 6.50.7; 8.112.2; 10.97.6
69. ऋ. 2.33.4
70. ऋ. 1.112.8; 10.39.3
71. ऋ. 1.116.17
72. ऋ. 10.39.4
73. ऋ. 1.116.13
74. ऋ. 1.116.15
75. वैदिक इंडेक्स, 2, 116.
76. वही.
77. वही, 399-404.
78. वही, 400.
79. ऋग्वेद के काव्यात्मक अंशों में से कुछ को इन कविताओं के साहित्यिक सौन्दर्य को समझने के लिए यहाँ प्रस्तुत करना उचित होगा : जिस प्रकार श्वेत बलाकाओं का दल पंक्ति बाँध कर आवाज करता हुआ चलता है, उसी तरह कवियों द्वारा उठायी गयी ध्वजाओं या 'स्तुतियों' के पीछे पंक्ति बनाकर देवता चल रहे हैं।

हंसाः इव श्रेणिशः यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरतः नः आगुः।
उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्तात् देवाः देवानं अपि यन्ति पाथः॥ 3.8.9

अरणियों के भीतर अग्नि उसी तरह सुरक्षित पड़े हुए हैं जैसे मा के गर्भ में शिशुः

अरण्योः निहितः जातवेदाः गर्भः इव सुधितः गर्भिणीषु। ऋ. 3.29.2

पर्वतीय भाग से निकल कर उल्लास से भरी हुई व्यास और शतलज नदियाँ एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा करती तीव्र वेग से कुछ इस तरह भागी चली जा

रही हैं जैसे बछड़े को चाटती हुई कोई गाय भाग रही हो।

प्र पर्वतानां उशती उपस्थात् अश्वे इव विसिते हासमाने।

गावा इव शुभ्र मातरा रिहाणे विपाट् शुतुद्री पयसा जवेते ।। ऋ. 3.33.1.

जैसे घर की मालकिन उठकर घर के सदस्यों को पुचकार कर जगाये वैसे ही उषा तड़के उठ कर थक कर सोये हुए राहगीरों को पाँवों पर खड़ा करती है, पक्षियों को उठाती है, काम पर जाने वालों को काम पर जाने के लिए प्रेरित करती है, भिखारियों को फेरी पर जाने के लिए प्रेरित करती है। पक्षी पंख झाड़कर उड़ चलते हैं। यह कहीं ठहरती नहीं और इसके उठने पर कोई शिथिल नही रह पाता।

आ घ योषा इव सूनरी उषाः याति प्रभुंजती।

जरयन्ती वृजनं पद्वत् ईयते उत्पातयति पक्षिणः ।।

वि या सृजति समनं व्यर्थिनः पदं न वेति ओदती।

वयः नकिः ते पप्तिवांसः आसते व्युष्टौ वाजिनीवति ।। ऋ. 1.48.5.6

ये अंश सामान्य स्तुतियों के हैं। साहित्यिक और दार्शनिक महत्वाकांक्षा से लिखे हुए अंश; यथा सूक्त 1.164 भी काफी रोचक हैं।

80. गीता 4.1-3; रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, 6.5; श्रीमद्भागवत, 1.3.17.

अध्याय ग्यारह

धर्म और विश्वास

हड़प्पा सभ्यता को वैदिक सभ्यता से भिन्न सिद्ध करने के लिए जो प्रमुख तर्क दिये जा रहे हैं उनमें से एक धर्म और विश्वास की भिन्नता पर आधारित रहा है। यह बात बार-बार दुहरायी जाती रही है कि वैदिक समाज पितृ-प्रधान था, और उसके देवता मुख्यतः पुरुष थे, जब कि हड़प्पा सभ्यता मातृ-प्रधान थी और इसमें मातृ-देवियों का प्राधान्य था।[1] हड़प्पावासी लिंगपूजक थे, जब कि ऋग्वेद में इसकी भर्त्सना की गयी है[2], हड़प्पा सभ्यता का एक प्रधान देवता रुद्र था जब कि वैदिक परम्परा में इसके प्रति भय और उपेक्षा का भाव दिखायी देता है[3]; हड़प्पावासी साँपों, पशुओं तथा वृक्षों की पूजा करते थे जब कि वैदिक परम्परा में इनको बाद में अपनाया गया[4]; और अन्ततः, वैदिक देवताओं की तुष्टि के लिए यज्ञों का अनुष्ठान करते थे, जब कि हड़प्पा में मूर्तिपूजा का प्रचलन था।[5]

उक्त मान्यताएँ आर्य आक्रमण की निराधार कल्पना की देन हैं और उसी तरह एक अन्ध-विश्वास का रूप ले चुकी हैं। ये भाववादी अँटकलों, एकपक्षीय आँकड़ों और सतही व्याख्याओं पर टिकी हुई हैं। इनके खोखलेपन को समझने के लिए धर्म और विश्वास की अपनी प्रकृति को समझना और फिर इनमें से प्रत्येक पहलू की गहराई में उतर कर जाँच करना जरूरी है।

2

धर्म और विश्वास की प्रकृति

धर्म और विश्वास हवा में पैदा नहीं होते। उनका एक ठोस भौतिक आधार होता है। पर भौतिक यथार्थ से इनका सम्बन्ध बिम्ब-प्रतिबिम्ब का न होकर तिर्यक होता है। दूसरा अन्तर यह होता है कि भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आने के बाद धर्म और विश्वास में तदनुरूप परिवर्तन नहीं होता। एक बार

मान्यता पा लेने के बाद इसमें अतिजीविता की एक ऐसी प्रवृत्ति आ जाती है जो न केवल स्वतः बदलने से इनकार करती है, अपितु अपनी शक्ति के अनुसार भौतिक परिवर्तनों को भी रोक रखने की या उनमें बाधा पहुँचाने की कोशिश करती है। उसके पीछे दो बातों का हाथ होता है। इनमें से एक तो यह है कि उनका बहुलांश तर्क और विचार पर आधारित नहीं होता, अतः एक बार हमारी अन्तश्चेतना का अंग बन जाने के बाद यह अविचारित रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होता है। दूसरा यह कि संस्थाबद्ध हो जाने के बाद इससे एक वर्ग का अपना हित, अस्तित्व और प्रभाव जुड़ जाता है और यह वर्ग अपने प्रभाव का प्रयोग अपने हित और अस्तित्व की रक्षा, और इसलिए, उन पूर्व-रूपों को अविकल बनाये रखने के लिए करता है।

इसके बावजूद परिवर्तन होते हैं और ये धर्म और विश्वास के स्तर पर दो रूपों में व्यक्त होते हैं। परिवर्तन की ओर अग्रसर होने वाला और इससे सबसे अधिक लाभान्वित होने वाला वर्ग धर्म और विश्वास के स्तर पर भी नये परिवर्तनों को प्रश्रय देता और अपनी ओर से इसको यथासम्भव मान्य बनाने का प्रयत्न करता है। नये परिवर्तनों से न तो पूरा समाज समान रूप से लाभान्वित होता है, न ही नये धर्म और विश्वास सभी वर्गों में समान रूप से स्वागत पाते हैं। अपेक्षाकृत पिछड़े जीवन-स्तर से जुड़े हुए लोग धर्म और विश्वास के मामले में भी पिछड़े स्तर पर बने रह जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो, धर्म और विश्वास का एक वर्गीय आधार होता है और इसकी उपेक्षा करके हम न तो किसी समाज में प्रचलित विभिन्न मतों और मान्यताओं को समझ सकते हैं और न ही इनके अन्तःसम्बन्धों को उजागर कर सकते हैं।

दूसरी ओर, नये धर्म और विश्वास को उत्साह से अपनाने वाला वर्ग भी अपने पुराने विश्वासों से पूरी तरह मुक्ति नहीं पा लेता। यदि वह बहुत आग्रहशील हुआ और पुराने विश्वासों को एक सिरे से वर्ज्य ठहराने की ज़िद पर आ गया तो भी अपने परिवेश के धर्मों और विश्वासों के दबाव से वह पूरी तरह मुक्त नहीं रह पाता और आरम्भिक कठोरता के शिथिल पड़ते ही इसके द्वारा परित्यक्त और वर्जित विश्वास भी चोर दरवाजे से इसमें प्रवेश पा जाते हैं। पर सामान्यतः आम जनता के लिए अपने पुराने विश्वासों से, जिनके साथ उसकी गहरी आस्था जुड़ी होती है, पूरी तरह मुक्त हो पाना कठिन होता है और इसलिए नये विश्वासों को अपनाने के साथ ही वह पुराने विश्वासों का नये रूप में समायोजन करता है। इस तरह एक ही समाज के धर्म और विश्वास में युग-युगान्तर से चले आ रहे अनेक घटकों का गुंफन हो जाता है जिनमें से अनेक तो घोर अन्तर्विरोधी होते हैं।

धर्म और विश्वास की यह दूसरी प्रवृत्ति इसका अध्ययन विकासवादी रूप में करने की माँग करती है और साथ ही इस बात की माँग कि इसमें छिपे

अन्तर्विरोधों के वर्गीय आधार की, और आविर्भाव के विभिन्न चरणों की, शिनाख्त करते हुए इनको सुलझाने का प्रयत्न किया जाये। ऐसा न करके इनको दो जातियों या दो विरोधी स्रोतों की देन मान कर एक सतही समाधान जुटा लेना यान्त्रिक समझ को प्रकट करता है।

धर्म और विश्वास की एक विशेषता यह भी है कि इसके जो तत्व अपेक्षाकृत अधिक तर्कहीन और पुरातन होते हैं उनमें अतिजीविता की शक्ति उसी अनुपात में अधिक होती है। नये विश्वासों और मान्यताओं में अपेक्षाकृत कम अतिजीविता होती है। पुरातन तत्वों की पहचान का एक उपाय यह देखना है कि इनमें भय और असुरक्षा का भाव कितना अधिक प्रधान है। दूसरे शब्दों में, वे देवता अधिक पुराने हैं जिनकी तुष्टि न होने पर वे उपद्रव खड़ा कर सकते हैं बनिस्बत उन देवताओं के जो कृपा करने पर लाभ तो दे सकते हैं, पर जिनकी पूजा न की जाये तो वे किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं करते। इस दृष्टि से प्रेतों और भूतों में विश्वास, मातृ-देवियों आदि में विश्वास की अपेक्षा अधिक पुराना सिद्ध होगा, और मातृ-देवियों और रुद्र आदि में विश्वास अन्य देवताओं की तुलना में अधिक पुराना। जादू-टोने में विश्वास यज्ञ आदि की तुलना में अधिक पुराना है, और ईश्वर के अवतारों आदि की तुलना में यज्ञ आदि।

अपने प्रस्तुत अध्ययन में हम ऊपर की इन प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए हड़प्पा सभ्यता के देवताओं और विश्वासों को समझने का प्रयत्न करेंगे।

3

मातृ-देवियाँ

यह सच है कि हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से मातृ देवियों के अस्तित्व की पुष्टि होती है, पर न तो यह सच है कि इसका वैदिक समाज के अपने धर्म और विश्वास से विरोध है, न ही यह कि ये ही हड़प्पा सभ्यता की—इसके उन्नत वर्ग की—प्रधान उपास्य शक्तियाँ थीं, और न ही यह कि हड़प्पा सभ्यता मातृ-प्रधान थी। वस्तुतः मातृ-प्रधान और पितृ-प्रधान शब्द बहुत व्यापक शब्द हैं और प्रत्येक समाज में मातृ-प्रधानता और पितृ-प्रधानता के आनुपातिक भेद भी होते हैं और इन शब्दों का प्रयोग करते समय हम प्रायः इन अनुपात-भेदों को भूल जाया करते हैं। मातृ-प्रधान समाजों का औचित्य विकास के एक स्तर से आगे बढ़ने पर मिट जाता है और इसलिए विकास के निश्चित चरणों से भी समाज की पितृ-प्रधानता और मातृ-प्रधानता का गहरा सम्बन्ध होता है। प्राधान्य का निश्चय इस बात से भी होता है कि किसी समाज या समुदाय में पहले विवाह-संस्था का क्या रूप रहा

है ? यदि इसके अनुसार लड़की अपने पिता के घर से वर के घर में दान या लूट या किसी अन्य रीति से आती रही है तो उस समुदाय का पितृ-प्रधान होना अनिवार्य था। कारण, ऐसी स्थिति में सम्पत्ति के हस्तान्तरण का पिता-पुत्र का क्रम होगा और समाज के सभी नियम और कानून पुरुषवर्ग को प्रधानता देते हुए निर्मित होंगे। इससे विपरीत स्थिति में समुदाय मातृ-प्रधान होगा और यही स्थिति इसके नियमों और आचारों की होगी। प्राय: प्राधान्य का निश्चय करने के लिए उत्पादक कार्यों में स्त्री और पुरुष की भागीदारी का प्रश्न भी उठाया जाता है, पर यह एक विशेष अर्थ में ही सही है। उत्पादन में प्रत्यक्ष भाग लेने वाले उत्पाद के स्वामी ही हों, यह अनिवार्य नहीं। इसके विपरीत हम पाते हैं कि उत्पादन के स्रोतों पर अधिकार जमाने के बाद इसके स्वामित्व का दावा करने वाले स्वतः दूसरों से ही काम कराते रहे हैं और स्वयं इन उत्पादों को हड़पने के लिए अपेक्षित तन्त्र का विकास करके अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाये रहे हैं। अत: केवल काम नहीं, अपितु सम्पत्ति और उत्पाद पर अधिकार और जहाँ तक काम का सवाल है, काम के क्षेत्र और प्रकृति के चुनाव की स्वतन्त्रता को सामने रख कर ही प्राधान्य का निश्चय करना निरापद होगा, अन्यथा हम पायेंगे कि प्रभुवर्ग की स्त्रियों, दासों और पुत्र आदि आश्रितों को उनकी अपेक्षा हमेशा अधिक काम करना पड़ता रहा है।

हड़प्पा सभ्यता की मातृ-देवियों की अनगढ़ आकृतियों की तुलना यदि हम इसके अवशेषों में प्राप्त अन्य प्रतिकृतियों से, जिनमें मुहरों पर अंकित प्रतिमाएँ भी हैं, करें तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि इनका निर्माण उन्हीं सधे हाथों से नहीं हुआ है जिनके द्वारा शेष आकृतियों का। इसका अर्थ ? जाहिर है कि ये हड़प्पा के शहरी प्रभुवर्ग की देवियाँ नहीं हैं। इनका सम्बन्ध उनके दासों, सेवकों, स्त्रियों आदि से है। इनकी लोकप्रियता नगरों की अपेक्षा गाँवों में अधिक दिखायी देती है। अब यदि हम आज तक नागर और ग्राम्य देवों-देवियों के अन्तर पर ध्यान दें तो पायेंगे कि इसमें हड़प्पा काल से आज तक कोई अन्तर नहीं दिखायी देता।

गाँवों में आज भी सबसे लोकप्रिय देवता काली या दुर्गा और शिव हैं। कोई ऐसा गाँव हो ही नहीं सकता जिसकी अपनी काली और अपने ग्राम-देवता—या शिव-डीह या ब्रह्म बाबा—न हों। मुण्डन, विवाह आदि सभी आयोजनों में इन देवताओं के स्थल पर जाना और आपदाओं के निवारण के लिए इनको तुष्ट करने के लिए मनौतियाँ मनाना और चढ़ाना भारत के उस समूचे क्षेत्र में एक अनिवार्य-सी चीज़ है जिसे आर्य प्रभाव से प्रभावित माना जाता है। इसके विपरीत, नगरों में इन देवताओं के स्थान अपेक्षाकृत बहुत कम मिलेंगे और जो हैं भी वे बहुत प्राचीन नहीं। वास्तव में ये सम्बन्धित ग्राम-क्षेत्रों के नगर की सीमा में आ जाने के परिणाम हैं। दूसरी ओर, विष्णु और, इनके अवतारों के मन्दिर गाँवों में शायद ही कहीं मिलें,

पर नगरों में इनका प्राधान्य दिखायी देता है।

इस अन्तर के तीन प्रधान कारण माने जा सकते हैं : ग्रामीण अंचलों में प्राचीनतम देवताओं और विश्वासों का बना रहना; उनकी अर्थ-व्यवस्था की अपनी ज़रूरतें और उनकी आर्थिक स्थिति। दूसरे शब्दों में कहें तो, ग्राम-देवताओं में काली दुर्गा और शिव की प्रधानता का एक कारण यह भी है कि ये प्राचीनतम देवाताओं में से दो हैं। शैव और शाक्त मतों में भी परस्पर गहरे साम्यों का एक कारण इनका बहुत प्राचीन काल से एक ही समाज में प्रचलन रहा है। इनकी प्राचीनता का सही अनुमान कर पाना कठिन है, पर शिव के कपाली और काली के मुंडमाला-धारिणी रूप से इस बात का सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका प्रचलन वन्य जीवन के उस काल में भी था जब नरभक्षण वर्जित नहीं था। यही दुर्गा—दुर्गम प्रदेशों या जंगलों और पर्वतों में विचरण करने वाली देवी, अरण्यानी[6] या अरण्य की देवी से भी प्रकट होता है। ग्राम-सीमा से बाहर किसी वृक्ष के नीचे काली आदि की वेदी का होना भी उस वन्य जीवन से इसके सम्बन्ध का अवशेष है। ग्राम्य देवता के रूप में इसकी प्रतिष्ठा का दूसरा कारण रहा है उर्वरता से और विशेषतः कृषि और पशुधन की वृद्धि से इसका सम्बन्ध जिस पर हम आगे विचार करेंगे। और अन्तिम कारण रहा है इसकी तुष्टि के लिए न तो किसी लम्बे तामझाम की ज़रूरत होती है, न ही मन्दिर और पुजारी आदि का चक्कर, जो वैदिक यज्ञों में या विष्णु के अवतारों आदि से सम्बन्धित मन्दिरों आदि के मामले में देखा जाता है, और जो गाँवों में बसने वालों के लिए आर्थिक दृष्टि से असाध्य था।

हड़प्पा के अवशेषों पर नज़र डालने पर हम पाते हैं कि इसके नगरों में मातृ-देवियों का उतना प्राधान्य नहीं था जितना सामान्यतः मान लिया गया है। कारण, सभी मृण्मूर्तियों को देवी की मूर्ति मान लेना निरापद नहीं है। इनमें में अधिकांश तो अनगढ़ हाथों से बनाये गये बच्चों के खिलौने प्रतीत होते हैं। ऐसी मूर्तियों की संख्या बहुत कम है, जिन्हें सही अर्थ में मातृ-देवियों का द्योतक माना जा सकता है, और इनकी जो छवि उभर कर आती है वह है इनकी उर्वरशीलता या जननशीलता। हम इन्हें किसी अन्य भूमिका में नहीं पाते। उर्वरता के इस पहलू पर हम पृथक् रूप से विचार करेंगे पर यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इसका गर्भिणी महिला से अधिक उपयुक्त प्रतीक ही न हो सकता था। इससे समाज की मातृ-प्रधानता नहीं प्रकट होती।

मातृ-प्रधान समाज एक निश्चित स्तर के विकास से आगे नहीं बढ़ सकता। कारण, प्रजनन और शिशु-पालन के नैसर्गिक अवरोधों के कारण स्त्रियों की गति-विधियाँ एक निश्चित सीमा में बँध कर रहने को बाध्य हैं। अतः जब कभी मातृ-प्रधान समुदायों का सवाल आता है हमारे सामने अपेक्षाकृत अविकसित कबीलों

का ही उदाहरण पेश किया जाता है। विकसित सभ्यताएं, चाहे वे नयी दुनिया की रही हों या पुरानी दुनिया की, निरपवाद रूप में पितृ-प्रधान दिखायी देती हैं। हड़प्पा सभ्यता के विकास के स्तर को देखते हुए और इस तथ्य को सामने रखते हुए कि इसका एक प्रमुख आधार विदेश-व्यापार था और इसके चलते इसके लोगों का सम्पर्क मध्येशिया से लेकर पश्चिमी एशिया के देशों से स्थल और जल-मार्ग के द्वारा था, इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि यह समाज मातृ-प्रधान रहा हो सकता है, या कहें, इन यात्राओं पर स्त्रियाँ जाती रही हो सकती हैं। अतः हड़प्पा सभ्यता के मातृ-प्रधान होने का खण्डन सैद्धांतिक आधार पर ही हो जाता है।

हड़प्पा के अवशेषों पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि इसका देव-समाज मातृ-देवियों तक सीमित नहीं था। जो लोग मातृ-देवियों पर अपेक्षा से कुछ अधिक बल देते हैं वे भी कम-से-कम यह तो स्वीकार करते ही हैं कि इसका एक प्रधान देवता पशुपति रुद्र था। रथचालन, शिकार आदि के सन्दर्भ में भी केवल पुरुषों को ही मूर्त किया गया है। इसके विपरीत हड़प्पा की प्रसिद्ध नर्तकी इस बात की सूचना देती है कि इस समाज में स्त्री पुरुष के मनोरंजन का साधन थी। मिट्टी का एक खण्डित मुखौटा जो स्पष्टतः नारी का है, इसकी कर्मठता को नहीं अपितु इसकी कमनीयता और रूपाशक्ति को ही प्रकट करता है। पर एक पुरुष की खण्डित प्रतिमा जो हड़प्पा के उल्लेखनीय अवशेषों में आती है, इस समाज में पुरुष के अधिकार और प्रभुत्व को प्रकट करती है।

इसके साथ ही यह मात्र आकस्मिक बात नहीं है कि हड़प्पा की मुहरों पर अंकित सभी पशु पुरुष हैं और मुहरों पर मादा आकृतियों को स्थान नहीं दिया गया है। वृषभ, वराह, हाथी आदि जिन पशुओं को प्रमुखता से चित्रित किया गया है, उन्हीं से वैदिक देवताओं की बार-बार तुलना की गयी है। जैसे पशुपति की प्रतिकृति मानी जाने वाली उत्कीर्ण प्रतिमा के विचित्र रूप और परिवेश को ध्यान में रखते हुए यह नहीं माना जा सकता कि यह किसी मनुष्य का शैलीबद्ध प्रस्तुतीकरण है उसी प्रकार अनेक सिरों वाले, विचित्र रूपाकार वाले विशिष्ट अंकनों से युक्त और अनूठी मुद्राओं वाली पशु-आकृतियों को देखते हुए जिनके सामने कुछ खाद्य पदार्थ विशेष आदर और सम्मान के साथ सजाये गये हैं, यह मानने की बाध्यता उत्पन्न होती है कि ये देवताओं के प्रतीक हैं[7] और इनके वैचित्र्य की व्याख्या ऋग्वेद से ही सम्भव दिखायी देती है। इस पहलू के सामने आने पर हम ऋग्वैदिक देवसमाज और हड़प्पा के देवसमाज में असाधारण सादृश्य पाते हैं।

डॉ. बासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं, "अनेक मुद्राओं पर चित्रित एकशृंग पशु की पहचान वृषशृंग से की जा सकती है।" वह ऋग्वेद के मन्त्र 8.17.13 का हवाला देते हैं और लिखते हैं, "इस मन्त्र में इन्द्र के नाती किसी कुण्डपाय्य कूंडे में

खाने-पीने वाले, वृषभ का उल्लेख है, जिसमें ऋषि अपना मन लगाना चाहता है। कुण्डपाय्य शृंगवृष को व्यक्ति विशेष का नाम मान लिया गया है, किन्तु स्पष्ट ही वह इस प्रकार के पशु का भी सूचक है जिसका सम्बन्ध विशेषतः इन्द्र से था। इसे ही आगे चल कर हम रुद्र के वृषभ में पाते हैं, क्योंकि रुद्र को इन्द्र का ही रूप माना गया है। पशु के सामने एक विचित्र स्तम्भ या ध्वजचिह्न है। सभी मुद्राओं पर इस ध्वज के तीन भाग हैं—(1) एक गोल सलामीदार यष्ठिभाग या गावदुम मझलेट; (2) लाट के ऊपर रखा हुआ कटोरा जिसके बाहरी भाग में कमल के बीजकोश की तरह दाने हैं या जो खाँडेदार आकृति का है, या जो चौकोर या गोल वेदिका की आकृति का है। यह कटोरा वह कुण्ड जान पड़ता है जिसमें से शृंगवृष को खाने-पीने वाला कहा गया है। सम्भवतः वह इन्द्र का सोमभाग था और उसकी पहचान सोमकुण्ड या सोमकद्रुक, या सोमचमस से की जा सकती है...।"[8]

डॉ. अग्रवाल अपने तर्क को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं, "स्तूप के मस्तक पर हर्मिका के बीचोबीच एक क्षत्रमयी यष्टि देखी जाती है। यहीं देवों का निवास माना जाता था। ज्ञात होता है कि सिन्धु घाटी के इन स्तम्भों पर वह भाग देव-सदन या विश्वदेवों का स्थान माना जाता था।" वह ऋग्वेद के 'यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः सं पिवते यमः।'[9] का हवाला देते हुए बड़े सारगर्भित रूप में अपनी मान्यता की पुष्टि करते हैं। उनके अनुमान से सैन्धव सभ्यता के मुद्रा-स्तम्भ रुद्र-ध्वज के रूप में कल्पित किये गये थे। वह सिन्धु घाटी से प्राप्त मातृदेवी की मृण्मूर्तियों को महीमाता या अम्बिका की मानते हैं, जिनको रुद्र की बहन कहा गया है।[10]

वह लिखते हैं, "वेदिका के कोणात्मक चित्रण से नितान्त स्पष्ट है कि यह स्तूपगत हर्मिका जैसी ही थी। कुछ मुद्राओं पर वेदिका के खुले भाग से अग्नि की ज्वाला या धुँआ उठता हुआ दिखाया गया है।" मोहनजोदड़ो आदि से और इससे भी पूर्ववर्ती कुल्ली से प्राप्त शृगान्तर से युक्त एक महावृषभ को जिसे तीन रस्सियों से बँधा दिखाया गया है, वह ऋग्वेद के "त्रिपादबद्धो वृषभः महादेवः..."[11] में प्रतिबिम्बित पाते हैं।[12]

डॉ. अग्रवाल की मान्यता में कुछ संशोधन की आवश्यकता हो सकती है, पर इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ये पशु-आकृतियाँ मुख्यतः उन्हीं देवों की प्रतिकृतियाँ हैं जिनको हम ऋग्वेद में पाते हैं और ऋग्वेद की सहायता के बिना इनकी व्याख्या सम्भव नहीं है। इसका एक अन्य उदाहरण मोहनजोदड़ो से प्राप्त तीन शीर्षों वाला वह विचित्र पशु है जिसका एक सिर वृषभ का है जो झुका हुआ है, दूसरा हिरन का जो मध्य में है और तीसरा बकरे का जो सबसे ऊपर और पीछे की ओर मुड़ा हुआ है। इसे अग्नि के तीन रूपों का द्योतक माना जा सकता है।

इस तरह समग्र चित्र को सामने रखने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हड़प्पा सभ्यता की एक मात्र देवता मातृदेवी ही नहीं हैं, इस देवी के भी अनेक रूप हैं, और यह इस समाज के पुरुष-प्रधान देवसमाज को देखते हुए सबसे प्रधान नहीं मानी जा सकती। इसके बावजूद ग्रामीण अंचलों में इसका प्रभाव सबसे अधिक रहा लगता है जहाँ उर्वरता की देवी का अपेक्षाकृत अधिक औचित्य था। नागर समाज ने अपने लिए भिन्न देवताओं को प्रधान देवों के रूप में चुन रखा था जिनके अंकन में विशेष सावधानी और सूझबूझ का परिचय दिया गया है और जिनके लिए प्रयुक्त उपादान—पत्थर—भी अपनी कहानी कहता है और इस तरह हड़प्पा सभ्यता का समाज मातृ-प्रधान न सिद्ध हो कर पितृ-प्रधान सिद्ध होता है और इन सभी मामलों में वैदिक समाज से इसका अभिन्न साम्य दिखायी देता है।

4

उर्वरता की उपासना

जिसे सामान्यतः लिंग-पूजा कहा जाता है उसके लिए अधिक उपयुक्त शब्द उर्वरता की उपासना है। इसके लिए जो प्रतीक आज देखने में आता है उसके पीछे एक लम्बे चिन्तन और उसी के अनुरूप जटिल और विकसितदृष्टि का हाथ है। जब हम इसे लिंग-पूजा कहते हैं तो इसको किंचित भोंड़े रूप में पेश करते हैं और फिर इसकी तर्कसंगति को पकड़ने के प्रयत्न में एक लम्बी छलाँग लगाते हैं। चट्टोपाध्याय लिखते हैं, "आदिम विश्व-दृष्टि का सबसे प्रधान लक्षण देहवाद प्रतीत होता है", अर्थात् यह दृष्टिकोण कि "मानव काया विश्व का सूक्ष्म रूप है, और इसके साथ जुड़ा है" एक सृष्टि-दर्शन कि विश्व की उत्पत्ति "पुरुष और नारी के संयोग से हुई।"[13] यह सच है कि भारतीय चिन्तन अपने क्रमिक विकास में उस बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ 'जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में' दिखायी देता है, पर इसे आदिम विश्व-दृष्टि मानना ठीक नहीं लगता। यह कुछ वैसा ही है जैसे अणु को ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म रूप मानने की या आज परमाणु को सौर-मण्डल का सूक्ष्म रूप मानने की कल्पना को आदिम सूझ मान लेना। वस्तुतः विश्व-दृष्टि जैसी सर्वग्राही और अमूर्त अवधारणा की कल्पना आदिम समाज के साथ कुछ अधिक सावधानी के साथ ही की जा सकती है। सूर्य, चन्द्रमा, तारों आदि को देख लेना, उनके सम्बन्ध में कहानियाँ गढ़ लेना या कल्पनाएँ कर लेना अलग बात है और इन सबको और सृष्टि के शेष तत्वों को एक व्यवस्थित और तर्कसंगत दृष्टिकोण में समाहित कर लेना बिलकुल दूसरी ही बात। यह ज्ञान और तकनीक के विकास के क्रम में एक निश्चित चरण के बाद, और कुछ विशिष्ट अनुभवों के सन्दर्भ में ही,

सम्भव है और जब हम विश्वदृष्टि की बात करते हैं तो हमेशा इस बात की खोज जारी रहनी चाहिए कि इसके विभिन्न घटकों के पीछे मानव क्रिया-व्यापार के कौन-से पहलू हैं और इनसे अर्जित कौन-सा ज्ञान यहाँ काम कर रहा है।

वास्तविकता यह नहीं है कि मनुष्य ने यह सोचा कि विश्व की उत्पत्ति पुरुष और नारी के संयोग से हुई है और इसे एक विश्व-दृष्टि का रूप दे दिया, अपितु यह कि उत्पादन के क्रम में उसने जिस सृष्टि-व्यापार को देखा उसको मूर्त करने के लिए उसे सबसे उपयुक्त प्रतीक प्रजनन-व्यापार ही लगा और इसी के माध्यम से उसने इसे मूर्त किया।

प्रकृति को एक माता के रूप में कल्पित करना आहार-संग्रह के दौर में भी सम्भव था। धरती और इस पर उगने वाली वनस्पतियाँ मनुष्य का पोषण कर रही थीं और इन्हें माता के रूप में कल्पित करना सर्वथा स्वाभाविक था और जैसा कि हम अगले खण्ड में देखेंगे उसने ऐसा किया भी। परन्तु इस काल तक प्रकृति के सूक्ष्म व्यापार का ज्ञान होना उसके लिए कुछ कठिन था और इसलिए पुरुष और नारी के संयोग की बात सम्भवतः उनके मस्तिष्क में नहीं आ सकती थी। पर कृषि का आरम्भ होने पर, धान्यों की उत्पत्ति और विकास के लिए उसे जल के महत्त्व का, वृष्टि के महत्त्व का ज्ञान होना ही था। अतः बादल उसे पर्जन्य या जनन करने वाली सत्ता प्रतीत हुए। बादलों से बरसने वाला जल उनमें कहाँ से आता है, इसका स्पष्ट ज्ञान उसे नहीं हुआ था। उसने सोचा, धरती का जल आकाश या द्युलोक में चला जाता है और फिर वही बरसता है। अतः उसने आकाश या द्यौ को पिता के रूप में और धरती को माता के रूप में कल्पित किया और इस चरण पर आकर प्रजनन की क्रिया और उर्वरता के बीच उसे एक सादृश्य दिखायी दिया। जिस तरह पुरुष नारी-गर्भ में रेतःसेक करता है और इसके परिणामस्वरूप सन्तान उत्पन्न होती है, नर-पशु मादा में रेतःसेक करता है और पशुओं के बच्चे पैदा होते हैं, उसी तरह द्यौ पिता माँ-धरती में रेतःसेक करता है और वनस्पतियाँ और धान्य पैदा होते हैं। यह धारणा उसके मन में इस तरह समा गयी कि उसे सर्वत्र इसी का सादृश्य दिखायी देने लगा और इसका मूर्तन उसने नर-नारी के युग्म में, पुरुष और प्रकृति के साहचर्य में किया और यह अवधारणा ही आगे चल कर सांख्य दर्शन के सृष्टि-विकास के सिद्धान्त में परिणत हुई। यह मानना सही नहीं लगता कि सांख्य दर्शन पूर्णतः भौतिकवादी दर्शन रहा है और इस पर बाद में पुरुष को आरोपित कर दिया गया है[14]; कारण, विकास के स्तर को देखते हुए पुरुष और प्रकृति के साहचर्य की या इन दोनों तत्त्वों के संसर्ग की मान्यता अधिक बुद्धिग्राह्य थी। इसके बावजूद यदि समस्त भौतिक विकास प्रकृति के अपने ही अन्तर्निहित द्रव्यों के विक्षोभ और संघटन से होता है तो इसमें किसी तरह की कठिनाई नहीं थी। कारण, प्रजनन में भी

रेत:सेक करने के बाद पुरुष अपने कार्य-भार से मुक्त हो जाता है और सन्तान की समस्त रचना माँ के गर्भ में और उसी के रक्त-मांस से होती है।

जो भी हो, ऋग्वेद में हम धरती को माँ के रूप में और आकाश को पिता के रूप में ही कल्पित नहीं पाते हैं, अपितु धरती गो है [15] ओर आकाश वृषभ[16]; धरती अदिति है [17] और सूर्य जिसे भी वृष्टिकारक माना गया है, आदित्य है।[18] ऋग्वेद में कई स्थलों पर धरती को उत्तान पड़ी स्त्री के रूप में कल्पित किया गया है जो जल के कल्पित स्रोत आकाश या अग्नि से गर्भ धारण करती दिखायी गयी है।[19] उसे ही सम्भवत: इन्द्राणी, वरुणानी, आदि रूपों में भी कल्पित किया गया हो सकता है[20], क्योंकि अग्नि को इन्द्र और वरुण के रूप में अनेक बार याद किया गया है[21] और सूर्य, इन्द्र, अग्नि आदि को ही बर्षा करने वाला देवता बताया जाता है।[22]

माता और पुत्र की यह कल्पना या स्त्री और पुरुष के संसर्ग से नयी चीज़ की उत्पत्ति की कल्पना आकाश और धरती तक ही नहीं रह जाती। खेत जोतने से बनने वाली हराई योनि है और किसान इसमें बीज बोता है[23]; अग्नि-मन्थन की अरणियाँ भी नर और मादा का रूप ले लेती हैं और अरणियों के गर्भ से अग्नि को जन्म लेते दिखाया जाता है।[24] यज्ञ स्वयं योनि है।[25] यज्ञ-वेदी योषा है।[26] जल स्वयं योषा है क्योंकि वृषाग्नि के मिथुन से प्रजनन बढ़ता है [27], उत्तरवेदी योनि है[28], औषधियाँ देवताओं की पत्नियाँ हैं[29], मूज योनि है[30], परिमंडल योनि है[31], उखा योषा है और जैसे योषा में रेत:सेक किया जाता है उसी तरह उखा में दूध रखा जाता है[32], पुष्कर-पर्ण योनि है[33], काला मृगचर्म सुकृत की योनि है[34], मन पुरुष है और वाणी योनि[35], वेणु अग्नि की योनि है[36], अग्नि यज्ञ की योनि है[37], उलूखल योनि है और मूसल शिश्न।[38] गर्भ और योनि शब्दों का ऋग्वेद में क्रमश: 96 और 122 बार प्रयोग हुआ है और इनका सामान्य अर्थ है 'धारण करने वाला' और 'उत्पत्ति का स्थान या कारण'। इन शब्दों का जितनी उदारता से प्रयोग हुआ है उससे यह तो ज़ाहिर है कि इनके पीछे प्रजनन क्रिया के लैंगिक पक्ष का हाथ रहा है, पर अपनी व्याप्ति में ये एक लिंग-निरपेक्ष रूप ले लेते हैं। जिस तत्व को एक सन्दर्भ में पुरुष-रूप में कल्पित किया जाता है उसी से जब किसी अन्य चीज़ की उत्पत्ति होती दिखायी देती है तो वह स्वयं उसकी योनि बन जाता है, जैसा कि अग्नि और जल के मामले में देखा जा सकता है। आरम्भिक सरलीकरण यह था कि प्रत्येक नये उत्पादन या सृजन के पीछे एक नारी-तत्व और और एक पुरुष-तत्व होता है, पर उत्पादन के सभी क्षेत्रों पर यह लागू नहीं हो पाता, अत: इसके पीछे कम-से-कम दो तत्वों या एक युग्म या मिथुन का हाथ माना जाने लगता है और यह ज़रूरी नहीं रह जाता कि इनमें से एक स्त्री और दूसरा पुरुष ही हो। निष्कर्ष यहाँ आकर रुक जाता है कि कोई भी चीज़ एकल रूप में

असमर्थ है, असहाय है। अतः कुछ भी करने के लिए एक की अपेक्षा दो का होना अधिक जरूरी है। ऐसी स्थिति में जहाँ तक सम्भव होता है, प्रतिलैंगिक मिथुन का तालमेल बैठाया जाता है; कारण, मिथुन ही प्रजनन है।[39] पर अन्यथा भी युग्म बनाने की यथासाध्य कोशिश दिखायी देती है। यह झक ही वैदिक देवशास्त्र में विविध देवों के युग्म बनाने की ओर प्रवृत्त दिखायी देती है, और हम एक ओर तो इन्द्र, वरुण, अग्नि, रुद्र, सविता, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवताओं के साथ इनकी पत्नियों की कल्पना होते पाते हैं और इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, रुद्राणी, सावित्री, वैष्णवी या लक्ष्मी, ब्रह्माणी या सरस्वती की प्रतिष्ठा पाते हैं और दूसरी ओर अश्विनीकुमारों, इन्द्राग्नि, इन्द्र-सोम, इन्द्र-वरुण, उषा-रात्रि, मित्र-वरुण, रुद्र-सोम, आदि के युग्मों की कल्पना पाते हैं[40] और कुछ मामलों में जहाँ किसी उत्पादन में जुटे हुए बहुत अधिक लोगों का सवाल आता है हम गणों की कल्पना होते पाते हैं। जब देवों के युग्म को हम बोगाजकुई आदि के अभिलेखों में लक्ष्य करते हैं और इनके पीछे काम करने वाले तर्क को नहीं पकड़ पाते तो सतही तालमेल बैठाते हैं।

वस्तुतः प्रजापति या जगत का मूल कारण सभी चर-अचर वस्तुओं की उत्पत्ति का प्रेरक और स्रोत होने के कारण स्वयं ही रेत और योनि दोनों होने को बाध्य था।[41] वह सही अर्थ में अर्धनारीश्वर था। इस प्रजापति या सृष्टि के बीज और योनि के लिए कहा जा सकता है कि इसमें निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों विद्यमान थे, अतः न तो इसका इससे भिन्न कोई पिता था न माता, यह स्वयंभू था। पर इस अवधारणा और कल्पना का विकास किन भौतिक और तकनीकी परिस्थितियों में हुआ, इस पर हम सोम के सन्दर्भ में विचार करेंगे।

यहाँ हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि जिसे लिंग-पूजा कहा जाता है वह उत्पादन और सर्जन की, सृष्टि के कारणभूत तत्वों की लाक्षणिक पूजा है जिसके लिए लैंगिक सादृश्य सबसे अनुकूल प्रतीत हुए। इसके लिए जो प्रतीक आज प्रचलित है उसका विकास कब और कैसे हुआ, इस पर भी हम सोम के सन्दर्भ में ही विचार करेंगे। मुख्य प्रश्न यह है कि इसका अस्तित्व उस परम्परा में अति प्राचीन काल से दिखायी देता है जिसके विकास के एक निश्चित चरण पर हम इसे ऋग्वेद में और इससे आगे लिपिबद्ध पाते हैं। इसके बावजूद ऐसा क्यों मान लिया गया कि 'लिंग-पूजा' या उर्वरता की पूजा अवैदिक है? इसके पीछे एक कारण तो यह माना जा सकता है कि ऋग्वेद में जिन लोगों की कटु आलोचना की गयी है उनको दो स्थलों पर 'शिश्नदेव' कहा गया है[42], जिसका अर्थ यह लिया गया कि वे शिश्न-पूजक थे और यदि वैदिक जनों के विरोधी शिश्नपूजक थे तो निश्चय ही तथाकथित लिंग-पूजा वैदिक परम्परा में उस परम्परा से अपनायी गयी होगी जिसकी यहाँ आलोचना की गयी है, और दूसरा कारण यह था कि 'लिंग-पूजा' का

सम्बन्ध शैव और शाक्त मतों से बना रहा है और रुद्र की भयावहता को देखते हुए इसे और मातृ-देवियों को भी अवैदिक देवता मान लिया गया।

'शिश्नदेव' का अर्थ सायण ने 'अब्रह्मचारी' किया है, जिसे सरल शब्दों में कामुक कहा जा सकता है। परन्तु वैदिक समाज में न तो परवर्ती कालों जैसी काम-वर्जना पायी जाती है, न वेदों में ब्रह्मचर्या का वह अर्थ जो बाद में प्रचलित हुआ। इसके बावजूद छात्रों को ब्रह्मचारी कहा जाता था[43] और छात्र-जीवन में उन्हें संयत जीवन बिताने की बात सर्वथा तर्कसंगत लगती है। जननांगों के प्रति या यौन आचरण के विषय में वेदों में जुगुप्सा या वर्जना का कोई भाव नहीं है, अतः शिश्नदेव का केवल एक ही अर्थ संगत लगता है और वह है ऐसा जन-समुदाय जो कबीलाई मुक्त सहवास से ऊपर नहीं उठ पाया है। यौन आचरण के विषय में एक निश्चित आचार-संहिता का विकास कर लेने के बाद वैदिक समाज के उच्च वर्ग को जंगली कबीलों की यह रीति निन्दनीय लगती रही होगी। इसे रामायण और महाभारत आदि में भी इसी भाव से प्रस्तुत किया गया है।[44]

5
रुद्र-शिव

रुद्र को अनार्य देवता सिद्ध करने के पीछे जो सबसे प्रधान कारण दिया जाता रहा है वह निम्न प्रकार है, "पशुपति या रुद्र की स्थिति वैदिक धर्म में कुछ अजीब-सी है। याजिकीय कृतियों में दूसरे सभी देवताओं को यज्ञ के स्थान पर आने को कहा जाता है, पर रुद्र को और उनके अनुगामियों (रुद्रियाः) को चले जाने को कहा जाता है। रुद्र का नाम तक वर्जित था। ऐतरेय ब्राह्मण में रुद्र का उल्लेख 'यह देवता या वह देवता जिसके नाम में भूत या पशु शब्द आते हैं' के रूप में आता है। ऋ. (2.33.1) में आने वाला रुद्र का नाम ऐतरेय ब्राह्मणः (13.9.10) में जान-बूझ कर 'रुद्रय' के रूप में ग़लत ढंग से लिया जाता है, और ऐसा भी लगता है कि 'अभि—', हमारी ओर, से आरम्भ होने वाले एक मन्त्र को जान-बूझ कर बदल दिया गया है कि कहीं इससे रुद्र को आने का बहाना न मिल जाये (ऐब्रा. 13.10.45)।

"यदि इन्द्र, वरुण और अन्य देवताओं की ही तरह रुद्र भी वैदिकों के ही देवता थे तो उनके प्रति यह उपेक्षा क्यों? ऐसा क्यों है कि रुद्र के लिए चढ़ावा वर्जित स्थलों पर डाल दिया जाता है, जब कि अन्य देवताओं का भाग यज्ञ में डाला जाता है? प्राचीन याजिकीय ग्रन्थों में अनेक विलक्षण तत्व हैं जिनसे प्रकट होता है कि वह वैदिक आर्यों के लिए एक पराये देवता थे।"[46]

रुद्र को अनार्य देवता सिद्ध करने के लिए दिये गये ये तर्क कुछ एकपक्षीय हैं और इनमें से कुछ को सन्दर्भ से काट कर रखा गया है। उदाहरण के लिए, उनके कल्याणकारी रूप की उपेक्षा कर दी गयी है।[47] रुद्र से इस बात के अनुरोध को कि वह अपने हथियारों की नोक को दूसरी ओर रखें, सम्भवतः उनको यज्ञ से दूर रहने का सूचक मान लिया गया है।[48] ऐतरेय ब्राह्मण में प्रयुक्त 'रुद्रिय' को जो काफी पहले से चली आ रही पाठगत असावधानी के कारण या वैदिक प्रयोगों की बहु-रूपता—छान्दसं बहुलम्—के कारण है, सायण ने रुद्र की कठोरता को कम करने के लिए सायास अपनाया गया प्रयोग मान लिया था[49] और इसको ही इसे अनार्य सिद्ध करने का एक बहुत संगत कारण मान लिया गया है। वह देवता जिसके नाम के साथ भूत अथवा पशु शब्द जुड़ा है, जैसा प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण में जिस प्रसंग में आया है वह तो रुद्र की अतिप्राचीनता और वैदिक परम्परा के रक्षक देवता होने की पुष्टि करता है[50], इसकी अतिरिक्त उत्साह के कारण उपेक्षा कर दी गयी है और इस बात का ध्यान नहीं रखा गया है कि इस तरह के सांकेतिक प्रयोगों से देवताओं को सूचित करने की एक लम्बी परम्परा रही है।[51] यूनान में पाये जाने वाले रुद्र के प्रतिरूप को भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि इसे भी यूनानी आर्यों ने स्थानीय जनों से लिया होगा।[52] पर इन सबके बावजूद रुद्र का देवत्व अन्य सभी देवताओं से अधिक विचित्र है जो किसी को उलझन में डालने के लिए काफ़ी है; इस वैचित्र्य को रुद्र के देवत्व के विकास को सामने रखते हुए ही समझा जा सकता है।

रुद्र को अनार्य सिद्ध करने की मुहिम हड़प्पा सभ्यता में इसकी प्रतिष्ठा के बाद तेज़ हुई, पर इसका कुछ कारण इसका वैचित्र्य और कुछ रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में वैदिक व्याख्याकारों की उलझन रही है, यद्यपि यह उलझन केवल रुद्र शब्द के साथ ही नहीं अपितु सैकड़ों दूसरे शब्दों के साथ भी पायी जाती है। परम्परागत व्याख्याकार इसका अर्थ 'रुलाने वाला या द्रवित करने वाला' करते रहे हैं।[53] डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का ख़याल है कि रुद्र शब्द शिव शब्द का तर्जुमा है और शिव शब्द द्रविड़ का है जिसका अर्थ लाल है, अतः इसे लाल देवता कहा गया। इसी तरह वह शम्भु शब्द को भी द्रविड़ से सीधे लिया हुआ मानते हैं, जिसका मूल अर्थ भी लाल या ताम्र ही रहा है।[54] पर शिव शब्द का ऋग्वेद में केवल कल्याण के अर्थ में प्रयोग हुआ है। ठीक यही बात 'शं' के विषय में भी लागू होती है जिससे शम्भु शब्द बना है। रुद्र के लिए रूढ़ अर्थ में इनका प्रयोग बहुत बाद में आरम्भ होता है। इसके बावजूद इस बात की सम्भावना मानी जा सकती है कि रुद्र शब्द का मूल अर्थ लाल रंग वाला रहा हो, पर इसका कारण इसका अग्नि से अभेद, न कि अनार्य देवता होना प्रतीत होता है। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

हड़प्पा की जिस विशेष आकृति को रुद्र शिव का प्रतीक माना गया है उसे गुहा एक शिकारी का अंकन मानते हैं।[55] एस. आर. राव इसे अग्नि का प्रत्यंकन मानते हैं।[56] कुछ लोग इसे ध्यानस्थ योगी का चित्रण मानते हैं।[57] पर ये सभी लक्षण रुद्र के अपने देवत्व के अभिन्न अंग हैं। इस पर पौराणिकता की एक नयी पर्त चढ़ा दी गयी है। इस पर हम कुछ बाद में विचार करेंगे।

रुद्र के देवत्व को न रुद्र और शिव या किसी अन्य पर्याय की व्युत्पत्ति के आधार पर समझा जा सकता है, न ही इसे आर्य या अनार्य समाज का देवता करार दे कर। यह उन गणों का देवता है जिनमें से ही कुछ ने आगे बढ़ कर उस सभ्यता का निर्माण किया था जिसे हड़प्पा सभ्यता कहा जाता है और उस साहित्य की सर्जना की थी जिसे वैदिक साहित्य माना जाता है और इसके देवत्व को विकास-परक ढंग से ही समझा जा सकता है।

प्राचीनतम देवता

रुद्र उन कुछ थोड़े-से देवताओं में से एक हैं जिन्हें वैदिक समाज का प्राचीनतम देवता माना जा सकता है। किसी देवता की प्राचीनता के जिन लक्षणों की बात हम कर आये हैं उन्हें एक बार पुनः दुहराना ज़रूरी है। यह हैं उसके कल्याणकारी रूप के साथ ही उसका भयावह पक्ष; उसका अन्तर्विरोधी चरित्र जो विकास के क्रम में एक पर एक नयी परत चढ़ते चले जाने के कारण पैदा होता है, और इससे उत्पन्न जटिलता। भयावह देवताओं में रुद्र, धरती माता या अम्बिका, अग्नि और वरुण आते हैं। वरुण के देवत्व में जटिलता और अन्तर्विरोधों का अपेक्षाकृत अभाव है, क्योंकि अन्य देवताओं की तुलना में इसकी अतिजीविता कम रही है। इसके बावजूद यजुर्वेद तक हम इन सबसे इस बात का अनुरोध किये जाते पाते हैं कि वे 'हमें हिंसित न करे।[58] इनमें रुद्र और मातृदेवी अकाल और महामारी ला कर और अग्नि असावधानी में अग्निकाण्ड फैला कर भारी अनर्थ कर सकते थे। वरुण आहार-संग्रह के चरण में और बाद में भी 'टैबू' या निषेध और वर्जना के देवता यही काम प्रशासकीय कारणों से कर सकते थे और छोटी-से-छोटी असावधानी या प्रमाद के लिए घोर दण्ड दे सकते थे। इनके भयानक रूप को देखकर ही यह मान लेना कि ये विजातीय देवता रहे हो सकते हैं, ठीक नहीं है।

स्वयं वैदिक परम्परा के अनुसार भी रुद्र देवताओं में ज्येष्ठतम और श्रेष्ठतम हैं।[59] इस मामले में उनकी स्थिति अग्नि जैसी है जिन्हें भी देवताओं में प्रथम बताया जाता है और अग्नि शब्द की व्याख्या भी इस तरह की जाती है मानो यह अग्र का ही रूप-विकार हो।[60] दुर्गा को भी परवर्ती साहित्य में आर्या भगवती के रूप में ही याद किया जाता है।[61]

इस प्राचीनता के कारण, विभिन्न कालों में होने वाले परिवर्तनों के कारण जमती हुई पर्तों के कारण, इन तीनों देवताओं का व्यक्तित्व अन्तर्विरोधों का पुंज बन गया है। इन अन्तर्विरोधों का कारण कुछ सीमा तक इनके साथ जुड़ी संकल्पनाएँ भी हैं। अग्नि के देवत्व के विषय में हम कुछ चर्चा पीछे कर आये हैं और यथाप्रसंग उनके कुछ ऐसे पक्षों का विवेचन हम यहाँ भी करेंगे जिनका सम्बन्ध रुद्र से है। मातृदेवी और रुद्र के देवत्व में तो इतनी समानान्तरता है कि शिव के किसी भी पर्याय का लिंग परिवर्तन कर दें तो वह दुर्गा या मातृदेवियों का पर्याय बन जाता है और उनके किसी भी लक्षण को इनके भीतर पाया जा सकता है।[62]

रुद्र के देवत्व में पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों की स्थिति यह है कि वह अकेले देवता हैं जिन्हें उपवीती कहा गया है[63] और इसके बावजूद वह अकेले देवता हैं जो व्रात्य हैं।[64] एक ओर तो इसका सम्बन्ध प्रभावशाली वर्ग के विभिन्न पदों—मन्त्री[65], क्षेत्रपति[66], वणिक[67], क्षत्रिय[68], सेनानी[69], संग्रहीता[70], अधिवक्ता[71], सभापति[72] आदि से है तो दूसरी ओर इसके अर्थतन्त्र की सेवा करने वाले रथकारों, इषुकारों, कलालों, कर्मारों, तक्षकों, स्थपतियों, आदि से[73]; तीसरी ओर निषादों, पुंजिष्ठों, व्याधों आदि पिछड़े जनों से[74] और चौथी ओर इसका सम्बन्ध उन्नत वैदिक वर्ग को आतंकित करने वाले अपराध-कर्मियों—स्तेनों, तस्करों, आततायियों, निशाचरों आदि से।[75] यजुर्वेद के अध्याय 16 में उसका और उसके गणों का जो दायरा है उससे भूमि से ले कर आकाश तक का चर-अचर, सद-असद, कोई भी प्राणी, तत्व या गुण छूटा नहीं रहता। इन प्रखर अन्तर्विरोधों का कारण? इसका एक कारण तो इसकी प्राचीनता है और दूसरा है इसकी सर्वव्यापकता, जिसकी परिधि से कुछ भी बाहर नहीं रह जाता। अतः इन दोनों दृष्टियों से इसके इस अन्तर्विरोधी चरित्र को समझना जरूरी है।

रुद्र का उद्भव

रुद्र पाषाण-युगीन देवता है। आज भी रुद्र या शिव के नाम पर जलधाराओं के साथ बहकर आये हुए चिकने हुए पत्थर (वटिकाश्म) रखे जाते हैं जिन्हें, शिव कहा जाता है। इन पत्थरों का उपयोग पाषाण-काल का मनुष्य अपने हथियार बनाने के लिए करता था। प्रकारान्तर से कहें तो, इसकी पूजा शस्त्र-पूजा के रूप में या इसके उपादान के रूप में आरम्भ हुई जो पहले पूजा न हो कर इसके प्रति गहरा सम्मान-भाव या इसे कुछ यत्न के साथ जुटाने और सँभाल कर रखने तक सीमित रही होगी। ये पत्थर जिन धाराओं के साथ बह कर आते थे, वे इसकी बहनें थीं जिसकी सूचना अम्बिका (अम्बु-अम्बिका) में मिलती है।[76] स्तरीय चट्टानों से निकले इन शर्करों या पत्थर-खण्डों में से वे पत्थर उस रेखा पर अधिक आसानी से टूट सकते

थे जहाँ पर इनमें निशान बना होता है और इस तरह अलग हुए खण्डों में सहज ही तेज़ धार बन जाती थी, अतः सम्भवतः इन्हें अधिक उपयुक्त माना जाता था। यही निशान आगे चल कर शिव के उपवीत के रूप में कल्पित हुआ और यही कारण है उपवीती शिव (या वटिकाश्म) को ही पूजा के लिए ख़ास तौर से रखा जाता है। इन पत्थरों के रंग के अनुसार ही रुद्र के रंग की बात जुड़ गयी। अतः वह श्वेत रंग के या श्वितीची[77], ब्रभु[78], नीललोहित[79], लोहित[80] आदि हैं। यदि पाषाण-कालीन हथियारों पर दृष्टिपात करें तो रुद्र के रंगों को पहचानना कठिन न होगा। दो स्तरों के बीच पड़ने वाले निशान को 'उपवीत' तो उपवीत का चलन होने पर कहा जाना ही था। पहले इसे सम्भवतः कण्ठ या जोड़ ही कहा जाता था। जहाँ भेदक निशान नीला हुआ वहाँ इसका नाम नीलकण्ठ पड़ गया और श्वेत हुआ तो श्वेत-कण्ठ[81], नीलग्रीव[82], और शितकण्ठ[83] और एक ही साथ लाल, ब्रभु, नीललोहित और श्वेत रंगों वाले व्यक्ति या देवता का वह वैचित्र्य उस पाषाण काल में ही क़ायम हो गया था जिसे लेकर बाद में कहानियाँ गढ़ ली गयीं। इसका सहस्राक्ष[84] नाम सम्भव है बाद में पड़ा हो, पर यदि यह भी उन पाषाणी हथियारों के कारण उसी काल में पड़ गया हो जिनको पैना बनाने के क्रम में इनमें अनेकानेक कटाव बन जाते थे तो कोई आश्चर्य नहीं।

वैदिक साहित्य में रुद्र को बार-बार अग्नि से अभिन्न माना गया है। रुद्र के विकास-सूत्र को न समझने के कारण यह तथ्य इस द्रविड़ देवता पर वैदिक देवता का आरोपण जैसा प्रतीत होता रहा है। पर इसका रहस्य भी पत्थरों के औज़ार बनाने के भीतर ही छिपा है। औज़ार गढ़ते समय आग की चिनगारियों को निक-लते देख कर मनुष्य को यह सोच कर विस्मय अवश्य हुआ होगा कि वही आग जो जब-तब जंगलों में, और विशेषतः बाँस के वनों में रगड़ से, उत्पन्न हो जाती है वह इन पत्थरों के भीतर भी विद्यमान है। ज़रूरी नहीं कि इस समय तक मनुष्य ने आग का उपयोग सीख ही लिया हो, यह भी ज़रूरी नहीं कि इस नये तत्व की ओर उसका ध्यान भी पहली ही बार में चला गया हो। अधिक सम्भव है कि हज़ारों वर्षों तक वह इस दिशा में उदासीन ही रहा हो और आग पर नियन्त्रण पाने के बाद, स्वयं आग पैदा करने में समर्थ हो जाने के बाद ही उसने इसे लक्ष्य किया हो, पर पत्थर में जहाँ भी ठोकर मारो वहाँ से चिनगारियों का फूटना उसे इस बात का यक़ीन दिलाने के लिए काफ़ी था कि काठ की ही तरह पत्थर भी अग्निमय है, या कहें, यह रुद्र भी अग्नि का ही एक रूप है। कौंधती हुई बिजलियों में, कहें जल से भरे बादलों में या प्रकारान्तर से जल में, सूर्य में, सर्वत्र अग्नि की विद्यमानता ने किसी चरण पर उसको यह सोचने पर मजबूर किया कि अग्नि एक ऐसा तत्व है जो सर्वत्र विद्यमान है और उसे सृष्टि मात्र में क्रियाशील और गूढ़ रूप में विद्यमान एक शक्ति का या ब्रह्म—ब्र/भ्र— जलना, प्रकाशित होना, जिससे अग्नि का नाम

ब्रह्म पड़ा और जिसके कारण रुद्र का अग्नि से अभेद हो जाता है—का आभास हुआ और इस अभिन्नता के कारण रुद्र अग्नि की ही तरह सर्वव्यापी मान लिये जाते हैं। इस अभेद की अभिव्यक्ति अग्नि और रुद्र के अनेकानेक पर्यायों में पायी जाने वाली समानता में तो दिखायी ही देती है[85], इसकी सबसे मुखर अभिव्यक्ति अथर्ववेद के व्रात्य-सूक्तों में हुई है जिसे लेकर विद्वान खासी उलझन का सामना करते रहे हैं।[86] ऋग्वेद में और अन्य वैदिक कृतियों में तो यह बार-बार दुहराया ही जाता है कि अग्नि ही रुद्र भी है।[87]

रुद्र के व्यक्तित्व में अग्नि और वरुण का, और सम्भव है इन्द्र का भी, हाथ ऐतरेय ब्राह्मण की उस कथा में भी देखा जा सकता है, जिसको न समझ पाने के कारण कीथ ने इसे एक अटपटे तर्क में बदल दिया था, और अन्य अनेक विद्वान मूल पाठ के भाव को न समझ कर इसे दुहराते रहे हैं, यद्यपि यहाँ स्पष्टतः इनका नाम नहीं लिया गया है। इस कथा के अनुसार देवताओं में जो घोरतम या सबसे भयानक थे उनके तत्वों को या भूतों को एकीभूत करने से रुद्र की उत्पत्ति हुई थी और इसीलिए उसका नाम भूतवान पड़ा था। ऋश्य मृग का रूप धारण करके अपनी दुहिता के साथ संसर्ग करने वाले प्रजापति पर वाण से प्रहार करने को कहा गया और फिर रुद्र के ऐसा करने पर उसे इच्छित वर दिया गया, जो था पशुओं पर उसका आधिपत्य और इस तरह वह 'पशुमान' हो गया।[88] इस रूपकीय कथा को, जो कल्पना-प्रसूत है, दर-किनार कर दें तो इसके मूल में दो तत्व रह जाते हैं, पहला यह कि रुद्र के उद्भव में ही इसमें अग्नि आदि के अन्तर्निहित होने का तथ्य, और वाण से प्रहार करने की क्षमता के कारण इसका पशुपति होना।

पाषाणी संस्कृति के आहार-संग्रही और आखेटजीवी मनुष्य ने शिलाखण्डों में इसकी प्रतिष्ठा मानने और इन्हें औज़ार या साधन मानने से कुछ अधिक महत्व देने और पूजने के अतिरिक्त इसे अपनी छवि में ढाला। उसी की तरह वह मृगया-जीवी – मृगयु[89], व्याध[90], विव्याध[91], शिकार के पीछे ऊँची आवाज़ में आक्रंदन करते हुए दौड़ने वाला[92], आततायी या हथियार उठाये रहने वाला[93], निचेरव[94], धावक[95], कुलुंच[96] या फल-फूल नोच कर खाने वाला, विचिन्वनकारी[97] या (गूलर महुआ, पीपल आदि के) फलों को चुनने वाला, दरिद्र[98] या सम्पत्तिहीन, अवसन[99] या दिगंबर या अधिक-से-अधिक कृत्तिवास[100] या चमड़े से शरीर को (सम्भवतः रक्षा-कवच के रूप में) ढकने वाला, बिना घर-द्वार के जंगल में विचरने वाला, अरण्यपति[101], वनस्पति[102], वृक्षपति[103] या कहें जंगली पेड़ों पर चढ़ कर अपने आहार के लिए फल आदि तोड़ने वाला, गह्वरेष्ठ[104], गिरिष्ठ[105], गिरिशन्त[106], या गुफाओं आदि में रातें काटने वाला, पर्णसद[107] या पत्ते और फूस आदि बिछा कर गुज़र करने वाला, सफ़ाई आदि के प्रति उदासीन या जघन्य[108], विरूप[109], जटा बढ़ाये हुए कपर्दी है।[110] ठिकाने का अभाव इस हद तक कि वह अपने हथियार

भी, जो उसकी एकमात्र सम्पत्ति थी, किसी पेड़ पर-- कोतड़ आदि में—छिपा कर रखता था।[111] ज़ाहिर है कि उसकी रूप रचना में आम मृगया-जीवी मनुष्य को नहीं, अपितु उसके नेता या सरदार को ही आदर्श बनाया गया है। हर मामले में उसका स्वामित्व-भाव—वनस्पति, सत्वपति, गणपति[112], सेनानी[113] आदि इसको प्रकट करता है। वह व्रातपति या क़बीले का सरदार है, और उसकी सेना किसी राजा की सेना नहीं जिसे ख़बर करने और जुटाने में देर लगे, अपितु वह आशुसेन है।[114] एक आवाज़ हुई कि पूरा क़बीला उठ कर लड़ने को तैयार। यह समाज, कम-से-कम यदि अन्य क़बीलों का मामला हो, जिनकी इससे शत्रुता हो तो उनका नरसंहार ही नहीं, नरभक्षण करने से भी परहेज़ नहीं करता था। शिव का कपाली, मसानी रूप और शैवों की गुह्य साधनाओं में प्रचलित शवसाधना इसी का अवशेष है। ऋग्वेद में तो उसे पुरुषघ्न कहा ही गया है। वैदिक कवि उससे अपनी खैर मनाता है। वह अपनी क्रुद्ध दृष्टि उस पर न डाले, अपने हथियारों की दिशा उसकी ओर न करके उलटी ओर रखे[115], इधर तभी दृष्टि फेरे जब उसने अपने हथियार ढीले कर लिये हों[116], यह वीर-विनाशक या नरसंहारक—क्षयद्वीर[117] उसके माता-पिता, लड़कों-बच्चों, पालतू पशुओं को न मारे और किसी तरह प्रसन्न रहे।[118]

इसकी संहारशीलता, उग्रता[119] और भीमता[120], दूर से प्रहार करने की इसकी शक्ति[121], के समानान्तर ही इसकी दूसरी विशेषता है अपना आयुध स्वयं बनाने की इसकी दक्षता, जो इसे स्वायुध[122] बनाती है। यह कुशल शिल्पी है, तक्षण-कार्य में चतुर और इसलिए बाद के विभिन्न शिल्पियों का देवता बना रहता है।[123] आदिम अवस्था में मुक्त सहवास के कारण और उसमें प्रचलित क़बीलाई नाच-गानों के कारण वह ज्ञान और कला का देवता बाद के कालों में तो बना ही रहता है, इसके साथ साधना के अंग के रूप में मैथुन आदि भी जुड़े रहते हैं।

अब उक्त विवरण को सामने रखते हुए कोई उन विचित्रताओं को समझना चाहे तो आसानी से समझ सकता है जो रुद्र या शिव के देवत्व से जुड़ी हुई हैं। यदि कोई यह मानता है कि यह हड़प्पा सभ्यता को प्रतिबिम्बित करने वाला और उसी चरण का देवता है तो उसे हड़प्पा सभ्यता को नकारते हुए यह भी कहना चाहिए कि हड़प्पा 'सभ्यता' आहार-अन्वेषण और आखेट के चरण से आगे नहीं बढ़ी थी, जो आत्मघाती होगा। रुद्र के प्रतीक के रूप में किंशिल[124] या नदियों से बहा कर लायी शर्करा या बटिकाश्म का प्रयोग आज तक क्यों प्रचलित है? क्योंकि यह पाषाणी संस्कृति के आयुधों का मूल उपादान है। रुद्र से इतना भय क्यों बना रहता है? क्योंकि यह उस काल का देवता है जब नरभक्षण और नरबलि का प्रचलन था। इसकी और काली आदि की प्रतिष्ठा सामान्यतः बस्ती के बाहर क्यों की जाती रही है और इसके लिए पीपल या नीम के वृक्ष की छाया का क्यों ध्यान रखा

जाता था ? क्योंकि इन आरण्यक देवताओं के लिए वृक्ष वन के प्रतीक हैं। इसका चढ़ावा चौराहों पर क्यों चढ़ाया जाता रहा है ? क्योंकि निरन्तर घूमते और भागते हुए इस देवता के लिए चौराहे से अधिक उपयुक्त स्थान दूसरा नहीं हो सकता था, जहाँ चारों दिशाओं में से कहीं से आते हुए उसे यह चढ़ावा हासिल हो सकता था। इसको मलिन, जुगुप्सु, जटिल, आदि क्यों दिखाया जाता रहा है और इसके साधकों में स्वच्छता आदि के प्रति सायास उपेक्षा क्यों पायी जाती रही है ? क्योंकि यह जिस चरण का देवता है उसमें मनुष्य अपनी जीवन-पद्धति के कारण इन बातों का ध्यान नहीं रखता था। आगे चलकर इसका सम्बन्ध श्मशान-साधना से क्यों पड़ गया ? क्योंकि इसके आविर्भाव के चरण में नरभक्षण निषिद्ध नहीं था और सम्भव है, गौरव का भी विषय रहा हो। यह नटराज क्यों बन गया, कुमारियाँ इसका व्रत अच्छा पति पाने के लिए क्यों करती है[125], इसकी साधना के साथ मुक्ताचार क्यों जुड़ा हुआ है ? क्योंकि वह समाज वर्जना-मुक्त था, स्त्री-पुरुष अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद मुक्त क़बीलाई नृत्य करते और निर्बन्ध आचरण करते थे। आदि, आदि।

मूलतः आदिम क़बीलों से सम्बन्धित होने के कारण ही शिव का सम्बन्ध भूतों-पिशाचों के गणों के साथ भी जुड़ा लगता है जिसकी एक जीती-जागती तसवीर तुलसीदास ने शिव की बारात के सिलसिले में खींची है जो कुपोषित क़बीलाई जमात का ही अतिरंजित चित्र है। आदिम समाज में प्रचलित कृत्या या जादू-टोने का भी कुछ असर तान्त्रिक साधनाओं में देखा जा सकता है और यह भी इनके प्रति श्रद्धा-मिश्रित भय और आतंक का कारण रहा है। भूतनाथ की संज्ञा के पीछे भी यही कारण रहा लगता है, जिसकी एक काल्पनिक व्याख्या ऐतरेय ब्राह्मण की कथा में दी गयी है।

बाद के कालों में रुद्र के चरित्र में बहुत मामूली अन्तर ही आ पाता है। पर इसके बावजूद यह परिवर्तनों से पूरी तरह अछूते नहीं रहते। उन्हें पशुपति की संज्ञा वस्तुतः पशुचारण काल में ही दी गयी होगी। अब वह पालतू पशुओं का नहीं, अपितु जंगली पशुओं का ही शिकार करते है[126] और हिंस्र वन्य पशुओं का शिकार करके उनसे पालतू पशुओं की रक्षा करने के कारण ही उन्हें पशुपति कहा गया होगा। इसी काल में सम्भवतः वन्य पशुओं को आतंकित करके भगाने के लिए दुन्दुभ आदि का आविष्कार हुआ था और इनका सम्बन्ध भी शिव से जुड़ गया था।[127] रात के समय वन्य पशुओं के प्रति सावधान करने के लिए कुत्तों का विशेष महत्व था और इनका नामकरण (स्वान) इनके भौंकने की विशेषता को ध्यान में रखते हुए किया जाना और शिव का सम्बन्ध कुत्तों से जोड़ा जाना भी इसी काल की देन है।[128] उनके कुत्ते का नाम भैरव या 'भयकारक आवाज़ पैदा करने वाला' और उसका काला ंग इस विषय में हमारी कुछ सहायता कर सकता है। इसी

चरण में शिव का एक नाम दण्डी—पशुओं को नियन्त्रित करने के लिए डण्डा जरूरी था—पड़ जाता है।

कृषिकाल में यह वृष-वाहन बन जाते हैं। इनका कुछ सम्बन्ध बैलगाड़ियों से भी जुड़ जाता है। कृषि को क्षति पहुँचाने वाला चूहा इनका शिकार बन जाता है[129] जो आगे चलकर गणपति—जो शिव का ही एक अन्य पर्याय है, पर जिसका एक अलग देवत्व कल्पित हो जाता है, का वाहन बन जाता है। पर मूलतः यह चूहे का ही अतिरंजित चित्र है जिसका उदर विशाल है, कारण यह अनाज को भारी क्षति पहुँचाता है और इसकी गर्दन शिव स्वयं काट देते हैं और अब इसको एक नया गजानन रूप मिलता है। गणेश या गणपति के प्रति भी आरम्भ में भय और उपेक्षा का भाव दिखायी देता है जो विद्वानों को कुछ उलझन में डालता है।[130] कृषि क्रान्ति के ही दौरान पहली बार आर्य और दास, भूसम्पदा पर अधिकार रख कर दूसरों से काम कराते हुए भी उसका प्रतिलाभ स्वयं अर्जित करने वालों और उनके अनुचरों या सेवकों और सहायकों का भेद क़ायम होता है और इन सेवकों और सहायकों को तथा विभिन्न शिल्पियों को रुद्र के पुत्रों के रूप में कल्पित किया जाता है। इनमें प्रमुख हैं मरुद्गण[131], पर सामान्य रूप से इसमें उन सभी को शामिल किया जाता है जिनको गणबद्ध कहा जाता है, यथा वसुगण, आदित्यगण, ऋभुगण, आदि। रुद्र से इनके सम्बन्ध का कारण है भूस्वामियों की तुलना में इनकी पिछड़ी आर्थिक स्थिति और शिल्प आदि से इनका लगाव और इसके बाद के सभी कालों में रुद्र मुख्य रूप से पिछड़े वर्गों या श्रमिक और शिल्पी वर्ग के ही देवता बने रहते हैं और साथ ही बने रहते हैं उन सभी गणों के देवता जो इस नये बदलाव से अछूते रहते हैं। मरुद्गण आदि कृषि-कर्मी होते हुए भी विश्वदेवों में इसलिए गिने जाते हैं कि इनका सम्बन्ध देवसमाज से किंचित तनावपूर्ण होते हुए भी प्रत्यक्ष विरोध का नहीं है।

सभ्यता के उन्नत चरण में रुद्र का और रुद्र के उपासकों का महत्व बना रहता है और उनको सम्मान के साथ, यद्यपि भय-मिश्रित सम्मान के साथ, याद किया जाता है; कारण, इनके श्रम और कौशल पर ही इस समाज का वैभव आधारित है। इस बढ़ते हुए वैभव के साथ लुटेरों, चोरों, रहज़नों, आदि की भी संख्या बढ़ती है और इन आपराधिक कार्यों में मुख्य रूप से इस सभ्यता के शत्रु और साहसी जंगली क़बीलों के नेताओं का हाथ रहता है, अतः इन इन सबको भी रुद्र के साथ सम्बन्धित कर दिया जाता है।[132] इसके बावजूद न तो सभी समाज-विरोधी तत्व केवल जंगली रहे हो सकते हैं, न थे। जो भी हो, इन सब को रुद्र का प्रतिरूप मानने का कारण इनके बीच रुद्र की अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रियता रही लगती है; कारण, नये देव-समाज की तुलना में वे अपने प्राचीन देवता से चिपके हुए थे जो एक ऐसे समाज की देन था जिसमें नैतिक वर्जनाओं का भी अभाव था

और इसलिए यह उनके साहसिक और आपराधिक कार्यों को औचित्य प्रदान करता था।

कृषि के आविर्भाव से आगे के कालों में क्रमशः स्थायी बस्ती बसने के बाद यह ग्राम की रक्षा के देवता बन जाते हैं। कभी अनागारिक रहने वाले शिव शिल्पियों से सम्बन्ध के कारण वास्तु के देवता या वास्तोष्पति बन जाते हैं और इनको गेही के रूप में भी कल्पित कर लिया जाता है।[133] इसी दौर में वह विभु, सृष्टिकर्ता, और विश्वकर्मा[134] आदि के रूपों में मान्य होते हुए त्रिदेवों में एक पृथक् देवता ब्रह्मा का रूप लेते हैं पर ब्रह्मा और विष्णु दोनों के विकास में अग्नि की भूमिका सर्वाधिक प्रधान रहती है और यदि अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में कोई भेद ही नहीं है, सबके पीछे एक ही शक्ति—अग्नि—कल्पित है, तो इसमें किसी तरह की उलझन का सवाल भी नहीं था। हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक काल तक त्रिदेवों की कल्पना रूपाकार ले चुकी दिखायी देती है यद्यपि इनका व्यक्तित्व उस तरह निखर नहीं पाया है जैसा कि बाद में दिखायी देता है। इनमें सबसे प्रधान भूमिका अग्नि की और सोम की रहती है। पर यह विश्वास कि परम देव एक ही है और विद्वान लोग उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं[135], उत्पादन और श्रम के दौरान अर्जित अनुभवों की सारबद्ध अभिव्यक्ति है, न कि ऊपर से आरोपित मान्यता।

रुद्र के चरित्र-निर्धारण में आदिम पाषाण-कर्मियों, उनके तक्षणकार्य के दौरान अर्जित अनुभव-सार और उनकी अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अतिरिक्त एक अन्य तत्व का भी बहुत अधिक हाथ है और वह है सोम, जिस पर अलग से विचार करना जरूरी है।

6

सोम

सोम का प्रचलन भारत और ईरान दोनों में रहा है और इसलिए लम्बे समय तक इस बात की अटकलें लगायी जाती रहीं कि सोम की उत्पत्ति का स्थान क्या था और इसका प्रचलन कहाँ आरम्भ हुआ था[136] कारण, अन्य बातों के अलावा 'आर्य' प्रव्रजन और इसके स्वरूप का निर्णय करने में भी यह कुछ महत्व रखता है, क्योंकि इसका सम्बन्ध आर्य जनों से माना गया है।

सोम के सम्बन्ध में दो बातें बहुत महत्वपूर्ण हैं: एक तो इसे रुद्र के साथ कुछ इस अनन्य भाव से जोड़ा गया है कि अन्ततोगत्वा यह शिव के सिर पर विराजमान

हो जाता है, चन्द्रमा से सोम का अभेद स्थापित हो जाने के बाद। दोनों की दिशा उत्तर है। दोनों का उत्पत्ति-स्थान पर्वत है। दोनों के इस निकट सम्बन्ध के कारण ही एक के चरित्र का दूसरे पर आरोपण होता है, जैसे दोनों तिग्मायुध बन जाते हैं, सोम और रुद्र दोनों वनस्पतियों के राजा हो जाते हैं, रुद्र अपने जलाषभेषज के कारण जो वस्तुतः सोम ही है, महाचिकित्सक या भिषक्तम हो जाते हैं, आदि। इन दोनों की निकटता भी इस बात का यक़ीन दिलाने के लिए कुछ सार्थकता रखती थी कि सोम की ही तरह रुद्र भी अवैदिक देवता नहीं हो सकता और इन दोनों का आविर्भाव एक ही परिस्थिति में हुआ है

महादेवन अपने एक अध्ययन में, जो कई दृष्टियों से बहुत रोचक है, इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हड़प्पा सभ्यता में सोम का प्रचलन था। उनकी मान्यता है कि हड़प्पा के भाण्डों में से कुछ का सम्बन्ध सोम के आसवन से है और हड़प्पा की लिपि के कतिपय चिह्न उक्त भाण्डों की ही तरह ऋग्वेद में सोम के विषय में आये विवरणों की सटीक पुष्टि करते हैं।[137] जब हम इस बात पर ग़ौर करते हैं कि महादेवन उन विद्वानों में आते हैं जो हड़प्पा सभ्यता को अनार्य सभ्यता मानते हैं, और उक्त निबन्ध में भी इस मान्यता का औचित्य खींच-तान कर सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, तो यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि पुरातात्विक अवशेष भी बद्ध-मूल धारणाओं के निराकरण के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

महादेवन के निबन्ध से जो बात स्पष्ट हो कर आती है वह यह कि सोम ने हड़प्पा सभ्यता के दौरान या सम्भवतः इससे कुछ पहले से ही एक आध्यात्मिक अर्थ पा लिया था और इसका अनुष्ठानों और यज्ञविधानों में लाक्षणिक रूप में उपयोग होने लगा था। यदि वैदिक सोमयागों और अनुष्ठानों के पात्र, सोम के साथ जुड़े आशय आदि सभी की पुष्टि हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से होती है और यदि हड़प्पा की मुहरों पर अंकित एकशृंग वृषभ का अर्थ सोम है, तो इससे हम बिना किसी उलझन के दो निष्कर्ष निकाल सकते हैं : पहला यह कि हड़प्पा सभ्यता में यज्ञ-विधान बहुत व्यापक रूप में प्रचलित था और इस मामले में यह रुद्र शिव की पूजा से कई गुना अधिक व्यापक था, और दूसरा यह कि हड़प्पा की मुहरों पर अंकित वृषभ आदि की अन्य प्रतिकृतियाँ भी वैदिक देवों की ही लाक्षणिक अभिव्यक्तियाँ हैं। इस तरह धर्म, विश्वास, दर्शन और मृद्भाण्डों की दृष्टि से हड़प्पा सभ्यता निरपवाद रूप से वैदिक सभ्यता सिद्ध होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि एकशृंग वृषभ के ऊपर चित्रित चिह्न, उसके सामने रखे पात्रों और आधारों के साथ एक लाक्षणिकता जुड़ी हुई है, पर यह केवल यहीं तक सीमित नहीं है। मार्शल ने बहुत पहले इस बात की ओर संकेत किया था कि रुद्र शिव के सिर पर सींग-नुमा बने चिह्न का भी एक पवित्र लाक्षणिक अर्थ है। यह किसी पशु का सींग नहीं है। यही भिन्न अनुपातों में आराधकों के सिर पर तथा

अन्य प्रतिकृतियों के सिर पर भी पाया जाता है जिनको रुद्र शिव नहीं माना जा सकता।[138] डॉ. अग्रवाल ने, जैसा कि हम पीछे देख आये हैं, एकशृंग वृषभ के सम्मुख रखे पात्रों को सोम से सम्बन्धित माना था, यद्यपि उतने युक्तिपूर्ण ढंग से नहीं जितने युक्तिपूर्ण ढंग से महादेवन ने।

सोम-लता की पहचान में विद्वानों को प्रायः उलझन महसूस होती रही है। इसका एक कारण यह है कि पर्वत से इसके सम्बन्ध को शब्दशः ग्रहण करने के कारण इसे एक वन्य पौधा मान लिया गया और फिर इसी दृष्टि से अटकल लगाये जाते रहे जिन्हें बढ़ाने में बाद के कालों में प्रचलित भ्रमों ने भी मदद की। हमने अन्यत्र इस पहलू पर विचार करते हुए यह सुझाया है कि सोम गन्ना था।[139] यहाँ केवल इस बात की ओर ध्यान दिलाना ही काफ़ी है कि ऋग्वैदिक विवरणों के अनुसार सोम की खेती की जाती थी[140], कि इस पौधे में फल नहीं लगता था, अतः किसान इसके डंठल को ही काट कर इसे लगाते या इसकी बोआई करते थे।[141] यदि इसके साथ इस बात पर भी ध्यान दें कि इसे सीधे दाँत से भी चूसा जाता था[142], कि इसका रस इसके डंठल के भीतर भरा रहता था और यह सर्वाधिक मीठा होता था[143] और इसमें रस इतना प्रचुर होता था कि दबाने पर इससे रस की धार फूट निकलती थी[144], और इक्षु आदि को भी लता कहा जाता था[145], और सोम-लता में भी गन्ने की तरह पोरियाँ और गाँठें हुआ करती थी[146], तो यह समझना कठिन नहीं रह जायेगा कि सोम-लता इक्षु-लता या गन्ना ही थी। इसके साथ ही यह उल्लेख करना भी ज़रूरी है कि जहाँ वैदिक परम्परा के अनुसार सोम पहले स्वर्ग में था और वहाँ से धरती पर लाया गया था, वहाँ दक्षिण भारत की संगम परम्परा के अनुसार गन्ना वहाँ स्वर्ग से लाया गया था।

पाषाणी काल में कुछ मनस्वी व्यक्तियों को किशिल से फूटने वाली जिस चिनगारी का दर्शन हुआ था और आग का आविष्कार होने के बाद जिसकी व्याप्ति धरती से ले कर आकाश तक की हर वस्तु में दिखायी देने लगी थी उसने इस बात का तो अहसास कराया था कि समस्त सृष्टि के भीतर एक सत्ता गूढ़ रूप में विद्यमान है जिसका उद्घाटन विभिन्न रूपों में होता रहता है और इससे इस विचार को बल मिला था कि सृष्टि का कोई एक ही मूल कारण है, पर एक ही तत्व से इस नाना रूप जगत की रचना कैसे हुई हो सकती है, यह समझ में नहीं आ रहा था। गन्ने के रस से गुड़ पकाते समय किसी चरण में इस रहस्य का एक समाधान सामने आया, अर्थात् आरम्भ में समस्त सृष्टि जलमय थी। यह जल सामान्य जल न हो कर सार-गर्भित या हिरण्य-गर्भित और तेज, गर्भित था और इसी में समस्त ब्रह्मांड अव्यक्त रूप में विद्वान था।[147] इसे एक चेतना-सम्पन्न आदि-जल या सोम के रूप में कल्पित किया गया। गुड़ पकाते समय भरे हुए कड़ाह का रस खौलने पर भाप (जल और वायु दोनों की सर्जना का आभास देने के लिए पर्याप्त) ऊपर उठती है

और क्रमशः गुड़ फेन का रूप लेता है और फिर और तपाने पर गाढ़ा हो जाता है, जैसे गीली मिट्टी। कुछ और तपाने पर यह सूखी मिट्टी की तरह कठोर हो जाता है और इसे असावधानीवश कुछ और गर्म किया जाये, जो आरम्भिक चरण में प्रयोग करते समय जान-बूझकर भी किया गया होगा, तो सूख कर यह चट्टान की तरह सख्त हो जाता है। कड़ाहा क्रमशः ऊपर खाली (शून्य या आकाश) हो जाता है। इस तरह इस आदि सोमवत सार-गर्भित और तेज-गर्भित तत्व से ही धरती, आकाश, वायु और तेज या अग्नि आदि सभी तत्वों का सृजन सम्भव था। इस कल्पना ने सोम को सृष्टि का बीज कारण बना दिया और इसी से इन्द्र, अग्नि, आदि सभी तत्वों की उत्पत्ति मानी जाने लगी।[149] प्रजापति द्रोणकलश (गुड़ पकाने का कड़ाहा) है, यह मान्यता इसी सूझ की देन है।[150]

सोम अब मात्र गन्ना नहीं रह गया और इसको समस्त जलों का प्रतिरूप, समस्त जगत का राजा मान लिया जाता है।[151] इसका मूल निवास जल की तरह द्युलोक मान लिया जाता है[152] और इसको चन्द्रमा से अभिन्न मान लिया जाता है।[153] अपनी ऊँचाई और रस की मधुरता के लिए यह ओषधियों का राजा तो पहले से था ही[154], इसके सादृश्य पर चन्द्रमा भी औषधियों का राजा बन जाता है। इस तरह यह एक ऐसी विराटता ग्रहण कर लेता है जो कुछ मामलों में अग्नि का भी अतिक्रमण कर जाती है और साथ ही इसमें अग्नि के कुछ गुण, जैसे ज्ञान, भास्वरता आदि आ जाते हैं।[155]

जल मात्र से इसकी अभिन्नता इसे समस्त जल-स्रोतों से जोड़ देती है।[156] जिन किंशिलों को शिव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था उनको नदियाँ अपनी धाराओं के साथ बहा कर लाती थीं और इनका उद्गम भी उत्तर का वही पहाड़ था, जिससे ये पत्थर निकल कर आते थे, अतः जहाँ तक इस धरती का प्रश्न है, रुद्र और सोम दोनों का निवास उत्तर का हिमालय पर्वत हो जाता है[157], हिमालय की चोटियों पर जमी बर्फ की तरह रुद्र या शिव के भी शिखर पर सोम को चन्द्रमा के रूप में प्रतिष्ठित मान लिया जाता है। सोम या गन्ने का रंग ब्रध्रु[158] या भूरा, लाल[159] आदि तो होता ही है, इसकी पत्तियाँ हरी होती हैं और इसकी कुछ नस्लों का रंग भी कुछ हरियाली लिये होता है। पहले दोनों रंगों का साम्य तो किंशिलों में भी पाया जाता है, पर रोचक बात यह है कि उसका पर्याय हरि[160] शिव और अन्य दैवी अवतारों का सबसे लोकप्रिय पर्याय बन जाता है। गन्ने के छिलके के ऊपर कार्बन की एक काली-सी परत जम जाती है और सम्भवतः इसके प्रति आदर-भाव ने ही शैवों को सर्वप्रथम अपने शरीर पर विभूति लपेटने को प्रेरित किया, यद्यपि इसके दूसरे कारण भी सुझाये जा सकते हैं। गन्ने के मोटा होने के साथ-साथ इसकी पत्तियाँ सूख कर अपने आप उतरती जाती हैं और चमकता हुआ डण्ठल खुलता जाता है, मानो कोई साँप अपनी केंचुल उतार रहा हो।[161] साँप से गन्ने के इस

साम्य ने ही सम्भवत: शिव के शरीर पर लिपटे साँपों का रूप लिया हो। इस तरह हम देखते हैं कि रुद्र—शिव और सोम के बीच अनेक व्याजों से गहरा सम्बन्ध कायम किया गया है। सोम की तुलना प्राय: वृषभ से की गयी है और उसे नन्दी कहा गया है, यही नन्दी शिव का वाहन बन जाता है और प्राय: इसकी स्वतन्त्र रूप में पूजा की जाती है। इस अभिन्न सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए यह सोचना ग़लत नहीं लगता कि सोम का रस निकालने के लिए प्रयुक्त यन्त्र का भी सम्बन्ध शिव से जुड़ गया हो और जिस प्रतीक को शिवलिंग माना जाता है वह सोम-यन्त्र का ही लघु रूप हो।

सोम-रस निकालने की ठीक विधि क्या थी, इस विषय में विद्वान बहुत उलझन में दिखाई देते हैं।[162] जहाँ सोम का ही निश्चय न हो पा रहा हो वहाँ रस निकालने की विधि और इसके लिए प्रयुक्त यन्त्र या युक्तियों के विषय में अनिश्चय होना स्वाभाविक ही है। पर सोम की पहचान गन्ने के रूप में कर लेने के बाद इसके लिए प्रयुक्त विधि और यन्त्रों को समझने में कुछ सुविधा हो जाती है। पहली बात यह है कि सोम का रस पेर कर निकाला जाता था, न कि कूट और छान कर। इसके लिए बार-बार हिन्वन् का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ भाष्यकारों ने प्रेरण अर्थात् पेरना किया है।[163] सोम का रस निकालने से पहले इसके छोटे-छोटे टुकड़े कर लिये जाते थे, जिनके लिए अंशु[164] शब्द का प्रयोग हुआ है। जब तब इन टुकड़ों को और भी छोटी गेड़ियों में काटा जाता था और इनके लिए ही उपांशु शब्द का प्रयोग हुआ लगता है। अंशु को सूर्य-रश्मियों का द्योतक मान लेने और बहुत पहले ही सोम का सम्बन्ध द्युलोक से जुड़ जाने के कारण, अंशु और उपांशु दोनों शब्दों का अर्थ करने में व्याख्याकारों को उलझन होती रही है[165] काठक संहिता (27.2.9) में उपांशु को शृंग की उपमा दी गयी है—शृंगं उपांशु...यत् शृंगं धयति यत् एतौ पूर्वार्ध यज्ञस्य क्रियेते—जिससे लगता है, गन्ने के ऊपरी सिरे को जिसमें रस बहुत अधिक मीठा नहीं होता, उपांशु कहते रहे हैं। जो भी हो, ब्राह्मणों आदि में विभिन्न उपखण्डों में सोम को कर्मकाण्डीय तकाज़ों से काटने के उल्लेख मिलते हैं जिनको एगलिंग ने बार-बार दबाने या कुचलने के अर्थ में ग्रहण किया है जो ठीक नहीं लगता।[166] मैकडनेल और कीथ ने अंशु को अंकुर माना है[167] और एगलिंग इसका अनुवाद स्प्रिंग या फुनगी करते हैं[168], पर ये दोनों वास्तविकता से दूर हैं। सोम की फुनगी को या अंकुर को दबाने का कहीं उल्लेख नहीं आता। इसका तना ही रस का स्रोत था। वैदिक इंडेक्स के अनुसार, "इसके अंकुर को अंशु जब कि समस्त पौधे को 'अंधस्' कहा गया है, जो कि इसके रस का भी द्योतक है। पर्व इसका तना है। इसके अंकुर की उपाधि के रूप में 'क्षिप'(उँगली—का प्रयोग किया गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि अंकुर का आकार उँगली

जैसा ही रहा होगा। 'वक्षणा' और 'वाण' से भी अंकुर का ही आशय प्रतीत होता है।[169] वास्तविकता यह है कि सोम या गन्ने को पेरने के लिए पहले इसके टुकड़े किये जाते थे और इन टुकड़ों की लम्बाई के कारण इनको क्षिप, वक्षणा, वाण आदि कहा गया है और कभी-कभी इनको ऊध या स्तन कहा गया है और सोम रस के इन टुकड़ों से निकलने की तुलना दुहते समय निकलने वाले रस या दूध से की गयी है।[170]

रस निकालने के लिए लकड़ी की ओखली और ग्रावन या मुसल का और पत्थर के बड़े आकार के खरल (दृषद्) का और ग्रावन (उपल) का प्रचलन था। अधिषवण फलक सम्भवतः वह पटरा या ठीहा था जिस पर गन्ने को रख कर काटा जाता था या, कहें, पोरियाँ बनायी जाती थीं। सोम रस निकालने के लिए प्रयुक्त उलूखल अनाज कूटने की ओखली जैसी न होकर तेल पेरने के देशी कोल्हू जैसी थी। यह गूलर की लकड़ी की बनायी जाती थी। ग्रावन के लिए सम्भवतः पलाश की लकड़ी अधिक उपयुक्त मानी जाती थी।[171] ग्रावन का नीचे का सिरा कुछ मोटा होता था जिसके कारण इसे पृथुबुध्न भी कहा गया है, और यह ओखली के गर्त में ऊर्ध्वाधर खड़ा रहता था। इसके ऊपरी सिरे पर एक टोपाकार लकड़ी का डंडा लगा होता था जिसका ऊपरी सिरा बकुल या कुबड़ी की मूठ की तरह होता था जिसमें बना टोप या कलछी के आकार वाला हिस्सा ग्रावन के ऊपरी नोक को दबाता था और इसका नीचे का डंडा एक पटरे से आकर जुड़ता था। इस पटरे का वही सिरा ओखली के मध्यभाग को आधा घेर कर रखता था। इसका कटाव जाहिर है, अर्ध-वृत्ताकार होने के कारण यह ओखली के मध्य में बने खाँच या दबे हुए घेरे पर जुड़ जाता था। ऊपर से आये डंडे से ही जुड़ी रस्सियाँ पटरे के दूसरे सिरे को ऊपर की ओर तानती हुई इसे जमीन के समानान्तर उठाये रखती थीं। इस पटरे को ही सम्भवतः उपसद कहा जाता था और सम्भवतः इस पर कोई आदमी बैठ जाता था या भार रख दिया जाता था जिसके दबाव से ग्रावन ओखली के गर्त पर दबाव डालता था और जब यह पटरा रस्सियों के सहारे खींचा जाता था तो इस तरह ओखली के चारों ओर परिक्रमा करता था और ग्रावन इस तरह कुछ तिरछा होकर सोम की गिल्लियों को ओखली के पार्श्वभाग के साथ दबाता था और रस बाहर आता था। कहें, पूरी प्रक्रिया तेल पेरने के समान थी।[172] ओखली या धिषणा के गर्भ से एक तिरछी नाली रस के बाहर निकलने के लिए बनी रहती थी। इस नाली के रास्ते ऋजीष या सोम के खोइये को रोकने के लिए सम्भवतः एक छलनी लगी रहती थी जिसे बहिःपवित्र कहते थे। अब यह रस सोम कलश या पात्र में आकर गिरता था जिसके ऊपर भी एक छलनी रहती थी। यह छलनी सम्भवतः मिट्टी का एक पात्र था जिसमें बहुत से छेद बने होते थे और इसके भीतर रस को पूरी तरह शुद्ध करने के लिए भेड़ के बाल रखे होते थे। इस

तरह पूरी तरह शुद्ध होकर पवित्र के छेदों से निकलने के कारण सोम को सहसधार कहा गया है। निकलता हुआ रस धार के साथ नीचे आता था और कलश में गिरते हुए इससे आवाज़ पैदा होती थी। सोम रस निकालने के यन्त्र, जिसे कोल्हू कहना अधिक उपयुक्त होगा, से इसके कटि भाग से रगड़ खाकर चलते हुए पटरे से और भीतर घूमते ग्रावन से भी चरमराहट की आवाज़ होती थी जिसे ही सम्भवत: राक्षसी प्रभाव को दूर करने वाला माना गया है। धिषणा या नीचे के फलक में छेद बने होने के कारण इसे तृदिल अर्थात् छिद्रित और ऊपर के ग्रावन में ऐसा कोई छेद न होने के कारण इसे अतृदिल कहा गया है, जिसे कुछ विद्वान सोमसवन के पटरों में बना छेद मानते हैं और इसका प्रयोजन यह बताते हैं कि इनसे दोनों पटरों को बाँधा जाता था, पर फिर मुसीबत में पड़ जाते हैं कि आख़िर दूसरे पटरे में छेद हुए बिना ये बँधते कैसे रहे होंगे।[173] सम्भवत: सोम रस निकलने के लिए बनी नाली से सोम रस निकलने का साम्य इन्द्र के अपनी माँ के गर्भ से तिरछा हो कर निकलने से दिया गया है,[174] पर महादेवन इसे शतपवित्र के छेदों से तिरछी होकर निकलने वाली बूँद मान लेते हैं, जो ठीक नहीं लगता। कहीं-कहीं धिषणा का प्रयोग द्विवचन में हुआ है और धिषणा या यहाँ नीचे की ओखली और प्रवर्ग्य या ऊपर के कुबड़ीनुमा डंडे के गर्त के लिए यह प्रयोग हुआ है[175], जिसमें से एक को धरती और दूसरे को आकाश का द्योतक माना गया है[176] और सोमदंड या ग्रावन को जो प्रतीक रूप में चषाल या यज्ञयूप के रूप में स्थापित किया जाता था, दिवस्कम्भ या आकाश को सहारा देने वाला खम्भा बताया गया है।[177] ब्राह्मणों के विवरणों में जब यूप से यज्ञ के रस को निकाल कर देवताओं के स्वर्ग चले जाने के हवाले आते हैं तो उसकी प्रेरणा इस सोमदण्ड से ही मिली लगती है।[178] इसी तरह जब यज्ञ में प्राय: यज्ञ के सिर आदि की बात की जाती है तो आशय प्रवर्ग्य या ऊपर के बकुलाकार दाब से रहता है।[179] यज्ञ का सिर काटने का प्रतीकात्मक अर्थ है प्रवर्ग्य को ग्रावन से अलग करना। सोम यन्त्र के चारों ओर की परिक्रमा के कारण यूप या ग्रावन के वृत्ताकार घूमने के कारण ही शायद एक स्थान पर इसे रघुवर्त्म या छोटे घेरे में घूमने वाला कहा गया है।[180] इसके बावजूद न तो ओखली अपने स्थान से हटती है, न ही ग्रावन का निचला पृथुबुध्न सिरा, जिसके कारण इन दोनों को स्थिर बताया गया है।[181] सोम यन्त्र के चारों ओर परिक्रमा से ही देवताओं और इनके मन्दिरों की परिक्रमा या प्रदक्षिणा का चलन आरम्भ हुआ लगता है। उपसद आदि को भी कर्मकाण्ड के तकाज़ों से आगे काफ़ी भिन्न अर्थ दे दिया गया लगता है।

पहली पेराई में निकलने वाले सोम को ही शुक्र[182] सोम या शुचि[183] सोम या कहें, शुद्ध सोम रस कहते थे। यह अग्नि का भाग था—गुड़ आदि पकाने के लिए सबसे उपयुक्त यही था। रस निकलना कम हो जाने के बाद इसमें पानी के छींटे

दिये जाते थे और इस क्रिया को आप्यायन[184] कहा जाता था और इसके बाद निकले रस को अप्तुर[185] या जल मिश्रित सोम। यही दूसरा सवन था जिसे इन्द्र का भाग माना गया है। और छींटे देने का यह काम अन्त तक पूरा रस निकलने तक जारी रहता था। तीसरे सवन तक आकर मिठास लगभग ख़त्म-सी हो जाती थी।[186] वैदिक कालीन सेवक वर्ग को अपने हिस्से में यही रस मिलता था।[187]

इस जटिल तरीके के अलावा पत्थर के यन्त्र से सोम रस निकालने का एक अन्य तरीका भी था जिसमें दृषद् या नीचे का पत्थर और उपल या ग्रावन दोनों का आकार छोटा होता था और ग्रावन को हाथ से घुमाया जाता था। छोटे पैमाने पर रस निकालनेका यह सुगम तरीका था और इसे हस्तच्युत या अन्जसुत सोम कहा गया है।[188]इस यन्त्र की बनावट ठीक वही थी जो शिव प्रतीक की है जिसे शिवलिंग कहा जाता है। यह वस्तुतः ग्रावन की पूजा है। इसमें रस निकलने की नाली एक ओर को आगे को निकली होती थी जैसा कि सोमनाथ या शिवलिंग के साथ देखने में आता है। लगता है नशे के शौकीन लोग गन्ने के साथ भाँग की पत्ती या धतूरे का फल भी इसमें डाल देते थे[189] जिससे निकला हुआ रस बहुत मादक और कभी-कभी विषाक्त तक हो जाता था और इससे वमन[190], विषूची[191], आदि उपद्रवों की सम्भावना पैदा हो जाती। सोम हिंसा न करें, विषूची और यक्ष्मा आदि से मुक्त रखें यह अनुरोध सम्भवतः इस कारण ही किया गया है। इन्द्र को सम्भवतः ऐसा ही विषाक्त रस विश्वरूपा के वध के बाद बदले की भावना से पिलाया गया था।[192]

सोम रस निकालने के लिए पत्थर का यह उपकरण —दृषद् और उपल— अधिक उपयोगी पाया गया और लोहे के बेलनों वाले कोल्हू के आरम्भ से पहले यही गन्ने का रस निकालने के लिए प्रयोग में आता था, जिसके दृषद् या अधोभाग को आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ गाँवों में उपेक्षित पड़ा देखा जा सकताहै।[193] इस यन्त्र की बनावट शिव प्रतीक से इतनी मिलती-जुलती है कि यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि यह मुख्यतः सोम पूजा से सम्बन्धित था जो रुद्र के साथ सोम के अभिन्न सम्बन्ध के कारण इसको सोमनाथ या शिव के रूप में पूजा जाने लगा। शिव को गन्ने कीपोरियाँ, भाँग, धतूरा आदि चढ़ाने के पीछे भी सोम का ही हाथ दिखायी देता है।

6

हड़प्पा सभ्यता में शिव और सोम

हड़प्पा सभ्यता में सोम और शिव दोनों का प्रचलन था और सोम का महत्त्व

शिव की तुलना में कुछ अधिक दिखायी देता है, पर उक्त काल में भी दोनों के बीच निकट सम्बन्ध था। जैसा कि हम कह आये हैं, मार्शल ने सिन्ध घाटी में प्रचलित धर्म पर विचार करते हुए रुद्र शिव के विषय में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि इनके माथे पर लगा सींग किसी पवित्र प्रतीक का द्योतक है और यही अनेक दूसरे सन्दर्भों में भी मिलता है,अतः इसका अनिवार्य सम्बन्ध शिव से ही नहीं है।[194] यह एक महत्त्वपूर्ण संकेत है और यदि इसका सम्बन्ध अनिवार्यतः शिव से नहीं है और यह सींग के रूप में दिखाये जाने के बावजूद सींग से भिन्न कोई चीज है, तो वह चीज कौन-सी है जिसे यह व्यक्त करता है? यह वस्तुतः सोम या गन्ने का पौधा है जिसे गाँठों के साथ, पर एक युग्म के रूप में कुछ शैलीबद्ध रूप में प्रकट किया गया है जिससे यह सींग होने का भी भ्रम पैदा करता है और यही सोम आगे चलकर रुद्र को चन्द्रभाल या इंदुशेखर बनाता है। शिव के सिर पर द्वितीया का चाँद ही क्यों दिखाया जाता है, इसका कारण भी यह साम्य ही है। पूर्णचन्द्र अपने मूल संकेत, सोम या गन्ने को प्रकट नहीं कर सकता। यह सोम ही, जैसा कि मार्शल ने सुझाया है, कुछ आराधकों के सिर पर भी विराजमान दिखाया गया है। एक मामले में व्याघ्र के सिर पर इस भृंग को सोम का ही प्रतिरूप माना जा सकता है, क्योंकि सोम की तुलना सिंह से भी की गयी है और व्याघ्र का आदर-सूचक नाम भी पहले सिंह था।

परन्तु सोम का सबसे ओजस्वी रूप एकशृंग वृषभ है जिसके सींग को भी सोमलता के रूप में ही दिखाया गया है और जिसके आगे के खाद्य-पदार्थ और इसके प्रस्तुतीकरण,की विधि का सोम से गहरा सम्बन्ध है,यद्यपि इस विषय में सन्देह है कि यह सोम छानने के दो पवित्रों का सूचक है। जो भी हो, चूँकि सोमयन्त्र से बाहर को निकलते रस या बहिः पवमान सोम को यन्त्र के साथ लगी किसी युक्ति से जिसे बहिःपवित्र कहा गया है, साफ़ करने और पुनः इसे दशापवित्र या शतछिद्र छलनी से जो कलश के ऊपर होती थी साफ़ करने का उल्लेख पाया जाता है और इसलिए महादेवन का यह सुझाव संगत लगना है कि सोम रस को छानने के दो चरण थे, पर इसको जिस तरह प्रतीकांकित किया गया है उसका अपने मूल से दूर का ही सम्बन्ध हो सकता है।

रुद्र की उपासना का एक रूप उन पत्थरों में पाया जा सकता है जो शिव के रूप में आज तक पूजे जाते हैं, पर जिन्हें कलाकारों ने इस सभ्यता के अनुरूप ही गढ़ कर सुघड़ बनाया है और जो एक साथ किंशिल या वटिकाश्म के रूप में आदि शिव को और ग्रावन के रूप में सोम यन्त्र के एक प्रधान अंग को प्रकट करता है। इस ग्रावन की तुलना शिश्न से करने के कारण ही इसे यदा-कदा शिश्न रूप में भी गढ़ा गया है।

रुद्र की मान्य प्रतिकृति के कुछ पहलू वैदिक परम्परा के सहारे ही समझे जा सकते हैं। यथा, शिव के वक्ष का वर्म जिसके कारण यजु. 16. 35 आदि में उन्हें वर्मी, कवची आदि कहा गया है। उनके तीन मुख जो एतरेय ब्राह्मण की उस कथा की याद दिलाते हैं जिसके अनुसार रुद्र के व्यक्तित्व का निर्माण कुछ अन्य देवों के मन्यु या क्रोध को, उनके भूततत्वों को लेकर किया गया था और जिसके कारण उन्हें भूतनाथ की संज्ञा मिली। उनके पशुपति होने के विषय में जो स्पष्टीकरण ऐतरेय ब्राह्मण की उक्त कथा में है उसको और प्रजापति के उषा के साथ हिरन बन कर सहवास करने और इनका वध रुद्र द्वारा किये जाने की कथा एक रूपकीय आख्यान है इसमें संदेह नहीं, पर ऐसा लगता है कि इस कथा का प्रचलन हड़प्पा काल में भी था। अन्यथा हिरनों के एक जोड़े को ही रुद्र के आसनपीठ के नीचे दिखाये जाने का तर्क समझ में नहीं आता। इसी तरह मरुद्गणों को, जो रुद्र के पुत्र हैं, खादिहस्त[196] बताया गया है जो रुद्र के हाथ के आभूषणों के स्पष्टीकरण की दृष्टि से सार्थकता रखता है।

7
यज्ञ और पूजा

जब तक कालीबंगां और लोथल आदि से यज्ञ-कुण्डों का उद्घाटन नहीं हुआ था तब तक इस तर्क का कोई अर्थ था कि वैदिक आर्य यज्ञ करते थे और हड़प्पा सभ्यता में यज्ञ प्रचलित नहीं था और उनकी उपासना की पद्धति पूजा की थी जिसे आर्यों ने शताब्दियों बाद ग्रहण किया। पर इन यज्ञ-कुण्डों के उद्घाटन के बाद और इनसे वैदिक यज्ञ-पद्धति और यज्ञ के उपकरणों की पुष्टि होने के बाद[197] तो इस विषय में किसी तरह की आशंका होनी ही नहीं चाहिए।

फिर भी केवल तर्क के लिए ही हम इस बात पर विचार कर सकते हैं कि क्या वैदिक समाज में प्राचीन काल से ही पूजा का, और विशेष रूप से वृक्षों और पशुओं आदि की पूजा का, चलन था या नहीं?

कर्मकाण्डीय यज्ञ के प्रचलन से पहले देवताओं की आराधना की एक ही विधि थी और वह थी पूजा। यदि हम इस बात की परिभाषा करने चलें कि पूजा क्या है तो हमें कुछ कठिनाई होगी। पर मोटे तौर हर यह कहा जा सकता है कि देवता के प्रति नमन, ध्यान, गंध, फूल और फल आदि से देवता की तुष्टि और इस तुष्टि के फलस्वरूप इच्छित फल की प्राप्ति या कामना की सिद्धि—भले यह कामना भौतिक लाभ की हो या मानसिक शांति की या पारलौकिक सुख की—और देवता की प्रतिमा या देवस्थान की प्रदक्षिणा आदि में से कुछ या सभी तत्वों को पूजा के

अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है। एक शब्द में कहें तो, पूजा आराध्य देव के सम्मुख समर्पण, उसका गुणगान और इसके द्वारा इच्छित फल की सिद्धि है।

वैदिक साहित्य याजिकीय विधान और कर्मकाण्ड का साहित्य है और यह अपने समय में प्रचलित अन्य उपासना पद्धतियों और रीतियों पर प्रासंगिक रूप में ही प्रकाश डालता है। इसने पूजा के तत्वों को अपने भीतर आत्मसात कर रखा है। आराध्य के प्रति नमस्कार[198], उसका ध्यान[199], उसका गुण-कथन या प्रशस्ति[200], उसकी तृप्ति के लिए अर्घ्य, पाद्य और भोज्य पदार्थों का अर्पण[201], इसके भी अंभूत हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो, वैदिक यज्ञ-विधान में भी देवता को सभी मानवीय गुणों, रूपों-आकारों, इच्छाओं और शक्तियों से उसी तरह युक्त माना गया है जैसे मूर्ति-पूजा में माना जाता है, और इसलिए यह सोचना ग़लत नहीं होगा कि देवताओं का मानवीकरण और यदा-कदा मनुष्यों का देवीकरण, जैसा कि पितरों और प्राचीन ऋषियों के मामले में देखने में आता है, करने वाले इनकी प्रतिमाएँ भी गढ़ते रहे होंगे। प्रतिमा रूप की कल्पना और प्रतिष्ठा से भिन्न क्या है? और इस तरह की कल्पना और प्रतिष्ठा के संकेत वैदिक विधानों में प्रायः पाये जाते हैं।[202] जहाँ देवताओं को बुलाया जा रहा है और उन्हें अपने स्थान पर बैठने को कहा जाता है वहाँ निश्चय ही उनकी आकृति, प्रतीक रूप में ही सही, गढ़कर उसे विहित स्थान पर रखा अवश्य जाता रहा होगा।

अतः यह कहना ग़लत नहीं होगा कि मूर्तिपूजा और यज्ञ-विधान में तात्विक असंगति नहीं है और आगे के कालों में इनका अलगाव उस विशाखन की देन है जिसमें भौतिक यज्ञ को मानसिक यज्ञ और योगसाधना में बदल कर यज्ञ के समानान्तर एक नये सम्प्रदाय को जन्म देता है और मूर्तिपूजा अलग होकर यज्ञ को अनुसंगी बनाकर चलती है।

प्रकारान्तर से कहें तो, अपने क्रमिक विकास में पूजा और ध्यान व्यक्तिगत आराधना के अंग बन जाते हैं और यज्ञ सार्वजनिक अवसरों और विशेष पर्वों के लिए सुरक्षित रह जाता है। यह स्थिति वैदिक काल में भी थी। यज्ञ रोज़ नहीं किये जाते थे, जब कि पूजा सम्भवतः धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों और पुरोहितों आदि के लिए नियमित-सी चीज़ थी। इसकी पुष्टि भी ऋग्वेद से ही होती है, जिसमें ऋषियों के सन्दर्भ में स्तुति और मनुष्यों— सामान्य गृहस्थों— के सन्दर्भ में यज्ञ का उल्लेख आया है।[203] इसके अतिरिक्त एक स्थल पर दस गो (दस सेर अनाज) पर इन्द्र (इन्द्र की प्रतिमा) बेचने का भी एक हवाला आया है।[204]

अतः यह सोचना युक्तिसंगत नहीं लगता कि वैदिक काल में मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं था। जैसा कि हम शिव और काली के स्थानों के विषय में चर्चा करते हुए देख आये हैं, मन्दिरों का निर्माण बहुत बाद में आरम्भ हुआ। इनसे पहले पेड़ों के नीचे ही देवी या देवता की वेदी बनाकर उस देवी या देवता का निवास कल्पित

लिया जाता था और इनकी भी पूजा नियमित रूप से न होकर विशेष अवसरों पर ही होती थी, जैसे फ़सल की कटाई या नये अन्न का ग्रहण (नवान्न) या किसी हारी-बीमारी के आने पर। सम्भवतः विवाह आदि के अवसर पर भी इन स्थानों की परिक्रमा आदि कर ली जाती थी जो आज भी की जाती है। इन्हीं वेदियों पर सम्भवतः देबी की प्रतिमा या उनका वाहन भी स्थापित कर दिया जाता था। कृषि-क्रान्ति के साथ नये देवताओं का उद्भव होने के साथ प्राचीन यज्ञ-विधान ने, जो सम्भवतः देवस्थान पर वलि-पशु को काटने और देवता को भोग अर्पित करने के बाद स्वतः खाने तक सीमित था, एक आडम्बरपूर्ण रूप ले लिया और इनमें प्रधान हवि कृषि-उत्पाद और दूध-घी आदि हो गये, यद्यपि पुराने चलन के अनुसार पशुओं की वलि भी चलती रही। अन्तर यह भी था कि पहले वलि-पशु आखेट में पकड़ा हुआ पशु होता था जिसे पकड़ने में देवकृपा का भी हाथ माना जाता था, पर अब पशुचारण काल से ही पालतू पशु हो गया था, जिसकी वृद्धि में देवता की कृपा को सहायक माना जाता था।

अब यदि हम उन वृक्षों पर दृष्टि डालें जिनकी पूजा होती रही है या जिन्हें असाधारण महत्व दिया जाता रहा है और इनके महत्व के पीछे छिपे कारणों पर विचार करें तो हमें पुनः इस बात के अकाट्य प्रमाण प्राप्त होते हैं कि हड़प्पा सभ्यता ही वैदिक सभ्यता है। हड़प्पा सभ्यता के भाण्डों पर जिन वृक्षों की पत्तियों के चिह्न हैं उनमें प्रमुख हैं पीपल, गूलर और पलाश। इन्हीं का महत्व वैदिक परम्परा में भी है, पर जहाँ हड़प्पा के अवशेष मूक हैं, वैदिक परम्परा में इनके महत्व की व्याख्या भी है। पीपल और शमी की लकड़ी को रगड़ कर आग पैदा की जाती थी और इनके अभाव में यही काम खदिर आदि से लिया जाता था। गूलर, पीपल और पलाश की लकड़ी के विविध उपकरण और पात्र बनाये जाते थे, जैसे ओखली, मुसल, कठौत, कलछी या दर्बी आदि। सोम-रस निकालने के यन्त्र में प्रयुक्त होने के कारण तो अश्वत्थ और पलाश को सोम का ही पर्याय मान लिया गया था; कारण, ये सोम-रस या सोम-लता के न सही, सोमयन्त्र के पर्याय तो थे ही। इस सूत्र की ओर ध्यान न देने पर इस बात को लेकर प्रायः उलझन होती है कि सोमलता जैसे पौधे का भला पीपल और पलाश से क्या सम्बन्ध हो सकता है। पलाश जिसका ग्रावन बनता था और जिसे ओखली की तुलना में अधिक सम्मान से याद किया जाता रहा है, सोमदण्ड होने के कारण संन्यासियों के लिए सबसे उपयुक्त माना जाने लगता है। इसकी लकड़ी के पीढ़े पर बैठना तो ब्रह्मपीठ पर बैठने जैसा हुआ। इसकी लकड़ी से पात्र बनाना तो उतना सरल नहीं था, पर इसकी पत्तियों को पात्र या पत्तल बनाने के लिए सबसे उययुक्त माना जाता रहा है। इस तरह हम पाते हैं कि सोम के प्रति वैदिकों की एकाग्र निष्ठा ने ही उन वृक्षों को भी अतिरिक्त सम्मान देने और इन्हें पूज्य बनाने में मदद की जिनके

कारण यह कहा जाता रहा है कि हड़प्पा सभ्यता में वृक्ष-पूजा का प्रचलन था और वैदिकों ने इसे उन्हीं से अपनाया।

सर्प की पूजा और सर्प को शिव के शरीर पर लपेटने के विषय में हम सोम के सन्दर्भ में विचार कर आये हैं। अन्य विभिन्न पशु किसी-न-किसी रूप में उन देवताओं के ही वाहन या उनके प्रतिरूप हैं—छाग अग्नि और पूषा का वाहन, भेष वरुण का, हिरनी मरुद्गणों की, गधा अश्विनों का, घोड़ा, व हाथी इन्द्र के, वृषभ रुद्र का वाहन।[205] रुद्र, अग्नि, सोम, ब्रह्मणस्पति आदि वृषभ के समान हैं। आकाश स्वतः वृषभ है, धरती गाय ; और सोम तो नन्दी बैल है ही।

वैदिक काल में गाय की पूजा की बात निराधार है। आर्थिक कारणों से और एक लम्बे आन्दोलन के बाद गो और गो-प्रजाति का वध और गोमांस-भक्षण पर प्रतिबन्ध लगाया गया था और इसके बावजूद यह ब्राह्मण-काल तक जारी रहा था, इसे अन्य विद्वान भी मानते हैं।[206]

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. आर. पी. चन्द, इंडो-आर्यन रेसेज, 1916, 148-49; मार्शल, मोहन-जोदड़ों ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन, 1931, 1, 49 और जागे; एर्नफल्स, मदर राइट इन इंडिया, 1941, 79-80; सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, "कंट्री-ब्यूशन फ्रॉम डिफ़रेंट लैंग्वेज ग्रुप्स", दि कल्चरल हैरिटेज ऑफ़ इंडिया, 1958, 1, 81, आदि।
2. बैशम, दि वंडर दैट वाज इंडिया, 1963, 24
3. कीथ, दि रिलिजन ऐंड फ़िलासफ़ी ऑफ़ दि वेद्ज ऐंड उपनिषद्ज, हाओसी 31, 145; बैशम, उप, 23; बटकृष्ण घोष, ओरिजिन ऑफ़ दि इंडो-आर्यन्स, दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ़ इंडिया, 1958, 1, 139, आदि।
4. चाटुर्ज्या, 1958, 81; भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, 1954, 3; मार्शल उप. 110
5. चाटुर्ज्या, 1958, 35-36; मार्शल, 1931, 1, 111, आदि।
6. ऋ. 10.146
7. मार्शल भी इसी की पुष्टि करते हैं। देखें, मार्शल, पूर्व, 1931, 1, 53-55
8. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, 1966, 34

9. ऋ. 10.135.1
10. वासुदेवशरण अग्रवाल, ऊपर, 1966, 48
11. ऋ. 4.58.3
12. वासुदेवशरण अग्रवाल, ऊपर, 1966, 44
13. देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय, लोकायत, 1965, भूमिका, 17
14. तु. करें, वही, 372 और आगे।
15. गौरिति पृथिव्या नमाधेयम्। नि. 2.5
16. वृषः वर्षिता अपाम्। नि 4.8; वृषभः प्रजां वर्षतीति वा अति बृहति रेत इति वा। तद् वृषकर्मणा। वर्षणाद् वृषभः···। नि. 9.22
17. नि. 1.1. इयं पृथिवीः वा अदितिः मही। शतब्रा. 6.5.1, 1-10; देखें, शातब्रा. 1.1.4 5; 5.3.1.4; 7.4.2.7; 7 तैब्रा. 1.7.6.7; कौब्रा. 7.6. आदि भी।
18. आदित्यः आदत्ते रसान...नि. 2.13; यदस्य दिवि तृतीयं तत् असौ आदित्यः। नि. 7.28; पर्जन्य आदित्यः। गोउपू. 4.3, आदि।
19. द्यौः मे पिता जनिता नाभिः अत्र बन्धुः मे माता पृथिवी मही इयम्।
उत्तानयोः चम्वोः योनिः अन्तः अत्र पिता दुहितुः गर्भं अधात्॥
ऋ. 1.164.33
उत्तानायां अजनयन् सुसूतं भुवद् अग्निः पुरुऽ पेशासु गर्भम्। ऋ. 2.10.3, आदि।
20. ऋ. 5.46.8; 7.34.22, आदि में इनकी मान्य देवियों के रूप में प्रतिष्ठा स्पष्ट है।
21. ऋ. 2.1.3-4
22. अग्नि को तो प्रायः अपां गर्भ कहा गया है, ऋ. 1.70.2; 2.35.13; 3.1. 12, आदि। इन्द्र के वर्षा के देवता होने के विषय में कोई सन्देह नहीं है। और सूर्य के उस रूप को ही इन्द्र की संज्ञा दी गयी है जो अपनी रश्मियों से जल को सोख कर और ऊपर खींच कर वर्षा करता है, 'रसान् रश्मिभिः आदाय वायुना-अयं गतः सह। वर्षति एप च यत् लोके तेन इन्द्र इति स स्मृतः।' बृहद्देवता, 1.68
23. युनक्तु सीरा वि युगं तनुध्वं कृते योनौ वपत इह बीजम्। ऋ. 10.101.3
24. ऋ. 5.9.3; 10.61.20; 184.3; शतब्रा. 9.5.1.15 के अनुसार अग्नि-मन्थन के लिए ऊपर की अरणी अश्वत्थ की और नीचे की शमी की होनी चाहिए। शमी गर्भ है। शतब्रा. 2.1.4.5
25. ऋ. 1.144.4
26. योषा वै वेदिः वृषा वेदः। शतब्रा. 1.9.2.29.1; 24

27. यौषा वाऽआपः। वृषाग्निः मिथुनेन एव एनं प्रजननेन समर्धयति अद्भिः वा इदं सर्वं आप्तम्। शतब्रा. 2.1.1.4
28. योनिः वै उत्तरवेदिः...शतब्रा. 7.3.1.28
29. औषधयः देवानां पत्न्यः। शतब्रा. 6.5.4.4
30. शतब्रा. 6.6.2.15; 6.6.1.23
31. शतब्रा. 7.1.1.37
32. शतब्रा. 7.1.1.41; 44; 6.2.2.27
33. शतब्रा. 6.4.3.6
34. शतब्रा. 6.4.2.6
35. शतब्रा. 6.3.1.27
36. शतब्रा. 6.3.1.32
37. शतब्रा. 1.5.2.11; 14; बृह. उप. 6.2.13
38. शतब्रा. 7.5.1.38
39. शतब्रा. 2.3.1.23; ऋ. 10.10.9, आदि। अतः स्त्री और पुरुष केवल सन्तान के लिए ही मैथुन नहीं करते, अपितु यज्ञ का लाभ उठाने के लिए भी मिथुन रूप में (एक साथ गाँठ जोड़ कर या, कहें, प्रतीकात्मक रूप में युगनद्ध होकर)बैठते हैं। ऋ. 1.83.3; 131.3; 144.4; 159.4; 173.2, आदि में इस द्वन्द्व या मैथुन को जिस व्यापक पैमाने पर कल्पित किया गया है उसका एक आयाम दिक् के स्तर पर द्यावा-पृथिवी का युग्म या मिथुन है और दूसरा काल के स्तर पर रात और दिन का (ऋ. 1.164.11), जिसका सबसे रोचक और मनमौजी विवरण यम-यमी संवाद है।
40. ऐन्द्राग्नेन यजति अमावस्यायां ते द्वे देवते, द्वे वै मिथुनं, मिथुनं एव एतत् प्रजननं क्रियते। मित्रावरुणौ द्वे देवते द्वे वै मिथुनं, मिथुनं एव एतत् प्रजननं क्रियते...अग्नी सोमीयेण यजते...मित्रो वरुणे रेतः सिंचति तत् एतेन रेतसा प्रजायते...। शतब्रा. 2.4.4.9-11, 19, आदि।
41. प्रजननं प्रजापतिः। शतब्रा. 5.1.3.10; 12, आदि। यह प्रजापति जिससे पहले इसकी उत्पत्ति का लैंगिक कारण नहीं था, जब सर्वप्रथम आकाश की या उषा की सृष्टि करता है तो अब प्रजा-विस्तार के लिए इसके साथ ही मैथुन करता है जो लौकिक अर्थ में अपनी ही सृष्टि या दुहिता के साथ मैथुन हुआ, 'प्रजापतिः ह वै स्वां दुहितरं अभिदध्यौ। दिवं वा उषसं वा मिथुनि एनया स्यां इति तां सम्बभूव।' शतब्रा. 1.7.4.1 वैदिक साहित्य में वस्तुतः जिस भी चीज़ से प्रजनन या किसी चीज़ का उत्पादन होता दिखायी देता है, उसे प्रजापति की संज्ञा मिलती चली जाती है, जैसे वनस्पतियाँ, ऋतुएँ, अनस्, यजमान, यज्ञ, आदि।

42. ऋ. 7.21.5; 10.99.3
43. ऋ. 7.10.3.5 में 'शिक्षमाण' प्रयोग ही आया है, ब्रह्मचारी नहीं ।
44. महा. 12.16.15; रामा. अयो. 67.10, आदि में अराजक अवस्था के चित्रण की प्रेरणा सम्भवतः इन कबीलों से ही मिली है । ऋग्वैदिक शिश्नदेव का परवर्ती पर्याय 'शिश्नोदर परायण' है । देखें, मो. वि 1076 भी ।
45. घोष, 1958, 139, में सन्दर्भ ग़लत दिये गये हैं जो छापे की भूल के कारण लगते हैं, यथा ऋ. 2.33.1 के स्थान पर 2.3.1 का हवाला है जिसमें रुद्र का नाम तक नहीं आता । इसी तरह अन्य सन्दर्भ भी । इन्हें सुधार कर पेश किया गया है ।
46. कीथ, दि रिलिजन ऐंड फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ दि वेद्स ऐंड उपनिषद्स, हार्बर्ड ओरिऐंटल सीरीज़, 31, 145; घोष, 1958, 139
47. रुद्र चिकित्सक हैं, यज्ञ के रक्षक हैं, मनुष्यों और पशुओं को व्याधियों से बचाने वाले हैं ।
48. यथा यजु. 16.53 आदि में । यदि ऋग्वेद की उक्त ऋचा को अनिष्टकर माना जाता तो इसका पाठान्तर करने के स्थान पर इसे छोड़ कर कोई अन्य ऋचा ली गयी होती ।
49. इस तरह के अनेक शिथिल प्रयोग वैदिक साहित्य में मिलते हैं, जैसे यजु. 6. 21 में गच्छ के स्थान पर बार-बार गछ प्रयोग आया है, इनके साथ किसी आशय को जोड़ना उचित नहीं लगता । क्या तैब्रा. 3.7.6.1 में 'सुवर्गे लोके' को इस रूप में समझाया जा सकता है कि वैदिकों को स्वर्ग से डर लगता था, अतः इसका रूप बदल दिया गया है ?
50. उक्त प्रसंग सृष्टि के बाद प्रजापति के अपनी ही सृष्टि—अपनी दुहिता – पर कामासक्त हो जाने से और उसके साथ मैथुन करने की रूपकीय कथा से सम्बन्धित है, जिस पर पौराणिकता की नयी पर्त चढ़ा दी गयी है । इस पर हम कुछ बाद में विचार करेंगे ।
51. मंगलाचरणों और स्वस्तिवादन के श्लोकों में तो इसने एक झक का ही रूप ले लिया था, जिसे विवाहादि के अवसर पर पढ़े जाने वाले श्लोकों में कहीं भी सुना जा सकता है । देवताओं के कुछ नाम गुह्य हैं जिनका प्रयोग सावधानी से किया जाता है, यथा इन्द्र का नाम 'अर्जुन' । शतब्रा. 5.4.3.7
52. कीथ, ग्रीक रिलिजन, द्वि. सं., 88, बी. के. घोष द्वारा, पूर्व. 139, पर उद्धृत ।
53. रोतीति सतः रोरूयमाणो द्रवतीति वा । रोदयतेर्वा यदरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति काठकम् । यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति हारिद्रविकम् । नि. 10.6

54. चाटुर्ज्या, दि ओरिजिन ऐंड डवलपमेंट ऑफ़ दि बंगाली लैंग्वेज, 1926, 45-46
55. जे. पी. गुहा, सील्स ऐंड स्टैच्युएट्स ऑफ़ कुल्ली, झोब, मोहनजोदड़ो ऐंड हड़प्पा, 1967, 29
56. एस. आर. राव. 1982, 306
57. टी. जी. अरवामुदन्, "सम सर्वाइवल्स ऑफ़ दि हड़प्पा कल्चर" न्यू इंडिया ऐंटीक्वेरी, 4, 1941-42, 294-326; मार्शल, 1931, 1, 53-55
58. पृथ्वी—पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम् । यजु. 1.25
पृथिवी मातः मा मा हिंसीः मा उ अहं त्वाम् । यजु. 10.23
वरुण—वि मत् श्रथाय रशनां इव आग ऋध्याम ते वरुण खां ऋतस्य ।
मा तन्तुःछेदि वयतः धियं मे मा मात्रा शार्टापसः पुर ऋतोः ।।
ऋ. 2.28.5
अग्नि—इमं मा हिंसीः एकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । यज. 13. 48; इमं मा हिंसीः द्विपादं पशुं... । यजु. 13.46; अत्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् । यजु. 13.49; 50, आदि और तुलना करें :
रुद्र—मा नः महान्तं उत मा नः अर्भकं मा नः उक्षन्तं उत मा नः उक्षितम् ।
मा नः वधीः पितरं मा उत मातरं मा नः प्रिया तन्वः रुद्र रीरिषः ।।
ऋ. 1.114.7, आदि ।
59. रुद्रो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च देवानाम् ; कौआ. 25.13
नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमो अग्र्याय च प्रथमाय च । यजु. 16.30
60. अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः । ऐब्रा. 1.28; अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः । शतब्रा. 3.9.1.6; अग्निः कस्मात् अणीः भवति । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते...। नि. 7.14
61. जिन भी तत्वों को—पृथ्वी, औषधियाँ, जलधाराएँ, ऊषा, रात्रि, आदि—मातृ-देवी के रूप में कल्पित किया गया था उनका अस्तित्व अनादि काल से बना रहा है ।
62. वह आद्या, त्रिनेत्रा, शूलधारिणी, शाम्भवी, घोरा, कराली, चण्डी, माहेश्वरी, ऐशानी, नीलग्रीवा, गुह्येश्वरी, कपालिनी, आदि है ।
63. यजु. 16.17
64. यजु. 16.25
65. यजु. 16.19
66. यजु. 16.18

67. यजु. 16.19
68. यजु. 16.26
69. वही।
70. वही।
71. यजु. 16.5
72. यजु. 16.24
73. नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलोलेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो। यजु. 16.27
नमो इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यम्च वो नमो। यजु. 16.46
74. नमो निषादेभ्यः पुंजिष्ठेभ्यश्च वो नमो...। यजु 16.27
परमे वृक्षे आयुधं निधायि कृतिं वसान आचर पिनाकं विभ्रद् आ गहि। यजु. 16.51
नमः सहमानाय विव्याधिने। यजु. 16.20
75. नमो वंचते परिवंचते स्तायूनां पतये नमो नमो निषंगिणे इषुधिपते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो गुष्णतां पतये नमो नमो असिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः। यजु. 16.21
76. एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व...। यजु. 3.57; अम्बिका शरद् वा अस्य रुद्रस्य अम्बिका स्वसा। तैब्रा. 1.6; अम्बिका वै नामास्य स्वसा। शतब्रा. 2.6.2.9
77. ऋ. 2.33.8
78. वही।
79. यजु. 16.47
80. यजु. 16.6; 7; 52, आदि।
81. यजु. 16.57
82. यजु. 16.7; 8; 28; 58, आदि।
83. शित का अर्थ भी तालमेल बैठाने के लिए 'नील' किया जाता रहा ताकि 'नीलग्रीव' और 'शितकंठ' में विरोध न दिखायी दे, पर शिव के रंग—बभ्रु, श्वेत, लोहित; नील लोहित आदि की विसंगति का क्या समाधान है?
84. नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च...। यजु. 16.29
85. शतब्रा. के अनुसार अग्नि के नव नाम ठीक वही हैं जो रुद्र के, यथा—रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, ईशान, महादेव और कुमार। शतब्रा 6.1.3 18; इनके अतिरिक्त अग्नि आदि से प्रार्थना की जाती है कि वे 'शं' या कल्याण करें, जिससे शंकर नाम निकला है। उन्हें शिव और जब-तब अन्य देवों को शिवतम होने को कहा जाता है। ऋ. 1.31.1; 4.11.6; 5.1.8;

6.15.9 तथा 1.53.11; 10.9.2, आदि। रुद्र के चण्ड रूप धारण करने पर उनके तीसरे नेत्र से फूटने वाली ज्वाला से तो प्रलय ही आ जाता है।

86. तत् एकं अभवत्, तत् ललामं अभवत्, तत् महत् अभवत्, तत् ज्येष्ठं अभवत्, तत् ब्रह्मा अभवत्, तत् तपो अभवत्, तत् सत्यं अभवत्, तेन प्राजायत। सः अवर्धत, स महान अभवत्, स महादेवः अभवत्, स देवानां ईशां परि ऐत, स ईशानः अभवत्। स एकव्रात्यः अभवत्, स धनुः आदत्त, तत् एव इन्द्र धनुः। नीलं अस्य उदरं लोहितं पृष्ठम्। अथर्व. 15.2.1-7; तस्या ग्रीष्मः च वसन्तः च द्वौ पादौ आस्तां, शरत् च वर्षाः च द्वौ।...वेद आस्तरणं, ब्रह्म उपबर्हणम् साम आसाद उद्गीयः अपश्रयः। तां आसन्दीं व्रात्यः आरोहत्। तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्, संकल्पाः प्रहाय्या विश्वानि भूतानि उपसदः। अथर्व-15.3.4-10; स ध्रुवां दिशं अनु व्यचलत्। तं भूमिः च अग्निः च ओषधयः च वनस्पतः च वानस्पत्याः च वीरुधाः च अनु व्यचलन्।...स ऊर्ध्वां दिशं अनु व्यचलत। तं ऋतं च सत्यं च सूर्यः च चन्द्रः च नक्षत्राणि च अनु व्यचलन्। ...स उत्तमां दिशं अनु व्यचलत्। तं ऋचः च सामानि च यजूंषि च अनु व्यचलन्। तं इतिहास च पुराणः च गाथाः च नाराशंसीः च अनुव्यचलन्। अथर्व. 15.6.1-2; 4-5; 7-8; 11, आदि।

87. ऋ. 2.1.6; अग्निर्वै रुद्रो। शतब्रा. 6.1.3.10, आदि। अग्नि का लाल रंग उन्हें यदि रुद्र या रुधिर वर्ण या अरुण बनाता है तो इसकी कान्ति रुद्र को त्विषी, विल्मी, कल्मलीकी आदि। वस्तुतः एक अर्थ में रुद्र अग्नि का विनाशक रूप है। औज़ार गढ़ते समय पत्थर के टूटने और चिनगारी के प्रकट होने और लकड़ी से अग्नि के प्रकट होने और लकड़ी को नष्ट करने, जो कुछ भी मिले उसे जलाने के कारण उनका यह रूप विकसित हुआ जो 'मन्यु' या क्रोध का, उग्रता का मूर्त रूप है।

88. ऐब्रा. 13.9.10
89. यजु. 16.27
90. यजु. 16.18
91. यजु. 16.20
92. यजु. 16.19
93. यजु. 16.18; 22
94. यजु. 16.20
95. यजु. 16.20; 23
96. यजु. 16.22
97. यजु. 26.46
98. यजु. 16.47

99. यजु. 16.31
100. यजु. 16.51
101. यजु. 16.20
102. यजु. 16. 18
103. यजु. 16.19
104. यजु. 16.44
105. यजु. 16.2; 3; 4; 22; 27, आदि।
106. वही।
107. यजु. 16. 46
108. यजु. 16.32
109. यजु. 16.25
110. यजु. 16. 10; 29; 43, आदि।
111. परमे वृक्षे आयुधं निधायि...। यजु. 16.51
112. यजु. 16.25; सभापति या गण पंचायत का प्रधान। यजु. 16.24; व्रात-पति। यजु. 16.2
113. यजु. 16.26
114. यजु. 16.34
115. यजु. 16.12; 13; 53
116. यजु. 16.9; 14
117. यजु. 16.48; ऋ. 1. 114.1; 10
118. ऋ. 1.114.7;
यजु. 16.15; 16
119. यजु. 16.40
120. यजु. 16.40
121. यजु. 16.40
122. यजु. 16.36
123. यजु. 16.27; 46
124. नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च, नमः किंशिलाय च क्षयणाय च, नमः कप-र्दिने च पलस्तये च, नमः इरिण्याय च प्रपथ्याय च। यजु. 16.43; इस मन्त्र में प्रयुक्त किंशिल शब्द प्रवाह के साथ आये पत्थरों का सूचक है और यह पैबन के लिए सबसे उपयुक्त शब्द है। इसी तरह 'ता नः शिवाः शर्कराः सन्तु सर्वा' तैब्रा, 1.21 में शर्करा या प्रस्तर-खण्ड, किंशिल, की पूजा का भाव है।
125. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पतिवेदनम्। यजु. 3.60

126. शतब्रा. 12.7.3.20
127. यजु. 16.35
128. यजु. 16.27;28
129. यजु. 3.57
130. देबी प्रसाद चट्टोपाध्याय, 1959, 130 और आगे।
131. कीनाशः आसन् मरुतः सुदानवः। तैब्रा. 2.4.8.7
132. नमो वंचते परिवंचते स्तायूनां पतये, नमो...तस्कराणां पतये, नमो···नमः सृकायिभ्यो, जिघांसद्भ्यो, मुष्णतां पतये नमो, नमो असिमद्भ्य नक्तंचरद्भ्यां ...। यजु. 16.21
133. यजु. 16.39; 44
134. यह विकास इकहरा नहीं है। शिलाकर्मी जो शिल्पियों का प्राचीनतम रूप था और जिसके नाम पर ही शिल्प शब्द पड़ा है, और इसलिए बाद के सभी शिल्पियों का जनक अग्नि, जो गलाने, पकाने, रूपान्तरित करने की अपनी भूमिका के कारण महत्व रखता था, इन दोनों का सम्पृक्त रूप ही आरम्भिक विश्वकर्मा है जो कभी कुम्हार और कभी कर्मार या लोहार और कभी तक्षक या बढ़ई के रूप में, यान्त्रिक रूप में ही सृष्टि का निर्माण करता है।
135. ऋ. 1.164.46; 2.1.2-13, आदि।
136. देखें हिल्लेब्रांट, वैदिक माइथॉलॉजी, अनु. श्री रामुल राजेश्वर शर्मा, 1980, 1, 120 और आगे।
137. इरावदम महादेवन, 'कल्ट ऑब्जेक्ट्स ऑन यूनीकॉर्न सील्स : ए सैक्रेड फ़िल्टर?' सितम्बर, 1983 में तोक्यो में आयोजित इंटरनेशनल कांग्रेस ऑफ़ ह्यूमन साइंसेज इन एशिया ऐंड नॉर्थ अफ्रीका के 31वें सम्मेलन के अवसर पर पढ़ा गया निबन्ध।
138. पर जॉन मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन 1931, 1, 53-55; एक मामले में तो यह एक शेर के सिर पर भी दिखाया गया है।
139. भगवान सिंह, 'आइडेंटिफ़िकेशन ऑफ़ सोम', पुरातत्व, 1980-81, 154-56
140. तव व्रते सोम तिष्ठन्तु कृष्टयः। ऋ. 9.86.37
141. वपन्ते बीजं इब धान्याकृतः पृन्चन्ति सोमं न मिनन्ति बप्सतः। ऋ. 10.94.13
142. ऋ. 8.91.1 व 2 के अनुसार अपाला राह चलते सोम तोड़ लेती है और उसे इन्द्र के नाम से दाँत से चूसती है।
143. ऋ. 9.1.1, आदि।
144. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। ऋ. 9.1.1
145. देखें, मोनियर विलियम्स, संइंडि, इक्षुलता।

146 ऋ. 9.73.3; इन गाँठों को ही पर्बन् या पोर कहा गया है जिसे वैदिक इंडेक्स के लेखक पूरे सोम का द्योतक मान बैठे हैं। देखें आगे।

147. हिरण्यगर्भः समवर्तत् अग्र भूतस्य जातः पतिः एक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यां उत इमाम्...ऋ. 10.121.1-7

148. शतपथ ब्राह्मण (6.1.3) में इसका बहुत रोचक विवरण दिया गया है, अन्तर केवल यह है कि इसमें आदि जल से पूर्व ही प्रजापति की कल्पना ला दी गयी है जिसके श्रम और तप से जल स्वयं उत्पन्न होता है और फिर जल फेन का, फिर मृदा या कीचड़ का और फिर पृथ्वी या सिकता का और फिर शर्करा या कंकड-पत्थर का रूप लेता है और इस प्रकार समग्र सृष्टि की रचना होती है।

149. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवः जनिता पृथिव्याः।
जनिता अग्नेः जनिता सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जनिता उत विष्णोः। ऋ. 9.96.5

150. शतब्रा. 4.3.1.6; तैसं. 3.2.1.3; मैसं. 4.8.8

151. ऋ. 9.7.5; 10.3; 86,28; शतब्रा. 5.1.5.26;तैब्रा. 2.5.7.3, आदि।

152. ऋ. 9.86.28; शतब्रा, 3.6.2.2, आदि। देखें, हिल्लेब्रांट, वैदिक माइथॉलॉजी, 1, 191, भी।

153. कौब्रा. 16.5; तैब्रा. 1.4.10.7; शतब्रा. 10.4.2.1; 12.1.1.2, आदि।

154. ऋ. 9.11.3; तैब्रा. 3.11.4.1; गोउ. 1.17, आदि। चन्द्रमा और सोम के सभी पर्याय अभिन्न हैं।

155. चन्द्रमा अन्न, प्राण, ब्रह्मा, विधाता आदि बन जाता है, देखें :
अन्नं उ चन्द्रमा, जैउ. 13.4; चन्दमा वै प्राणः, जैउ. 4.22.11; चन्द्रमा वै ब्रह्मा, शतब्रा. 12.1.1.2, आदि। अग्नि की तरह ही वह देवानां ब्रह्मा, ऋ. 9.96.6, जनिता मतीनाम्, ऋ. 9.96.5, अर्ष या चमकीला, भ्राजमान, द्युतिमान आदि हो जाता है, ऋ. 9.2.2; 3.9; 5.10; 31, 2, आदि, जो चन्द्रमा से अभेद के कारण है।

156. ऋ. 9.86.8; कौब्रा. 13.7; शतब्रा. 7.3.1.3, आदि।

157. गिरिषु हि सोमः। शतब्रा, 3.3.4.7; ऋ. 9. 46.1, आदि।

158. बभ्रवे नु स्वतवसे अरुणाय दिविस्पृशे। सोमाय गाथमर्चत। ऋ. 9.11.4

159. वही।

160. ऋ. 9.3.3; 9, आदि।

161. अहिः न जुर्णा अति सर्पति त्वचम्...ऋ. 9. 86.44

162. देखें, मैकडनेल व कीथ, अनु. रामकुमार राय, 1962, 2, 528; हिल्लेब्रांट 1980, 1, 265 और आगे; महादेवन, 1983

162. ऋ. 1.23.17; 84.11; 114.4; 3.46.5; 9.1.8; 8.4; 26.5; 6;30.5; 32.2; 38.2; 39.6; 50.3; 65.1; 8; 67.9, आदि।

163. "अंश विभाजने" चु. उ.; सोमांशो अंशुः इति उच्यते। निरुक्त वृत्ति, 2.5

165. अनिरुक्तं वा उपांशुः। शतब्रा. 1.3.5.10; उपांशु की ही तरह अंशु के विषय में इसे "अशूङ् व्याप्तौ" से व्युत्पन्न करने के कारण अनिश्चय दिखायी देता है।

166. स वा अष्टौ कृत्वा अभिषुणोति...अथ एकादश कृत्वा...अथ द्वादश··· शतब्रा. 4.1.1.8—12

167. पूर्व., 525

168. सैबुईसी., 25, 248

169. पूर्व, 525

170. ऋ. 9.93.3; 107 5

171. उलूखल और मुसल वानस्पत्य या लकड़ी के बने—शतब्रा. 1.1.4.7; उलूखल गूलर की लकड़ी की—शतब्रा. 7.5.1.14-15; 22; मुसल पलाश या पीपल की लकड़ी का—शतब्रा. 5.2.1.17; उलूखन का आखर या गर्त एक बालिश्त गहरा—शतब्रा. 7.5.1.14

172. सोम के इस यन्त्र का बहुत सांकेतिक-सा विवरण ऋ. 1.28 में मिलता है, जिसमें ग्रावन को पृथुबुध्न या नीचे की ओर मोटा कहा गया है। धिषणा के मध्य भाग से जुड़े पटरे को दो जाँघों के सदृश बताया गया है। रस्सियों से बँधे होने के कारण ग्रावन को लगाम आदि से कसे घोड़े जैसा बताया गया है, जिसे इस स्थल पर मथ्ना कहा गया है। इस यन्त्र को समझने के लिए कोल्हू की बनावट पर ध्यान देना जरूरी था, पर ऐसा न करने के कारण इसे दही बिलौने की मथानी समझ लिया गया, जो किसी लता से रस निकालने की दृष्टि से बेतुका है। देखें, हिल्लेब्रांट, पूर्व, 274, जिसमें उन्होंने विल्सन, कून और ग्रियर्सन आदि का हवाला दिया है।

173. ऋ. 10.94.11; हिल्लेब्रांट, 1980, 271

174. यह अर्थ सन्दिग्ध है, इसमें मात्र मार्ग से गुजरने का जिक्र है, जो दरों की यात्रा भी हो सकती है।

175. पूर्व., 20

176. हिल्लेब्रांट, 1980, 283

177. ऋ. 9.74.2; 86.46
178. शतब्रा. 1.6.2.1. आदि।
179. शतब्रा. 3.3.4.1, आदि। इस काल तक आकर अर्थ बदला गया लगता है, पर मूल भाव की छाया बनी हुई है।
180. ऋ. 10.94.12; हिल्लेब्रांट, 1980, 172
181. ऋ.9.81.2
182. ऋ. 1.137.1; 3.32; 8.2.10, आदि।
183. ऋ. 1.5.5; 30.2, आदि।
184. ऋ. 1.91.18; 10.18.2; डॉ० वैट ने इसका आशय न समझ पाने के कारण यह अनुमान लगाया था कि सोम की सूखी लता को कूट कर पानी में भिगोया जाता था और फिर इसे कूट कर रस निकाला जाता था। देखें सैबुईसी. 26, 26 वाँ। पर किसी सूखी लता को भिगोकर उससे रस निकल भी सकता है या नहीं, यह विचारणीय है।
185. ऋ. 9.61. 13; 63.21. आदि।
186. शतब्रा. 4.3.5.17
187. वही। देखें, वैदिक इंडेक्स, 2, 530 भी।
188. ऋ. 9.11.5; हिल्लेब्रांट 1980, 271 ; 10.94.13
189. उपो सु जातं अप्तुरं गोभिः भंगं परिष्कृतम्। ऋ. 9.61.13; भंगेन हतः असौ फट्। वासं. 7.3; श्रौतकोश, 2, 255
190. तैसं. 2.3.2; शतब्रा. 5.5.4.9; 12.7.1.11
191. मैसं. 3.11.7; शतब्रा. 12.7.3.2. वैदिक इंडेक्स, 2,351
192. शतब्रा. 1.6.3.1-7
193. डॉ. महादेव साहा से प्राप्त मौखिक सूचना के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी तक इस प्रकार के यन्त्र मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश, से बनवा कर लोग सैकड़ों मील दूर ले जाते थे। इनकी ढुलाई के लिए एक अन्धविश्वास का सहारा लिया गया या जिसके अनुसार ग्राम की सीमा में उस यन्त्र का रहना अशुभ माना जाता था, अतः इसके किसी ग्राम-सीमा में पहुँचने के बाद पूरे गाँव के लोग जुट कर इसे अगले गाँव की सीमा तक धक्का देकर पहुँचा देते थे और यह क्रम तब तक चलता रहता था जब तक यन्त्र अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँच जाता था।
194. मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइजेशन, 1931, 1, 53-55
195. सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम। नि. 3.18
196. ऋ. 5.58.2

197. एस. आर. राव, दि डिसाइफ़रमेंट ऑफ़ दि इंडस स्क्रिप्ट, 1982, फलक 33ए-33सी.

198. नमन शब्द विविध रूपों में ऋग्वेद में 250 बार प्रयोग में आया है।

199. 'मनसा यजाति', ऋ. 1.77.2; 'आजा नः इन्द्र मनसा पुरस्तुत', ऋ. 1.102.3; 'घृतप्रुषा मनसा हव्यं उन्दन्', ऋ. 2.3.2; सुम्नायता मनसा तत् त्वं ईमहे', ऋ. 2.32.2; 'सप्त होत्राणि मनसा वृणाना', ऋ. 3.4.5; 'तं धीरासः कवयः उन्नयन्ति सु आध्यः मनसा देवयन्तः', ऋ. 3.8.4, आदि।

200. समूचा ऋग्वेद ही स्त्रोत्रपरक साहित्य है, जिसके कुछ विशेष अंशों को ही यज्ञ के समय काम में लाया जाता था और इन अंशों को ही यजुर्वेद में स्थान दिया गया है। यह धारणा कि वैदिक आर्य केवल यज्ञ ही करते थे, यह मानने के समान है कि ऋग्वेद नहीं अपितु यजुर्वेद ही उनका प्रधान वेद है, जो ग़लत होगा।

201. यज्ञ का लक्ष्य ही है देवताओं में आहार का वितरण और इस प्रकार उनकी तुष्टि, ताकि अपनी तुष्टि हो जाने पर वे मनुष्यों या आराधकों को भी तुष्ट करें। इसकी बहुत सटीक अभिव्यक्ति गीता 3.11 में हुई है, पर ऋग्वेद में इसे लगभग सर्वत्र देख सकते हैं।

202. ऋग्वेद में प्रतिमा(ऋ. 10.130.3)और प्रतिमान (ऋ. 1.32.7; 2.12.9) आदि के उल्लेख आते हैं। काठक संहिता में, जिसका कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्ध होने के कारण यज्ञ से सम्बन्ध बिलकुल स्पष्ट है, मूर्ति का भाव पूजा के सारे विधानों के साथ यज्ञक्रम में देखा जा सकता है, "स्वाहा सरस्वत्यै वेशभगिन्यै स्वाहा। या सस्वती वेशभगिनी तस्याः ते भक्तिवानः भूयास्म, यज्ञस्य त्वा प्रमया अभिमया उन्मया प्रतिमया परिगृह्णामि।" कासं; 5.22-23

वैदिक काल में मूर्तिपूजा की पुष्टि भारतेतर स्रोतों से भी होती है। उदाहरण के लिए, अफ़ग़ानिस्तान के काफ़िर जन जो अरबी में मूर्तिपूजक के पर्याय बन चुके हैं और जिनके नाम पर ही 'कुफ़'—मूर्तिपूजा शब्द बना है, हाल तक इन्द्र और सोम की तथा पितरों की सादृश्यपरक और प्रतीकात्मक मूर्तियाँ बनाते रहे हैं और सम्भव है आज भी बनाते हों। देखें, मोहम्मद अली मोतमेदी, 1957, 7 और आगे। इसी तरह यूनानी परम्परा से भी इसकी पुष्टि होती है, जिसमें देवताओं की प्रतिमाएँ पेड़ों पर या पेड़ों के नीचे रखी जाती थीं। देखें, श्रेडर, 1972 सं. 277; जैसा कि शिव—डीह या ग्राम देवता तथा काली या ग्राम-देवी के प्रसंग में भारत में तथा इन्द्र और सोम आदि के सन्दर्भ में अफ़ग़ानिस्तान तथा अन्य देवताओं के प्रसंग में यूनान में दिखायी देता है, हम यह कह सकते हैं कि वैदिक काल में मूर्तिपूजा तो थी, पर मन्दिर नहीं थे। इन मूर्तियों को वृक्षों पर या इनके नीचे

प्रतिष्ठित किया जाता था। हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त उन प्रतिमाओं से भी यही व्यक्त होता है, जिन्हें मातृदेवी की प्रतिमा माना गया है। इनका रूप, आकार, उपादान सभी इस बात के प्रमाण हैं कि इन्हें मन्दिरों में स्थापित नहीं किया जाता था।

203. ऋषीणां च स्तुतीः उप यज्ञं च मानुषाणाम्। ऋ. 1.84.2

204. देखें, अल्तेकर, 1958, 228

205. देखें नि. 1.15 भा।

206. देखें, ए. एल. बशम, 1963.55; डा. डा. कोसम्बी, 1946, 37-38

भगवान सिंह

जन्म : गगहा (गोरखपुर), 1 जुलाई 1931

शिक्षा : एम० ए० (हिन्दी)

भारत की प्रमुख भाषाओं और लिपियों का परिचयात्मक ज्ञान

प्रकाशित कृतियाँ—

उपन्यास :

काले-उजले टीले, महाभिषग्

कविता-संग्रह :

अपने समानांतर

शोध :

आर्य-द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता

निबन्ध :

स्थान नामों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन
ओरिजनल रामायण : ह्वाट इट रियली वाज़
आइडेंटिफ़िकेशन ऑफ़ सोम
ऋग्वेद में पुर; ऋतम्भरा

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

भगवान सिंह

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

भगवान सिंह

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

खण्ड दो

भगवान सिंह

राधाकृष्ण

1987
©
भगवान सिंह
नयी दिल्ली

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ का प्रकाशन भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् के आर्थिक सहयोग से साकार हुआ है। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये तथ्यों, मतों अथवा निस्सृत निष्कर्षों का उत्तरदायित्व पूर्णरूपेण लेखक पर है। भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् इसके लिए उत्तरदायित्व नहीं रखता।

पहला संस्करण
1987

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

मुद्रक
नागरी प्रिंटर्स
दिल्ली-110032

श्री विष्णुदेव सिंह
तथा
सुश्री अभिराजी देवी को

विषय-सूची

भूमिका

अध्याय एक : वैदिक रचना-काल 1

अध्याय दो : सभ्यता की दिशा में प्रथम चरण 33

अध्याय तीन : कृषि-क्रान्ति और देवासुर संग्राम 53

अध्याय चार : अतिरिक्त उत्पादन और स्वर्ग की तलाश 89

अध्याय पाँच : प्रभाव-विस्तार और प्रव्रजन 109

अध्याय छह : नगर-सभ्यता का उदय 170

अध्याय सात : हड़प्पा सभ्यता का पतन 198

परिशिष्ट 1 सरस्वती घाटी से पलायन 221

परिशिष्ट 2 वैदिक समाज का पुनर्समायोजन 244

ग्रन्थ-सूची 259

अंग्रेज़ी ग्रन्थ-सूची में प्रयुक्त संकेत 295

अनुक्रमणी 297

चित्र

हड़प्पा-पूर्व स्थल 119

सिन्धु-क्षेत्र से आमू दरिया तक 128

पुरातात्विक स्थल 131

मैदानी, गिरिपदीय, पहाड़ी व वन्य क्षेत्रों में अन्तक्रिया की प्रकृति 178

फलक

एक : कालीबंगा— पूर्व हड़प्पाकालीन आवास-योजना

दो : मोहनजोदड़ो—खुदाई का एक दृश्य

तीन : लोथल—जल-निकास प्रणाली

चार : मोहनजोदड़ो से प्राप्त मृद्भाण्ड

पाँच : हड़प्पा से प्राप्त विविध प्रकार के भाण्ड

छह : मृद्भाण्डों पर अंकित आशय

सात : मिट्टी की बनी नाव (लोथल से प्राप्त)
आठ : मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्राएँ,
नव : हड़प्पा से प्राप्त मुद्राओं की छाप
दस : हड़प्पा कालीन अलंकार
ग्यारह : लोथल से प्राप्त सेलखड़ी के अलंकार
बारह : दायमाबाद की खुदाई से प्राप्त मनके
तेरह : मोहनजोदड़ो से प्राप्त काँस्य नर्तकी
चौदह : मोहनजोदड़ो से प्राप्त मानवाकृति
पन्द्रह : कुल्ली—मेही से प्राप्त मानवाकृतियाँ
सोलह : मोहनजोदड़ो से प्राप्त पशुपति की मुद्रा

शुद्धिपत्र

भूमिका

इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में हमने हड़प्पा सभ्यता के पार्थिव अवशेषों की तुलना वैदिक साहित्य में उपलब्ध विवरणों और प्रासंगिक संकेतों से करते हुए पाया कि इन दोनों में कोई अलगाव या विरोध नहीं है। इसके विपरीत इनमें एक ऐसा सर्वांग सादृश्य पाया जाता है जो इस विषय में किसी तरह का भ्रम नहीं रहने देता कि अपनी दृष्टिहीनता के कारण ही हम इस एक ही सभ्यता को दो पृथक नामों से पुकारते आये हैं और इस पृथकता को प्रमाणित करने के लिए अनर्गल खींच-तान करते रहे हैं।

यदि हमारा लक्ष्य इन दोनों के अभेद या सर्वसादृश्य को ही दिखाना होता तो प्रस्तुत खण्ड की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु इस अभेद की स्थापना के बाद भी अनेक प्रश्न हमारे सामने बने रह जाते हैं जिनका समाधान किये बिना न तो हम इस सभ्यता के उत्स, उत्कर्ष और ह्रास को समझ सकते हैं, न ही विश्व-सभ्यता के उदय और विकास को। इस खण्ड में इन प्रश्नों को ही सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

यों तो पहले खण्ड में इस निष्कर्ष पर पहुँच जाने के बाद कि हड़प्पा सभ्यता ही वैदिक सभ्यता है, इस प्रश्न को सर्वथा समाप्त मान लेना चाहिए था, पर विगत खण्ड के विविध पक्षों की तरह हमने इस खण्ड में भी जहाँ भी सम्भव हुआ है इस प्रश्न को खुला रहने दिया है। इसका कारण आर्य-आक्रमण के अनुरागियों की अन्ध सन्देहशीलता है, जिनको कोई-न-कोई क्षीण-से-क्षीण नुक्ता अपने मत पर अटल रहने के लिए अवश्य मिल जाता रहा है। इसके अतिरिक्त इस विषय में हमारी अपनी पद्धति का पहले अपनायी गयी पद्धति से अलगाव भी इसी मामले में है कि जहाँ पहले आर्य-आक्रमण या आव्रजन की कल्पना को सर्वोपरि रखकर इसके घोर विरोध में जाने वाले तथ्यों और साक्ष्यों को भी इसके साथ ताल-मेल बैठाने के लिए तोड़-मरोड़ या छोड़ दिया जाता रहा है या, कहें, एक असिद्ध तथ्य से स्वतः सिद्ध तथ्यों को असिद्ध और असाध्य को सिद्ध किया जाता रहा है, वहाँ हम इस अभेद की पुष्टि हो जाने के बाद भी प्रत्येक क्षेत्र और पहलू के अपने साक्ष्यों से

उभरने वाले निष्कर्षों को ही महत्व देते हैं, ताकि एक दृष्टि से फूटने वाले निष्कर्ष दूसरे पक्ष पर आरोपित न होने पायें। यदि किन्हीं विद्वानों को इस विन्दु पर हमारा बार-बार लौटना अनावश्यक व्यायाम प्रतीत हो तो इसके लिए हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

पहले खण्ड में हमारी चर्चा मुख्यतः परिपक्व हड़प्पा और ऋग्वेद पर ही केन्द्रित थी। इस खण्ड में हमारा लक्ष्य सभ्यता के इस महावृक्ष की अतल-भेदिनी जड़ों की तलाश, परिपक्व हड़प्पा-काल तक की इसकी विकास-यात्रा की खोज, इस महावट की सुदूर देशों तक फैली शाखाओं और जटाओं की पहचान और इसके ह्रास के कारणों और स्वयं भारत में भी इसके आंचलिक खिसकाव को रेखांकित करना है। यह एक रोचक बात है कि ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम लिखित ग्रन्थ है, पर विकास के प्राथमिक चरणों को समझने में हमें ऋग्वेद की अपेक्षा इससे बहुत बाद में रचे गये ग्रन्थों से अधिक सहायता मिलती है। इस प्रत्यक्ष विसंगति को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक हम किसी कृति के रचना काल और उसके वर्ण्य-विषय के घटना-काल के भेद के विषय में प्रत्येक चरण पर सावधान न रहें। पहले अध्याय में हमने वैदिक रचना-काल के विषय में अब तक प्रचलित मान्यताओं और इनकी संगति और विरोध के साथ-साथ उस विराट फलक का भी अवलोकन किया है जो वैदिक रचनाओं में प्रतिबिम्बित है।

दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों में वन्य आहार-संग्रह और आखेट से आगे बढ़ने वाले गणों और अर्थव्यवस्था में आने वाले परिवर्तनों और सामाजिक सम्बन्धों की छान-बीन की है। वैदिक सभ्यता के उन्नत नागर चरण के विविध पक्षों पर पुस्तक के पहले खण्ड में विचार किया जा चुका है, अतः उसे यहाँ पुनः उठाने का प्रश्न नहीं था। सबसे महत्वपूर्ण समस्या, जिसके कारण तरह-तरह के अनुमान भारतीय जनों और इनके सांस्कृतिक स्तर के विषय में लगाये जाते रहे हैं, भारोपीय क्षेत्र में परस्पर सादृश्य रखने वाली और एक ही मूल भाषा से उत्पन्न भाषाओं के प्रसार की रही है। पाँचवें अध्याय में इस प्रसार की दिशा और प्रकृति पर कुछ विस्तार से विचार किया गया है। इसी का दूसरा किंचित्, अधिक विवादास्पद, पहलू नगर-सभ्यता के उदय का है। इस विषय में हमारी मान्यताएँ सैद्धान्तिक छान-बीन पर निर्भर हैं और ये प्रचलित मान्यताओं से कुछ अलग जाती हैं। यह एक ऐसा पहलू है जिसके कारण कुछ अध्येताओं को इस बात की शिकायत हो सकती है कि हमने पुरातात्विक साक्ष्यों के अभाव की चिन्ता किये बिना कुछ एकांगी स्थापनाएँ दे डाली हैं। इस विषय में हमारा अनुरोध केवल इतना ही है कि पुरातात्विक साक्ष्यों का भी महत्व एक सैद्धान्तिक चौखटे के भीतर ही होता है और इससे अलग जाने पर इनमें भी तोड़-मरोड़ और अपव्याख्या की सम्भावनाएँ कम नहीं रहतीं। हम इसको एक उदाहरण से स्पष्ट करना चाहेंगे। पश्चिमी

एशिया के खाड़ी-क्षेत्र के नगर-केन्द्रों का उत्खनन करने वाले विद्वान प्रायः यह दोहराते रहे हैं कि सुमेरिया में नगर-सभ्यता के आरम्भ से पहले आबादी का भी अभाव था; कारण, खुदाई के स्थलों पर कोरी मिट्टी (वर्जिन सॉइल) तक पहुँचने पर भी इन स्थलों से कहीं से ग्रामीण बस्तियों का पता नहीं चलता। इसके विपरीत हमने यह सुझाया है कि यह क्षेत्र इससे पहले भी जनशून्य नहीं था और इसके कारण भी गिनाये हैं। उत्खनन-रपटों के आधार पर यह सामान्यीकरण करने वालों ने इस बात को ही नजरअन्दाज़ कर दिया कि नगरों और ग्रामीण बस्तियों के अपने भिन्न तर्क और भिन्न तकाज़े होते हैं, और इसलिए लगभग सर्वत्र इनका स्थल भी भिन्न होता है। एक को स्थानीय तकाज़ों से बसाया जाता है तो दूसरे को सार्वदेशिक तकाज़ों से। एक में सार्वजनिक पक्ष--व्यापार, प्रशासन, आदि—प्रधान होता है तो दूसरे में निजी पक्ष; एक में प्राइवेसी पर बल दिया जाता है अतः इसे जान-बूझकर महापथों से कुछ अलग हटकर बसाया जाता है तो दूसरे में सुगम्यता और सर्वगम्यता पर बल दिया जाता है और इसलिए इन्हें महापथों से बिलकुल सटकर बसाया जाता है। इतना ही नहीं, महापथ के हट जाने या इसकी पृष्ठभूमि में चले जाने का इस पर सीधा प्रभाव पड़ता है और जिन अंचलों में महापथ नदी-मार्ग ही थे उनमें नदी की धारा के दूर खिसक जाने पर नगर सदा के लिए नष्ट हो सकता था। इन विभिन्न कारणों से नगर-स्थलों की जड़ में ग्रामीण बस्ती की तलाश करना ख़रगोश के सिर पर सींग की तलाश करने जैसा है। नगर हर देश में और हर काल में जनसंगम-केन्द्रों के रूप में बसाये जाते रहे हैं और यद्यपि इनकी जड़ों में कुछ नितान्त साधारण किस्म की झोंपड़ियाँ, कोठरियाँ, चौकियाँ और चबूतरे आदि पाये जा सकते हैं, पर ये भी ग्रामीण बस्तियाँ नहीं अपितु आदिम किस्म के सार्वजनिक ठिकाने होते हैं जो स्थल की उपयुक्तता के अनुसार कुछ ही दशकों में स्पष्ट और योजनाबद्ध नागर बस्तियों का रूप ले लेते हैं। इस सैद्धान्तिक पक्ष की अवहेलना करते हुए पुरातात्विक साक्ष्यों के अभाव की शिकायत करना उचित नहीं। यही बात दूसरे मामलों में भी कही जा सकती है। ज़रूरी यह नहीं कि सिद्धान्त को पुरातात्विक साक्ष्यों पर कसा जाये, अपितु यह कि पुरातात्विक साक्ष्य सैद्धान्तिक कसौटी पर सही उतरें; कारण, जिन्हें हमें सिद्धान्त कहते हैं वे उससे कहीं अधिक विपुल और बहुमुखी साक्ष्यों के सारतत्व होते हैं जितने किसी एक या समग्र उत्खननों में प्राप्त हो सकते हैं।

हड़प्पा या वैदिक सभ्यता के ह्रास के अनेक कारणों में से दो की ओर प्रायः संकेत किया गया है। इनमें से एक है आर्थिक गिरावट और दूसरा है प्राकृतिक उपद्रव। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने बहुत ठोस कारणों से नर-संहार की सम्भावना को इस सभ्यता के ऊपर अन्तिम विनाशकारी आघात माना है। दूसरे विद्वानों ने नर-संहार की मान्यता का उपहास इसे एक कपोल कल्पना या मिथ कह कर

किया है। सचाई सम्भवतः इन दोनों अतियों के बीच कहीं है, कारण, बस्ती के भीतर नर-कंकालों का पाया जाना सामान्य स्थिति का परिचायक नहीं लगता। इस पहलू पर हमने अपने विचार सातवें अध्याय में व्यक्त किये हैं।

हड़प्पा सभ्यता के पतन में मुख्य हाथ आर्थिक गिरावट का था। इस गिरावट के सामाजिक पक्ष की विस्तार से चर्चा सातवें अध्याय में की गयी है। इसमें प्राकृतिक विपर्ययों की भूमिका कितनी रही हो सकती है, या हड़प्पा सभ्यता किन प्राकृतिक विपर्ययों का शिकार हुई हो सकती है, इसे परिशिष्ट एक में दिया गया है। इसके ह्रास के बाद अर्थव्यवस्था, समाज-व्यवस्था तथा मूल्य-प्रणाली में आये अन्तर को परिशिष्ट दो में समेटा गया है।

एक पुस्तक में एक सीमा से अधिक नयी स्थापनाएँ देने वाला लेखक कुछ उतनी ही बड़ी भूलें न करे या उसकी कुछ मान्यताओं में अनगढ़ता न बनी रह जाये, यह लगभग असम्भव है। प्रस्तुत मामले में कुछ त्रुटियों और अनगढ़ताओं का कारण यह भी हो सकता है कि इसके कुछ अध्यायों को प्रेस में जाते-जाते कुछ बदल दिया गया जबकि इन्हीं के अनुरूप शेष पुस्तक के संगत स्थलों पर परिवर्तन नहीं हो सका होगा। इन भूलों और अनगढ़ताओं की ओर सुधी पाठक यदि हमारा ध्यान आकृष्ट कर सकें तो यह प्रस्तुत लेखक के प्रति एक उपकार होगा।

भगवान सिंह

अप्रैल, 1987
सी-136 महाराणा प्रताप एन्क्लेव
दिल्ली-110034

अध्याय एक

वैदिक रचना-काल

सामान्यतः बुद्ध से पहले का भारतीय इतिहास काल-क्रम की दृष्टि से अनिश्चितताओं के एक ऐसे कुहरे में लिपटा रहा है जिसमें अपनी रुचि और रुझान के अनुसार दशाब्दियों को शताब्दियों में, और शताब्दियों को सहस्राब्दियों में, बदला जा सकता है।[1] इस अराजकता का प्रधान कारण विद्वानों की अनैतिहासिक दृष्टि रही है। परन्तु अनैतिहासिक दृष्टि की अभिव्यक्ति इस काल-प्रसार का तर्कहीन विस्तार करने में ही नहीं हुई है। इसका एक रूप ऋग्वेद को 'हास्यास्पद रूप में आधुनिक' सिद्ध करने का भी रहा है जो, जैसा कि विंटरनित्ज़ ने कहा था[2], पहली दृष्टि से कम खेदजनक नहीं रहा है।

वैदिक साहित्य से परिचित होने के बाद विद्वानों की दो स्पष्ट प्रतिक्रियाएँ रहीं। पहली यह कि यह अत्यन्त प्राचीन है, पर कितना प्राचीन, यह तय कर पाना कठिन था। दूसरी यह कि यह बहुत विशाल था, पर कितना विशाल, यह तय करना भी कम कठिन नहीं था, कारण, उपलब्ध साहित्य से इस बात की स्पष्ट झलक मिलती है कि इसका बहुत बड़ा अंश काल-प्रवाह में नष्ट हो चुका है। जो कुछ बचा रह गया है वह भी इतना विशाल है कि इसकी तुलना में किसी भी अन्य सभ्यता का प्राचीन साहित्य नहीं रखा जा सकता। इसके साथ ही हम एक तीसरी प्रतिक्रिया की भी बात कर सकते हैं, और वह यह, कि इस विशाल साहित्य की रचना में बहुत लम्बा समय लगा है—इतना लम्बा समय कि इसके दौरान अपनी समूची परिरक्षणवादिता के बावजूद इसकी भाषा, मानसिकता, अर्थ-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, देवशास्त्र, रीति-विधान आदि में इतने गहरे परिवर्तन हो जाते हैं कि स्वयं वैदिक काल में ही इसका अतीत वैदिक अध्येताओं के लिए दुर्बोध हो जाता है और इनमें से प्रत्येक पक्ष को समझने की जी तोड़ कोशिश के बावजूद स्थिति स्पष्ट नहीं हो पाती। अतः इसके रचना-काल की दीर्घता मात्र साहित्य की विशालता का प्रश्न बन कर नहीं उपस्थित होती और वैदिक साहित्य

के रचनाकाल के आरम्भ का निर्धारण करने के लिए इन विविध दृष्टियों से गहरी छान-बीन की माँग करती है।

ऋग्वेद की रचना कब हुई हो सकती है या, कहें, कितने लम्बे दौर में हुई हो सकती है, इसका निश्चय करना एक जोखिम भरी चुनौती थी, पर इसे अनिश्चित बने रहने देना इससे भी अधिक विडम्बनापूर्ण बात थी। अतः इस चुनौती का सामना तो करना ही था और इसका साहस संस्कृत साहित्य के प्रख्यात विद्वान मैक्समूलर ने किया।

2

मैक्समूलर का काल-निर्धारण

मैक्समूलर ने वैदिक काल का निश्चय करने के लिए बुद्ध के काल को अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाया। उन्होंने समूचे वैदिक साहित्य को चार काल-खण्डों में बाँटा। इनमें से अन्तिम को उन्होंने सूत्र-काल की संज्ञा दी और इसके लिए 600 ई. पू. से 200 ई. पू. का समय नियत किया और इस तरह इससे पहले के प्रत्येक चरण—ब्राह्मण, मन्त्र और छान्दस्—के लिए दो सौ वर्षों की अल्पतम काल-सीमा नियत करते हुए यह सुझाया कि 1000 ई. पू. तक समूचा ऋग्वेद अपने वर्तमान रूप में अस्तित्व में आ चुका था, और इसका रचनाकाल किसी भी तरह 1200 ई. पू. से बाद में नहीं रखा जा सकता।[3]

मैक्समूलर के इस काल-निर्धारण पर दो तरह की प्रतिक्रियाएँ देखने में आती हैं। पहली उनकी जिन्हें संस्कृत का अधिकारी विद्वान कहा जा सकता है और जो ही इस जटिल समस्या पर कुछ कहने के अधिकारी माने जा सकते हैं। इनमें से अधिकांश ने मैक्समूलर द्वारा किये गये काल-निर्धारण को सही नहीं माना और वे बराबर इस बात पर बल देते रहे कि ऋग्वेद के रचनाकाल को 2000 ई. पू. से बाद में नहीं लाया जा सकता। विंटरनित्ज़ ने जिस काल-निर्धारण को 'हास्यास्पद रूप में आधुनिक' (लुडिक्रशली माडर्न) कहा है, उसमें मैक्समूलर का काल-निर्धारण भी शामिल है।

रोचक बात यह है कि मैक्समूलर स्वयं भी अपने काल-निर्धारण को सन्तोषजनक नहीं मानते। उन्होंने बहुत धर्मसंकट की स्थिति में ही यह अल्पतम सीमा नियत की थी। कारण, तत्कालीन यूरोपीय समाज में संस्कृत से अपरिचित और भारतीय साहित्य और इतिहास के प्रति सन्देहशील एक ऐसा वर्ग था जो तरह-तरह की अटकलों से इसकी प्राचीनता को नकारने का प्रयत्न कर रहा था[4] और इसको ध्यान में रखते हुए ही मैक्समूलर ने यह दावा किया था कि ऋग्वेद के रचना-काल को 1200-1000 ई. पू. से बाद का तो किसी भी तरह नहीं ठहराया

जा सकता। इस काल को इससे पीछे ले जाने पर न केवल उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी, अपितु वह इसके हिमायती थे। उनकी सारी बहस उन लोगों से थी जो इतनी प्राचीनता को भी अधिक मान रहे थे।[5]

मैक्समूलर स्वयं इस काल-सीमा को अधिक पीछे ले जाने के पक्षधर थे, इसकी एक मिसाल यह है कि उनके काल-निर्धारण पर जब विल्सन, ह्विटनी, हिलेरी आदि ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की तो विल्सन की आपत्तियों का साभार उल्लेख करते हुए उन्होंने इनको उचित ठहराया और स्वीकार किया कि, "यदि इस समय यह सवाल उठाया जाये कि इन तीनों कालों की तिथियों को कैसे नियत किया जा सकता है तो, स्पष्टतः, हम इस बारे में कोई अन्तिम सीमा तय नहीं कर सकते। वैदिक सूक्त 1000 ई. पू. में रचे गये थे या 1500 ई. पू. में या 2000 या 3000 ई. पू. में रचे गये थे, इसे दुनिया का कोई आदमी तय नहीं कर सकता।"[6]

हम कह सकते हैं कि मैक्समूलर एक ओर तो ऋग्वेद के लिए अल्पतम काल-सीमा के विषय में काफ़ी आग्रहशील थे और दूसरी ओर इसकी अधिकतम काल-सीमा के विषय में स्वयं भी अपने निर्धारण के प्रति आश्वस्त नहीं थे और इसे पीछे ले जाने के हिमायतियों में स्वयं भी आते थे। इस तरह हम विल्सन, ह्विटनी, हिलेरी, गोल्डश्टकर, याकोबी, बूलर, ब्लूमफ़ील्ड, विंटरनित्ज, काणे, एन. एन. ला, तिलक आदि विद्वानों के साथ मैक्समूलर का भी नाम जोड़ सकते हैं जो इस बात के समर्थक थे कि वैदिक साहित्य की भाषा और अन्तर्वस्तु को ध्यान में रखते हुए इसका रचना-काल 2000 ई. पू. से पीछे ले जाया जाना चाहिए।

मैक्समूलर द्वारा सुझाये गये काल के प्रति दूसरी प्रतिक्रिया उन अध्येताओं की थी जिनको संस्कृत साहित्य का या तो कामचलाऊ ज्ञान था या जो इससे शून्य थे। इनके लिए मैक्समूलर का प्रस्ताव अन्धे की लकड़ी बन गया और वे स्वयं मैक्समूलर की झिझक को भी नजरअन्दाज करके इस प्रस्ताव को ब्रह्मवाक्य बना कर बार-बार दुहराते रहे। उनके साथ कुछ ऐसे संस्कृतज्ञों को भी शामिल किया जा सकता है जिन्होंने वैदिक साहित्य को केन्द्र में न रख कर अन्य अनुसंगी पक्षों को अधिक प्रधानता दी। इनके इस आग्रह के पीछे दो अन्य प्रबल आग्रह काम कर रहे थे और उन्हीं की सीमा में वे ऋग्वेद का रचना-काल निश्चित करने को बाध्य अनुभव कर रहे थे और इसलिए मैक्समूलर का कामचलाऊ प्रस्ताव उनको सर्वथा संगत प्रतीत हो रहा था।

इनमें से एक आग्रह था भारत में आर्य-भाषा-भाषियों का किसी भी रूप में आगमन। दूसरा था भारत से बाहर इन्हीं लोगों की उपस्थिति के उपलब्ध प्रमाण। इन दोनों को मान लेने पर भारत में आर्य-जनों की उपस्थिति 1500 ई. पू. से पीछे नहीं ले जायी जा सकती थी, और इस सीमा के भीतर ही इस पूरे रचना-काल को जैसे भी हो कस-दबा कर रखना था। पर यहाँ भी कुछ विद्वानों को

2000 ई. पू. से बाद की तिथि अग्राह्य लगती थी। अतः इनका सुझाव था कि ऋग्वेद की रचना 2000 ई. पू. में आरम्भ हुई हो सकती है या कुछ सूक्तों की रचना इससे भी पहले से शुरू हो गयी रही लगती है। पर उनका इस विषय में समाधान यह था कि इन प्राचीन सूक्तों की रचना वैदिक जनों के भारत में आने से पहले, या उस काल में ही जब वे तुर्किस्तान, ईरान या ईराक के क्षेत्रों में भ्रमण कर रहे थे, हो सकती है। इस मान्यता की पुष्टि के लिए कुछ समय तक कुछ भाषिक समीकरणों पर एकपक्षीय बल दिया जाता रहा। पर इसको अन्य अध्येताओं का समर्थन प्राप्त नहीं था जो यह मानते थे कि अपने प्रस्तुत रूप में समूचे ऋग्वेद की रचना भारत में ही हुई हो सकती है।[7] इस अन्तिम लाचारी में ही ऋग्वेद की रचना के लिए 1200-1000 की काल-सीमा मानते हुए इसके लिए विविध प्रकार की युक्तियों का सहारा लिया जाता रहा।

3
अवेस्ता ओर ऋग्वेद

कुछ विद्वानों ने अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषा को ऋग्वेद के रचना-काल के निर्धारण के लिए आधार बनाते हुए इसको 1000 ई. पू. में नियत करना चाहा है। इनका तर्क इस प्रकार है, "शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से वर्तमान रूप में ऋग्वेद को 1000 ई. पू. से पहले नहीं रखा जा सकता।...अवेस्ता की भाषा ऋग्वेद की भाषा से उससे अधिक भिन्न नहीं है जितनी पुरानी अंग्रेज़ी उच्च जर्मन से और यदि हख़मनी अभिलेखों की भाषा की तुलना गाथा की भाषा से की जाये तो इनके बीच अन्तराल को ध्यान में रखते हुए गाथा का रचनाकाल 1000 ई. पू. हुआ और चूँकि यह भाषा ऋग्वेद से समानता रखती है इसलिए ऋग्वेद की रचना 1000 ई. पू. से पहले नहीं हुई हो सकती। हाँ, जिस संस्कृति को ऋग्वेद में प्रस्तुत किया गया है वह इससे पहले की अवश्य होगी, पर उसे भी 1500 ई. पू. से पीछे नहीं ले जाया जा सकता।"[8]

हमें यह न भूलना होगा कि जिस 'शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि' की बात बड़े विश्वास से की जाती है वह अपनी अन्तिम व्याख्या में 'शुद्ध मरीचिका' सिद्ध होती है। सचाई यह है कि ऋग्वेद और अवेस्ता का कोई गम्भीर अध्ययन भाषा और देवशास्त्र की तुलना करते हुए किया ही नहीं गया है, और ऐसा न करने का कारण भी यह रहा है कि प्राथमिक जाँच-पड़ताल से निकलने वाले निष्कर्ष पण्डितों द्वारा गढ़े गये आक्रमण या आव्रजन के सिद्धान्तों से अनमेल पड़ते हैं, और इसलिए इस क्षेत्र को बहुत उत्साहवर्धक नहीं पाया गया। अब तक अवेस्ता की भाषा का ऋग्वेद

की भाषा की तुलना में जो महत्व आँका जाता रहा है वह भी मुख्य रूप से सम्भावनापरक ही रहा है। मैकडनेल लिखते हैं, "यदि हम अवेस्ता की भाषा के उतने ही पुराने चरण की जानकारी रखते जितने पुराने चरण के वेद हैं तो वह निश्चित रूप से वेदों से अभिन्न होती।"[9]

अब हम उस गणितीय फ़ार्मूले पर विचार कर सकते हैं जिसके अनुसार ऋग्वेद की भाषा को अवेस्ता जैसी मानते हुए इसका काल 1000 ई. पू. रखा गया है। यह पूरा समीकरण कुछ निम्न प्रकार है :

'अवेस्ता की भाषा और हख़मनी अभिलेखों की भाषा का अन्तर बराबर है प्राचीन उच्च जर्मन और प्राचीन अंग्रेज़ी के अन्तर के जो पुनः बराबर है 400 वर्षों के;

'अतः अवेस्ता का रचना-काल बराबर है हख़मनी अभिलेखों का काल अर्थात् 600 ई. पू. जमा 400 वर्ष, अर्थात 1000 ई. पू.;

'यदि हमें अवेस्ता की उतने ही पुराने चरण की भाषा प्राप्त होती जितने पुराने चरण की भाषा ऋग्वेद की है तो अवेस्ता की भाषा बराबर होती ऋग्वेद की भाषा के;

'इसलिए अवेस्ता की भाषा का काल बराबर है ऋग्वेद के रचनाकाल के;

'अतः सिद्ध हुआ कि ऋग्वेद का रचनाकाल 1000 ई. पू. है।'

ज़ाहिर है कि यह समीकरण खासा मनोरंजक है, पर इसकी मनोरंजकता तब कुछ और बढ़ जायेगी जब हम स्वयं अवेस्ता के उन अंशों की भाषा को सामने रख कर और हख़मनी अभिलेखों से उनकी इसी सूत्र से तुलना करते हुए इनका काल-निर्धारण करना चाहें जो विदित रूप में तीसरी या चौथी शताब्दी ई. पू. में या इससे भी बहुत बाद में रचे गये हैं। कुछ बिलकुल मामूली किस्म की भिन्नताओं को छोड़ कर ये भाषा की दृष्टि से अवेस्ता और गाथा की भाषा के ही समान हैं और चूँकि दो समानान्तर भाषाओं के आधार पर प्रस्तावित समीकरणों में इतनी बारीक बातों को शामिल नहीं किया जा सकता, अतः इनका रचना-काल भी 1000 ई. पू. ही सिद्ध होगा, जो इस तरह की तुलना को हास्यास्पद बना देता है।

दो भाषाओं को तुलना का आधार बनाते हुए इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि यदि इनमें से एक भाषा आम बोलचाल की रही हो और दूसरी एक सीमित वर्ग में एक सीमित प्रयोजन से उपयोग में लायी जाने वाली भाषा, और इसके साथ नियमों और रूढ़ियों का अविकल पालन करने का आग्रह काम कर रहा हो, तो पहली भाषा में कालक्रम में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर दूसरी का काल निर्धारण करना निरापद नहीं हो सकता। यदि कम-से-कम पाणिनि के समय से आज तक, लगभग ढाई हज़ार वर्षों तक, संस्कृत अपरिवर्तित

रूप में पण्डितों के सीमित दायरे में व्यवहार में आ सकती है, या लगभग इतनी ही पुरानी हिब्रू बहुत क्षीण परिवर्तनों के साथ आज भी पुनरुज्जीवित की जा सकती है, तो हम इस बात का निर्णय किसी परिवर्तनशील भाषा को सामने रखकर कैसे कर सकते हैं कि उक्त भाषाओं में कितने परिवर्तन कितने लम्बे अन्तराल में घटित हो सकते हैं। सच कहें तो, अपनी बात को सही साबित करने के लिए भाषिक साक्ष्यों की जिस तरह खींच-तान की जाती रही है उन्हीं की एक मिसाल यह भी है, और इतिहास के अध्ययन में भाषा-शास्त्र का जो सीमित योगदान हो सकता था उससे भी इसे वंचित करने और पूरी तरह निश्रेयस बनाने की ज़िम्मेदारी भी इस तरह के समीकरणों पर ही आती है।

भाषा के आधार पर अवेस्ता और वेदों की भाषा में प्राचीनता, नवीनता और समवर्तिता का निर्णय करना तो दूर रहा, स्वयं गाथा और अवेस्ता के बीच कौन अधिक पुरानी है, यह तय कर पाना प्रायः कठिन हो जाता है।[10] अतः यदि तुलना का कोई औचित्य और महत्व इन स्थितियों में है तो वह भाषा और व्याकरणिक विकारों की तुलना नहीं, अपितु दोनों की अन्तर्वस्तु की तुलना ही कोई अर्थ रखती है। ऋग्वेद का विभाजन अधिकारी विद्वानों ने इसकी अन्तर्वस्तु को ध्यान में रखते हुए प्राचीन और नवीन मण्डलों में किया है। जहाँ अवेस्ता की अन्तर्वस्तु का साम्य ऋग्वेद से बैठता है वहाँ यह साम्य प्राचीन नहीं, अपितु नवीन माने जाने वाले मण्डलों के साथ ही दिखायी देता है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के वाकोवाक्य या दार्शनिक प्रश्नोत्तर के सूक्तों को लिया जा सकता है जो मुख्यतः पहले और दसवें मण्डल के उन अंशों में आते हैं जिनकी नवीनता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। अवेस्ता की गाथाओं में कुछ गाथाएँ लगभग इन्हीं प्रश्नों को लेकर रची गयी हैं। हर्त्सफ़ील्ड ने कुछ गाथाओं का अनुवाद दिया है जिनका हिन्दी रूपान्तर निम्न प्रकार है :

'ऋत का जनक आदि पुरुष कौन है ? सूर्य और तारों के मार्ग का निर्माण किसने किया ? चन्द्रमा किसके प्रताप से घटता और बढ़ता है ?

'धरती और आकाश को किसने धारण कर रखा है जो ये गिरते नहीं ? किसने जलों और वनस्पतियों को ? मज्दा, बहुमनो का जनक कौन है ?

'किस ईश्वर ने प्रकाश और अन्धकार बनाया ? किस प्रभु ने नींद और जागरण ? किसने मध्याह्न, उषा और रात ? मेधावियों में स्मृति किसने जगायी ?'[11]

यदि ऋग्वेद से तुलना करें तो हम ऋग्वैदिक कवियों को लगभग इन्हीं समस्याओं से और मोटे तौर पर इसी भाषा और इन्हीं मुहावरों में जूझते पायेंगे। अन्तर यदि किसी बात में है तो यह कि ऋग्वेद में ये समस्याएँ कहीं प्रश्न के रूप में आती हैं तो कहीं उत्तर के रूप में।[12] चिन्तन और विचार-मन्थन का यह क्रम

ऋग्वेद के नये मण्डलों से आरम्भ होकर उपनिषद्-काल तक जारी रहता है।

अवेस्ता में उठाये गये प्रश्नों का कुछ अधिक सटीक उत्तर हिरण्यगर्भ सूक्त में पाया जा सकता है जिसे दशम मण्डल की नवीनता प्रमाणित करने के लिए एक तर्क के रूप में प्रयोग में लाया जाता रहा है[13], क्योंकि इसमें जिस विकसित संकल्पना का परिचय मिलता है उसे पुराने मण्डलों के लिए अकल्पनीय माना गया है। इसकी कुछ ऋचाओं को ही उद्धृत करना पर्याप्त होगा।

हिरण्यगर्भः समवर्तत अग्रे भूतस्य जातः पतिः एक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यां उत् एमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
येन द्यौ उग्रा पृथिवी च दृल्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यः अन्तरिक्षे रजसः विमान...॥
यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभि ऐक्षतां मनसा रेजमाने।
यत्र अधि सूर उदितः विभाति...॥
यः च अपः चन्द्रा बृहतीः जजान...॥ ऋ० 10. ;21. 1; 5-6; 9.

चिन्तन और ऊहापोह की इस भूमिका से क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि अवेस्ता और गाथा की रचना उस दौर में या उसके प्रभाव में हुई है जो ऋग्वेद के नये मण्डलों से आरम्भ होकर उपनिषद् काल तक आता है? अतः इसके रचना-काल को भी इन दोनों के बीच में रखना क्या उचित नहीं होगा?

वैदिक और ईरानी यज्ञ-पद्धति से भी हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं। आरम्भ में यज्ञ के लिए किसी पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती थी। यजमान स्वयं ही अपने यज्ञ का सम्पादन कर लेता था।[14] आगे चलकर पौरोहित्य का उदय हुआ और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वसिष्ठ पहले पुरोहित बने।[15] कुछ आगे चलकर यज्ञ में दो पुरोहितों की आवश्यकता पड़ने लगी।[16] ऋग्वेद के नवीन मण्डलों तक यह संख्या बढ़कर चार तक पहुँची थी[17], पर सूत्र-काल तक आते-आते यह संख्या सोलह तक चली जाती है।[18] पुरोहितों की संख्या में होने वाली यह उत्तरोत्तर वृद्धि कालक्रम को समझने में बहुत सहायक हो सकती है। अवेस्ता के रचना-काल में यज्ञ-सम्पादन के लिए आठ पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी। ये थे जओतर, हावनान, आतरबख़्श, फ्राबरतार, आबरतार, अस्नातर या आस्नात्र, रएविश्कर और सओषावरेज़।[19] इस विकास पर ध्यान देते हुए अवेस्ता के रचनाकाल को पुनः ऋग्वेद के नये मण्डलों के बाद और श्रोतसूत्रों के रचनाकाल से पहले रखना मण्डलों उचित होगा।

अवेस्ता में प्रयुक्त शब्दावली से भी उक्त मान्यता की ही पुष्टि होती दिखायी देती है। इसमें अनेक प्रयोग ऐसे हैं जो ऋग्वेद के बाद के काल में ही लोक-व्यवहार में आते दिखायी देते हैं, जैसे, सेरिष्ठ—श्रेष्ठि, उपास्तेंन—उपास्तरण, ज़ामातर—जामातृ, वइसपुथ्र—वैश्यपुत्र, फ्रवषिता—प्रवसित या प्रवासी, मोङ्हाइ—

मोक्षाय, मिथ—मिथ्या आदि। इसका यह अर्थ नहीं कि अवेस्ता में प्राचीन वैदिक प्रयोगों का अभाव है, पर ऐसे प्रयोग तो भारत से लेकर यूरोप तक की आधुनिक बोलियों में भी पाये जा सकते हैं। प्रश्न यह है कि ये प्रयोग जो निश्चय ही बाद के हैं किस करिश्मे से ईरानी में पहुँच गये? इसके दो ही समाधान हो सकते हैं। पहला यह कि ईरान में 'आर्य-भाषा-भाषी' इन विकासों के भारत में घटित होने के बाद पहुँचे और दूसरा यह कि ईरान में ये लोग जब भी पहुँचे हों और जितनी भी संख्या में पहुँचे हों, पर भारत से उनका सम्पर्क घनिष्ठ रूप में उस काल तक बना रहा जिस काल से इन विकासों का सम्बन्ध है और ऐसी स्थिति में इस सम्पर्क के सूत्र का भी कुछ आभास सेरिष्ठ, वइसपुथ्र, फ़वषिता और नोतर (नवागत) जैसे शब्दों से मिल जायेगा और वह है व्यापार। वस्तुतः यही वह सूत्र है जो आर्य-भाषा के भारत से बाहर प्रसार के लिए भी उत्तरदायी है।

मैक्समूलर ने स्वयं भी अवेस्ता और वैदिक भाषा पर अपने विचार इसी रूप में रखे थे कि ईरान में ईरानी भाषा का प्रसार भारत से हुआ है, पर उनके मस्तिष्क में मूल भारोपीय सभ्यता का जो आदिम स्तर घर कर गया था उसके कारण वह इसे एक विशाल प्रव्रजन से भिन्न रूप में सोचने में असमर्थ थे। वह लिखते हैं, "मैं आज भी मानता हूँ कि ज़ेन्द संस्कृत के छन्द शब्द का तद्भव है जिसका प्रयोग पाणिनि ने वैदिक भाषा के लिए किया है।"[20] और, "देवशास्त्र के मामले में भी यदि अवेस्ता के 'नोमिना और नूमिना' की तुलना महाभारत के मनु से की जाये तो पहली झलक में वे अधिक आदिम प्रतीत होंगे। परन्तु यदि वैदिक सिरे से विचार किया जाए तो सम्बन्ध तुरत उलट जाता है और ज़ोरास्टर के अनेक देवता वेदों के आदिम और प्रामाणिक देवताओं की मात्र परछाइयाँ और विकृतियाँ प्रतीत होते हैं।"[21] वह आगे लिखते हैं, "अब यह भौगोलिक साक्ष्यों के आधार पर भी साबित किया जा सकता है कि ज़ोरास्टर मतावलम्बी फ़ारस में आने से पहले भारत में बसे हुए थे। मैं ज़ोरास्टर मतावलम्बी इसलिए कह रहा हूँ कि फ़ारस और मीदिया के राष्ट्रों के विषय में यही दावा करने का हमारे पास कोई साक्ष्य नहीं है। पर ज़ोरास्टर मतावलम्बी और उनके पूर्वज वैदिक काल के दौरान भारत से रवाना हुए थे, यह उतने ही दो टूक ढंग से सिद्ध किया जा सकता है जैसे यह कि मेसीनिया के निवासी यूनान से रवाना हुए थे।"[22]

मिल्स अवेस्ता के तीसरे खण्ड के अनुवाद की अपनी भूमिका में ऋग्वेद और अवेस्ता के तुलनात्मक काल-निर्धारण पर विविध दृष्टियों से विचार करने के बाद इस मान्यता का खण्डन करते हैं कि गाथा ऋग्वेद के प्राचीन अंशों से पुरानी है। उनके मत से, "गाथाएँ ऋग्वेद के पुराने अंशों से बहुत बाद की हैं। हॉग की यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि गाथाओं में एकाएक और इरादतन पुराने देवताओं को ख़ारिज कर दिया गया, न ही यह कि धार्मिक मतभेद के कारण भार-

तीय दक्षिण की ओर प्रव्रजित हो गये। यह प्रक्रिया निश्चय ही ठीक इससे उल्टी थी।"[23] वह आगे लिखते हैं, "अतएव हम गाथाओं को प्राचीनतम ऋचाओं से बहुत बाद में रख सकते हैं। इसलिए, जहाँ ऋग्वेद के लिए नियत काल 2000 ई. पू. है। गाथाओं की रचना लगभग 1500 ई. पू. में हुई हो सकती है, इन्हें बाद में, कहें, 900-1200 ई. पू. में भी रखना सम्भव है, जबकि गाथा की भाषा में आये कुछ टुकड़ों को और बाद का मानना होगा। अवेस्ता के बाद के अंशों में से अनेक की रचना अनेक शताब्दियों के दौरान हुई हो सकती है, क्योंकि जेंद बोली की विभिन्न खण्डों में गाथाओं से बहुत अधिक विविधताएँ पायी जाती हैं। गाथाओं में वस्तुतः एक ही काल की भाषा है। अब बाद की अवेस्ता के प्राचीनतम अंशों को दारा से कुछ पहले रखते हुए हम उस काल को जिसके बीच इसके विभिन्न खण्डों की रचना हुई, ईसा से तीसरी या चौथी शताब्दी पूर्व तक रख सकते हैं, इनमें आये हुए प्रक्षिप्त अंशों को तो बहुत ही बाद का मानना होगा।"[24]

भारतीय और ईरानी शाखाओं के बीच जिस धार्मिक मतभेद को प्रव्रजन का कारण बताया जाता रहा है उसके विषय में गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी एक भिन्न सुझाव देते हैं, "ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 86वें सूक्त से आरम्भ करके आगे के सूक्तों में एक वाक्कलह का संकेत प्राप्त होता है। ऋज्राश्व ऋषि का दौहित्र जरथुस्त्र नाम का एक व्यक्ति हुआ। उसके हृदय में स्वभावतः उस काल के ब्राह्मणों के प्रति द्वेष था।...उसी के समय में बह्लीक देश में ऋषियों में एक विचार-संघर्ष उठ खड़ा हुआ। सौत्रामणि इष्टि में ऋषि इस विषय पर आपस में झगड़ पड़े कि इन्द्र को प्रधान देवता माना जाये या वरुण को। जरथुस्त्र ने परम्परा से चले आते हुए इन्द्र के प्राधान्य को अस्वीकार किया और इसके स्थान पर वरुण को प्रतिष्ठित किया। इसका संकेत ऋक्संहिता के 'नेन्द्रं देवमंसत' मन्त्रांश में पाया जाता है। उपस्थित ऋषियों में नृमेध, वामदेव, गार्ग्य आदि ने इन्द्र का पक्ष लिया और सुपर्ण, काण्व, भारद्वाज आदि ने वरुण का पक्ष लिया और वसिष्ठ आदि ऋषियों ने अपने-अपने स्थान पर दोनों का सम्मान माना। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न ऋषियों के सूक्त वहीं हैं और इन्द्राणी का क्रोध एवं इन्द्रकृत और अन्य ऋषिकृत उनकी सान्त्वना के मन्त्र वहीं हैं।"[25]

महामहोपाध्याय ने इस पूरी कथा को जितने सुथरे ढंग से, और जरथुस्त्र का भी हवाला देते हुए पेश किया है उसका पूरा औचित्य उनके पास अवश्य रहा होगा, पर ऋग्वेद के उक्त स्थल से या इसके बाद आने वाले सूक्तों से इसकी यथा तथ्य पुष्टि नहीं होती। निश्चय ही इन्द्र के देवत्व को किन्हीं के द्वारा अस्वीकार करने का स्पष्ट उल्लेख आया है और इसके साथ ही इस बात को इन्द्राणी द्वारा बार-बार दुहराया भी जाता है कि इन्द्र देवताओं में सबसे ऊपर हैं।

चतुर्वेदी जी के उक्त विवेचन में कुछ खींचतान की सम्भावना है, पर इसमें

कोई सन्देह नहीं कि भारत में इन्द्र के देवत्व को सर्वमान्यता नहीं मिली थी। ऋग्वेद मुख्य रूप से उन पुरोहितों की कृति है जो इन्द्र के देववाद में गहरी निष्ठा रखते हैं, इसके बावजूद छिट-पुट रूप में ही सही, इन्द्र के देवत्व में अविश्वास करने वालों की छाप इसमें भी बनी रह गयी है और ऐसा तभी सम्भव है जब ऐसे लोगों की संख्या बहुत प्रभावशाली रही हो। ऋ. 10.86 के अतिरिक्त अन्यत्र भी इन भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरण के लिए ऋ. 8.100.3 का रचनाकार व्यंग्यपूर्वक कहता है, "भाइयो, तुम लोग इन्द्र के लिए सचमुच यज्ञ करो यदि तुम्हें विश्वास हो कि वह सचमुच है। पर इन्द्र तो है ही नहीं, यही नेम (भार्गव) का कहना है। उस इन्द्र को किसने देखा है? फिर मैं किसकी स्तुति करूँ?"[26] इसी तरह का का अविश्वास ऋ. 2.12.5 में भी प्रकट किया गया है। इसी तरह एक अन्य स्थल पर इन्द्र को बिना किसी अनुगामी के एकाकी जाते हुए दिखाया गया है।[27] रोचक बात यह है कि यह विवाद या इन्द्र के प्राधान्य में यह सन्देह ऋग्वेद के नये मण्डलों में ही दृष्टिगोचर नहीं होता है और इस बात की खासी सम्भावना है कि यह प्रवृत्ति किसी क्षेत्र-विशेष में आरम्भ हुई हो और जो बात ऋग्वेद में कुछ सह्य और रोचक बनाकर पेश की गयी है वह अपने वास्तविक रूप में अधिक प्रखर रही हो, और सम्भव है ईरान में जाकर बसने वाले इस क्षेत्र के या इससे सीधा सम्पर्क रखने वाले क्षेत्र के ही रहे हों। ईरानी क्षेत्र में इनका बाहुल्य होने के कारण इनकी इन्द्र-विरोधी और देव-विरोधी मान्यताओं ने जोर पकड़ लिया जब कि भारत में इसकी अभिव्यक्तियाँ अन्य रूपों में हुईं।[28]

जतीन्द्र मोहन चटर्जी मानते हैं कि अवेस्ता भृगु की रचना है और इसका मुख्य बल भक्तियोग पर है। भृगु वरुण के उपासक थे और जिस विभेद की बात की जाती है वह उस पौराणिक प्रसंग में मूर्त है जिसमें भृगु को विष्णु की छाती पर लात मारते दिखाया गया है। वह महाभारत के "भार्गवाः वारुणाः सर्वे तेषां वंशो महान अपि" (अनुशासन 85. 129) में भी अपने मत की पुष्टि होते पाते हैं।[29] अवेस्ता के पन्द्रह यस्नों की तुलना वह अथर्ववेद के सादृश्य रखने वाले अंशों से करते हैं।[30] अवेस्ता पर आथर्वनों के प्रभाव के विषय में शंका नहीं की जा सकती और ऋग्वेद में अथर्वा को प्राचीन ऋषि मानने के बावजूद अथर्ववेद को कुछ तिरस्कार के साथ देखा जाता रहा है जिसके मूल में भी सम्भवतः वैदिक समाज की मान्यताओं का टकराव रहा हो। यह ध्यान देने की बात है कि अथर्वा को ही सम्भवतः पश्चिमोत्तर के पहाड़ी मार्गों की खोज करने वाला और बार-बार भारत से बाहर जाते-आते दिखाया गया है। अतः यह मानने का पर्याप्त कारण है कि ईरानी धार्मिक विश्वासों के पीछे अथर्वा का प्रमुख हाथ रहा है। इसी तरह हम पाते हैं कि शुद्ध आर्थिक कारणों से ऋग्वेद के नये मण्डलों तक आकर गाय का दैवीकरण कर दिया गया था, जबकि प्राचीन मण्डलों से इसका

कोई आभास नहीं मिलता। अवेस्ता में गोमेज़ या गोमूत्र की पवित्रता के उल्लेख पुनः इसे भारत में गाय के दैवीकरण के बाद के विश्वास की पुष्टि करते हैं।

इस तरह केवल भाषा, अन्तर्वस्तु, शैली, चिन्तन के स्तर और रचना-काल की दृष्टि से ही अवेस्ता ऋग्वेद के अन्तिम चरण के आस-पास की और सम्भवतः बाद की रचना नहीं सिद्ध होती, बल्कि ईरानी क्षेत्र में देववाद और इन्द्र की प्रधानता के विषय में जो प्रतिरोध दिखायी देता है तथा गाय की महिमा की जिस रूप में प्रतिष्ठा पायी जाती है उसकी भी व्याख्या भारतीय पृष्ठभूमि को सामने रखने पर और यहाँ पैदा होने वाले विचारों और विश्वासों को समझने पर ही हो सकती है, अन्यथा यह एक पहेली बनी रहती है।

इन तथ्यों के बावजूद अवेस्ता वैदिक काल-निर्धारण में हमारी विशेष सहायता नहीं करती। कारण, न तो यह ऋग्वेद की काल-सीमा का निर्धारण करने में कोई स्पष्ट संकेत देती है, न हमें इसकी आशा करनी चाहिए। अवेस्ता के विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसकी रचना से पहले ऋग्वेद की रचना पूरी हो चुकी थी और सम्भवतः अथर्ववेद और ब्राह्मणों आदि में से कुछ अस्तित्व में आ चुके थे। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अवेस्ता के रचनाकाल से पहले भारत का ईरान से सम्पर्क ही कायम नहीं हुआ था। वास्तव में ज़रथुस्त्रवाद स्वयं ईरानी क्षेत्र में पहले से चले आ रहे विश्वासों और मान्यताओं के विरुद्ध एक सुधारवादी आन्दोलन था और बार्थोलोम और हर्त्सफ़ील्ड का विचार है कि ज़रथुस्त्रवाद को अपनाने से पहले ईरानी स्वयं भी देवपूजक थे।[31]

वैदिक काल के निर्धारण में यदि कोई कमी थी तो वह थी किसी ऐसे वस्तुगत आधार की कमी जिसके कारण वैदिक रचना-काल अटकलबाज़ी का ही विषय बना हुआ था और इस अटकलबाज़ी के आधार पर, जैसाकि मैक्समूलर ने स्वीकार किया था, कोई भी आदमी कभी भी यह तय करने की स्थिति में नहीं था कि वेदों की रचना ठीक कब हुई। इस दिशा में पहला प्रयास ज्योतिष के आधार पर किया गया।

4

ज्योतिष और वैदिक रचना-काल

सन् 1893 में जर्मनी में याकोबी और भारत में बाल गंगाधर तिलक ने स्वतन्त्र रूप से वैदिक साहित्य में उल्लिखित नक्षत्रों की स्थितियों के विश्लेषण से यह निश्चित करने का प्रयत्न किया कि इनका घटना-काल क्या हो सकता है।[32] दोनों के निष्कर्ष वैदिक रचना-काल को इतना पीछे खींच ले जाते थे कि इससे

पाश्चात्य विद्वानों के बीच एक भूकम्प-सा आ गया। ये दोनों विद्वान भिन्न मार्गों से इस नतीजे पर पहुँचे कि ब्राह्मणों के समय में कृत्तिका नक्षत्र, जो कि उस समय नक्षत्र-गणना में आरम्भ-बिन्दु था, मधुसम्पात या विषुव के साथ घटित होता था। पर वैदिक ग्रन्थों में इससे भी पुराने पंचांग के संकेत मिलते हैं जब मधुसम्पात मृगशिरा में होता था। पूर्ववर्तन का मान निकालने से पता चला कि कृत्तिका में मधुसम्पात 2500 ई. पू. में होता था और मृगशिरा में 4500 ई. पू. में। पर जहाँ तिलक कुछ वैदिक कृतियों के लिए छह हज़ार ई. पू. की तिथि नियत करते हैं वहाँ याकोबी उस सभ्यता के आरम्भ को जिसके परिपक्व, या सम्भवतः बाद के कृतित्व के रूप में वैदिक गान हमें उपलब्ध होते हैं, 4500 ई. पू. मानकर ही सन्तोष कर लेते हैं।[33] उनके अनुसार सभ्यता का यह काल मोटे तौर पर 4500-2500 ई. पू. तक फैल जाता है और वह सम्प्रति उपलब्ध सूक्तों का रचना-काल इस अवधि के उत्तरार्ध में मानते हैं।

याकोबी को अपनी मान्यता की पुष्टि एक अन्य ज्योतिर्वैज्ञानिक अवेक्षण से होती मिली। गृह्यसूत्रों में प्राचीन भारत में प्रचलित एक वैवाहिक रीति का उल्लेख मिलता है जिसमें विबाह के बाद पति-पत्नी जब अपने घर वापस पहुँचते थे तब उन्हें बैल के चमड़े पर तब तक चुपचाप बैठना होता था जब तक तारे नहीं निकल आते थे। इसके बाद पति पत्नी को ध्रुवतारा दिखाकर कहता था, "ध्रुव इव स्थिरा भव" और उत्तर में पत्नी कहती थी, "तुम ध्रुव हो, मैं अपने पति के घर में ध्रुव रहूँ।" यह विवाह-रीति जिसमें अडिग निष्ठा के प्रतीक रूप में ध्रुव-तारे का उल्लेख है, उस समय आरम्भ हुआ होगा जब एक अधिक चमकीला तारा आकाशीय ध्रुव के इतने समीप रहा होगा कि उस समय के किसी देखने वाले को यह स्थिर मालूम हो। आकाशीय विषुव के क्रमिक खिसकाव के कारण इसका उत्तरी ध्रुव भी खिसकता रहता है। ध्रुव के चारों ओर साढ़े तेईस अंश के एक चक्र में एक तारे को पुनः लौटने में 26000 (वस्तुतः 25,867) वर्ष का समय लगता है। इस तरह एक-एक तारा खिसकता चला जाता है और उत्तरी तारा या ध्रुवतारा बनता जाता है। पर कभी-कभी ही ऐसा होता है कि कोई तेज़ रोशनी का तारा ध्रुव के इतने पास पहुँचता है कि उसे व्यावहारिक रूप में ध्रुवतारा कहा जा सके। इस समय लघु सप्तर्षि मण्डल का एक दूसरे दर्जे का तारा अल्फ़ा उत्तरी गोलार्ध का ध्रुवतारा है। जब वैदिक काल में ध्रुवतारे की बात की जा रही हो तो आशय इस ध्रुवतारे से नहीं हो सकता। कारण, अभी 2000 वर्ष पहले भी यह तारा ध्रुव से इतनी दूर था कि इसे ध्रुवतारा नहीं कहा जा सकता था। 2789 ई. पू. में जाकर ही हमें अल्फ़ा ड्रैकोनिस नामक एक ऐसा तारा मिलता है जो 500 वर्षों तक नंगी आँखों से देखा जा सकता था और जो ध्रुव या अचल प्रतीत होता रहा होगा। अतः उस विवाह-रीति के प्रचलन को जिसमें

अडिग निष्ठा के प्रतीक रूप में पत्नी को ध्रुवतारा दिखाया जाता था, उसी अवधि में अर्थात् तीसरी सहस्राब्दी ई. पू. के पूर्वार्ध में रखना होगा। पर ऋग्वेद के वैवाहिक सूक्तों में इसकी चर्चा नहीं आयी है। इससे याकोबी ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह विवाह-रीति वैदिक काल की न होकर उससे बाद की है और इसलिए वैदिक सभ्यता का काल तीसरी सहस्राब्दी से पहले है।[34]

जैसा कि स्वाभाविक था, याकोबी और तिलक के काल-निर्धारण का तीखा विरोध हुआ। इनके प्रतिवाद जिन रूपों में सामने आये वे निषेधात्मक नहीं अपितु सम्भावनापरक हैं। इनमें से कुछ बिलकुल निराधार और पाश्चात्य विद्वानों के अज्ञान या उपेक्षा के परिणाम थे। उदारहण के लिए एक तर्क यह दिया गया कि भारत में चान्द्र गणना ही प्रचलित थी; सौर गणना नहीं। यह दलील सही नहीं है। ऋग्वेद में उपजात मास का स्पष्ट हवाला आया है[35] जो चान्द्र और सौर पंचांगों के समन्वय का परिणाम है। इसी तरह यह सुझाव रखा गया कि लघु-सप्तर्षिमण्डल का एक तारा 1250-1500 ई. पू. में साफ मौसम होने पर नंगी आँखों दिखायी पड़ सकता था और इसलिए ध्रुवतारे का यह हवाला इसी काल का हो सकता है। यह सच भी हो सकता है, पर इससे यही सिद्ध होता है कि कल्प सूत्रों का रचना-काल 1500-1250 ई. पू. के बीच है, न कि 600-200 ई. पू. के बीच, और यह विशाल अन्तर ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक रचनाओं के विषय में तदनुरूप पूर्ववर्तिता और नये काल-निर्धारण की माँग करता है।

विद्वानों के सामने जो कठिनाई पेश आ रही थी वह थी आर्यों के भारत में आने की कल्पित मान्यता के सम्मुख उठने वाली आशंका। इसे इतना पीछे नहीं ले जाया जा सकता था जितना इन गणनाओं को सामने रखते हुए अपेक्षित प्रतीत हो रहा था। पर ऐसी स्थिति में यदि प्रश्नचिह्न लगाना आवश्यक था तो वह आर्य आव्रजन की मान्यता के सामने लगाया जाना चाहिए था। एक दूसरी कठिनाई उक्त काल में भारत में किसी भौतिक संस्कृति के प्रमाणों के अभाव की थी, कारण, हड़प्पा सभ्यता का उस समय तक पता नहीं चला था।

जो भी हो, इस नयी उद्भावना ने काल-निर्धारण की एक नयी दिशा का द्वार खोला। याकोबी और तिलक के अतिरिक्त कामेश्वर ऐयर[36], शंकर बालकृष्ण दीक्षित[37], गोरख प्रसाद[38], पी. सी. सेनगुप्त[39], एन. एन. ला[40], आदि अनेक विद्वानों ने नक्षत्र विषयक सूचनाओं के आधार पर ऋग्वैदिक काल निर्धारण की पुष्टि की और एन. एन. ला ने उसकी आलोचना करने वालों की सीमाओं को अधिक स्पष्ट करते हुए—पहले किये गये निर्धारण का समर्थन किया।

इस गणना-पद्धति के विषय में यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि जिन कृतियों में इनके उल्लेख हैं उनमें से अधिकांश भाषा आदि की दृष्टि से निश्चय ही बाद की हैं। अतः इन कृतियों के लेखन-काल से इनका सम्बन्ध नहीं है। पर

इसका धनात्मक पक्ष यह है कि इन गणनाओं में एक संगति है और इन्हें केवल कल्पना-प्रसूत नहीं कहा जा सकता। इन दोनों पहलुओं का एक ही समाधान दिखायी देता है कि उन कृतियों को वर्तमान रूप में लिपिबद्ध करने वालों को सम्बन्धित कालों की कृतियाँ उपलब्ध थीं और जैसा कि अन्यत्र भी देखा जाता है, भारतीय परम्परा में कुछ अत्यन्त पुरानी मान्यताओं को बाद की कृतियों में बार-बार यथातथ्य दुहराया जाता रहा है, इन नक्षत्रों के महत्त्व को भी समकालीन वास्तविकता की परवाह किये बिना दुहराया जाता रहा है। अतः यह कहना कठिन है कि जिन कृतियों में नक्षत्रों के ये उल्लेख आये हैं वे उसी काल की हैं, पर यह निश्चित है कि ये उक्त नक्षत्र-स्थितियों से बाद की हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो, ये अधिकतम सीमा का निर्धारण करने में सहायक न होते हुए भी इस बात की पुष्टि करती हैं कि उन कालों में सभ्यता का विकास इस स्तर का था कि नक्षत्रों आदि की स्थितियों का ध्यान रखा जा सके, उन्हें नाम दिया जा सके और दूसरी ओर इन कृतियों के विषय में अधिकतम सीमा के निर्धारण में इनका कुछ उपयोग अवश्य है।

5

एशिया माइनर के अभिलेख

वैदिक काल के लिए अपेक्षाकृत छोटी काल-सीमा मानकर चलने वालों के सामने एक उलझन उस समय पैदा हो गयी जब 1907 में ह्यूगो विंकलर ने बोग़ाज़कुई से जो हित्ती राजाओं की राजधानी थी, एक हित्ती राजा के मितन्नी राजा के साथ हुए सन्धि-पत्र का उद्धार किया। यह सन्धि-पत्र कीलक लिपि में मिट्टी की पट्टियों पर लिखा मिला था और इसकी तिथि 1360 ई. पू. मानी जाती है। इन अभिलेखों में आये देवनामों का साम्य केवल भारतीय वैदिक देवताओं से बैठता है। इसके अतिरिक्त अश्वपालन पर एक पुस्तक का भी उद्धार हुआ जिसमें प्रयुक्त संख्यावाची केवल भारतीय शाखा से ही मेल खाते हैं।

वैदिक सभ्यता के विषय में पुरातात्विक साक्ष्यों के अभाव की शिकायत प्रायः की जाती रही है, पर यहाँ हमें इस बात का एक रोचक उदाहरण मिलता है कि पुरातात्विक साक्ष्यों को भी मूलबद्ध आग्रहों के कारण किस तरह झुठलाया जा सकता है। इन अभिलेखों से तथाकथित भारोपीय समुदाय की किसी भी अन्य शाखा का सीधा सम्बन्ध नहीं बैठता। संख्यावाचियों, व्यक्तिनामों, देवनामों, इनके युग्मों और यहाँ तक कि वर्ण-विभाजन के मामले में भी इन शासकों का सम्बन्ध केवल भारत से बैठता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्ण-व्यवस्था का

जन्म भारत में ऋग्वैदिक काल में हुआ था और ईरान और एशिया माइनर में पहुँचने वाले लोग वर्ण-विभाजन के बाद वहाँ पहुँचे थे, जैसा कि अवेस्ता के वइसपुथ्र या वैश्यपुत्र और बोग़ाजकुई के हत्ती-पालि खत्तिओ या क्षत्रिय से प्रकट होता है।

पर अनेक विद्वान—गाइल्स, ओल्डेन बर्ग, कीथ, टी. बरो आदि—इस समस्या को यह कहकर सुलझाने का प्रयत्न करते हैं कि एशिया माइनर में पहुँचने वाले लोग उस मूल शाखा के रहे लगते हैं जिसकी एक शाखा ने इसी समय के आस-पास भारत में प्रवेश किया। जैसा कि हम पहले भी संकेत कर आये हैं, जहाँ उपलब्ध प्रमाणों को एक अप्रामाणिक आर्य-आव्रजन की मान्यता के तहत जाँचा जा रहा हो वहाँ प्रमाणहीनता ही सबसे बड़ा प्रमाण और प्रमाण ही सबसे निरीह मेमने बनकर रह जाते हैं। यह मानने से पहले कि बोग़ाजकुई के अभिलेखों का आर्यों से पूर्ववर्ती किसी मूल शाखा से सम्बन्ध है, या हो सकता है, अध्येताओं को अन्यत्र कहीं से इसका प्रमाण तो जुटाना ही चाहिए था, साथ ही यह भी तय कर लेना चाहिए था कि भारत में यह आव्रजन हुआ भी था या नहीं।

पर यह औचित्य-स्थापन अनेक दूसरे विद्वानों को सन्दिग्ध और किंचित् अग्राह्य या सन्देहजनक लगता है। इनमें याकोबी, कोनो, हिल्लेब्रांट, ब्लाख़, हॉक्स, विंटरनित्ज़, भंडारकर, कोसम्बी, भार्गव आदि का नाम लिया जा सकता है। हिल्लेब्रांट ने ऋग्वेद के आठवें मण्डल से भारतीय आर्यों के पश्चिमी एशिया के साथ सम्पर्क की ओर ध्यान दिलाया था।[41] कोनो इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि मितन्नी अभिलेख में नासत्या का उल्लेख विवाह के प्रसंग में आया है और ऋग्वेद के दसवें मण्डल में सूर्या के विवाद के प्रसंग में भी वह एक साक्षी देवता के रूप में आये हैं यह मानते हैं कि मेसोपोटामिया में आर्यों का प्रवेश ऋग्वेद की रचना पूरी हो जाने या इसका बहुलांश अस्तित्व में आ जाने के बाद हुआ। अतः ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों की रचना मितन्नी सन्धिपत्र से बहुत प्राचीन है।[42] विंटरनित्ज़ का कहना है कि इन्द्र-नासत्या का युग्म तो ऋ. 8.26.8 में भी आया है जहाँ उनका विवाह से कोई लेना-देना नहीं है।[43] ब्लाख़ यह निर्णय नहीं कर पाते कि यहाँ हमारा साबका उन्हीं कबीलों से पड़ रहा है जो बाद में भारत आये थे या वे भारत में आने के बाद यहाँ लौटे थे।[44] कोसम्बी उन्हें भारत आकर लौटा हुआ मानते हैं।[45]

जैसा कि हॉक्स ने स्पष्ट किया है, यह स्वीकार करते ही कि हित्ती जन उक्त क्षेत्र में भारत से पहुँचे थे, भारत में वैदिक सभ्यता को कम-से-कम 2500 ई. पू. ले जाने की बाध्यता उत्पन्न हो जाती है[46] और यही कुछ विद्वानों के लिए सबसे बड़ा कंटक रहा है।

6
कुर्गन संस्कृति

अनेक पाश्चात्य विद्वानों के लिए, और उनकी प्रतिभा में निष्ठा रखने वाले अनेक भारतीय अध्येताओं के लिए तुलना का एक अन्य आधार काला सागर से ठीक ऊपर नीपर और नीस्टर नदियों के प्रवाह क्षेत्र में पलने वाली संस्कृतियों का रहा है जिन्हें कुर्गन संस्कृति, पृथुपर्शु (बैटल ऐक्स) संस्कृति, गर्त समाधि (पिट ग्रेव) संस्कृति, रज्जु-मुद्रित भाण्ड (कोर्डेड वेयर) संस्कृति आदि की संज्ञा दी जाती रही है। इसके पता चलने के बाद से ही इस संस्कृति को आदिम भारोपीय संस्कृति मानने का आग्रह रहा है, जैसे भारोपीय जनों की आदिम संस्कृति और मूल के बारे में विद्वानों को अब किसी प्रकार का संशय ही न रह गया हो।

इस संस्कृति के कुछ पहलुओं पर बार-बार बल दिया जाता रहा है। इनको सार रूप में पेश किया जाये तो कुर्गन जन अश्वपालन से परिचित थे और घोड़े को संभवतः पाँचवीं सहस्राब्दी में ही पालतू बना चुके थे, यद्यपि इसका उपयोग वे मांस और दूध के स्रोत के रूप में ही करते थे। इनके औज़ारों में गड़ासे के ढंग का एक भारी फरसा भी है। कुछ स्थलों से प्राप्त मुद्भाण्डों पर जो चित्रांकन है यह सूर्य का प्रतीकांकन प्रतीत होता है जो वैदिक देवताओं में से एक था। अवशेषों में कुछ अँगीठियाँ प्राप्त हुई हैं जो सम्भव है यह यज्ञ के लिए उपयोग में लायी जाती रही हों। इनका मुख्य आजीव पशुपालन और आखेट था, पर ये मामूली-सी खेती भी करते थे। इन्हीं लोगों का प्रसार तीसरी और दूसरी सहस्राब्दियों में यूरोप के उत्तरी और पश्चिमी भागों में होता है, जिसकी पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्यों से होती है। इन लोगों का काला सागर के क्षेत्र में कहाँ से आगमन हुआ, यह तय नहीं है, पर सम्भव है ये वहाँ पूर्व से आये रहे हों। इनके सरदारों या राजाओं की समाधियों से काफ़ी कीमती सामान और आभूषण आदि प्राप्त हुए हैं जिनसे इनकी समृद्धि का पता चलता है। वे गाड़ी के पहिये से परिचित थे, पर उनकी गाड़ी के पहिये ठोस लकड़ी के होते थे, अतः उसी अनुपात में छोटे भी, अतः इनमें घोड़ों को नहीं जोता जा सकता था।[47]

जहाँ तक वैदिक जनों का प्रश्न है, इन रोचक उपलब्धियों का कोई अर्थ नहीं है। न केवल भारत में अपितु प्राचीन जगत के अन्य क्षेत्रों में भी जहाँ भारोपीय जनों की उपस्थिति के निर्णायक प्रमाण मिले हैं, उनमें कहीं भी उनकी सभ्यता का स्तर अविकसित नहीं दिखायी देता। कुर्गन जन तो अन्त तक अश्व-चालित रथ से परिचित नहीं थे, जब कि वैदिक जनों को रथचालन पर इतना अच्छा अधिकार था कि एक कुशल सारथी इच्छानुसार जब चाहे किसी भी ओर रथ को मोड़

सकता था। उनके पहिये भी अरों वाले हुआ करते थे। यह धारणा कि आर्य या वैदिक जनों की संस्कृति अश्व-संस्कृति थी, अपर्याप्त जानकारी का परिणाम है। घोड़े से पहले, जैसा कि हम संकेत कर आये हैं, वे गधे से परिचित थे और इन गधों का, उनके मुख्य भारवाही पशु होने के कारण, खासा महत्व था। बंगाल में आज भी लक्ष्मी का वाहन गधा ही माना जाता है जिसका पुतला लक्ष्मी-पूजा की रात को बस्ती से बाहर खड़ा किया जाता है जो धनार्जन के लिए व्यापारिक यात्राओं के क्रम में प्रस्थान का सूचक है। वैदिक जनों का मुख्य पशु गाय थी, जिसकी उपस्थिति कुर्गन संस्कृति में बहुत कम है। जिन्हें अग्निकुण्ड माना गया है वे आग जिलाने की अँगीठियाँ प्रतीत होती हैं। वैदिक यज्ञ सार्वजनिक हुआ करते थे और अग्नि-कुण्ड कच्ची ज़मीन में खासे बड़े आकार का बनाया जाता था। व्यक्तिगत यज्ञ-विधान का वह युग नहीं था। जिन्हें सूर्य क. प्रत्यंकन माना गया है वे भी रस्सी को गोलाकार लपेटकर भाण्डों पर इनके दबाव से तैयार किये गये अंकन हैं जिनको केवल एक ही नहीं अनेक रूपों में इन भाण्डों पर छापा गया है और जिसके कारण ही इसका एक नाम कोर्डेड वेयर कल्चर या रज्जु-मुद्रित भाण्ड संस्कृति पड़ा है। अतः यहाँ पर हमें एक भी ऐसा सूत्र नहीं मिलता जिससे हम इसे भारोपीय या वैदिक संस्कृति का पूर्वरूप कह सकें। वैदिक अन्त्येष्ठि में भी उस प्रकार के उन्मादपूर्ण प्रदर्शन की छाया नहीं मिलती जो यहाँ की गर्त समाधियों में दिखायी देती है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि दक्षिण-पूर्व—ईरान और भारत—की ओर इसके अग्रसर होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसके यूरोप की ओर अग्रसर होने के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि इस संस्कृति के लोगों ने सम्भवतः आक्रमण या क्रमिक प्रव्रजन के द्वारा मध्य और उत्तरी यूरोप में प्रवेश किया और वहाँ की आबादी में रच-खप गये।

इस संस्कृति का एक दूसरा पहलू भी है जो कुछ रोचक प्रतीत होता है और वह है इसका किसी ऐसे व्यापारिक सूत्र से जुड़ा होना जिसका प्रसार बहुत व्यापक था। कारण, इन बस्तियों से कतिपय ऐसी वस्तुएँ भी मिली हैं जिनका उद्गम स्थल बहुत दूर सिद्ध होता है। इसी का पूरक पहलू है इनमें से अत्यन्त समृद्ध व्यक्तियों की समाधियों से बहुत बड़ी सम्पदा का प्राप्त होना और इस वर्ग की शेष आबादी से अलग क़िलाबन्द बस्तियाँ। ये बस्तियाँ किसी नगर की अपेक्षाओं और इसकी प्रशासनिक आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत छोटी हैं, पर इनके मकानों की बनावट, शेष आबादी से इसका अलगाव, अपनी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था आदि इस बात की सम्भावना को बल देती हैं कि ये किन्हीं समृद्ध लोगों की बस्तियाँ थीं जिन्हें चोरी-लूट आदि के ख़तरों से बचने के लिए एक विशेष व्यवस्था करनी पड़ी थी। आर्थिक आधार को देखते हुए, बिलकुल अलग ऐसी उँचाइयों पर जहाँ से दूर तक के ख़तरों का पूर्वाभास पाया जा सके, इनका बसना इस कारण भी हो

सकता है कि स्थानीय जनों से ये किन्ही मामलों में भिन्न थे और यदि व्यापार से किन्हीं का सम्बन्ध हो सकता था तो सीधा सम्बन्ध इन्हीं का था जो ही इनकी असाधारण सम्पन्नता का कारण भी था। इनकी उपस्थिति तीसरी सहस्राब्दी ई. पू. से दिखायी देने लगती है। क्या यह सम्भव नहीं कि ये आर्य व्यापारियों के या उनसे सम्पर्क रखने वाले स्थानीय व्यापारियों के अड्डे रहे हों और भारोपीय भाषा और संस्कृति के उस क्षेत्र में प्रसार के भी केन्द्र बने हों? हम यह जानते हैं कि पण्य वस्तुएँ और व्यापारिक सम्पर्क उत्पादकों और व्यापारियों की भाषा, संस्कृति और विश्वासों के प्रसार में कहीं अधिक गहरे स्तर पर काम करते हैं और इनके माध्यम से आने वाला प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक गहन और चिरस्थायी होता है। घोड़ों के लगाम आदि के प्रमाण जिनसे प्रकट हो कि घोड़ों का सवारी के लिए भी उपयोग होने लगा था, इनकी बस्तियों तक ही सीमित हैं।

जो भी हो, कुर्गन संस्कृति से वैदिक काल के निर्धारण में हमारी कोई खास सहायता नहीं मिलती या यदि मिलती है तो केवल इस सीमा तक ही कि सम्भवतः आर्य-भाषा-भाषी व्यापारियों ने तीसरी सहस्राब्दी तक दक्षिणी और मध्य यूरोप के भी कुछ स्थलों पर अपने अड्डे बना लिये थे और इनके अड्डे क्रमशः उत्तर और पश्चिम की ओर बढ़ते हुए यहाँ पहुँचे थे।

वैदिक अन्तःसाक्ष्य

इस विषय में किसी सन्देह की आवश्यकता नहीं कि ऋग्वेद की रचना में बहुत समय लगा था। इसकी पुष्टि स्वयं ऋग्वेद में उपलब्ध ऋषियों के वंशधरों की नामावली से ही नहीं होती, अपितु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है ऋग्वेद में आने वाली आवृत्तियाँ। इन आवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए ब्लूमफ़ील्ड इस नतीजे पर पहुँचे थे कि वैदिक काव्य एक लम्बे समय तक वातावरण में छाये रहे थे और इसी कारण ऋचाओं के अनेक चरण और कभी-कभी पूरी ऋचा नये सूक्तों में स्थान पा जाती रही।[48] पूर्ववर्ती कवियों या पुराणकारों की पंक्तियों को नये कवियों द्वारा यथातथ्य आत्मसात् करते हुए रचना करने की यह परम्परा इनके लम्बे अन्तरिम चरणों की पुष्टि करती है।

पर इन दोनों तथ्यों से अधिक महत्वपूर्ण है समाज के आर्थिक और सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन। इस पहलू पर हम कुछ विस्तार से आगे के अध्यायों में विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वैदिक समाज ने अपने आर्थिक और सामाजिक आधार को उस स्तर तक पहुँचाने में जिसे हम ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित पाते हैं काफ़ी लम्बा—सहस्राब्दियों का—समय लिया है। यहाँ हम जिस पहलू पर

विचार करना उचित समझते हैं वह है स्वयं ऋग्वेद में आयी सूचनाओं के आधार पर ऋग्वेद के रचना-काल का निर्धारण।

ऋग्वेद के पुराने और नये मण्डलों के बीच पायी जाने वाली अन्य अनेक भिन्नताओं की ओर अध्येताओं ने ध्यान दिया है, पर एक पहलू की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। यह है प्राचीन और नवीन सूक्तों के बीच नदियों में तुलनात्मक महत्व का अन्तर। यद्यपि सिन्धु शब्द का सामान्य नदी के अर्थ में नये और पुराने सूक्तों में बार-बार प्रयोग हुआ है, किन्तु पुराने सूक्तों में नदी विशेष के अर्थ में इसका प्रयोग केवल दो बार ही आया है। पहली बार यह उल्लेख रसा के साथ नाम के लिए ही आया हैं।[49] दूसरे स्थल पर भी इसका नामोल्लेख मात्र दूसरी अनेक नदियों के साथ देखने में आता है।[50] सायण इन दोनों स्थलों पर भी सिन्धु को नदी विशेष के अर्थ में न लेकर उदक् और समुद्र के अर्थ में ही लेते हैं। यदि सायण की व्याख्या को मानकर चलें तो प्राचीन सूक्तों में सिन्धु का एक नदी के रूप में उल्लेख आया ही नहीं है। यदि उनसे अहमति रखी जाये, जिसका पर्याप्त कारण भी है, तो प्राचीन अंशों में सिन्धु का उल्लेख मात्र प्रासंगिक और रूप-रंग-हीन है, मानो कवि को सिन्धु नदी का ज्ञान तो हो, पर उससे किसी तरह की आत्मीयता न अनुभव करता हो।

इसके विपरीत सरस्वती का उल्लेख पुराने सूक्तों में पूरी गरिमा और वैभव के साथ किया गया है। यहाँ सरस्वती के प्रबल वेग, इसकी जलसम्पदा, इसकी बदलती हुई धारा, इसके भयानक रूप, आर्थिक महत्व, इसकी गर्जना, इसमें मिलने वाली अनेकानेक नदियों और इससे सम्भावित ख़तरों का बहुत जीवन्त वर्णन किया गया है। यह अपने प्रबल वेग से पर्वत शृंगों को इस तरह तोड़ डालती है जैसे कोई कमल नाल को तोड़े।[51] यह धनधान्य से पूर्ण या प्रखरवेग वाली नदी है।[52] इससे धन के लिए अनुरोध किया जाता है।[53] यह पूषा की तरह पोषक अन्न देती है।[54] यह एक भयंकर और कूल-कगार तोड़ने और धारा बदने वाली नदी है।[55] इसकी जलधारा गर्जना करती हुई प्रवाहित होती है।[56] बाढ़ के समय इसका पाट इतना चौड़ा हो जाता है कि लगता है यह क्षितिज तक फैली हुई है।[57] यह नदियों में सबसे प्रखर वेग वाली और सबसे अधिक जलराशि वाली नदी है।[58] नदियाँ इसमें आकर मिलती हैं, यह सप्तधातु[59] और सप्तस्वसा है।[60] अपनी सखियों या अन्य नदियों की तुलना में यह अधिक धनधान्य देने वाली है।[61] यह सदा कल्याण ही करती है।[62] यह सबसे बड़ी माँ, सबसे बड़ी देवी और सबसे बड़ी नदी है।[63] यह हिमालय से ले कर समुद्र-पर्यन्त प्रवाहित होती है[64] और इसके माध्यम से नहुष-पुत्र ने अकूत धन कमाया था।[65]

ऋग्वेद के नये मण्डलों में स्थिति बिलकुल उलट जाती है। यद्यपि प्रथम मण्डल के तीसरे सूक्त में भी इसके 'वाजेभिः वाजिनीवती' और 'महो अर्णः'[66] विशेषण

प्रयोग में आये हैं, पर इस मण्डल के पहले से लेकर पचासवें सूक्त तक की रचना प्राचीन मण्डलों के समय की बतायी जाती है।[67]

नये मण्डलों में सिन्धु को वही महत्व प्राप्त हो जाता है जो पहले सरस्वती को प्राप्त था। सरस्वती का वर्णन उसी तरह नामोल्लेख बनकर आता है जैसे पुराने मण्डलों में सिन्धु का। सिन्धु का पहली बार कुछ महत्व के साथ उल्लेख आठवें मण्डल में आता है जहाँ उसे अनेक नदियों को आत्मसात करके बहने वाली[68] और तेज प्रवाहवाली या वैभवशालिनी[69] कहकर सम्बोधित किया गया है। उसके वैभव और जलसम्पदा का लगभाग उसी भावाकुलता के साथ वर्णन नदी सूक्त में आता है जहाँ उसे समस्त नदियों में ओज की दृष्टि से सर्वोपरि[70], अदब्धा और जलभंडार में सर्वोपरि[71] कहा गया है। इसकी महिमा को महान बताया गया है[72], इसे श्वश्वा, सुरथा, हिरण्ययी, वाजिनीवती, ऊर्णावती, मधुवृधा आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है।[73] यह धरती से अधिक पर्वतीय क्षेत्र से होकर प्रवाहित होती है।[74] इसे वरुण के आवागमन का मार्ग बताया गया है।[75] यह अपने वेगवान रथ से चलती है जिससे व्यापारिक यात्राओं से लाभ अर्जित किया जाता है[76] तथा यह अन्य नदियों को इस तरह लेकर आगे बढ़ती है जैसे कोई राजा सेना का नेतृत्व करे[77], और दूसरी नदियाँ इसकी ओर उसी तरह दौड़ती हैं जैसे माँ की ओर बच्चे, या गाय की ओर बछड़े।[78] सिन्धु के प्रवाह से ऐसी गर्जना होती है जिससे आकाश तक गूंज उठता है और यह इस तरह दौड़ती है[79], जैसे कोई वृषभ हुंकारता हुआ दौड़े।[80]

नदी सूक्त में यदि सरस्वती का उल्लेख न आया होता तो यह माना जा सकता था कि यह मात्र संयोग ही है कि पुराने सूक्तों में सरस्वती की महिमा का उल्लेख हुआ है और नये सूक्तों में सिन्धु का स्तवन किया गया है। पर सरस्वती का भी उल्लेख नदी सूक्त में ही आया है और इससे यह प्रकट होता है कि वैदिकों के लिए और उनके आर्थिक प्रचालनों के लिए इसका महत्व बहुत घट गया है।[81] नदी सूक्त में लगभग वे सारे विश्लेषण जो पहले सरस्वती के लिए प्रयोग में आते थे सिन्धु के लिए प्रयुक्त होने लगे हैं। सरस्वती के स्थान पर अब सिन्धु ही हिरण्य-वर्तनी, वाजिनीवती, अपसां अपस्तमा, महान महिमा वाली, अनन्त शुष्म वाली हो जाती है।

महत्व का यह बदलाव और पहले के सारस्वत क्षेत्र की तुलना में पूर्व से पश्चिम की ओर लगभग समस्त हड़प्पा सभ्यता के क्षेत्र को समेटने वाले भू-भाग का इस नये सन्दर्भ में परिचय हमारे लिए बहुत महत्पूर्ण है। इससे स्पष्टतः यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक सभ्यता का आविर्भाव सारस्वत क्षेत्र में होता है, वहीं यह अपने विकास को प्राप्त करती है और बाद में उसका क्षेत्र-विस्तार होता है, और इसी क्रम में यह मुख्यतः पश्चिम की ओर, और कुछ दूर तक पूर्व की ओर,

बढ़ती है। सभ्यता का केन्द्र सरस्वती-तट से हटकर सिन्धु और उसकी सहायिकाओं के तट पर पहुँच जाता है और इस क्रम में इसकी व्यापारिक गतिविधियों का खासा विस्तार होता है।

काल-निर्धारण की दृष्टि से यह संकेत और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के नये माने जाने वाले मण्डलों की रचना का काल परिपक्व हड़प्पा काल है और प्राचीन मण्डलों की रचना सारस्वत क्षेत्र में हुई थी और ये उससे कहीं अधिक पुराने हैं, जितना सामान्यतः सोचा जाता रहा है। यदि परिपक्व हड़प्पा की अवधि लगभग पाँच सौ वर्ष की है तो समूचे ऋग्वेद की रचना की अवधि लगभग एक हज़ार वर्ष या इससे कुछ अधिक ही पड़ेगी। दूसरे शब्दों में कहें तो, ऋग्वैदिक काल का आरम्भ लगभग 3000 ई. पू. या इससे भी कुछ पीछे चला जाता है।[82]

दोनों नदियों के नामोल्लेख में पाये जाने वाले इस अन्तर की ओर पहले भी ध्यान दिया गया था और इससे स्वतः फूटने वाले निष्कर्ष को कि वैदिक सभ्यता का प्रसार सरस्वती की उपत्यका में हुआ और बाद में इसका प्रसार सिन्धु के क्षेत्र में हुआ, भारत पर आर्य आक्रमण या भारत में आर्यों के बाहर से आव्रजन के ठीक विपरीत पाकर वस्तुस्थिति को ही उलटने का प्रयत्न किया गया था। इस तरह कुछ विद्वानों ने यह सुझाव रखा था कि सरस्वती अफ़ग़ानिस्तान की हरौती नदी रही हो सकती है, पर हरौती समुद्र-पर्यन्त प्रवाहित नहीं होती जबकि सरस्वती के समुद्र-पर्यन्त प्रवाह का उल्लेख है, अतः यह ताल-मेल बैठाने का प्रयत्न किया गया कि छठे मण्डल की सरस्वती तो हरौती है और सातवें मण्डल तथा बाद के मण्डलों की सरस्वती भारत के मध्यदेश की सरस्वती।[83] सरस्वती के समुद्र-पर्यन्त प्रवाह को ध्यान में रखते हुए यह भी सुझाने का प्रयत्न किया गया कि यह सिन्धु का ही पुराना नाम हो सकता है।[84] सिन्धु का ही पुराना नाम सरस्वती रहा हो सकता है, इसकी व्यर्थता तो इस बात से ही साबित हो जाती है कि नदी सूक्त में यथाक्रम पूर्व से पश्चिम की ओर नदियों के उल्लेख में सरस्वती का नाम गंगा, यमुना के बाद ही आता है और उसी में आगे सिन्धु का पृथक वर्णन भी है और अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर सिन्धु और सरस्वती का साथ-साथ उल्लेख आया है। पहले मत पर टिप्पणी करते हुए वैदिक इंडेक्स के लेखक लिखते हैं, "यह मत अनिवार्यतः इस सिद्धान्त पर आधारित है कि ऋग्वेद का छठा मण्डल, सातवें के विपरीत, ईरानी भूमि को अपने क्रिया-कलाप का क्षेत्र मानता है : यह उतना ही अनुपयुक्त है जितना कि स्वयं यह सिद्धान्त। ब्रुनहॉफ़र ने एक समय इस ईरानी समीकरण को स्वीकार किया था, किन्तु बाद में उन्होंने उस ऑक्सस के पक्ष में अपना मत परिवर्तित कर लिया जो सर्वथा अप्रासंगिक है।[81]

पर यह सोचना ग़लत होगा कि परिपक्व हड़प्पा का आरम्भ हड़प्पा और

मोहनजोदड़ो आदि नगरों के साथ होता है। इन नगरों की स्थापना एक विकसित और सुनियोजित नगर-योजना के अन्तर्गत होती है, अतः यह आसानी से सोचा जा सकता है कि इन नगरों को बसाने वालों को नगर-जीवन का परिचय पहले से प्राप्त था। इन नगरों की आशा हम सारस्वत क्षेत्र में कर सकते हैं, परन्तु इनको ढूंढ़ पाना सम्भवतः आज अधिक कठिन हो। सम्भव है, इनमें से अनेक स्वयं सरस्वती के ग्रास बन गये हों और शेष कुछ इसके द्वारा लाये गये कचरे की तहों के नीचे दफ़न हों।

नगर-सभ्यता से पूर्ववर्ती विकास का पुनः एक बहुत लम्बा चरण हमें भारत में दिखायी देता है। इनमें कितने हज़ार वर्षों का समय लगा होगा यह कहना कठिन है पर इसकी विकास रेखा का अध्ययन हम वैदिक साहित्य—विशेषतः ब्राह्मणों और पुराणों—के आधार पर कर सकते हैं। इसे हम अगले अध्यायों के लिए स्थगित रख सकते हैं।

जब हम सरस्वती क्षेत्र में पुरानी नगर-सभ्यता के विकास की बात और उससे पहले के विकासों की बात कर रहे हैं जिनके भौतिक अवशेष अभी ढूंढ़ने होंगे, तो यह किंचित अविश्वसनीय लग सकता है। पर स्थिति सर्वथा निराशा-जनक नहीं है। कम-से-कम मेहरगढ़ की खोज ने भारतीय सभ्यता के विकास की तसवीर को आज पहले की तुलना में बहुत बदल दिया है।

मेहरगढ़

मेहरगढ़ बलूचिस्तान के क्वेटा जिले में बोलन दर्रे के नीचे, बोलन नदी के पास लगभग 500 एकड़ का क्षेत्र है जिससे हड़प्पा से पहले के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस स्थल पर निवास के चिह्न अनुमानः 7वीं सहस्राब्दी ई. पू. में देखने में आते हैं। इस स्थल की खुदाई करने वाले, जैरिज, के अनुसार यहाँ लगभग नव मीटर मोटी तह पायी गयी और यह बस्ती लगभग तीन हज़ार वर्ष तक आबाद रही। इसका आरम्भ मृद्भाण्ड पूर्व नवपाषाणी चरण से होता है। पाँचवी सहस्राब्दी ई. पू. में यहाँ ईंटों के प्रयोग के चिह्न मिलने लगते हैं और इसी के दौरान कृष्ट अनाजों के बीच, भण्डार के पास और चूल्हे के पास कपास के बीज भी प्राप्त हुए हैं। इससे इस बात का पता चलता है कि इस काल तक कपास की खेती और सूती कपड़ों की कताई-बुनाई का आरम्भ हो चुका था। छठी सहस्राब्दी के बीच ही इस कृषि-मूलक अर्थ-व्यवस्था में कौशलों के विशेषीकरण और सुदूर स्थलों से सम्पर्क के चिह्न प्रकट होते हैं जो यहाँ से प्राप्त कौड़ियों, लाजवर्द और फीरोजा आदि से प्रमाणित होता है। इसके तीसरे चरण में, चौथी सहस्राब्दी ई. पू. में यहाँ

चाक से बर्तन भी बनने लगते हैं।[86] "मकानों की योजना शहरी नहीं है, पर ये कई कमरों वाले और सलीके से बने हुए हैं। करायल के प्रयोग से टोकरों को अछिद्र बनाने का चलन भी इस चरण में दिखायी देता है।"[87]

मेहरगढ़ सभ्यता के इतिहास-ग्रन्थ के सबसे पुराने और दीमक खाए खण्ड के एक महत्वपूर्ण पन्ने के पार्श्व पर अंकित एक नन्हीं-सी टिप्पणी जैसा है। यह इस मान्यता का तो खण्डन करता ही है कि पश्चिमोत्तर सीमान्त के इस पार चार हज़ार ई. पू. की किन्ही संस्कृतियों का पता नहीं चलता, साथ ही भारतीय सभ्यता के विकासक्रम को समझने की दृष्टि से एक मानस्तम्भ का भी काम करता है। यद्यपि आहार-अन्वेषण और आखेट के पूर्ववर्ती चरणों को समझने के लिए यह हमारे लिए कोई उपयोगी सूचता नहीं दे सकता, पर स्थाई बस्तियाँ बसाकर रहने और हज़ारों वर्षों तक एक ही स्थल से बँधे रहने के कारण इसके निवासी हमारे लिए पशु-पालन और आदिम कृषि के चरण से आगे के विकास को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण संकेत छोड़ गये हैं।

पर क्या मेहरगढ़ हमारे इस प्रस्ताव का खण्डन नहीं करता कि वैदिक सभ्यता का विकास सारस्वत क्षेत्र में होता है और इसके बाद यह सिन्धु की ओर अग्रसर होती है? इस प्रश्न के संगत पहलुओं पर हम आगे विचार करेंगे।

उपसंहार

अब यदि हम ऋग्वेद के रचना-काल के निर्धारण के लिए या मोटे तौर पर वैदिक साहित्य के रचना-काल के निर्धारण के लिए अब तक अपनायी गयी विविध युक्तियों को यान्त्रिक रूप में सामने रख कर विचार करें तो हमें इनमें इतना अन्तर दिखायी देगा कि इनके द्वारा नियत तिथियों में किसी को भी स्वीकार करने में कुछ घबराहट-सी होगी। पर यदि इन सभी का सारतत्व लें तो पायेंगे कि पहली नज़र में दीखने वाली अराजकता मात्र आभासिक है और इन सभी से वैदिक सभ्यता के छठी-पाँचवीं सहस्राब्दी में एक स्वविशिष्ट और सुस्पष्ट रूपाकार ग्रहण कर लेने की पुष्टि होती है।

उदाहरण के लिए, जिस व्यक्ति ने ऋग्वेद और वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों की रचना के लिए अल्पतम काल-सीमा रखी थी उसने भी इस बात को स्वीकार किया था कि इस काल को कितना पीछे ले जाया जा सकता है इस विषय में कुछ भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इस लेखक ने रचनाओं के पूर्वापर क्रम को ध्यान में रखते हुए जिस तरह की अटकलबाज़ी की थी उसी के आधार पर दूसरे लेखक उससे लगभग दूने पीछे चले गये थे और उनके मन में भी आशंका यही रही लगती

है कि क्या इसे इससे पीछे ले जाना निरापद रहेगा? फिर भी उन्होंने निश्चित तिथि पर बल देने से बचने का सुझाव दिया था। दूसरे शब्दों में कहें, साहित्यिक सामग्री के आधार पर हम बिना किसी उलझन के हड़प्पा काल में पहुँच जाते हैं, और दोनों स्रोतों—साहित्य और पुरातत्व—के आधार पर हम पाते हैं कि ऋग्वेद के नये मण्डलों का ही सम्बन्ध परिपक्व हड़प्पा से बैठता है।

इससे पीछे लौटने पर हम सारस्वत क्षेत्र में और चौथी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध और तीसरी के पूर्वार्ध में पहुँचते हैं। पर ऋग्वेद के प्राचीन अंश भी हमें एक लम्बी रचना-यात्रा का आभास देते हैं जिसका दौर नये मण्डलों से कुछ अधिक लम्बा रहा लगता है। केवल इस बात को देख कर कि पुराने माने जाने वाले अंश नये मण्डलों की तुलना में कम हैं, यह सोच लेना उचित नहीं कि इनका रचना-काल भी इसी के अनुरूप कम होगा। पहली बात तो यह है कि नये माने जाने वाले मण्डलों के भी बहुत-से सूक्त, जैसा कि ब्लूमफ़ील्ड ने सुझाया है, काफ़ी पुराने हैं और इन्हें पुराने मण्डलों के साथ रखा जा सकता है। दूसरे, ब्लूमफ़ील्ड के ही अनुसार उपलब्ध सूक्त, भले ही वे पुराने मण्डलों के ही क्यों न हों, उस प्राथमिक अवस्था को प्रकट नहीं करते जब वैदिक ऋचाओं की रचना आरम्भ हुई थी। कारण, इनमें भी भाषा और शैली का एक ऐसा कसाव और परिमार्जन दिखायी देता है जो एक लम्बे अभ्यास के बाद ही हासिल हुआ हो सकता है। ब्लूमफ़ील्ड के ही शब्दों में, "ऋग्वेद, सच कहें तो, अपने किस्म की रचनाओं की अन्तिम अभिव्यक्ति है, जो हर कदम पर पूर्ववर्ती क्रियाशीलता के एक लम्बे दौर का पूर्वाभास देता है। परिणामस्वरूप अपेक्षाकृत बाद की रचना होने के लक्षणों को बता पाना अकसर काफ़ी आसान होता है, पर आज तक मुझे पूरी संहिता में एक भी सूक्त ऐसा नहीं मिल पाया है जिसमें प्राथमिक काल से, अर्थात उस काल से जब इस तरह के सूक्तों की सर्वप्रथम रचना हुई थी, चलते आने के स्पष्ट लक्षण दिखायी दें।"[88]

दूसरे शब्दों में कहें तो, पाठालोचन का निष्कर्ष यह है कि उस प्राथमिक अवस्था की रचनाएँ लुप्त हो चुकी हैं। ठीक यही बात भारतीय परम्परा बार-बार दुहराती आयी है, जिसके अनुसार वैदिक साहित्य का काफी बड़ा अंश—और जो उक्त व्याख्या के अनुसार प्राचीनतम अंश भी है—नष्ट हो चुका है। यह तथ्य ही ऋग्वैदिक रचना-काल को ऋग्वेद के उपलब्ध अंशों के रचना-काल से भी बहुत पीछे एक ऐसे अतीत में पहुँचा देता है जिसकी अन्तिम सीमा के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना ख़तरा मोल लेना होगा।

यहाँ पहुँच कर हम ज्योतिष के आधार पर दो विद्वानों द्वारा लगभग एक ही समय में और एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप में ऋग्वेद तथा कतिपय अन्य रचनाओं के लिए नियत काल को लेते हैं तो पाते हैं कि रचनाओं की पूर्ववर्तिता को ध्यान में रखते हुए किये गये, या किये जा सकने वाले, अनुमान और ज्योतिष के आधार पर

की गयी गणनाओं के बीच विरोध नहीं अपितु एक अद्भुत सादृश्य है और मेहरगढ़, जिसका प्रासंगिक उल्लेख हम पीछे कर आये हैं, पुरातात्विक दृष्टि से भी इस क्रियाशीलता के केन्द्र में किंचित उन्नत विकासों के इतने पुरातन काल में घटित होने की सम्भावना को एक मुहर सी लगाता प्रतीत होता है। ऋग्वेद के आन्तरिक साक्ष्यों से भी हम इसी अनुमान पर पहुँचते हैं। उदाहरण के लिए पुराने मण्डलों के रचना-काल में सरस्वती एक महत्वपूर्ण नदी थी जिसकी जल-सम्पदा सिन्धु से कम नहीं रही लगती। इस नदी के यौवन काल में इसकी उपत्यका में सभ्यता के नागर चरण तक पहुँचने तथा व्यापारिक हलचलों के बढ़ने तक एक बहुत लम्बा समय लगना चाहिए। फिर, इस तरह की विशाल नदी को जिन भी प्राकृतिक विपर्ययों का सामना करना पड़ा हो, इतना तो निश्चित है कि व्यापारिक गतिविधियों के लिए इसके अनुपयोगी होने में बहुत लम्बा समय लगा होगा। इन पहलुओं को ध्यान में रखें तो ज्योतिष के आधार पर नियत किया गया समय दूराऱूढ़ नहीं लगेगा।

परन्तु ज्योतिष के आधार पर निकाला गया समय स्वयं भी एक विकसित चरण की सूचना देता है, जब कम-से-कम इतना विकास तो हो ही चुका था कि ऋतुओं और नक्षत्रों के भेद को समझना ही नहीं, अपितु इनका नामकरण आदि करना और अन्य तथ्यों और कृत्यों को इनसे जोड़ना आरम्भ हो चुका था। यही नहीं, इस काल में अपने जातीय अनुभवों और व्यक्तिगत मनोभावों को हस्तान्तरणीय रूप में—चाहे वह कथाओं के रूप में रहा हो या गेय गाथाओं के रूप में—सँजोने और परिरक्षित करने का क्रम आरम्भ हो चुका था।

इस तरह हम ऋग्वेद रचना-काल को कम-से-कम 4500 ई. पू. से 2000 ई. पू. में रखना चाहें तो इसमें कोई बाधा नहीं दिखायी देती, पर अपने वर्तमान रूप में उपलब्ध ऋग्वेद की रचना को 3500 ई. पू. से पीछे ले जाना उचित नहीं होगा। केवल इस आधार पर ही कि परम्परा यह दुहराती आयी है कि वेदों का बड़ा अंश नष्ट हो गया और पाठालोचन से भी इसकी पुष्टि होती है, हम इस विषय में पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो सकते कि यह अंश वर्तमान रूप में उपलब्ध सूक्तों की तरह रचा गया रहा होगा। भाषा और शिल्प आदि की प्रौढ़ता अन्य प्रकार की रचनाओं से भी आ सकती है, और पूर्ववती ज्ञान-सम्पदा जिस भी रूप में रही हो इसे वेद कहा जा सकता था। हाँ, स्वयं ऋग्वेद से इस बात का आभास मिलता है कि जिन कवियों की रचनाएँ ऋग्वेद में प्राप्त हैं उन्होंने केवल वे रचनाएँ और केवल इसी तरह की रचनाएँ नहीं की होंगी और इस दौर का भी पूरा साहित्य हमें उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त, इनमें प्राचीन सूक्तों में भी प्राचीनतर ऋषियों की रचनाओं या स्तुतियों के जिक्र आते हैं और यही इस बात की पुष्टि करता है कि उपलब्ध सूक्तों के ढंग के भी बहुत-से सूक्त उस काल में रचे गये रहे होंगे। दूसरे

शब्दों में कहें तो, ज्योतिष की गणना के आधार पर निकाली गयी तिथियों का सम्बन्ध उन प्राचीनतर अंशों के अवशेष पर निर्भर करते हुए रची गयी कृतियों में आये विवरणों से हो सकता है।

यही बात अनेक ऐसी दूसरी बातों के सम्बन्ध में कही जा सकती है जिनका प्रतिबिम्बन ऋग्वेद में ही नहीं, अपितु बाद की रचनाओं में भी हुआ है। इन पर कुछ रुक कर विचार कर लेना जरूरी है।

ऋग्वेद की रचना आरम्भ होने से पहले से—कहें ऋग्वेद के उपलब्ध रूप से पहले के उस वैदिक साहित्य की रचना आरम्भ होने से पहले से जो अब लुप्त हो चुका है—एक श्रुत परम्परा चली आ रही थी जिसकी छाया ऋग्वेद संहिता में भी मिलती है। इसको आधार बना कर ही अधिकांश सूक्तों की रचना हुई थी। जिन दिनों ऋग्वेद की रचना हो रही थी उन दिनों भी इन परम्पराओं का प्रचलन था और ये आगे की सहस्राब्दियों में भी समानान्तर चलती रहीं। इन परम्पराओं का गहरा ज्ञान या इनका श्रवण करके अपने को प्रबुद्ध बनाना उन कालों की एक बहुत बड़ी शर्त थी। यही कारण है कि ऋग्वेद में भी श्रुत और बहुश्रुत व्यक्तियों के महत्व का प्रायः आभास मिलता है, और यदा-कदा व्यक्ति-नामों में—यथा श्रुतर्य—यह पूर्वपद के रूप में जुड़ जाता है।

जैसा कि श्रुत परम्पराओं और गाथाओं के लिए स्वाभाविक है, इनके प्रचलन काल में इनमें अधिकाधिक विकृतियाँ आती गयी होंगी। इसके बावजूद इनमें प्राचीन सामाजिक अनुभवों का सार जहाँ-तहाँ सुरक्षित रह गया था। इन श्रुतियों का जब तक वैदिक कर्मकाण्डीय विधानों और आडम्बरपूर्ण कृत्यों का औचित्य ठहराने के लिए उपयोग किया गया है और इसलिए ब्राह्मणों में और प्राचीन परम्पराओं को दुहराने वाली अन्य कृतियों, जैसे पुराणों और महाकाव्यों, में हमें उनके रचना-काल से हजारों वर्ष पूर्व की घटनाओं के विरूपित, पर सारबद्ध, संकेत मिल जाते हैं। इन घटनाओं को केवल इस आधार पर कि ये ऋग्वेद से बाद की कृतियों में आयी हैं, ऋग्वेद के रचना-काल से बाद का मान लेना उतना ही ग़लत होगा जितना स्वयं ऋग्वेद में वर्णित सभी घटनाओं को इसके रचनाकाल की घटनाएँ मान लेना। ब्राह्मणों और पुराणों में ऐसे बहुत-से विवरण आये हैं जो ऋग्वेद में आये प्राचीनतम विवरणों से भी अधिक पुराने हैं और भारत के सामाजिक और आर्थिक विकास को समझने के लिए उनका बहुत महत्व है। ध्यान केवल इस बात पर दिया जाना चाहिए कि परवर्ती रचनाओं में उपलब्ध ये विवरण विकास के किस चरण से सम्बन्ध रखते हैं और यह चरण इनके रचना-काल को प्रकट करता है या ऋग्वैदिक काल को या उससे और उसमें वर्णित घटनाओं से भी पहले के चरणों को। अगले तीन अध्यायों में हम इस दृष्टि से ही वैदिक या, कहें, हड़प्पा

सभ्यता की पृष्ठभूमि को समझने का प्रयत्न करेंगे और देखेंगे कि इनसे उभरने वाले क्षीण संकेतों से इस विकास की क्या तसवीर उभरती है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. उदाहरण के लिए, अमलनेरकर ऋग्वेद का काल 66,000 वर्ष पूर्व, अविनाशचन्द्र दास 75,000 वर्ष और लौटूसिंह गौतम 4,32,000 पूर्व मानते रहे हैं। प्राचीनतर परम्परा तो इसे सृष्टि के आदि से अस्तित्व में मानती रही है।
2. विंटरनित्ज़, हिस्ट्री ऑफ़ दि इंडियन लिटरेचर, 1, 1927, 290.
3. मैक्समूलर, हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, 1859, 244 और आगे। ऋग्वेद संहिता, 1892, भूमिका, पृष्ठ 9 में मैक्समूलर ने स्वीकार किया था कि उनके द्वारा ब्राह्मण, मन्त्र और छान्दस् काल के विकास, परिपक्वता और ह्रास के लिए जो औसत कालावधि सुझायी गयी थी वह दूसरे राष्ट्रों के बौद्धिक इतिहास में इसी तरह के दौरों के लिए नियत औसत कालावधि से कम है।
4. मैक्समूलर ने दि साइंस ऑफ़ लैंग्वेज, 1891, 185 में डग्लस स्टीवर्ट आदि यूरोपीय विद्वानों का उल्लेख किया है जो अन्यथा सुपठित और प्रबुद्ध होने के बावजूद संस्कृत भाषा और साहित्य से अपरिचित होने के कारण इस विषय में तरह-तरह की हास्यास्पद अटकलें लगा रहे थे।
5. देखें, सैक्रेड बुक्स ऑफ़ ईस्ट, सीरीज़ 32, वैदिक हीम्ज़, हिरण्यगर्भ सूक्त पर मैक्समूलर की टिप्पणी-3, जिसमें वह इस विषय में ज़ोरदार तर्क देते हैं कि ऋग्वेद के नवीनतम सूक्तों को भी 1000 ई. पू. से किसी भी तरह बाद का नहीं ठहराया जा सकता।
6. मैक्समूलर, कलेक्टिड वर्क्स, 1890, 2,19.
7. कीथ, 'दि एज ऑफ़ दि ऋग्वेद' कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1921, 1962 भारतीय संस्करण, 1, 78; गाइल्स, 'दि इंडोयूरोपियन्स' इंसाइक्लो. ब्रि., 1959, 12, 262, आदि।
8. घोष, 'दि आर्यन प्राब्लम', दि वैदिक एज, 1965, 207.
9. मैकडनेल, ए हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, 1928, 12.
10. हर्त्सफ़ील्ड, ज़ोरास्टर ऐंड हिज़ वर्ल्ड, 1947,1, 256.
11. वही, 316-17.

12. कः ददर्श प्रथमं जायमानं अस्थन्वन्तं यत् अनस्था बिभर्ति । भूम्या : असुर असृक् आत्मा क्व स्वित् कः विद्वांसं उपगात् प्रष्टुं एतत् ॥ ऋ. 1.164.4. युवं ह गर्भं जगतीषु धत्थः युवं विश्वेषु भुवनेषु अन्तः । युवं अग्निं च वृषणौ अपः च वनस्पतीन् अश्विनौ एरयेथाम् ॥ ऋ. 1.157.5. किं स्वित् वनं क ऊँ सः वृक्षः आस यतः द्यावापृथिवी निःततक्षुः । संतस्थाने अजरे इत ऊती अहानि पूर्वीः उषसः जरन्त ॥ ऋ. 10.31.7. उसं हि राजा वरुणः चकार सूर्याय पन्थां अनु-एतवै ऊँ । ऋ. 1.24.8. जानती अह्नः प्रथमस्य नाम शुक्रा कृष्णात् अजनिष्ट श्वितीची । ऋ. 1.123.9.

13. मैक्समूलर, सैबुईसी., 32, 3-6 टिप्पणी ।

14. ऋ. 4.17.15 के अनुसार कुछ विशेष स्थितियों में बाद के समय तक भी यजमान स्वयं पौरोहित्य करता था ।

15. शतब्रा. 12.6.1.41.

16. देखें, सैबुईसी, 46, ऋ. 1.13.8 में आये 'होता' शब्द पर औल्डेनबर्ग की टिप्पणी ।

17. ऋ. 10.71.11.

18. मानव श्रौतसूत्र, 2.1.1.4.

19. अवेस्ता, सं. कांगा व सोनटक्के, 1962, भूमिका, 19-20.

20. मैक्समूलर, चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1867, 80.

21. वही, 85.

22. वही, 85-86.

23. सैबुईसी, 31, 36-37.

24. वही, 37.

25. महामहोपाध्याय पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, शकाब्द 1881, 190.

26. प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्तः इन्द्राय सत्यं यदि सत्यं अस्ति । न इन्द्रः अस्ति इति नेमः ऊँ त्वः आह कः ईं ददर्श कं अभि स्तवाम ॥ ऋ. 8.100.3.

27. ऋ. 1.165.3.

28. उपनिषदों में—मुण्डक, 1.1.5; 3.2.3; कठ, 1.2.23; बृहदारण्यक, 1.5. 25; छान्दोग्य, 5.11.24; तैत्तिरीय, 2.5, आदि—इसकी मुखर अभिव्यक्ति हुई है ।

29. जतीन्द्र मोहन चटर्जी, अथर्वणः ज़रथुस्त्रस्य गाथा, 1932, भूमिका ।

30. वही, दि हीम्ज़ ऑफ़ रामचन्द्र ऐंड दि हीम्ज़ ऑफ़ ज़रथुस्त्र ऑर दि क्रीम ऑफ़ दि अथर्ववेद, 1937.

31. हर्त्सफ़ील्ड, पूर्व., 1, 370.

32. बूलर, नोट्स ऑन प्रोफ़ेसर याकोबीज़ एज ऑफ़ दि वेद ऐंड ऑन प्रोफ़ेसर तिलक्स ओरियन, 1894, पुनर्मुद्रित, ऋतम्भरा, सं., के. सी. वर्मा, 1986, 106-115.
33. विंटरनित्ज़, पूर्व., 295-97.
34. हर्मन याकोबी, ऑन दि डेट ऑफ़ दि ऋग्वेद, अनु. जे. मैरिसन, इंडियन इन्क्वायरी, 23, 1894, 154-59, पुनर्मुद्रित ऋतम्भरा, खण्ड 2, 91-97; देखें संपा. की टिप्पणी 3 और विंटरनित्ज़, पूर्व., 1, 296 भी।
35. ऋ. 1.25.8.
36. कामेश्वर ऐयर, 'एज ऑफ़ दि ब्राह्मणज़', जर्नल ऑफ़ दि मिथिक सोसायटी, 11, 1922-22, 171-93, 223-46, 357-66.
37. शंकर बालकृष्ण दीक्षित, भारतीय ज्योतिष, अनु. शिवनाथ झारखण्डी, 1957.
38. गोरख प्रसाद, भारतीय ज्योतिष का इतिहास, 1956,
39. पी. सी. सेनगुप्त, ऐंशेन्ट इंडियन क्रोनॉलॉजी, 1947.
40. एन. एन. ला, एज ऑफ़ दि ऋग्वेद, 1965.
41. विंटरनित्ज़, पूर्व., 304.
42. वही।
43. वही।
44. ब्लाख़, इंडोआर्यन, 1965, 11-12.
45. कोसम्बी, दि कल्चर ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ ऐंशेन्ट इंडिया, 1965, 77, लिखते हैं, "भारत में प्रवेश करने वालों में से कुछ या तो पराजित होने के कारण या इस नये भूभाग की स्थितियों से असन्तुष्ट होने के कारण वापस लौट गये। यह दूसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध की हित्ती सीलों पर अंकित विशिष्ट भारतीय ककुद्मान वृषभ के अंकनों से प्रकट होता है। ...खत्ती शब्द जिसका अर्थ हित्ती है, संभवतः सं. क्षत्रिय, पालि खत्तिओ से सम्बन्ध रखता है।"
46. जे. हॉक्स, हिस्ट्री ऑफ़ मैनकाइंड : कल्चरल ऐंड साइंटिफ़िक डवलपमेंट, 1963, 1, 405-6; देखें पृ. 407 पर वूली के विचार भी।
47. मारिजा जिंबुतास, प्रोटो इंडोयूरोपियन कल्चर : दि कुर्गन कल्चर ड्यूरिंग फिफ्थ, फोर्थ ऐंड थर्ड मिलीनिया बी. सी., इंडोयूरोपियन ऐंड इंडोयूरोपियन्स, सं. जार्ज कैंडोना आदि, 1970, 114-55.
48. मारिस ब्लूमफ़ील्ड, ऋग्वेद रिपिटीशन्स, 1916.
49. सिन्धुः ह वां रसया सिंचत् अश्वान् घृणा वयः अरुषासः परिग्मन्।
तत् ऊँ सु वां अजिरं चेति यानं येन पती भवथः सूर्यायाः॥ ऋ. 4.43.6.

यहाँ 'अश्वान्' को सायण सिन्धु का विशेषण मानते हैं और 'अश्वान् सिन्धुः' का अर्थ 'स्यन्दमानो मेघ उदकं वा' करते हैं। 'रसया' का भी अर्थ 'रसेन' करते हैं।

50. मा वः रसा अनितभा कुभा क्रुमुः मा वः सिन्धुः नि रीरमत्। मा वः परि स्थात् सरयुः पुरीषिणी अस्मे इत् सुम्नं अस्तु वः॥ ऋ. 5.53.9 इसमें सायण यास्क के साक्ष्य पर रसा को सामान्य नदी के अर्थ में लेते हैं, 'नदी नाम एतत्। रसा नदी भवति।' निठ. 11.25. अनितभा को आभाहीन के अर्थ में ग्रहण करते हैं, 'इता प्राप्ता भा यस्या सा इतभा। न तादृश्यनितभा।' कुभा का अर्थ वह 'कुत्सितदीप्ति' करते हैं। क्रुमु को 'सर्वत्र क्रमणः' तथा सिन्धु को समुद्र 'सिन्धुः समुद्र' मानते हैं।

51. इंयं शुष्मेभिः बिषखा इव अरुजत् सानु गिरीणां तविषेभिः ऊर्मिभिः। ऋ. 6.61.2.

52. ऋ. 1.3.10; 2.41.18; 6.61.3; 4; 7.75.5. आदि में सरस्वती के लिए 'वाजिनीवती' विशेषण का प्रयोग हुआ है, जिसे वाज या वाजि का अर्थ धन या वेग में से कुछ भी करते हुए, कोई एक अर्थ लिया जा सकता है।

53. 'उप ब्रूते धने हिते' ऋ. 6.61.5; इयं अदात् रभसं ऋणच्युतम्' ऋ. 6.61.1, आदि। र और ल के अभेद को और ऋणच्युतं पद को ध्यान में रखते हुए रभस् का अर्थ लाभ होगा।

54. 'रद पूषा इव नः सनिम्', ऋ. 6.61.6.

55. 'घोरा हिरण्यवर्तनिः वृत्रघ्नी', ऋ. 6.61.7.

56. 'यस्याः अनंतः अह्रुतः त्वेषः चरिष्णुः अर्णवः। अमःचरति रोरुवत्॥ ऋ. 6.61.8.

57. आपप्रुषी पार्थिवानि उरु रजः अन्तरिक्षम्।' ऋ. 6.61.11

58. प्र या महिम्ना महिना आसु चेकिते द्युम्नेभिः अन्याः अपसां अपस्तमा। ऋ. 6.61.13.

59. 'त्रि सधस्था सप्तधातुः पंचजाता', ऋ. 6.61.12.

60. उत नः प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सजुष्टा। ऋ. 6.61·10.

61. 'राया युजा चित् उत्तरा नदिभ्यः', ऋ. 7.95.4.

62. 'भद्रं इत् भद्रा कृणवत् सरस्वती', ऋ. 7.96.3.

63. 'अम्बितमे नदीतमे सरस्वती', ऋ. 2·41.16.

64. 'शुचिः यती गिरिभ्यः आसमुद्रात्', ऋ. 7.95.2.

65. 'रायः चेतन्ती भुवनस्य भूरेः घृतं पयं दुदुहे नाहुषाय', ऋ. 7.95.2.

66. ऋ. 1.3.10 व 12.

67. देखें, ब्लूमफ़ील्ड, 1916 (1981 सं.), 639-40. ब्लूमफ़ील्ड ने हॉप्किन्स, लुडविग, हर्थ, लैनमन, हिल्लेब्रांट आदि द्वारा नये और पुराने मण्डलों के काल-निर्धारण के लिए अपनायी गयी युक्तियों के प्रति सन्देह प्रकट किया है, देखें पृ. 636-39. और वैदिक साहित्य की अन्तर्वस्तु को लेकर किये गये उनके काम, वेदिक कंकॉर्डेंस व ऋग्वेद रिपिटीशन्स उन्हें इस बात के लिए दूसरों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय बनाते हैं।
68. 'उत स्या श्वेतयावरी वाहिष्ठा वां नदीनाम् । सिन्धुः हिरण्यवर्तनिः' ॥ ऋ. 8.26.18.
69. वही ।
70. 'प्र सृत्वरीणां अति सिन्धुः ओजसा', ऋ. 10.75.1.
71. 'अदब्धा सिन्धुः अपसां अपःतमा अश्वा न चित्रा वपुषी इव दर्शता' ऋ. 1).75.7.
72 'प्रसुवः आपः महिमानं उत्तमम्', ऋ. 10.75.1; 'महान् हि अस्य महिमा पनस्यते', ऋ. 10.75.9.
73. 'सु-अश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासाः हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती । ऊर्णावती युवतिः शीलमावती उत अधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्' ॥ ऋ. 10.75.8.
74. 'भूम्याः अधि प्रवता यासि सानुना', ऋ. 10.75.2.
75. 'प्र ते अरदत् वरुणः यातवे पथः सिन्धो यत् वाजान् अभि अद्रवः स्वम्, ऋ. 10.75.2.
76. 'सुखं रथं युयुजे सिन्धुः अश्विनं तेन वाजं सनिषत् अस्मिन् आजौ । ऋ. 10.75.9.
77. 'राजा इव युध्वा नयसि त्वं इत् सिचौ', ऋ. 10.75.4.
78. 'अभि त्वा सिन्धो शिशुं इत् न मातरः वाश्रा अर्षन्ति पयसा इव धेनवः', ऋ. 10.75.4
79. 'दिवि स्वनः यतते भूम्या उपरि अनन्तं शुष्मं उत् इयर्ति भानुना' ॥ ऋ. 10.75.3.
80. 'सिन्धुः यत् एति वृषभः न रोरुवत्', ऋ. 10.75.3.
81. 'इमं मे गंगेय मुने सरस्वतिशुतुद्रि स्तोमं सचत परुष्णि आ', ऋ. 10.75.5.
82. कार्बन-14 गणना के आधार पर हड़प्पा सभ्यता का काल-निर्धारण 2150-1700 ई. पू. किया गया था। (देखें, आल्चिन व आल्चिन, दि बर्थ ऑफ़ इंडियन सिविलाइज़ेशन, 1968, 139-44.) उक्त पुस्तक की समीक्षा करते हुए ह्वीलर(एंटिक्विटी, 43, 169, मार्च 1969, 72-73) सुझाते हैं कि हड़प्पा सभ्यता के काल को 2500 ई. पू. से भी एक-दो शताब्दी पीछे ले जाने की आवश्यकता हो सकती है, पर इसे इससे बाद में

नहीं लाया जा सकता। वह कार्बन-14 के काल-निर्धारण की सीमाओं का विस्तार से उल्लेख करते हैं। आज कार्बन-14 की काल-गणना को किंचित सन्देह के साथ देखा जाता है और परिशोधित तिथि को ही आधार बनाया जाता है जिसके अनुसार हड़प्पा सभ्यता का काल कम-से-कम तीन-चार शताब्दी पीछे चला जाता है।

83. हिल्लेब्रांट, वैदिक माइथॉलॉजी, I, 1980, 242 व 346; II, 1981, 210, सरस्वती नाम की दो नदियों की कल्पना करते हैं—एक पश्चिमी सरस्वती, जो आर्कोसिया की हरौती है और जिसका वर्णन छठें मण्डल में आया है और दूसरी मध्यदेश की सरस्वती जिसका वर्णन सातवें मण्डल में आया है। इतना ही नहीं, पश्चिमी या अफ़ग़ानिस्तानी सरस्वती की याद उनके अनुसार ब्राह्मणों में भी यत्र-तत्र बनी रह गयी हो सकती है। इस पर हमने अध्याय पाँच में कुछ विस्तार से विचार किया है।

84. रॉथ, वैदिक इंडेक्स, 2, 481 में उद्धृत।

85. मैकडनेल व कीथ, वैदिक इंडेक्स, 2, 484.

86. जैरिज, 'एक्सकैवेशन्स ऐट मेहरगढ़', हड़प्पा सिविलाइजेशन, संपा. पोसेल, 1982, 79-84; 'क्रोनॉलॉजी ऑफ़ अर्लियर पीरियड्स ऑफ़ ग्रेटर इंडस ऐज़ सीन फ्रॉम मेहरगढ़, पाकिस्तान', साउथ एशियन आर्कियॉलॉजी-1981, 1984, 21-28, आदि।

87. वही।

88. ब्लूमफ़ील्ड, पूर्व, 21.

अध्याय दो

सभ्यता की दिशा में प्रथम चरण

मनुष्य ने सभ्यता की दिशा में अपना पहला चरण उस विशेष विन्दु पर बढ़ाया जब आहार-संग्रह और आखेट पर अपनी एकान्त निर्भरता छोड़ कर उसने उन चीजों का नियन्त्रण और उत्पादन अपने हाथ में लिया जिनका वह इससे पहले संग्रह और आखेट करता आया था और जिनकी उपलब्धि और अनुपलब्धि के विषय में वह प्रकृति पर ही पूर्णतः आश्रित था। इस प्रस्थान-विन्दु को अधिकांश अध्येता कृषि-क्रान्ति की संज्ञा देते हैं और मानते हैं कि यह एक नीरव क्रान्ति थी। उत्पादन की दिशा में पहला चरण कृषि का ही था या नहीं, और कृषि-क्रान्ति स्वयं में नीरव क्रान्ति थी या एक विशेष अर्थ में रक्त-क्रान्ति थी, यह अपने आप में एक विचारणीय समस्या है। यह मान्यता पश्चिमी एशिया को ही कृषि-क्रान्ति का प्रवर्तक मानने और उसी के साक्ष्यों पर सभ्यता के प्रथम उत्स को समझने वाले विद्वानों की देन है। हमारे लिए इस बात पर विचार करना ज़रूरी है कि अपने वन्य जीवन को छोड़ कर भारतीय समाज किस तरह और किन अनुभवों को अर्जित करते हुए आगे बढ़ा। इसके लिए हम पहले से नियत खाके को यथावत स्वीकार करके कृषि-कर्म के आरम्भ पर विचार आरम्भ करें, यह उचित नहीं होगा। इसके विपरीत हमें जो दो प्रथम सम्भावित विकास दिखायी देते हैं उनको खुला छोड़ कर पहले हम यह निश्चित करेंगे कि इनमें से कौन पूर्ववर्ती है और फिर इनमें जो प्रथम चरण प्रतीत होता है उसके विकासों को समझने का प्रयत्न करेंगे। ये दोनों चरण हैं—पशुपालन और कृषि। पश्चिमी एशिया को केन्द्र में रख कर सभ्यता के विकास को समझने वालों ने पशुपालन को कृषि के बाद या इसके साथ-साथ विकसित माना है[1], परन्तु प्रथम दृष्टि में उक्त दोनों प्रस्ताव लँगड़े लगते हैं।

सबसे पहले हम पश्चिमी और भारतीय दोनों परम्पराओं में सभ्यता के इस

प्रथम चरण के विषय में जो सूचनाएँ मिलती हैं उन पर दृष्टि डालेंगे और फिर अन्य तथ्यों और सम्भावनाओं पर विचार करेंगे।

2

पश्चिमी एशिया की सृष्टि कथाएँ

बाइबिल की सृष्टि कथा के अनुसार जब परमात्मा ने धरती-आकाश, दिन-रात आदि बना लिये तो उसने सभी वनस्पतियाँ स्वर्ग में ही बनायीं, क्योंकि अभी तक धरती पर न तो उसने वर्षा की थी, न ही जोताई-बोआई के लिए मनुष्य को ही बनाया था। फिर एक धुन्ध उठी और उसने **धरती** को आच्छादित कर लिया। फिर परमात्मा ने **धरती की धूल से** मनुष्य को गढ़ा और इसकी नासिका में प्राण-वायु फूँक कर उसे सजीव बना दिया। और परमात्मा ने **पूरब की ओर ईडन के उद्यान में** उस मनुष्य को रख दिया और धरती से विविध प्रकार की मनोरम वनस्पतियाँ उगायीं जो खाने में भी स्वादिष्ट थीं। इस उद्यान के बीच में 'जीवन-वृक्ष' या अमरता का वृक्ष तथा विवेकवृक्ष उगाया। इस उद्यान को सींचने के लिए उसने एक नदी बनायी जो आगे चल कर चार शाखाओं में बँट जाती थी। परमात्मा ने ईडन के इस उद्यान की देख-भाल का काम उस आदि-मानव के ऊपर छोड़ा जिसका नाम आदम था। उसने हिदायत दी कि वह जीवन-वृक्ष और विवेक-वृक्ष को छोड़ कर किसी भी वृक्ष का फल खा सकता है, पर यदि उसने इनमें से किसी का फल चखा तो वह मर जायेगा। आदम को अकेला देख कर उसकी संगिनी के रूप में उसने आदम की पसली से ईव को बनाया। वे दोनों विवेकशून्य होने के कारण नग्नावस्था में रहते हुए भी शर्म अनुभव नहीं करते थे और प्रसन्न थे। इसी बीच साँप ने ईव को उकसाया कि वह विवेक-वृक्ष के फल को चखे। उसने उसे भरोसा दिया कि इसके खाने से वह मरेगी नहीं, 'परमात्मा ने उस वृक्ष का फल खाने से इसलिए वर्जित कर रखा है कि इसे खाते ही तुम्हारी आँखें खुल जायेंगी और तुम्हें अच्छे-बुरे का ज्ञान हो जायेगा।' ईव ने उस फल को सुन्दर, स्वादिष्ट और ज्ञानवर्धक पाकर खुद खाया और आदम को भी खाने को दिया। इस फल को चखते ही उनकी आँखें खुल गयीं और अपनी नग्नता पर उन्हें शर्म आने लगी, और इस शर्म का पता जब परमात्मा को चला तो उसे समझते देर न लगी कि इन दोनों ने विवेक का फल चख लिया है। ग़नीमत यही थी कि अभी इन्होंने अमरता का फल नहीं चखा था, अन्यथा आदमी और ईश्वर में फ़र्क़ ही नहीं रह जाता और सारा मामला ही गड़बड़ हो जाता। और प्रभु ने कहा, "देखो, **मनुष्य हम लोगों की तरह** अच्छे और बुरे का ज्ञान पा गया और हम अमरता के

फल को इसके हाथ न आने दें कि कहीं यह अमर न हो जाये।" और फिर उसने आदम को ईडन के उद्यान से बाहर निकाल दिया और अमरता के वृक्ष से उसे दूर रखने के लिए उसने ईडन के पूर्व की ओर एक लहकती हुई तलवार तैयार कर दी कि किसी तरह कोई इस अमरता के वृक्ष तक न पहुँच सके। इसी आदम की दो सन्तानें हुईं—ऐबल और कैन। इनमें पहला चरवाहा था और दूसरा किसान। प्रभु को पहला अधिक प्यारा था, इसलिए कैन ने ईर्ष्यावश उसे मार डाला···।[2]

इस रूपकीय कथा के कुछ ब्यौरों को हमने विस्तार-भय से छोड़ दिया है, पर चारों नदियों को पश्चिमी एशिया से ही जोड़ा गया है।[3]

बाइबिल की उक्त कथा उसी हिब्रू या पश्चिमी एशियाई परम्परा से ली गयी है जिससे इस्लाम की आदम और हौवा की कथा। ऐसी स्थिति में इस कथा के भी एक पक्ष को सामने रखना ज़रूरी है। ऐसा लगता है कि पश्चिमी एशिया में इस सृष्टि कथा के अनेक रूपान्तर प्रचलित रहे हैं। कारण, इस्लामी परम्परा के अनुसार आदम को जन्नत से किसी वृक्ष का फल खाने के कारण नहीं, अपितु स्पष्टतः गन्दुम या गेहूँ खाने के अपराध में निकाला गया था।

ये कथाएँ आहार-अन्वेषण की अवस्था से मनुष्य के कृषिकर्मी बनने की यात्रा को मूर्त रूप में पेश करती हैं। वन्य आहार-संचयी मनुष्य विवेकहीन था। नंगा रहता था और प्रकृति से उपलब्ध फल-मूल से ही प्रसन्न था। कृषि को अपनाने के साथ उसने एक कठिन और साहस-भरी यात्रा आरम्भ की, जिसने मनुष्य को सचमुच ईश्वर जैसा बना दिया। वह स्वयं स्रष्टा और अपना भाग्य-विधाता भी बन बैठा। बेशक, धर्म आरम्भ से ही उसके विवेक का, उसकी इस स्रष्टा और नियन्ता होने की चेष्टा का विरोधी रहा है और उसे उस आदिम स्वर्ग के सजीले चित्र दिखाता रहा है।

इस कथा के रोचक पहलुओं में से एक है उस उद्यान का नाम 'ईदन' या 'ईडन', जो इन्द/इन्ड या सिन्ध/हिन्द की याद दिलाता है। दूसरी है इस उद्यान की स्थिति जो पूर्व की ओर बतायी गयी है। धरती को आरम्भ में जलरहित बताने के पीछे रेगिस्तानी अंचल की छाया देखी जा सकती है। वनस्पतियों की सृष्टि नदी की बाढ़ से नहीं अपितु वृष्टि से बतायी गयी है, और ईडन के उद्यान में दुनिया के विविध प्रकार के वृक्ष और वनस्पतियों को उगा दिखाया गया है। साथ ही अमरता के वृक्ष के साथ कल्पवृक्ष की अवधारणा काम करती दिखायी देती है। आदम का नामकरण 'आदि'—(मनु) और ईव का नामकरण इडा या इला से किंचित् मेल खाता दिखाई देता है—इसके अतिरिक्त ईश्वर का यह कहना कि विवेक के वृक्ष का फल खाकर मनुष्य 'हम लोगों जैसा' बन गया है, एकेश्वरवाद की अपेक्षा बहुदेववादी परम्परा की देन प्रतीत होता है। मैक्समूलर ने अन्य सन्दर्भों में यह दिखाया है कि कैसे बाइबिल की अनेक कथाओं का प्रेरणास्रोत भारत रहा है।[4]

जो कुछ बाइबिल में किंचित अस्पष्ट है वह हदीस आदि के स्रोतों से अधिक स्पष्ट होता दिखायी देता है। इस्लामी परम्परा के प्रख्यात विद्वान सैयद सुलेमान नदवी लिखते हैं, "हदीसों और कुरान की टीकाओं आदि में जहाँ हज़रत आदम की कथा है, वहाँ—भिन्न-भिन्न प्रवादों के आधार पर यह उल्लेख मिलता है कि जब हज़रत आदम आकाश की जन्नत से निकाले गये तब वे इस धरती की जन्नत या स्वर्ग में जिसका नाम 'हिन्दोस्तान जन्नत निशाँ' या स्वर्गतुल्य भारत है, उतारे गये।"[5]

प्रकारान्तर से कहें तो आदम और ईव की, या मनु प्रजापति की, कथा का सम्बन्ध मानव सृष्टि से न होकर, उस विशेष संक्रमण से है जिसे कृषि-क्रान्ति कहा जाता है। यदि इस नयी मानवीय सूझ की इतनी प्रखर प्रतिक्रिया हुई थी कि इसे लेकर परमात्मा तक के प्रकोप की याद दिलायी जाये तो निश्चय ही यह इस धरती पर ही जीवन निर्वाह की दो भिन्न प्रणालियों के बीच तीखे टकराव का भी सूचक है, जिसमें प्राचीन जीवन-पद्धति से जुड़े लोगों को कृषि की ओर कदम बढ़ाना घोर पातक प्रतीत हुआ होगा। इसे शैतान या साँप का बहकावा मानना उस प्राथमिक आक्रोश को व्यक्त करता है जो आहार-संचयी कबीलों के मन में इन क्रान्तिकारियों के प्रति अनुभव हुआ होगा। क्या आदम का उस स्वर्गीय उद्यान से निष्कासित किया जाना भी इस बात का संकेत नहीं देता कि इस द्वन्द्व में कृषि की ओर अग्रसर होने वाले लोगों को प्राचीन जीवन-पद्धति से नाभि-नाल-बद्ध लोगों के प्रखर विरोध के कारण, या सम्भव है सीधे संघर्ष के कारण, उस क्षेत्र को छोड़ने को बाध्य होना पड़ा था, जहाँ पहले वे अपने इन बन्धुओं के साथ पूरे सौहार्द के साथ रहते और निर्विघ्न विचरते थे और उनका यह पलायन पूर्व के किसी असाधारण प्राकृतिक—वानस्पतिक—सम्पदा वाले क्षेत्र से पश्चिम की ओर हुआ था ?

भारतीय परम्परा

ऊपर पश्चिमी स्रोतों से प्राप्त की गयी जिन सूचनाओं से हम वस्तु-स्थिति का एक धुँधला-सा चित्र पाते हैं, उसे भारतीय परम्परा अधिक मुखर रूप में और तार्किक विस्तार से प्रस्तुत करती है।

वायु पुराण के अनुसार कृत युग में मनुष्य आहार-अन्वेषण की अवस्था में रहता था। उसका जीवन विविध अभावों से ग्रस्त था। वह नंगा रहता था और यायावरी अवस्था में था। सामाजिक संस्थाओं और नियमों-विधानों की सृष्टि नहीं हुई थी :

"उस कृत युग में वे मानव नदी, सरोवर, समुद्र और पर्वतों के समीप रहते

थे।...इच्छानुसार इधर-उधर घूमते थे। पृथिवी से उत्पन्न वनस्पतियाँ और फल-फूल खाते थे। धर्म-अधर्म का विचार नहीं था। सामाजिक भेद-भाव नहीं था। वे आयु, रूप और सुखानुभूति में समान थे।...यद्यपि लोग हज़ारों की संख्या में थे, पर उनमें किसी प्रकार का संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता और क्रम का प्रश्न नहीं था। उनका कोई घर नहीं था। वे एकान्त, सुखी, शोकरहित और सतोगुणी थे। फल, फूल और कन्द का अभाव था। वे स्नान आदि नहीं करते थे।...शुभ-अशुभ का विचार नहीं था। वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं थी, न ही संकर-दोष था।...उनमें लाभ-अलाभ, मित्र-अमित्र, प्रिय-अप्रिय के व्यवहार नहीं थे। वे निरीह थे और मन की स्वाभाविक प्रेरणा से विषयों में प्रवृत्त होते थे।..."[6]

वायु पुराण का उक्त विवरण उस नन्दन कानन या स्वर्गीय ईडन का जिसमें आदम और ईव या आदिम मनुष्य सुखपूर्वक रहता था, अधिक सही चित्र प्रस्तुत करता है। पशु-सुलभ नीति-नियम-बन्धन-हीन जीवन और पशु-सुलभ आनन्द। समस्त अभावों के बावजूद इससे किसी उच्चतर विकल्प के अभाव में और सामाजिक विषमता के अभाव में मनुष्य अधिक प्रसन्न था और आगे के विकासों से उत्पन्न विषमताओं के कारण पैदा हुई पीड़ाओं को ध्यान में रखते हुए इस कृत युग के लौटने के स्वप्न देखता रहा। यदि यह उसे स्वर्गोपम प्रतीत होता रहा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

अन्यत्र भी इस जीवन की झलक बार-बार देखने में आती है।[7] उदाहरण के लिए, शतपथ ब्राह्मण की एक कथा के अनुसार प्राचीन काल में कभी मनुष्य वस्त्र-हीन रहता था। उसके शरीर पर जो चमड़ी थी वह मोटी थी और वह इसके कारण धूप, शीत, ताप और वर्षा से प्रभावित नहीं होता था। फिर देवताओं ने उसकी चमड़ी गाय को दे दी ताकि वह मौसम के इन प्रभावों से बच सके, क्योंकि गाय ही मनुष्य का पोषण करती है। इसके बाद मनुष्य की चमड़ी पतली हो गयी और ज़रा-सी खरोंच लगने पर ही उससे खून निकलने लगता है। आदमी ने चमड़ी की इस कमी को दूर करने के लिए ही वस्त्र पहनना आरम्भ किया। वस्त्र मनुष्य की दूसरी चमड़ी है। नंगे आदमी को देखकर गाय उससे डरती है कि कहीं वह अपनी चमड़ी न माँग ले।[8]

बाइबिल की कथा में तो वर्जित फल को खाने के लिए साँप ने प्रेरित किया था, पर भारतीय विवरण के अनुसार उत्पादन की यह नयी युक्ति देवताओं को सूझी थी। कृषि के प्रति इन दोनों परम्पराओं के दृष्टिकोण का अन्तर काफ़ी महत्वपूर्ण है। ब्राह्मणों में इस बात को बार-बार दुहराया गया है कि देवता और असुर दोनों प्रजापति की सन्तानें थीं।[9] दोनों एक-दूसरे के भाई थे। इन दोनों में असुरों को बड़ा भाई और देवों को छोटा भाई बताया गया है। असुर बलवान हैं और देव कमजोर।[10] विकास के क्रम में नये विकास को अपनाने वालों को नया या छोटा और पुरानी

पद्धति से चिपके रह जाने वालों को बड़ा कहा जाता है। आरम्भ में कृषि की ओर अग्रसर होने वालों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम ही रही हो सकती थी अतः उनका, संख्या की दृष्टि से भी अल्प होना सच लगता है। इन विवरणों में इस विषय में किसी तरह का भ्रम नहीं रहने दिया गया है कि देवों और असुरों के बीच का द्वन्द्व दो उत्पादन-पद्धतियों के कारण पैदा हुआ था।

कृषि के आविर्भाव को वायु पुराण में त्रेता युग के रूप में कल्पित किया गया है। इस युग के आरम्भ में तो मनुष्य जगह-जगह उग आयी वनस्पतियों को (जिन्हें घर-घर में उग आयी बताया गया है, जो एक कल्पना मात्र है, क्योंकि आगे ही इसका खण्डन भी हो जाता है कि तब तक मनुष्य स्थाई आवास बना कर नहीं रह रहा था। वस्तुतः यहाँ घर का आशय इन कबीलों का विहार-क्षेत्र लेना उचित है।) अपनी जीविका का आधार बनाता है। इस काल में अनेक बार वनस्पतियों के नष्ट होने और पुनः उनके उत्पन्न होने का जिक्र आता है, "उनके सत्याभिध्यान के फल से" फिर घरों में वृक्षादि उगने लगते हैं। इस प्रकार वे "उन्हीं वृक्षों से वस्त्र, फल, आभरण एवं उत्तम गंध वाला, देखने में सुन्दर, सरस और अत्यन्त वीर्यकारी अमाक्षिक मधु हरे पत्तों से प्राप्त करने लगे। फिर जब कालक्रम से प्रजावर्ग लोभ के वशीभूत होकर उन समस्त वृक्षों को और अमाक्षिक मधु को बलपूर्वक अपनाने लगे, तब उनके इस अपचार के कारण कहीं-कहीं वे कल्पवृक्ष मधु के साथ ही विनष्ट हो गये।...वे यथेच्छ विहारी गृहहीन प्रजागण गात्रावरण द्वारा वायु, शीत और घाम के कष्ट का निवारण करने के लिए घर बनाकर रहने लगे।...उस द्वितीय वृष्टि-सृष्टि से पृथ्वी का जो स्थान जल-हीन और शुष्क हो गया था वह जलपूर्ण हो गया।...बिना जोते-बोए चौदह तरह की फल-फूल-मूल वाली औषधियाँ गाँवों और जंगलों में उग आयीं। उस त्रेता युग में ही ऋतुओं के अनुकूल पुष्प, वृक्ष-गुल्म और जीविका की बहुत-सी औषधियाँ उत्पन्न हुईं। उन औषधियों के गुण से उस काल के प्रजागण सुखपूर्वक कालयापन करते थे। तब युग-धर्म के अनुसार अवश्यम्भावी रोग और लोभ उनमें उत्पन्न हुए। अपनी शक्ति के अनुसार उन लोगों ने क्षेत्र, पर्वत, वृक्ष, गुल्म और औषधियों को अपने अधिकार में करना आरम्भ किया।...युगधर्मानुकूल पृथ्वी ने तब चौदहों प्रकार के जंगली और ग्रामीण सस्यों को अपने में छिपा लिया। प्रजागण उस समय फल लेते समय पुष्प और पुष्प लेते समय पत्र को भी तोड़ लिया करते थे, इससे वे सब नष्ट हो गये और प्रजागण व्याकुल हो उठे। वे व्याकुल हो पुनः जीविकालाभ के लिए स्वयंभू प्रजापति के पास उपस्थित हुए। उन्होंने सुमेर को बछड़ा बनाकर इस पृथ्वी को दूहा। दूहे जाने के बाद इस धेनु रूपी पृथ्वी ने जंगली और ग्रामीण बीजों को पृथ्वी-तल पर उत्पन्न किया। फल पकने तक जिसके बीज रहें वे औषधियाँ हैं। ये औषधियाँ सत्रह प्रकार की हैं। धान, जौ, गेहूँ, तिल, प्रियंगु, उदार, कारुष, सवीनक, माष, मूँग, मसूर,

निष्पाव, कुलथी, आढक्य और चना—ये सत्रह प्रकार की औषधियाँ ग्रामीण कही जाती हैं। ग्रामीण और जंगली चौदह प्रकार की औषधियाँ यज्ञ-साधन हैं। व्रीहि, यव, माष, गोधूम, अणु, तिल, प्रियंगु, कुलथी, श्यामाक, नीवार, जर्तिल, गवेधुक, कुरबिंद, वेणुयव और मर्कट—ये चौदह प्रकार की औषधियाँ ग्रामीण और आरण्यक दोनों हैं।[11] त्रेतायुग के आदिकाल में पहले ये उत्पन्न हुईं। बिना जोते ये औषधियाँ जंगलों और ग्रामों में उत्पन्न हुईं। इनके अतिरिक्त वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, वीरुध, तृण आदि भी प्रादुर्भूत होकर मूल, फल, पुष्प आदि से प्रजाओं को सुख-समृद्ध करने लगे। ब्रह्मा द्वारा दुहे जाने पर पृथ्वी ने जिन बीजों को उत्पन्न किया था उनसे ऋतुओं के अनुसार विविध प्रकार के फल उत्पन्न हुए। किन्तु जब तक वे औषधियाँ अच्छी तरह उगी नहीं तब तक के लिए उनकी जीविका का उपाय किया कि भूमि को जोतकर अन्न उपजाया जाये। स्वयंभू भगवान ब्रह्मा ने उनकी कर्मजन्य सिद्धि को देखकर ऐसा किया। तभी से कर्षणज सस्योत्पत्ति आरम्भ हुई।..."[12]

इस पौराणिक विवरण का अटपटापन ही इसकी विश्वसनीयता का सबसे बड़ा प्रमाण है। यदि इसकी कुछ बारीकी से जाँच करें तो हम कह सकते हैं कि इस त्रेता युग में पहले तो मनुष्य पूरी तरह प्रकृति पर पशुओं के समान ही निर्भर रहता है, पर धीरे-धीरे उसका ध्यान उन जंगली बीजों की ओर जाता है जिनको असमय के लिए एकत्र किया जा सकता था और जो आगे चलकर उसके कृषि धान्य बने। इस अवस्था में अराजकता का खासा बोलबाला था और लोग इन वन्य सस्यों को पकने से पहले ही नोच-खसोट लिया करते थे। लगता है, इससे स्थिति अनेक बार काफ़ी गम्भीर हो गयी। वनस्पतियों और धान्यों के अनेक बार पूरी तरह नष्ट होने की बात और फिर वर्षा के साथ नये सिरे से पौधों के उगने की बात यह सूचित करती है कि इन्हें कई बार भारी अकाल और सूखे का सामना करना पड़ा। सम्भवतः इस सूखे की भी एक महत्वपूर्ण भूमिका कृषि के विकास में थी, पर यह सोचना कि अकाल और सूखे की दशा में मनुष्य ने कृषि का आविष्कार कर लिया होगा, निरापद नहीं है। सूखे का त्रासद अनुभव और इसके बाद अनुकूल मौसमों के दौर में उपलब्ध समृद्धि, दोनों को सामने रखकर ही कृषि के आविष्कार की बात सोची और समझी जा सकती है। जो भी हो, जैसा कि उक्त विवरण से ध्वनित होता है, एक लम्बे सोच-विचार के बाद और सायास रूप में ही कृषि का यह विकास सम्भव हो पाया। वायु पुराण के उक्त विवरण में हाहाकार और व्याकुलता के चित्रण के बावजूद कृषि की दिशा में संक्रमण को कुछ इस तरह पेश किया गया है मानो इसकी स्वीकृति के विषय में न तो किसी को किसी प्रकार की आपत्ति हो सकती थी और न ही हुई। सचमुच यह एक नीरव क्रान्ति जैसा ही प्रतीत होता है। पर ब्राह्मणों से और ऋग्वेद के अनेक अंशों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि किसी अन्य क्रान्ति की

अपेक्षा यह क्रान्ति अधिक अवरोधों का सामना करती हुई आगे बढ़ी थी और इसके कारण एक ऐसा भयानक संघर्ष छिड़ा था जिसकी अनुगूँज समूचे भारतीय साहित्य में ही नहीं, इसके लोक-विश्वासों और गल्प कथाओं में भी बनी रह गयी है। इस संघर्ष ने भारतीय चिन्तन को, इसके सद-असद विवेक को, इसके जीवन-मूल्यों को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। इस संक्रमण को भारतीय परम्परा में देवासुर संग्राम के रूप में बार-बार चित्रित किया जाता रहा है।

देवासुर संग्राम के इस पहलू पर हम आगे चल कर विचार करेंगे। यहाँ इस तथ्य को रेखांकित करना आवश्यक है कि पश्चिमी परम्परा के अनुसार आदम को स्वर्ग से निकाला गया था और उसके बाद वह पूर्व से वहाँ पहुँचे थे और भारतीय परम्परा के अनुसार असुरों ने देवों को मार भगाया था और इसके बाद वे पूर्व से पश्चिम की ओर गये थे। पश्चिमी परम्परा के अनुसार आदम स्वर्ग में रहते थे और वह स्वर्ग वहाँ की धरती से दूर और एक भिन्न जलवायु का था और भारतीय परम्परा के अनुसार देवता पहले इसी धरती पर रहते थे और फिर वे इसे छोड़कर स्वर्ग गये। स्वर्ग का धरती से दूर होना और एक भिन्न जलवायु का होना और किंचित् दुर्लंघ्य प्राकृतिक बाधाओं से युक्त होना तो स्वाभाविक है ही, अन्यथा हर कोई स्वर्ग पहुँच जाये। पर इन दोनों परम्पराओं में इस विषय में पूर्ण सहमति है कि कृषि के आविष्कार से पहले देवताओं का निवास भारत में ही था जहाँ से निकाले जाने या निकलने के बाद वे पश्चिम में पहुँचे थे।

परन्तु क्या मनुष्य आरण्यक अवस्था से सीधे कृषि के इस चरण में पहुँच गया या इसके बीच कोई अन्य चरण भी आया था? दूसरे शब्दों में कहें तो, क्या पशु-पालन का चरण कृषि के साथ आया या यह इससे पहले या बाद की अवस्था है? आर्यों के सम्बन्ध में विचार करते समय यह सुझाया जाता है कि पहले ये पशुचारी थे, फिर इन्होंने बहुत प्राथमिक स्तर की खेती आरम्भ की और वैदिक आर्यों को बर्बर सिद्ध करने वाले यह मानते रहे हैं कि इस काल में भी वे मुख्यत: अपने पशु-धन पर ही निर्भर कर रहे थे और खेती नाम-मात्र को करते थे। प्रकारान्तर से कहें तो कृषि का चरण पशुचारण के बाद का है। पर पश्चिम एशिया के सन्दर्भ में इस विकास को कुछ उलझे रूप में पेश किया जाता है: यह कि कृषि की ओर अग्रसर होने वाले मनुष्य ने इसके समानान्तर ही पशुपालन भी आरम्भ किया। पौराणिक विवरण में भी, जैसा कि हम देख आये हैं, आहार-संग्रह के ठीक बाद ही कृषि को रखा गया है।

डॉ. गुप्त ने इस अवधारणा की समीक्षा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि प्राथमिक स्तर की कृषि आरम्भ होने से भी पहले पशुपालन अस्तित्व में आ चुका था और पशुपालन के पूर्ववर्ती चरणों में उन्होंने वरणात्मक आखेट और रेवड़बन्दी या चरवाही (हर्डिंग) को माना है और उनके अनुसार पालतू बनाये जाने से पहले

इस रेवड़बन्दी के दौर में ही इन पशुओं में वे कायिक परिवर्तन आ चुके थे जो वन्य पशुओं से पालतू पशुओं को अलग करते हैं।[14]

सच कहें तो पशुपालन की अवस्था मनुष्य के अगले विकास की एक बाल पाठशाला थी जिसके दौरान उसने प्रकृति-जगत को एक नयी उपयोगितावादी दृष्टि से देखना आरम्भ किया, उसमें अपनी सम्पदा के साथ लगाव पैदा हुआ और उसके साथ बँधकर रहने का धैर्य पैदा हुआ। इसके आधार के बिना मनुष्य वन्य धान्यों को उगाकर उनके परिपक्व होने तक किसी एक स्थान पर टिक कर भी नहीं रह सकता था और खेती के आविष्कार के बाद पशु-श्रम का उपयोग किये बिना वह इसका उन्नत विकास भी नहीं कर सकता था।

यह एक रोचक बात है कि एक महत्वपूर्ण माध्यमिक चरण होने के बावजूद पशुपालन के विषय में स्थिति कृषि की तरह स्पष्ट नहीं है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि कृषि-क्रान्ति का अनुभव इतना भेदक था कि इसकी छाया में पशु-चारण काल धूमिल पड़ गया। इसके अतिरिक्त पशुपालन के दौर में मनुष्य खाद्यान्नों के मामले में आहारसंग्रह के चरण में ही था और फल-कन्द आदि जुटाने या समय-समय पर शिकार आदि करने से भी नहीं चूक सकता था, और अन्तिम बात यह कि कृषि क्रान्ति के साथ ही देवासुर संग्राम या संघर्ष का वह दौर अपनी पूरी प्रखरता से सामने आया जिसके ब्याज से कृषि-क्रान्ति तथा आगे के विकास की कथा दुहरायी गयी है। इन सभी बातों के बावजूद पशुचारण काल के छिटपुट संकेत हमें मिल जाते हैं जो इस चरण की तसवीर को उतनी निराशाजनक भी नहीं रहने देते।

बाइबिल की कथा में, जैसा कि हम देख आये हैं, आदम के दो पुत्रों में से एक को चारणजीवी दिखाया गया है और दूसरे को कृषिकर्मी और कृषिकर्मी पुत्र अपने पशुचारण पर आश्रित भाई की हत्या कर देता है क्योंकि वह प्रभु को अधिक प्रिय था, या कहें आहारसंग्र ही और आखेटजीवी अवस्था के अधिक क़रीब, और इस-लिए पुरानी व्यवस्था के लिए अधिक स्वीकार्य था। उसकी हत्या के बाद ही कैन से मानववंश या कृषिजीवी समाज का वंश आगे बढ़ता है। प्रकारान्तर से कहें तो पश्चिमी परम्परा के अनुसार भी पशुचारण की इस पूर्वावस्था को पार करने के बाद ही कृषिजीवी अर्थव्यवस्था की जययात्रा आरम्भ होती है।

ऋग्वेद में वह देवता जिसे पशुपति शिव या रुद्र कहा जाता है, अपना प्रभाव रखते हुए भी हीनदेवों की स्थिति में आ गया है। अग्नि का पशुपा रूप या पूषन् देवता का अस्तित्व बना तो रह गया है, पर यह अपेक्षाकृत गौण देवता है। इसका एक कारण तो हम यह बता आये हैं कि जिस वर्ग को केन्द्र में रखकर वैदिक साहित्य ही नहीं अपितु समस्त स्तोत्र साहित्य की रचना हुई है उसका ध्यान व्यापारिक कार्यों की ओर केंद्रित था, पर इसका एक अन्य कारण ऋग्वैदिक काल तक पशु-पालन के भी गौण स्थान पाने को माना जा सकता है।

मनु ने विवाह की जिन आठ रीतियों का उल्लेख किया है उसमें से एक आर्ष है जिसमें दहेज में वर को गायों का एक जोड़ा दे दिया जाता था।[15] यह उस चारणकालीन समाज का ही अवशेष प्रतीत होता है।

शतपथ ब्राह्मण में मानव विकास-यात्रा को यज्ञ-वलि में आने वाले परिवर्तनों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार पहले कभी मनुष्य को नरवलि से भी आपत्ति नहीं थी, पर नर-वलि के बाद यज्ञ छिटक कर अलग हो गया। वह पहले पशुओं में प्रविष्ट हो गया। फिर पशु-वलि दी जाने लगी। पशुओं में पहले उसने अश्व में प्रवेश किया और अश्व-वलि दी जाने लगी। पुनः यज्ञ छिटककर अलग हो गया और गाय में प्रवेश किया और गो-वलि दी जाने लगी। इस तरह यज्ञ क्रमशः भेड़ और बकरे में प्रवेश कर जाता है और अन्ततः वह धरती में प्रवेश करता है, और अब इसकी खोज धरती को खोजते हुए की जाती है और इसका परिणाम हैं ब्रीहि और यव। अतः अंततः अन्न-वलि का आरम्भ हुआ।[16]

यह उल्लेख आखेट की अवस्था से लेकर कृषि के विकास तक की कहानी को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करता है और यद्यपि इसके क्रम को अक्षरशः लेना ज़रूरी नहीं है, पर जैसा कि देखा जा सकता है इसमें मनुष्य की विकास-यात्रा बहुत विश्वसनीय रूप में पेश की गयी है। यज्ञ को स्पष्टतः उत्पादन और जीवन-निर्वाह के साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पहले इस समाज में नर-बलि का चलन था। पर कुछ आगे चलकर भावानात्मक परिवर्तन के फलस्वरूप पशुओं की वलि आरम्भ हुई। कृषि के चरण में श्रम के स्रोत के रूप में बैल और घोड़े के महत्व को समझा गया। इससे कुछ पहले पशुचारण काल में ही दूध के स्रोत के रूप में गाय के महत्व को देखकर दुधारू गाय को अवध्य या अघ्न्या माना जाने लगा था, यद्यपि इस बीच भी वन्ध्या और बूढ़ी गायों का मांस खाया जाता था और साथ ही बछड़े का भी। पर फिर भारवाही पशुओं को अवध्य मान लिया गया और भेड़-बकरों का मांसाहार चलता रहा। अन्ततः यज्ञ का रूप अहिंसापरक हो गया और आँटे का पशु या पुरोडाश बनाकर यज्ञ में चढ़ाया जाने लगा।

जो भी हो, उक्त वलि-पशुओं का उल्लेख यज्ञ के लिए सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले पशुओं के रूप में है। इससे पशुपालन के क्रम का विश्वमनीय चित्र नहीं प्राप्त होता। यदि देवताओं के लिए प्रयुक्त वाहनों पर दृष्टि डालें तो सम्भवतः इसका अधिक सही रूप सामने आये। पूषा का वाहन छाग या बकरा है।[17] अज या छाग कभी बाद के कालों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण पशु माना जाता था, जिसकी याद अज और इससे व्युत्पन्न शब्द-भण्डार—अजकर्ण, अजगन्धा, अज-जीवन, अजपद, अजमायु, अजमीढ़, अजमोद, अजपाल, अज एकपाद आदि से प्रकट होता है जो बाद में चलकर गो शब्द से व्युत्पन्न शब्द-भण्डार की याद दिलाता है। पश्चिमी एशिया में भी जहाँ तक पशुचारण का प्रश्न है बकरी और भेड़ को

ही अधिक उपयुक्त पाया गया, परन्तु वहाँ बकरी से पहले भेड़ का पालन किया गया था जिसकी सबसे पुरानी मिसाल जावी चेमी, शेनिडर, उत्तरी ईराक से मिलती है जहाँ 11000 ई. पू. में भेड़ पालन के प्रमाण मिलते हैं।[18] पालतू बकरी के प्रमाण आशियाब आदि अनेक गाँवों से मिले हैं। इस बात की पूरी सम्भावना है कि रेवड़बन्दी की शुरुआत भेड़ और बकरी को लेकर ही की गयी थी जो सबसे निरीह और आसानी से नियन्त्रित किये जा सकने वाले पशु थे और जिनकी वंश-वृद्धि भी बड़े पशुओं की तुलना में अधिक तेजी से हो सकती थी।

अग्नि को जिस तरह देवताओं में अग्रणी माना गया है उसी तरह पशुओं में बकरे को अग्रणी माना गया है।[19] इसके बाद या समानान्तर ही भेड़ को भी पालतू बनाया गया लगता है जिसके लिए प्रयुक्त अवि शब्द का अर्थ ही होता हैं पालतू या रक्षणीय पशु। यह वरुण का भाग है जो वैदिक देवताओं में एक प्राचीन देवता हैं। यही चरण सम्भवतः हिरन को भी पालतू बनाकर उससे दूध आदि प्राप्त करने के प्रयोग का रहा लगता है, परन्तु दूध के मामले में इसे अधिक उपयोगी न पाकर इसे पालने का कष्ट जरूरी नहीं लगा और वन्य रूप में यह पशु पर्याप्त मात्रा में सुलभ था ही। यह मरुद्गणों का वाहन है[20] और इसका आखेट बहुत हाल तक प्रचलित रहा है। यह रोचक है कि इनमें से काले मृगों को तो यज्ञ का रूप ही कहा गया है।[21] गधे, घोड़े या टट्टू और गाय-भैंस आदि का पालन इन छोटे जानवरों को पालने के बाद हुए अनुभव और ज्ञान के बाद आरम्भ हुआ हो सकता है, यद्यपि इनका शिकार बहुत पहले से प्रचलित था।

कृषि से पहले पशु-पालन की इस अवस्था के विषय में यह उल्लेख प्रायः आता है कि पशु का नामकरण ही इस आधार पर पड़ा है कि वे पोषण प्रदान करते हैं[22] वे अन्न हैं, रस हैं या कहें दूध और मांस के स्रोत हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कृष्ट अन्नों से पहले पशु पोषण के मुख्य स्रोत थे।

आहार-अन्वेषण और शिकार की अवस्था से आगे बढ़कर मनुष्य ने पशु-पालन की ओर कदम क्यों बढ़ाया? ऊपर से देखने पर यह एक मामूली परिवर्तन मालूम होते हुए भी एक क्रान्तिकारी कदम था और इसे कृषि-क्रान्ति से कम महत्व नहीं दिया जा सकता। क्षुधातुर मनुष्य पशुओं का शिकार करने पर उन्हें मारकर खा तो सकता था, पर उन्हें जीवित रखकर लम्बे समय तक उनकी सेवा करते हुए उन्हें दूध आदि के साधन के रूप में जिलाए रखने की बात सोच भी नहीं सकता था। इसके अतिरिक्त पशु-पालन से पहले की अवस्था में सम्भवतः उसे यह सूझ भी नहीं सकता था कि आखेट के पशुओं में से कुछ का दूध निकाला और उस पर अपना गुजर किया जा सकता है। इसके विपरीत, यदि फल-फूल और आखेट की सम्पन्नता की स्थिति थी तो उसे पशु पालने की झंझट की क्या जरूरत थी? जरूरत पड़ने पर शिकार किया और अपनी भूख मिटायी, बाकी समय के लिए पूरी

तरह आज़ाद !

अतः इसके लिए भाव और अभाव के एक चक्र की कल्पना आवश्यक है। वर्ष के किसी विशेष मौसम में जब घास-फूस की प्रचुरता रहती थी, इन जानवरों में से अनेक के यूथ जंगलों को छोड़कर नदियों की घाटियों में उगी हुई घास-फूस के लिए बाहर निकल आते थे, इन ऊँची घासों के बीच उनका शिकार आसानी से किया जा सकता था। कारण जिन घासों और कासों को चरने ये पशु आते थे वे मनुष्य को छिपा और दुबक कर घात लगाने का भी मौका दे सकती थीं। पर इस घास के सूख जाने या चर लिए जाने के बाद या गर्मी के मौसम में जब पशु-यूथ जंगलों की ओर लौट जाते थे, शिकार करना अधिक कठिन होता रहा होगा। वर्ष-चक्र के इस परिवर्तन के कारण ही सम्भवतः कभी मनुष्य को यह सूझा कि प्रचुरता के इस मौसम में आपेक्षिक अभाव के दिनों के लिए शिकार को बाँधकर जीवित रखा जा सकता है और इस तरह वह अनजाने ही एक नयी उत्पादन-पद्धति की ओर बढ़ गया—दूध और ऊन आदि का उत्पादन।

पर एक अन्य सम्भावना जो इसके साथ ही दिखाई देती है वह यह कि पशु जिस मौसम में बच्चे देते थे उस मौसम में उनका शिकार करना शेष कालों की तुलना में अधिक आसान था। मनुष्य अपनी जंगली अवस्था में अधिक तेज़ी से भाग लेता रहा होगा, पर जानवर भी कम तेज़ी से नहीं भागते। उनके तरुणों को पकड़ना अधिक आयासकर होता हैं। उन पर काबू करना भी आसान नहीं। पर इन नवजात शिशुओं को, चाहे वे भागते हुए पशुओं से पीछे छूट जाने पर हो या सोते समय, घात लगाकर पकड़ना, कहीं अधिक आसान था। और इन शिशुओं को तब तक जीवित रखना जब तक वे जवान नहीं हो जाते और उनसे अधिक मांस नहीं मिलता, पशु-पालन का कारण बना होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो, इनके पैदा होने के मौसम में अपनी तात्कालिक आवश्यकता से काफ़ी अधिक शिशुओं को पकड़ लेना और आगे के लिए एक पूँजी जमा कर लेना। शिशुओं या शावकों को पकड़ने का कुछ मामलों में लाभ यह भी था कि अपने बच्चे के मोह में आतुर माताएँ अन्धों की तरह स्वयं अपने शिशुओं के पास खिंच आती रही होंगी और बच्चों के माध्यम से इनको भी पकड़ लेना अधिक आसान होता रहा होगा। यह सुविधा पशुओं के प्रसव-ऋतु में ही उपलब्ध थी और इसलिए इसी समय इनको अधिक संख्या में पकड़कर बाद के लिए रखा जा सकता था। यह एक रोचक बात है कि भारत के बाहर भी जहाँ पशुओं के शिकार के प्राचीन प्रमाण मिलते हैं उनमें इनके शावकों या बच्चों का अनुपात बहुत अधिक है।

ऐसा सोचने का सबसे बड़ा कारण यह भी है कि आज तक शिकार के दो ही रूप रहे हैं। एक तो सीधे पशु पर प्रहार जो उसका अंग-भंग कर देता है और अधिकांश मामलों में काबू में आने से पहले ही उसे अधमरा कर देता है। ऐसे पशु को केवल

मारकर खाया ही जा सकता है। पकड़ कर रखना चाहें तो न केवल वह अधिक समस्याएँ पैदा करेगा अपितु पहला मौका मिलते ही भाग कर निकल जायेगा। दूसरा तरीका शिशुओं को पड़ने का रहा है। पालने के लिए पशु हों या पक्षी, सभी को उनके शैशव में ही पकड़ा जाता रहा है। इसी स्थिति में उनको अपने संरक्षण में लेकर उनके स्वभाव आदि में इच्छित परिवर्तन भी किया जा सकता है और उनको पूरी तरह अपना आश्रित भी बनाया जा सकता है। कारण, यह पालतू जानवर बड़ा होकर भी उतनी तेज़ी से भाग कर हिंस्र पशुओं से अपना बचाव नहीं कर सकता, अतः अपनी रक्षा के लिए उसे अपने पोषक ममुष्य के सहारे की आवश्यकता होगी।

पशुपालन का आरम्भ कहाँ हुआ, यह प्रश्न कुछ टेढ़ा है। कुछ लोग मानते हैं कि पशुपालन का आरम्भ पश्चिमी एशिया में ही हुआ होगा जहाँ यूरोप का आदमी हिमयुग की चपेट से बचने के लिए खिसक आया था और यूरोप का आदमी तो नयी कालोनी पाते ही आविष्कार पर आविष्कार आरम्भ कर ही देता है सो उसने पश्चिमी एशिया में भी झटपट कृषि-क्रान्ति कर डाली और इसके साथ ही पशुपालन भी करने लगा। हमारे लिए ऐसा मान पाना कुछ कठिन है। कारण, उन्नत कृषि ही पशुपालन से पूर्व के चरण में असम्भव नहीं था, कृषि की दिशा में आरम्भिक प्रयोग और परीक्षण भी पशुपालन के अभाव में असम्भव था। कारण, इसके लिए भी किसी एक सीमित क्षेत्र में अर्धस्थायी निवास जरूरी था और इस अर्धस्थायी निवास के लिए उसके पास कोई ऐसा साधन होना ज़रूरी था जिसके बल पर वह उस क्षेत्र में अपना गुजर कर सके। यह पशुपालन से उपलब्ध दूध और मांस का आधार हो सकता था, या हो सकता था मछली का शिकार जो उसे कम-से-कम पहले अवसर पर बीज बोने से लेकर फ़सल तैयार होने तक इसकी रक्षा करने के लिए अर्ध-स्थायी आधार प्रदान कर सकता था।

अन्यथा भी हम पाते हैं कि अनेक जन-समुदाय ऐसे रहे हैं जो पशुपालन से आगे बढ़े ही नहीं, कुछ पशुपालकों का तो कृषिकर्मियों से विरोध भी रहा है—जैसा कि हम इन्द्र की पूजा के निषेध की उस कथा में पाते हैं जिसका गोवर्धन पूजा से सम्बन्ध है। कारण, आरम्भ में जिन क्षेत्रों में खेती की जा सकती थी वे ठीक वे ही द्रोणी क्षेत्र हो सकते थे जिनमें चारण किया जा सकता था और इसलिए पशु-पालकों और कृषिकर्मियों के बीच हितों का टकराव था। चारण-भूमि को क्रमशः कृषि-भूमि में परिवर्तित करने का सिलसिला अभी आज तक चलता आया है। अतः पशुपालन को कृषि के बाद के चरण की खोज मानना या इसके समानान्तर रखना अतर्क्य है। पशुपालन के बिना उन्नत कृषि सम्भव नहीं थी, पर कृषि के बिना भी पशुपालन सर्वथा सम्भव था, अतः इन दोनों के बीच पहला और अनिवार्य चरण पशुपालन का ही हो सकता था।

पशुपालन का आरम्भ किस तरह हुआ, इस पर विचार करते हुए विद्वानों ने यह सुझाया है कि पश्चिमी एशिया के उन सीमित क्षेत्रों में यहाँ कृषिधान्य वन्य रूप में उत्पन्न होते थे, पशुओं और मनुष्यों का जमाव हुआ। मनुष्य ने हिंसक पशुओं से इन जानवरों को बचाने का प्रयत्न आरम्भ किया जिससे पशु विश्वस्त भाव से अपने इन रक्षकों के क़रीब खिचते गये और इस प्रकार उनके बीच वह निकटता क़ायम हुई जो आगे चलकर पशुपालन का रूप ले बैठी।

इस मान्यता में एक दोष यह है कि यदि आदमी और पशु उसी क्षेत्र तक अपनी जीविका के लिए निर्भर थे तो पशु फ़सलों के तैयार होने से पहले ही उन वन्य सस्यों के चर कर साफ़ कर सकते थे। उन सस्यों की रक्षा के लिए इस जंगली पशुओं को भगाना ज़रूरी था, न कि परचाना। मनुष्य इन सहज सुलभ पशुओं का आखेट करके अपना गुज़र भी कर सकता था। पर इससे न तो कृषि के लिए अनुकूल स्थिति पैदा हो सकती थी, न ही पशुओं के साथ वह आत्मीयता पैदा हो सकती थी जो पशुपालन की अनिवार्य शर्त है। जब तक ममुष्य शिकार पर निर्भर करेगा, पशु उससे उसी तरह दूर भागेंगे जैसे किसी अन्य हिंस्र पशु से। अतः पशुओं के शिशुओं को पकड़ कर उन्हें अपने संरक्षण में पाल कर ही उन्हें पालतू बनाने का आयोजन किया जा सकता था, और वन्य हिंस्र जानवरों से यदि किसी की रक्षा का सवाल उठ सकता था तो इस प्रकार पाले हुए पशुओं के मामले में ही। इन्हें ही नियन्त्रित ढंग से चराया जा सकता था, अर्थात् उस क्षेत्र को सुरक्षित रखते हुए जिनमें कृषिधान्य पैदा होते हों, शेष चर भूमि तक उन्हें सीमित रख कर ही एक साथ सुविधापूर्वक आहारसंग्रह भी किया जा सकता था और पशुधन भी बढ़ाया जा सकता था। इसके लिए जरूरी था कम-से-कम वन्य सस्यों के क्षेत्र का परिरक्षण और यह उस प्राथमिक चरण में क्षेत्रीय वितरण के द्वारा ही सम्भव था, अन्यथा दूसरे पशु न सही दूसरे क़बीले ही इस प्रकार बचा कर गये धान्यों के तैयार होने पर एक दिन में ही उनका सफ़ाया कर सकते थे।

वस्तुतः इस प्रकार के क्षेत्रीय बँटवारे की सूचना भी हमें कृषि से पहले के चरणों में ब्राह्मणों आदि में मिलती है। वायु पुराण का वह उल्लेख इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि लोभ के वशीभूत होकर प्रजा-जन विविध अंचलों पर अधिकार करने लगे। शतपथ ब्राह्मण में भी इसका उल्लेख आता है[23], पर इनमें कृषि के चरण को इस भूवितरण से सीधे जोड़ दिया गया है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों में क्षेत्रीय वितरण के कुछ ऐसे हवाले भी आते हैं जिनसे लगता है कि आखेट और आहारसंग्रह के चरण में ही क्षेत्रीय विभाजन हो चुका था और यह अस्वाभाविक भी नहीं है। इसके अनुसार देवों को अपने हिस्से में जो क्षेत्र मिला था उसमें गूलर के वृक्षों की अधिकता थी।[24] आहारसंग्रह के चरण में ही इस प्रकार का विभाजन इसलिए ज़रूरी हो गया लगता है कि अपने लम्बे जीवन-अनुभवों से वनचर मनुष्य

ने यह देख लिया था कि यदि किसी प्रकार का नियन्त्रण न रहे तो लोग फलों और कन्दों को तैयार होने से पहले ही तोड़ और खोद लेते हैं और इनका पूरा लाभ किसी को वहीं मिल पाता। इस अवस्था का संकेत हमें वायु पुराण के विवरण में मिलता भी है। अतः परस्पर मिलकर या अपनी शक्ति के अनुसार वन्य जन-जातियों ने वन्य क्षेत्र का भी बँटवारा कर लिया था और इसके अनुसार कोई दूसरा कबीला किसी अनधिकृत भू-क्षेत्र में क़दम नहीं रख सकता था और यदि ऐसा दुस्साहस किसी ने किया तो उसकी हत्या की जा सकती थी और इसका कोई प्रतिकार नहीं हो सकता था। इस कठोर बन्धन का आदर सभी को करना पड़ता था। इस व्यवस्था के अवशेष बहुत बाद तक बने रहे हैं और इस की झलक रामायण के किष्किधा काण्ड में मिलती है जिसमें सुग्रीव तथाकथित ऋष्यमूक पर्वत क्षेत्र में रहता था और इससे बाहर नहीं जा सकता था, और बालि इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता था।[25] यहाँ कारण ऋषि के शाप को बताया गया है जो काल्पनिक है।

भारत में हम पशुपालन का एक बहुत ही विश्वसनीय चित्र पाते हैं जिसकी पुष्टि न केवल साहित्यिक साक्ष्यों से और पशुपालन की परम्परा से होती है, अपितु भारतीय प्राकृतिक परिवेश भी इसके सर्वथा अनुकूल दिखायी देता है। पहली बात तो यह कि प्राचीन ग्रन्थों में ग्राम्य और आरण्यक पशुओं के उल्लेख बार-बार आते हैं और ये सभी जानवर जिन्हें पालतू बनाया गया है—बकरी, गाय, भैंस, गधा, ऊँट, सुअर, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली आदि भारती जंगलों और कछारों में अभी हाल तक पाये जाते रहे हैं और कुछ आज भी पाये जाते हैं। इनमें से कुछ के विषय में तो सन्देह ही नहीं कि इनका सर्वप्रथम पालन भारत में ही हुआ था। बेशक कुछ जानवरों की स्थानीय नस्लें बहुत अच्छी नहीं रही लगती हैं। उदाहरण के लिए, घोड़े की स्थानीय नस्ल वही रही प्रतीत होती है जिसे टट्टुओं के रूप में पहचाना जा सकता है। दो कूबड़ के सैंधव ऊँट तो ऐतिहासिक काल में भी अरब आदि देशों को निर्यात किये जाते थे जहाँ ये अमीरों और राजाओं की सवारी में काम आते थे।[26] इसी तरह कुक्कुट जो जंगली रूप में आज भी भारत में पाये जाते हैं, पश्चिमी जगत को भारत की ही देन बताये जाते हैं और वे भी काफ़ी बाद में ही वहाँ पहुँचे लगते हैं।[27] हड़पा सभ्यता के ककुद्मान वृषभ भारतीय नस्ल के हैं और मेसोपोटामिया आदि में जिन साँड़ों को नस्ल सुधारने के लिए मँगाया जाता था[28], सम्भव है, उनमें इनका भी शुमार रहा हो। सूअर के शिकार के उल्लेख प्राचीन साहित्य में प्रायः आते हैं। भैंस[29] की तरह यह जानवर भी पानी और दलदल से इतना लगाव रखता है कि यह सोचना कठिन लगता है कि मूलतः यह किसी शुष्क प्रदेश का प्राणी रहा होगा। अतः इसे नदियों से ऐसे क्षेत्रों का प्राणी मानना होगा जिसमें दलदल आदि का बाहुल्य रहता रहा हो। इस दृष्टि से इसका

प्रसार विश्व में प्राचीन काल से ही बहुत व्यापक रहा लगता है।

आरम्भिक पशुपालन के लिए हम जिस प्रकार के चर क्षेत्रों की चर्चा ऊपर कर आये हैं उनकी परिधि में भारत की नदियों का द्रोणीक्षेत्र भी आता है जहाँ की नदियाँ अपनी धाराएँ इतने मुक्त ढंग से बदलती रही हैं कि उत्तर का समतल मैदान ऐसा लगता है जैसे नदियों ने इसे सहस्राब्दियों के दौरान क्रमशः जोत-सा डाला हो। इन नदियों रेती काँस, कुश और दूब के लिए कितनी उपयुक्त रही है, इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। कुश और दूर्वा के साथ जुड़ी हुई पवित्रता का एक प्रधान कारण यह दिखायी देता है कि पशुचारण की आरम्भिक अवस्थाओं में और स्यात बाद में भी पशुओं के चरने के लिए ये सर्वथा उपयुक्त घासें थीं और आगे चलकर इनको प्रतीकात्मक महत्व मिल गया।

पशुपालन की क्रमिक प्रक्रिया और लम्बा अनुभव भी भारत में किसी अन्य क्षेत्र की तुलना में अधिक स्पष्ट दिखायी देता है। सीधे अधिक हिंस्र और तेज गति वाले पशुओं को नहीं अपितु क्रमिक रूप में बकरी, भेड़, गाय, भैंस, गधा, टट्टू, घोड़ा, ऊँट आदि को पालना ही पशुपालन का सही रूप है। इस क्रमिक शिक्षण के अभाव में या इससे उपलब्ध जानकारी के अभाव में सीधे तेज गति वाले जानवरों के पालतू बनाने और प्रयोग में लाने की बात एक लम्बी छलाँग जैसी लगती है। यदि ऐसे ही अनुभवों के बाद स्तेपी आदि में भी घोड़े को पालतू बवाया गया हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

पशुपालन का अनुभव भारत में जिस झक का रूप ले चुका था, उसकी भी अन्यत्र मिसाल नहीं मिलती। कुछ पशुओं को पालने और उनसे लाभान्वित होने के बाद हाथी, शेर, साँप, रीछ, बन्दर जैसे जानवरों और मोर, तीतर, बटेर, कबूतर, तोता, मैना आदि पक्षियों को भी पालतू बनाने की कोशिश की गयी। यद्यपि इसमें पूरी सफलता नहीं मिली, पर इनको पोष्य तो बना ही लिया गया और मनोरंजन से लेकर कुछ छोटे-मोटे कामों में जहाँ भी सम्भव हुआ इनका उपयोग होता है। उदाहरण के लिए, हाथी को लिया जा सकता है जो अर्ध-पालतू बनकर की रह गया। हाथी पालने के उल्लेख ऋग्वेद काल से ही मिलने आरम्भ हो जाते है।[30] ऋग्वेद में सिंह को पिंजड़े में बन्द कर रखने का उल्लेख भी आता है।[31] मनु ने सिंह को कठघरों में, पक्षियों को पिंजड़े में, साँपों को पिटारी में पोसने का उल्लेख किया है।[32] इन सबकी परम्परा बहुत पुरानी लगती है।

पालतू बनने के लिए बन्य पशुओं और पक्षियों के शावकों या नन्हें बच्चों को पकड़ने का और इसके बाद इन्हें प्रशिक्षित करने का प्रचलन भारत में अब भी ज़ारी है।

ऊपर के विवरण इस बात की पुष्टि करते दिखायी देते हैं कि पशुपालन का आरम्भ जिन क्षेत्रों में हुआ हो सकता है, उनमें भारत एक प्रमुख स्थान रखता है।

यह न केवल ऊपर के उदाहरणों में झलकता है, अपितु पशु और प्राणि-जगत् के प्रति क्रमशः विकसित होने वाले उस भारतीय दृष्टिकोण में भी दिखायी देता है, जिसकी अन्तिम परिणति प्राणिमात्र के जीवन का समभाव से सम्मान और किसी भी प्रकार के जीव वध को पातक मानने में देखा जा सलता है, जिसे जैन धर्म ने पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। पर जैन धर्म के बाहर भी चींटी तक को चारा देने, पशुओं-पक्षियों के किए खाद्यान्न का कुछ भाग छोड़ देने, उनके पीने के लिए पानी की व्यवस्था करने आदि में यह करुणा स्पष्ट देखी जा सकती है। बेशक, ये सभी बातें उत्पादन में वृद्धि और सम्पन्नता आने के साथ जुड़ी हुई हैं और यह मानसिक परिवर्तन एक दिन में घटित नहीं हो गया। मांसाहार की तुलना में शाकाहार की जो श्रेष्ठता भारत में क्रमशः विकसित हुई, उसके पीछे भी इस समृद्धि का ही हाथ है। जिसके पास सब कुछ उपलब्ध था, वे ही चुनावपूर्वक कुछ छोड़ भी सकते थे। जिनकी हालत ऐसी नहीं थी, मिसाल के लिए आर्थिकदृष्टि से विपन्न वर्ग और वन्य जातियाँ, वे इस प्रकार की वर्जना को अपने प्राणों की कीमत पर ही स्वीकार कर सकते थे।[32] अतः शाकाहार उनमें कभी प्रचलित नहीं हो पाया। इसका सबसे अधिक प्रचलन वणिक समाज में अनायास नहीं दिखायी देता। यह समाज का सबसे समृद्ध तबका रहा है।

परन्तु इन विविध अनुसंगी तथ्यों के बावजूद यह मानना निरापद नहीं है कि अन्यत्र भारत के प्रभाव से ही पशु-पालन का आरम्भ हुआ हो सकता था या हुआ होगा। इस प्रकार के निष्कर्ष बहुत सावधानी की माँग करते हैं और इनके लिए जितनी व्यापक जानकारी का आधार होना चाहिए, वह हमारे समकालीन जगत् को आज उपलब्ध नहीं है। जहाँ भी मनुष्य का अस्तित्व रहा है, अपनी भौतिक सीमाओं में वह अपनी समस्याओं के हल ढूंढ़ता रहा है और एक निश्चित सीमा तक वह इसमें सफल भी रहा है। अतः यह मानना अधिक निरापद लगता है कि अन्य क्षेत्रों में भी स्वतन्त्र रूप से पशु-पालन के प्रयत्न हुए होंगे। इस दृष्टि से इस पहलू पर ध्यान देना जरूरी है कि विभिन्न क्षेत्रों में एक ही पशु की किन किस्मों को पालतू बनाया गया। कारण, विगत लाखों वर्षों के दौरान भारी प्राकृतिक उपद्रवों और अस्थिरताओं के कारण पशु भी जीवन-रक्षा के लिए दूर-दूर तक भागने पर मजबूर हुए हैं और मूलतः कोई विशेष पशु, जिस भी क्षेत्र में क्यों न पैदा हुआ हो, नये क्षेत्रों में पहुँचकर उसने स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालते हुए अपनी काया और आकार में भी भारी परिवर्तन कर लिये थे।

आरम्भ में पशु-पालकों को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पूरा समाज पशु-पालन की दिशा में अग्रसर नहीं हुआ था। आहार-अन्वेषण और आखेट तक सीमित कबीलों के लोग जब तब उनकी बकरियों, भेड़ों, घोड़ों और गायों को चुरा ले जाते थे और इनकी वापसी के प्रयत्न में इनको लड़ाई-झगड़े भी करने पड़ते

थे, जैसा कि आजि, वाजि, गविष्टि आदि शब्दों से पता चलता है, जो आगे चलकर सीधे युद्ध या संघर्ष के अर्थ में रूढ़ हो गये। विद्वानों ने इन शब्दों का अर्थ करने में ग़लती नहीं की है, पर इनके वास्तविक चरण को समझने में उनसे भूल अवश्य हुई है। यह शब्द-सम्पदा पशु-चारण काल की देन है, पर जिस काल तक इन शब्दों का प्रयोग होता रहा है, उस काल तक समाज पशु-चारण की अवस्था से आगे बढ़ ही नहीं पाया था, यह सोचना ठीक नहीं है।

सन्दर्भ व टिप्पणी

1. इसके प्रस्तावकों में चाइल्ड, ब्रेडवुड, पिगट आदि रहे हैं। यद्यपि विगत दशकों में पूर्वग्रहीत मान्यताओं में काफ़ी बदलाव आया है, पर स्थिति अभी तक उलझी हुई ही है।
2. वी. जी. चाइल्ड, ह्वाट हैपंड इन हिस्ट्री, लन्दन, 1957
3. बाइबिल, जेनेसिस, अध्याय 2-4
4. मैक्समूलर, 'ऑन दि माइग्रेशन ऑफ़ फेबल्स', सिलेक्टेड एसेज, 1881, 531 और आगे।
5. मौलाना सैयद सुलेमान नदवी, अरब और भारत के सम्बन्ध, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग की अवधानता में 22, 23 मार्च 1929 को दिये गये व्याख्यानों का अनुवाद। अनु. श्री रामचन्द्र वर्मा, 1930
6. वायु पुराण, अनु. रामप्रताप त्रिपाठी, सम्वत् 2008, अध्याय 8
7. इस आदिम आहार-संग्रही समाज का चित्र महाभारत में भी पाया जाता है :

   समान जन्म-मरणः समः सर्वेः गुणैः नृणाम्।...
   न वै राज्यं न राजासीत् न दण्डः न च दण्डिकः।
   धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥
   जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशाः तथा॥

   शान्तिपर्व, 58.8, 14 व 107. 30
8. इयं गोः त्वक् पुरुषे ह एष अग्र आस। ते देवा अब्रुवन। गोः वा इदं सर्वं बिभर्ति हन्त य इयं पुरुषे त्वक् गवि एतां दधाम तया एषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षध्यत इति। ते अवच्छाय पुरुषं। गवि एतां त्वचं अदधुः तया एषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षते। अवच्छितः हि वै पुरुषः। तस्मात् अस्य यत्र एव क्व च कुशः वा विकृन्तति तत एव लोहितं उत्पतति तस्मिन्

एतां त्वचं अदधुः तस्मात् उ एव तस्मात् न अन्यः पुरुषात् वासः बिभर्ति एतां हि अस्मिन् त्वचं अदधुः तस्मात् उ सुवासा एव बुभूषेत् स्वया त्वचा समृध्या इति तस्मात् अपि अश्लीलं सुवाससं दिदृक्षन्ते स्वया हि त्वचा समृद्धः भवति। न ऊ ह अन्ते गोः नग्नः स्यात्। वेद ह गोः अहं अस्य त्वचं बिभर्मि इति सा बिभ्यती त्रसति त्वचं म आदास्यत इति तस्मात् उ गावः सुवाससं उप एव निश्रयन्ते। शतब्रा. 3.1.2.13-17

9. शतब्रा. 1.2.3.1; 2.1.1.8; 3.4.4.2, आदि।
10. ते असुरा भूयांसः बलीयांस आसन, तांब्रा. 18.1.2; कनीयस्विन इव वै तर्हि देवा आसन् भूयस्विनः असुराः। ताब्रा. 12.13.31; कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः। शतब्रा. 14.4.1
11. वस्तुतः जिन ओषधियों का उल्लेख किया गया है, उनकी संख्या पन्द्रह है, न कि सत्रह या चौदह।
12. वायु पुराण, अध्याय 8
13. शतब्रा. 3.1.1.6
14. एस. पी. गुप्त, 'हर्डिंग ऐज ए बैकड्राप...', पुरातत्व, 1980-81, 101-111
15. देखें पीछे, 'वैदिक समाज'।
16. पुरुषं ह वै देवाः। अग्रे पशुं आलेभिरे, तस्य आलब्धस्य मेधः अपचक्राम, सः अश्वं प्रविवेश। ते अश्वं आलभन्त। तस्य आलब्धस्य मेधः अपचक्राम, सः गां प्रविवेश, ते गां आलभन्त। तस्य आलब्धस्य मेधः अपचक्राम, सः अजं प्रविवेश। ते अजं आलभन्त। तस्य आलब्धस्य मेधः अपचक्राम। सः इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्तं इव अन्वीयुः तं अनु-अविन्दन तौ इमौ व्रीहियवौ तस्मात अपि एतौ इतः हि खनन्तं इव एव अनु-विन्दन्ति। शतब्रा. 1.2.1.6-7. आगे इस पिष्टान्न से बने पशु का रूपक-सा खड़ा किया जाता है, "यदा पिष्टानि अथ लोमानि भवन्ति। यत् आपः आनयति अथ त्वक् भवति यदा संयौति अथ मांसं भवति।" शतब्रा. 1.2.1.8
यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि जहाँ अन्न उपजाने का उल्लेख आता है, वहाँ भारतीय परम्परा व्रीहि या धान (खरीफ़ के अनाज) को यव (रबी की फ़सल) से पहले रखती है। राजस्थान की साँभर झील और बेलन नदी के तटवर्ती कोल्डीहवा तथा इलाहाबाद व प्रतापगढ़ के विशेषतः साई नदी तथा कुछ तालाबों के तट पर रहने वाले पहले धान से परिचित दीखते हैं।
17. बकरे की इस श्रेष्ठता के अनेक चिह्न वैदिक साहित्य में मिलते हैं, यथा—बकरा ब्रह्म व अग्नि का रूप है—आग्नेयः वा अजः स्वेन एव एनं एतत् आत्मना स्वया देवतया सम्भरति अथ उ ब्रह्म वा अजः ब्रह्मणा एव एतत्

सम्भरति । शतब्रा. 6.3.4.15.

धरती की रचना करने के बाद ब्रह्मा ने अजा के रोंए से सृष्टि की—अध अजा लोमेन संसृजति । शतब्रा. 6.3.6.4

18. रेड मैन, दि राइज़ ऑफ़ सिविलाइजेशन, 1978, 135
19. पशुओं में बकरे को अग्रणी माना गया है—अथ एतान् पशून् आवर्तयन्ति । तेषां अज: प्रथम एति...शतब्रा. 6.3.5.12
20. ऋ. 1.39.6; 85.4; 5; 2.34.3; 36.2; 3.26.4; 5.55.6; 58.6, आदि।
21. शतब्रा. 6.4.1.6; 6.7.11, आदि। देखें, सैबुईसी., 12, पृ. 23, टि. 2 भी।
22. पौष्णा: पशव: ।शतब्रा. 5.2.5.6; पशवो वै रायस्पोष:, शतब्रा. 3.4.1.13; इन्द्रियं वै वीर्यं रस: पशव:, ताब्रा. 13.7.4; पशवो वै राय:, शतब्रा. 3.3.1.8; पुष्टि: पशव:, 3.1.4.9; अन्नं पशव:, 6.2.1.15; पशवो वै रेवत्यो मधुप्रियम्, ताब्रा. 13.7.2, आदि।
23. ते ह ऊचु: । हन्त इमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्य उपजीवाम इति तां ओक्ष्णै: चर्मभि: पश्चात् प्रांच: विभजमाना अभि ईयु: ।...शतब्रा. 1.2.5.2
24. ते ह सर्व एव वनस्पतय: असुरान् अभ्युपेयु: उदुम्बर: ह एब देवान् न जहौ... शतब्रा. 6.4.5.2
25. तत: शापभयाद् भीत: ऋष्यमूकं महागिरिम् । प्रवेष्टुं न इच्छति हरि: द्रष्टुं वापि नरेश्वर ।। रामायणम् 4.11.64
26. सैयद सुलेमान, नदवी, पूर्व., 1930, 65
27. कीथ, बेबीलोन ऐंड इंडिया, कुप्पूस्वामी शास्त्री कमेमोरेशन वाल्यूम, 67; बैशभ, पूर्व., 1967, 26
28. फ्रैंकफर्ट, दि बर्थ ऑफ़ सिविलाइजेशन इन दि नीयर ईस्ट, 1954, 62
29. भैंस को पालतू बनाने के सबसे पुराने प्रमाण मेहरगढ़ से मिलते हैं।
30. ऋ. 10.106.6
31. ऋ. 10.28.10
32. मानव श्रोतसूत्र, 9.2.4.4

अध्याय तीन

कृषि-क्रान्ति और देवासुर संग्राम

कृषि की ओर मनुष्य ने कब और किन परिस्थितियों में क़दम बढ़ाया, यह अधिकारी विद्वानों के बीच अरसे से विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद में उलझना हमारे लिए एक जोखिम मोल लेने जैसा ही है, पर भारतीय स्रोतों से इस विषय में जो जानकारी प्राप्त होती है उसे एक निश्चित परिप्रेक्ष्य देने के लिए उपलब्ध सूचनाओं को यथासम्भव सुलझे रूप में रखना और इनकी अपनी तर्कसंगति पर प्रासंगिक रूप में अपने विचारों को पेश करना ज़रूरी है।

ऐसा लगता है कि आखेट और आहार-संग्रह के चरण में ही मनुष्य ने वन्य रूप में पैदा होने वाले स्थानीय अनाजों का उपयोग करना आरम्भ कर दिया था और इसके हज़ारों वर्ष बाद उसने स्वयं इनको उगाना आरम्भ किया। वन्य अनाजों को जिस भी अनुपात में हो, नवीं-दसवीं सहस्राब्दी में ही आहार का अंग बनाया जाने लगा था और इनकी विधिवत खेती सातवीं सहस्राब्दी में आरम्भ हो गयी थी। जिन स्थलों या क्षेत्रों से वन्य अनाजों के उपयोग के और फिर बाद में कृषि के प्रमाण मिलते हैं, उनके विषय में यह सोचा जाना स्वाभाविक ही है कि स्थानीय जनों ने स्वयं बिना किसी बाहरी प्रेरणा या प्रभाव के खेती का आरम्भ किया होगा। पर ऊपर से बहुत सीधा-सा दीखने वाला यह प्रस्ताव भी कुछ निकट से जाँच की माँग करता है।

हमें यह नहीं भूलना होगा कि आखेट और आहार-संग्रह के चरण में मनुष्य यायावर था जो जहाँ-तहाँ, आहार की सुलभता होने पर या विशेष मौसमों में सुरक्षा के तकाज़ों से अस्थायी पड़ाव भी कायम करता चलता था। जिन दो हज़ार वर्षों के लम्बे दौर में उसका अपना प्रयास वन्य अनाजों के संग्रह तक सीमित था, उस दौर में उसे अपने अटन क्षेत्र में जहाँ भी उपयुक्त अनाज मिलते रहे होंगे वह उनका संग्रह करता रहा हो सकता है और इस तरह उसके पूरे अटन क्षेत्र के भीतर वन्य अनाजों का संग्रह कुछ ही शताब्दियों के बीच प्रचलित हो गया होगा और

इस तरह उस समूचे भूभाग में जिसमें वन्य अनाज उग रहे थे और ऐसे कबीलों में जो इसके सम्पर्क में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में आ सकते थे, बहुत जल्द ही यह ज्ञान फैल गया होगा। ऐसी स्थिति में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हम इस बात का निर्णय नहीं कर सकते कि वन्य अनाजों का खाद्य-पदार्थ के रूप में उपयोग सर्व-प्रथम कहाँ आरम्भ हुआ। कृषि की दिशा में पहल इस प्रसार-क्षेत्र में कहीं भी हो सकती थी और इसलिए पुरातत्व के आधार पर वर्तमान स्थिति में यह तय कर पाना कठिन है कि इस दिशा में प्रथम प्रयोग कहाँ हुए थे।

वस्तुतः अनाज के सूख जाने पर इसको जुटा कर रखने और फिर इसको भून और कूट कर सुखाद्य बनाने का चरण स्वयं भी एक मध्यवर्ती चरण रहा लगता है। इसके लिए एक अल्पतम तकनीकी विकास की जरूरत थी। पर वन्य अनाजों में दाने आने से ले कर इनके गदराने तक वह इनको छील और मसल कर या, जहाँ जरूरी हुआ, सीधे बालियों को आग पर झुलस कर इससे भी हजारों वर्ष पहले से खाता आ रहा था जिसकी तिथि नियत करना कठिन है। कुछ देशों की स्थानीय परम्पराओं में इस चरण के अवशेष आज भी पाये जा सकते हैं, जैसे--भारत में होली और नवान्न के अवसरों पर जौ आदि की बालियों को सीधे आग की लपट परझुलस कर इन्हें मसल कर प्रसाद के रूप में खाना या विभिन्न पकवानों में एक-दो दाने उस आदिम चरण की यादगार के रूप में डालना।

आहार-संग्रह के चरण से आगे बढ़कर मनुष्य ने कृषि की ओर कदम क्यों बढ़ाया ? यह सवाल भी कम टेढ़ा नहीं है। आरम्भ में सरल भाव से यह सोच लिया गया था कि आहार-संग्रह और आखेट के चरण में मनुष्य का जीवन बहुत कष्टमय था और वह दिन-रात आहार जुटाने की ही चिन्ता में लगा रहता था। न आराम था, न अवकाश। अतः इस दारुण स्थिति से उबरने के लिए ही उसने कृषि का सहारा लिया। पर विगत दो दशकों में हुए कुछ अध्ययनों ने इस सरलीकरण को खण्डित करके इस समस्या को एक असाध्य गुत्थी का-सा रूप दे दिया। रिचर्ड ली[1] ने दक्षिण अफ्रीका के कुंग बुशमेन कबीले के अध्ययन के बाद यह दावा किया कि कुंग कबीला जिस सूखे और उजड़े पर्यावरण में रहता है उसमें भी कबीले की महिलाएँ केवल दो घण्टे के श्रम से अपने पूरे परिवार की गुजर के लिए पर्याप्त आहार जुटा लेती हैं और यह आहार पोषकता की दृष्टि से भी बहुत अच्छा होता है। पुरुष जब-तब शिकार करते हैं और इसके लिए दल बनाकर निकलते हैं और प्रायः कई दिनों की भाग-दौड़ के बाद ही उनके हाथ कोई शिकार लग पाता है, पर उनका शिकार पर निकलना उतना आहार की तलाश के लिए नहीं होता जितना अपना शौर्य और कौशल प्रकट करने के लिए। अकसर तो वे कई-कई दिन शिकार पर ही नहीं निकलते। इस नयी खोज ने आहार-संग्रही मनुष्य के विषय में प्रचलित मान्यता को तो बदला ही, साथ ही इसने एक नयी उलझन पैदा कर दी। यदि

मनुष्य आहार-संग्रह और आखेट से अपना गुज़र कर सकता था तो उसने कृषि की ज़हमत क्यों मोल ली ?

हार्लन[2] ने इस गुत्थी को कुछ और उलझा दिया था। उन्होंने तुर्की में वन्य रूप में उगे गेहूँ की हाथ से कटाई करने का और फिर एक कामचलाऊ दस्ता लगे आदिम किस्म के हँसिये से कटाई का प्रयोग किया और पाया कि जिस प्रकार के आदिम हँसिये का उपयोग वहाँ के मनुष्य ने पहली बार किया था उससे वह नंगे हाथों की तुलना में केवल बीस प्रतिशत अधिक अनाज जुगा सकता था। अन्तर इतना कम था कि यह समझ में नहीं आ रहा था कि आख़िर मनुष्य ने इतने जतन से हँसिये का आविष्कार क्यों किया ? इतना ही नहीं, उसने यह भी पाया कि एक परिवार केवल तीन हफ्ते के श्रम से वन्य रूप में उगे अनाज का इतना संग्रह कर सकता था कि इससे पूरे परिवार का गुज़ारा पूरे साल हो सके। वन्य गेहूँ पोषण की दृष्टि से भी काश्त के गेहूँ से श्रेष्ठ होता है। अब उनके सामने भी यही सवाल था कि मनुष्य ने आहार-संग्रह के मुक्त जीवन को छोड़कर किसानी की ज़हमत क्यों मोल ली ? यदि ऐसा किया भी तो कटाई के वे आदिम हथियार क्यों बनाये जिनके बिना उसका काम लगभग उतनी ही आसानी से चल सकता था।

कहाँ तो पहले से चली आ रही मान्यता के अनुसार आहार-संग्रही मनुष्य का जीवन पशुवत था और भोजन जुटाने की उसकी चिन्ता इतनी गहरी थी कि उसे सोचने-विचारने की फुर्सत ही नहीं थी, कहाँ इन नये प्रस्तावों के अनुसार जो ठोस अनुभवों पर आधारित थे, उसके पास फुर्सत-ही-फुर्सत थी। इन नयी खोजों ने विद्वानों के सामने एक नयी मुसीबत पैदा कर दी कि आखिर मनुष्य ने आहार-संग्रह और आखेट की निश्चिन्तता का जीवन छोड़ कर खेती की ज़हमत क्यों मोल ली ?

कृषि की ओर मनुष्य के अग्रसर होने की विशेष परिस्थितियों को पश्चिमी एशिया को सामने रखते हुए ही कल्पित करने के प्रयत्न किये जाते रहे हैं, क्योंकि खेती के अपेक्षाकृत पुराने प्रमाण पहले इस क्षेत्र से ही आये थे। इनमें से एक था चाइल्ड का प्रसिद्ध हिमयुग का सिद्धान्त।[3] इसके अनुसार विगत हिमयुग के दौरान पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका की जलवायु आज की अपेक्षा अधिक आर्द्र और ठण्डी हो गयी थी और इसकी समशीतोष्णता के कारण यहाँ वनस्पतियों और आखेट के पशुओं का बाहुल्य हो गया था और जीवन बहुत आसानी से चल रहा था। पर दस हज़ार ई. पू. के लगभग जब हिमयुग समाप्त होने लगा तो यहाँ की जलवायु अपेक्षाकृत अधिक शुष्क और गर्म हो गयी। पहले जहाँ आबादी का बिखराव पूरे क्षेत्र में था वहाँ अब यह क्रमशः सिमटकर नदियों के पार्श्वों पर और कुछ नखलिस्तानी क्षेत्रों में आ गयी और इस तरह जो दबाव पैदा हुआ उससे बचने के लिए मनुष्य ने स्वयं खेती करना आरम्भ कर दिया और लगभग इसी के साथ,

या इसके कुछ ही बाद, पशुपालन भी करने लगा। ब्रेडवुड को लगता रहा कि विगत 12,000 वर्षों के दौरान इस क्षेत्र की जलवायु में कोई खास परिवर्तन हुआ ही नहीं है, अतः उनके अनुसार कृषि का एक नाभिकीय क्षेत्र था, जो जैसा कि स्वाभाविक है, पश्चिम एशिया में ही था, जहाँ की अपनी मेधा और विशिष्ट परिस्थितियों के कारण कृषि का विकास हुआ और वहीं से इसका अन्यत्र प्रसार हुआ।[4] कुछ दूसरे अध्येता मानते रहे हैं कि हिमयुग के दौर में ही जब पश्चिमी एशिया की जलवायु अधिक खुशगवार थी, यहाँ की उर्वरता और सम्पन्नता के कारण आबादी में तेजी से वृद्धि हुई और इसके दबाव में ही खेती का आविष्कार करना पड़ा।[5] इन विविध प्रस्तावों में से किसी को सर्वथा त्याज्य या स्वीकार्य नहीं पाया गया है और इन्हें इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए की गयी अटकलबाजियों से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता।

वास्तविकता आधुनिक विद्वानों के अनुमानों की अपेक्षा पौराणिक विवरणों के अधिक निकट प्रतीत होती है, जिनसे प्रकट होता है कि मनुष्य ने कृषि का आरम्भ इसलिए किया कि आहार-संग्रह के चरण में कबीलाई अनियमितता के कारण और मौसम की अनिश्चितता के कारण वन्य अनाजों की प्राप्ति में जो अनिश्चितता बनी रहती थी उसे दूर किया जा सके। उसने कृषि को इसलिए अपनाया कि प्रकृत पौधे कहीं तो इतने सघन उग सकते थे कि उनमें अच्छी तरह बीज ही न लग सकें और कहीं इतने विरल कि उनका होना-न-होना ही बराबर था, वहाँ अनाजों के प्रतिस्पर्धी घास-मोथों को निर्मूल करके या भूमि का संस्कार करके, अब बीजों को समुचित दूरी पर और अविरल क्रम में बिखरा कर समुचित फ़सल पैदा की जा सके और अन्ततः इसलिए भी कि जिन क्षेत्रों में वन्य रूप में अनाज के पौधे नहीं उगते थे उनमें इनको बो कर और सिंचाई आदि की समुचित व्यवस्था करके अनाज की पैदावार बढ़ायी जा सके। पर इसका आरम्भ आहार-संग्रह के चरण में ही सबसे पहले वन्य उपज वाले क्षेत्रों की जंगली जानवरों और अन्य जंगली कबीलों से रखवाली करते हुए और फ़सल तैयार होने से पहले इसे नोचने-खसोटने के अपने निजी प्रलोभन को भी रोकते हुए, इस विषय में सामाजिक वर्जनाओं या वरुण (वर्जनात्मक) पाशों का विधान करते हुए ही किया गया, जिनके कारण कृषि से पहले के चरण से ही मुख्य फ़सलों—धान और यव—को वरुण प्राघास कहा जाने लगा था।[6]

विशेषज्ञों की एक सीमा यह होती है कि विशेष और सुनिश्चित की खोज में अतिरिक्त व्यस्तता के कारण उनका ध्यान प्रायः आम और प्रत्यक्ष चीज़ों की ओर नहीं जा पाता, अन्यथा उन्होंने कम-से-कम बागबानी आदि के उदाहरणों से इस समस्या के एक पहलू को अवश्य सुनिश्चित कर लिया होता। जंगल में और बाग में अन्तर यह होता है कि बाग में जो भी झाड़-झंखाड़ उग सकते हैं, उन्हें उगने नहीं

दिया जाता अपितु कतिपय चुने हुए पौधों को ही, एक निश्चित योजना के अनुसार ही, एक निश्चित अन्तराल पर ही लगाया जाता है ताकि इनका भरपूर लाभ पाया जा सके। ठीक यही बात कृषि के आरम्भ पर भी लागू होती है।

कृषि के आरम्भ के सन्दर्भ में हिमयुग आदि की भूमिका का कोई खास महत्व नहीं है। पहली बात यह कि हिमयुग का अन्तिम चरण चाइल्ड के अपने प्रस्ताव के अनुसार भी दस हजार ई. पू. में घटित हुआ था, जब कि कृषि का आरम्भ इससे कम-से-कम तीन हजार वर्ष बाद हुआ और इतना बड़ा अन्तराल कुछ कम नहीं होता। फिर हिमयुग के इस उत्तरवर्ती दौर के विषय में जलवायु की शुष्कता और निर्वाह-योग्य क्षेत्रों के संकोच की जो कल्पना की गयी थी उसमें इस बात का खयाल ही नहीं किया गया था कि कोई नया विकास अभाव और दुर्भिक्ष के दिनों में नहीं होता।[7] यह प्रस्ताव रखते हुए चाइल्ड के दिमाग़ में 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' का किताबी सूत्र तो रहा लगता है, पर इस बात का ध्यान नहीं कि आवश्यकता अभाव का पर्याय नहीं है। अभाव से अपेक्षाकृत मुक्त समाज इस मुक्ति के अनुरूप ही नयी आवश्यकताएँ पैदा करता और इनकी पूर्ति के लिए नये-नये प्रयोग करता जाता है और इस तरह स्वयं अपने द्वारा गढ़ी हुई चुनौतियों का सामना करता हुआ यह तब तक आगे बढ़ता रहता है जब तक आवश्यकताओं और चुनौतियों का यह सिलसिला चलता रहता है। किन्हीं भी कारणों से इसमें गतिरोध आने के साथ इसमें परिरक्षणवादिता आ जाती है। नयी आवश्यकताएँ पैदा करने के ठीक विपरीत यह अपनी आवश्यकताओं को घटाना आरम्भ कर देता है और यह सिलसिला उस पर पड़ने वाले दबावों और इनसे उत्पन्न होने वाले अभावों के समानान्तर जारी रहता है।

कृषि का आविष्कार सर्वप्रथम कहाँ हुआ, इस बात का निश्चय करना, जैसा कि हम कह आये हैं, आसान नहीं है। मोटे तौर पर इतना ही कहा जा सकता है कि उस पूरे क्षेत्र में जहाँ विभिन्न अनाज वन्य रूप में उगते थे, इनका संग्रह और उपभोग आहार-संग्रह काल से करते आ रहे जनों में से ही किसी ने इस दिशा में पहल की होगी। पर जैसा कि हम देख आये हैं, इस मामले में बार-बार पश्चिम एशिया का ही नाम दुहराया जाता रहा है जो ठीक नहीं है। हमें जो सूचनाएँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह कहना अधिक सही होगा कि अपेक्षाकृत एक छोटी काल-सीमा के भीतर, कुछ ही शताब्दियों में, एक बहुत विशाल क्षेत्र में मनुष्य ने उन अनाजों में से कुछ को एकाधिक क्षेत्रों में उगाना आरम्भ कर दिया, जिससे प्रथम दृष्टि में यह लगता है कि इन सभी क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से कृषि का विकास हुआ और इनके बीच किसी सबसे प्राचीन और अन्य सभी के प्रेरक की खोज कर पाना कम-से-कम पुरातात्विक आधार पर तो असम्भव-सा ही है। उदाहरण के लिए पुरातत्व के आधार पर यह कैसे तय किया जा सकता है कि ईराक, तुर्की, सीरिया,

जोर्डन आदि के वे स्थल जहाँ सातवीं सहस्राब्दी ई. पू. में यव की खेती आरम्भ हो गयी थी भारत की विन्ध्य तलहटी—मगहरा, कोल्डिहवा—तथा लुंकरनसर तथा साँभर झील के बीच उससे कुछ पूर्ववर्ती धान की खेती को कैसे प्रेरित कर सकता था, या इसके ठीक विपरीत कैसे घटित हुआ हो सकता था ? फिर जब जौ की छह क़तारों वाली किस्म जो भारत में वन्य रूप में पैदा होती थी और जिसके प्रमाण हड़प्पा के स्थलों से तथा मेहरगढ़ से सातवीं सहस्राब्दी ईसापूर्व से प्राप्त होते हैं जो कृष्ट यव के प्राचीनतम नमूनों में से एक है और ईरान-ईराक़ के शिनाख्त किये गये स्थलों से केवल दो क़तारों वाले जौ के नमूने ही पाये जाते हैं और छह क़तारों वाला यव वहाँ बाद में पहुँचता है[9], यद्यपि यह जेरिको में पहले से मौजूद था, तो अन्तराल को देखते हुए क्या यह दावा किया जा सकता है कि ईरान-ईराक़ के क्षेत्र की दो क़तारों वाले जौ की खेती भारत की प्रेरणा से, या भारत की छह कतारों वाले यव की खेती जेरिको की प्रेरणा से आरम्भ हुई, या क्या यह माना जा सकता है कि भारत में जहाँ वन्य धान का कर्षण किसी रूप में आठवीं सहस्राब्दी में आरम्भ हो चका था, जो न केवल धान अपितु किसी भी अनाज की खेती का भी सबसे पुराना उदाहरण है, वहाँ वन्य रूप में उगने वाले अन्य अनाजों, यव और गेहूँ आदि की खेती का प्रयत्न नहीं किया गया होगा ?

पुरातात्विक दृष्टि से इस उलझी स्थिति का एक ही हल दिखायी देता है और वह यह कि भारत से लेकर भूमध्य सागर के तट तक को घेरने वाले महाअटन क्षेत्र में विचरण करने वाले आहार-संग्रहियों और शिकारियों ने कृषि का आरम्भ होने से पहले हजारों वर्षों से वन्य अनाजों को भी अपने आहार का अंग बना लिया था, यद्यपि यह उनकी जरूरत पूरी करने की दृष्टि से बहुत अपर्याप्त था। फिर, इस विशाल क्षेत्र में जहाँ कहीं भी पहली बार इन वन्य अनाजों को स्वयं उगाने का प्रयोग हुआ, इसकी सूचना कुछ ही शताब्दियों के भीतर पूरे क्षेत्र में फैल गयी और इसमें अलग-अलग स्थलों पर स्थायी बस्तियाँ बसा कर स्थानीय वन्य अनाजों की नस्लों की ही खेती आरम्भ हुई और इस तरह अलग-अलग अंचलों की स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार लोगों को स्वतः प्रयोग करते और अपनी भूलों से सीखते हुए आगे बढ़ना पड़ा।

दूसरे शब्दों में कहें तो यद्यपि यह तय करना कठिन है कि कृषि में पहल किसकी थी, पर इस सूचना के प्रसार के बाद इसका आरम्भ और आरम्भिक प्रयोग इस पूरे क्षेत्र में स्थान-स्थान पर होता दिखायी देता है। कृषि के आविष्कार के लिए सबसे उपयुक्त क्षेत्र कौन-सा रहा हो सकता है, इस पर कुछ विद्वानों ने[10] विचार करते हुए इसके लिए निम्न पाँच शर्तें सुझायी थीं :

1. अन्न प्रजातियाँ वहाँ वन्य रूप में पैदा होती रही हों;
2. जलवायु सह्य रही हो;

3. वर्ष के कुछ महीनों में तापमान बहुत ऊपर चला जाता रहा और सूखे की नौबत आ जाती रही हो;
4. मनुष्य वहाँ पहले से आबाद रहा हो; तथा
5. शिकार और वनस्पतियों का स्थानीय स्रोत स्थानीय आबादी का भरण-पोषण करने की दृष्टि से अपर्याप्त रहा हो।

यदि इन शर्तों को भारत पर घटित करें तो पायेंगे कि ये सभी इसे कृषि के मामले में पहल करने की दृष्टि से सबसे उपयुक्त क्षेत्र या कहें सबसे उपयुक्त क्षेत्रों में से एक सिद्ध करती हैं। भारतीय पुरातात्विक साक्ष्य जो राजस्थान की साँभर झील के पास से,उत्तर प्रदेश के महगरा और कोल्डिहवा से प्राप्त हुए हैं,अपनी निजी पहल से बहुत प्राचीन काल में ही खेती के आरम्भ के विषय में हमें आश्वस्त करते हैं। इनमें यदि किसी तरह की कमी रह जाती हो तो वह भारतीय परम्परा से पूरी हो जाती है जिसके अनुसार यव की खेती या कहें रबी की खेती से पहले देव अन्य धान्यों—खरीफ़ के धान्यों—की खेती भी करते थे। पर फिर वे ऐसे क्षेत्र में आ गये जहाँ धान की खेती अधिक कष्टसाध्य थी, अतः उनका सारा प्रयत्न रबी की खेती तक ही सिमट कर रह गया। ब्राह्मणों में इस प्राचीन परम्परा को इस रूप में दुहराया गया है कि जब अन्य सभी औषधियों ने देवों का साथ छोड़ दिया तो भी यव ने उसका साथ नहीं छोड़ा, अतः सभी औषधियों के सार-तत्व को उन्होंने यव में रख दिया। इसीलिए जब अन्य औषधियाँ पानी के अभाव में मुरझाने लगती हैं तब भी यह हरा रहता है। प्रकारान्तर से कहें तो, उन्होंने कृषि-कर्म उस क्षेत्र में आरम्भ किया जिसमें धान अधिक आसानी से उगाया जा सकता था और वहाँ से बाद में हटकर उस क्षेत्र में पहुँचे जहाँ यव आसानी से पैदा हो सकता था। महत्व-पूर्ण अनाजों के उल्लेख में भी सम्भवतः इसीलिए धान के बाद यव का--व्रीहियवौ--नाम बार-बार लिया जाता है। हम इस विषय में वायु पुराण का जो विवरण पीछे दे आये हैं उसमें उन भौतिक कारणों और अनुभवों को भी बहुत सटीक रूप में रखा गया है जिसमें यहाँ कृषि का आरम्भ हुआ और जो आधुनिक विद्वानों द्वारा किये जाने वाले अनुमानों की तुलना में अधिक विश्वसनीय और तर्कसंगत प्रतीत होता है। इसे पुनः सूत्र रूप में रखें तो, मौसम की अस्थिरता, जंगली कबीलों की संयम-हीनता, सूखे आदि के गम्भीर संकटों के दौर जिनमें खाद्य पदार्थों का अकाल-सा उत्पन्न हो जाता रहा, मनुष्य को इस समस्या का कोई स्थायी हल ढूँढ़ने को बाध्य करने लगा और इस विषय में सामूहिक सोच-विचार, जिसे प्रतीकात्मक रूप में प्रजापति के पास जाने और उनसे मार्ग-दर्शन लेने के रूप में रखा गया है, वन्य अनाजों पर आश्रित रहने के स्थान पर स्वयं अपनी पहल से इनकी व्यवस्थित खेती करने का कारण बना।

भारतीय साहित्य में कृषि-क्रान्ति के दौरान किये गये प्रयोगों और संघर्षों

को देवासुर संग्राम के रूप में पेश किया गया है और कृषि को यज्ञ का पुरातन रूप कहा गया और इन विवरणों में जितने स्पष्ट और विस्तार से हम इस इतिहास को सुरक्षित पाते हैं वह अन्यत्र किसी परम्परा में दुर्लभ है। अतः इन विवरणों पर दृष्टि डालना और इससे भी पहले सुर-असुर और यज्ञ आदि के मूल आशय को स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा।

3
सुर और असुर

सुर और असुर शब्द एक-दूसरे के विलोम हैं। इसके बावजूद परम्परागत व्याख्याकार असुर शब्द की व्युत्पत्ति 'असु' नामक एक कल्पित धातु से करते रहे हैं जिसका मूल अर्थ क्षेपण, प्राण आदि[11] किया जाता रहा है। असुर शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में अनेक बार देवों के विशेषण के रूप में भी हुआ है, इसी से सम्भवतः इसे सुर का विलोम न मानकर इसके लिए कोई भिन्न मूल तलाशने की आवश्यकता अनुभव हुई। निघण्टु के अनुसार, 'असु' प्रज्ञा[12], प्राण व जीवन[13] का पर्याय है। सायण असुर को क्षेपणशील[14], निरसनशील[15], प्रेरक[16], प्राणदाता[17], बलदाता[18] आदि अर्थों में ग्रहण करते हैं। सामान्यतः एक धातु से दर्जनों और कभी-कभी सैकड़ों शब्द निकलते हैं, पर यह 'असु' धातु ऐसी है जिससे केवल एक शब्द असुर निकला। यह तथ्य हमारे मन में इस व्युत्पत्ति के प्रति सन्देह पैदा करता है। वस्तुतः सुर और असुर शब्द केवल व्युत्पत्ति की दृष्टि से ही नहीं, अर्थ-विकास की दृष्टि से भी एक-दूसरे के विलोम हैं और इनको इसी रूप में ग्रहण करते हुए हम इनके मूल अर्थ को और इनके आपसी सम्बन्धों और विरोधों को समझ सकते हैं।

सू— जिसका मूल रूप चू भी हो सकता है, मूलतः जलवाची है, पर इसका प्रमुख भाव (चूने) टपकने वाला या निकलने वाला है, और यह बूंद के टपकने की ध्वनि का अनुकार रहा प्रतीत होता है। पर साथ ही पानी की धार के पतले छिद्र से तेज़ी से निकलने की ध्वनि भी ध्यान देने के योग्य है जिसका प्रयोग आप आज भी अपने बच्चे से सवाल करते समय करते हैं—सू-सू करना है ? जो भी हो, पैदा होना, निकलना, पैदा करना इसके धातुगत अर्थ बने जिनसे सुत, सुता, सवन, सुवन सविता, प्रसविता, सूत्-र, सुत्या, स्व(भोजन, धन)आदि शब्द निकले हैं। जिन शब्दों का प्रयोग जल के लिए हुआ है उन्हीं में से कुछ का प्रयोग प्रकाश, कांति आदि के लिए भीहुआ है।[20] सू—चू के प्रजनन और प्रचुरता वाले भाव से 'सु' उपसर्ग अधिक और अच्छे का भी द्योतक बना। प्रचुरता में प्र-चुः-ता को स्पष्ट लक्ष्य किया

जा सकता है।

अतः सुर शब्द का व्यवहार मूलतः उत्पादक (कृषिकर्मी) के लिए आरम्भ हुआ लगता है और इसके विपरीतार्थक रूप में असुर शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि असुरों को अकर्मा, नि-अक्रतू, अव्रत, अधायु, गृध्नु, अयज्यू, अराध, अनप्नस आदि भी कहा गया है जिनका अर्थ है काम न करने वाला, दूसरों की कमाई पर पलने वाला, कंगाल आदि। इनके विपरीत देवों को सुकर्म, सुक्रतु, क्रतुविद, व्रतचरिष्णु, सुराध, श्रम और तप करने वाला आदि बताया गया है जो उनकी कर्मठता का सूचक है। इस तरह मूलतः सुर शब्द मोटे तौर पर वही अर्थ रखता था जो अर्थ 'आर्य' शब्द।

4
कृषि यज्ञ

यज्ञ का सम्बन्ध उपभोग और उत्पादन से रहा है और बाद में इसे एक आनुष्ठानिक रूप दे दिया गया। यज्ञ ही धन है[21], यज्ञ ही अन्न है[22], यज्ञ का ही सभी प्राणी भोग करते हैं[28], यज्ञ ही अपना (उत्पादित) भाग है[24], यज्ञ मधुसार है[25], यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है[26], यही प्रजापति या जनता का पालन करने वाला है[27], यज्ञ ही ज्ञान है[28], यज्ञ विश है, इसी में सभी जीव समाहित हैं[29], यज्ञ ही विश्व का आधार है[30], जिस बैल से खेती का काम होता है वह स्वयं भी यज्ञ ही है[34], संवत्सर जिसके ऋतु काल का ज्ञान कृषि के लिए आवश्यक था, और जिसके विशेष मौसमों में फल-फूल पैदा होते हैं, स्वयं भी यज्ञ है।[32] यज्ञकर्ता स्वयं भी यज्ञ है।[33] इसकी महत्ता यह है कि यह सभी प्राणियों और सभी देवताओं की आत्मा है।[34] मनुष्य और देवता सभी का गुजर-बसर यज्ञ पर ही निर्भर करता है।

इस तरह यज्ञ का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष इसका उत्पादन पक्ष है। पशुचारण काल में सम्भव है, पशुवृद्धि को यज्ञ का रूप माना जाता रहा हो और मैथुन वाले या रेतःसेक वाले पक्ष पर ज़ोर उस काल का भी अवशेष हो सकता है, अन्यथा मैथुन वाले मामले में तो राक्षस भी यज्ञपरायण ही थे। जो भी हो, यज्ञ को आगे के चरण में कृषि-कर्म से या उत्पादन के उन्नत चरण से जोड़ लिया जाता है और फिर यह आनुष्ठानिक रूप ले लेता है।

यदि हम यज्ञ के विवरणों पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इसका सम्बन्ध कृषि-कर्म से ही था। ऋग्वेद में एक पहेली बुझायी जाती है कि इस पृथ्वी का परम अन्त क्या है? भुवन की नाभि क्या है?[35] और अगली ऋचा में उत्तर दिया जाता है कि यह यज्ञ की वेदी ही पृथ्वी का परम अन्त है और यज्ञ ही भुवन

की नाभि है।[36] ब्राह्मणों आदि में पृथ्वी को ही वेदी बताया जाता है।[37] इस वेदी से ही सब कुछ प्राप्त किया गया, अतः इसका नाम वेदी पड़ा।[38] जहाँ तक पृथ्वी है वहाँ तक वेदी है। जहाँ तक वेदी है वहीं तक पृथ्वी है।[39] धरती को तीन अँगुल जोत कर खेती की जाती है, अतः वेदी की मोटाई भी तीन अँगुल की है।[41] वस्तुतः जो जुती हुई खेती की भूमि या उर्वी है वही वेदी है[41] और उसी से हर चीज़ पैदा होती है।

क़बीलाई सामूहिक सोच-विचार और निर्णय को भारतीय परम्परा में प्रतीकात्मक रूप में प्रजापति के पास जाने और उनके सुझाव पर नये तरीके अपनाने के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन निर्णयों में, जैसा कि हम कह आये हैं, पहला था वन्य अंचलों का बँटवारा, ताकि प्रत्येक क़बीला मनमानी लूट-खसोट छोड़कर अपने क्षेत्र की वन-सम्पदा की रक्षा करे और प्राकृतिक सम्पदा का भरपूर उपयोग कर सके। यह बँटवारा मध्य-पाषाण काल तक पूरा हो चुका लगता है। दूसरा विकास था कुछ अधिक दूरदर्शी लोगों द्वारा पशुसम्पदा का प्रबन्ध और पशुपालन की दिशा में प्रस्थान और इन दुहरे प्रयासों के बाद सम्भवतः हज़ारों वर्षों बाद सूखे आदि की स्थितियों में सस्यों की रक्षा के लिए सिंचाई आदि का प्रबन्ध और फिर ऐसे क्षेत्रों में जहाँ ये धान्य प्रकृत रूप में नहीं पैदा होते थे, दूसरी वनस्पतियों की सफ़ाई करके इनके लिए क्षेत्र-विस्तार।

5
देवासुर संघर्ष

देवासुर संघर्ष का आरम्भ इस अन्तिम दौर में शुरू होता है। कारण, कृषि के लिए क्षेत्र-विस्तार करते समय उन जनों ने जिन्हें देव की संज्ञा प्राप्त हुई जंगलों को जलाना आरम्भ कर दिया और यह एक ऐसा निर्णय था जिसका विरोध दूसरे कबीले ही नहीं, अपितु इन कबीलों के भी बहुत-से लोग कर सकते थे। इस वन-दहन अभियान को ही उस प्राथमिक यज्ञ का नाम दिया गया है जो प्रथम धर्म था और जिसका क्रमशः विस्तार किया जाता रहा है।[42] यह संघर्ष कहाँ आरम्भ हुआ, या कहें कृषि की दिशा में ये आरम्भिक प्रयोग किस क्षेत्र में आरम्भ हुए, इसके विषय में हमें क्षीण संकेत ही मिल पाते हैं।

देवों की दिशा पूर्व बतायी गयी है।[43] यह अग्नि से और पुरोहितों से सम्बन्धित है।[44] मात्र दिशा से क्षेत्र का निर्धारण कठिन है। हम इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य के रचनाकाल में वैदिक जन जिस क्षेत्र में रहते थे उससे पूर्व कहीं यह प्रयोग किया गया होगा। जिन जनों ने इस दिशा में पहल की थी उनकी परम्परा के अनुसार उनके पूर्वज दक्षिण की ओर से उस क्षेत्र में आये प्रतीत होते हैं; कारण,

दक्षिण को पितरों की दिशा बताया गया है और उत्तर को मनुष्यों की दिशा।[45] इस पहल से पहले तक न कोई देवता था, न ही असुर। यदि सुर का अर्थ उत्पादक है तो इस उत्पादन कार्य का आरम्भ होने से पहले न तो कोई सुर हो सकता था, न ही इसका विलोम असुर शब्द अस्तित्व में आ सकता था। सम्भव है, वे सभी मनुष्य ही कहे जाते ही रहे हों। सम्भव है, मनु नाम के एक आदि पुरुष की कल्पना बाद के चिन्तन की देन हो और आर्थिक अवस्था में आने वाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ इस आदि पुरुष का एक नया रूप जुड़ता गया हो। मन्वन्तरों के साथ या मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन में घटित होने वाले क्रान्तिकारी परिवर्तनों के साथ अलग-अलग मनुओं की कल्पना की गयी प्रतीत होती है, जिसका फलक आगे के युगों में अधिक बढ़ा दिया गया। यह मात्र एक सम्भावना है, इसके विषय में कुछ भी निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता।

जब जंगलों को जलाकर कृषि के लिए विस्तृत और तृण-गुल्म-रहित भूमि तैयार करने का काम आरम्भ हुआ तो पहली बार ये आग लगाने वाले लोग देव कहे जाने लगे।[46] और कृषि उत्पादन के साथ वे सुर या उत्पादक हो गये। पहले मनुष्य कन्दमूल का कच्चा ही सेवन करता था, पर इस अभियान के साथ वह पके भोजन के दिशा में भी प्रयोग करने जा रहा है। देवता अग्नि के माध्यम से ही अपना भोजन ग्रहण करते हैं। अपक्व भोजन मानुषी या वन्य जीवन से जुड़ा हुआ है और पका भोजन इस देव-समाज से। अतः यज्ञ और व्रत के अवसर पर देवताओं को पक्वान्न का भोग चढ़ाने से पहले मनुष्य केवल वही आहार ग्रहण कर सकता है जो इससे पहले वह वन्य मनुष्य के रूप में ग्रहण करता था।[47]

देवताओं और असुरों के बीच हुए संघर्ष में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि देवताओं ने असुरों को शस्त्र से पराजित नहीं किया।[48] उन्होंने वन-दहन से, महा-हवि से असुरों को पराजित किया।[49] उन्होंने अपनी नयी उत्पादन पद्धति से या शाकमेध से असुरों को पराजित किया।[50] उन्हें ब्रीही और यव से या वरुण-प्रघासों से असुरों पर विजय मिली।[51] वे यज्ञ के द्वारा असुरों को परास्त करने में सफल हुए।[52] असुरों का विरोध यज्ञ से है।[53] उनकी शत्रुता क्षत्रियों से नहीं, ब्राह्मणों से या उन महायज्ञ के प्रवर्तकों से है। वे ही राक्षसों के अपहन्ता हैं।[54] अग्नि ही राक्षसों के अपहन्ता हैं।[55] संवत्सर प्रजापति या जनता का पालक है।[56] यज्ञ जनता का पालक या प्रजापति है।[57] यह विस्तृत धरती भोजन पात्र है, प्रजापति है।[58] प्रजनन या उत्पादन ही प्रजापति है।[59]

देवता और असुर जब इस रूप में विभाजित नहीं हुए थे तब वे एक ही पिता की और एक ही माता पर आश्रित सन्तानों की तरह थे। दोनों प्रजापति के पुत्र हैं।[60] पर कृषि की ओर अग्रसर होने के साथ वे सौतेले (प्रतिस्पर्धी) भाई बन गये।[61] पिता तो एक ही रह गया, पर माताएँ दो हो गयीं। एक ही माता वह फल,

फूल, कन्द, आखेट सब कुछ स्वतः देने वाली धरती या दिति और दूसरे की माता वह धरती जिसको जलाकर तृण-गुल्म-हीन बना दिया गया है। यह अदिति है। यह स्वतः कुछ नहीं देती, इससे श्रम और तप से ही कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

6
आरम्भिक कठिनाइयाँ

जिन लोगों ने कृषि की दिशा में पहल की उनके सामने कई परेशानियाँ थीं। पहली समस्या तो यह कि सभी इस बात पर सहमत नहीं थे कि वनस्पतियों को, जो स्वतः फल-कन्द देती हैं, जलाकर अपने एक विश्वस्त साधन-स्रोत को समाप्त किया जाये। कुछ लोग ही इसके पक्ष में हो सकते थे, शेष इसका विरोध कर रहे थे। जिन्होंने यह रुख अपनाया कि इनकी रक्षा की जाये उनको राक्षस कहा गया।[62] इस तरह राक्षस और असुर दोनों समानार्थी हो गये।

एक दूसरी आशंका यह थी कि क्या यह बृहद् प्रयोग सचमुच सफल हो पायेगा? सम्भवतः ऋतु-काल का जो अध्ययन किया गया था वह बहुत सही नहीं था। देवता पहले बीज बोने के लिए बिलकुल ठीक समय का चुनाव नहीं कर पाते थे। वन्य फसलें यूँ भी समय से पहले पक कर तैयार हो जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में इस प्रसंग को एक रूपक के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। ऋतुओं ने देवों से यज्ञ में अपना हिस्सा माँगा, पर देवों ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। ऋतुएँ देवों से रूठ कर चुपके से असुरों की ओर चली गयीं, जो कि इनको अप्रिय और इनसे द्वेष करने वाले सौतेले भाई थे। इसके बाद असुरों को खूब समृद्धि मिली। वनस्पतियाँ बिना जोते-बोये उनके लिए खूब फसलें दे रहीं थीं, वे पक कर तैयार हो चुकी थीं जब कि देव अभी जोतने-बोने में लगे हुए थे। वे इस पर सोच-विचार करने लगे और तय किया कि ऋतुओं को वापस बुलाया जाये। देवताओं ने अग्नि को ऋतुओं को मना कर लाने को भेजा और अग्नि ने ऋतुओं को बताया कि उसने ऋतुओं को यज्ञ में हिस्सा देने के लिए देवताओं को मना लिया है। इत्यादि।[63]

ऋतुओं का यह विपर्यय एक बहुत बड़ी कठिनाई थी। एक बार को लगा कि खेती का काम देवों को सदा के लिए छोड़ देना पड़ेगा। कारण, ऋतुओं के अतिरिक्त स्वयं यज्ञ के भी रूठ कर चले जाने का उल्लेख पाया जाता है और यहाँ भी देव उसे किसी तरह मना कर लाने की कोशिश करते हैं।[64] एक बार जंगलों को जला देने के बाद उनके पास दूसरा चारा भी क्या था? जले हुए जंगल में वनस्पतियाँ नष्ट हो चुकी थीं और उन्हें उगने में वर्षों का समय लगता, यज्ञ का यह रूठना सम्भवतः

समय से वर्षा आदि न हो पाने के कारण नियत मौसम में बोआई आदि न हो पाने या बोआई के बाद सूखे आदि से सम्बन्धित है। अर्थव्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ पहला अनुभव अधिक दारुण होता ही है। यदि क्षेत्रीय विभाजन न हो चुका होता तो शायद खेती का विचार छोड़कर देवों ने भी अपनी पुरानी लीक अपनायी होती और कहीं अन्यत्र खिसक गये होते। पर अब तो उनके जीने-मरने का सवाल पैदा हो गया था इसलिए वे उससे जुड़े रहे।

अपने आरम्भिक चरण में खेती ज़मीन को बिना जोते बोए ही की गयी लगती है। जंगल को जलाया और फ़सल का समय आने पर उसी की राख आदि में बीज बिखेर दिये, जब तक भूमि की उर्वरता रही तब तक खेती की और फिर नये जंगलों को जलाया। (यह झूम खेती भारत के अनेक जंगली कबीलों में इस शताब्दी तक जारी है।) पर जल्द ही यह समझ लिया गया कि यदि ज़मीन को जोता जाए तो एक ही क्षेत्र में बहुत लम्बे समय तक खेती की जा सकती है। बोआई ठीक किस समय की जाए, ज़मीन में कितनी नमी होनी ज़रूरी है, एक नियत भूभाग में कितने बीज डालें, या विभिन्न धान्यों के बीजों के बीच कितनी दूरी होनी चाहिए, बोने के लिए रखे गये बीज कैसे होने चाहिए, उन्हें कीड़ों आदि से कैसे बचा कर रखा जाए कि उनकी उर्वरता बनी रहे, ये तमाम बातें क्रमशः प्राथमिक प्रयोगों और कठिनाइयों से समझ में आती गयीं। यज्ञ में मुहूर्त का विचार, अर्थात् इसके लिए बिल्कुल उपयुक्त ऋतु-काल का ध्यान, जिसे कर्मकाण्डीय यज्ञों ने अपनी तार्किक परिणति पर पहुँचा दिया और जिसने ही आगे चलकर फलित ज्योतिष को जन्म दिया, फसल की बोआई के लिए उपयुक्त ऋतुकाल या कहें इस कृषि-यज्ञ के आरम्भ के लिए उपयुक्त मौसम की पहचान की देन है। विद्वान यह मानते हैं कि भारत में ज्योतिष के विकास में यज्ञों का बहुत बड़ा हाथ है, कारण इनके लिए उपयुक्त ग्रहों नक्षत्रों का ध्यान रखा जाता था। उनका यह विचार ठीक है। वे सिर्फ़ इस बात का ध्यान नहीं रखते कि यह यज्ञ का कौन सा रूप था, जिसके लिए ऋतु काल का उचित ध्यान इतना ज़रूरी था। इसके पीछे अपरिहार्यता क्या थी, इसका वे कोई संकेत नहीं देते। केवल दिन और रात के चक्र से बोआई के लिए सही समय का ज्ञान नहीं हो सकता था। चन्द्रमा भी इसमें सहायक नहीं हो सकता था। वर्षा और गर्मी का परिवर्तन बहुत दूर तक सहायक नहीं हो सकता था। यहीं से ग्रहों-नक्षत्रों की ओर आदमी का ध्यान जाता है और आज तक ग्रामीण किसान इन ग्रहों-नक्षत्रों के आधार पर ही अपनी कृषि के लिए, विशेषतः बोआई के लिए, समय का विचार करते हैं।

बोने से पहले बीजों की परीक्षा भी आवश्यक थी। अनाजों पर कीड़ों आदि का असर हो जाना एक आम सी बात थी। पर इसके बावजूद बीज उग सकते थे। बोने से पहले एक बार यह देख लेना ज़रूरी था कि उनके उगने की सम्भावना है

भी या नहीं और बोने का ठीक समय आ गया है या नहीं। आज भी किसान बोआई से पहले, इसका महूर्त विचार-समय-विचार करते हैं। एक कलश या लोटे में पानी लेकर किसान खेत पर जायेगा और इसके एक कोने में बीजों को बिखेर का पानी डाल कर चला आयेगा। वास्तविक बोआई इसके हफ्तों बाद शुरू होती है। आज इसका रूप रस्मी ही रह गया है। आरम्भ में इन परीक्षणों का रूप वैज्ञानिक था। रामनवमी के दिन आज भी ब्राह्मण जई या जौ के इन कल्लों को यजमान की चोटी में बाँधते हैं। यह जई और विजयादशमी का पर्व है। हम अन्यत्र कह आये हैं कि जय का या विजय का अर्थ पहले अधिक व्यापक था। कुछ विद्वान मानते हैं कि राम कथा का सम्बन्ध कृषि से है। राम का अर्थ किसान और सीता का हलाई है। इस दृष्टि से ये तथ्य कुछ रोचक हैं। जो भी हो, कृषि-यज्ञ की सफलता असुरों पर एक विजय थी, इसे बार-बार दुहराया ही गया है। सीता जनक या उत्पादन कर्मी, कृषिकर्मी पिता की दुहिता है और इसका जन्म मानव पिता और माता से नहीं होता, अपितु असुरों द्वारा मारे गये उन ब्राह्मणों के रक्त से होता है जो घड़े में भर कर ज़मीन में रख दिया गया था। यह उस बलिदान की सजीव मूर्ति है जो कृषि-कर्मियों को इस नवप्रवर्तन के लिए करना पड़ा था। कृषि-क्रान्ति निश्चय ही नीरव क्रान्ति नहीं थी। इसके साथ भी बलिदानों की एक कथा है जो अनेक रूपकों और परवर्ती कथाओं और चरित्रों से मिल कर कुछ दुर्बोध हो चली है।

इस विषयान्तर को छोड़कर हम इस तथ्य पर आयें कि अपने आरम्भिक प्रयोगों के बाद इन कृषिकर्मियों को पशुधन के बाद एक नया और अधिक विश्वसनीय आधार प्राप्त हुआ और इससे उनको अपने अभावों पर और कुपोषण पर विजय मिली। वरुण प्राघासों या व्रीहि और यव की इस प्राथमिक खेती के बाद प्रजा वरुण के बन्धन से मुक्त हुई—'इस फल को इस समय तक न खाओ', 'इन सीमाओं को मत तोड़ो' का बन्धन टूटा। पर यह टूटना नये बन्धनों की सृष्टि भी थी, कृषि सम्बन्धी बन्धनों या पाबन्दियों का आरम्भ। जो भी हो, अब इन लोगों को जो सम्पन्नता प्राप्त हुई उसके कारण ये पहले की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और निष्पाप हो गये।[65]

इस सफलता के बाद अब वे वन्य औषधियों और कन्दों पर निर्भर नहीं रह गये। यह प्रकृति पर उनकी एक विजय थी, इसके एक बहुत बड़े रहस्य का भेदन। अब औषधियाँ उनकी पत्नियाँ हो गयीं।[66] पत्नी का अर्थ है पालिता या वह जिसका पालन किया जाए। अब धरती उनकी पत्नी हो गई।[67] इससे उन्हें एक स्वराज्य या आत्मनिर्भरता मिल गयी।

7
कृषि यज्ञ का विस्तार

इन सफलताओं के बाद देवों को एक नया विचार सूझा कि क्यों न यज्ञ का विस्तार किया जाए। दूसरे शब्दों में कहें तो कृषि के प्राथमिक प्रयोग तो केवल उस क्षेत्र तक सीमित थे जो देवताओं के अपने हिस्से में पड़ता था, पर इसके बाद उन्हें यह बात सूझी कि असुरों के क्षेत्र को भी कृषि के लिए ले लिया जाए।[68] उनके मन में अश्वमेध और राजसूय का या कहें कृषि-भूमि के विस्तार का लोभ पैदा हुआ और यहीं से वह दुर्धर्ष संघर्ष आरम्भ होता है जिसका सिलसिला हज़ारों वर्ष तक निरन्तर चलता रहता है जो आज तक ज़ारी है। यज्ञ जब अश्व का रूप धारण करके जंगलों में विचरने लगा, देवता जब मनमानी पर आ गये तो यह असुरों के लिए जीने-मरने का सवाल बन गया। उन्हें उनके अपने क्षेत्र से निर्वासित किया जा रहा था और वे पूरी तरह विपन्न हो रहे थे।

लगता है जंगलों में या कहें पड़ोसी क्षेत्रों के जंगलों में आग लगाने का काम बहुत डरते-डरते और चोरी छिपे किया गया। कारण कुछ थोड़े से लोग ही कृषि की ओर अग्रसर हुए थे। असुर संख्या में अधिक थे और उनके सामने देव दयनीय स्थिति में थे।[69] धोखे से आग लगाने या यज्ञ का विस्तार करने की इस घटना का विवरण पुरोहिती तोड़-मरोड़ के बावजूद शतपथ ब्राह्मण की एक कथा में बहुत विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया गया है : देवों ने कहा, अब चूँकि हमने यज्ञ कर लिया, अतः आओ हम इस सत्य का विस्तार करें। उन्होंने यज्ञ का आयोजन किया पर असुरों को इसका पता चल गया। उन्होंने कहा **देवों ने यज्ञ कर लिया है और अब वे इस सत्य का प्रसार कर रहे**। आओ इकट्ठा होकर हम अपना हिस्सा माँगें। असुरों को देख कर देवों ने यज्ञ को समेट लिया और कुछ और करने लगे। असुर यह सोच कर कि ये तो कुछ और कर रहे हैं, वहाँ से हट गये। उनके चले जाने पर देवता आगे का आयोजन करने लगे। असुरों को फिर इसकी गन्ध मिल गयी। वे फिर लौट कर आये, पर उन्हें आते देख कर देव फिर कुछ और करने लगे। इस बार भी असुर यह सोच कर वहाँ से हट गये कि ये तो कुछ और कर रहे हैं। यह नाटक तब तक चलता रहता है जब तक यज्ञ का समापन नहीं हो जाता और इसकी समाप्ति के साथ असुर पराजित नहीं हो जाते।[70] यहाँ यह बात महत्वपूर्ण है कि असुरों को देवों से नहीं उनके यज्ञ से विरोध है, यदि वे यज्ञ न करते, जंगलों को आग न लगाते तो उनको इनसे किसी तरह की आपत्ति नहीं होती।

पुरानी जीवन-पद्धति और नयी उत्पादन-रीति का यह संघर्ष बहुत रोचक है। असुरों को देवों से भले शिकायत न हो, कारण जब तक वे उनके जंगलों को नहीं जलाते तब तक उनको कोई क्षति नहीं पहुँचती, पर देवों को असुरों से शिकायत है।

वे प्रायः उनके जानवरों को छीन ले जाते हैं। उनके कबीले अकस्मात आ कर उनकी तैयारी हो रही फसलों को उजाड़ डालते हैं। सम्भवतः मछली का शिकार करने के लिए वे तालाबों पोखरों में मादक या विषैली जड़ी बूटियाँ डाल देते हैं जिनसे उनका पानी पीने योग्य नहीं रह जाता और देवों के मवेशी भी इस पानी को पीकर मर जाते हैं।[71] अतः ठीक पड़ोस में जंगलों का और उन जंगली कबीलों का होना उनके अस्तित्व के लिए निरन्तर खतरा बना रहता है।[72] केवल अतिरिक्त भूमि प्राप्त करने का लोभ ही नहीं, अपने अस्तित्व और अपनी उत्पादन-पद्धति को जीवित रखने की चुनौती भी देवों के वन-दहन कार्यक्रम का कारण बना हुआ था, और इस क्रम में वे उससे कहीं बहुत अधिक भूमि की सफ़ाई करते जा रहे थे जिसका सार्थक उपयोग वे अपने बल-बूते पर कर सकते थे। इस अतिरिक्त भूमि का उपयोग वे चारण भूमि के रूप में ही कर सकते थे और करते रहे।

8
पूर्वी क्षेत्रों से देवों का पलायन

जीने मरने के इस संघर्ष में पहली बार हार का सामना देवताओं को ही करना पड़ा। असुरों ने उनका जीना दूभर कर दिया और वे पूर्व का अपना निवास छोड़ कर भागने को विवश हो गये।

देवों के प्राचीन निवास के विषय में तो यह उल्लेख मिलता है कि वे पूर्व में रहते थे, पर असुरों का निवास कहाँ था, इसका कोई संकेत नहीं मिलता। कारण स्पष्ट है। उस सीमित क्षेत्र को छोड़कर जहाँ देवों ने कृषि का आरम्भ किया था शेष सभी कबीले आसुरी जीवन ही बिता रहे थे। वे वृत्र थे, वे चारों ओर फैले हुए थे, कोई स्थान उनसे शून्य नहीं था।[73] अतः पलायन के बाद देव जहाँ भी पहुँचते हैं उन्हें प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है और उनको असुर पराजित कर देते हैं। अन्ततः वे उत्तर की ओर जाते हैं और यहाँ पहली बार उन्हें कुछ सफलता मिलती है या कम-से-कम उनका कोई प्रतिरोध नहीं होता। सम्भवतः इस उत्तर के तराई क्षेत्र से होकर ही वे उस क्षेत्र में आते हैं जहाँ वे अपनी कृषि संस्कृति का सुदृढ़ आधार रखते हैं और क्रमशः बहुत बड़े भू-भाग पर, उनके अपने शब्दों में 'समस्त भुवन' पर, अपना अधिकार कर लेते हैं और इसे कृषि और चर भूमि में परिवर्ति कर देते हैं। जिस क्षेत्र में उनकी पराजय नहीं हुई उसका नाम है अपराजिता दिशा और यह अपराजिता दिशा सारस्वत क्षेत्र से पूर्वोत्तर के कोण पर है।[74] पूर्व के अपने क्षेत्र से भगाए जाने की उनकी याद बहुत बाद तक बनी रहती है।

पर उस आदिम कृषि का सहारा लेने वाले सभी जन पश्चिम की ओर ही नहीं आ गये। कुछ जन उसी क्षेत्र में जहाँ ठिकाना मिला रह गये। झूम खेती या जंगल जलाकर जब तक जमीन में उर्वरता रहे या कम-से-कम जब तक जंगली घास-फूस से पूरा क्षेत्र इस तरह घिर न जाए कि इसमें अनाज पैदा करना असम्भव हो जाए, तब तक खेती करना और फिर नये क्षेत्र की ओर बढ़ जाना, इस शताब्दी तक जिन क्षेत्रों में कुछ कबीलों में प्रचलित रहा है, सम्भव है ये उन आदिम कर्षकों के ही अवशेष हों।[75]

उत्तर के उस तराई क्षेत्र में, जो बाद के निवास से पूर्वोत्तर में बताया गया है, यदि देवों को अपराजित बताया गया है तो इसका केवल यही आशय हो सकता है कि यह क्षेत्र उस समय में आबाद नहीं था और इसलिए यहाँ किसी तरह के प्रतिरोध का भी प्रश्न नहीं था। इसके साथ ही यह उल्लेख भी आता है कि सोम को राजा बनाकर देवताओं ने अपनी विजय प्राप्त की और अपना खोया हुआ क्षेत्र प्राप्त किया। इससे यह संकेत मिलता है कि उत्तर का यह क्षेत्र अपेक्षाकृत भाट और दलदल भरा था जहाँ वन्य रूप में गन्ना पैदा होता था। इसने तात्कालिक रूप में देवों को सहारा दिया पर अकेले गन्ने के सहारे न तो जीवित रहा जा सकता है न ही देवता स्वयं रह सके। कृषि के उपयुक्त भूमि का वहाँ अभाव था। उन्हें इस बीच बराबर इस बात की चिन्ता बनी रही कि यज्ञ को पुनः कैसे प्रतिष्ठित करें। और इसीलिए उन्हें क्रमशः पश्चिम की ओर बढ़ना पड़ा और इधर आकर वे सरस्वती की उपत्यका में उतरे और एक विशाल क्षेत्र में फैल गये।

सरस्वती अपनी धाराएँ बहुत तेजी से बदलती रही है और इसलिए इसके पार्श्वों पर उन्हें आरम्भ में चराने के लिए तथा खेती का काम शुरू करने के लिए कुछ ऐसी भूमि सहज ही मिल गयी होगी जिसमें किसी के बसने से यहाँ के स्थानीय वन्य जनों को आपत्ति नहीं रही होगी। सम्भवतः उन्हें इस प्रकार की भूमि से कोई लगाव भी नहीं रहा हो सकता है। पर शतपथ की एक कथा और पौराणिक वामनावतार की कथाओं से लगता है कि इस क्षेत्र में बसने से पहले या इसे कृषि के उपयोग के लिए अपने हिस्से में लेने के लिए उन्हें स्थानीय कबीलों से अनुमति लेनी पड़ी। शतपथ में कहानी निम्न प्रकार है :

'देवता और असुर दोनों प्रजापति की सन्तानें थी। उनमें प्रतिस्पर्धा हुई। असुरों ने देवताओं को पछाड़ दिया और यह सोचकर कि सारी दुनिया हमारी है, वे बोले, हम इस धरती का बँटवारा करके गुजर करें। वे पूर्व से पश्चिम की ओर बैल के चमड़े से धरती को बाँटने लगे। यह बात देवों ने सुनी। वे सोचने लगे कि असुर धरती का बँटवारा कर रहे हैं। हम उनके पास चलें और उनसे पूछें कि हमारा क्या होगा? अगर हमें अपना हिस्सा न मिला तो हम कहाँ जाएँगे? वे विष्णु रूपी यज्ञ को नेता बनाकर उनके पास पहुँचे। वे बोले, तुम लोग धरती को

बाँट रहे हो। इसमें हमारा भी तो हिस्सा है। असुरों ने कुछ अनमनेपन से कहा, विष्णु जितनी जगह घेरेगा उतनी जगह हम तुम्हें दे देंगे। विष्णु का आकार बहुत छोटा था, पर देवताओं को इस पर आपत्ति नहीं हुई। उन्होंने कहा, जिसने हमें यज्ञ भर के लिए जगह दे दी उसने हमें सब कुछ दे दिया।

'उन्होंने विष्णु को पूर्व की दिशा में रखा और दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर की ओर से क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों से घेर दिया। आग को सामने करके वे अर्चना और श्रम करने लगे और उसी से इस सारी पृथ्वी को प्राप्त कर लिया। इसीलिए कहा जाता है कि जितनी विस्तृत यह वेदी है उतनी ही यह पृथ्वी है। इसी से उन्होंने इस समस्त भुवन को प्राप्त किया और अपने सौतेले भाइयों को परास्त कर दिया।

'फिर यह विष्णु थक गया। पर तीन तरफ से छन्दों से और चौथी ओर से अग्नि से घिरा होने के कारण उसके पास भाग निकलने का कोई रास्ता नहीं था। अतः वह वनस्पतियों की जड़ों में छिप गया। उसे अदृश्य देख कर देवता उलझन में पड़ गये। वे सोचने लगे कि चारों ओर से घिरा होने के कारण विष्णु भाग तो सकता नहीं, वह यहीं कहीं होगा। उसे इसी जगह खोजो। क्रमशः खोदते हुए वे उसे खोजने लगे। उन्होंने उसे तीन अंगुष्ठ नीचे ज़मीन में छिपा पाया। इसीलिए यज्ञ की वेदी तीन अंगुल गहरी होनी चाहिए।'

विष्णु ने अपने को वनस्पतियों में छिपा लिया था अतः उन्होंने यह कहते हुए कि 'तुम पोली मिट्टी के हो, कल्याणकारी हो', दक्षिण की ओर से उसे घेर दिया। कारण, **इस धरती को पाने के बाद उन्होंने इसे पोली और कल्याणकारी बनाया था।** पश्चिम की ओर से घेरते हुए कहा, 'तुम आनन्ददायक हो, सुसद्य हो।' उत्तर की ओर से घेरते हुए कहा, 'तुम उर्वर हो, पयस्वती हो।' क्योंकि **सर्वप्रथम इस धरती को पाने के बाद उन्होंने इसे उर्वर और पयस्वती बनाया था।**[77]

इस अन्तर्कथा में गहरे भाववादी पुट के बावजूद इस बात को आसानी से लक्ष्य किया जा सकता है कि यह जंगलों की सफ़ाई और कृषि की दिशा में एक नये विकास को रेखांकित करती है। विष्णु यज्ञ है,[78] विष्णु अग्नि है, क्योंकि अग्नि ही यज्ञ है।[79] विष्णु ने जो पहले देखने में बहुत छोटा था, (प्रज्वलित होकर) अपना प्रबल रूप धारण कर लिया तो पूरी धरती को—और परवर्ती विवरण के अनुसार तीनों लोकों को[80]—अपने अधिकार में ले लिया, और इस तरह एक बहुत बड़ा भूभाग देवों के अधिकार में आ गया और असुर इससे वंचित हो गये। विष्णु को तीन ओर से घेर रखा गया था ताकि वह एक ही दिशा में आगे बढ़े—हवा का रुख देखकर आग इस तरह लगायी गयी थी कि इससे स्वयं वैदिकों के क्षेत्र पर प्रभाव न पड़े और आग इच्छित दिशा में ही बढ़े। विष्णु का थक जाना धरती का कुछ समय के बाद अनुर्वर हो जाना या परती पड़ जाना है जिसमें जलाकर साफ़

की गई भूमि में कुछ फसलों के बाद घास-फूस उग कर उसे कृषि के लिए बेकार बना देते हैं। यही विष्णु का इन वनस्पतियों में, इनकी जड़ों में, छिप जाना है। और तीन अंगुल खोदते हुए वनस्पतियों की जड़ों में से विष्णु को निकालना और इसकी थकान को मिटाना, स्वयं श्रम और अर्चना करना, धरती को उर्वर, पयस्वती, सुसद्य, कल्याणकर बनाना भूमि को जोत-गोड़कर स्थायी रूप से खेती करने का द्योतक है। इस तरह इस रूपकीय आवरण के भीतर सांस्कृतिक विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी सुरक्षित है। समूची पृथ्वी को या कहें कृषि-योग्य भूमि (उर्वी) को यज्ञ की वेदी क्यों कहा गया है और इसका आयोजन जीविका-उपजीवन—के लिए क्यों किया गया है, यह तथ्य इस अन्तर्कथा से स्पष्ट हो जाता है। यज्ञ का वास्तविक स्वरूप क्या था, यहाँ देखा जा सकता है।

बार-बार जगह बदलते हुए, जंगल जलाकर अस्थायी रूप से खेती करने के स्थान पर कहीं एक जगह बसकर और धरती की जोताई-गोड़ाई करके खेती करने का विचार जैसे भी सूझा हो, आरम्भ में यह निर्णय बहुत कठिन निर्णय था। पहली बात तो यह कि वह धरती जो माँ के समान है, क्या उसकी छाती को चीरना एक जघन्य अपराध नहीं ? यह तो मातृ-हिंसा के समान हुआ। माँ का दूध पीने की जगह उसको आहत करके उसका रक्त पीने जैसा हुआ। दूसरा संकोच इस कारण भी था कि कहीं इससे धरती रूठकर अभी जो उपज दे रही है उसे भी बन्द न कर दे। इस दुविधा को दूर करने में तत्कालीन बुद्धिजीवियों को काफ़ी कसरत करनी पड़ी होगी, तभी वे इसके प्रति लोगों में विश्वास जमा पाये होंगे। जो भी हो, इस स्थिति का चित्रण दो रूपकों में हुआ है। पृथ्वी कहती है कि मेरी हिंसा मत करो। वह डरती है कि बृहस्पति अभिषेक के बाद अब बहुत प्रबल हो गया है, कहीं यह मेरी हिंसा न करे और दूसरी ओर बृहस्पति डरते हैं कि कहीं यह पृथ्वी मुझे झटक कर फेंक न दे। इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि यदि धरती के साथ माँ और पुत्र का सम्बन्ध रखा जाए तो इसमें कोई किसी की हिंसा नहीं करता।[81] पर यह मानने का पर्याप्त आधार है कि सभी को यह तर्क रास नहीं आया होगा और आदिम कृषि को अपना चुके जनों में से अनेक उससे आगे बढ़ने को तैयार नहीं हुए होंगे और अगले चरण की ओर बढ़ने वाले आर्यों या देवों के लिए ये भी असुरों में ही परिगणित होने थे।[82]

जोताई का काम आरम्भ में सम्भवतः जिन हलों से किया गया वे लकड़ी के बने होते थे, कहें इनका फाल भी लकड़ी का ही होता था।[83] हल खींचने का काम भी पशुओं का उपयोग आरम्भ होने से पहले मनुष्य स्वयं ही करता रहा। यज्ञ का स्फ्य[84] सम्भवतः उस आदिम फाल का ही प्रतीक है जिसे अनुवादकों ने लकड़ी की तलवार माना है। इस स्फ्य से जुती भूमि ही सम्भवतः स्फिग्या[85] है। सम्भव है भूमि जोतने के इस काम में स्त्रियाँ भी भाग लेती रही हों। जुती हुई भूमि या यज्ञ

की वेदी योषा है ही, अनावृष्टि के समय वर्षा कराने के लिए इस शताब्दी के आरम्भ तक स्त्रियाँ रात में नंगे शरीर स्वयं हल चलाती रही हैं, जो उस आदिम अवस्था का अवशेष या प्रजनन क्षमता का प्रतीक हो सकता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि कृषि का आरम्भ जहाँ भी हुआ, महिलाओं द्वारा हुआ और इसमें सच्चाई हो सकती है।[86]

पशुओं में पहले जोताई के काम के लिए गायों का उपयोग किया गया।[87] साँडों को हल में जोतना एक मुश्किल काम था। वधियाकरण के बाद इन्हें बैल बनाने के बाद ही उनकी उग्रता को नियन्त्रित करके उपयोग में लाया जा सकता था। ऋग्वैदिक काल से बहुत पहले बैलों का वधियाकरण आरम्भ हो चुका था यह 'वध्रि' शब्द के लाक्षाणिक अर्थों में प्रयोग से तो स्पष्ट है ही, अनट् और वृषभ—बैल और साँड के फ़र्क़ से भी प्रकट है। स्पष्ट है कि शतपथ ब्राह्मण का यह विवरण इससे बहुत पहले की अवस्था का स्मरण है।

कृषि कार्य में भी गो जाति के इस उपयोग ने ही पहली बार पशुवलि के प्रति वैदिकों के दृष्टिकोण में सुधार किया। जैसा कि हम कह आये हैं, गाय दूध का स्रोत होने के कारण पहले ही अघ्न्या बन चुकी थी, पर बन्ध्या या वशा गो, तथा बूढ़ी गायों का मांस वर्जित नहीं था। बछड़ों की बलि काफी बाद तक चलती रही, पर खेती के काम में उनके उपयोग को ध्यान में रखते हुए इसे भी क्रमशः वर्जित कर दिया गया। लोगों को इस वर्जना के लिए तैयार करने वालों को इसे जघन्य पाप ठहराना पड़ा और इसके बावजूद इसे सार्वजनिक मान्यता मिलने में बहुत लम्बा समय लगा।[88]

यह बात अधिक रोचक है कि गाय को अघ्न्या करार देने से पहले कुत्ते को अवध्य करार दिया गया था। कारण रक्षक के रूप में कुत्तों की उपयोगिता पशु-चारण के दौर में ही सिद्ध हो गयी थी। वैदिक काल में यदि कोई सचमुच अस्पृश्य था तो वे जंगली कबीले जो कुत्तों को भी मारकर खा जाते थे। इन्हें ही श्वपच या चाँडाल कहा गया है। कुत्ते का मांस खाने का अर्थ था व्रत-च्युत या धर्म-भ्रष्ट हो जाना। यह रुद्र का वह भैरव रूप है जो सचमुच पशुपति कहा जा सकता है। अवेस्ता में भी कुत्ते के वध को घोर पाप माना गया है, गो वध से अधिक गर्हित, मनुष्य के वध से भी अधिक घोर। ईरानी दण्ड-संहिता के अनुसार यदि मनुष्य का वध करने पर चालीस कोड़े लगते थे तो कुत्ता मारने पर सौ कोड़े।

कोई भी क्रान्ति इकहरी नहीं होती है। इसके साथ पूरी जीवनपद्धति, सोचने—विचारने का तरीका, उपकरण और समाज-व्यवस्था सभी में भारी बदलाव आता है। आधार बदलने के साथ अधिरचना में तदनुरूप परिवर्तन होना अपरिहार्य है ही। अतः हम कृषिक्रान्ति के साथ शक्ति के नये स्रोतों—घोड़ा, बैल, गधा, ऊँट का क्रमशः बहुत तेजी से उपयोग होते पाते हैं। जब तक सारी सम्पदा

पशुधन तक सीमिति थी तब तक इन स्रोतों की ओर ध्यान जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। कोई पशु उस समाज में दूध और माँस के स्रोतों के रूप में या इनकी रखवाली में अपने उपयोग के कारण ही पाला जा सकता था। जहाँ ढोने को ही कुछ न हो वहाँ भारवाही पशुओं की क्या उपयोगिता! और यदि भारवाही पशु तक जरूरी नहीं तो फिर रथ, गाड़ी और नाव आदि की जहमत मोल लेने का प्रश्न ही कहाँ से उठता है। अब बहुत तेजी से—यद्धपि इसके बावजूद इसमें हजारों वर्ष का समय लगा होगा—एक पर एक नये आविष्कार अर्थव्यवस्था के सुदढ़ होने के साथ सामने आते जाते हैं।

कृषि का बड़े पैमाने पर उपयोग, नये धान्यों की तलाश का मार्ग प्रशस्त करता है? आरम्भ में जहाँ कुछ सुपरिचित और सुखाद्य अनाजों की ओर ही ध्यान गया था, वहाँ अब ऐसे विभिन्न सस्यों को पैदा करने का प्रयास किया जाता है मिजनको पशु-पक्षी खाते रहे हैं और इसलिए जो मानव उपयोग के लिए निरापद या कुप्रभाव से शून्य और पोषक माने जा सकते थे। अपने स्वाद को बढ़ाने के लिए वह अनेक कड़वी कसैली खट्टी वनस्पतियों को भी उगाता है। तीसी, तिल, सरसों, आदि को उगाना आरम्भ करता है। इन सबका उपयोग अधिक सार्थक ढंग से करने के लिए कूटने, पीसने, पेरने, ढोने, सँभालने, पकाने, और संचित करने के यन्त्रों पात्रों और विधियों को विकसित करता है। कृषि के क्षेत्र में गोड़ाई, जोताई, कटाई, मड़ाई, आदि के लिए विभिन्न उपकरणों का आविष्कार होता चलता है। इन खोजों और आविष्कारों में भी एक अन्तःसंगति बनी रहती है।

उदाहरण के लिए, कुछ अन्न, जैसे साँवा, कोदो, मडुआ, ज्वार आदि आहार संग्रही अवस्था में मनुष्य के लिए अखाद्य बने हुए थे, कूटने, पीसने के तरीकों और यन्त्रों के विकास और पाक कला में विकास के बाद खाद्य बन जाते हैं। जब तक मनुष्य अनाज की बालियों को अधपकी हालत में सीधे आग पर सेंक कर उनका टूंण-तृण आदि जला कर जैसे-तैसे पेट भर लेता था तब तक दलहनों के अलाया जौ उपयुक्त अन्न था। गेहूँ को भूनते समय जब तक उसकी खोल जले तब तक उसके दाने आग में बिखर कर स्वाहा हो सकते थे। पर अब वह प्रधान अनाजों में आ जाता है। कुछ विद्वानों का खयाल है कि चूँकि अनाजों में अधिक उल्लेख जौ का ही आता है अतः भारतीय कृषक को दूसरे अनाजों का, खास कर गेहूँ का, पता ही नहीं था। रोमिला थापर ने इस मान्यता की पुष्टि में 12 वीं शताब्दी का अमरसिंह के नाम एक रोचक हवाला लिंगानुशान में पूरक के रूप में अनुलग्न पुरुषोत्तम देव के त्रिकाण्डदेश का दे रखा है कि गेहूँ को म्लेच्छ भोजन कहा गया है।[90] यहाँ हम उससे प्राचीन परम्परा की याद दिलाना उचित समझते हैं जिसके अनुसार गोधूम न केवल आरण्यक ओषधियों में भी गिना गया है, अर्थात् यह भारत में वन्य रूप में उगता था, अपितु गेहूँ को मनुष्य के सबसे निकट भी माना

गया है। शतपत ब्राह्मण के एक विवरण के अनुसार अनाजों में गेहूँ का छिल्का उसी तरह सबसे पतला होता है जैसे जानवरों में सबसे पतली त्वचा मनुष्य की होती है और इसलिए यह मनुष्य के सर्वथा निकट है और इससे ही असुरों पर विजय पायी गयी थी।[91] गोधूम शब्द मूल्यतः उस कोदुमै से व्युत्पन्न है जो तमिल में सुरक्षित है।

आखेट और आहार-संग्रह के चरण में पके हुए बर्तनों की आवश्यकता नहीं थी। पानी के लिए यदि किसी पात्र को आवश्यकता हुई भी तो इसे लौकी या नारियल के खोल, बाँस के कूपे में या चमड़े की थैलियो में रखाजा सकता था। ऋग्वैदिक काल तक पेयपदार्थ रखने के लिए चमड़े थैलों का प्रयोग होता था[92] और सम्भवतः यह क्रम ब्राह्मण काल तक जारी रहा था। चमड़े की थैलों में दूध और दही रखना भी जारी था।[93] खोलदार बड़े फलों के कमण्डुल या जलपात्र तो आज भी साधुओं में पाये जाते हैं जो मृद्भाण्डपूर्व चरण के अवशेष हैं। पर दूध गर्म करने या खाना पकाने आदि की बाध्यता ने मिट्टी के बर्तन बनाने और पकाने की आवश्यकता को जन्म दिया, क्योंकि पत्थर के पात्र जो एकमात्र अग्निसह पात्र हो सकते थे, इन कामों के लिए बहुत अधिक उपयुक्त नहीं थे। अतः मृद्भाण्डों के आविष्कार को भी कृषि के आविर्भाव के निर्धारण में उपयोगी पाया जा सकता है।

इस तरह हम पाते हैं कि अपने उन्हीं अनुभवों और कार्यों के बल पर कृषि के चरण के आसपास कुछ सौ या हजार वर्षों के दौरान ही एक पर एक नये आविष्कार होते चले गये, जैसे तरु या वृक्ष को पानी में बहते देखकर इन पर सवार होकर जलधारा को पार करने का अनुभव, पुनः मिट्टी के पक्के पात्रों आदि से नदी से पानी भरते समय यह ज्ञान कि इस तरह का पात्र पानी में नहीं डूबता पर यदि इसका पोलापन न रहे तो यह आसानी से पानी में डूब सकता है, पेड़ों के तनों को पोला करके इन्हें अधिक सुकर तरणियों में बदलना और फिर इनके पटरों को जोड़कर बड़ी नौकाएँ बनाना। हड़प्पा के विशाल स्नानागार में डामर का प्रयोग देखकर विद्वानों को यह पता चला कि हड़प्पावासी डामर से परिचित थे। पर यदि इस स्नानागार से इसका प्रमाण नहीं मिलता तो भी यह अनुमान करना कठिन नहीं था कि वे डामर से परिचित थे। कारण डामर या किसी जलरोधी द्रव्य का प्रयोग किये विना नौकाओं को अछिद्र नहीं बनाया जा सकता था। अतः इसका ज्ञान ऐसे सभी जनों को जो नौकाएँ बनाते थे, पटरों को जोड़ कर नौकाएँ बनाने से पहले से था, यह समझना कठिन नहीं है। सम्भव है इसका ज्ञान पक्के मृद्भाण्ड बनाने से भी पहले से रहा हो और इनके सहारे अपनी टोकरियों को अछिद्र बनाकर इनमें पानी आदि लाने का काम भी लिया जाता रहा हो।

परन्तु जहाँ तकनीकी विकासों को लक्ष्य करना और इनकी विशेष परिस्थितियों पर ध्यान देना जरूरी है, वहीं इस बात की सावधानी भी बरती जानी

चाहिए कि इनके महत्व का मूल्यांकन स्थानीय परिस्थितियों और विकल्पों का सही मूल्यांकन करते हुए किया जाए। हम पीछे इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि नहरों का विकास एक विशेष परिस्थिति में आवश्यक था और इनके बिना सभ्यता विशेष एक सीमा से आगे बढ़ ही नहीं सकती थी यहाँ तक कि आदमी अपने लिये पेय जल की व्यवस्था तक नहीं कर सकता था। परन्तु इसे ही विकास का मानक बना कर दूसरी सभ्यताओं का मूल्यांकन करना ग़लत है। महत्व उन विकल्पों का है जो इनके लिए उन विशेष परिस्थितियों में उपलब्ध थे या तैयार किये गये थे। इसका एक रोचक उदाहरण मिस्र है जहाँ हेरोडोटस के समय तक भी खेतों में जुताई नहीं की जाती थी। नील की बाढ़ उतरते ही बीज बिखेर दिये जाते थे और इसके बाद सूअरों को खोलकर इनमें दौड़ाया जाता था ताकि इनके पैरों के दबाव से बीज नीचे धँस जायें और उन्हें चिड़िया आदि चुँग न सकें। इस निहायत अविकसित तरीके के बावजूद वहाँ बहुत अच्छी उपज होती थी।[93] इसी तरह भारत में आज तक कछारों के ऐसे टुकड़े पड़ते हैं जिनमें बोआई के समय तक हल आदि चलाने की सम्भावना नहीं होती और जहाँ-तहाँ पानी लगा रहता है। इनमें बीजों को कीचड़ में ही बिखेर दिया जाता है जिसे छींटा या बिखराव पद्धति कहा जाता है और इसके बावजूद इनकी उपज बहुत अच्छी होती है।

अतः जब किन्हीं प्राचीन स्थलों से कटाई आदि के अविकसित औजार मिलते हैं, जैसे जग्रोस की पहाड़ियों के कुछ स्थलों से, तो ध्यान इस बात पर दिया जाना चाहिए कि इनके अभाव में क्या खेती का आरम्भिक चरण पूरा नहीं हो सकता था और क्या यह सचमुच कृषि चरण का सूचक है?

कृषि क्रान्ति से आर्थिक आत्मनिर्भरता और सम्पन्नता के द्वार खुले और पहले की तुलना में मनुष्य स्वस्थ और नीरोग—अनमीव—तो हुआ ही साथ ही वह नये अविष्कारों, नयी उद्यभावनाओं के द्वारा अपने बौद्धिक विकास की दिशा में भी अग्रसर हुआ और इन सबके अतिरिक्त इस चरण ने मनुष्य को एक उच्चतर नैतिकता से भी जोड़ा। अनमीव के साथ ही मनुष्य ने अकिल्विष या निष्पाप होने की ओर भी पहला क़दम बढ़ाया।

अब उत्पादन के लिए श्रम और तप का, इसकी रक्षा के लिए जागरूकता और कड़कती ठण्ड में भी पहरेदारी या रखवाली का मूल्य बढ़ गया। नयी फ़सल बोने के लिए घोर अभाव की स्थितियों में भी बीज को बचा कर रखना, दूसरों के खुले खेतों की खड़ी फसल को भी न छूना, तथा उपद्रवकारी जमातों का मुकाबला करना तथा अन्य अनेक कामों में सामूहिक साझेदारी ने एक नये कार्य-विभाजन और नये ढँग की अन्तर्निर्भरता को जन्म दिया। सबसे बड़ी बात यह है कि कृषि के साथ मनुष्य पहली बार स्थायी बस्तियाँ बसा कर रहने को बाध्य हुआ और उसकी बाध्यता ने आगे सामाजिक और आर्थिक विकास की नयी और उच्चतर

मंजिलों को सम्भव बनाया, जिनकी चरम परिणति नगर-सभ्यता का विकास था।

भाषा जो मानवीय सम्पर्क का सबसे सशक्त माध्यम है, तकनीकी विकास, आर्थिक प्रचालन और सामाजिक सम्बन्धों से और इनके सन्दर्भ में मनुष्य के चिन्तन और प्रत्ययन से सबसे अधिक प्रभावित होती है। कृषिक्रान्ति का आधार सुदृढ़ होने में जितनी शताब्दियों या सहस्राब्दियों का समय क्यों न लगा हो, उसके पिछले भाषिक ऋक्थ की तुलना में उसे एक बहुत अधिक सम्पन्न भाषा की आवश्यकता थी और यह भाषा विगत पाषाणी चरण की निरी कामचलाऊ और अदृश्य रूप में मन्थर गति से विकसित हुई सीमित अभिव्यक्तियों की तुलना में बहुत तेज़ी से विकास की माँग कर रही थी।

भाषा के विकास के इस पहलू पर कुछ रुक कर विचार लेना इसलिए ज़रूरी प्रतीत होता है कि भारोपीय भाषा और इसका प्रसार इतिहासकारों के लिए एक उलझन तो बना ही रहा है, स्वयं भाषा की उत्पत्ति और विकास भी एक समस्या बनी रही है। बाइबिल की आदम और ईव वाली कहानी के आधार पर अधिकाँश विद्वान यह मान लेते हैं कि आरम्भिक चरणों में मनुष्य ने जिस नयी चीज़ को जो भी नया नाम दे दिया वही उसकी संज्ञा बन गयी। यह कोरा भाववाद है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य में नये आविष्कार करने की क्षमता बहुत सीमित है। अपने पुराने अनुभवों को विभिन्न स्रोतों से संचित सूचनाओं से जोड़ते-तोड़ते हुए ही वह नये आविष्कार करता रहा है, यद्यपि कुछ आविष्कार उसकी भूलों से 'अंधे के हाथ बँटेर' की तरह भी हो गये हैं। इन नये आविष्यकारों से उसके अनुभव और ज्ञान का दायरा और इनके बीच जोड़-तोड़ करने की उसकी क्षमता बढ़ती चली गयी है और इसलिए बाद के कालों में नये आविष्कारों की सम्भावनाएँ भी इसी अनुपात में बढ़ती गयी है।

तकनीकी जगत में नये आविष्कारों की तरह भाषा के क्षेत्र में भी नये और बिल्कुल नये आविर्भाव बहुत दुष्कर पड़ते हैं और आज जब विविध क्षेत्रों में नित नये आविष्कार हो रहे हैं और भाषा में उसी अनुपात में तेज़ी से विकास हो रहा है, तब भी कोई व्यक्ति बिल्कुल नये नाम नहीं दे सकता और वह भी तब जब कि हम जानते हैं कि कोई सम्पन्न-से-सम्पन्न भाषा भी अपनी समग्र ध्वनिमाला के समग्र सम्भावित चरों का उपयोग नहीं करती और इसलिए अब तक बचे हुए विकल्पों का प्रयोग करके नये और अधिक छोटे शब्द नयी चीज़ों के लिए गढ़े जा सकते हैं और आज के सुलभ संचार माध्यमों का उपयोग करके सबको यह बताया भी जा सकता है कि यह नया शब्द अमुक नयी चीज़ के लिए गढ़ा गया है और यदि किसी एक व्यक्ति द्वारा नयी चीज़ के लिए नया शब्द गढ़ने और बाकी लोगों के द्वारा इसे स्वीकार कर लिए जाने का तर्क यही है तो इसे अधिक निरापद रूप में सर्वमान्य भी बनाया जा सकता है। पर ऐसा नहीं होता। प्राथमिक चरणों में जब संचार से लेकर नयी

उद्भावनाओं का दायरा भी बहुत छोटा था तब तो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अतः मनुष्य ने उन्हीं ध्वनियों के जोड़-तोड़ से जो उसे सहज सुनने में आती थीं अपनी प्राथमिक अभिव्यक्तियों को जन्म दिया। ये ध्वनियाँ थीं उसकी अपने हर्ष-विषाद और क्रीड़ा के क्षणों की अभिव्यक्तियाँ, उसके प्राकृतिक परिवेश के विभिन्न जीवों-जन्तुओं की ध्वनियाँ, वायु और जल से प्रवाह के विभिन्न वेगों के समय विभिन्न वस्तुओं में उत्पन्न गति और टकराव से उत्पन्न ध्वनियाँ और अपनी निजी क्रियाशीलता-हथियार आदि गढ़ने, भागने-दौड़ने आदि—से उत्पन्न नाद। इन्हीं की पूँजी पर मनुष्य ने अपनी भाषा की आरम्भिक नींव रखी जिसकी कुछ अधिक विस्तार से अन्यत्र चर्चा की गयी है।[94] यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि एक ही मूल ध्वनि के एकाधिक अनुक्रमों, अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण इन ध्वनियों की भिन्नता तथा जलवायविक कारण से उच्चारण तन्त्रों के प्रसार आदि की सीमाओं आदि के कारण एक ही वस्तु का अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग, यद्यपि काफी दूर तक निकटस्थ ध्वनियों द्वारा, अनुकरण किया गया था। मनुष्य मात्र या भाषामात्र के विषय में यहाँ किसी सरलीकरण की न तो उपयोगिता है न ही औचित्य, अतः भारतीय भूभाग में मध्य पाषाणी चरण तक की भाषाओं या बोलियों में प्रचलित ध्वनिमाला स्पर्शवर्णों, विसर्जनीय वर्णों और स्वर वर्णों का, जिनमें से अन्तिम की संख्या सम्भवतः वर्तमान स्वरमाला से अधिक थी, का ही अस्तित्व था और अधिकांश शब्द द्वयक्षरी थे।

नये शब्द-भण्डार और नयी व्यंजनाओं की आवश्यकता से भाषा में किंचित् सायास और तेज़ी से परिवर्तन हुए। इनमें से एक था स्पर्शवर्णों का महाप्राणन व घोषीकरण, अर्ध-स्वरों या अन्तस्थ वर्णों का आविर्भाव, स्वर्ण-संयोग के साथ-साथ असवर्ण संयोजन, आदि। पर नयी ध्वनियों का विकास भी नयी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं था और नये विकास का तर्क स्वयं नयी शब्दावली का जनन करने की बाध्यता पैदा कर रहा था। उदाहरण के लिए जब मनुष्य नयी चीज़ें बनाने के लिए दो चीज़ों को जोड़ रहा था तो इस जुड़ी हुई चीज़ की अभिव्यक्ति के लिए उन दोनों शब्दों का भी जुड़ जाना स्वाभाविक था जो इनके लिए प्रयुक्त होते थे और इस तरह तकनीकी विकास और बौद्धिक उत्कर्ष के साथ भाषा में भी उत्कर्ष आता गया। एक समृद्ध और क्लासिकी चरण तक पहुँचने में किसी भाषा को कितना समय लगा होगा इसका सही निश्चय करना हर मामले में सम्भव नहीं। पर एक ही मूल भाव से जुड़े नये पर भेदक शब्दों के लिए किसी भाषा ने जोड़-तोड़ की कौन-सी युक्ति अपनायी और इसका शब्दभण्डार चरण विशेष पर अपनी किसी अन्य प्रतिस्पर्धी भाषा की तुलना में कितना समृद्ध या विपन्न था, इस आधार पर दोनों सभ्यताओं या संस्कृतियों के तुलनात्मक विकास

के स्तर को अवश्य समझा जा सकता है। इन विविध दृष्टियों से वैदिक भाषा अपने समकालीन और किंचित परवर्ती भाषाओं से बहुत आगे बढ़ी हुई सिद्ध होती है।

भारतीय सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यहाँ की परम्परा कतिपय अति-प्राचीन महान पुरुषों को महर्षियों और नवप्रवर्तकों के रूप में याद करती रही है और उनके असाधारण ज्ञान की धाक आज तक बनी हुई है। इन ऋषियों को सात बताया जाता है और इनके नाम भी सुरक्षित हैं। जहाँ तक संख्या और सटीक नामों की बात है, इस पर हम बहुत अधिक भरोसा नहीं कर सकते। पर यह मानने का पर्याप्त कारण है कि विभिन्न क्षेत्रों में किये गये आविष्कारों और खोजों के पीछे एक लम्बे दौर में पैदा हुए चिन्तकों और आविष्कारकों का हाथ था और इनको वह समाज उचित सम्मान देना जानता था। आरम्भ में मन्त्रों को रचने या यज्ञ करने कराने के कारण नहीं बल्कि अपने इन अनुसंधानों के कारण ही, सत्य का या प्रकृति के रहस्य का सीधा साक्षात्कार करने के कारण ही इनको ऋषि और ब्रह्मर्षि की संज्ञा प्राप्त हुई थी।[95] कहीं-कहीं इनके कारनामों का सांकेतिक उल्लेख पाया जाता है। यथा, ऋषियों ने ऋतुओं को पैदा किया, या कहें वर्षचक्र का सूक्ष्म अध्ययन आरम्भ किया और ज्योतिष का आधार रखा। अंगिरा का नाम यज्ञ और अग्नि से जुड़ा हुआ है जो उस मेधावी व्यक्ति की याद दिलाता है जिसने उत्पादन की एक नयी पद्धति का रास्ता दिखाया। उसे मार्ग का विस्तार करने वाला बताया गया है। दूसरे ऋषियों के योगदान के विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, पर ऊपर हम जिन विकासों का उल्लेख कर आये हैं उनकी खोज और आविष्कार का सम्बन्ध इनमें से कुछ के साथ अवश्य रहा लगता है।

इस तरह कृषि के सर्वतोमुखी विकास की एक सुथरी तस्वीर हमें भारत में दिखाई देती है जिसमें कृषि की प्रेरणा से लेकर इसके क्रमिक विकास और इसके दौरान अनुभव की गयी कठिनाइयों का बहुत विश्वसनीय विवरण मिलता है। पर यह सोचना ग़लत होगा कि जो लोग इस विकासयात्रा में शामिल हुए थे, वे जो कुछ भी करने में समर्थ हुए वह सब केवल उनके अपने ही आविष्कारों और खोजों तक सीमित था। औद्योगिक क्रान्ति के मामले में हम देखते हैं कि एक बार इस क्रान्ति का आरम्भ हो जाने के बाद इसका तेज़ी से दूसरे क्षेत्रों में विस्तार होता है और जगह-जगह नये आविष्कार और खोजें होने लगती हैं और कुछ मामलों में इस दिशा में बाद में उन्मुख होने वाले देश पहल करने वाले देश से बाजी मार ले जाते हैं। औद्योगिक क्रान्ति के समय संचार के साधनों का उन्नत विकास हो चला था अतः यह काम कुछ ही शताब्दियों के भीतर हो जाता हैं। पुराने समाजों में संचार प्राथमिक स्तर का था और शिक्षा तथा सघन सम्पर्क की कमी के कारण सामुदायिक ग्रहणशीलता अपेक्षाकृत कम थी, अतः इसमें बहुत लम्बा समय लगा

होगा। पर इन विकासों के विस्तार से अगले चरणों पर विभिन्न क्षेत्र एक-दूसरे से प्रभावित और लाभान्वित हुए होंगे।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. रेडमैन, दि राइज़ ऑफ़ सिविलाइज़ेशन, 1978, 90.
2. हार्लन, 'ए वाइल्ड ह्वीट हार्वेस्ट इन तुर्की', आर्कियॉलॉजी, 20, 3, 1967, 197-201.
3. चाइल्ड, मैन मेक्स हिमसेल्फ, 1934.
4. ब्रेडवुड, दि नीयर ईस्ट ऐंड दि फाउंडेशन्स ऑफ़ सिविलाइज़ेशन, 1952; 'दि ऐग्रीकल्चरल रिवोल्यूशन', साइंटिफ़िक अमेरिकन, 263, 3, 1960, 130-52.
5. बोंज़रप, हर्बर्ट राइट, स्मिथ व यंग आदि, देखें, चार्ल्स आर. रेडमैन, 1978 99-100.
6. शतब्रा. 1.2.4.14; 5.2.3.1-3, आदि।
7. देखें, रेडमैन, पूर्व., 100.
8. जी. आर. शर्मा, हिस्ट्री टु प्री-हिस्ट्री—आर्कियॉलॉजी ऑफ़ दि गंगा वैली ऐंड दि विन्ध्याज़; 1980; गुरदीपसिंह, 'दि इंडस वैली कल्चर सीन इन दि कंटेक्स्ट ऑफ़ पोस्ट ग्लेशियल क्लाइमेट ऐंड इकॉलॉजिकल स्टडीज़ इन दि नार्थ-वेस्ट इंडिया', आर्कियॉलॉजी एंड फिज़िकल ऐंथ्रोपॉलॉजी इन ओसीनिया, 6, 2, 1971, 185-86. तुलना करें, विष्णुमित्रे, 'पैलियोबोटैनिकल इविडेंस इन इंडिया', इवोल्यूशनरी स्टडीज़ इन वर्ल्ड क्रॉप्स, डाइवर्सिटी ऐंड चेंज इन दि इंडियन सब-कांटिनेंट, संपा., जोज़ेफ हचिंसन, कैंब्रिज, 1974, 3-30 भी। विष्णुमित्रे ने गुरदीप की मान्यता पर सन्देह प्रकट किया है, पर इसका खण्डन नहीं। इतने प्राचीन चरण पर भारत में कृषि के प्रमाण देखकर आशंका और अविश्वास ही पहली स्वाभाविक प्रतिक्रिया रही है।
9. देखें, जैरिज व मीडो, 'दि ऐंटीसिडेंस ऑफ़ सिविलाइज़ेशन इन दि इंडस वैली', साइंटिफिक अमेरिकन, 243, 1980, 102-110; जैरिज ने पूर्व प्रस्तावित 6000 ई. पू. की कालसीमा को अन्य तथ्यों को देखते हुए और भी पीछे ले जाने का प्रस्ताव किया है। देखें, 'क्रॉनोलोजी ऑफ़ अर्लियर पीरियड्स ऑफ़ ग्रेटर इंडस ऐज़ सीन फ्रॉम मेहरगढ़, पाकिस्तान', साएआ-1981,

21-28; रेडमैन, पूर्व, 122 के अनुसार छ कतारों वाला जौ पहली बार तेल ए सव्वान में 6000 ई. पू. में प्रकट होता है।

10. अल्फोंसे द कांदोल व राइट, रेडमैन, पूर्व., 89 पर उद्धृत।
11. असु क्षेपणे, असून् प्राणान् राति ददाति इति असुरः।
12. नि. 3.9.
13. प्राण के पर्याय में असु। नि. 3.7.
14. ऋ. 1.24.14 पर भाष्य।
15. वही, 1.54.3.
16. वही, 3.29.14; 38.4.
17. वही, 5.42.1; 51.11.
18. वही, 3.3.4; 53.7; 56.8, आदि।
19. किसी प्राचीन स्तर पर ही च का स में परिवर्तन होने लगा था, पर फिर भी अनेक शब्द संस्कृत और देशज बोलियों में ऐसे बचे रह गये हैं जिनमें च मौजूद है। तुलना करें, सवन्-च्यवन्, सू-च्यु, सुत-च्युत, शोषण-चोषण, हिं. चूसना, आदि।
20. तु. कं— जल>कमनीय, कांति; कल>कलित, कल; घृ>घृत>घर्म; स्व >स्वः, स्वर, स्वर्ग; सू>सुरा, सूर्य; स्व>स्विद्/स्वेद, श्वेत; अर्>अर्य >अर्यमा; हर>हरि, हरित, आदि। देखें, भगवानसिंह, 1973, भी।
21. यज्ञो वै वसुः। यजु. 1.2; संयत वसुः 15.18;—विदद्वसुःतांब्रा. 11.4.5; 15.10.4;—सुम्नम्, यजु. 1267, आदि।
22. यज्ञो वा उ अन्नम्, शतब्रा. 2.3.4.1; यज्ञ उ देवानां अन्नम्, 8.1.2.10.
23. यज्ञो वै भुज्युः, यजु. 18.42; शतब्रा. 9.4.1.11.
24. यज्ञो भगः। यजु. 11.7. देखें, नि. 2.10; भग धन का पर्याय गिनाया गया है। भगस्य भगधेयस्य, नि. 9.31
25. यज्ञो ह वै मधुसारघम्। शतब्रा. 3.4.3.13;
26. यज्ञो वै श्रेष्टतमं कर्म। यजु. 1.1; शतब्रा. 1.7.1.5; यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म। तै. 3.2.14.
27. यज्ञ उ वै प्रजापतिः कौब्रा। 10.1.13.1; यज्ञ प्रजाततिः। शतब्रा. 11.0.3.9, आदि।
28. स एषा त्रयी विद्या यज्ञः। शतब्रा. 1.1.4.3.
29. यज्ञो वै विशः यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि। शतब्रा. 8.7.3.21.
30. यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः। तैब्रा. 3.9.5.5.
31. यज्ञो वा अनः। शतब्रा. 1.1.2.7
32. संवत्सरो यज्ञः। शतब्रा. 11.2.7.1, आदि।

33. यजमानो वै यज्ञः । ऐब्रा. 1.28; यजमानो यज्ञः । शतब्रा. 13.2.2.1.
34. सर्वेषां वा एष भूताना सर्वेषां देवानां आत्मा यत् यज्ञः । शतब्रा. 14.3.2.1.
35. पृच्छामि त्वां परं अन्तःपृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
ऋ. 1.164.34.
36. इयं वेदि परः अन्तः पृथिव्याः अयं यज्ञः भुवनस्य नाभिः । ऋ. 1.164.35. अन्यत्र भी, वेदिः वै परः अंतः पृथिव्याः । तैब्रा. 3.9.5.
37. पृथिवी वेदिः, ऐब्रा. 5.28; तैब्रा. 3.3.6.2; इयं पृथिवी वै वेदिः, शतब्रा. 7.3.1.15, आदि ।
38. तद् यत् अनेन इमां सर्वां समविन्दन्त तस्मात् वेदिः नाम तस्मात् आहुः यावती वेदिः तावती पृथिवी इति । शतब्रा. 1.2.5.7.
39. एतावती वा पृथिवी यावती वेदिः, तैब्रा. 3.2.9.12. यही बात अन्यत्र भी दुहरायी गयी है । बाद में कर्मकाण्डीय यज्ञ के लिए जो वेदी बनायी जाने लगी वह इस पृथिवी का ही परिमित रूप है, "तस्याः (पृथिव्याः) परिमितं रूपं यत् अंतर्वेदि अथ एष भूमा अपरिमितो यो बहिर्वेदि" । ऐब्रा. 8.5.
40. त्र्यंगुला वेदिः स्यात् । शतब्रा. 1.2.5.9.
41. उर्वरा वेदिः भवति एतत्···तांब्रा. 16.13.6.
वेदी शब्द की जो व्याख्या ब्राह्मणों में दी गयी है वह उतनी ही उलझी हुई भाषा में है जितनी उलझी भाषा इन पुरोहितों के अपने गूढ़ ज्ञान के उद्घाटन के लिए लाभदायक थी । वेदी शब्द उसी विद् धातु से निकला है जिससे वेद, विद्या, विधि, वित्त, वेदना, वेधा, आदि । वेद का मूल अर्थ था गोचर या इंद्रिय ग्राह्य (जगत) और फिर यह सम्पत्ति और धन का भी सूचक हो गया । इस जगत की प्रतीति कराने वाला ज्ञान भी वेद, इसका इन्द्रिय बोध भी वेद और प्राचीन परम्परा से लब्ध ज्ञान-भण्डार भी वेद, इसको जिन कृतितों में लिपिबद्ध किया गया है वे भी वेद ! ये विभिन्न अर्थ बाद में भी चलते रहे हैं । इस तरह हम पाते हैं कि देवासुर संघर्ष और यज्ञ तथा व्रत के प्रसार के जो विवरण भारतीय साहित्य में मिलते हैं उनका सम्बन्ध उत्पादन-पद्धति में आये नये परिवर्तन से है और इस संघर्ष कथा के पीछे छिपा है दो अर्थ-व्यवस्थाओं का टकराव ।
42. ऋ. 1.164.50; 10.90.16; अथर्व. 7.5.1, तैसं. 35.11.5; तैआ. 3.2.7; शतब्रा. 10.2.2.2.
43. प्राची हि देवानां दिक् । शतब्रा. 3.1.1.2;6;
44. शतब्रा. 7.3.2.1.
45. प्राची हि देवानां दिक् अथ उदक्-प्रवण उदीची हि मनुष्याणां दिक् दक्षिणतः पुरीषं प्रति उत् ऊहति एषा वै दिक् पितृणां...शतब्रा. 1.2.3.17; देखें,

1.7.1.17; 3.1.1.6-7. आदि भी।

46. यत् वा एनं विकृपन्ति। एतत् ह वा अस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्त...शतब्रा. 7.1.4.18. यथा स्वयं अतृण्णायां उपहिता भूमिं प्राप्नुयात् एवं उपदधाम अस्यां हि एव एता जायन्त इमां अनु प्ररोहन्ति। शतब्रा. 3.2.13.

तमिल का एक शब्द है 'ती', जिसका अर्थ है आग। अग्नि का पुराना नाम है, ती। इसी से देव शब्द की उत्पत्ति हुई लगती है। संस्कृत में मूल 'त्' 'द्' में बदल गया। पर कुछ शब्दों में इसकी छाया बनी रह गयी है। तिक्त-जलाने वाला, काटने वाला, कड़वा; तिग्म-तीखा, पैना; तीक्ष्ण-तीखा; तेज-प्रकाश ज्योति; तितिक्षा-सहनशक्ति, प्र-तीक, टीका, आदि। वैयाकरणों ने इनमें से कुछ के लिए एक अलग धातु 'तिज्' की कल्पना की है, पर तेजस् इस बात का संकेत है कि मूलतः इस वर्ग के शब्दों का आर्थी स्रोत भिन्न नहीं था। उनकी कठिनाई यह प्रतीत होती है कि वे आद्यक्षर 'द्' के किसी प्राचीनतर रूप 'त्' की कल्पना नहीं कर सकते थे। इस मूल 'त्' ने 'द्' का ही रूप नहीं लिया है, अपितु कहीं-कहीं 'ध' रूप भी लिया है। 'धी'-बुद्धि; भोजपुरी 'धिकवल'—गरम करना, उबालना, आदि शब्द 'ती' से ही निकलते हैं। 'ती' वाले रूप से बना शब्द 'तिथि', 'दी' से बने 'दिवस' और 'दिन' के समानान्तर आज भी जीवित है। तमिल का 'ती' शब्द संस्कृत 'दी' का तमिल में आनयन होता तो उसकी अर्थसीमा भी वही रहती। पर उसमें मूल अर्थ 'आग' और लाक्षणिक अर्थ, क्रोध और ज्ञान अधिक संगत और प्राचीन लगते हैं। इससे निकले शब्द तीक्कडन्-अग्नि संस्कार के 'कडन' को 'कृत्य' का अपभ्रंश माना जा सकता है, पर 'तीगु'—बुराई, आफ़त, अपराध; तीक्कायदल्—आग तापना, तीदल्—झुलसना आदि से मूल अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। धिक्, या धिक्कार को मूलतः जिस घृणा का सूचक माना जाता है उससे जुड़ी हुई अनिष्ट कामना को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक 'ती-क्कडन' और लौकिक प्रयोग 'आग लगे', 'मुँह जला' आदि को सामने न रखें।

47. अथ अतः अशन अनशनस्य एव।...यत् उ अश्नाति देवान् अति-अश्नाति इति स यत् एव अशितं अनशितं तत् अश्नीयात् इति यस्य वै हविः न गृहणन्ति तेन उ देवान् न अति-अश्नाति। स वा आरण्यं एव अश्नीयात्...।

शतब्रा. 1.1.1.7-10

48. ते देवाः दण्डैः धनुर्भिः न व्यजयन्त...शतब्रा. 1.4.5.6.

49. महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः। तेन उ एव व्यजयन्त...शतब्रा. 2.5.1.1; 2.1; 2.5.3.1, आदि।

50. शाकमेधैः एव देवा वृत्रं अघ्नन्...शतब्रा. 2.5.5.1; 2.4.4.1, आदि।

51. वरुण प्रघासैः वै प्रजापतिः प्रजा वरुण पाशात् प्रामुंचत्...शतब्रा. 2.4.4.1.

52. वारुण्या वा एता ओषधयः याः कृष्टे जायन्ते...शतब्रा. 5.2.7.9; देखें 2.4. 3.1; 16; 3.6.4.1, आदि भी।
53. यज्ञेन वै देवाः। इमां जितिं जिग्युः...शतब्रा. 3.1.4.3
54. ब्राह्मणो हि रक्षसां अपहन्ता...शतब्रा. 1.1.4.6.
55. अग्निः हि रक्षसां अपहन्ता तस्मात् देवं उपदधाति...शतब्रा. 1.1.5.6.
56. षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः।...द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः...शतब्रा. 2.2.2.3-4.
57. वही। यज्ञ चूंकि अन्न का उत्पादन है और अन्न से ही पालन होता है, अतः अन्न को भी प्रजापति होना ही था, अन्नं वा अयं प्रजापतिः त्वत् मुखा एतत् अन्नं अदाम...तत् देवा अन्नं अकुर्वत्। शतब्रा. 7.1.2.4; एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः। शतब्रा. 4.3.4.3.
58. इमे लोकाः प्रजापतिः। शतब्रा. 7.5.1.27; प्राजापत्यो वा अयं लोकः। तैब्रा. 1.3.7.5; प्रजापतिः वै पृथिव्यै जनिता। शतब्रा. 7.3.1.20.
59. प्रजननं प्रजापतिः। शतब्रा. 5.1.3.10.
60. देवाश्च वा असुराश्च। उभेय प्राजापत्याः। शतब्रा. 1.2.5.1; 2.1.1.8, आदि।
61. असुरों को प्रायः द्वेष करने वाला सौतेला भाई कहा गया है, शतब्रा. 1.1.5.10; 3.3.38, आदि।
62. तु. करें, रक्षो रक्षितव्यं अस्मात्। नि. 4.18. शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर राक्षस शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी गयी है, देवान् ह वै यज्ञेन यजमानाः तान् असुर रक्षसानि ररक्षुः न यक्षध्व इति तद् यत् अरक्षन् तस्मात् रक्षांसि। शतब्रा. 1.1.1.16.
63. ऋतवः ह वै देवेषु भागं ईषिरे। आ नः यज्ञे भजत, मा नः यज्ञात् अन्तर्गता अस्तु एव, नः अपि यज्ञे भाग इति। तत् वै देवा न जज्ञुः। त ऋतवः देवेषु अजानत्सु असुरान् उपावर्तत अप्रियान् देवानां द्विषतः भ्रातृव्यान्॥ ते ह एतां एधतुं मेधां चक्रिरे। यां एषां एतां अनुशृण्वन्ति कृषन्तः ह स्म एव पूर्वे वपन्तः यन्ति लुनन्तः अपरे मृणन्तः शश्वत् ह एभ्यः अकृष्ट-पच्या एव ओषधयः पेचिरे॥ तत् वै देवानां आग आस। कनीय इन्वतः द्विषन् द्विषते अरातीयति किं उ एतावत् मात्रं उपजानीत यथा इदं इतः अन्यथा असत इति। ते ह ऊचुः। ऋतून एव अनुमन्त्रयामहा इति केन इति प्रथमान् एव एनान् यज्ञे यजाम इति॥...शतब्रा. 1.6.1.1-8.
64. यज्ञः ह देवेभ्यः अपचक्राम। ते देवाः अमन्त्रयन्ता नः शृणु उप नः आवर्त्तस्व इति तेन उपावृत्तेन देवा अजयन्त तेन इष्ट्वा एतत् अभवन् यत् इदं देवाः। शतब्रा. 1.5.3.6; ते देवा अकामयन्त। कथं नु इमं यज्ञं पुनः आप्याययेम

आयात यामानं कुर्याम तेन आयातयाम्ना प्रचरेम इति । शतब्रा. 1.5.3.24.

65. वरुण प्रघासैः वै प्रजापतिः । प्रजा वरुण-पाशात् प्रामुन्चत् ता अस्य अनमीवा अकिल्विषाः प्रजा प्राजायन्त अथ एतैः साकमेधैः एतैः वै देवाः वृत्रं अघ्नन्, एतैः वा एव व्यजयन्त...। शतब्रा. 2.4.4.1, आदि।

66. ओषधयः वै देवानां पत्न्यः । शतब्रा. 6.4.2.4.

67. पृथिवी अदितिः सा इयं देवानां पत्नी । शतब्रा. 5.3.1.4.

68. ते देवाः अकामयन्त । कथं नु इमं अपि संवृंजीमहि यः असुराणां इति, ते अर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः त एतं हविर्यज्ञं ददृशुः यत दर्श पूर्णमासौ ताभ्यां अयजन्त ताभ्यां इष्ट्वा एतं अपि संवृंजत । शतब्रा. 1.7.2.23.

69. कनीयस्विन् इव वै तर्हि समये देवा आसन् भूयस्विनः असुराः । तांब्रा. 12.13.31;
ते असुरा भूयांसः बलीयांसः आसन् । तांब्रा. 18.1.2;

70. सैबुईसी., 43, 1978 सं., 258-61.

71. ततः असुरा उभयीः ओषधीः याः च मनुष्याः उपजीवन्ति याः च पशवः कृत्यया एव त्वत् विषेण एव त्वत् प्रलिलिपुः उत एवं चित् देवान अभिभवेम इति ततः न मनुष्याः आशुः न पशवः आलिलिशिरे ता ह इमाः प्रजा अनाशकेन न उत् पराबभूवुः । शतब्रा. 2.4.3.2.

72. देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । ते असुर रक्षसेभ्यः आसंगात् विभयान् चक्रुः ते ह ऊचुः संस्थापयाम यज्ञं यदि नः असुर रक्षसानि आसजेयुः संस्थति एव नः यज्ञः स्यात् । शतब्रा. 4.1.1.6.

73. वृत्रः ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये । यत् इदं अन्तरेण द्यावा-पृथिवी स यत् इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्मात् वृत्रः नाम । शतब्रा. 1.1.3.4.

74. देवाः असुराः वा एषु लोकेषु समततन्त, त एतस्यां प्राच्यां दिशि अयतन्त, तान् ततः असुरा अजयन्, ते दक्षिणस्यां दिशि अयतन्त, तान् ततः असुरा अजयन्, ते प्रतीच्यां दिशि अयतन्त, तान् ततः असुरा अजयन्, त उदीच्यां प्राच्यां दिशि अयतन्त ते ततः न पराजयन्त । सा एषा दिक् अपराजिता । ऐब्रा. 3.3.14.

75. सामाजिक-आर्थिक विकास में यह अकसर देखने में आता है कि किसी चीज का प्रवर्तन करने वाले अपने इस अहंकार के कारण कि उन्होंने इस उन्नत पद्धति को सबसे पहले अपनाया, अपनी पुरानी स्थिति से चिपके रह जाते हैं जब कि उनसे प्रेरणा ग्रहण करने वाले नये प्रयोग करते हुए आगे निकल जाते हैं। झूम या स्थान-बदल खेती करने वालों का दम्भ भी कुछ ऐसा ही है। 'असुर कहानी' में इसका आभास पाया जा सकता है।

76. ते ह ऊचुः संस्थापयाम यज्ञं यदि नः असुर रक्षसानि आसजेयुः संस्थित एव नः यज्ञः स्यात् । शतब्रा. 4.1.1.6.

77. देवाः च वा असुराः च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततः देवा अनुव्यं इव आसुः अथ ह असुरा मेनिरे अस्माकं एव इदं खलु भुवनं इति। ते ह ऊचुः। हन्त इमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्य उपजीवाम इति, ता औक्षणैः चर्मभिः पश्चात् प्रांचः विभजमाना अभि ईयुः। तत वै देवाः शुश्रुवुः। विभजन्ते ह वा इमां असुराः पृथिवी प्र इत तत् इष्यामः यत्र इमां असुरा विभजन्ते के ततः स्याम यत अस्यै न भजेमहि इति ते यज्ञं एव विष्णुं पुरः कृत्य ईयुः। ते ह ऊचुः। अनु नः अस्यां पृथिव्यां आभजत अस्तु एव नः अपि अस्यां भाग इति ते ह असुरा असूयन्तः इव ऊचुः यावत् एव एष विष्णुः अभिशेते तावत् वः दद्म इति। वामनः ह विष्णुः आस। तत् देवा न जिहीडिरे महत् वै नः अदुः ये नः यज्ञ सम्मितं अदुः इति। ते प्रांचः विष्णुं निपाद्य। छन्दोभिः अभितः परि अगृह्णन् "गायत्रेण त्वा छन्दसा गृह्णामि" इति दक्षिणतः, त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परि-गृह्णामिः इति पश्चात्, 'जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' इति उत्तरतः। तं छन्दोभिः अभितः परिगृह्य। अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेन अर्च्चन्तः श्राम्यन्तः चेरः तेन इमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त तत् यत् अनेन इमां सर्वां समविन्दन्त तस्मात् वेदिः नाम तस्मात् आहुः यावती पृथिवी इति, एतया हि इमां सर्वां सं-अविन्दन्त एवं ह वा इमां सर्वां सपत्नानां सं-वृंक्ते निर्भजति अस्यै सपत्नान य एवं एतत् वेद। सः अयं विष्णुः ग्लान। छन्दोभिः अभितः परिगृहीतः अग्निः पुरस्तात् न अपक्रमणं आस स तत् एव ओषधीनां मूलानि उप-मुम्लोच। ते ह देवा ऊचुः। 'क्व नु विष्णुः अभूत, क्व नु यज्ञः अभूत' इति ते ह ऊचुः 'छन्दोभिः अभितः परिगृहीतः अग्निः पुरस्तात् न अपक्रमणं अस्ति, अत्र एव अनु इच्छत' इति तं खनन्त इव अनु ईषुतं त्रि-अंगुले अनु अविन्दन् तस्मात् त्रि-अंगुला वेदिः स्यात्, तत् उ ह अपि पांचिः त्रि-अंगुलां एव सौम्यस्य अध्वरस्य वेदिं चक्रे। चत् उ तथा न कुर्यात्। ओषधीनां वै स मूलानि उप मुम्लोचत् तस्मात् ओषधीनां एव मूलानि उच्छेत्तवै ब्रूयात्, अनु एव अत्र विष्णुं अनु-अविन्दन् तस्मात् वेदिः नाम। तं अनुविद्य उत्तरेण परिग्रहेण परि-अगृह्णन्। 'सुक्ष्मा च असि शिवा च असि' इति दक्षिणतः इमां एव एतत् पृथिवीं संविद्य सुक्ष्मां शिवां अकुर्वत 'स्योना च असि सुषदा च असि' इति पश्चात् इमां एव एतत् पृथिवीं संविद्य स्योनां सुषदां अकुर्वत 'ऊर्जस्वती च असि पयस्वती च' इति उत्तरतः इमां एव एतत् पृथिवीं संविद्य रसवतीं उपजीवनीयां अकुर्वत। शतब्रा. 1.2.5.1-11.

78. यज्ञो वै विष्णुः। शतब्रा. 1.1.2.13; 3.1; 3.1.16; 3.5.2.3; 3.2; 4.2.1.10, 13.1.8.8, आदि। यज्ञो विष्णुः, 1.9.3.9; कौषीब्रा. 4.2; गो-उब्रा. 4.6; तै. 1.2.5.1. विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति विश — विस्तृत होना, फैलना आदि, से मानी गयी है जो अग्नि के सन्दर्भ में ठीक ही है। उसका एक पर्याय

ही है वैश्वानर और यही काम विष्णु भी करते हैं। अग्नि के तीन रूपों—पार्थिव, अन्तरक्षीय और द्युलोकीय को सामने रखें तो तीन चरणों में इस अग्नि द्वारा तीनों लोकों को माप लेने की बात भी स्पष्ट हो जायेगी जो बाद की कथाओं में देखी जाती है। ऋग्वेद तक इस परवर्ती कथा का रूप गढ़ा जा चुका था, 'इदं विष्णुः विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढ़ अस्य पांसुरे।। त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः गोपा अदाभ्यः। अतः धर्माणि धारयन्।'

ऋ. 1.22.17; 18;

पर यहाँ यह स्मरण करना उपयोगी होगा कि वन-दहन का यह कार्यक्रम पहले से चला आ रहा था। वामनावतार से पहले से। अतः विष्णु का यह अवतार या वामन रूप उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना उनकी खोज वनस्पतियों की जड़ों में करना और ज़मीन को खोदकर उनको निकालना अर्थात् इन वन्य घासों और तृणों की जड़ों को खोदकर निकालना और भूमि का संस्कार करना ताकि भूमि की उर्वरता को खर-पतवार नष्ट न करें और उसका पूरा लाभ खाद्य-धान्यों को मिल सके। यह है जोताई-बोआई का आरम्भ। इसी के साथ जुड़ा है धरती को सुषदा बनाना, अर्थात् स्थायी बस्ती के योग्य बनाना या एक जगह टिककर खेती करना। अतः इस नये चरण के साथ पहली बार देव विश बनते हैं, स्थायी रूप से टिककर या वेश्म बनाकर रहने वाले। ऋग्वेद के उक्त सूक्त में भी यह स्पष्ट है, "स्योना पृथिवी भव अनृक्षरा निवेशनी। यच्छ नः शर्म सप्रथः।।" ऋ. 1.22.15. यहाँ धरती को निवेशनी बनाने का तथ्य इसे स्योना और पांसुर बनाने के तथ्य से कम रोचक नहीं है।

यास्क भी 'विष्णुः विशतेः वा वि-अश्नोतेः वा' (निरुक्त 12.18) में इस तरह की सम्भावना को स्वीकार करते हैं।

79. एष वै यज्ञो यत् अग्निः। शतब्रा. 2.1.4.19.

80. तीनों लोकों की विजय अग्नि के भौम, अन्तरिक्षीय और द्युलोकीय तीन रूपों—आग, इन्द्र और सूर्य—की कल्पना की देन है।

81. अथ इमां उप अवेक्षमाणः जपति 'नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै' इति, बृहस्पतेः ह वा अभिषिषिचानात् पृथिवी बिभयांचकार महत् वा अयं अभूत यः अभ्यषेचि यत् वै मा अयं न अवदृणीयात् इति, बृहस्पतिः ह पृथिव्यै बिभयांचकार यत् वै मां इयं न अवधून्वीत इति, तत् अनया एव एतत् मित्र-धेयं अकुरुत न हि माता पुत्रं हिनरित न पुत्रः मातरम्। शतब्रा. 5.2.1.18. देखें 19 भी।

82. स्वयं वैदिक समाज में भी ऐसे पुरानपन्थी लोगो का अभाव नहीं रहा है जो केवल उस अन्न पर गुज़र करने का संकल्प लेते थे जो खेत या ज़मीन पर

गिरा मिले। इन्हें चणक या अन्न कण जुटाने वाला कहा जाता था। चाणक्य शब्द भी इसी चणक से व्युत्पन्न है।

83. सच्चिदानन्द मिश्र ने इसके लिए तीक्ष्णाग्र दण्ड शब्द का प्रयोग किया है।

84. शतब्रा. 5.4.1.15.

85. ऋ. 3.32 11.

86. डी. पी. चट्टोपाध्याय, लोकायत।

87. शतब्रा. 5.2.4.13; सैबुईसी. 41.51.

88. देवताओ ने कहा, गाय और बैल ही तो सभी का भरण करते हैं अतः गाय और बैल का मांस न खायें...यदि कोई गाय या बैल का मांस खाता है तो यह कुछ वैसे ही होगा जैसे वह सब कुछ खा जाये, सर्वनाश कर डाले। ऐसे व्यक्ति की अगले जन्म में दुर्दशा होगी। यह ऐसा ही जघन्य अपराध है जैसे भ्रूण-हत्या। इसके बावजूद याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'मैं तो खाता हूँ। हाँ, इसे नरम होना चाहिए।" स धेन्वै च अनुडहश्च न अश्नीयात् धेनु अनडुहौ वा इदं सर्वं बिभृतः ते देवाः अब्रुवन्...यः धेनु अनडुहयोः अश्नीयात् अन्तगतिः इव तं ह अद्भुतं अभिजनितोः जायायै गर्भं निरवधीत इति पापं अकृत इति पापी कीर्तिः तस्मात् धेनु-अनडुहयोः न अश्नीयात् तत उ ह उवाच याज्ञ्य-वल्क्यः अश्नामि एव अहं अंसलं चेत् भवति इति ।। शतब्रा. 3.1.2.21.

89. ऋ. 4.18.13.

90. रोमिला थापर, पूर्व., 1978, 217; देखें, वही, पाद टिप्पणी, पृ. 232.

91. अन्नं वै गोधूमा अन्नं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते...शतब्रा. 5.2. 1.13; गौधूमं चषालं भवति। पुरुषो वै प्रजापतेः नेदिष्ठं सो अयं त्वक् ऐते वै पुरुषस्य औषधीनां नेदिष्ठतमां यद् गोधूमाः तेषां न त्वक् अस्ति मनुष्य-लोकं एव एतेन उज्जयति। शतब्रा. 5.2.1.6.

92. देखें, प्री-आर्यन ऐंड प्री-द्रविडियन इन इंडिया, सं. पी. सी. बागची, 1929 में ब्लाख, पृ. 49 व 53; भगवानसिंह, आर्य द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता, 1973, 32. कौदुमै गोधूम का तमिल में आनयन नहीं है। कोदु-, कोत्तु से भारतीय बोलियों में अनेक खाद्य वस्तुओं के नाम जुड़े हुए हैं —कोत्तुमल्लि, कोत्तन्, आदि। कोत्तु का शाब्दिक अर्थ है गुच्छा, आवरण, हिंदी का धवद—गुच्छा इसी से सम्बन्धित है। कोवा – कटहल का कोदो, कोत्तलि या बदली, म-कोय, कोय-ना- महुए का फल, कोयरी-सब्ज़ी उगाने वाला, गोदा-पीपल का फल; सं. गुद्-ढकना, आदि इसी मूल से निकले हैं। कोदो, गेहूँ, कोवा, मकोय, केला आदि सभी के बीज/फल आवरण के भीतर लिपटे होते हैं। अतः गोधूम जो अपने इस उच्चारण में अर्थ की दृष्टि से खासा अटपटा लगता है, इस मूल कोदुमै का विकृत या 'संस्कृत' रूप है।

कम-से-कम फ़ारसी तक गन्दुम शब्द की व्याप्ति गेहूँ की खेती की शुरुआत भारत में और यहाँ से ईरान की ओर प्रसार को प्रकट करता है। इसके बावजूद गेहूँ जौ की अपेक्षा नया धान्य प्रतीत होता है और सम्भवतः इसलिए यज्ञ के प्रयोजन के लिए जौ का महत्व अधिक रहा है। इसके अतिरिक्त देवताओं को चढ़ाया जाने वाला अन्न हो या पशु उसे अक्षत होना चाहिए—उसका कोई हिस्सा टूटा या कटा (जूठा) नहीं होना चाहिए। गेहूँ अपने फटे पेट के कारण इसके उपयुक्त नहीं हो सकता था। मलेच्छ भोजन के पीछे भी ऐसा ही कोई तर्क रहा लगता है या, सम्भव है, पुरुषोत्तम देव जिस क्षेत्र के पंडित हैं उसमें गेहूँ पैदा ही न होता रहा हो और इसका भोजन विकार पैदा करने वाला माना जाता रहा हो जैसे बंगाल में माना जाता रहा है। हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि इससे अधिक प्राचीन विवरणों में इस तरह का संकेत नहीं मिलता।

93. हेरोडोटस, हिस्ट्रीज, II, 1901, 14, विलडुरांट, आवर ओरिएंटल हेरिटेज, 1954, 156.

94. भगवानसिंह, पूर्व., 139-86.

95. ऋषि शब्द की अनेक व्याख्याओं में से एक यह है कि इन्होंने कठोर श्रम और तप किया और इसीलिए ऋषि कहलाये। यह एक रोचक बात है कि चाहे मनुष्य हो या देवता, सृष्टि और नवप्रवर्तन के साथ बार-बार श्रम और तप का उल्लेख आता है। आगे चलकर इस श्रम और तप ने हठयोग का रूप ले लिया, पर आरम्भ में यह उत्पादन के लिए श्रम, नयी सृष्टि या आविष्कार के लिए श्रम ही रहा लगता है। इसकी असाधारण महिमा और प्राचीन ऋषियों, नयी उत्पादन पद्धति में अग्रणी भूमिका प्रस्तुत करने वालों के साथ, इस शब्द के जुड़े रहने के कारण विभिन्न साधना और चिंतन पद्धतियों के साथ जुड़े व्यक्तियों को भी श्रमण, ऋषभ, तपस्वी, यती, आदि कहा जाने लगा। "ते यत् पुरा अस्मात् सर्वस्मात् इदं इच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन् तस्मात् ऋषयः।" शतब्रा. 6.1.1.1; "सः अयं पुरुषः प्रजापतिः अकामयत। भूयान् स्याम् प्रजायै इति सः अश्राम्यत् तपो अतप्यत स श्रान्तः तेपानः ब्रह्मैव प्रथमं असृजत्...।" 6.1.1.8.

अध्याय चार

अतिरिक्त उत्पादन और स्वर्ग की तलाश

कृषि-क्रान्ति सहस्राब्दियों के दौरान फैला हुआ एक ऐसा आर्थिक रूपान्तरण है जिसकी वास्तविक प्रकृति और भूमिका को कई बार ग़लत रूप में पेश किया जाता है। जब हम इसके लिए क्रान्ति शब्द का प्रयोग करते हैं तो कुछ ऐसा लगता है मानो यह सारा परिवर्तन एक झटके में ही पूरा हो गया हो। इसी तरह जब हम शहरीकरण को कृषि-क्रान्ति से सीधे जोड़ देते हैं, तो उस गुणात्मक परिवर्तन को सही परिप्रेक्ष्य में रखने में भूल करते हैं जो शहरीकरण के साथ घटित हुआ।

वास्तव में कृषि-क्रान्ति के दौर में मनुष्य के आहार-संग्रही से उत्पादक बनने से उतना बड़ा अन्तर नहीं आया जितना इसके कारण आने वाले सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों में अन्तर से पड़ा। इससे पहले आखेट और आहार-संग्रह के चरण में ही नहीं, बल्कि पशुचारण काल में भी जो उत्पाद थे उनकी प्रकृति नश्वर थी। कहें दूध, फल, कन्द, मांस ये सभी अपने स्रोत से अलग होने के बाद इतने कम समय में ही नष्ट हो सकते थे कि इनका संग्रह नहीं किया जा सकता था, अतः इनके अतिरिक्त अंश को दूसरों के साथ मिल-बाँट कर खाना होता था। यह इस प्राचीन चरण के नैतिक तकाज़ों की ही याद है जिसके कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति का विकास हो जाने के बाद भी दूध, फल, मांस आदि के विक्रय को पेशे के रूप में गर्हित माना जाता रहा है।

पर कृषि के साथ एक ऐसा उत्पाद हासिल हुआ जिसे अपेक्षाकृत लम्बे समय तक संग्रहीत किया जा सकता था। इस संग्रह के बल पर लम्बे समय तक की निश्चिन्तता हासिल की जा सकती थी। यदि संग्रह का रूप ऐसा हो कि इसके साथ ही कुछ दूसरे लोगों को इससे अपेक्षाकृत वंचित भी किया जा सके तो अपने अतिरिक्त संचित भण्डार के बल पर दूसरों को अपना उपकरण बनाया जा सकता था। अतः कृषि के आविर्भाव के साथ हम कुछ स्पष्ट चरण देख सकते हैं—

1. कृषि-भूमि पर अधिकार और इसे घास-मोथे से रहित करके, जोताई और गोड़ाई से इसको उपजाऊ बनाना।
2. अपनी निजी शक्ति से जितनी भूमि पर खेती की जा सकती थी उससे भी अधिक बड़ी भूमि की सफ़ाई और उससे दूसरों को वंचित करना और इन स्वत्व-वंचितों को अपना उपकरण बनाना।
3. भूस्वामियों का उत्पादन-कार्य से पूरी तरह मुक्त हो जाना और अपेक्षाकृत और भी बड़े भूखण्ड पर अधिकार और इस अधिकार को क्रियान्वित करने के लिए दमन-तन्त्र और अपहरण-तन्त्र का विकास और फिर इस समग्र अतिरिक्त उत्पादन को हड़पकर मालामाल हो जाना।
4. इस अनुपातहीन सम्पन्नता के बल पर अब अपनी सेवा-सुश्रूषा के लिए भी घरेलू दास-दासियों का उपयोग और दूसरी ओर विलासिता और सौख्य के विविध रूपों—अच्छे आवास, वस्त्र, अलंकार, खाद्य पदार्थों आदि की चिन्ता।
5. और इस अन्तिम के कारण इन वस्तुओं के उत्पादन या सुदूर स्थानों से जुटाने के लिए घरेलू उद्योग और क्षेत्रीय और फिर सुदूर व्यापार का आरम्भ। यही ऐसे स्थलों पर जहाँ से सुदूर स्थलों की यात्राएँ अधिक आसानी से की जा सकें, नगर-केन्द्रों की स्थापना का कारण बनता है।

नगर-स्थापन की इस घटना को भारतीय परम्परा लम्बे समय तक देवों के धरती या कार्य-क्षेत्र से अलग होकर स्वर्ग बसाने और स्वर्ग की यात्रा करने की पुरोहिती आडम्बरपूर्ण कथाओं में बार-बार याद किया जाता रहा है। अतः इन परम्परागत विवरणों में कृषि के आरम्भ में उत्पादन-कार्य में लगे देवों की उस विकास-यात्रा को पहचानना कुछ उपयोगी हो सकता है जिसमें वे क्रमशः कृषक से भू-स्वामी और फिर व्यापारी और उपनिवेशवादी बनते हैं और फिर तो धरती और स्वर्ग का यह अलगाव इतना तीखा हो जाता है कि स्वर्ग धरती से उठकर आकाश में चला जाता है। हमें ये विवरण जिस काल की कृतियों से प्राप्त होते हैं वे द्युलोकीय स्वर्गों की कल्पना से हज़ारों वर्ष बाद की हैं, पर विभिन्न आनुष्ठानिक कृत्यों का औचित्य समझाने के व्याज से पुरानी घटनाएँ जिस तरह दुहरायी जाती हैं उनको निकट से देखने पर हम वास्तविकता को आसानी से समझ सकते हैं।

1
कृषिकर्मी देवता

हमने पिछले अध्याय में यह कहा है कि देवता शब्द मूलतः 'ती'—आग से

निकला है और इसका प्रयोग उन व्यक्तियों के लिए हुआ था जिन्होंने जंगलों को जलाकर खेती की शुरुआत की थी। सभी देवताओं को अग्नि का ही रूप-भेद मानना, सबका अग्नि पर और यज्ञ पर ही अपने जीवन के लिए निर्भर करना इस रहस्य के कारण भी हो सकता है। अत: देव और सुर शब्द भी आर्य और कृष्टी की तरह आरम्भ में कृषि-कर्मी या उत्पादक के ही पर्याय थे।

इस प्रथम चरण में देवों ने स्वत: ज़मीन को तृण-गुल्मों से साफ़ करके खेती योग्य भूमि हासिल की।[1] वे भूमि की स्वत: जोताई करते और इस जुती हुई भूमि में और इसके साथ कछार आदि की ऐसी ज़मीन में जिसमें जोताई की आवश्यकता नहीं थी बिना जोताई के ही, बोआई करते रहे।[2] उन्होंने अर्चना(फसल की अच्छी देखभाल?), श्रम और तप के बल पर दूसरों की अपेक्षा असाधारण सफलता हासिल की, जिसे बार-बार जय कह कर याद किया गया है। परन्तु यह सारा प्रयास कृषि-कार्य के सिलसिले में था, इस विषय में किसी तरह का भ्रम नहीं रहने दिया गया है।[3] यज्ञ जिसने आगे चलकर कृषि-कर्म का स्थान ले लिया या, कहें, देवों के स्वामी बनने के बाद जो वास्तविक कृषि-यज्ञ की नकल बनकर रह गया, आरम्भ में उत्पादन या कृषि का यही श्रेष्ठ कर्म था और यही धर्म का प्राचीन रूप था।[4]

कृषि-कर्म अपनाने से पहले वर्ष के कुछ मौसमों में तो फल-कन्द और शिकार की अधिकता रहती थी, शेष में पेट भरना कठिन हो जाता था और क्षुधार्तता और अन्ध-उदरपूर्ति की इन दोनों अतियों का सामान्य स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ता था और इसके कारण कुपोषण और व्याधि से मृत्यु की दर बहुत अधिक थी। पर कृषि के बाद अब देव रोग और दोष से मुक्त, अनमीव और अकिल्विष होने लगे और उनकी आयु लम्बी होने लगी। अब वे मर्त्य—अकाल मृत्यु के पात्र—से अमर्त्य या पूर्णायु भोग करने वाले हो गये। इस बात को दुहराना ज़रूरी है कि आरम्भ में अमरता का अर्थ मृत्यु से मुक्ति नहीं, अपितु इसका अर्थ पूर्णायु होना या शतायु होना, अर्थात् अकाल मृत्यु से बचे रहना था।[5]

इस आरम्भिक चरण में कर्म[6], धर्म[7], व्रत[8] आदि ने परवर्ती कालों का वाय-वीय अर्थ नहीं ग्रहण किया था।

पर सुपोषण और आरोग्य का सीधा परिणाम था जनसंख्या तेज़ी से वृद्धि और इस वृद्धि के कारण अधिक कृषि-भूमि की आवश्यकता और फिर देवों का अपने आसपास के जंगली इलाके को जलाकर वहाँ के क़बीलों को उनकी वन-सम्पदा से वंचित करके उस पर ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा करना और इस तरह देवों और असुरों में उस कठिन संघर्ष का आरम्भ जिसमें इस सैनिक तकाज़े से भी यथाशक्ति अधिक-से-अधिक सन्तान पैदा करने पर ज़ोर दिया जाता है ताकि असुरों को मारा जा सके।[9] दूसरी ओर, असुर जिनके लिए जीने-मरने का सवाल पैदा हो चुका है देवों या इन कृषि-कर्मियों का जीना दूभर किये रहते हैं।[10] असुरों की बेदख़ली और

देवों की छीन-झपट और इसके कारण चलती रहने वाली कटुता और संघर्ष की एक बहुत लम्बी कहानी है और एक तरह से हम कह सकते हैं कि यह दबाव और छीन-झपट आज भी जारी है, यद्यपि इसने इस लम्बे दौर में एक सर्वथा भिन्न रूप ले लिया है। अपनी उच्च तकनीक के कारण वन्य क़बीले इस पूरे दौर में छले और सताये ही गये हैं और इसके बावजूद अपनी रक्षा के लिए उनके प्रतिरोध के कारण उनको सदा आततायी और विघ्नकारी ही बताया जाता रहा है जो अपनी पिछड़ी जीवन-पद्धति के कारण वे कुछ दूर तक बने रहने को मजबूर भी थे, पर उन्हें हम क्रमशः जितना लाचार और कमज़ोर हाल के दौर में पाते है उतने निरीह वे पहले नहीं थे और देवों से पराजित होने के बाद भी वे बार-बार नये सिरे से संगठित होकर, अन्य वन्य क़बीलों को साथ लेकर बहुत दृढ़ता से प्रतिरोध कर रहे थे और उनके जुझारूपन को देखकर लगता था कि ये रक्तबीज हैं। अपने दमन और संहार के बावजूद वे बार-बार उठ खड़े होते हैं।[11]

पर इस उग्र और साहसिक प्रतिरोध के बावजूद जब तक असुर स्वयं भी उसी उन्नत तकनीक को नहीं अपनाते तब तक उनको निरन्तर पराजित होते और अपनी भूमि गँवाते ही जाना था। और यही हुआ। देव या कृषि-कर्मी जमात ने उस समस्त भू-भाग को जिसमें आसानी से खेती हो सकती थी, अपने कब्ज़े में कर लिया और असुरों को बेदख़ल कर दिया।[12]

अपने अरण्य क्षेत्र और इसकी प्रकृत सम्पदाओं से वंचित असुरों के पास केवल तीन विकल्प बच रहते हैं, इस क्षेत्र को जो उनसे छीन लिया जाता है, छोड़-कर जंगलों में लौट जाना या कहीं दूर भाग जाना। यहाँ उन्हें प्रायः उन वन्य क्षेत्रों पर अधिकार जमाये अन्य क़बीलों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। दूसरा विकल्प है कुछ पीछे हटकर अन्य वन्य क़बीलों को संगठित करना और उन्हें यह समझाना कि जो विपदा उन पर आज आयी है वह कल इसी भूविस्तार के अभि-यान में उन पर भी आ सकती है और इस तरह उनके सहयोग से आक्रामक दस्ते तैयार करना और बदले की कोशिश करना। तीसरा विकल्प है इन कृषिकर्मियों के सम्मुख आत्मसमर्पण और उनकी सेवा करते हुए अपना जीवनयापन करना।

इस तीसरे विकल्प के कारण, देवों को भू-दासों की एक पूरी जमात मिल जाती है, जिन्हें सुरक्षा देकर वे अपने श्रमिकों के रूप में उपयोग में लाना आरम्भ करते हैं। वायु पुराण के विवरण के अनुसार कर्षणज सस्य की उत्पत्ति होने के बाद, "उनकी सन्दिग्ध वार्ता में यानी जीविकोपाय के विवाद में ब्रह्मा ने बहुतेरी मर्यादा (व्यवस्था) स्थापित की। उनके बीच जो बलवान और भूमिपति थे उन क्षत्रियों को दूसरों की रक्षा का भार सौंपा। जो उन क्षत्रियो के निकट निर्भय हो-कर जीते थे, सत्यवादी और सर्वभूतों में ब्रह्मज्ञानवान् थे वे ब्राह्मण कहलाये। जो उनकी अपेक्षा क्रूर कर्म वाले और यम की तरह जान-बूझकर पृथ्वी पर प्रजाओं का

नाश करते थे उन्हें कीनाश पद से अभिहित कर वैश्य कहा और उन्हें सर्वसाधारण के वृत्ति-साधन कार्य में लगाया। जो सोचते हुए, शोक करते हुए इधर-उधर भ्रमण करते थे और निस्तेज थे, उन्हें शूद्र कहा और उन्हें परिचर्या कार्य में लगाया।"[13]

वह विवरण बहुत बाद का है और इसमें कालक्रम से कुछ विकृति आ गयी है, पर इसके बावजूद इसमें वास्तविकता का बहुत विश्वसनीय चित्र पेश किया गया है। भारतीय सन्दर्भ में यह एक पहेली-सी बनी रही है कि एक तो कृषि, गोपालन और वाणिज्य को वैश्यों का काम बताया जाता रहा है जिससे ऐसा लगता है कि सम्पत्ति के सभी रूपों पर वैश्यों का अधिकार रहा है, और दूसरी ओर सवर्ण समाज में उनको सबसे नीचे स्थान दिया जाता रहा है। सम्पत्ति पर अधिकार रखने वाला वर्ग अपनी क्रूरता और दमन से शून्य नहीं हो सकता और इसके बावजूद वैश्यों को शान्तिप्रिय और सहिष्णु बताया जाता रहा है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि सम्पत्ति के सभी रूपों पर क्षत्रियों का अधिकार था और वे प्रत्यक्षतः कोई काम न करके जिन प्रबन्धकों या पर्यवेक्षकों के माध्यम से विविध काम करा रहे थे उन्हें ही वैश्य कहा गया, अन्यथा यह कि आरम्भ में वैश्य शब्द का प्रयोग समूचे स्वामी-वर्ग के लिए होता था जिसमें तीनों उच्च वर्ण शामिल थे और इनका अलगाव बाद में हुआ।

वायु पुराण के उक्त विवरण के अनुसार जिन लोगों को भूसम्पत्ति और पशु-पालन का भार सौंपा गया था वे क्रूर कर्म करने वाले और यम की तरह प्रजाओं को उत्पीड़ित करने वाले लोग थे। अतः यही अधिक ठीक लगता है कि वैश्य शब्द आरम्भ में समूचे स्वामी-वर्ग के लिए प्रयोग में आता था और ये लोग अपने दासों और श्रमिकों के साथ बहुत कठोरता से पेश आ रहे थे और इसी के बल पर वे उनके द्वारा उत्पादित धन का एक बड़ा हिस्सा हड़पने में और इनको नियन्त्रित करने में समर्थ थे।

इसी तरह दासों या शूद्रों के विषय में भी वायु पुराण का उक्त विवरण अधिक संगत प्रतीत होता है। अपनी वन-सम्पदा से वंचित हो जाने के बाद जो लोग निराश्रय हो गये थे उनमें से ही अधिकांश लोगों को इस अग्रधर्षी वर्ग के सम्मुख, जो ही उनके आखेट और आहार-संग्रह क्षेत्र को जलाकर ख़त्म करने और इसे कृषि भूमि में परिवर्तित करने के लिए उत्तरदायी था, आत्मसमर्पण करने को और उसकी अपनी शर्तों पर जीने को बाध्य होना पड़ा था।

इस तरह उत्पादन के साधनों पर अधिकार करने के बाद पहले का मानव समाज जो सुर (उत्पादक) और असुर (अनुत्पादक) में विभाजित था अब देव, विश्वदेव या विश या मनुष्य और दास या असुर में विभाजित दिखायी देता है : देव उत्पादन के साधनों पर अधिकार रखने वाले या भूसम्पदा और पशुसम्पदा के मालिक; विश्वदेव या मनुष्य उनके द्वारा नियुक्त कार्यभारी या पर्यवेक्षक और

दास या श्रमिक। वन्य असुर इस काल में भी तनाव की स्थिति में रहते और इस व्यवस्था का विरोध करते दिखायी देते हैं।

दासों को न केवल श्रमिक और घरेलू नौकर का काम करना पड़ता है, अपितु उनको शिल्पी का काम भी क्रमशः सौंप दिया जाता है। कुशल श्रमिकों की स्थिति निश्चय ही निरे श्रमजीवी दासों से अधिक अच्छी रही होगी, पर बहुत अच्छी नहीं। दासों को श्रम का अक्षय स्रोत और वशवर्ती बनाए रखने के लिए उन पर जो शर्तें लगायी गयी हैं वे उनके भौतिक उत्थान को ही नहीं, उत्थान की सम्भावना को भी समाप्त कर देती हैं। उनका निवास बस्ती से बाहर होगा, ताकि मौक़ा देखकर वे हमला न कर दें। उनके पास न तो कोई वाहन होगा, न ही हथियार। अपने काम के औज़ार वे अवश्य रख सकते हैं। भूसम्पदा पर उनका अधिकार नहीं हो सकता। उनको शिक्षा से वंचित कर दिया गया है, और आतंक क़ायम रखने के लिए आज्ञापालन में तनिक भी प्रमाद होने पर उनको मृत्युदण्ड तक दिया जा सकता है। इसके बावजूद इस बात की पूरी व्यवस्था की गयी है कि उनका जीवन-निर्वाह होता रहे, जो व्यवस्था पशु तक के मामले में भी करनी ही पड़ती है। वस्तुतः शूद्रों की उपमा जो पशु से दी जाती रही है वह मात्र असावधानी या जुगुप्सा के कारण नहीं है। जिस प्रकार पशु को हर प्रकार से वशवर्ती बनाने के लिए उसे नाथने, बाँधने, कसने के लिए विविध तरीके विकसित किये गये उसी तरह शूद्रों के मामले में भी किया गया। शब्दशः नहीं, परन्तु मानसिक रूप से उनको बधिया बनाने की भी पूरी कोशिश की गयी।

उत्पादन के स्रोतों पर अधिकार के बल पर ही अब वे ही देवता जो श्रम और तप करते थे और सीधे उत्पादन-कर्म से जुड़े थे एक तरह से स्वयं असुरों में या अनुत्पादकों में बदल जाते हैं। जो काम वे पहले स्वयं करते थे वह काम अब मनुष्यों या कृष्टियों पर छोड़ दिया जाता हैं।[14] देवताओं के पूर्वकृत कर्म ही अब मनुष्यों के आदर्श बन जाते हैं।[15] पर जहाँ पहले यज्ञ का अर्थ था उत्पादन करना और मिल-बाँटकर खाना, वहाँ अब इसका अर्थ है उत्पादन करना और पहले देवताओं का हिस्सा अलग करके उन्हें पहुँचाना[16] और फिर बचे हुए में अपना भरण करना।[17] यदि मनुष्य यज्ञ न करें या देवताओं का हिस्सा उन्हें न पहुँचाएँ तो देवताओं को भोजन न मिले।[18] इस तरह देवों का उत्पादन पर अप्रत्यक्ष नियन्त्रण बना रहता है। सीधे उत्पादन-कर्म में हिस्सा न लेने वाले ये देव जिनमें अग्नि और वरुण हैं और जो क्रमशः ब्राह्मणों और मन्त्रियों के प्रतीक हैं, उपजीवी की-सी स्थिति में आ जाते हैं।[19] इन्द्र वणिकों के प्रधान हैं। जो देव पहले भूमि का संस्कार और बीज का वपन करते थे, जोताई और बोआई करते थे, उनके प्रतिरूप क्षत्रिय और ब्राह्मण अब हल की मूठ भी नहीं पकड़ते और फिर भी सर्वोत्तम का भोग करते हैं।

इस तरह जो समृद्धि पैदा होती है उसके बाद प्रभुत्व की कामना और अपना-

अपना वर्चस्व स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होती है। देवताओं में एक तरह का आन्तरिक कलह पैदा हो जाता है। इस कलह के दो कारण हैं : एक तो अपने लिए अधिक बड़े हिस्से की माँग और दूसरा है अपनी अधिमान्यता की भूख। यज्ञ में मेरा भी हिस्सा है, उत्पादन में मेरा पहला हिस्सा है, इस बात को लेकर प्रायः कलह पैदा होता है। इसे ब्राह्मणों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, ऋतुओं, वाणी आदि के द्वारा अपने हिस्से के दावों के रूप में अनेक अन्तर्कथाओं में प्रस्तुत किया गया है जो देव-समाज में अपने-अपने हिस्से के लिए हुई तक़रारों का ही प्रतीकात्मक अवशेष है।[20] दूसरा है प्रभुत्व को लेकर देवसमाज का अनेक बार कम-से-कम दो पक्षों में बँट जाना। जब तक देवता स्वयं उत्पादन करते थे तब तक भाग लगाने का झगड़ा नहीं था। जिसने जितना पैदा किया वह उसका। परन्तु जब उत्पादक दूसरे हैं और प्रश्न अतिरिक्त उत्पादन को हड़पने का है तो इनमें से प्रत्येक दूसरे से चालाकी करेगा ही। वैदिक भाग वितरण को कबीलाई समतुल्य वितरण नहीं माना जा सकता। कबीलाई वितरण में अधिक-से-अधिक हड़पने की कोशिश नहीं होती। पर वैदिक वितरण में सर्वत्र चालाकी के दर्शन होते हैं और आदर्श यह रखा जाता है कि सभी को उसका उचित हिस्सा मिले।

ऐसा लगता है कि आपसी फूट और प्रतिस्पर्धा के इस दौर में दासों द्वारा, जिन्हें देवसमाज में अनुगत के रूप में वन्य कबीलों से आये होने के कारण जब-तब असुर भी करार दिया जाता है, विद्रोह भी किया जाता है और वे अपने स्वामियों के बन्धन से मुक्त होने का और उन्हें समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं, पर इस अप्रत्याशित घटना के कारण देववर्ग अपनी भूल पहचान लेता है और पुनः संगठित हो जाता है। इस तरह की घटना शतपथ ब्राह्मण में निम्न प्रकार दी गयी है :

जब देवताओं ने आतिथ्येष्टि यज्ञ कर लिया तो उनके बीच फूट पैदा हो गयी। वे चार दलों में बँट गये और कोई किसी की श्रेष्ठता को स्वीकार करने को तैयार न था। अग्नि के साथ वसुगण हो गये, वरुण के साथ आदित्य, इन्द्र के साथ मरुद्गण और कुछ का कहना है कि बृहस्पति के साथ विश्वदेव हो गये, पर दर-असल जो चार वर्गों में बँटे थे वे ही तो विश्वदेव—समग्र देवता हैं। जब उनमें अलगाव हो गया तो असुर-राक्षस उनके पीछे आये और उनके बीच घुस गये। अब उन्हें इसका बोध हुआ कि अरे असुर-राक्षस हमारे बीच घुस आये हैं, अब हम मुश्किल में पड़ गये; हम अपने शत्रुओं के चंगुल में आ जायेंगे। आओ, हम एक हो जाएँ और किसी एक की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लें। उन्होंने इन्द्र की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया और इसीलिए कहा जाता है कि इन्द्र ही विश्वदेव या समस्त देवता हैं और वही समस्त देवताओं में श्रेष्ठ है।[21]

इस कथा को दो रूपों में लिया जा सकता है। एक तो यह कि देवों के अनुकरण पर असुरों में से भी कुछ ने कृषि की ओर कदम बढ़ाया अर्थात् देवों में

शामिल होने और उनसे आगे बढ़ने के लिए चेष्टा करने लगे, पर इन पुराने कृषि-कर्मियों ने अपने को संगठित किया और उनके द्वारा साफ़ की गयी भूमि पर भी अधिकार कर लिया। दूसरा रूप उन दासों का संगठित होकर या देवताओं (भू-स्वामियों) के ही एक पक्ष में आकर अपने उपजीवी स्वामी-वर्ग के प्रभुत्व से मुक्ति पाने और सम्भवतः अपने नियन्त्रकों से भी छुट्टी पाने के प्रयत्न के रूप में। हम दूसरी सम्भावना को अधिक उचित मानते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसी ही एक अन्य अन्तर्कथा में असुर देवों का वेश बनाकर उन्हें अकेले में पाकर मारते-पीटते दिखाये गये हैं। इस कथा में "जब देव दीक्षित हो जाते हैं और अपनी-अपनी समिधा लाते और अपना मन्त्रभाग पढ़ते हैं तो असुर एक-एक करके किसी-न-किसी देवता का वेष बनाकर उन पर प्रहार करते हैं। अब वे आपस में एकत्र होने पर शिकायत करते हैं कि देखो तुमने मुझे किस तरह मारा है, तुमने मेरी क्या हालत कर दी। पर अकेले अग्नि ऐसे थे जिन्होंने न तो स्वयं किसी से ऐसा कहा, न ही किसी दूसरे ने उनसे ऐसा कहा। उन्होंने पूछा, 'अग्नि, क्या तुझसे भी उन्होंने ऐसा कहा ?' उसने कहा, न तो मैंने किसी से बात की 'न ही किसी दूसरे ने मुझसे बात की।' अब उन्हें होश आया, 'अग्नि सचमुच हम लोगों में राक्षसों को भगाने वाले हैं। आओ हम भी उन्हीं जैसे बनें। इस तरह हम राक्षसों से बच सकेंगे और स्वर्ग को प्राप्त कर सकेंगे।' इस तरह वे राक्षसों से बचकर स्वर्ग प्राप्त करने में सफल हुए।"[22]

यहाँ देवों को अकेला पा कर उन्हें मारना और वह भी देवताओं का वेश बनाकर, इस बात का संकेत देता है कि यह जंगली असुर-क़बीलों का काम न होकर उनके बीच रहने वाले भूदासों का ही प्रयत्न था। प्राचीन समाजों में श्रमिकों और दासों द्वारा इस प्रकार के विद्रोह यूनान, रोम, आदि में भी अनेक बार हुए थे।

जो भी हो, इन अनुभवों से देव-समाज अपने पारस्परिक कलह को भुलाने में और अधिक संगठित होकर काम करने में सफल होता है। वह किसानों और श्रमिकों पर कड़ी नज़र रखता है और उनकी एक-एक गतिविधि का हिसाब रखता है। देव मनुष्यों के मन की बात जानते हैं।[23] वे मनुष्यों से छिपकर या बचकर रहते हैं।[24] वे हरस्विन् हैं। सबसे पहले वे अपना हिस्सा वसूल कर लेते हैं।[25] उन्होंने अपनी सुरक्षा और वसूली की पक्की व्यवस्था कर रखी है[26] और इस छन्द या व्यवस्था के द्वारा ही वे आनन्दात्म होकर रहते हैं।[27]

ऐसा लगता है कि इस कड़े इन्तज़ाम के बावजूद किसान देवभाग देने से कतराते हैं या बहाने बनाते हैं। यह भी सम्भव है कि फ़सल आदि ख़राब होने पर वे वसूली के समय जो तर्क देते हैं उसे झूठा और गढ़ा हुआ मान लिया जाता है। देवताओं को सत्य और मनुष्यों को अनृत कहने के पीछे शायद यह भी एक कारण हो।[28]

देवताओं का स्वर्ग इस धरती पर ही बसाया जाता है। वे पहले स्वर्ग जाते नहीं अपितु स्वर्ग लोक का भोग भोगते हैं। स्वर्ग में मनुष्य को काम नहीं करना पड़ता, पहले किये हुए कर्मों का अविकल भोग करने को मिलता है। देव जिन्होंने अपने श्रम, तप, साहस और पराक्रम से भूसम्पदा पर अधिकार कर लिया था, वे कर्म से मुक्त होकर अपने एकान्त में यज्ञ का लाभ भोग रहे हैं। दूसरे लोग उनके लिए काम कर रहे हैं। इनके यज्ञ का सर्वोत्तम अंश उनको चढ़ाया जा रहा है। इसके बदले में अपने अनुगतों की रक्षा का भार और इनके कर्तव्यच्युत होने पर इनको दण्ड का विधान और कम-से-कम इनकी आपदा के समय उपेक्षा का ही नहीं अपितु अपनी ओर से उन्हें आफ़त में डालने का विधान अवश्य रखते हैं। श्रम और तप का स्थान साम्राज्य ने ले लिया है और साम्राज्य स्वर्ग है।[29] कबीलाई आतंक बहुत लम्बे समय तक चलता रहता है और यदि देव जो छन्द या प्रशासन-तन्त्र पर अधिकार बनाये हुए हैं, उनकी सुरक्षा को सुनिश्चित न करें तो किसानों पर आये दिन विपत्ति पड़ती रह सकती है।[30] सुरक्षा और इसके बदले में नियमानुसार देवभाग की अदायगी, यह है दोनों का सम्बन्ध।[31] न केवल बाहरी शत्रुओं से अपितु आपस में भी किसी को असहाय पाकर उस पर अन्याय करने वाले की पुकार ये देवता सुनते हैं और दीनों की पुकार सुनने वाले ये दीननाथ न्याय-व्यवस्था भी अपने हाथ में रखते हैं और इस तरह क्रमशः राजतन्त्र और प्रशासन-व्यवस्था का आधार सुदृढ़ होता जाता है।

ब्राह्मणों में प्रायः यज्ञ को मधुसार बताया गया है।[32] यज्ञ किसानों के लिए मधुसार हो या नहीं, पर इन कुलीन देवों के लिए तो है ही जिन्हें अब बिना कुछ किये-कराये उत्पादन का सार भाग मिल जाता है। एक विवरण के अनुसार जैसे भ्रमर फूल का सारा रस चूसकर अलग हो जाता है वैसे ही देवता यज्ञ का सारा रस चूस कर और इसे छोड़कर या उत्पादन-कार्य से मुक्त होकर फिर भी अपना अधिकार जताते हुए यज्ञ-यूप गाड़ कर तिरोधान हो गये।[33]

देवों के इस प्रकार तिरोहित होने के साथ ही नगर सभ्यता का जन्म होता है। समस्त कर्मकाण्डीय आरोपणों और विकारों के बावजूद ब्राह्मणों आदि में भी इस रूपान्तरण को आसानी से पहचाना जा सकता है। निश्चय ही यहाँ नगरों के लिए स्वर्ग शब्द का प्रयोग किया गया है, पर इन प्राचीन स्वर्गों की जो स्मृति इस काल तक बनी रह गयी है उसमें यह समझना कठिन नहीं है कि इन स्वर्गों से तात्पर्य नगरों से ही है और इसलिए स्वर्ग में नगर के सारे लक्षण पाये जा सकते हैं। स्वर्ग का शाब्दिक अर्थ है (सु-अर्क/अर्च), सम्पन्न। इसका अर्थ है साम्राज्य।[34] इसको सधस्थ भी कहा गया है जिसका अर्थ कई रूपों में किया जा सकता है, जैसे—पास बसा हुआ और जहाँ 'अपां सधस्थ' आया है वहाँ स्पष्टतः 'जलधारा के निकट बसा हुआ' आशय स्पष्ट है। पर इसे बड़ी आबादी की बस्ती भी माना जा सकता है।[35]

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र के नगर विशाल जल-धाराओं के तट पर बसाये गये थे।[36] आश्चर्य नहीं कि ऐसा सोचते समय रचनाकार का ध्यान इन्द्रप्रस्थ की स्थिति और इसकी व्युत्पत्ति पर भी रहा हो, जहाँ से हड़प्पा और प्राक्-हड़प्पा काल के अवशेष भी मिले हैं। जो भी हो, स्वर्ग के सन्दर्भ में उस द्यु-लोकीय स्वर्ग की बात करते समय भी स्वर्ग-गंगा की बात अवश्य की जाती है जो प्रथम दृष्टि में किसी को भी बहुत अटपटी लगती है। स्वर्ग के चारों ओर एक घेरा या नगर-प्राचीर होता है।[37] इसमें प्रवेश के लिए अनेक द्वार होते हैं और इन द्वारों पर रक्षक नियुक्त होते हैं और ये रक्षक पूरी निष्ठा और तत्परता से अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।[38] इस सुचारु रक्षा-व्यवस्था के कारण स्वर्ग में किसी तरह का भय नहीं रहता[39] और सचाई तो यह है कि असुरों के डर से अपनी रक्षा की चिन्ता से ही देवों ने अपने नगर या स्वर्ग बसाये भी थे। इसलिए इसमें प्रवेश भी जाँच-पड़ताल के बाद किया जा सकता है। इसमें सभी का प्रवेश नहीं हो सकता और साधारण हैसियत का आदमी तो इस तक पहुँच ही नहीं सकता या इसमें बस ही नहीं सकता।[40] यह आकार में बड़ा है[41], पर पृथ्वी की तुलना में नहीं, अपितु ग्रामीण बस्तियों की ही तुलना में। इसका सबके लिए असमायी[42] होना ही इसके सीमित आकार को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है।

स्वर्ग के अन्य पर्याय भी इस बात की ही पुष्टि करते हैं कि इनका सम्बन्ध नगरों से है; यथा, अलका—अलंकृत अथवा सुव्यवस्थित नगरी। यह ध्यान रहे कि अलका को एक लोक के रूप में नहीं, अपितु एक पुरी या नगरी के रूप में ही कल्पित किया गया है। इसके एकअन्य पर्याय वैकुंठ का अर्थ है वह जिसे कुंठित या ध्वस्त न किया जा सके, जो इसकी रक्षा-व्यवस्था की सुचारुता के साथ-ही-साथ भवनों की मजबूती को भी प्रकट करता है। इससे मिलता जुलता ही भाव इसके एक अन्य पर्याय अमरावती में भी है जो इसे अमर या सुदृढ़ भवनों की बस्ती सिद्ध करता है। पर अन्यथा यदि यह मानें कि इसे अमरों या देवताओं की बस्ती के कारण अमरावती कहा गया है तो भी इस अमरावती को नगर के रूप में ही कल्पित किया गया है। इसमें मनोरंजन के सारे सामान हैं और कामकाज के बिना ही,स्वामित्व या अर्जित पुण्य के कारण ही सारे सुख-सुविधा के सामान हासिल हो जाते हैं। चूँकि स्वर्ग का एक अर्थ आनन्द या परम सुख है, अतः नगरों की स्थापना से पहले कृषि जन्य संपन्नता के दौर में यह पूरा कृषि-क्षेत्र या यजमान-लोक ही स्वर्ग था।[43] पर आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों में बदलाव और विषमता में वृद्धि तथा व्यापारिक गतिविधियों के कारण दूरस्थ स्थानों में अपनी अस्थायी और फिर स्थायी बस्तियाँ बसाने के क्रम में स्वर्गों की संख्या और इनकी स्थिति भी बदलती गयी और अन्ततः वह द्युलोक में पहुँच जाने के बाद भी धरती से अपना सम्बन्ध पूरी तरह काट नहीं पाया और इसे मुख्य रूप से मेरु गिरि या हिन्दुकुश

के क्षेत्र में बाद तक कल्पित किया जाता रहा।[44]

हमें जो संकेत उपलब्ध हैं उनसे प्रकट होता है कि आरम्भिक नगर सरस्वती के तट पर बसाये गये थे।[45] संभव है, आरम्भ में केन्द्रीय नगर के रूप में किसी एक का ही विकास हो पाया रहा हो और इसलिए यह स्वर्ग भी एक ही रहा हो, पर व्यापारिक तकाज़ों से कायम की जाने वाली बस्तियों और वहाँ से अर्जित समृद्धि ने उनको भी स्वर्ग बना दिया और इनकी संख्या भी एक से अनेक—सात, नव या दस हो गयी।[46] ऐसा लगता है कि अन्य देशों में व्यापारिक केन्द्रों के कायम हो जाने के बाद यह शब्द मुख्यतः उन्हीं के लिए प्रयुक्त होने लगा। सम्भवतः भारतीय नगरों के अपने विदेशी केन्द्र भी बँटे हुए थे और ये बहुत दूर तक के क्षेत्रों में फैले थे। इन तक पहुँचने के दो तरह के मार्ग हैं : एक तो जल-मार्ग, जिससे एक स्वर्ग तक की दूरी सरस्वती के मार्ग से चौबीस दिनों की यात्रा बतायी गयी है।[47] एक अन्य प्लक्ष प्रास्रवण को विनशन से, घोड़े से चलने पर चौवालीस पड़ावों की दूरी बताया गया है।[48] प्लक्ष प्रास्रवण किस स्थल का नाम रहा हो सकता है, यह अनुमान का ही विषय हो सकता है। वैदिक इंडेक्स के लेखकों के अनुसार यह सरस्वती का उद्गम-स्थल भी हो सकता है।[49] पर इसकी दिशा में घोड़े से यात्रा की बात बेतुकी है और विनशन से इसकी 44 दिनों की यात्रा भी अपेक्षाकृत एक अधिक दूर बसी बस्ती की ओर संकेत करती है। यदि सरस्वती-सम्मित मार्ग या जल-मार्ग से गम्य स्वर्ग का सम्बन्ध खाड़ी क्षेत्र से माना जाये तो प्लक्ष प्रास्रवण को जिसे स्थल-मार्ग से उतनी ही दूरी पर बताया गया है, अफ़ग़ानिस्तान में तलाशना अधिक उचित होगा। इसी तरह जहाँ स्वर्ग की दूरी इक्कीस दिनों की बतायी गयी है[50] वहाँ हम इसको बलूचिस्तान से आगे नहीं ढूँढ़ सकते। इसके विपरीत घोड़े से हज़ार दिनों की यात्रा कुछ अतिरंजित हो सकती है, पर यह भारोपीय प्रसार-क्षेत्र के दूरतम स्थलों के लिए ही प्रयुक्त हो सकती है।[51]

इन स्वर्गों को व्यापारिक लाभ के लिए बसाया गया था, इस विषय में भी किसी तरह का सन्देह नहीं दिखायी देता। वाज जिसका अर्थ सामान्यतः अन्न लिया जाता रहा है, वस्तुतः समस्त धन का या पण्यवस्तुओं का सूचक है और फ़ारसी का बाज़ार शब्द इसी से निकला प्रतीत होता है। घोड़े के लिए वाजि का प्रयोग भी सम्भवतः मालवाहक—टट्टू—के रूप में इसके प्रयोग के कारण आरम्भ हुआ। जो भी हो, स्वर्ग स्वतः वाज है।[52] यह व्यापारिक केन्द्र या बाज़ार है।

इसी तरह इन स्वर्गों या उपकेन्द्रों की भौगोलिक स्थिति भी स्पष्ट है। इनके लिए जहाँ जल-मार्ग का संकेत मिलता है और जहाँ नौका से स्वर्ग पहुँचने की याद बनी रह गयी है[53], वहाँ भारतीय तटीय स्थलों और खाड़ी देशों को स्पष्ट पहचाना जा सकता है। खाड़ी क्षेत्र की भीषण गर्मी के अनुभव उन यादों में सुरक्षित हैं जिनमें स्वर्ग का अधिपति अग्नि को बताया जाता है।[54] आदित्यों को इसके अधि-

पतियों में गिनाया जाना[55] एकाधिक केंद्रों की ओर संकेत करता है। एक स्थल पर तो स्पष्ट कहा गया है कि यहाँ धूप प्रचण्ड होती है।[56] अब यदि हम इस बात की ओर ध्यान दें कि खाड़ी क्षेत्र में गर्मी का तापमान छाया में भी पचास डिग्री सेंटीग्रेड तक पहुँच जाता है और खुली धूप का तापमान 80 डिग्री[57] तक, तो हम इस क्षेत्र को पहचानने में भूल नहीं कर सकते। स्मरण रहे कि भारत में प्रचण्ड गर्मी में खुली धूप में भी कहीं तापमान उस ऊँचाई पर नहीं पहुँच पाता जो इस क्षेत्र में छाया में पहुँच जाता है।

इसी तरह स्थल-मार्ग से स्वर्ग की यात्रा में पर्वत की चढ़ाई करनी पड़ती है।[58] स्वर्ग-लोक की चढ़ाई बहुत कठिन है[59] और यह इस लोक से परे या दूसरी ओर है[60], यह प्रतिकूल या दूसरे छोर पर है[61]—जैसे विवरण समुद्रपार और पर्वत-पार दोनों प्रकार के स्थलों पर लागू होते हैं।

व्यापार और वाणिज्य के प्रसंग में हम देख आये हैं कि पश्चिमी एशिया के व्यापारियों के लिए, जो यहाँ व्यापार से मालामाल हो रहे थे और सम्भवतः भारतीय व्यापारिक केन्द्रों में अपनी बस्तियाँ बसाने के लिए भी प्रयत्नशील थे, भारत भी जन्नतनिशाँ या स्वर्गतुल्य ही था। जिन विदेशी केन्द्रों से भारतीय माल पश्चिमी केन्द्रों को पहुँचाया जाता था वे भी उनके लिए स्वर्गतुल्य थे, जैसा कि दिलमुन और पुन्त के हवालों में मिलता है। अब यदि उभयपक्षीय विवरणों पर ध्यान दें तो किसी भी क्षेत्र का स्वर्ग बन जाना उसके दुर्भाग्य की शुरुआत थी, चाहे इसे स्वर्ग के रूप में प्रकट किया जाये या 'सोने की चिड़िया' के रूप में और इसका अर्थ था उस क्षेत्र को स्वर्ग मानने वालों की गृद्ध-दृष्टि उस पर पड़ चुकी है, वे उसके व्यापार से मालामाल हो रहे हैं और जिस भी सूरत से हो इसे लूटने या हड़पने की चिन्ता में लगे हुए हैं। फिर भी, स्वर्ग की कीर्ति प्राप्त करने के लिए क्षेत्र विशेष या स्थान विशेष में कुछ विशेषताएँ इसके अतिरिक्त भी जरूरी थीं। इनमें से एक था इसका दूर या दुर्लंघ्य प्राकृतिक बाधाओं के पार बसा होना; जल-वायविक दृष्टि से इसका भिन्न होना और इसके उत्पादों का इस भिन्नता के कारण किसी क्षेत्र के लिए आश्चर्यजनक और आकर्षक होना और खनिज सम्पदा, संचित धन के मामले में असाधारण समृद्धि।

अब पुनः दोनों पार्श्वों के स्वर्गों की कल्पना का मिलान करें तो पायेंगे कि अपने स्वर्गों की तलाश वैदिक जनों ने वैदिक साहित्य की रचना से बहुत पहले आरम्भ कर दी थी और इस काल तक उनके स्थायी केन्द्र पश्चिमी क्षेत्रों में कायम हो गये थे। यहाँ की खानों से विविध धातुएँ और कीमती पत्थर तथा ऐसे चुस्त और फुर्तीले अश्व पा रहे थे जो दैवी शक्तियों से युक्त थे और अपने सवार को लिये-लिये छलाँग लगा सकता था। पश्चिमी एशिया के व्यापारियों के स्वर्गों का उल्लेख कुछ बाद में आरम्भ होता है और यह मिथक ईस्वी सन् की सातवीं-आठवीं

शताब्दी तक बना रहता है। इस बीच बहुत पहले से ही भारत के अपने स्वर्गों की एक बहुत धुंधली-सी याद इस रूप में बनी रहती है कि स्वर्ग उत्तरीय पर्वत-माला के पार कहीं है। ज़ाहिर है कि व्यापार का यह सिलसिला, जिन भी कारणों से हो, टूट चुका था और कम-से-कम पश्चिम एशिया के सन्दर्भ में पहल भारत के हाथ से निकल चुकी थी।

हमारे लिए यहाँ रोचक बात यह है कि मध्येशिया और पामीर का वही क्षेत्र जहाँ आर्यों का मूल या पूर्वतरीन आवास माना जाता रहा, ठीक वे ही क्षेत्र थे जिनमें वैदिक व्यापारियों के अपने अड्डे या स्वर्ग बने हुए थे। कुछ विद्वानों ने इन क्षेत्रों के स्थान, नामों और इनमें प्रचलित भाषा को ध्यान में रखते हुए यह सुझाया है कि आर्यावर्त या आर्यों का मूल आवास आमू दरिया से ले कर गंगा तक था और ये क्रमशः उधर से हट आये। इसके विपरीत कुछ दूसरे अध्येताओं का ख़याल है कि भारत में इनका आगमन कुछ बाद में हुआ है। मूलतः ये बलूचिस्तान से ले कर अफ़ग़ानिस्तान और सोवियत मध्येशिया के क्षेत्र में बसे रहे लगते हैं। हम इन प्रस्तावों को निम्न कारणों अग्राह्य पाते हैं :

1. जिन क्षेत्रों में स्वर्गों की कल्पना की गयी है उनमें किन्हीं जनों का मूल निवास नहीं हो सकता। स्वर्ग की मान्यता के साथ क्षेत्र विशेष की प्रत्येक दृष्टि से विचित्रता सबसे प्रधान कारण रही है और यह इस बात का द्योतक है कि इस क्षेत्र के साथ सम्पर्क होने के बाद भी यह उनके लिए विचित्रताओं से भरा हुआ क्षेत्र ही था। इससे पहले से परिचित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। स्वर्ग-यात्रा के विवरण भी बहुत स्पष्ट हैं, देवता पहले यहीं धरती पर थे, वे यहाँ से स्वर्ग गये, न कि स्वर्ग से धरती पर आये। स्वर्ग के लिए चढ़ाई करनी पड़ती है।
2. इनके निवासियों को अपने से भिन्न किंचित असाधारण और अति-मानव या अपमानव—गन्धर्व, किरात, यक्ष, किन्नर—के रूप में कल्पित किया गया है जो इनको सामाजिक रीति-नीति व व्यवस्था आदि के मामले में भी अलग सिद्ध करता है। यदि यह क्षेत्र पहले इन जनों का निवास रह चुका होता तो इस भिन्नता और विचित्रा का प्रश्न नहीं उठता।
3. जैसा कि सुझाया गया है कि बख्त्री प्राचीन बह्लीक, पामीर बदख्शाँ पुराना कम्बोज, बदख्शाँ पुराना द्वयक्ष, दरवाज प्राचीन द्वारका है। परन्तु इनसे हर मामले में यही प्रकट होता है कि ये वैदिक जनों के लिए सुपरिचित होते हुए भी उनके अपने प्रदेश से दूर और बाहर पड़ने वाले क्षेत्र और स्थान थे। जिस अपनत्व और अभिन्नता से अन्य वैदिक गणों को याद किया गया है उसी से बाह्लीकों और कम्बोजों को नहीं। वे दूरस्थ और

भिन्न क्षेक्ष के लोग हैं।

4. अनार्य जनों में जिस तरह मध्यदेश के पूर्व और दक्षिण के निवासियों— अंग, बंग, कलिंग, आन्ध्र, आदि की गणना की गयी है उसी तरह दरदों की भी।

5. दरद भाषा की अशुद्धता की मात्रा और इसके साथ ही इसके लिए पैशाची का प्रयोग जो वैदिक कालीन आसुरी वाक् का द्योतक है, भी इसी की पुष्टि करता है। ऐसा लगता है कि भारत के साथ क्रमशः गहन सम्पर्क के कारण यहाँ की भाषा का पूरी तरह रूपान्तरण तो हो गया था, पर इसके बावजूद आरम्भ से ही इनको वैदिक भाषा का उच्चारण करने में असाधारण कठिनाई का सामना करना पड़ता था। भाषा को दूषित या म्लेक्षित न करने के विषय में वैदिक साहित्य में जो चेतावनी बार-बार दी गयी है उसका सम्बन्ध भी इस क्षेत्र के लोगों से ही है और आश्चर्य नहीं कि इनको अनास, मृध्रवाच आदि से भी सम्बोधित किया गया हो। म्लेक्ष का प्रयोग तो सम्भवतः इन लोगों के लिए आम हो चला था और इसलिए बाद में इस दिशा से आने वाले किसी भी दल या जत्थे का यह उसी तरह पर्याय बन गया जैसे आगे चलकर यवन शब्द।

6. मध्यदेश की भाषा और परिमण्डल की भाषाओं की छान-बीन करने पर उनसे प्रकट होता है कि इस भाषा का रूपाकार मध्यदेश में निर्धारित होता है और इसके बाद ही इसका अन्यत्र प्रसार होता है।

7. वैदिक साहित्य स्वयं भी इस बात की ही पुष्टि करता है कि इसके प्राचीनतर अंशों की रचना सारस्वत क्षेत्र में या मध्यदेश में हुई थी और इसका पश्चिम में विस्तार बाद में हुआ था।

अतः उक्त प्रस्तावों में हमें कोई सार नहीं दिखायी देता। हम इस पर कुछ भिन्न दृष्टि से अगले अध्याय में भी विचार करेंगे और देखने का प्रयत्न करेंगे कि यह मान्यता कहाँ तक खरी सिद्ध होती है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. तं यत्र देवाः समस्कुर्वन्...सा स्यात् समूला साग्रा कृत्स्नताय यथा स्वयं अतृण्णायां उपहिता भूमिं प्राप्नुयात्। शतब्रा. 7.3.2.12.

2. तिसृभिः कृष्टे च अकृष्टे च वपति।...यत् उ एव सर्वौषधं वपति। एतत् वै देवा संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् सर्वेण भेषजेन अभिषज्यन्...।
शतब्रा. 7.2.4.17-19.

3. ततो देवाः अर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः त एतान् प्रयाजान् ददृशुः तैः अजयन्त तैः ऋतून् संवत्सत्सरं प्राजयन् ऋतुभ्यः संवत्सरात् सपत्नान् अन्तरायन्...। शतब्रा. 1.5.3.3; ते अर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः। श्रमेण ह स्म वै तत् देवा जयन्ति। शतब्रा. 1.6.2.3; तपसा वै लोकं जयन्ति... शतब्रा. 3.4.4.27; अन्नं वै कृषिः एतत् वा अस्मिन् देवा संस्करिष्ययन्तः पुरस्तात् अन्नं अदधुः... शतब्रा. 7.2.2.7.

4. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। यजु. 1.1; यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म। तैब्रा. 3.2.1.4.

5. मर्त्या ह वै अग्रे देवा आसुः। शतब्रा. 11.2.3.6; अर्थात् पहले देवता मर्त्य थे। बाद में वे अमर हो गये और 'अमृतत्वं सर्वं आयुः इति?' तांब्रा. 22. 12.2; 23.12.3; य एव शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति स ह एतत् अमृतं आप्नोति। शतब्रा. 10.2.6.8; इस तरह अमरता शतायु होना ही नहीं है, इसके लिए लम्बी उम्र ही काफ़ी है। पूरी उम्र का भोग करने या बुढ़ापा आने से पहले अकाल मृत्यु से बचे रहना ही अमरत्व है, 'एतत् वै मनुष्यष्य अमृतत्वं यत् सर्वं आयुः इति।' शतब्रा. 9.5.1.10.

6. कर्म कस्मात्, क्रियते इति सतः। नि. 3.1; यज्ञो वै कर्म। शतब्रा. 1.1.2.1; वीर्यं वै कर्म। शतब्रा. 11.5.4.5.

7. धर्मेण सर्वं इदं परिगृहीतम्। तैआ. 10.62.1; वरुणो अस्य प्रजां धर्मेण दाधार। ऐआ. 2.1.7; श्रीः वै धर्मः राज्यं वै धर्मः। जैब्रा. 3.231.

8. नियमानुगतानि धर्म्याणि कर्माणि (व्रतम्)। दर्वैको : अन्नं व्रतम्। तांब्रा. 23.27.2; अन्नं हि व्रतम्। जैब्रा. 2.414.

9. भूमा वै स्वजाताः...भ्रातृव्यस्य वधाय इति। शतब्रा. 1.1.5.7.

10. असुरों के आतंक की कहानियाँ वेदों से लेकर महाकाव्यों तक इस तरह दुहरायी जाती हैं मानो यह आतंक और भय और इससे मुक्ति पाकर शान्ति और व्यवस्था कायम करना वैदिक समाज की सबसे प्रधान समस्या है। 'ते(देवाः) रक्षसेभ्यः आसंगात् बिभयान् चक्रुः।' शतब्रा. 1.1.2.3; 4.1.1.6, आदि।

11. आर्यों या भूस्वामित्व के इच्छुक इस अग्रधर्षी समाज के दबावों के बावजूद असुर बार-बार संगठित होकर प्रतिरोध करते हैं। उनके एक जत्थे के पराजित हो जाने के बाद दूसरा इन जंगलों से कहाँ से प्रकट हो जाता है? इस उग्र प्रतिकार में लगता है मारे गये असुरों के शरीर से निकली हुई रक्त की प्रत्येक बूंद एक मानव आकर ले लेती हो। जैसे वे रक्तबीज हों। 'यत् देवा असुरान् जयन्ति ततः ह स्म एव एतान् पुनः उपतिष्ठन्ति...'शतब्रा. 1.2.4.8

12. ततो असुराः सर्वं पराजयन्त, सर्वस्मात् देवा असुरात् अजयन् सर्वस्मात् सपत्नान् असुरान् निरभजन् । शतब्रा. 1.5.4.11; यह मात्र एक पुस्तकीय सचाई ही नहीं है । हम पाते हैं कि क्रमशः वन्य जनो को बेदख़ल करने के निरन्तर दबाव से इस वर्ग ने उत्तर भारत के समूचे मैदानी भाग को, जिसमें सराहनीय स्तर की खेती-बारी हो सकती है, अपने अधिकार में कर लिया और असुरो के पास अब पठारी और पहाड़ी क्षेत्रों का वही जंगली इलाका रह गया जिसमें उनकी गहरी दिलचस्पी नहीं थी ।

13. वायुपुराण, पूर्व., पृ. 32

14. पहले मनुष्य और देवता एक साथ रहते थे, "उभये ह वा इदं अग्रे सह-आसुः देवाः च मनुष्याः च ।" शतब्रा. 2.3.4.4; जो पहले पैदा हुए या कहें, जिन्होंने यज्ञ के अनुष्ठानों से भू-सम्पदा पर पहले अधिकार किया वे देवता हैं और जिनके ज़िम्मे यह काम बाद में आया, वे जो बाद में पैदा हुए, वे मनुष्य, "द्वौ वै योनी इति ब्रूयात् देवयोनिः अन्यः मनुष्य योनिः अन्यः प्राचीनजनना वै देवाः प्रतीचीनजनना मनुष्याः" । शतब्रा. 7.4.2.40.

15. यथा वै देवानां चरणं तत वा अनु मनुष्याणाम् । शतब्रा. 1.3.1.1.

16. विशः क्षत्रियाय वलिं हरन्ति । शतब्रा. 1.3.2.15; देखें, 4.3.3.6-12 भी ।

17. जब तक देवताओं को उनका हिस्सा न दे दिया जाये तब तक मनुष्य केवल वे ही चीजें खा सकता है जो कृषि से इतर या वन्य साधनों से प्राप्त होती हैं । यह इस पाबन्दी का ही सूचक लगता है कि यदि अपने खाने को कुछ भी बचा न रहे तो भी वे लोग जिन्हें उत्पादन का कार्यभारी बनाया गया है, देव-भाग या देवऋण चुकायेंगे ही । देवऋण यज्ञ द्वारा देव-भाग देकर चुकाया जाता है । देखें. शतब्रा. 1.1.1.7-9; 1.7.2.1.

18. प्रदानात् हि देवाः उपजीवन्ति । शतब्रा. 1.2.5.24.

19. परोक्षकामा हि देवाः त इत् हा सप्त नाना पुरुषान् असृजन्त । शतब्रा. 6.1.1.2; यत् वै मनुष्याणाम् प्रत्यक्षं देवानां परोक्षं यत् मनुष्याणां परोक्षं तत् देवानां प्रत्यक्षम् । तांब्रा. 22.10.3

20. सम्भवतः इस विभाजन का ही अवशेष हम वहाँ पाते हैं, जहाँ विविध देवों के विषय में यह बताया जाता है कि उनको कितने कपाल का पुरोडाश चढ़ाया जाये । देखें, शतब्रा. 1.6.12.8; 4.1.3.10-12; 5.5.2.6, आदि ।
देवों की श्रेष्ठता की इस प्रतिस्पर्धा के विवरण और विवाद अन्यत्र भी आये हैं, यद्यपि इन पर सर्वत्र भाववादी छाप लगी हुई है :
षड् वै देवताः स्वयंभुवः अग्निः वायुः असौ आदित्यः प्राणो अन्नं वाक् ।
ताः श्रेष्ठ्ये व्यवदन्त । अहं श्रेष्ठास्मि । मां श्रियं उपाध्वं इति ।
जै.उ.ब्रा. 8.1-4

21. आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा। तान् इत् समत् अविन्दत् ते चतुर्धा वि अद्रवन् अन्यः अन्यस्य श्रिया अतिष्ठमाना अग्निः वसुभिः सोमः रुद्रैः वरुणः आदित्यैः इन्द्रः मरुद्भिः बृहस्पतिः विश्वेः देवैः इति उ ह एक आहुः एते ह तु एव ते विश्वे देवा ये ते चतुर्धा वि-अद्रवन् तान् विद्रुतान् असुर रक्षसानि अनुव्यव ईयः। ते अविदुः। पापीयांसाः वै भवामः असुर रक्षसानि वै नः अनुव्यव आगुः द्विषद्भ्यः वै रध्यामः हन्त सजानामहा एकस्य श्रियै तिष्ठामहा इति ते इन्द्रस्य श्रिया अतिष्ठन्त तस्मात् आहुः इन्द्रः सर्वा देवता इन्द्र-श्रेष्ठा देवा इति।

शतब्रा. 3.4.2.1-2

22. देवानां उ ह स्म दीक्षितानाम्। यः समित् हारः वा स्वाध्यायं वा विसृजन्ते तं ह स्म इतरस्य एव इतरं रूपेण इतरस्य इतरं असुर रक्षसानि जिघांसन्ति ते ह पापं वदन्त उपसमेयुः इति वै मां जिघांसीः इति अग्निः ह एव तथा न अन्यं उत अग्नि तथा न अन्यः। ते ह ऊचुः। अपि इत्थं त्वां अग्ने अवादिषुः इति न एव अहं अन्यं न मां अन्यः इति। ते अविदुः। अयं वै नः विरक्षः तमो अस्यैव रूपं असाम तेन रक्षांसि अति मोक्ष्यामहे तेन स्वर्गं लोकं समश्नुविष्यामह इति ते अग्नेः एव रूपं अभवन् तेन रक्षांसि अति अमुच्यन्त तेन स्वर्गं लोकं समाश्नुवत। शतब्रा. 3.4.3.6-8.

23. मनो ह वै देवाः मनुष्यस्य जानन्ति। शतब्रा. 2.1.4.1; 3.4.2.6.

24. तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः। शतब्रा. 3.1.1.8; 3.4.6; परोक्षं वै देवाः, 3.1.3.5; 6.1.1.2; 7.4.1.10; परोक्षप्रिय इव हि देवाः भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। गो. पू. 2.21.

25. सर्वे वै देवाः तु इषिमन्तः हरस्विनः। तैब्रा. 3.8.7.3.

26. आनन्दात्मानो ह एव सर्वे देवाः। शतब्रा. 10.3.5.13.

27. छन्दोभिः हि देवाः स्वर्गं लोकं समाश्नुवत्। शतब्रा. 3.9.2.10 आदि।

28. सत्य एव देवा अनृतं मनुष्याः। शतब्रा. 1.1.1.4; 2.17; 3.3.2.2; 9.4.1, आदि।

29. साम्राज्यं वै स्वर्गो लोकः। तांब्रा. 4.6.26.

उत्पादन-कर्म और उत्पादन-स्थल से दूर रहकर अपने स्वामित्व के बल पर ही किसानों से दूर वसूली का ठीक-ठीक विधान क्या था, यह कह सकना कठिन है, परन्तु इसके उदाहरण मेसोपोटामिया और मिस्र आदि से मिलते हैं। अतः हम इसके अस्तित्व के प्रति तो आश्वस्त हो सकते हैं, पर स्वरूप के विषय में नहीं; कारण, यह ज़रूरी नहीं कि मिस्र के फराओ या मेसोपोटामिया के पुरोधा जिन रूपों में काम करते और वसूली कराते रहे हों वही भारत में भी ठीक उसी रूप में प्रचलित रहा हो।

30. ये देवा मनोजाता मनोयुजः दक्षक्रतवः ते नः अवन्तु ते नः पान्तु तेभ्य स्वाहा

इति । शतब्रा. 3.2.1.18.

31. देवा भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तं श्रेयः परं अवाप्स्यथ । गीता 3.11.

32. यज्ञो वै मधुरासघम् । शतब्रा. 3.4.3.14.

33. ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतः निधेयुः विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरो अभवन् । शतब्रा. 3.1.4.3; 3.2.2.2; 3.2.2.10, आदि ।

34. निघण्टु 4. 2 के अनुसार अर्कं अन्न का पर्याय है। निरुक्त 5.4 में अन्य व्याख्यायों के साथ ही इसकी एक व्याख्या 'अर्कं अन्नं भवति अर्चंति भूतानि' की गयी है। स्वर्ग मूलतः इस सु-अर्क या धन-धान्य से पूर्ण या समृद्ध के ही आशय में प्रयुक्त होता रहा लगता है और आगे चलकर इसने एक नया अर्थ ग्रहण कर लिया । इसे तांब्रा. 4.6.24 में साम्राज्य कहा गया है—साम्राज्यं वै स्वर्गो लोकः ।

35. स्वर्गो वै लोकः सधस्थः । शतब्रा. 9.5.1.46. सधस्थ का शाब्दिक अर्थ है—साथ या पास स्थित—सह-स्थ, मिल-जुलकर या समान आसन पर या बगल में बसना या स्थित रहना ।

36. वसोः धाराणां ऐन्द्र नगरम् । गोब्रा. 1.33

37. एकवृत् वै स्वर्गो लोकः । शतब्रा. 13.2.1.5

38. ता वा एताः पंच स्वर्गस्य लोकस्य द्वाराः । अपाद्मः अनुवित्तयो नाम । तपः प्रथमां रक्षति । श्रद्धा द्वितीयम् । सत्यं तृतीयाम् । मनः चतुर्थीम् । चरणं पंचमीम् । तैब्रा. 3.12.4.7; देखें, 3.12.2.9 भी जिसमें क्रमशः आशा, काम, ब्रह्म, यज्ञ, आप, अग्नि और अनुवित्ति को इसके सात द्वारों का रक्षक बताया गया है। इन स्थलों पर इष्टियों को ही स्वर्ग का द्वार माना गया है, अतः द्वारपालों का भी तदनुरूप आध्यात्मीकरण स्वाभाविक ही है ।

39. स्वर्गो वे लोको अभयम् । शतब्रा. 12.8.1.22

40. ऋतेन एव एनं स्वर्गं लोकं गमयन्ति । तांब्रा. 18.2.9 । यह नैतिक पात्रता नगर-द्वारों पर लगे पहरेदारों द्वारा प्रथम दृष्टि में सन्दिग्ध प्रतीत होने वाले व्यक्तियों चोरों, लुटेरों, आदि को रोकने का ही प्रक्षेपण है। अन्यत्र यह हवाला आता है कि स्वर्ग पहुँचने के बाद देवों को सबसे पहले यह चिन्ता हुई कि इसे मनुष्यों के लिए अगम्य या अनभ्यारोह्य कैसे बनाया जाये, ते ह ऊचुः कथं नु इदं मनुष्यैः अनभ्यारोह्यं स्यात् इति । शतब्रा. 3.1.4.3; 3.2.1.2, आदि ।

41. बृहद् वै स्वर्गो लोकः । तैब्रा. 1.2.2.4; अनन्तो असौ लोकः । तांब्रा. 17.12.3; अपरिमितो वै स्वर्गो लोकः । ऐब्रा. 6.23, आदि ।

42. स्वर्ग लोक में सभी लोग नहीं अँट सकते, "असमायी वै स्वर्गो लोकः कश्चित्

वै स्वर्गे लोके समेति इति ।" ऐब्रा. 6.26

43. इदं वा वामदेव्यं यजमानलोकः अमृत लोकः स्वर्गो लोकः । ऐब्रा. 3.46

44. इसके अन्य पहलुओं पर हम आगे विचार करेंगे, पर यहाँ इतना ही उल्लेख काफ़ी है कि इसे प्रायः पर्वतीय चढ़ाई का क्षेत्र बताया गया है और यह चढ़ाई कठिन बतायी गयी है, 'स्वर्गो वै लोको दुरोहणम्', ऐब्रा. 4.20; 'स्वर्गो वै लोको रोहः', शतब्रा. 7.5.2.36, आदि। इसके अतिरिक्त पैदल चलकर मनुष्य स्वर्ग नहीं पहुँच सकता। इसका सही-सही रास्ता घोड़े को मालूम है, या कहें घोड़े पर सवार होकर ही इसकी यात्रा आसानी से तय की जा सकती है, 'न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकं अंजसा वेद अश्वो वै स्वर्गं लोकं अंजसा वेद'।

शतब्रा. 13.2.3.1.

45. स्वर्गं लोकः सरस्वान् । तांब्रा. 16.5.15

46. नव स्वर्गो लोकाः । ऐब्रा. 4.16; दश स्वर्गा लोकाः । गोउब्रा. 6.2

47. चतुः चत्वारिंशत अश्वीनानि सरस्वत्या विनशनात् प्लक्षः प्रास्रवणः तावत् इतः स्वर्गो लोकः सरस्वती-सम्मितेन अध्वना स्वर्गं लोकं यन्ति ।

तांब्रा. 25.10.16

48. वही ।

49. वैदिक इंडेक्स, 2, 60. 'प्लक्ष प्रासवण' ।

50. एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोकः । तैब्रा. 3.12.5.7.

51. सहस्र अश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः । ऐब्रा. 2.17; सहस्र सम्मितो वै स्वर्गो लोकः । शतब्रा. 13.1.3.1.

52. वाजो वै स्वर्गो लोकः । तांब्रा. 18.7.12.

53. जैसा कि 'सरस्वती सम्मितेन अध्वना', तांब्रा. 25.10.16; 'ता वा एताः स्वर्गस्य लोकस्य नावः संपारिण्यः स्वर्गं एव एताभिः लोकं अभिसन्तरन्ति । ऐब्रा. 6.27. आदि से प्रकट होता है ।

54. अग्निः वै स्वर्गस्य लोकस्य अधिपतिः । तैब्रा. 3.8.18.2.

55. तस्य आदित्याः अधिपतयः । तैब्रा. 3.8.18.2.

56. शतब्रा. 12.9.2.8.

57. चार्ल्स रेडमैन, दि राइज़ ऑफ़ सिविलाइज़ेशन, 1978, 30.

58. शतब्रा. 7.5.2.36.

59. ऐब्रा. 4.20.

60. परो वा अस्मात् लोकात् स्वर्गो लोकः । ऐब्रा. 6.30.

61. प्रतिकूलं इव हि इतः स्वर्गो लोकः । तांब्रा. 6.7.10.

62. जयचंद्र नारंग वेदालंकार, 'रिजनल स्ट्रक्चर ऑफ़ इंडिया इन रिलेशन टु लैंग्वेज ऐंड हिस्ट्री', कहेइं, 1958, 33-52.

63. डॉ. वी. एस. पाठक, मौखिक चर्चा; डॉ. एस.पी. गुप्त, आर्कियॉलॉजी ऑफ़ सोवियत सेंट्रल एशिया ऐंड इंडियाज़ बार्डरलैंड्स, 1979, 2, 150; लैंबर्ग-कार्लोव्स्की, 'दि प्रोटो एलामाइट ऑन दि इरैनियन प्लेटो', ऐंटीक्विटी, 52, 1978, 114-20; शशि अस्थाना, प्री-हड़प्पन कल्चर्स ऑफ़ इंडिया ऐंड बार्डरलैंड्स, 185, 238-39, आदि।

अध्याय पाँच

प्रभाव, विस्तार और प्रव्रजन

भारत में कहीं अन्यत्र से आर्यों के आकर बसने की बात निराधार है, पर उस विशाल क्षेत्र में जो भारत से लेकर यूरोप के सीमान्त तक पहुँचता है, एक भाषा और संस्कृति का प्रसार एक अकाट्य तथ्य है। यह प्रसार कैसे सम्भव हुआ ? इसके वाहक कौन थे ? प्रसार का माध्यम क्या था ? इसका समय क्या था और प्रसार में कितना लम्बा समय लगा हो सकता है ? क्या यह सारा प्रसार किसी एक ही केन्द्र से हुआ या प्रसार के क्रम में इसके उपकेन्द्र बनते गये जो आगे के क्षेत्रों में इस प्रसार में सहायक हुए ? वे लोग, जो इस प्रभाव-विस्तार में प्रमुख रूप से सक्रिय थे, अपने लिए किस सम्बोधन का प्रयोग करते थे ? इन विभिन्न प्रश्नों का उत्तर देना इस तथ्य के बावजूद जरूरी है कि वैदिक सभ्यता का विकास हजारों वर्षों के दौरान भारत में ही हुआ था। हर मामले में इन प्रश्नों का बिलकुल सटीक उत्तर दे पाना कठिन हो सकता है, पर विभिन्न स्रोतों से मिलने वाली सूचनाओं के आधार पर हम इनका सन्तोषजनक हल ढूँढ़ने में सफल हो सकते हैं। इस अध्याय में हम इसी का प्रयत्न करेंगे, पर इन प्रश्नों को अलग-अलग उठाने के स्थान पर हम अपना ध्यान मुख्य रूप से प्रसार के क्रम पर रखेंगे और इस क्रम में ही अन्य विचारणीय पक्षों को यथाप्रसंग समेटने का प्रयत्न करेंगे।

2

आर्य और आर्य-बस्तियाँ

पीछे आर्य शब्द पर विचार करते समय हम देख आये हैं कि आर्य शब्द का नृजातीय या भाषाई अर्थ में प्रयोग नहीं होता रहा है, पर इस तथ्य की ओर ध्यान

देने वाले विद्वानों ने भी प्रमादवश इसको जाति और भाषा से जोड़ने की भूल की है। अर्/अल्—चीरना, फाड़ना, चुभना, आहत करना;अर/अल—उक्त क्रियाएँ करने वाला करण या उपकरण; फाल या तीक्ष्णाग्रदण्ड; अर्य —कृषि-सम्पदा के स्वामी, सम्माननीय, आदि से होते हुए विकास के एक अगले चरण पर पहुँच कर मात्र श्रेष्ठ, स्वामी, श्रीमान् के आशय से आर्य शब्द का प्रयोग होने लगा था। डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र भाषावैज्ञानिक मीमांसा के बाद इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि "जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के काल में द्वितीय नागर क्रान्ति एवं वाणिज्य-व्यापार की प्रगति के परिणामस्वरूप वैश्य वर्ग श्रेष्ठी कहलाया उसी प्रकार पूर्ववैदिक युग में कृषि-क्रान्ति के परिणामस्वरूप 'अर्य' तथा 'आर्य' सामाजिक श्रेष्ठता के अधिकारी बने।"[1] इसमें इतनी बात और जोड़ी जा सकती है कि वैदिक काल तक यह शब्द भूस्वामित्व से ऊपर उठकर श्रेष्ठ, स्वामी या व्यापारी के अर्थ में प्रयोग में आने लगा था, यद्यपि इसके समानान्तर ही अन्य अनेक शब्दों की भाँति यह अपने प्राचीन आशय, अर्थात् भूस्वामी के लिए भी प्रयोग में आता रहा लगता है। श्रेष्ठता और स्वामित्व का यह भाव शिष्टता और सभ्यता का भी द्योतक बन गया था और इसी दृष्टि से उसका प्रयोग आर्यजन, शिष्टजन तथा आर्य भाषा या श्रेष्ठ या सुसंस्कृतों की भाषा के लिए भी हुआ।

आर्य शब्द वैदिक काल में मुख्यतः वैदिक व्यापारियों के लिए प्रयोग में आ रहा था। अपने व्यापारिक प्रसार के क्रम में ही ये व्यापारी भारत से बाहर भी गये। यह शब्द, जैसा कि प्रायः दुहराया जाता है, केवल भारत और ईरान तक ही सीमित नहीं रहा। जहाँ भी इन व्यापारियों ने अपना वर्चस्व कायम किया और अपनी बस्तियाँ बसायीं, उन्होंने इनको अपने नाम से जोड़ा। मैक्समूलर के अनुसार इसकी छाया अर्मीनिया (पुराना नाम अर्मिया), मीदिया (जिसके निवासी अपने को 'आरी' कहते थे), काकेशश की एक जाति जो अपने को 'इरोन' कहती थी, थ्रेस के पुराने नाम 'अरिया', जर्मनी के एक कबीले 'आरी', कर्टियस के अनुसार यूनानी 'एरिओतस' और पिक्ते के अनुसार 'आयरिश' और आयर-लैण्ड में पायी जा सकती है।[2] अपने मूल क्षेत्र से यह प्रभाव जितना दूर होता गया, इस नाम का रंग और असर भी उतना ही फीका होता गया है।

यहाँ दो प्रश्न उठाये जा सकते हैं : पहला यह कि, भारत से बाहर अपने को आर्य या आरी कहने वाले जनों में से कुछ क़बीले बाद के कालों में भी पिछड़े स्तर पर क्यों पाये जाते रहे हैं? और दूसरा यह कि, क्या भारत से बाहर जाने वाले सभी लोग केवल वणिक ही थे और उन क्षेत्रों के स्थायी आवासी बन जाने के बाद भी उनकी गतिविधियाँ केवल व्यापार तक ही सीमित रहीं?

इन दोनों प्रश्नों के उत्तर सम्भावना-परक होने को बाध्य हैं, पर हमें यह याद रखना होगा कि एक बार स्वामी और वैश्य या व्यापारी वर्ग के लिए प्रयोग में

आने के बाद यह शब्द उन देशों और क्षत्रों के ऐसे व्यक्तियों के लिए भी उतने ही औचित्य से प्रयुक्त हो सकता था जो या तो व्यापार-तन्त्र से किसी-न-किसी रूप में जुड़े हुए थे या स्थानीय सम्पदा के स्वामी बने बैठे थे, जितने औचित्य से भारत से जाने वाले व्यापारियों के लिए। ट्रेडर, शापकीपर, बिजनेसमैन अंग्रेज़ी के शब्द है, पर इन शब्दों का जो लोग अपने लिए प्रयोग करते हैं उनका अंग्रेज़ होना ज़रूरी नहीं। अपने को आर्य या व्यापारी कहने वाले सभी लोगों की आर्थिक स्थिति और व्यापारिक भूमिका भी एक जैसी नहीं थी। इस बात को समझने के लिए भारतीय बनजारों पर नज़र डाली जा सकती है जो अपने गधों और खच्चरों पर पत्थर, सिल, चक्की, आदि लेकर बेचते-फिरते हैं और खानाबदोशों की जिन्दगी जीते हैं। इनका सम्बन्ध कभी एक बृहद व्यापारिक तन्त्र से रहा हो सकता है, पर एक निश्चित चरण पर इनका स्थिरीकरण हो गया। इसके बावजूद ये अपने को बनजारा या वाणिज्यकर्मी ही कहते हैं और दूसरों के द्वारा भी इसी रूप में पुकारे जाते हैं। यही स्थिति विदेशों में भी रही लगती है। वे लोग जो खानों की खुदाई करके, नदियों की धाराओं, अपने क्षेत्र के जंगलों और पहाड़ों से ऐसी वस्तुओं का संग्रह करके सुदूर व्यापार से जुड़े लोगों के हाथों बेचते या ऐसी वस्तुओं से बदलते थे जिनमें उनकी दिलचस्पी थी, या घोड़ों आदि की बिक्री में लगे थे और इस तरह लाभान्वित हो रहे थे, सम्भवतः अपने को आर्य ही कह रहे थे। चने-चबेने, तम्बाकू-बीड़ी से लेकर हीरे-जवाहरात तक बेचने वाले अपने को दूकानदार और व्यापारी ही कहते हैं। विभिन्न पृथकताओं के बावजूद इन सभी में जो समान तत्व पाया जाता था वह था इनका उस व्यापारिक तन्त्र से किसी-न-किसी रूप में जुड़ा होना और हमारे प्रयोजन से इनकी सबसे बड़ी भूमिका थी उन भाषागत और सांस्कृतिक प्रभावों का अपनी स्थानीय आबादी की जड़ों तक विस्तार, जिन्हें वे प्रधान तन्त्र से अर्जित कर रहे थे।

दूसरी ओर, भारत से बाहर जाने वाले सभी लोग केवल व्यापारी ही नहीं थे। उनके साथ उनकी रक्षा के लिए सैनिकों या रक्षकों का भी एक दल होता था। ऋषियों आदि के उनके साथ जाने की सूचना भी वैदिक साहित्य से मिलती है। इन व्यापारियों में से कुछ ने यदि विदेशों में अपने अड्डे कायम किये तो इनके साथ गये हुए सैनिकों ने भी सम्भवतः आस-पास के क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व कायम किया। हित्तियों के नाम के साथ यह बात स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने हारीत कृष्ण देव के इस प्रस्ताव का उल्लेख किया है कि बारहवीं शताब्दी ई. पू. में मिस्र के राजा रामसेस के साथ हुए युद्ध में उत्तर की ओर से आकर शामिल होने वाले गणों में कुछ आर्य गण भी रहे लगते हैं।[3] दूसरी ओर, ब्राह्मणों का प्रभाव उस सांस्कृतिक प्रसार के अनुरूप ही हो सकता था जिसके वे वाहक थे और स्थानीय आबादी में अपने मत का प्रसार करके

और उसे अपने विश्वासों और रीतियों में यथासम्भव दीक्षित करके ही वे उससे दान और सम्मान प्राप्त कर सकते थे। ऋग्वेद में समूची दुनिया को आर्य बनाने के जो दावे आते हैं उनका सम्बन्ध इन ब्राह्मणों से ही हो सकता है।[4]

यह इतिहास की एकमात्र घटना भी नहीं थी। दक्षिणपूर्व एशिया के साथ व्यापारिक सम्बन्ध कायम करने के बाद भारतीय भाषा और संस्कृति का प्रसार करने और व्यापार के समान्तर ही कुछ महत्वाकांक्षी नेताओं द्वारा स्थानीय प्रभुत्व कायम करने और वहाँ की नदियों, स्थानों, पर्वतों आदि को भारतीय नाम देने के जो प्रयत्न काफ़ी बाद में किये गये, या अरब व्यापारियों के प्रभाव से सिन्ध, गुजरात, केरल, श्रीलंका, मलेशिया आदि के कतिपय केन्द्रों से जैसे इस्लामी प्रभाव एक निश्चित सीमा में फैला और बिलकुल हाल में यूरोपीय व्यापारियों के कारण जैसे उपनिवेशों की स्थापना और उनमें अपनी भाषा और संस्कृति का प्रसार किया गया कुछ वैसी ही बात आर्य या भारतीय व्यापारियों की इस पहल के साथ देखी जा सकती है जो अब तक उपलब्ध उदाहरणों में सबसे पुराना है। यह प्रसार केवल उन्हीं क्षेत्रों में नहीं हुआ जिनमें आज भारोपीय परिवार की कोई भाषा अस्तित्व में हैं, अपितु इससे दूसरे ऐसे क्षेत्र भी प्रभावित हुए जिनसे वैदिक व्यापारियों के सम्पर्क थे। अनेक क्षेत्रों में यह प्रभाव केवल ऊपरी तबके तक ही सीमित रह गया और आगे चलकर इसका नाम-निशान मिट गया। इसका एक उदाहरण तुर्की है, जहाँ से यदि पुरातात्विक अभिलेखों का उद्धार नहीं हुआ होता तो आज हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि वहाँ कभी आर्य-भाषा-भाषी अभिजात वर्ग का अस्तित्व था। कुछ अन्य क्षेत्रों में यह प्रभाव केवल व्यापारिक बस्तियों तक सीमित रहा और स्थानीय बोलियों में भाषा और संस्कृति के कतिपय तत्वों को छोड़कर यहाँ कुछ भी बचा नहीं रह गया।

यह मानना भी एक सरलीकरण ही होगा कि प्रव्रजित होने वाले सभी वैदिक संस्कृत का ही व्यवहार करते थे। भारत में भी यह भाषा अनेक स्थानीय बोलियों के मिश्रण, विलय और मार्जन से एक सार्वदेशिक सम्पर्क भाषा के रूप में ही विकसित और मान्य हुई थी। अपने सामान्य प्रयोग में संस्कृत का व्यवहार करने वाले भी स्थानीय बोलियों का ही व्यवहार करते थे। बाहर जाने वाले लोगों में अपने अंचल से प्रवसित और अपनी भाषा बोलने वालों के निकट पहुँचने की प्रवृत्ति होती है जिसके चलते वे परदेश में भी एक लघु स्वदेश कायम कर लेते हैं। अतः भारत से बाहर की बस्तियों में भी स्थानीय भाषा-द्वीपों के अनुरूप ही वैविध्य बना रहा लगता है, यद्यपि जैसा कि दक्षिणपूर्व एशिया के तथा अन्य उदाहरणों से प्रकट होता है, व्यापक सम्पर्क के लिए संस्कृत का ही प्रयोग होता था जो वैदिक के निकट थी और यही कारण है कि इस बात पर बार-बार बल देने के बाद भी कि भारतीय आर्य गण अलग-अलग बोलियाँ बोलते थे, जब भारत से बाहर की भारोपीय

परिवार की किसी बोली का प्रश्न आता है तो साम्य केवल संस्कृत और वैदिक संस्कृत के ही साथ ढूँढ़ा जाता है जो इस बात का प्रमाण है कि हड़प्पा काल में भी व्यापक सम्पर्क-भाषा के रूप में वैदिक का ही व्यवहार हो रहा था जबकि भारत के ही द्रविड़ और आस्त्रिक भाषा-द्वीपों से जाने वाले व्यापारियों का जिन क्षेत्रों में सघन जमाव हुआ वहाँ, जैसे यूराल-अल्टाई क्षेत्र में, इनका प्रभाव वैदिक से गहरा पड़ा।[5]

3

भारत से पश्चिम-उत्तर के पड़ोसी देशों के सामान्य लक्षण

आर्य भाषाएँ भारत से बाहर केवल पश्चिमोत्तर के देशों में ही बोली जाती हैं। हड़प्पा सभ्यता का सम्पर्क-क्षेत्र भारत से बाहर केवल पश्चिमोत्तर के देशों तक सीमित था। न तो वैदिक साहित्य से, न ही हड़प्पा सभ्यता के भौतिक अवशेषों से यह पता चलता है कि इसके निर्माता पूर्वी और दक्षिणी भारत से सुपरिचित थे। परंतु पश्चिमोत्तर के सीमावर्ती देशों से वैदिक जन अच्छी तरह परिचित थे और हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से प्रकट होता है कि परिपक्व चरण पर पहुँचने से पहले ही हड़प्पा सभ्यता के लोग इन देशों से न केवल सुपरिचित हो चुके थे, अपितु इन क्षेत्रों में उनके अड्डे या उपकेन्द्र भी कायम हो चुके थे।

परन्तु जब हम वैदिक या हड़प्पा काल के पश्चिमोत्तर पड़ोस की बात कर रहे हों तो हमें वर्तमान भारत और पाकिस्तान के मानचित्र को कुछ समय के लिए भुलाते हुए यह तय कर लेना होगा कि तत्कालीन भारत या वैदिक क्षेत्र की व्याप्ति क्या है, और फिर उसी सन्दर्भ में इन पड़ोसी क्षेत्रों का निश्चय करते हुए उनमें प्रसार और प्रभाव की बात की जानी चाहिए। यदि वर्तमान भारत-पाक को लें तो हमारे पश्चिमोत्तर के ये पड़ोसी देश होंगे अफ़ग़ानिस्तान और ईरान। पर वैदिक साहित्य तथा हड़प्पा के अवशेषों से यह बिलकुल स्पष्ट है कि यह सभ्यता मैदानी सभ्यता थी। अपने सटे पड़ोस के पहाड़ी अंचलों में इसके अड्डे तो थे, पर इसका प्रसार नहीं था। अतः प्राचीन परम्परा में जब भी किन्हीं पहाड़ी क्षेत्रों का विवरण आता है, उसमें ऋषियों के आश्रमों और देवताओं के निवास की तो चर्चा आती है, जो सीमित पैमाने पर बसी आर्य बस्तियों का प्रतीक है, पर वहाँ के निवासियों के रूप में नागों, किन्नरों, गन्धर्वों, यक्षों, विद्याधरों और यदाकदा दानवों आदि को ही गिनाया जाता है।[6] दूसरे शब्दों में कहें तो, वैदिक साहित्य और पौराणिक परम्परा दोनों इस बात का निषेध करते हैं कि वैदिक या आर्य-प्रसार पहाड़ी क्षेत्रों में भी था और इनके साथ ही इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि इन

क्षेत्रों में वैदिक उपकेन्द्र कायम थे जिनके वैदिक निवासी संख्या में बहुत कम होने के बावजूद, अपेक्षाकृत निर्विघ्न और शान्तिपूर्वक रह रहे थे और वैदिक रीति से अपना जीवन-निर्वाह कर रहे थे। ठीक इसी तरह के उपकेन्द्रों की पुष्टि हड़प्पा-कालीन वस्तुगत साक्ष्यों से भी होती है।

ऐसी स्थिति में हम यदि वैदिक भारत या हड़प्पाकालीन भारत की बात कर रहे हैं तो हमें वर्तमान काश्मीर घाटी और इसके पहाड़ी अंचलों, हिमांचल तथा पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त व बलूचिस्तान को भी वैदिक या आर्य देश न मानकर पड़ोसी देश ही मानना होगा। भारत की एक देश के रूप में कल्पना और नामकरण दोनों बाद की चीजें हैं।

पौराणिक विवरणों में प्राचीन काल से चली आ रही भौगोलिक जानकारी का अपने समकालीन अनुभवों से अर्जित जानकारी के साथ तालमेल बैठाने की एक जी-तोड़ कोशिश देखने में आती है जिसके कारण अनेक हास्यास्पद भूलें भी हुई हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक सभ्यता का केन्द्र चूंकि इस दौर में पूर्व की ओर खिसक आता है, अतः अब इससे पश्चिम की परम्परा-लब्ध, या यदि महाभारत की शब्दावली में कहें तो शास्त्र-चक्षु से देखी गयी[6क] घटनाओं, चरित्रों और स्थलों को नये केन्द्रों में खिसका दिया जाता है। भ्रान्ति का एक कारण यह भी था कि हिमालय को पौराणिक भूगोल में भारत के ठीक उत्तर में एक सीधी रेखा के रूप में फैला कल्पित किया गया था। अतः इसे पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैला माना गया है।[6ख]

सबसे बड़ी बात यह है कि ऐसे मूल स्थलों और जनों की, जिनसे सम्पर्क कट चुका है, पहचान मिट जाती है और पुराने विवरणों को कल्पना के पुट से चमकाने और भरने के और इनको ठोस रूप, आकार, स्थान और काल में रखने के प्रयत्न में पौराणिक भूगोल प्रायः वायवीय और अविश्वसनीय हो जाता है।[7] शास्त्र-चक्षु से देखे या मात्र किताबी ज्ञान के आधार पर लिखे गये इसी पौराणिक भौगोलिक विवरण में किरातों को प्राग्ज्योतिष के पास, कहें, सुबर्नसिरी (स्वर्ण श्री) और लोहित घाटी के अंकस, डफला, मिरी और अबोर कबीलों के रूप में पहचाना जाता है।[8] पौराणिक विवरणों में एक भूल तो यह की गयी कि पश्चिमोत्तर के पर्वतीय क्षेत्रों के निवासियों के जो विवरण उन्हें वैदिक काल से चली आ रही कृतियों या परम्पराओं से प्राप्त थे उनका सार्वदेशीकरण करते हुए समस्त पर्वतीय निवासियों के लिए उसी किरात, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर शब्दों का प्रयोग इस तरह किया जाने लगा[9] मानो जहाँ एक का निवास है वहीं दूसरे का भी निवास है और जहाँ इनका क्षेत्र या क्षेत्रीय क्रम निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया वहाँ, लगता है, इसे पश्चिम से न शुरू करके पूर्व से शुरू किया जाने लगा जिससे जहाँ क्रम ठीक

था वहाँ भी स्थिति बिलकुल गड़बड़ हो गयी। इस तरह किरात देश जिसकी याद किरथार की पहाड़ियों और कलात प्रदेश के नाम में बनी रह गयी है, वस्तुतः वर्तमान बलूचिस्तान रहा लगता है। प्राग्ज्योतिष या कामरूप के पास कल्पित किरात देश के विषय में भी रोचक बात यह है कि इसके सागर के पड़ोस में स्थित होने की याद बनी रह गयी।[10] वास्तविकता यह है कि नेपाल और भूटान आदि का क्षेत्र और इससे परे का देश बुट/भुट, बोट/भोट के रूप में अभिहित था जो बुटवल, नेपाल के एक क्षेत्र के नाम, भूतान और तिब्बत के लिए प्रयुक्त प्राचीन नाम भोट देश में देखा जा सकता है। किरातों और गन्धर्वों का उल्लेख वैदिक साहित्य में उस काल से ही मिलने लगता है जब उनके पूर्वोत्तर भारत से परिचित होने की कोई सम्भावना नहीं दिखायी देती।[11] इसलिए भी पूर्वकाल से चले आ रहे पहाड़ी क्षेत्रों का अभिज्ञान पश्चिम से पूर्व की ओर को किया जाना चाहिए।

इस तरह किरात देश पूर्ववर्ती कलात रियासत या किरथार से आगे का प्रदेश (बलूचिस्तान का दक्षिणी भाग) हुआ। सिन्धु से उत्तर भूजी से लेकर बटेरा तक का क्षेत्र, स्वात, पंजकौरा, हुंजा, गिलगिट, चितराल, आदि नदियों की घाटियों और पहाड़ी क्षेत्रों, कोहिस्तान, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, उत्तरी बलूचिस्तान और हिन्दूकुश से दक्षिण का अफ़ग़ानिस्तान का पूर्वी भाग दरदों और गन्धर्वों या गन्धारियों के निवास के रूप में विख्यात रहा लगता है जिसकी याद कन्दहार में बनी रह गयी है। सांस्कृतिक विनिमय में भारत ने पश्चिमोत्तर के देशों से जो भी वस्तुएँ या विचार ग्रहण किये उनमें माध्यम के रूप में गन्धार[12] का बहुत अधिक महत्त्व है। भाषाई दृष्टि से मोटे तौर पर यह वह क्षेत्र है जिसमें दरद और पश्तो बोलियाँ बोली जाती हैं। लगता है, इससे सटे पूर्व के पहाड़ी क्षेत्र के निवासी किं-पुरुष या किन्नर नाम से जाने जाते थे जिनके नाम की छाया किन्नौर में आज तक बनी रह गयी है।[13] ऐसा लगता है कि गन्धार प्रदेश से उत्तर का क्षेत्र अनेक नामों से जाना जाता था। सम्भवतः इसी के लिए सुमेरु का प्रयोग होता था। हिन्दूकुश के लिए मन्दर या मन्दराचल शब्द का प्रयोग होता था, पर सम्भव है सुमेर, मेरु और मन्दर एक ही पर्वत के पर्याय रहे हों, या यदि दो पर्वतों के द्योतक रहे हों तो भी इनका प्रयोग अभेदक रूप में प्रायः एक-दूसरे के लिए होता रहा हो और इस दृष्टि से इसमें प्रायः हिन्दूकुश से लेकर पामीर बदख्शाँ तक का पहाड़ी क्षेत्र शामिल हो जाता रहा हो। अली हिन्दूकुश की उत्तरी शृंखला को पौराणिक गन्धमादन मानते हैं।[14]

पामीर से ही यक्षु नाम की एक नदी वंक्षु (ऑक्सस) या आमू दरिया में आ कर मिलती है। ऐसा लगता है कि यह पूरा क्षेत्र (वर्तमान ताजिकिस्तान) यक्षदेश या यक्षों के निवास के रूप में जाना जाता था। बदख्शाँ का प्राचीन नाम द्वयक्ष रहा लगता है।[15] कुछ अध्येताओं के अनुसार पामीर बदख्शाँ का ही एक अन्य नाम

कम्बोज रहा लगता है।[16] पश्चिमी उत्तरी अफ़ग़ानिस्तान कुछ अध्येताओं की दृष्टि में बाह्लीक है, जिसकी धुँधली छाया बल्ख में बची रह गयी है।[17] सम्भवतः मन्दर से उत्तर के दूर-पर्यन्त फैले क्षेत्र को अभेदक रूप में मद्र, उत्तर मद्र या मन्द देश भी कहा जाता था।

किरातों, यक्षों, गन्धर्वों और किन्नरों को उनके विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों से न जोड़कर इन शब्दों का पौराणिक काल में सामान्य पहाड़ी जनों के लिए अस्पष्ट रूप में प्रयोग का एक प्रधान कारण यह भी था कि अपनी अनेक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं के बावजूद पर्वतीय क्षेत्रों की जनजातियों में अनेक ऐसी समानताएँ भी थीं जिनके कारण इनसे सतही परिचय रखने वाले किसी व्यक्ति को इनकी निजी भिन्नताओं को पहचानने में कुछ उलझन पैदा हो सकती थी। उनकी इन समानताओं पर एक दृष्टि डालना इस तथ्य का सही मूल्यांकन करने के लिए भी ज़रूरी है कि वैदिक प्रभाव के कारण इनमें क्या परिवर्तन आया हो सकता है :

1. इन पर्वतीय अंचलों में बसने वाले क़बीलों में यायावर या अर्ध-यायावर क़बीलों का आज तक अस्तित्व बना रहा है। इसका यह अर्थ नहीं कि इनमें स्थायी आबादी और खेती-बारी का निरा अभाव रहा है, पर यायावर या अर्ध-यायावर क़बीलों की संख्या पहले आज की तुलना में अधिक रही लगती है। पौराणिक विवरणों में यद्यपि गन्धर्वों, यक्षों आदि के नगरों और बस्तियों के उल्लेख आते हैं, पर साथ ही यह भी कहा जाता है कि सम्बन्धित क्षेत्र में गन्धर्व, यक्ष, किन्नर व अप्सरा गण विचरण करते थे[18], जो वस्तुस्थिति के अधिक निकट प्रतीत होता है।

2. ये यायावर क़बीले जाड़े के मौसम में ठंड से बचने के लिए पहाड़ों से मैदानी क्षेत्र में उतर आते रहे हैं और अपने परिवार का पालन मेहनत-मज़दूरी से करते रहे हैं और गर्मी आने के साथ फिर वापस पहाड़ों पर चले जाते रहे हैं। इसने इन्हें क्रमशः द्विभाषी बना दिया होगा।

3. साहित्यिक विवरणों तथा अन्य तथ्यों से प्रकट होता है कि ये पहाड़ी क़बीले मूलतः मातृप्रधान थे।[19] रूप रंग की दृष्टि से तो ये अधिक गोरे और सुन्दर थे ही। मातृप्रधान होने के कारण इनका वर्जनामुक्त समाज, सामूहिक क़बीलाई नृत्यों में स्त्रियों-पुरुषों का मुक्त और निर्बन्ध रूप में भाग लेना, साथ-साथ गाना-बजाना, पितृप्रधान वैदिक जनों को निश्चय ही विचित्र लगता रहा होगा जो अपने समाज की स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति बना चुके थे और सम्पत्ति की ही तरह दूसरों से छिपाकर परदे में रखने भी लगे थे। यक्षों, गन्धर्वों और किरातों आदि को इसी कारण कामी[20], विलासी[21], नृत्यगान और संगीत का प्रेमी[22], आदि माना जाता रहा है। मैदानी क्षेत्र में उतरे इन क़बीलों के कारण उभय पक्ष में रक्त का मिश्रण लम्बे समय तक जारी रहा है। वर्जनामुक्तता और अपने सौन्दर्य के कारण इनकी

युवतियाँ यदा-कदा तत्कालीन ऋषियों और राजाओं आदि को भी विचलित करने में समर्थ होती थीं और इन्द्र की प्रेरणा से इस विशेष प्रयोजन से ही स्वर्ग से उतरने वाली और अपना काम पूरा करके पुनः लौट जाने वाली अप्सराओं की कहानियों का जन्म इनके मौसमी संचलनों के कारण हुआ लगता है।

4. भौतिक परिस्थितियों की समानता के कारण बलूचिस्तान से लेकर अफ़ग़ानिस्तान तक के क्षेत्र में खेती-योग्य भूमि के एक-एक चप्पे का उपयोग और इस स्वल्प वर्षा वाले क्षेत्र में, जिसमें वर्षा भी गर्मी में न होकर जाड़े में होती है, जल का सर्वाधिक मितव्ययिता से उपयोग, जल के भण्डारों की हर दृष्टि से सुरक्षा आदि के कारण ही जलधाराओं और सरोवरों पर पहरा देने वाले और अपनी अनुमति के बिना जल का उपयोग करने वालों को दण्डित करने वाले यक्षों और किरातों की कहानियाँ प्रचलित हुई लगती हैं।[23]

5. अपने सीमित साधनों के कारण कृषि-उत्पाद या पशुधन की दृष्टि से ये क्षेत्र कभी बहुत धनी नहीं रहे हैं और आज भी इनके क्षेत्रफल और आबादी के अनुपात को देखते हुए यह सोचना कठिन है कि खेती और पशुधन के कारण ये बहुत अधिक समृद्ध रहे हो सकते हैं। इसके बावजूद गन्धर्वों, यक्षों और किरातों आदि की अकूत सम्पन्नता की कहानियाँ प्रचलित रही हैं। इसका रहस्य इन क्षेत्रों की खनिज सम्पदा रही है, जिसका हड़प्पा काल से बहुत पहले से भारत में आयात हो रहा था। चूँकि यह सारी सम्पदा उस क्षेत्र में थी जिसके ये निवासी थे, अतः इन्हें इसका स्वामी मान लेने में कोई कठिनाई नहीं थी, यद्यपि कहीं इस बात का क्षीण आभास भी नहीं मिलता कि खनन आदि में इनकी भी पहल थी। मुमकिन है, इस क्षेत्रों के कुछ सरदार इन खानों से निकलने वाले द्रव्यों के एवज़ में खनन-कर्मियों से कुछ वसूली करते रहे हों। इसी तरह इन दुर्गम और उपद्रवी क़बीलों से आबाद क्षेत्र में निश्चित दूरियों तक सुरक्षित रास्ता पार कराने के लिए भी वे वसूली करते रहे हो सकते हैं। इस विषय में किसी सन्देह की सम्भावना नहीं दिखायी देती कि इनकी सम्पन्नता के पीछे क्षेत्रीय खनिज सम्पदा का ही हाथ था। इसी सम्पन्नता ने ऋग्वेद के पणियों की निधियों का रूपक खड़ा किया और इसी ने खैबर का अर्धदैवीकरण धनद या कुबेर के रूप में किया। महाभारत के अनुसार मेरु की समस्त सम्पदा पर उशना का एकाधिकार है। वह यहाँ के रत्नों आदि का चौथा भाग कुबेर को देते हैं और कुबेर इसका सोलहवाँ हिस्सा मनुष्यों को देते हैं और शेष का स्वयं उपभोग करते हैं।[24] यद्यपि कोई बात किसी क्षेत्र की समूची आबादी पर लागू नहीं हो सकती, पर अकूत सम्पदा और इसके साथ जुड़ी विलासिता की कहानियों को सूत्रबद्ध करने पर लगता है कि उस दौर में इन क्षेत्रों के सरदारों आदि की स्थिति आज के तेल-उत्पादक देशों के शेखों जैसी ही थी।

इन स्थूल समानताओं को छोड़कर अन्य मामलों में इन सबकी अपनी आर्थिक और सामाजिक भिन्नताएँ तो थीं ही, इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में स्थानीय स्तर पर भी अनेक भिन्नताएं मौजूद रही लगती हैं। किरात, गन्धर्व आदि अतिव्यापी सम्बोधनों के प्रयोग से यह भी नहीं सोचा जा सकता कि इनसे अभिहित क्षेत्रों के उपखण्डों और स्थानों के लिए पृथक् नाम नहीं दिये गये थे। इन नामों में भी उच्चारणगत शिथिलताओं या स्वयं वैदिक क्षेत्र के दो भिन्न अंचलों में प्रचलित उच्चारण के कारण कुछ भिन्नताएँ पायी जा सकती थीं, जैसे किरात और किलात।

4

बलूचिस्तान

बलूचिस्तान का नाम जिस बलूच या बलूची क़बीले के नाम पर पड़ा है उसका प्रवेश दक्षिणी ईरान से बलूचिस्तान के दक्षिणी भाग की ओर से ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में हुआ है और इस दृष्टि से इसे इस क्षेत्र का सबसे नया क़बीला कहा जा सकता है। इन सात-आठ सौ वर्षों के दौरान इसकी भाषा से लेकर रक्त तक का संकरण हुआ है और इसका प्रभाव बलूचिस्तान तक ही सीमित नहीं रहा है अपितु सिन्धु के मैदानी भाग पर भी पड़ा है। बलूचिस्तान में बसे दो अन्य क़बीले कहीं अधिक पुराने हैं। इनमें एक हैं ब्राहुई पहाड़ियों को आबाद करने वाले जन, जिन्हें इसी नाम से पुकारा जाता है और जिनकी भाषा द्रविड़ परिवार की है। दूसरे हैं, पश्तो या पुश्तूभाषी पुश्तून या पख्तून जो अफ़ग़ानिस्तान से लेकर बलूचिस्तान तक फैले हुए हैं। ये ही सम्भवतः इस क्षेत्र के मूल निवासी हैं। इन तीन के अतिरिक्त जाट जो कच्छी के मैदान में पाये जाते हैं, प्रशासनिक दृष्टि से भले बलूचिस्तान में आते हों पर भौगोलिक दृष्टि से नहीं, क्योंकि कच्छी पाकिस्तान के मैदानी भाग में आता है। जैसा कि इन जाटों की भाषा आदि से प्रकट होता है, ये इससे भी पूर्व की ओर से यहाँ जा कर बसे हैं, यद्यपि इनका पंजाब के जाटों से सीधा सम्बन्ध नहीं है। पश्तो, बलूच, जट—ये तीनों भाषाएँ आर्य परिवार की हैं जिनमें विकृति की मात्रा खासी अधिक है।

बलूचिस्तान में उत्तर से दक्षिण तक दर्जनों हड़प्पाकालीन और पूर्वहड़प्पाकालीन स्थल हैं—गुमला, डाबरकोट, लोरा लाई, पेरियानो ग़ुंडाई, रानाग़ुंडाई, क़िले गुलमोहम्मद, मुग़ल ग़ुंडाई, पठानी दम्ब, दम्ब सादात, शाही तम्प, कुल्ली, नाल, सुत्कागेनदोर, आदि। ये हड़प्पा के परिपक्व चरण से पहले से, या सारस्वत चरण से, ही वैदिक व्यापारियों के अड्डे रहे प्रतीत होते हैं और परिपक्व या

हड़प्पा-पूर्व स्थल

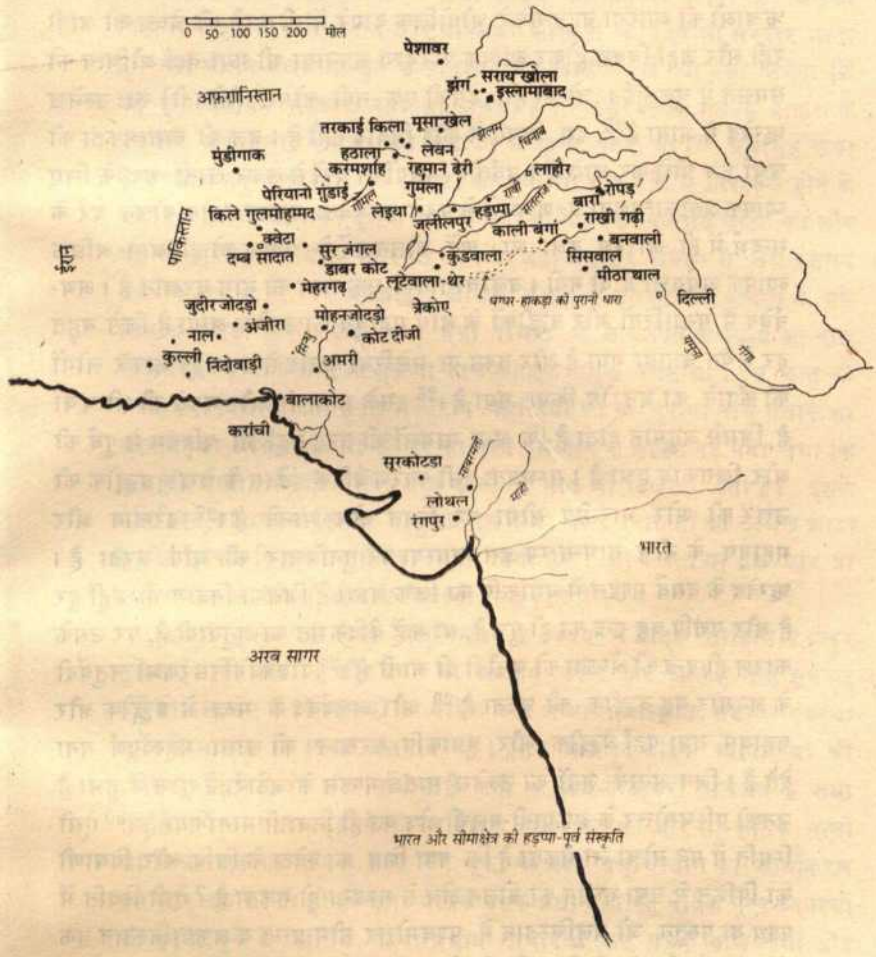

भारत और सौराष्ट्र की हड़प्पा-पूर्व संस्कृति

सैन्धव चरण में भी इनकी स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया दिखायी देता।

वैदिक साहित्य में बलूचिस्तान के साथ गहरे सम्पर्क के अनेक संकेत मिलते हैं, जिनमें से कुछ की ओर तो इसलिए ध्यान नहीं दिया जा सका कि वैदिक ऋचाओं की व्याख्या बहुत संकरे भौगोलिक दायरे में ही करने की चेष्टा की जाती रही और जहाँ विवश होकर व्यापक परिदृश्य अपनाया भी गया वहाँ औचित्य को समझने में चूक हुई। जो भी हो, इसकी एक नदी गोमल (गोमती) का उल्लेख ऋग्वेद में आया है[25], इस विषय में कोई विवाद नहीं है। वल की रूपात्मकता की चर्चा हम पीछे कर आये हैं। पर्वतीय मार्गों या दर्रों से लेकर खानों तक के लिए व्यापक प्रतीकात्मकता ग्रहण करने से पहले सम्भवतः इसका प्रयोग बोलन दर्रे के सन्दर्भ में ही आरम्भ हुआ था। कहें, बोलन दर्रे के प्रतीक को ही आगे अधिक व्यापक अर्थवत्ता दे दी गयी। बलूचिस्तान के एक स्थल का नाम बरखान है। अथर्ववेद में गन्धारियों और बह्लीकों के साथ महावृष का उल्लेख आया है जिसे बहुत दूर स्थित बताया गया है और तक्म या मलेरिया बुखार से उधर ही जाकर लोगों को कँपाने का अनुरोध किया गया है।[26] इसके साथ अंग और मगध की भी चर्चा है, जिससे अनुमान होता है कि अन्य मामलों की तरह यहाँ भी पश्चिम से पूर्व की ओर खिसकाव हुआ है। सम्भवतः इसी कारण वैदिक इंडेक्स के लेखक बह्लीक को उत्तर की ओर भारतीय सीमा पर स्थित क्षेत्र मानते हैं।[27] बरखान और महावृष के बीच नाम-साम्य इस समस्या पर पुनर्विचार की माँग करता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में वृषाकपि का जिक्र आया है जिसका निवास भी कहीं दूर है और यद्यपि वह इन्द्र का ही पुत्र है, या कहें वैदिक मत का अनुयायी है, पर उसके कारण ही इन्द्र की श्रेष्ठता को चुनौती दी जाती है।[28] पंडित गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी के अनुसार यह बह्लीक की घटना है[29] और अथर्ववेद के मन्त्र में बह्लीक और महावृष तथा यहाँ बह्लीक और वृषाकपि बरखान को खासा महत्वपूर्ण बना देते हैं। जिन अनार्य जनों का उल्लेख सातवें मण्डल के अठारहवें सूक्त में हुआ है उनको पश्चिमोत्तर के अफ़ग़ानी-बलूची क्षेत्र का ही निवासी माना गया है।[30] ऐसी स्थिति में यह सोचा जा सकता है कि क्या शिव का क्वेटा के सिबि और विषाणी का पिशिन से तथा भलान का बोलन क्षेत्र से सम्बन्ध हो सकता है? ऐसी स्थिति में पक्थ या पख्तून जो बलूचिस्तान से पश्चमोत्तर सीमाप्रान्त व अफ़ग़ानिस्तान तक फैले हैं, इस क्षेत्र के ही निवासी रहे हो सकते हैं और अलि क़बीले को भी इन्हीं की पड़ोस में रखा जा सकता है। इन सभी को सिबि-बोलन-लोरा-पिशिन वाले एक ही यात्रा-पथ और इसके पड़ोस से जोड़ने पर दासराज्ञ युद्ध की प्रकृति किंचित् अधिक स्पष्ट हो जाती है। यहाँ यह याद दिलाना उचित होगा कि परुष्णी जिसकी धारा में सुदास और उनके बेड़े को विरोधियों का सामना करना पड़ा था, जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, एक पहाड़ी नदी थी और इसकी पहचान विवादास्पद

है।[31] यदि यह कच्छी क्षेत्र की ही कोई नदी रही हो और यह घटना इसी क्षेत्र से गुजरते हुए हुई हो तो इसके विभिन्न सूत्र अधिक सुसंगत प्रतीत होंगे।

आठवें मण्डल में एक दानी राजा बल्बूथ का उल्लेख आया है, जिसको विद्वानों ने एक स्वर से अनार्य और पश्चिमी सीमान्त का निवासी सरदार माना है। वल-बोलन-भलान-बल्बूथ के सादृश्यों को ध्यान में रखें तो ऐसा लगेगा कि यह इस क्षेत्र का सरदार रहा हो सकता है।[32] इसी तरह शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शकुन्तला ने भरत को नाड़पित में जन्म दिया था।[33] प्रचलित कथा के अनुसार शकुन्तला स्वयं एक अप्सरा की पुत्री थी और पति से तिरस्कृत होने के बाद इसे उसकी माँ अपने देश में उठा ले गयी थी जो एक पर्वतीय घाटी का और वह भी पश्चिम की दिशा में स्थित क्षेत्र था जहाँ देवासुर संग्राम से लौटते समय पर्वतीय क्षेत्र में ही, पर अपेक्षाकृत अधिक ऊँचाई से उतरने पर, दुष्यन्त ने उसे सिंह से क्रीड़ा करते देखा था। ऐसी स्थिति में नाड़-पित के पूर्वार्ध का नाल से अभेद दिखायी देता है जो हड़प्पा काल का एक प्रमुख स्थल था। इस बात की सम्भावना दिखायी देती है कि मकारान पहाड़ियों का ही पुराना नाम मैनाक था और मेनका और शकुन्तला की माँ का नाम इस क्षेत्र के कारण पड़ गया जैसा कि गन्धारी, माद्री, कैकयी आदि अन्य नामों के साथ भी दिखायी देता है। इसके अतिरिक्त, ब्राह्मणों में किरात-आकुली नाम के दो असुर पुरोहितों का उल्लेख आया है और इनको किरात जाति का माना गया है[34], जो कलात या किरथार या बलूचिस्तान के दक्षिणी क्षेत्र के निवासी सिद्ध होते हैं।[34क]

इस तरह हम पाते हैं कि बलूचिस्तान के विषय में वैदिक साहित्य में प्रचुर सूचनाएँ पायी जाती हैं और इनसे जो निष्कर्ष उभर कर आते हैं उन्हें सूत्रबद्ध करें तो इस क्षेत्र के निवासियों का वैदिक जनों से भाषा, संस्कृति, समाज-व्यवस्था आदि के मामले में स्पष्ट अलगाव था। इसके बावजूद वैदिक व्यापारियों की आर्थिक गतिविधियों और क़बीलाई जनों के अर्ध-यायावरी संचलन के तथा इस क्षेत्र में स्थापित अड्डों के कारण वैदिक काल तक रक्त और सांस्कृतिक तत्वों का मिश्रण एक सामाजिक तथ्य बन चुका था और बलूचिस्तान का आर्यीकरण इस स्तर तक का तो हो ही चला था कि इसके प्रधान व्यक्ति वैदिक मूल्य-व्यवस्था को अपना चुके थे। अधिक गहरा प्रभाव यात्रापथों कर पड़ने वाले क्षेत्रों और स्थलों पर पड़ा लगता है, पर लगता है यहाँ भी पूरा अभेद क़ायम नहीं हुआ था। यह रोचक बात है कि अस्थायी या अर्ध-स्थायी जीवन-पद्धति अपनाने वालों में अपनी भाषा और रीति-नीति को लेकर अधिक आग्रह पाया जाता है और उन पर वैदिक प्रभाव अपेक्षाकृत नगण्य रहा। इसकी एक मिसाल ब्राहुई जन हैं जो हज़ारों वर्षों से प्रति वर्ष जाड़े के दिनों में मैदानी क्षेत्र में उतरते चले आये हैं, पर इसके बावजूद उन की बोली आज तक अपनी अलग रंगत बनाये हुई है।

भाषा और संस्कृति के मामले में वैदिक प्रभाव न तो आमूल परिवर्तनकारी था, न ही इस क्षेत्र की बोलियों की सहायता से हम प्राचीन आर्य-भाषा को समझने में सहायता पा सकते हैं, यद्यपि अनेक वैदिक प्रयोग जो अन्यत्र लुप्त हो चुके हैं यहाँ की बोलियों में जीवित हो सकते हैं। संस्कृतीकरण का समूचा काम केवल वैदिक काल तक सीमित नहीं था। यह बाद में भी चलता रहा था।

यदि मेहरगढ़ को किसी बात का सूचक माना जा सकता है तो भारतीय मूलभूमि में छठी सहस्राब्दी में ही आर्थिक गतिविधियों ने एक विशिष्ट चरित्र ग्रहण कर लिया था और सुदूर व्यापार का आरम्भ हो चुका था। प्राग्वैदिक प्रभाव अपने निकटवर्ती क्षेत्रों में, क्षीण और अलक्ष्य रूप में ही सही, इसके आस-पास आरम्भ हो चुका रहा होगा। उर्वशी-पुरूरवा, वसिष्ठ और अगस्त्य आदि की कथाएँ वैदिक काल तक जैसी रंगत पा चुकी थीं उसे देखते हुए लगता है कि ये इस समाज में शताब्दियों, सम्भव है सहस्राब्दियों पहले से चली आ रही थीं।

आर्थिक दृष्टि से किरातों की स्थिति यक्षों और गन्धर्वों से हीन दिखायी देती है और अकसर इनकी तुलना शूद्रों से की गयी है, पर इसके बावजूद यात्रा-पथों पर एकाधिकार रखने वाले कतिपय सरदारों के पास अकूत धन संचित रहा हो सकता है और वे अपने समय के महाजनों से प्रतिस्पर्धा करते रहे हो सकते हैं। इनकी असाधारण सम्पन्नता का एक कारण यह रहा हो सकता है कि अपने क्षेत्रों से व्यापारिक सार्थों को निरापद पहुँचाने का भी ये ठेका लेते रहे होंगे और सुदास की परेशानी का एक प्रधान कारण यह रहा हो सकता है कि सम्भव है, अपनी सफलता के दौरान और विशाल सार्थों के भरोसे उसने इनकी सहायता लेने से और इनको इनका प्राप्य भाग देने से इन्कार किया हो।

5

अफ़ग़ानिस्तान

अपने वर्तमान रूप में अफ़ग़ानिस्तान आज से केवल दो सौ वर्ष पूर्व अहमद शाह के द्वारा एक अखण्ड राजनीतिक इकाई के रूप में गठित हुआ, यद्यपि इसकी भी पूर्वी पट्टी अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ान युद्धों के दौरान हड़प कर अपने साम्राज्य में शामिल कर ली थी जो आज पाकिस्तान का पश्मोत्तर सीमाप्रान्त है। इससे पहले अफ़ग़ानिस्तान अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था जिनमें से कुछ ने जब-तब शक्तिशाली रूप लेने के बाद इस देश की वर्तमान सीमाओं से भी बहुत आगे बढ़कर विशाल साम्राज्यों की स्थापना की थी। अतः इसकी वर्तमाम भौगोलिक सीमाओं के अनुसार न तो हम प्राचीन भौगोलिक क्षेत्रों का कोई संकेत पा सकते हैं, न ही इसकी वर्तमान नृजातीय और भाषाई संरचना ही, जो इस दौरान आये

अनेकानेक विजातीय तत्वों—मंगोल, तुर्क, ईरानी, अरबी, आदि—से प्रभावित हुई है, हमें इसके इतिहास को समझने में बहुत अधिक सहायता दे सकती है। इससे अधिक उपयुक्त होगा, हिन्दूकुश को एक विभाजन रेखा मानकर इसके उत्तरी और दक्षिणी भागों पर और इनके भी पूर्वी और पश्चिमी उपविभाग करते हुए चर्चा करना, पर यहाँ भी हमें अफ़ग़ानिस्तान की वर्तमान सीमाओं में कुछ फेर-बदल करना ज़रूरी हो सकता है और इसके बावजूद इसके भीतर भी अनेक उपविभाग करने या एक ही क्षेत्र की शिनाख्त एकाधिक रूपों में करने के लिए तैयार रहना होगा।

उदाहरण के लिए, इसके दक्षिणी-पूर्वी भाग में वर्तमान काफिरिस्तान से लेकर भारत पाक के चितराल, यासीन, पन्याल, गिलगिट घाटी, हुंजा, नागर, अस्तर घाटी, भूजी से लेकर बटेरा तक की सिन्धु घाटी, पंजकौरा नदी की ऊपरी घाटी, स्वात घाटी या कोहिस्तान को शामिल किया जा सकता है, जिसमें दर्द बोलियाँ बोली जाती हैं। इसी तरह उत्तरी अफ़ग़ानिस्तान का बदख्शाँ(प्राचीन द्वयक्ष) पर विचार करते समय इसे मध्येशिया के साथ रखना अधिक सुविधाजन का हो सकता है।

अफ़ग़ानिस्तान का एक पुराना नाम आर्याना रहा है।[35] वैदिक स्वर्गों की चर्चा करते हुए हम यह देख आये हैं कि ये ऐसे विदेशी केन्द्र थे जिनमें सम्भवतः भारतीय व्यापारियों का प्राधान्य था। इनके कारण वैदिक काल में भी यह देव-लोक बन गया था और इसकी यात्रा पर निकलने वाली समितियों या सार्थों के लिए देवयान का प्रयोग होता रहा लगता है।[35क] हिन्दूकुश क्षेत्र में आज भी इसकी याद बनी रह गयी है। देव-यक्ष-गन्धर्व-सेवित स्वर्ग की विलासिताओं में लिप्त इन्द्र और उनके कोशाध्यक्ष कुबेर (खैबर) को पहचानना कठिन नहीं है। अफ़ग़ानिस्तान के एक प्रदेश का नाम नूरिस्तान है। ऐसा लगता है यह वैदिकों का गन्धर्वलोक और सूर्यलोक है और इसी को पौराणिक विवरणों में उत्तरज्योतिष (महा. 2.29.10) कहा जाता था। नूरिस्तान इसी का अनुवाद प्रतीत होता है। इस उत्तरज्योतिष के सादृश्य पर दिये गये नाम प्राग्ज्योतिष ने किरातों आदि की स्थिति ही उलट दी।

सम्भव है, पश्चिमी परम्परा में भी स्वर्ग की रूपरेखा तैयार करने में अफ़ग़ानिस्तान का हाथ रहा हो और चार शाखाओं में बँटकर चारों दिशाओं में बहने वाली स्वर्ग की नदी का सम्बन्ध यहाँ की नदियों—कोकचा, काबुल, हेलमन्द ओर हारीरुद—से और स्वर्ग के उद्यान का इन्द्र कुन से हो। ईश्वर द्वारा स्वर्ग में प्रवेश करने से मनुष्यों को विरत करने के लिए स्वर्ग के उद्यान ईदन के पूर्व की ओर एक लहकती हुई तलवार खड़ी करने में अफ़ग़ानिस्तान के पूर्वी छोर पर उत्तर दक्षिण की पर्वतमाला—सुलेमान व किरथार—का हाथ हो सकता है।

वैदिक विवरणों की रूपात्मकता और अमूर्तता के कारण अफ़ग़ानिस्तान के स्थानों की एक क्षीण झलक ही इनमें पायी जा सकती है। दाशराज्ञ युद्ध पर विचार करने वाले अधिकारी विद्वान यह मानते रहे हैं कि इसके पाँच अनार्य जन अफ़ग़ानिस्तान के रहे हो सकते हैं। हम यह सुझाव रख आये हैं कि इनका सम्बन्ध सिबि-बोलन-पिशी मार्ग के निकटस्थ बलूची क़बीलों से हो सकता है। काबुल और कुर्रम ऋग्वैदिक कुभा और क्रुमु हैं[36], इस विषय में सभी विद्वान एकमत हैं। ऋग्वेद में भारत के बाहर के उपद्रवी क़बीलों को शम्बर, वृत्र आदि के रूपकों में पेश किया गया है, अतः उनकी विशिष्ट पहचान कठिन है; पर गन्धर्वों के उल्लेख बहुत स्पष्ट हैं और चूँकि ऋग्वेद में किरातों, किन्नरों, आदि के पृथक उल्लेख नहीं हैं इसलिए ऐसा लगता है कि गन्धर्व शब्द का प्रयोग सीमावर्ती पहाड़ी क्षेत्रों के निवासियों के लिए सामान्य रूप से किया गया है।[37]

शतपथ ब्राह्मण में गन्धर्वों को यवमत्, उद्दालवत् और अन्तर्वान्[38], अर्थात् कृषि, पशुधन और खनिज सम्पदा के मामले में सम्पन्न[39] कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि नदियों और पहाड़ों की घाटियों में जहाँ भूमि खेती के उपयुक्त थी, वे अच्छी खेती भी कर लेते थे। इतना ही नहीं, चूँकि इन क्षेत्रों में भी खेती-बारी करना काफ़ी सावधानी और कौशल के बल पर ही सम्भव था, अतः इस मामले में उनके कुछ अनुभव दूसरों के लिए भी मूल्यवान थे। उक्त विशेषणों का जहाँ प्रयोग हुआ है वहीं यह उल्लेख आया है कि आरम्भ में यज्ञ-सम्पादन में देवों से जब कुछ भूलें हुईं तो इनकी ओर उनका ध्यान गन्धर्वों ने दिलाया। यह वस्तुतः कृषि-यज्ञ से ही सम्बन्धित लगता है।

इसी तरह पुराणों में मिलने वाला एक विवरण, जो भी अति प्राचीनकाल से ही सम्बन्ध रखता है, बहुत उपयोगी है। इसके अनुसार पृथु वैन्य ने मेरु को बछड़ा बनाकर धरती का उस समय दोहन किया जब सारी औषधियाँ नष्ट हो गयी थीं और इस तरह कृषि-धान्यों के बीज प्राप्त किये।[40] कुछ अध्येता यह मानते हैं कि कृषि का आविर्भाव अफ़ग़ानिस्तान में ही हुआ, जहाँ से इसका पूर्व और पश्चिम में प्रसार हुआ। ऐसी स्थिति में इस कथा का क्या अर्थ लेना ठीक होगा, यह तय करना मुश्किल है। इसे कृषि की आदिम प्रेरणा माना जा सकता है; अकाल की किसी लम्बी विभीषिका के बाद अफ़ग़ानिस्तान से कृषि-बीजों का संग्रह करने का प्रयत्न भी कहा जा सकता है और कृषि के आदिम चरण में अफ़ग़ानिस्तान में उपजने वाले वन्य धान्यों को पहली बार प्राप्त करके वैदिकों के पूर्वजों द्वारा कृषि की दिशा में नव-प्रवर्तन भी कहा जा सकता है। परन्तु दो बातें बिलकुल स्पष्ट हैं : इनमें से एक यह कि इस कथा का सम्बन्ध अफ़ग़ानिस्तान से ही है और दूसरे पृथु वैन्य उस क्षेत्र के निवासी नहीं थे, अन्यथा अपने निवास-क्षेत्र में ही उगने वाले बीजों के लिए न तो यह कहा जाता कि धरती ने सभी धान्यों को छिपा लिया था, न ही मेरु को बछड़ा

बनाकर इसे दूहने की चर्चा आती। धरती से प्रार्थना करके इसे प्राप्त करना ही पर्याप्त था, यद्यपि धान्यों के वहीं उपलब्ध होने की स्थिति में प्रार्थना की भी बात अर्थ नहीं रखती। एक तीसरी बात भी स्वत: स्पष्ट है और वह यह कि पृथु वैन्य की कथा हड़प्पा या वैदिक काल से हज़ारों वर्ष पहले की बात है; कारण, प्राचीनतम वैदिक साहित्य से और हड़प्पा-पूर्व के चरण से भारत में उन्नत कृषि के प्रमाण पाये जाते हैं।

दूसरे शब्दों में कहें तो उक्त विवरण को इस बात का प्रमाण माना जा सकता है कि अफ़ग़ानिस्तान और भारत के बीच कृषि के आरम्भिक चरण से ही सम्पर्क बना हुआ था, परन्तु यह सम्पर्क इससे भी काफ़ी पीछे जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि पशुचारण काल में भी ये दोनों क्षेत्र एक-दूसरे से सम्पर्क बनाये हुए थे। उदाहरण के लिए, जैसा कि हम पीछे देख आये हैं, वैदिक जनों को भेड़ सम्भवत: उत्तर से या गन्धार से ही प्राप्त हुई थी[41], यद्यपि यही बात बकरी के विषय में सच नहीं है।[42] ठीक इसी तरह घोड़े की उम्दा नस्ल का परिचय उन्होंने गन्धर्वों के माध्यम से ही पाया था, यद्यपि जैसा कि उपलब्ध विवरणों से ध्वनित होता है, सवारी के लिए घोड़े का प्रयोग सबसे पहले वैदिकों के पूर्वजों द्वारा किया गया था।[43]

परन्तु वैदिक काल से या कहें, परिपक्व हड़प्पा काल से पहले तक सम्बन्धों की प्रकृति कुछ ऐसी थी जिसमें पारस्परिक सम्पर्क के बावजूद इसमें गहनता नहीं आ पायी थी। यह माना जा सकता है कि अपनी सर्दियाँ बिताने के लिए मैदानी क्षेत्र में उतरने वाले अफ़ग़ानी विभिन्न रूपों में मैदानी जनों से प्रभावित होते रहे होंगे। वे कुछ दूर तक दुभाषी भी बन चुके रहे होंगे। पर ब्राहुई के उदाहरण से हम देख आये हैं कि अपने सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को बनाये रखने की चिन्ता यायावर क़बीलों में कितनी प्रबल रही हैं। अत: हड़प्पा काल में खनिज धातुओं और पत्थरों तथा अन्य दुर्लभ वस्तुओं की खोज और इन पर एकाधिकार के क्रम में जो तीखी घुसपैठ भारत की ओर से हुई और इसके कारण जो अड्डे और बस्तियाँ बसनी शुरू हुई उन्हें ही यहाँ के भाषिक और सांस्कृतिक रूपान्तरण के लिए जिम्मेदार माना जा सकता है।[44]

सामाजिक रूपान्तरण में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन, कम-से-कम स्थायी बस्तियाँ बसा कर रहने वालों के मामले में, समाज व्यवस्था का क्रमश: पितृप्रधान होते जाना है, पर यह प्रक्रिया न तो वैदिक काल में आरम्भ हुई, न ही पूरी हो गयी। देवशास्त्र के मामले में भी यहाँ के विभिन्न क़बीलों ने वैदिक मान्यताओं को अपने पूर्वप्रचलित विश्वासों में आत्मसात् किया; समग्रत: और समभाव से ग्रहण नहीं किया।

अफ़ग़ानिस्तान के हिन्दूकुश क्षेत्र में बसने वाले काफिरों में प्रचलित रीतियों और विश्वासों को यद्यपि वैदिक रीतियों और विश्वासों से अभिन्न नहीं माना जा

सकता, पर इसके बावजूद यह स्पष्ट है कि यहाँ के क़बीलाई जनों ने वैदिक प्रभाव काफ़ी दूर तक आत्मसात् किया है। वामा जन ईश्वर को इन्द्र कहते हैं और, "एक वामा गाँव ऐसा है जिसका नाम ही इन्द्र कुन है, जिसका शाब्दिक अर्थ है इन्द्र का उद्यान। इन्द्र को सोमरस से प्रेम था और उनके उद्यान में पत्थर का एक बड़ा पात्र बना है जिसमें अंगूर का रस निकाला जाता था।"[45]

इसके अतिरिक्त "काफिर अपने देवताओं के लिए सुरा तैयार करते हैं और उनकी प्रशंसा में स्तुति-गान करते हैं। गाने के साथ जो वाद्य बजाते हैं उसे वाज (वीणा), सारनी (सारंगी) और ओर्बा कहा जाता है। पशशी (पशुपति ?) देवता के साथ एक विशेष गायन का सम्बन्ध है जिसे पशशी नट कहा जाता है। यह सदा नाच के साथ गाया जाता है।"[45क] काफिर अपने देवताओं और पितरों की मूर्तियाँ बनाते हैं। वे इन मूर्तियों को मन्दिरों में स्थापित करते हैं, इनके पर्व मनाते हैं और इनके प्रति गहरा आदरभाव प्रकट करते हैं। इस तरह की बहुत-सी मूर्तियाँ प्रत्येक गाँव में पायी जाती हैं और प्रत्येक गाँव की मूर्तियाँ अपने खास ढंग की होती हैं। अनीसी अपने देवता को इम्र कहते हैं, जो इन्द्र का अपभ्रंश है, और इन्होंने इसकी एक प्रतिमा बना रखी है जो घड़े जैसी है। ये प्रति वर्ष उसे बलि चढ़ाते हैं। मूर्ति के चारों ओर 2000 गायें और बकरियाँ जुटायी जाती हैं और उनका वध करने से पहले उन पर पानी का छिड़काव किया जाता है।[45ख]

यह इन्द्र का मेघ-विदारक, जल-वर्षक या असुर-संहारक रूप नहीं है, अपितु यक्षों, किन्नरों, गन्धर्वों से घिरे, विलासिता में रत, स्वर्ग का सुख लूटने वाले इन्द्र का वह रूप है जो इन क्षेत्रों के व्यापारिक अड्डों पर एकाधिकार जमा कर बैठने वाले प्रधान श्रेष्ठियों की अनुकृति पर गढ़ा गया है और जिसका आभास ऋग्वेद के दसवें मण्डल के इन्द्राणी सूक्त में मिलने लगता है और जिसके कारण ही इन्द्र का इसके बाद अधःपतन होता है और यह सर्वोपरि देवता न रहकर एक सीमित लोक में, जो अपने चित्रित रूप में एक नगर से अधिक बड़े क्षेत्र का दावेदार नहीं सिद्ध होता, विलास करने वाले देवता बनकर रह जाते हैं। उपेन्द्र या इन्द्र से गौण स्तर का देवता विष्णु रक्षा, जन-कल्याण और असुरों या आततायियों के संहार का वह भार ग्रहण कर लेता है जिसके लिए वैदिक काल में इन्द्र को स्मरण किया जाता था।

अफ़ग़ानिस्तान का प्राचीन नाम आर्याना ही नहीं, इसके अनेक भौगोलिक नामों—अर्-ग़न्दाब, अर्-ग़-स्तान, अर्-कोशिया के साथ अर्-पूर्वपद भी इस क्षेत्र के आर्यीकरण की कहानी कहता है और इस बात का संकेत करता है कि इसका आर्याना नाम इस पूरे देश को आर्यों द्वारा आबाद किये जाने के कारण नहीं पड़ा था, अपितु आर्यों या व्यापारियों की बस्तियों का नाम ही अपने अतिव्यापी रूप में एक विशाल क्षेत्र के लिए प्रयोग में आने लगा, यद्यपि आज यह सुनिश्चित करना

कठिन है कि आर्याना क्षेत्र की व्यापकता या सीमा ठीक-ठीक क्या थी। इस क्षेत्र के सैकड़ों छोटे-बड़े स्थान-नामों के संस्कृत-पूर्व रूपों को भी याद किया जा सकता है, यथा, दरवाज (द्वारका), गोनरिद (गोमनुष्य), मुर्ग़ाब (कपोतक), कुनार (क्रौंच), काला खम्ब (कूट कम्ब), कबादियान(कृष्णपाद), मेद्य मिजकूट (मध्यमाचल कूट), सरेख्स (सुरेचक), सरवन (श्रवण), केतुमाल (बैक्ट्रिया), हरौती (हिरण्यवती), कुश्क (कुशद्वीप), कोक़का (कोकनद), रामगुल, मण्डल, तरनक, रंगी, हेरात (हरिवर्ष), आदि।[46] अफ़ग़ानिस्तान में आर्यीकरण का यह क्रम इतना सफल तो रहा ही कि ईस्वी सन् के पहले से ही हिन्दूकुश से इस ओर के भाग को लगभग भारत का ही हिस्सा माना जाने लगा था जिसकी छाया हिन्दकोह या हिन्दूकुश के नाम में भी बनी हुई है।[47] अधिकांश नामों का आज फ़ारसीकरण हो चुका है और इनके पूर्ववर्ती नामों को पहचानना कठिन है।

पुराणों और महाकाव्यों के अनुसार विश्वावसु गन्धर्वों के एक पड़ोसी हाहा हूहू कहे जाते थे। हा-हा हू-हू का अर्थ हुआ गूँ-गा अर्थात् अस्पष्ट भाषा बोलने वाले। ऋग्वेद में जिन लोगों को अनास—बिना मुँह के या मुखहीन, अवाच—बेज़बान, मृध्रवाच—भ्रष्ट या अस्पष्ट उच्चारण करने वाले, वध्रिवाच—तोड़-मरोड़कर उच्चारण करने वाले; ग्रथी—उलझी या अस्पष्ट ज़बान बोलने वाले, तथा बाद के कालों में जिन्हें म्लेक्ष या दूषित भाषा बोलने वाले लोगों के रूप में याद किया जाता रहा है उनका सम्बन्ध इसी दिशा के और मुख्यतः इसी क्षेत्र के लोगों से था। ब्राह्मणों में जिन लोगों को भाषा को दूषित करने या र का ल के रूप में और सम्भवतः इसी तरह अन्य वर्णों का कुछ भिन्न उच्चारण करने का दोषी और इसीलिए पराजित माना जाता रहा है वे इस क्षेत्र के ही लोग प्रतीत होते हैं, पर इस मामले में यह भी स्पष्ट है कि उक्त टिप्पणी आर्यीकरण की प्रक्रिया के बहुत आगे बढ़ जाने के बाद की और आर्य भाषा के उच्चारण में होने वाले दोषों को ले कर है, न कि उनकी अपनी भाषा के विषय में। परवर्ती काल में भी इस क्षेत्र की भाषा को कम-से-कम दरद और काफिर बोलियों को—पैशाची भाषा कहा जाता रहा है जो ब्राह्मणों की आसुरी भाषा का ही नया पर्याय है और असुर, पिशाच, भूत-प्रेत को बाद में एक-दूसरे का पर्याय मान लेने के कारण इसको भूत भाषा भी कहा जाता रहा।

पैशाची की सबसे अधिक निकटता शौरसेनी से है जो सारस्वत क्षेत्र की भाषा थी। इसी तरह अन्य प्राकृतों की तुलना में यह संस्कृत से अधिक निकटता रखती है और यहाँ भी निकटता वैदिक संस्कृत से मानी जाती है। अनेक वैदिक प्रयोग जो अन्य बोलियों से लुप्त हो गये हैं वे दरद बोलियों में पाये जाते हैं।[48] विष्णु आदि की तुलना में इन्द्र के ही महत्व, वैदिक मन्त्र-पाठ की तरह ही गायन के प्राधान्य आदि से भी यह प्रकट होता है कि इस क्षेत्र पर मुख्य प्रभाव वैदिक काल में ही पड़ा

सिन्धु क्षेत्र से आमू दरिया तक

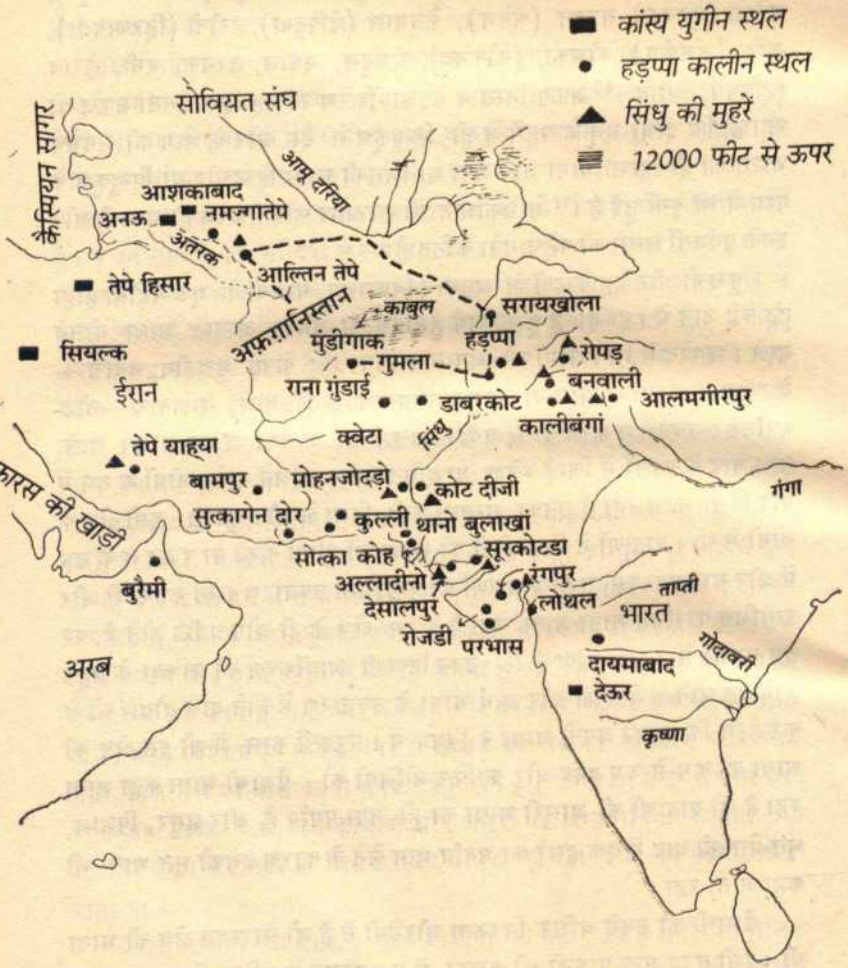

और इसका आरम्भ सारस्वत काल में हो गया था जो बाद में भी जारी रहा। पौराणिक कालों के सबसे महत्वपूर्ण और अपने अप-प्रचारों के लिए बदनाम ऋषि नारद जिनके साथ काफ़िरों की वीणा का अभिन्न सम्बन्ध है, वस्तुतः व्यक्ति न हो कर यायावर क़बीले —नारद अर्थात् डोलता रहने वाला—की संज्ञा प्रतीत होते हैं। और इन क़बीलों का सम्बन्ध भी इस क्षेत्र से लगता है। गन्धर्वों, यक्षों की तरह नारदों को क़बीलों के रूप में याद किया गया है और नारद की स्वर्ग से लेकर धरती तक की गति मैदानी क्षेत्र से अफ़ग़ानी व बलूची तथा इनसे भी परे के केन्द्रों तक इनके आते-जाते रहने का प्रतीक है और इनका पूर्णतः आर्यीकरण आर्य-प्रभाव के भारतेतर क्षेत्रों में ग्रहन प्रचार और प्रसार का द्योतक।

6
मध्येशिया

सोवियत संघ के ताजिकिस्तान, किर्गीज़िस्तान, उज़्बेकिस्तान, तुर्कमीनिस्तान के साथ ही यदि अफ़ग़ानिस्तान के बदख़शाँ और तुर्किस्तान को रखकर विचार करें तो पायेंगे कि इनके बीच परस्पर उससे अधिक निकटता बनी रही है जितनी उत्तरी और दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान के बीच। आर्य समस्या के अध्ययन में इस क्षेत्र का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है; कारण, भारतीय और ईरानी शाखा के अलगाव के बीज अधिकांशतः इसी क्षेत्र में पले थे। मैक्समूलर ने इसी क्षेत्र में मूल भारोपीयजनों को बसा माना था, जहाँ से अपने छोटे भाइयों को पश्चिम-उत्तर की ओर विदा करने के बाद बड़े भाई ने दक्षिण की राह पकड़ी थी और भारत में उतर आये थे।[94] इसी क्षेत्र में तुल्स, चू और इली तथा चार अन्य छोटी धाराओं का प्रवाह-क्षेत्र है, जिनके लिए तुर्की और मंगोल भाषाओं के अनुकरण पर रूसी में 'सेमी रेच्ये' नाम प्रचलित है, अतः यह प्रस्ताव भी रखा गया हैं कि सप्तनद या सप्तसिन्धु शब्द इन्हीं के लिए प्रयोग होता रहा होगा[50]; कारण, सेमी रेच्ये का शाब्दिक अर्थ यही है। इसी के खोकन्द बदख़शाँ में पहले-पहले आर्य बस्तियाँ बसी मानी गयी थीं पर फिर जिन्हें हित्ती अभिलेखों के साथ तालमेल बैठाने के लिए उजाड़ दिया गया था।[51] कुछ अध्येताओं को ऐसा भी लगता रहा है कि भारत की ओर बढ़ने वाले आर्यों की द्रविड़ों से इसी क्षेत्र में पहली टक्कर हुई थी, जिन्हें उन्होंने पराजित करके तितर-बितर कर दिया था[52] और इसके बाद वे भारत पहुँचकर उन्हें दुबारा परास्त करने में सफल हुए थे। नमज्गा, हिसार, आल्तिन देपे, तेजेन डेल्टा, काइ-जिल कुम, शोर्तुगाई आदि स्थलों का हड़प्पा सभ्यता से प्रकट सम्बन्ध दिखायी देता है, जो कतिपय मामलों में परिपक्व हड़प्पा काल से भी पहले आरम्भ हो जाता

है[53] और जिसको ध्यान में रखते हुए अध्येताओं को प्राय: यह मानने का प्रलोभन होता रहा है कि हड़प्पा सभ्यता को प्रेरित या निर्मित करने में इस क्षेत्र का हाथ रहा हो सकता है।[54] इसी क्षेत्र के पश्चिमी भाग के लिए मीदिया शब्द का प्रयोग होता रहा है, जहाँ ग्रियर्सन के अनुसार आर्यों ने 2,500 ई. पू. में ही प्रवेश कर लिया था और कुछ लोगों का विचार रहा है कि वे इस क्षेत्र में भारत से ही पहुँचे थे,[55] गो इसे लेकर मतभेद बना रहा है।

ग्रियर्सन के ही शब्दों में, "जो लोग अन्य बातों में मतभेद रखते हैं वे भी यह मानते हैं कि मन्द आर्य थे। अत: यहाँ हमें एक ठोस कालबद्ध तथ्य मिलता है कि फ़ारस के उत्तर और पश्चिमोत्तर में ई. पू. 2,500 में आर्य अपना दबदबा बनाये हुए थे। मूलत: वे जहाँ कहीं से भी आये रहे हों, हमें इस बात का संकेत नहीं मिलता कि वे दक्षिण या दक्षिण-पूर्व से, या जैसा कि कुछ लेखक सोचते हैं, भारत से आये थे। हम उन्हें पहली बार मीदिया में और इसके आस-पास पाते हैं और यहाँ इनकी धाक थी और जैसा कि हम देख आये हैं, इन्होंने सुबर्तु को पराजित किया था। हमारे लिए तात्कालिक दिलचस्पी की बात यह है कि उनके देवता वे थे जिनके नाम बाद में हम भारत में पाते हैं और यह कि वे सतेम भाषी थे, जो प्राचीन संस्कृत से अधिक निकटता रखती है।"[56] दूसरे शब्दों में कहें, तो इस बात की हर सम्भावना दिखायी देती है कि मीदिया के आर्य-भाषा-भाषी इस क्षेत्र में भारत से गये रहे हो सकते हैं या कम-से-कम भारतीय व्यपारियों के निकट सम्पर्क में थे।

मीद या मन्द कहे जाने वाले जनों के विषय में टिप्पणी करते हुए विल डुरांट लिखते हैं, "मीद कौन थे? निश्चय ही इनका मूल उद्भव हमारी पकड़ में नहीं आता; इतिहास एक ऐसी पोथी है जिसे बीच से ही आरम्भ करना होता है। इसका प्रथम उल्लेख हमें कुर्दिस्तान की पहाड़ियों में परशुआ नामक स्थान में शालमानेज़ार तृतीय के अभियान को दर्ज करने वाले एक फलक (837 ई. पू.) पर मिलता है। इससे पता चलता है कि अहमदई, मदई या मीदी कहे जाने वाले लोगों द्वारा विरल रूप में आबाद इस क्षेत्र के सत्ताइस छोटे-छोटे राज्यों पर सत्ताइस सरदार राज्य करते थे।"[57]

मन्द या मीदिया पौराणिक काल का उत्तर मद्र रहा लगता है और सम्भवत: इसके दायरे में मन्दर से उत्तर पश्चिम का क्षेत्र आता था और जैसा कि हम कह आये हैं, इसके लिए मन्द, मद्र-मन्द्र आदि शब्द प्रचलित थे। ऋग्वेद में एक ऋचा में मान्दार्य शब्द प्रयोग में आया है[58], जिसके अर्थ के विषय में विद्वानों में कुछ अनिश्चितता पायी जाती है।[59]

महाभारत में आये विवरणों की असंगतियों को दूर कर लें तो इसके अनुसार मन्द्र की रक्षा इन्द्र और वैश्रवण या कुबेर करते हैं (आरण्य पर्व 160) और महामेरु ही

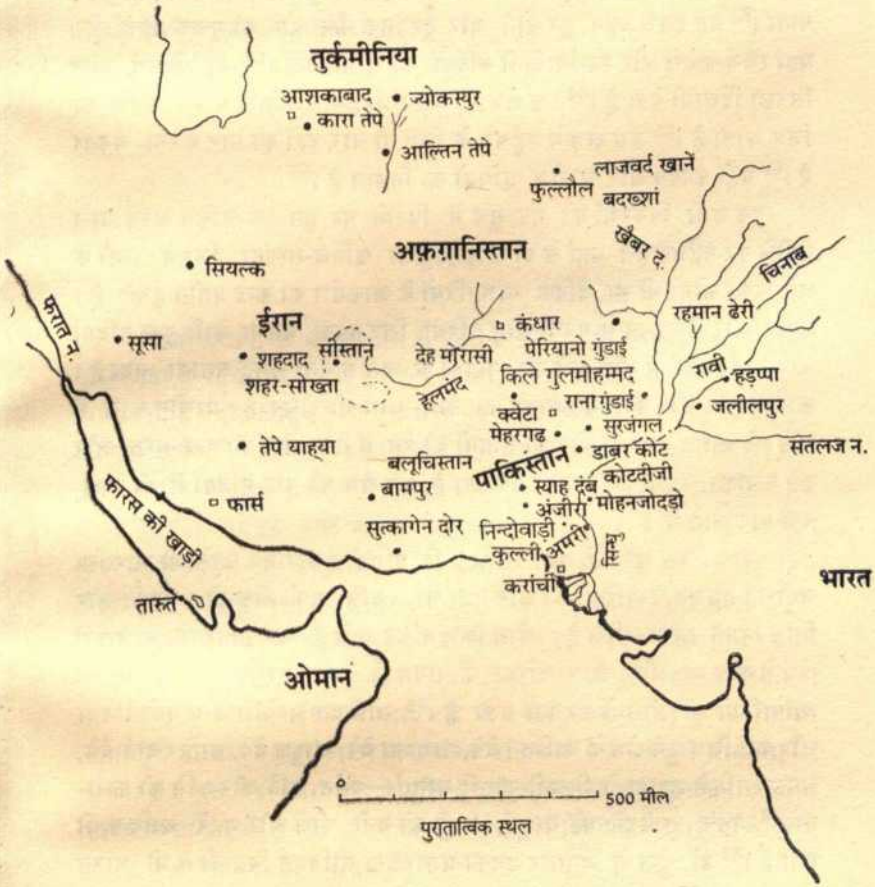
तुर्कमीनिया
आशकाबाद
ज्योकस्पुर
कारा तेपे
आल्तिन तेपे
लाजवर्द खानें
फुल्लौल
बदख्शां
खैबर द.
अफ़ग़ानिस्तान
सियल्क
चिनाब
फरात न.
ईरान
कंधार
रहमान ढेरी
सूसा
शहदाद
सीस्तान
देह मोरासी
पेरियानो गुंडाई
शहर-सोख्ता
हलमंद
किले गुलमोहम्मद
रावी
हड़प्पा
क्वेटा
राना गुंडाई
जलीलपुर
मेहरगढ़
सुरजंगल
तेपे याह्या
डाब्बर कोट
सतलज न.
बलूचिस्तान
पाकिस्तान
कोटदीजी
फारस की खाड़ी
फार्स
बामपुर
स्याह दंब
मोहनजोदड़ो
अंजीरा
सुत्कागेन दोर
निन्दोवाड़ी
कुल्ली
अमरी
सिन्धु
भारत
करांची
तास्त
ओमान
500 मील
पुरातात्विक स्थल

मन्दर क्षेत्र और मन्दराचल का उल्लेख एक ऐसे क्षेत्र के रूप में किया गया है जहाँ सूर्य की आभा क्षीण हो जाती है।[60] इसकी दिशा पश्चिम या पश्चिमोत्तर बतायी गयी है।[61] मन्दर को हिमवान का मूल बताया गया है और चूँकि इसका विवरण किसी प्राचीन श्रुत परम्परा के आधार पर दिया गया है न कि प्रत्यक्ष अनुभव पर, अतः इसकी दूरी और विस्तार के साथ कुछ अतिरंजना भी देखने में आती है, अर्थात् यदि हज़ारों वर्ष चलते रहें तो भी इसकी जड़ या शुरुआत का पता नहीं चल पाता।[62] यह इसके बहुत दूर होने और दूर तक फैले होने का सूचक तो है ही। यहाँ स्वर्ण-पर्वतों और स्वर्णवाहिनी नदियों का अस्तित्त्व है।[63] यहाँ से सूर्य बहुत तिरछा दिखायी देता है।[64] इस क्षेत्र में नित्य प्रवहमान नदियों से बने सागर का ज़िक्र आता है।[65] इस क्षेत्र में पहुँचने के लिए दो बार दर्रों को पार करना पड़ता है।[66] यही कश्यप और मारीच ऋषियों का निवास है।[67]

इन सभी विवरणों को एक सूत्र में पिरोने पर हम एक चकित करने वाले नतीजे पर पहुँचते हैं। यहाँ से प्राप्त होने वाली खनिज-सम्पदा, जिसमें रत्नों के अतिरिक्त सोना भी था, वैदिक व्यापारियों के आकर्षण का केन्द्र प्रतीत होती है। अराल और कैस्पियन सागर में आमू दरिया, सिर दरया, वोल्गा आदि कुछ नदियाँ आकर मिलती हैं और इन्हें इन नदियों के जल से बना समुद्र बताया गया है। कश्यप ऋषि और कैस्पियन सागर का नाम-साम्य भी रोचक है। प्राचीन काल में सोने की प्राप्ति का एक स्रोत था नदियों की रेत में से स्वर्णधूलि एकत्र करना और इसे गलाकर स्वर्णपिण्ड बनाना। लगता है, इस क्षेत्र की कुछ नदियों में भी स्वर्ण-कण पाये जाते थे।

पुरातात्विक खोजों से पता चलता है कि दसियों हज़ार वर्ष पहले भी भारतीय जनों का प्रव्रजन मध्येशिया की ओर हुआ था, यद्यपि इसकी ठीक-ठीक प्रकृति और तिथि नियत करना कठिन है। जैसा कि हम कह आये हैं, अफ़ग़ानिस्तान के उत्तरी क्षेत्र में कोकचा और आमू दरिया के संगम के पास शोर्तुगाई में हड़प्पा के व्यापारियों की बस्तियों का पता चला है।[68] सोवियत मध्येशिया में तुर्कमीनिया और काइज़िल कुम क्षेत्र के आल्तिन देपे, नामज्गा देपे, खाऽुज देपे, ताहिर बाई देपे, अनऊ आदि से हड़प्पा से मिलती-जुलती वस्तुएँ—बर्तन, ताँबे और काँसे की कला-वस्तुएँ, मनके हाथीदाँत की वस्तुएँ, मिट्टी की बनी चीजें और मुहरें आदि पायी गयी हैं।[69] डॉ. गुप्त के अनुसार इनका प्रसारकेन्द्र सोवियत विद्वानों ने भी भारत को माना है।[70]

सोवियत संघ के इस क्षेत्र से फ़ीरोज़े तथा अन्य वस्तुओं के आयात की और इसके लिए उक्त क्षेत्र में हड़प्पा के व्यापारियों की गतिविधियों की चर्चा हम पहले ही कर आये हैं। लगता है, हड़प्पा के ये व्यापारी अपने व्यापारिक रहस्य को बहुत छिपाकर रखते थे। ईरान के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध थे और उन्हें वे अन्य

वस्तुओं के अलावा लाजवर्द(लापिस लाजुली) भी पहुँचाते थे पर ईरानियों को इस बात का पता नहीं चलने देते थे, कि इसका उद्गम क्या है और सम्भवत: इसकी उपलब्धि का स्रोत एज़रबैजान की माजंदरान, दिज़मार और किरमान की खानों को बताते थे[71], जब कि सम्भवत: इसे वे, या कहें एज़रबैजान में बसे उनके प्रतिनिधि, बदख़्शाँ से प्राप्त करते रहे होंगे।

इस क्षेत्र से सीधा सम्पर्क कायम करने के बाद निश्चय ही ये व्यापारी यहाँ से अच्छी नस्ल के घोड़े भी स्वयं लाते रहे होंगे।

7
ईरान

अग़फ़ानिस्तान के उत्तरी क्षेत्र से पहुँचने पर जितनी आसानी से सोवियत मध्येशिया से पहुँचा जा सकता है उतनी ही आसानी से उत्तरी ईरान में भी पहुँचा जा सकता है। ईरान पहुँचने का एक अन्य स्थल-मार्ग कन्धार से होकर या हेलमन्द को पकड़कर भी हो सकता है। पर इस क्षेत्र में पहली बार किस रास्ते पहुँचा गया हो सकता है, यह कहना कठिन है। सम्भव यह भी है कि सोवियत मध्येशिया के रास्ते मीदिया पहुँचने वाले जनों ने उस दिशा से ही ईरान में प्रवेश किया हो। कारण, सम्पर्क के मार्ग सम्पर्क-क्षेत्रों से होकर ही गुज़रते हैं और कभी-कभी भौगोलिक दृष्टि से छोटे रास्ते को छोड़कर एक लम्बा रास्ता अपना लिया जाता है।

ईरानी शाखा का भारतीय मूल भूमि से प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में सम्पर्क रहा है, अर्थात् सीधे ईरान और भारत के बीच भी और अफ़ग़ानिस्तान व मध्येशिया में बसे व्यापारियों के माध्यम से भी। मीदिया से उनका सम्पर्क किंचित् तनावपूर्ण था और इसका कारण पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से लेकर कुछ भी माना जा सकता है। अत: देवों और इन्द्र के प्रति ईरानी शाखा का रुख़, मुमकिन है, सीधे भारत के साथ इसके तनाव का परिणाम न होकर मीदिया के व्यापारियों के साथ तनाव के कारण पैदा हुआ हो।

मैक्समूलर का कहना है कि ईरानियों के पूर्वज ईरान पहुँचने से पहले भारत में बसे थे और यहाँ से ही वे ईरान ग थेये।[72] इसका एक कारण अवेस्ता में सप्त-सिन्धु शब्द का प्रयोग था जो मैक्समूलर की दृष्टि में सिन्धु और सरस्वती सहित पंजाब की पाँच नदियों—सतलज, झेलम, रावी, व्यास व चिनाब— का प्रदेश है।

पर इसका इससे भी अधिक सशक्त कारण एक और था और वह था अवेस्ता में कतिपय ऐसे शब्दों का पाया जाना जो संस्कृत में नहीं मिलते, पर ईरान से आगे की भारोपीय भाषाओं में पाये जाते हैं, जिनकी एक लघु सूची भी व्याख्या के साथ

मैक्समूलर ने दी थी।[73] ज़ाहिर है कि ये शब्द ईरानी क्षेत्र में बोली जाने वाली स्थानीय बोलियों से लिये गये हैं। यदि आर्यों का आगमन ईरान से भारत की ओर होता तो ये शब्द भी संस्कृत शब्द-सम्पदा में पाये जाते। इनका अन्य भारोपीय बोलियों में या, कहें, यूरोपीय भाषाओं में पाया जाना इस बात का सूचक है कि भारोपीय प्रभाव-विस्तार का केन्द्र भारत था और उपकेन्द्र ईरान या मीदिया।

मैक्समूलर आर्य भाषा और संस्कृति के प्रसार को बड़े पैमाने पर हुए जन-संचलन से जोड़ते रहे हैं और यही प्रवृत्ति आज तक देखने में आती है। पर, जैसा कि वस्तु-स्थिति का गहराई से अध्ययन करने पर पता चलता है, ईरानी जन भारत से जाकर ईरान में नहीं बसे थे, अपितु कुछ थोड़े-से लोग जो निश्चय ही व्यापारिक हितों के चलते वहाँ जा बसे थे, वैदिक प्रभाव के संवाहक बने।

अवेस्ता की भाषा पर विचार करते हुए जेम्स डारमेस्टेटर लिखते हैं, "न केवल यह भाषा फ़ारस की राष्ट्रीय भाषा नहीं थी, बल्कि पहले भी कभी नहीं रही थी। वास्तव में, जैसा कि हख़मनी राजाओं के कीलक लिपि में लिखे अभिलेखों से पता चलता है, यह प्राचीन फ़ारसी से निकट का सम्बन्ध रखती थी जिससे कि आधुनिक फ़ारसी निकली है; पर प्राचीन फ़ारसी और अवेस्ता की भाषा के सम्बन्ध कुछ ऐसे हैं कि इनमें से किसी को भी दूसरी से निकला हुआ नहीं सिद्ध किया जा सकता। ये दोनों विकास के दो चरणों पर पहुँची हुई एक ही भाषा नहीं हैं, बल्कि एक ही चरण की दो स्वतन्त्र भाषाएँ हैं जो इस बात का प्रमाण है कि ये दोनों एक ही देश की भाषाएँ नहीं थीं और, इसलिए, जेंद फ़ारस की भाषा नहीं थी।[74] वह आगे अपने मत को कुछ और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "यद्यपि जेंद केवल मृत भाषा ही नहीं थी बल्कि विदेशी भाषा भी थी, फिर भी यह अज्ञात भाषा नहीं थी। पहलवी में इसके अनुवाद से ही यह प्रकट होता है कि यह सुशिक्षित वर्ग द्वारा, पुरोहितों द्वारा, जिन्होंने यह अनुवाद किया, अच्छी तरह समझी जाती थी।"[75]

अवेस्ता के अनुसार ईरान में प्रभुत्वशाली लोग, जिनके लिए आर्य शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, सामान्य जनता से अलग थे और कुछ गिने-चुने परिवारों तक सीमित थे, जिनके लिए बान्धवा (बान्दवा) शब्द का प्रयोग हुआ है। इनके भीतर से ही आरम्भ में शासकों का चुनाव होता था। इनमें से अनेक परिवारों का और उनमें उत्पन्न प्रधान व्यक्तियों का नाम वंशावली में दिया गया है।[77]

जरदुस्त्र स्वयं ईरान में कहीं बाहर से पहुँचे थे, जो मीदिया प्रतीत होता है। उनके आने पर कवि विस्तास्प ने उन्हें शरण दी थी। फ़शोश्त्र और जामास्प उनके स्वजन हैं—फ़शोश्त्र उनके श्वसुर और उनकी पत्नी हंगवी के पिता। जामास्प और जामास्प अपरजात, वाश्र्न के पोते और हंहर्व के पुत्र हैं। फ़शोश्त्र के दो पुत्रों दुश्योघ्न और ह्वादेन का भी उल्लेख आता है।[78]

अपने जिन रिश्तेदारों के पास जरदुस्त्र भाग कर गये थे, वे व्यापार के सिलसिले

में यहाँ आकर बसे हुए थे। जरदुस्त्र का मीदिया से भागकर आना इस बात का सूचक है कि वैचारिक या धार्मिक मुद्दे को लेकर विवाद या मतभेद मीदिया में ही हुआ हो सकता है। हर्ज़फ़ील्ड लिखते हैं कि उन्होंने अवेस्ता में अनेक ऐसे शब्द ढूँढ़े हैं जिनका सादृश्य यूनानी और जर्मन कानूनों से दिखायी देता है। पुराने रोमन कानून में भी वह इसकी झलक पाते हैं। इसके अनुसार सभी प्रकार के विदेशियों की वैध स्थिति का निश्चय हॉस्पितिएम करता था। चाहे वे राजदूत हों या व्यापारी; निर्वासित हों या शरणार्थी, इन सभी को अतिथि माना जाता था और देश के भीतर उनका पर्यटन हॉस्पितिएम के माध्यम से होता था। उसके साथ एक स्थानीय व्यक्ति 'सिविल'—ई. ह्वजंतुश् या स्वजन—का होना जरूरी था जो उस क्षेत्र के भीतर उसके व्यापारिक और कानूनी हितों की देख-रेख करता था और साथ ही उसके दुभाषिए (ई. फ्राहेतवे भ्रूयात—हेतुवादी) का भी काम करता था, क्योंकि अतिथि स्थानीय भाषा की दृष्टि से बेज़बान (ई. वाचं न्रश असूर्ह्य) होता था।[78]

यदि इस संस्था की शुरुआत, जैसा कि जर्मन, यूनानी और ईरानी नियमों की समानता से पता चलता है, भारोपीय प्रभाव-विस्तार के आरम्भिक चरण में ही हो गयी थी तो यह एक बहुत रोचक तथ्य है। इसका सम्बन्ध निश्चय ही एक ऐसे व्यापारी वर्ग से है जो अपने व्यापारिक हितों के लिए देश-देशान्तर को जाया करता था और या तो उसी की बिरादरी के कुछ लोग उन क्षेत्रों में बस गये थे या उससे व्यापारिक सम्पर्क रखने वालों को उसकी भाषा का ज्ञान रखना होता था, जो स्थानीय स्तर पर उसके लिए मध्यस्थ का काम करते थे और साथ ही उसके जान-माल की हिफ़ाज़त भी करते थे और इसके अतिरिक्त इसके माध्यम से अपना माल बेचते और उसका माल ख़रीदते थे, जो क्लाएंट या ग्राहक शब्द से प्रकट होता है।

अब इसी के साथ यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि अवेस्ता की भाषा ईरान की अपनी भाषा नहीं थी और निश्चय ही यह स्वयं जरदुस्त्र की और उनके रिश्ते में आने वाले परिवारों की भाषा थी और यह कि जरदुस्त्र ईरान में एक शरणार्थी की हैसियत में पहुँचे थे, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि ईरान में बसे ये परिवार व्यापारियों के अपने परिवार थे जो वहाँ जाकर बस गये थे। वे वहाँ भारत से जाकर बसे थे या मीदिया से, इस बहस में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। हाँ, मीदिया ही वह क्षेत्र सिद्ध होता है जहाँ वैदिक ने अवेस्ता की मूल भाषा, या कहें, स्थानीय प्रभावों के कारण किंचिद् दूषित वैदिक भाषा, का रूप लिया था और इसमें आये वे तत्व जो आगे की यूरोपीय भाषाओं में बड़े पैमाने पर पहुँचे पर जो संस्कृत में ग़ायब हैं, मीदिया में ही ग्रहण किये गये लगते हैं। इस तरह की शब्दावली को ही एकाधिक यूरोपीय बोलियों में प्रयुक्त और भारतीय-ईरानी

शाखा में इसे लुप्त पाकर 'मूल भारोपीय जनों' के प्राकृतिक परिवेश का निर्धारण करते हुए भारत को सम्भावित क्षेत्र से बाहर रखा जाता रहा है।

पर ईरानी व्यापारियों का केवल मीदिया से और मीदिया के माध्यम से ही भारत से सम्पर्क रहा हो, ऐसी बात नहीं है। ईरानी व्यापारियों के सप्त-सिन्धु प्रदेश में आने और यहाँ की नदियों में समुद्र-पर्यन्त यात्रा करने के उल्लेख भी पाये जाते हैं जो इनके व्यापारिक गतिविधियों से जुड़े होने की पुष्टि तो करता ही है, साथ ही भारत से सीधे सम्पर्क को भी सूचित करता है।[79]

ईरान के साथ भारतीय सम्पर्क कितना पुराना हो सकता है और इन दोनों देशों ने एक-दूसरे को किन रूपों में और किन सीमाओं तक प्रभावित किया हो सकता है, यह ठीक-ठीक बता पाना कठिन है। पर इस बात की कुछ झलक मिलती है कि ईरान में एक साथ अनेक नये सांस्कृतिक तत्वों को लेकर एक छोटा-सा दल वहाँ कभी पहुँचा था और इसने वहाँ की जीवन-पद्धति को बहुत क्रान्तिकारी रूप में परिवर्तित किया था। ईरानी परम्परा के अनुसार आदि-पुरुष या अल-औवल यिम जमशीद दुनिया की सारी जानकारी लेकर वहाँ पहुँचता है। वही लोगों को हथियार बनाना, जीन बनाना, लगाम बनाना, औज़ार बनाना, सूती, ऊनी व रेशमी सूत कातना और वस्त्र बुनना, खान खोदकर पत्थर और खनिज पदार्थ निकालना, चाक और गारा बनाना, खेती करना, पानी निकालने के यन्त्र बनाना (हर्ज़फ़ील्ड ने इसके लिए वाटर व्हील अनुवाद किया है, पर रहट के लिए वह समय पर्याप्त विकसित नहीं माना जा सकता, अतः यह ऋग्वैदिक कूचक्र का अर्थ रखता प्रतीत होता है जिसे ढेकुल मानना अधिक उचित होगा), पुल बनाना, गन्ध-लेप बनाना, मछली पालना और मोती निकालना सिखाता है।[80] इस बात की कुछ सम्भावना है कि कुछ अन्य स्रोतों से उपलब्ध ज्ञान को भी यिम जमशीद के साथ जोड़ दिया गया हो, पर इस विषय में संदेह नहीं कि ईरान में एक विकसित संस्कृति का प्रवेश ठीक उसी तरह हुआ था जैसे दजला और फ़रात के क्षेत्र में और इसने स्थानीय समाज-व्यवस्था और अर्थव्यवस्था की काया पलट दी थी।

अब यदि हड़प्पा के पुरातात्विक अवशेषों पर दृष्टि डालें तो यह अधूरा चित्र कुछ भरा-पूरा नजर आयेगा। हड़प्पावासी चाँदी, टीन, सीसा, फ़िरोज़ा जैसे कुछ कीमती पत्थर आदि ईरान से प्राप्त करते थे।[81] चाँदी प्राप्त करने का तो एक मात्र स्रोत ईरान ही था। मैक्समूलर ने ठीक ही कहा है कि संस्कृत का रजत शब्द मूलतः ईरानी से संस्कृत में आया है।[82] यह ईरानी अर्जंतम् का संस्कृतीकरण है।[83]

ईराक के ठीक पड़ोस में बसे ईरान का वैदिक भाषा और संस्कृति से प्रभावित होना इस बात का सूचक है कि बेबीलोनिया, मेसोपोटामिया और सुमेरिया की सभ्यताओं से पहले ही वैदिक प्रभाव यहाँ जड़ें जमा चुका था। कारण, यह बात समझ में आने वाली नहीं है कि इन सभ्यताओं ने अपने विकास के दौर में अपनी

गतिविधियों को अपने क्षेत्र तक ही सीमित रखा और अपने पड़ोस के क्षेत्र में वे प्रभावहीन रही होंगी। ईरान के मामले में इनकी प्रभावहीनता से ऐसा लगता है कि यह क्षेत्र ईराकी प्रभाव में आने से पहले तक एक अन्य और अधिक सशक्त प्रभाव में आ चुका था। इसकी प्रतिस्पर्धा में वह यहाँ पर टिक नहीं पाया और यह प्रभाव, जैसा कि भाषा से प्रकट है, हड़प्पा-पूर्व का वैदिक प्रभाव ही था।

परन्तु यह प्रभाव परिपक्व हड़प्पा या ऋग्वेद के नये मण्डलों के काल में ही अधिक गहरा होता प्रतीत होता है। ऋग्वेद के नये मण्डलों में पहली बार युगों की धारणा अपने बीज रूप में दिखायी देती है[84], जिसका विकास आगे चलकर पुराणोंआदि में होता है।[85] ईरानी और यूनानी दोनों परम्पराओं में चार युगों की यह धारणा विद्यमान है। जहाँ पुराणों के समय तक आकर सौर वर्ष दिव्य वर्ष में बदल जाता है, हज़ारों को लाखों में बदल दिया जाता है और विभिन्न युगों का तुलनात्मक काल भी बदल जाता है, वहाँ मूल कल्पना अधिक सरल और समरूप विभाजित कालों की थी। रोचक बात यह है कि चारों कालों का, कहें चारों युगों का कुल योग 12000 वर्षों का ही है, भले ही भारत में इसे बाद में दिव्यवर्ष बना दिया गया और ईरान और यूनान में इनके लिए मात्र वर्ष का उल्लेख जारी रहा। भारत में यह क्रम 4800, 3600, 2400 और 1200 वर्ष का है और अवेस्ता में 3000 वर्षों के चार युगों का। प्रभाव की सघनता युग की अवधारणा के विकास के बाद की और परवर्ती कालों में इसके लिए नये युगमान नियत होने से पहले की है।

8

बाल्टिक क्षेत्र

काला सागर से ऊपर और बाल्टिक सागर से दक्षिण के यूरोपीय क्षेत्र को जिसमें उक्रेन, मोल्दाविया, लिथुआनिया और लाटविया आदि के क्षेत्र आते हैं, कुछ अध्येताओं द्वारा भारोपीय जनों का मूल निवास माना जाता रहा है और अन्य सम्भावित क्षेत्रों की तुलना में इस क्षेत्र को बीसवीं शताब्दी के दौरान अधिक वांछित क्षेत्र माना जाता रहा। लिथुआनियन का वैदिक संस्कृत से बहुत गहरा साम्य दिखायी देता है। इसके विपरीत पिछले दो-तीन दशकों में काला सागर में गिरने वाली नदियों, नीपर और नीस्टर, की उपत्यकाओं में एक अति प्राचीन संस्कृति की पुरातात्विक खोजों ने इस धारणा को बहुत बल दिया कि 'भारत की ओर आने वाले आर्य' मूलतः इसी क्षेत्र के निवासी थे। नीपर और नीस्टर की उपत्यकाओं में बसे सामान्य जन न तो आद्य, भारोपीय संस्कृति के सर्जक थे, न ही

इसके संवाहक, इस पर हम पीछे विचार कर आये हैं। परन्तु कुर्गन क्षेत्र की किलाबन्द बस्तियों के निवासियों का सम्बन्ध भारोपीय भाषा और संस्कृति से प्रभावित लोगों से हो सकता है।

कुर्गन जनों की संघर्षपूर्ण जीवन-स्थिति के विपरीत इन किलाबन्द आवासों में रहने वाले अविश्वसनीय रूप से मालामाल दिखायी देते हैं और इनकी कब्रों से मिली निधियाँ आँखों में चकाचौंध पैदा कर देती हैं। इनका प्रसार अपेक्षाकृत व्यापक क्षेत्र में था, "उत्तरी-पश्चिमी काकेशस के माजकॉप की समाधियाँ और उत्तरी मध्य-अनातोलिया (तुर्की) के अलावा हुयूक और होरोज़तेपे की समाधियाँ जो ठेठ कुर्गन समाधियों की तरह बनी हैं, कुर्गन शासकों की समाधियाँ रही हो सकती हैं। आम तौर पर इन्हें ट्राय द्वितीय और आरम्भिक मेसोपोटामियाई राजवंश तृतीय के समकक्ष रखा जाता है। इन अविश्वसनीय समाधि कोशों से शक्ति और सम्पदा के संग्रह की विलक्षण योग्यता का पता चलता है। इससे यह पता चलता है कि भारोपीय राजा ऐसे लोगों के बीच जो उनसे भिन्न ज़बान बोलते थे और भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के थे (मध्य अनातोलिया में हित्ती लोगों की तरह), बहुत दक्ष शासक थे।"[86]

इन्हें हम स्थानीय जनों से बिलकुल भिन्न जीवन-पद्धति अपनाये हुए भी पाते हैं। स्थानीय जन भूमिगत मकानों में रहते थे, जबकि ये इसके ठीक विपरीत ऊँचे स्थानों पर खुले मकान बनाकर रहते थे। इनकी अकूत सम्पदा भी स्थानीय साधनों को देखते हुए सामान्य उगाही के स्थान पर वाणिज्यिक प्रचालनों से अर्जित प्रतीत होती है। घोड़ा इनके लिए मुख्यतः मांसाहार का साधन न होकर, यातायात का साधन था। यदि ये लोग ही भारोपीय संस्कृति के वाहक थे तो इनकी संख्या स्थानीय जनता को देखते हुए बहुत कम थी। अन्य क्षेत्रों की तरह यहाँ भी वे ग़ैर-भारोपीय भाषा-भाषियों के बीच अपने केन्द्र स्थापित किये हुए थे।

बाल्टिक क्षेत्र—लिथुआनिया और लाटविया—को मूल भारोपीय निवास मानते हुए डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या लिखते हैं कि भारत और ईरान आने से पहले इनके पूर्वज आज से लगभग 5,000 वर्ष पहले इसी क्षेत्र में रहते थे, हालाँकि वह मानते हैं कि वे मूलतः किस क्षेत्र में फैले हुए थे, यह कुछ अटकलबाज़ी का विषय है।[87] डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार वैदिक भाषा से इस क्षेत्र की भाषा का गहरा साम्य दिखायी देता है और वैदिक ऋचाओं की तरह कुछ मन्त्र (दायना) यहाँ पढ़े जाते रहे हैं और कुछ धूप-अगियारी जैसी रीतियाँ भी यहाँ प्रचलित रही हैं।

डॉ. चाटुर्ज्या आगे लिखते हैं, "प्रसंगवश इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब बाल्टिक जनों—लाटवियनों और लिथुआनियनों—ने अपने राष्ट्रीय साहित्य—दायना—का अध्ययन आरम्भ किया और अपने भारतीय उत्तराधिकार के प्रति सचेत हुए तो...उनमें एक अविचारित और

भावुकतापूर्ण धारणा पैदा हुई कि बाल्टिक जन पूर्व से—एशिया से—और जैसा कि वे सोच रहे थे, भारत से, आये थे। लाटवियन लेखक फ्रे. माल्बर्गिस ने तो वास्तव में 1856 में लिखा था कि लाटवियन जन रूसियों और जर्मनों की ही तरह गंगा के तट से आये थे। लाटवियन परम्परा के अनुसार बर्तनायक्स ज्ञान और विज्ञान लेकर भारत से आये थे। इस गहन विद्या के शिक्षक विदेवुद्स थे। प्राचीन लिथुआनी पुजारिनें अपनी प्राचीन भारोपीय रीति का पालन करने के लिए पवित्र अग्नि जलाया करती थीं और जैसा कि एक आधुनिक लिथुआनी कवि ने सुझाया था, लिथुआनिया में यह रीति सिन्धु तट से आयी थी।"[88]

डॉ. चाटुर्ज्या मानते हैं कि बाल्टों को जर्मनों, पोलों और ज़ारकालीन रूसियों के हाथों जो अपमान झेलना पड़ा था, उससे मुक्त होने के लिए ही उनके द्वारा भारतीय मूल निवास के प्रति यह प्रेम व्यक्त किया जा रहा था। भारत उनके लिए संस्कृत का देश था, वेदों का देश था। अतः वह बाल्टों के इस रुख़ को अविचारित और भावुकतापूर्ण मानते थे। भारत संस्कृत का और वेदों का देश भले रहा हो, पर यूरोपीय विद्वानों ने यह तो कभी स्वीकार नहीं किया कि आर्य जनों का मूल निवास भी भारत था। ऐसी स्थिति में लाटवियनों और लिथुआनियनों में भारत से वहाँ पहुँचने की धारणा क्या अनायास पैदा हो गयी या इसका कोई अन्य ठोस कारण था? इसे भावुकता या हीनताग्रन्थि कहकर ख़ारिज करना उचित नहीं है।

किसी परम्परा को यथातथ्य स्वीकार कर लेना विवेकपूर्ण नहीं माना जा सकता, पर इसकी छान-बीन किये बिना हँसकर उड़ा देना ऐतिहासिक सूचना के एक महत्वपूर्ण स्रोत को नकारने जैसा है। बाल्ट कवियों के दावे को ख़ारिज करने से पहले कुछ सवालों पर विचार किया जाना चाहिए था: जो परम्पराएँ बाल्ट क्षेत्र में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थीं और जिनके अनुसार बर्तनायक्स नाम का कोई व्यक्ति विदेवुद्स या अपने सुशिक्षित शिष्यों सहित इस क्षेत्र में बहुत पहले कभी पहुँचा था, क्या उनको भी अठारहवीं शताब्दी के इन कवियों ने गढ़ लिया था? विदेवुद्स और बर्तनायक्स शब्द क्या इन कवियों के गढ़े हुए थे? यदि भारत से अपने सम्बन्ध को जोड़ना ही था तो इन कवियों ने यह दावा क्यों नहीं किया कि उनका पूरा समाज, पूरी जाति भारत से, गंगा या सिन्धु के तट से वहाँ आकर बसी थी? किसी एक व्यक्ति के उनके अपने समाज में पहुँचने से एक नये विश्वास या धर्म के प्रति आस्था तो व्यक्त की जा सकती है, पर यह जातीय श्रेष्ठता का रूप तो नहीं ले सकती। इन विभिन्न तथ्यों को सामने रखते हुए और इनके मर्म को समझते हुए ही उस धार्मिक रीति का और वहाँ प्रचलित दायना का समाधान पाया जा सकता था।[89]

यह बाल्ट परम्परा, श्रुत परम्परा की अतिजीविता का एक सुन्दर उदाहरण

है। यह याद रहे कि संगठित रूप में अपने धार्मिक विश्वासों का देश-देशान्तर में प्रचार करने का, इसके निमित्त सूदूर देशों, अपरिचित जनों और अज्ञात भाषाओं के क्षेत्र में अपने केन्द्र स्थापित करने, इन केन्द्रों को धार्मिक केन्द्रों के साथ-साथ शैक्षिक केन्द्रों का भी रूप देने और इनके माध्यम से जनता को शिक्षित और दीक्षित करने और इनके बीच अपनी भाषा का भी प्रचार-प्रसार करने का सबसे प्राचीन उदाहरण भारत में ही पाया जाता है। इस दृष्टि से बौद्ध प्रचारकों का प्रयास और उनको मिली सफलता के विषय में किसी विवाद का प्रश्न ही नहीं उठता और वैदिक-कालीन ऋषि बौद्धों से भी हज़ार-दो हज़ार वर्ष पहले से यहीं काम करते आ रहे थे और सम्भवतः बौद्ध काल में भी उनके प्रयत्न जारी थे। एक जर्जर और विगलित रूप में इसकी छाया आज तक साधुओं के संगठनों में बनी देखी जा सकती है। ईसाइयत जिन अनेक मामलों में बुद्ध धर्म से प्रभावित हुई उनमें से एक और सबसे प्रमुख है धार्मिक प्रचार का ढाँचा। ठीक इसी तरह बौद्ध मत ने संगठित प्रचार-अभियान वैदिक काल से चली आ रही लम्बी परम्परा से उत्तराधिकार के रूप में पाया था।

प्रकारान्तर से कहें तो बाल्टिक क्षेत्र की छान-बीन करने पर हम पाते हैं कि कुर्गन संस्कृति के प्रसार-क्षेत्र में बनी किलाबन्द कोठियों का सम्बन्ध घोड़े और स्थानीय खनिज भण्डारों में रुचि रखने वाले व्यापारियों से हो सकता है और इनको स्थानीय आबादी का अभिन्न अंग मानना ठीक नहीं। इस क्षेत्र में और इससे आगे भारोपीय भाषा का प्रचार-प्रसार करने में भी इनकी प्रमुख भूमिका रही हो सकती है। ये केन्द्र ज़रूरी नहीं कि भारतीय मूल के व्यापारियों के ही रहे हों। संस्कृत या इसकी जननी वैदिक भाषा इस उत्कर्ष-काल में व्यापारियों के बीच सम्पर्क-भाषा बन चुकी थी। यदि हमारा यह प्रस्ताव ठीक है तो बाल्टिक क्षेत्र में आर्य-भाषा के प्रसार की भूमिका चौथी सहस्राब्दी ई. पू. तक तैयार हो चुकी थी।

बाल्टिक परम्परा इस बात की पुष्टि तो करती है कि प्रसार का केन्द्र वैदिक मूल भूमि थी, साथ ही यह भी कि प्रसार के वाहकों का बहुत बड़े पैमाने पर स्थानान्तरण नहीं हुआ था और जिन समाजों में इन तत्वों का प्रसार हुआ था उनकी अपनी सामाजिक और आर्थिक रचना भी भिन्न-भिन्न थी। उदाहरण के लिए, लिथुआनिया में पुजारिनों के हाथ में वैदिक पूजा और रीति-विधान का सौंपा जाना इस बात का आभास देता है कि इसको ग्रहण करने वाला क़बीला उस काल तक मातृसत्ताक था। इससे इस बात का भी पता चलता है कि प्रभाव-विस्तार का समय ठीक वह है जब वैदिक साहित्य की रचना जारी थी और नये क्षेत्रों में पहुँचने वाले वहाँ स्वयं इस तरह की रचनाओं को जन्म दे सकते और अन्य सुधी-व्यक्तियों को ऐसी रचनाओं के लिए प्रेरित कर सकते थे। कहें, प्रसार वेदों का नहीं, इनकी भावना और विचारों का, इनसे जुड़े आचारों और रीतिविधानों का और, निश्चय

ही, इनकी भाषा का हुआ था। विदेवुद्स का अपना गहन ज्ञान लेकर वहाँ पहुँचना और इसके बाद उनकी ही भाषा और संस्कृति की छाप उस पूरे क्षेत्र में क़ायम हो जाना इस बात का कुछ आभास दे सकता है कि स्थानीय ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति की तुलना में इस नयी जमात द्वारा लाया गया ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति का स्तर क्या रहा हो सकता है। इसी की पुष्टि ईरानी परम्परा में भी होती है, इसे हम पहले देख आये हैं। एक रोचक बात यह है कि ईरान और लिथुआनिया दोनों में नयी सभ्यता और विश्वास के वाहक के रूप में व्यापारियों को नहीं, अपितु इक्के-दुक्के धार्मिक नेताओं को प्रस्तुत किया जा रहा है। लगता है, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के दौरान यूरोप में विभिन्न व्यापारिक कम्पनियों के गठन से और इनके द्वारा देश-देशान्तर की यात्राओं के कारण जिस तरह ईसाई धर्म-प्रचारकों में भी अपना धर्म-साम्राज्य स्थापित करने का या 'पिछड़े और असभ्य समाजों में धर्म की ज्योति जगाने का' जोश पैदा हुआ और अनेक क्षेत्रों में तो वे इन व्यापारियों के पहुँचने से भी पहले पहुँच गये और अपना काम करते रहे, कुछ उसी तरह का वातावरण वैदिक व्यापारिक गतिविधियों के कारण पैदा हुआ था और अनेक क्षेत्रों में मिशनरियों की ही तरह भाषा और संस्कृति का प्रसार वैदिक ऋषियों द्वारा अपने बल पर किया गया था। इन प्रचारकों द्वारा तैयार किये गये वातावरण का लाभ व्यापारियों को और व्यापारियों द्वारा क़ायम किये गये केन्द्रों का लाभ प्रचारकों को तो मिलता ही रहा है, व्यापारी और उनके उदार दान ही इन प्रचारकों के सम्बल भी रहे होंगे।

9

यूनान

यूनान या ग्रीस पूर्वी भूमध्य सागर का एक प्रायद्वीप है। पूर्वी भूमध्य सागर में छोटे-बड़े पचासों द्वीप हैं जो इस प्रायद्वीप सहित बहुत प्राचीन काल से अन्त-क्रिया के एक ही क्षेत्र में आते रहे हैं। तुर्की के किसी स्थल से यूनान में समुद्र-मार्ग से इन द्वीपों को पकड़ कर पहुँचा जा सकता है। उत्तर की ओर यूरोप से जुड़ा होने के कारण यहाँ मध्य यूरोप की ओर से भी पहुँचा जा सकता है। अपने उत्कर्ष-काल में यूनान जितनी निकटता से पूर्वी भूमध्य सागर के तटीय और द्वीपीय क्षेत्रों से जुड़ा रहा है उतनी निकटता से अपने सटे यूरोपीय भू-भाग से नहीं।

यूनान का धरातल ऊबड़-खाबड़ पहाड़ियों से बना है, जिनको पार करके एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँच पाना अपेक्षाकृत अधिक कठिन रहा है और इसलिए पूरे प्रायद्वीपीय क्षेत्र में यातायात का प्रमुख मार्ग समुद्री ही रहा है। इसका पाँचवाँ

हिस्सा ही ऐसा है जिसमें खेती की जा सकती है और इस क्षेत्र के भी ऊँचा-नीचा होने के कारण अधिकांश खेती सीढ़ीनुमा बने पहाड़ी ढाल के खेतों में ही होती रही है। दूसरे शब्दों में कहें तो, यह क्षेत्र खेती की दृष्टि से बहुत उत्साहवर्धक नहीं दिखायी देता। यही स्थिति चरागाहों की भी रही है। अतः यहाँ यद्यपि बहुत पहले से पशुपालन भी होता रहा है, पर किसी अच्छे पैमाने पर नहीं। इनके पालतू पशुओं में गाय, भेड़, बकरी, आदि आते हैं, पर घोड़ों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी और प्राचीन काल में भी घोड़ा रखना केवल रईसों के ही वश की बात थी।[90]

यदि उर्वरता ही नगर-सभ्यता का मेरुदण्ड मानी जाये तो यह एक असाध्य पहेली बनी रहेगी कि इस मामले में खासा निराशाजनक यह क्षेत्र विश्व की ऐसी गौरवशाली सभ्यता का निर्माता रह चुका है जिससे प्रेरणा लेकर आधुनिक यूरोप का जन्म हुआ है और जो चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में आज तक एक महत्व-पूर्ण सन्दर्भ-विन्दु बना हुआ है।

जिन लोगों को इस सभ्यता के निर्माण का श्रेय दिया जाता है वे भारोपीय भाषा-भाषी थे। ये यूनान में कब और कैसे पहुँचे और किस तरह उन्होंने अपने को उस शिखर विन्दु पर पहुँचाया, इस विषय में काफ़ी उलझन बनी रही है। जो भी हो, यूनान की भाषा अपने ठीक पड़ोस की यूरोपीय भाषाओं से उतना गहरा साम्य नहीं रखती जितना गहरा साम्य यह संस्कृत के साथ प्रकट करती है। बरो लिखते हैं, "ग्रीक में केन्तुम वर्ग की किसी भी अन्य भाषा से निकट सम्पर्क के लक्षण नहीं दिखायी देते। इसके विपरीत इसका निकटतम सम्बन्ध सतेम वर्ग की भाषाओं से, ख़ासतौर से भारतीय-ईरानी और अर्मीनियाई से प्रकट होता है। संस्कृत के तुलनात्मक व्याकरण पर एक नज़र डालने से ही यह पता चल जायेगा कि संस्कृत और ग्रीक में पायी जाने वाली समानताएँ भारतीय-ईरानी शाखा के बाहर इस परिवार की किसी भी अन्य भाषा की तुलना में अधिक हैं। क्रियाओं की रूपावली में तो यह बात ख़ासतौर से पायी जाती है।"[91]

यूनान में आर्य-भाषा या इस वाणिज्यिक सम्पर्क-भाषा का प्रवेश कब हुआ? किधर से हुआ? टी. बरो के अनुसार इस क्षेत्र में भारोपीय भाषा-भाषियों का प्रवेश आठवीं शताब्दी ई. पू. से पहले और उत्तर की ओर से हुआ।[92] पर आठवीं शताब्दी के आस-पास का समय और प्रवेश की यह दिशा दोनों और इनके साथ ही यूनान के उपनिवेशीकरण की मान्यता सतही अटकलों पर आधारित है, जिसका अब लगभग खण्डन हो चुका है।

होमर द्वारा उनके महाकाव्यों में वर्णित परम्परा के आधार पर और ऐसे पुरातात्विक साक्ष्यों को सामने रखते हुए जिनका इस विवरण के अनुसार एक कामचलाऊ अर्थ कर लिया गया था, सातवीं-आठवीं शताब्दी या मोटे तौर पर ट्राय युद्ध के बाद कभी हुए इस आक्रमण की मान्यता इतनी जड़ जमा चुकी है कि

अनेक विद्वान आज भी इसका उल्लेख एक सम्भावना के रूप में कर बैठते हैं। पर इसको सबसे पहली चुनौती मिनोआ (क्रीट), पाइलॉस (दक्षिणी पश्चिमी पेलोपोनेसस), माइसीन(यूनानी मुख्य भूमि)से प्राप्त रैखिक (लिनियर)'बी' के अभिलेखों से मिली, जिसकी व्याख्या करने पर यह पाया गया कि इसकी भाषा न केवल भारोपीय है अपितु यह ग्रीक ही है। पुरानी मान्यता का दबाव कुछ ऐसा रहा कि कुछ समय तक अनेक विद्वान इसे एक भ्रम मात्र मानते रहे. पर अब यह सन्देह से परे माना जाता है। 'बी' से पहले प्रचलित रैखिक 'ए' को भी कुछ विद्वान भारोपीय ही मानते हैं। रैखिक 'बी' का काल 1400-1200 शताब्दी ई. पू. है और इसकी भाषा बाद की क्लासिकी ग्रीक से अधिक पुरानी और अधिक विकारग्रस्त है। लिपि मोटे तौर पर आक्षरिक है।[93]

टी. बरो ने अपना विवरण, जिसके अनुसार यूनान का उपनिवेशीकरण आठवीं शताब्दी ई. पू. के आस-पास उत्तर की ओर से, मध्य यूरोप से हुआ, वेन्त्रिस और चाडविक द्वारा किये गये रैखिक 'बी' के पाठ से पहले तैयार कर लिया था। रैखिक 'बी' से नीचे ही रैखिक 'ए' का पाया जाना और इन दोनों के पुराने प्रमाणों का क्रीट में पाया जाना यह प्रकट करता है कि इस लिपि का प्रसार दक्षिण के द्वीपीय क्षेत्र से उत्तर को यूनानी मूल भूमि की ओर हुआ, न कि इसके विपरीत। इस द्वीप में मूलतः ये आर्य-भाषा-भाषी पूर्व की ओर से ही पहुँच सकते थे।

यूनान पहुँचने वाले जनों की पोशाक से भी यह प्रकट नहीं होता कि मूल जन इस क्षेत्र में पहुँचने से पहले किसी ऐसे क्षेत्र में निवास करते थे जहाँ अधिक ठण्ड पड़ती रही हो। उनकी पोशाक पर टिप्पणी करते हुए डॉ. चाटुर्ज्या लिखते हैं, "ईरानी आर्यों के वस्त्रों का बहुत विश्वसनीय प्रस्तुतीकरण छठी शताब्दी ई. पू. की हख्मनी मूर्तियों और टेपेस्ट्री के अवशेषों में पाया जाता है। पारसी आर्यों ने भारतीय आर्यों की तरह खुले वस्त्र पहनने की आदत डाल ली थी, यह प्राचीन मूर्तियों में देखा जा सकता है।...यूनानियों ने (जिनके प्रमाण स्पार्टा के डोरियनों और एथेंस के ऐटिकों में पाये जाते हैं) सादे अनसिले कपड़ों का चुनाव किया जो भारतीय आर्यों के दो वस्त्र-खंडों—धौत्र और उत्तरीय—में भी पाया जाता है।"[94]

ठीक यही बात यूनान और कतिपय अन्य यूरोपीय स्थलों के विषय में काफ़ी पहले श्रेडर ने कुछ विस्तार में जाते हुए कही थी।[95] सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पूरी स्थिति को उलटकर पेश करते हुए यह मानते हैं कि मूल जनों की पोशाक मीदियनों और सीथियनों में बनी रह गयी थी जो पहाड़ी क्षेत्रों में रहने के कारण ब्रीचेज़ व ऊँचे बूट पहनते थे। श्रेडर भी मानते हैं कि मूल जन ऊनी व कौशेय (लिनन) वस्त्र बुनना जानते थे। वह यूनानी स्त्रियों में भी इस तरह के वस्त्रों के प्रचलन की बात करते हैं और इनको पहनने की जिस शैली का हवाला देते हैं वह

भारतीय स्त्रियों के पहनावे की याद दिलाती है । श्रेडर इस सम्बन्ध में एक अधिक उपयोगी सूचना देते हैं कि टैसिटस के अनुसार ट्यूटन पुरुषों में से बहुत-से एक अधोवस्त्र से ही सन्तुष्ट रहते थे और ऊपर बिलकुल नंगे रहते थे ।

तीन बिलकुल भिन्न जलवायविक स्थितियों में, और दो के मामले में किंचित् असुविधाजनक स्थितियों में, चुस्त पोशाक को छोड़कर खुले और अनसिले वस्त्रों का चलन कैसे हो गया ? साथ ही हड़प्पा की वेश-भूषा ठीक वही थी जो सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के अनुसार ईरानियों और यूनानियों की और श्रेडर के अनुसार यूनानी स्त्री-पुरुषों और ट्यूटनों की थी ।

पोशाक की यह समानता मूल निवास और प्रसार-केन्द्र को समझने की दृष्टि से किसी भी अन्य साक्ष्य से अधिक महत्वपूर्ण है । परन्तु इसे इस बात का निर्णायक प्रमाण नहीं माना जा सकता कि यूनानी क्षेत्र में अपना प्रभाव कायम करने वाले वहाँ सीधे भारत से ही पहुँचे थे, न ही यह कि इनकी संख्या बहुत बड़ी थी । सांस्कृतिक दृष्टि से अपनी श्रेष्ठता का सिक्का जमाने और आर्थिक समृद्धि प्राप्त करने वाले लोग शेष जनों के लिए अनुकरणीय बन जाते हैं और उनकी पोशाक, भाषा, रीति-नीति का अनुकरण स्थानीय जनता द्वारा घोर असुविधाओं के बावजूद किया जाता है । कारण, उनकी ये विशेषताएँ व्यक्ति की सामाजिक हैसियत का मानदण्ड बन जाती हैं । अंग्रेजी भाषा, और यूरोपीय वेश-भूषा का प्रसार इसका आधुनिक उदाहरण माना जा सकता है ।

इसके विपरीत रैखिक 'बी' की भाषा का क्लासिकी ग्रीक से, जो ही संस्कृत से अधिक लगाव रखती दिखायी देती है, भिन्नता इस बात का प्रमाण है कि इस क्षेत्र में प्रवेश करने वाले और आरम्भ में इस लिपि का प्रयोग करने वाले संख्या में बहुत अधिक नहीं रहे हो सकते हैं और इनकी बोली स्थानीय बोलियों से बहुत अधिक प्रभावित थी । पर साथ ही इस लिपि की सीमाओं के कारण भी इस भाषा को अटपटे ढंग से ही प्रस्तुत किया गया है जो अभी तक वर्णिक रूप नहीं ले पायी थी । आरम्भिक प्रसार के बाद इन केन्द्रों के महत्वपूर्ण होने के साथ यहाँ क्रमशः भारोपीय भाषियों का जमाव अधिक होता चला गया और भाषा में अधिक निखार आता गया । यह सम्भवतः कुछ वैसा ही मामला है जैसे पिडगिन का स्थान सम्पर्क की घनिष्ठता के साथ अंग्रेजी लेती चली जाये ।

नयी प्रेरणा का आरम्भ इस क्षेत्र में आकर बसने वाले व्यापारियों के माध्यम से हुआ लगता है जिन्होंने इस प्रायद्वीप और इसके निकटस्थ द्वीपों का चुनाव इनके व्यापारिक महत्व के कारण किया था । कारण, उर्वरता और स्थानीय सम्पदा की दृष्टि से यूनान आकर्षक क्षेत्र नहीं प्रतीत होता । ग्रीक प्रभाव के प्रसार से पहले से भी यह क्षेत्र व्यापारिक गतिविधियों का केन्द्र बन चुका था और यहाँ अपना प्रभाव जमाए हुए लोग नौचालन से परिचित थे जिसके पुरातात्विक साक्ष्य प्रचुरता से पाये जाते हैं । श्रेडर विभिन्न भारोपीय भाषाओं में डाँड़, संस्कृत—अरित्र, ग्रीक—

एरेत्रस, लिथु—हर्-ति/ इर्-क्लस्, ला.—रेम्स, त्रिरेमिस, प्राउज.—रुओदर का जिसके साथ हम अंग्रेज़ी के रडर को भी जोड़ सकते हैं और नाव, सं.—नौ, प्रा फ.—नावि, ज़ेंद—आपो नावयाओ (नौगम्य नदियाँ), ला.—नाविस, अर्मी.—नाव्, प्रा.—उज.—नाउए, प्रा. नार्स—नाउस्त (नौघाट), आदि के सादृश्यों के आधार पर यह मानते हैं कि मूल जन नौचालन से परिचित थे।[96] सं. पोत, अं. बोट और फ़्लोट को देखते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि नाव के लिए मूल भाषा में एकाधिक पर्याय थे। और हम यूनानियों के मामले में उनके विषय में मिलने वाली प्राचीनतम सूचना के समय भी उन्हें नौचालन में ही नहीं, अपितु युद्ध आदि के लिए भी नावों के प्रयोग में और वह भी समुद्रगम्य नावों के प्रयोग में निष्णात पाते हैं। ट्राय का युद्ध जितना युद्ध का वर्णन है (ईलियड) उतना ही नौ-यात्रा और इसकी यातनाओं (ओडेसी) का।

यदि इसके साथ ही हम यूनानियों के सम्पर्क-क्षेत्र पर नज़र डालें और सम्पर्क के देशों और जनों के प्रति उनके रुख़ को समझने का प्रयत्न करें तो भी यही प्रकट होगा कि वे दक्षिण और पूर्व की सभ्यताओं से अधिक जुड़े थे और उनकी संस्कृति इनसे अधिक प्रभावित थी। अपने से उत्तर के यूरोपीय देशों के लोगों को वे बहुत भर्त्सना की दृष्टि से देखते थे। लैटिमोर लिखते हैं, "हेलेनी शब्द डोरियन शब्द से निकटता रखता है। यह पेलास्जियन, कैरियन, बार्बेरियन (बर्बर) का विलोम है।" प्रकारान्तर से कहें तो, यूनान में अपना प्रभुत्व कायम करने वाला वर्ग या आर्य-भाषा-भाषी होने का दम भरने वाला वर्ग, अपनी श्रेष्ठता पर उसी तरह गर्व करता था जैसे अन्य क्षेत्रों में पहुँचे आर्य या उनसे प्रभावित वर्ग। यूनानियों, जर्मनों और ईरानियों में प्रचलित होस्पितिएम की जिस संस्था का हम उल्लेख कर आये हैं वह भी इस बात की सूचक है कि व्यापारी वर्ग चाहे अन्यत्र से आया रहा हो या स्थानीय व्यापारियों ने अपने को नयी सभ्यता से जोड़ा हो, पर उन्होंने मूलतः जिस ढाँचे का विकास किया था वह आर्य तन्त्र की देन था।

अब यदि हम होमर की रचनाओं के आधार पर गढ़े गये उस आक्रमण पर विचार करें जो आठवीं शताब्दी ई. पू. के आसपास कभी उत्तर की ओर से हुआ था तो भी हम इससे उक्त मान्यता का विरोध होते नहीं पाते। रिकमांड लैटिमोर के अनुसार, "ट्राय युद्ध के बाद भारी उथल-पुथल और बड़े पैमाने पर प्रव्रजन शुरू हुआ। इससे यूनान में बसे हुए पुराने क़बीलों को धकेलते हुए नये क़बीले घुस आये। आक्रामकों की एक जाति जिसे थिसेलियन कहा जाता है, थिसली पर कब्ज़ा कर बैठी और इसने बायोटिया के निवासियों को उखाड़ फेंका और इन्होंने फिर कैडमियनों के क्षेत्र पर अधिकार जमाया जो उसके बाद बायोटिया कहा जाने लगा। डोरियनों ने हेराक्लीज़ के वंशधरों के साथ मिलकर उत्तर दिशा से पेलोपोनीज के स्पार्टा, माइसीनिया, एर्कोस तथा अन्य स्थानों को जीतने के लिए चढ़ाई

की। ये संचलन आकस्मिक थे या क्रमिक, इसका हर मामले में हमें पता नहीं। इस बात के प्रमाण हैं कि कभी तो इन्होंने अपनी सत्ता शान्तिपूर्ण समझौतों से जमायें और कभी सीधी विजय से।"[97]

पर यह घटना, जैसा कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है, ट्राय युद्ध के बाद की है जिसका समय लगभग 1200 ई. पू. माना जाता है। इस पूरे पट-परिवर्तन का काल 1200-800 ई. पू. के बीच कहीं आता है, या चार सौ वर्षों में फैला हुआ है। स्पष्टतः उत्तर की ओर से जिस क्षेत्र पर अधिकार जमाने की बात की गयी है वह पेलीपोनीज के सन्दर्भ में है जो यूनान के दक्षिणी छोर का एक छोटा-सा उप-प्रायद्वीप है। अतः यह यूनान से बाहर से नहीं, अपितु यूनान के ही मुख्य भाग से दक्षिण की ओर हुई किसी उथल-पुथल का सूचक है, न कि मध्य यूरोप से यूनान पर आक्रमण का प्रमाण। इसका समय भी, जैसा कि हम देख आये हैं, कुछ अनिश्चित है।

टिल अलेक्जेंडर लिखते हैं, "ईसा की सातवीं शताब्दी में यूनान में स्लावों के आव्रजन से पहले यहाँ की आबादी में सबसे बड़ा अन्तिम उलट-फेर कांस्य युग के अन्त में यूनान पर डोरियनों तथा अन्य पिछड़े यूनानियों के आक्रमण के समय हुआ था। इस डोरियन आक्रमण की पुष्टि बाद की परम्परा से और सातवीं-छठी ई. पू. की शताब्दियों में ग्रीक बोलियों के प्रसार से होती है। विचित्र बात यह है कि इसका कोई वस्तुगत पुरातात्विक प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि यह माइसीनिया के भवनों और इस सभ्यता के ध्वंस से सम्बन्धित है, यद्यपि इस ध्वंस की (जिसकी चर्चा बाद की परम्परा में नहीं मिलती) आंशिक या पूर्ण व्याख्या यह हो सकती है कि यह एक आन्तरिक क्रान्ति थी।"[98]

यह अपनी अन्तिम व्याख्या में यूनान के बाहर से यूनान पर आक्रमण न होकर एक आन्तरिक क्रान्ति ही सिद्ध होता है। कारण, परम्परा के अनुसार भी इसका एक प्रमुख घटक या, संभव है, इसका नेतृत्व करने वाला वर्ग हेराक्लीज के वंशधरों का था और ट्राय युद्ध के प्रधान सेनानियों में हेराक्लीज स्वयं था। वह और उसके वंशधर बाहरी तत्व न होकर स्वयं भी यूनानी थे और यही स्थिति डोरियनों की भी रही लगती है। इसके संवाहक पशुचारी यायावर क़बीले नहीं थे, अपितु नौलाचन आदि के मामले में शताब्दियों पहले से आगे बढ़े हुए सुसंगठित लोग थे। जिन्हें क़बीलों के रूप में कल्पित कर लिया गया है वे इस क्षेत्र में स्थापित प्रमुख व्यापारिक घरानों के लोग रहे लगते हैं। हेराक्लीटस के असाधारण शौर्य के बावजूद ईलियड में उसके प्रति आगमैनन का जो उपेक्षापूर्ण रुख़ है उससे ऐसा लगता है कि उसके साथ कुलीनता का वह आभामण्डल नहीं जुड़ा था जो आगमैनन के साथ। उसके दैवी जन्म की कहानी के बावजूद ऐसा लगता है कि वह किसी साधारण स्थिति का ही एक असाधारण योद्धा था। माइसीनिया ही नहीं, अपितु पूरी माइ-

सीनियन सभ्यता के भवनों और प्रासादों को ध्वस्त करने के साक्ष्य को ध्यान में रखते हुए इसे अपने ही प्रभुवर्ग से खिन्न और उत्पीड़ित जनता का सुसंगठित और व्यापक विद्रोह माना जा सकता है । इनके इस विद्रोह ने मासीनियन सभ्यता को, इसकी उपलब्धियों के साथ ही उजाड़ और मिटाकर रख दिया और कुछ समय के लिए अव्यवस्था का दौर इतना तीखा रहा कि शताब्दियों पहले से चली आ रही लिपि और लेखन की परम्परा नष्ट हो गयी और आगे चलकर पुन: जब यूनान का एक नये ओजस्वी राष्ट्र के रूप में उदय हुआ तो इसे अपनी लिपि फ़ीनीशियनों से लेनी पड़ी । इन विद्रोहियों का क्रोध सम्पन्न वर्ग के विरुद्ध था । सिर्फ़ पेलोपोनीज के अर्कादिया के निवासियों को उन्होंने हाथ नहीं लगाया, जो कि साधारण चरवाहे आदि थे । "कुछ स्थानों पर वे शासक बन गये और शेष में अपने पूर्ववर्तियों में घुलमिल गये ।...हम डोरियन राज्यों को दक्षिणी और पूर्वी पेलोपोनीज में पाते हैं। इनमें से एक मेसीनिया में था, एक लाइकोनिया में, कई एर्गोलिद में थे और कुछ दूसरे कोरिन्थ और सिक्योन में । क्रीठ, मेगरा और एजिना में भी डोरियन जम गये थे । उत्तरी पेलोपोनेसिया के तट के अखइयन ही...माइसीनियाई आबादी के अवशेष रह गये थे ।"[99] ज़ाहिर कि यह उपद्रव भी उत्तर की ओर से ही आरम्भ हुआ हो, यह ज़रूरी नहीं । अखइयन स्वयं भी ग्रीक भाषा-भाषी ही थे ।

उत्तर से हुए डोरियन आक्रमण की आधारहीनता पर टिप्पणी करते हुए एंटनी ऐंड्रयूज़ लिखते हैं, "यूनानी गल्पों को याद करके इतिहासकार स्वभावत: यह सोचते रहे कि इतने अधिक माइसीनी केन्द्रों का ध्वंस डोरियनों तथा अन्य नवागन्तुकों के साथ जोड़ा जाना चाहिए । माइसीनियन स्थलों पर पुन: कब्ज़ा या इनका लगातार आबाद रहना इस सुझाव के घोर विरोध में जाता है । वास्तव में एर्गोलिद के साक्ष्यों से स्पष्ट प्रकट होता है कि इसके 150 वर्ष बाद तक भी ऐसा कुछ नहीं हुआ जो किन्हीं नये बाशिन्दों को प्रकट कर सके ।"[100]

इस तरह चाहे हम कुछ धैर्य के साथ उस परम्परा का विवेचन करें जिसके आधार पर यह मान लिया गया था कि डोरियनों का आगमन यूनान में उत्तर की ओर से हुआ और इसी के साथ ग्रीक भाषा का यूनान में प्रवेश हुआ, या पुरातात्विक साक्ष्यों पर ध्यान दें, हम इस डोरियन आक्रमण को भी आर्य आक्रमण की ही तरह एक मिथक ही पाते हैं । अधिक-से-अधिक यह एक जनक्रान्ति थी और थी भी उसी जाति और भाषा के लोगों द्वारा अपने प्रभुवर्ग के विरुद्ध और सम्भवत: यह विश्व की सबसे पहली सफल जनक्रान्ति थी ।

यूनान में हम माइसीनियन सभ्यता को 1600-1200 ई. पू. के मध्य रखते हैं । क्रीट और एजियन में इसे इससे कुछ पहले माना जा सकता है । इस सभ्यता का यह प्रथम चरण लगभग 19वीं शताब्दी ई. पू. में आरम्भ हुआ लगता है ।[101] यही इस क्षेत्र में आर्य-प्रभाव के प्रवेश का समय माना जा सकता है । इससे

पहले भी यह क्षेत्र, जैसा कि हम कह आये हैं, एक अन्तःसम्पर्क से जुड़ा हुआ था। इसमें परस्पर मिलती-जुलती अनेक भाषाओं का प्रयोग हो रहा था, स्थानीय बोलियों का प्रयोग हो रहा था। इस भाषा की कतिपय विशेषताओं में शब्दों के अन्त में 'न्थ' का जुड़ जाना अथवा 'स्स'/'त्त' का जुड़ जाना माना जाता है जो कोरिंथ/कोरिन्थस, पार्नेस्सस् आदि नामों में तथा अन्य शब्दों में बचा रहा गया है।[102]

इस तरह विभिन्न पहलुओं से विचार करने पर ऐसा लगता है कि यूनानी क्षेत्र में भी आर्य-भाषा का प्रसार व्यापारिक गतिविधियों के कारण हुआ था और इसकी दिशा तुर्की की ओर से भूमध्य सागरीय द्वीपों को और फिर दक्षिणी यूनान को पकड़ते हुए उत्तरी यूनान की ओर थी और यूनानी क्षेत्र में अपनी सत्ता जिन व्यापारिक लाभों को ध्यान में रख कर जमायी गयी थी उसी की अनिवार्य परिणति मध्य यूरोप के कुछ क्षेत्रों का भाषिक और सांस्कृतिक दृष्टि से आर्यीकरण रहा हो सकता है। इन क्षेत्रों की अपनी बोलियों में विद्यमान विशेषताएँ उन क्षेत्रों की स्थानीय बोलियों के प्रभाव से पैदा हुई हो सकती हैं, जो निश्चय ही यूनान से लेकर पश्चिमी एशिया के तटीय क्षेत्र तक की पूर्ववर्ती बोलियों से भिन्न रही लगती हैं और परस्पर उतनी गहनता से एक ही सूत्र से न जुड़ी होने के कारण जिस तरह यूनान से लेकर क्रीट और तुर्की तक की बोलियाँ जुड़ी थी,[103] इनमें स्थानीय विविधताएँ ग्रीक की तुलना में अधिक रही होंगी, जिन्हें बाद में ग्रीक के बढ़ते हुए प्रभाव ने कुछ कम किया होगा।

इस क्षेत्र में प्रसार का काल भी उसके आसपास ही पड़ता है जो एशिया-माइनर में।

10

एशिया माइनर

एशिया माइनर में बोग़ज़कुई से प्राप्त हित्ती अभिलेखों की चर्चा हम पीछे कर आये हैं, जिनमें एक वैवाहिक सन्धि, पत्र पर वैदिक देवताओं के नाम युग्मों (द्वन्द्व-समास) में प्रयुक्त हुए हैं और ये नाम तथा द्वन्द्व में इनका प्रस्तुतीकरण समूचे भारोपीय क्षेत्र में केवल भारत से ही साम्य रखता है। इसी प्रकार अश्व-पालन की एक पुस्तक में जिन संख्यावाचियों का प्रयोग हुआ है उनका भी सम्बन्ध केवल भारत से ही जुड़ता है, जिनमें सबसे रोचक है एक का रूप 'ऐक'।

इन अभिलेखों की भाषा में भाषाविदों के अनुसार कुछ ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जो अन्य भाषाओं की तुलना में अधिक प्राचीन हैं और साथ ही हित्ती वैदिक संस्कृत से सबसे अधिक साम्य रखती है और इसलिए यह कल्पित किया गया कि मूल

भारोपीय भाषा जिन दो शाखाओं में पहले विभाजित हुई उनमें से एक भारतीय-हित्ती शाखा है और दूसरी शेष भारोपीय भाषाओं की शाखा।[104]

उत्तरी मेसोपोटामिया के सिरे पर मितन्नी, क्षेत्र के ब्राक से हड़प्पा के ककुद्मान वृषम के आशय की एक मुहर भी मिली है। मितन्नी जिनकी भाषा आर्य-भाषा थी, इस मुहर को देखते हुए हड़प्पा व्यापारी प्रतीत होते हैं।

इस मुहर के साक्ष्य को देखकर कोसम्बी यह सुझाते हैं कि एशिया माइनर में पहुँचे हुए आर्य उस शाखा के हैं जिसने भारत पर आक्रमण किया था और जो या तो यहाँ से पराजित होने के कारण अथवा यहाँ की जलवायु आदि रास न आने के कारण एशिया माइनर की ओर लौट गये।[105] पर यह बात कुछ अटपटी लगती है कि भारत पर आक्रमण करने वालों में से वे जिन्हें मुँह की खानी पड़ी या वे जिन्हें यह क्षेत्र पसन्द नहीं आया, यहाँ से भागते-भागते भी हड़प्पा की मुहरें बनाना सीख गये, पर जिन्हें यह रास आ गया और जो यहीं बस गये उन्होंने न तो मुहरें बनाना सीखा, न ही मुहरों की लिपि से परिचित हुए।

परन्तु,जैसा कि हम देख आये हैं, कुछ विद्वान इन लोगों को भारत का ही निवासी मानते रहे हैं जो सप्तसिन्धु क्षेत्र से एशिया माइनर में पहुँचे थे और कुछ दूसरे इस विषय में निर्द्वन्द्व थे कि भारत पर आर्य आक्रमण एशिया माइनर की तरफ़ से होकर आने वाले आर्यों ने ही किया था और वे भारत की ओर बढ़ते हुए पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं का भी जायज़ा लेते हुए आये थे। इसके विपरीत कुछ इन दोनों में से किसी भी सम्भावना को सममूल्य पर रखते रहे हैं।

वास्तविकता यह है कि कम-से-कम हित्ती प्रभाव-क्षेत्र के विषय में सभी अध्येता इस विषय में एकमत हैं कि वहाँ आर्य-भाषा-भाषी जनों की संख्या थोड़ी थी और आम जनता की भाषा से उनकी भाषा बिलकुल भिन्न थी। इस थोड़ी संख्या का ही परिणाम था कि इस क्षेत्र की भाषा पर आर्य-भाषा का इतना नगण्य प्रभाव पड़ा कि यदि इन कीलाक्षरी अभिलेखों का उद्धार नहीं हो गया होता तो कोई इस बात का अनुमान भी नहीं कर सकता था कि कभी यहाँ ऐसी कोई भाषा किसी भी वर्ग के द्वारा प्रयोग में लायी जाती थी।

इतने स्वल्प लोगों द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली भाषा स्थानीय बोलियों या जन-सामान्य की भाषा के प्रभावों से कैसे बच सकती थी? उसमें विकृतियों का आना स्वाभाविक ही था। जिन विशेषताओं की ओर यह कहकर इशारा किया जाता रहा है कि ये हित्ती को कुछ मामलों में संस्कृत से भी प्राचीन सिद्ध करती हैं, वे इस प्रकार के प्रभावों से आने वाली विकृतियाँ हैं। इनमें से कुछ तो स्वयं भारत में ही वैदिक की बोलियों की विशेषताएँ हैं जिनको एक कृत्रिम और मानकीकृत रूप देते हुए संस्कृत की सर्जना की गयी थी, पर जो इसके बावजूद बोलियों में बहुत बाद तक प्रचलित रही थीं। यह पहलू हित्ती-खत्ती में तो प्रकट

होता है ही, संख्यावाचियों में और भी मुखर है। इसे हित्ती के पंज, सत्त आदि की तुलना पालि आदि में पाये जाने वाले प्रयोगों से करते हुए समझा जा सकता है। इसी हित्ती में कंठ्य वर्णों ह,क आदि के एकाधिक प्रभेदों को सामी भाषाओं में इनके प्रभेदों को सामने रखने पर समझा जा सकता है जिनकी भारत में प्रयुक्त वर्णमाला में भी अ (अलीफ़ और ऐन), ह (हे और दोचश्मी हे), क (काफ, क़ाफ), ग (गाफ, ग़ैन) के एकाधिक रूपों में लक्ष्य किया जा सकता है।

एशिया माइनर में पहुँचने वाले आर्य-भाषा-भाषी क्या आक्रमणकारी थे? बट कृष्ण घोष लिखते हैं, "यद्यपि कप्पादोसिया पर इतने पहले ही हित्तियों का अधिकार हो गया था, फिर भी इसे उनका मूल निवास नहीं माना जा सकता। कारण, वही क्षेत्र जहाँ हित्ती साम्राज्य का उदय हुआ इससे पहले कई शताब्दियों से असीरियनों के हाथ में था और पूरे देश में असीरियाई व्यापारिक बस्तियाँ बसी हुई थीं। परन्तु ये व्यापरिक बस्तियाँ 1950 ई. पू. के आस-पास एकाएक ख़त्म हो गयीं। जाहिर है कि यह हित्ती आक्रमण के कारण हुआ जिनके उपरिलिखित अभिलेखों को लगभग 1400 ई. पू. के आस-पास रखा जा सकता है।"[106]

आक्रमण राज्य-सत्ता पर होते हैं और आम तौर पर इनका व्यापार पर सीधा असर नहीं पड़ता। असीरियाई व्यापारियों की बस्तियों का बीसवीं शताब्दी में उजड़ जाना इनके प्रतिस्पर्धी व्यापारियों के हावी होने के कारण भी सम्भव है। इससे हम यह नतीजा भी निकाल सकते हैं कि आर्य-भाषा-भाषी व्यापारियों ने इससे पहले इस क्षेत्र पर छाये हुए असीरियाई व्यापारियों के हाथ से व्यापार छीन लिया और क्रमशः अपनी स्थिति इतनी सुदृढ़ कर ली कि आगे चलकर ये स्थानीय प्रशासन को भी अपने हाथ में लेने में सफल हो गये।

उनकी संख्या भी इस विषय में हमें निराश करती है। अपनी अल्पसंख्यकता के बावजूद उनका इस क्षेत्र के प्रशासन पर हावी हो जाना इस क्षेत्र पर इनके व्यापारिक प्रभाव और एकाधिकार का ही सूचक है। इनके द्वारा मुहरों के प्रयोग का भी व्यापार से ही सम्बन्ध हो सकता है। पर इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है इन अभिलेखों में मिला एक त्रिभाषिक शब्दकोश। इसमें सुमेरी और बेबीलोनी और हित्ती के प्रतिशब्द दिये गये हैं जिससे प्रकट है कि इनका सुमेर और बेबीलोन से नियमित और घनिष्ठ व्यावहारिक सम्बन्ध बना हुआ था।

एशिया माइनर के इस क्षेत्र में पहुँचने के दो सम्भावित मार्ग दिखायी देते हैं: एक काला सागर तक फैले व्यापारिक केन्द्रों की ओर से और दूसरा फ़ारस की खाड़ी की ओर से फ़रात नदी को पकड़कर। सुमेर और बेबीलोन से इनके व्यापारिक सम्पर्क को इस बात का निर्णायक प्रमाण नहीं माना जा सकता कि इस क्षेत्र में प्रवेश भी इस दिशा से ही हुआ। पर अश्व-पालन में इनकी रुचि और दक्षता को ध्यान में रखते हुए यह सोचना अधिक संगत होगा कि इस क्षेत्र में अपना व्यापारिक प्रभुत्व

कायम करने वाले मीदिया की ओर से आये होंगे और इनका सम्पर्क उन किला-बन्द अड्डों से रहा सकता है जो तीसरी सहस्राब्दी में आस्ट्रिया, पोलैंड, मीदिया आदि में फैल चुके थे। अत: यदि इन व्यापारियों की आरम्भिक अवस्था में अश्व-पालन और विपणन में दिलचस्पी थी तो ये तीसरी शताब्दी तक इस क्षेत्र में पहुँच चुके रहे होंगे और अपनी समृद्धि के बल पर प्रशासनिक मामलों में भी दिलचस्पी कायम करने और इसमें सफल होने में इन्हें शताब्दियों का समय लगा होगा। चौदहवीं शताब्दी ई. पू. के इन अभिलेखों के आधार पर यह सोचना कि इनके पहुँचने और सत्ता में आने का भी यही समय रहा होगा, न, तो उचित है, न ही किसी ने इस तरह का प्रस्ताव ही रखा है। जिन अभिलेखों से उनकी भाषा, देव-नामों आदि के विषय में हमें जानकारी मिलती है वह अपने ढंग की एक विशेष घटना और विशेष स्थिति की देन है, जिसका इनके प्रवेश-काल से सीधा सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में स्थानीय भाषा का जिस हद तक दूषण हो चुका है और हित्ती भाषा में आर्य-भाषा के तत्त्वों का जो अनुपात है वह इनको कई शताब्दी पहले से बसा सिद्ध करता है। स्थिति यह है कि हाल ही में एक अध्येता ने हित्ती अभिलेखों आदि में दर्ज व्यक्तिनामों, देवनामों और संख्यावाचियों के आधार पर इस मान्यता पर ही सन्देह प्रकट किया है कि इसे एशिया माइनर में भारोपीय भाषा के विद्य-मान होने का निर्णायक प्रमाण माना जा सकता है।[107] जहाँ तक उक्त लेखक द्वारा मात्र व्यक्तिनामों के आधार पर भारत और पश्चिमी एशिया के वंशों या स्थान-नामों का आभास देने वाले शब्दों को पश्चिम के सादृश्य रखने वाले स्थानों से पूर्ण सादृश्य कायम करने का प्रयत्न करने वाले कुछ लेखकों के मत की आलोचना का प्रश्न है, उक्त लेखक की राय से सहमत हुआ जा सकता है। पर दोनों क्षेत्रों में प्रचलित व्यक्तिनामों, देवनामों और संख्यावाची शब्दों के सादृश्य को नकारने के लिए जो तर्क दिये गये हैं उनसे सहमत होना कठिन है।

11

दजला और फ़रात का क्षेत्र

हड़प्पा सभ्यता का पता चलने से पहले पश्चिमी एशिया की उन सभ्यताओं का पता चल चुका था जिनका उदय दजला और फ़रात की खाड़ी में हुआ, अत: हड़प्पा सभ्यता पर विचार करते समय बार-बार लेखकों का ध्यान इन सभ्यताओं की ओर जाता रहा जिनके उदय का काल भी परिपक्व हड़प्पा से काफ़ी पीछे जाता था। लेखकों के पास इस बात का प्रमाण है कि नगर-सभ्यता का उदय इस क्षेत्र में नहीं हुआ और इसके बावजूद अब तक उनको जिन नगर-सभ्यताओं का

परिचय प्राप्त है उनमें सबसे प्राचीन सुमेरिया और बेबीलोनिया की नगर-सभ्यताएँ ही सिद्ध होती हैं। यह विरोधाभास अध्येताओं के लिए एक चुनौती-सा बना रहा है और इसको लेकर तरह-तरह के अनुमान लगाये जाते रहे हैं और आज भी इनका सिलसिला जारी है।

वास्तविकता यह है कि जिस तरह ईरानी और बाल्टिक परम्पराएँ यह स्वीकार करती हैं कि यहाँ उन्नत तकनीक और सभ्यता के विभिन्न घटकों का एक ख़ास चरण पर बाहर से आने वाले लोगों द्वारा, और बाल्ट परम्परा में तो स्पष्टतः भारत से आने वाले ऐसे लोगों द्वारा जो वैदिक परम्परा के प्रचारक थे, प्रसार किया गया, उसी तरह सुमेरी परम्परा भी सभ्यता के बीजारोपण का श्रेय पूर्व की ओर से आने वाले लोगों को देती रही है। बेबीलोन की प्राचीन परम्पराओं के आधार पर इसका इतिहास लिखते हुए बेरोसस (तीसरी शताब्दी ई. पू.) ने लिखा है कि दैत्यों का एक दल पूर्व की ओर से समुद्र-मार्ग से फ़ारस की खाड़ी में पहुँचा। इसका नेता ओएनेस (उषनस् ?) था। अपने साथ उन्नत तकनीक लेकर आने वाले इन लोगों के प्रति सुमेरियनों की कृतज्ञता इस स्वीकारोक्ति में देखी जा सकती है कि इन आने वाले विलक्षण लोगों ने ही धातु-विद्या, कृषि और लेखन आदि का प्रसार किया और "उन सभी चीज़ों का आरम्भ किया जो उन्नत जीवन के लिए आवश्यक हैं, और उस समय से लेकर आज तक कोई नया आविष्कार नहीं हुआ।"[108]

रे. हेरास ने बेरोसस के विवरण में आये इन हवालों को लेकर कि आगन्तुक जन आधे मनुष्य और आधे मत्स्य थे, वे अपनी बस्ती बसाने तक रात के समय किनारे पर न आकर अपनी नौकाओं में ही सोते थे, और बाइबिल की सृष्टि-कथा में भी इस बात की पुष्टि देखते हुए कि सभ्यता का प्रसार करने वाले इस क्षेत्र में पूर्व की ओर से आये थे, साथ ही सुमेरिया और हड़प्पा की सभ्यताओं में पाये जाने वाले साम्यों को ध्यान में रखते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सुमेर में सभ्यता का प्रसार हड़प्पा सभ्यता के निर्माताओं ने किया था। वह अपनी इस मान्यता पर अन्त तक कायम रहे।[109] कुछ अन्य लोगों को इस प्रेरणा के पीछे बलूची संस्कृतियों का, विशेषतः कुल्ली के लोगों का हाथ दिखायी देता रहा जिनके बनाये हुए घीया पत्थर के डिब्बे सुमेरिया और मेसोपोटामिया में आरम्भ से ही मिलने लगते हैं। ऐसा समझा जाता है कि कुल्ली के व्यापारी इनमें सौख्य प्रसाधन या गन्धद्रव्य आदि भरकर मेसोपोटामिया को निर्यात करते थे।[110]

सुमेरी सभ्यता का उदय एक जटिल पहेली है। इसकी उत्पत्ति के विषय में सैग्स लिखते हैं, "सुमेरियनों की उत्पत्ति के विषय में कोई चर्चा आज भी यह मानकर ही शुरू की जा सकती है कि वे जहाँ कहीं से भी क्यों न आये रहे हों, यह सुमेर नहीं था। इसे चुनौती तो दी गयी है, पर इस चुनौती के समर्थन में कोई संगत तर्क

नहीं दिया गया है। वास्तव में सुमेर में स्थानीय आबादी थी ही नहीं। यह पुराना ख़याल कि पाँचवीं सहस्राब्दी तक सुमेर फ़ारस की खाड़ी से निकला ही नहीं था, अब ग़लत माना जाता है। इस बात के अकाट्य पुरातात्विक साक्ष्य हैं कि एरिदू काल, जिसे 4500 ई. पू. या इससे कुछ बाद में रखा गया है, से पहले बेबीलोनिया में मानव संस्कृति का कोई अवशेष नहीं मिलता।"[111]

कुछ दशक पहले तक यह आशा बनी हुई थी कि सम्भव है बहरीन की खुदाई से इस समस्या का हल निकल आये,[112] पर अब यह आशा भी झूठी पड़ गयी है। एक बात साफ़ रही है कि नगर-सभ्यता की उत्पत्ति को पश्चिमी एशिया के दायरे से बाहर जाकर समझने के लिए अध्येता तैयार नहीं रहे हैं। अतः इसके बाहर के किसी प्रस्ताव को कटाक्षपूर्वक नकारना स्वाभाविक ही था। सैग्स लिखते हैं "कुछ दूसरे लोग हैं जो सुमेरियनों के उद्भव को सिन्धुघाटी की या दक्षिणी बलूचिस्तान की प्राथमिक संस्कृति से या इन दोनों से जोड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं। सिन्धुघाटी (हड़प्पा) संस्कृति के लोग जिनकी लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है, आर्यों से पहले के द्रविड़ रहे हो सकते हैं जो अब दक्षिण भारत में पाये जाते हैं और सुमेरियनों और हड़प्पावासियों के बीच रक्त-सम्बन्ध की बात उन्हीं को आकर्षक लग सकती है जो सुमेरियनों और द्रविड़ों के बीच भाषागत साम्य देखने के लिए आस्थावान हों।"[113]

इस बात को तो लगभग सभी विद्वान मानते हैं कि पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं पर भारतीय व्यापारी छाये रहे थे और विभिन्न नगरों में इनके अपने अड्डे थे,[114] पर "तीसरी सहस्राब्दी के इस साक्ष्य के आधार पर सुमेरियनों और द्रविड़ों के बीच उरुक काल से ही वाणिज्यिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों से भी आगे बढ़कर एक नृतात्विक और भाषाई सम्बन्ध तक गढ़ डालने का सिद्धान्त एक आकर्षक नज़रिया है जिसके विषय में यदि किसी चीज़ की कमी है तो वह है प्रमाण की।" अतः "निरापद रूप में अधिक-से-अधिक इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सुमेरियन बेबीलोन में पूर्व की ओर से कहीं से आये थे।"[115]

इस कठिन समस्या को, जो नगर-सभ्यता के उदय से जुड़ी हुई है, सुलझाने से अधिक उत्साह सभ्यता का जनक होने का श्रेय हथियाने के लिए रहा है और इसलिए इस छीन-झपट को रोकने के प्रयत्न भी उतने ही ज़ोरदार रहे हैं। इन दोनों ने समस्या को सुलझाने के स्थान पर उलझाया ही अधिक है।

यदि हम इस समस्या को सुलझाना चाहते हैं तो पहले इसके उन मुद्दों को स्पष्ट कर लेना होगा जो इसे असाध्य बनाती हैं। इन्हें पहले हम कुछ प्रश्नों के रूप में रखकर इनका उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न कर सकते हैं :

1. सुमेरी परम्परा से जिन लोगों के आगमन की सूचना मिलती है, क्या यह किसी बड़े पैमाने पर आव्रजन को प्रकट करता है? कारण, भाषा और रक्त-

सम्बन्ध ढूँढ़ने का औचित्य इसी के सन्दर्भ में हो सकता है।

2. क्या यह आक्रमण का मामला था ? ऐसी स्थिति में इस क्षेत्र का जनशून्य होना ग़लत है। आक्रमण पहले से बसे हुए किन्हीं लोगों के ऊपर ही हो सकता है।[116]

3. क्या यह पहले से बसे लोगों के बीच उन्नत सभ्यता के घटकों के साथ कुछ थोड़े-से लोगों के प्रवेश का और उनकी प्रेरणा से सभ्यता के उदय की कहानी है ? ऐसी स्थिति में भी इस क्षेत्र को जनशून्य नहीं होना चाहिए।

4. ऊपर के क्रमांक दो और तीन में से किसी भी स्थिति में स्थानीय आबादी की पुष्टि होती है। ऐसी स्थिति में क्या यह कथन सही है कि हमारे पास इस बात के अकाट्य पुरातात्विक साक्ष्य हैं कि एरिदू काल से पहले फ़ारस की खाड़ी का यह क्षेत्र जनशून्य था ?

5. वे लोग जो सभ्यता के समस्त तत्त्वों के साथ सुमेर में पहुँचे थे, कहाँ के निवासी रहे हो सकते हैं ? उनका इस क्षेत्र में आगमन किन प्रयोजनों से हुआ हो सकता है ?

पहले प्रश्न का उत्तर नहीं में दिया जा सकता है। इसका पहला कारण तो यह है कि कुछ थोड़ी-सी या, सम्भव है, किसी एक ही नौका में बैठकर आये हुए लोगों की संख्या इतनी अधिक नहीं हो सकती कि वे सुमेर के विभिन्न नगरों को अल्प समय में ही उस तरह आबाद कर सकें जिस तरह आबाद हम इन्हें पाते है। दूसरे,यदि यह पूरा क्षेत्र उन्हीं के द्वारा पहली बार बसाया जा रहा था तो ये अपनी ही नज़र में अर्धमानव और अर्धदैत्य नहीं हो सकते थे। तीसरे, यदि तट पर किसी तरह की आबादी ही नहीं थी तो अपनी रातें गुज़ारने के लिए उन्हें नौकाओं में ही नहीं रहना पड़ता। चौथे, यदि वे सभ्यता के एक उन्नत स्तर पर पहुँचे हुए थे और उसके साथ इस क्षेत्र में आये तो इस विषय में सचेत भी नहीं हो सकते थे कि वे पहली बार सभ्यता के नये तत्त्वों का बीजारोपण कर रहे थे। अधिक-से-अधिक वे इसके लिए अपने मूल देश को याद कर सकते थे।

दूसरे प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक ही हो सकता है। कारण, न तो इसका कोई संकेत सुमेरी परम्परा से मिलता है, न ही बाइबिल से। ऐसी स्थिति में सुमेर की भाषा और नृतात्विक रचना के लिए वहाँ पहले से आबाद लोग उत्तरदायी हो सकते थे, और थे। अतः भाषागत औन रक्त-सम्बन्धी सादृश्य ढूँढ़ने का और इसके न मिलने पर उलझन में पड़ने या किसी अन्यथा संगत सम्भावना को नकारने का कोई औचित्य नहीं।

तीसरे प्रश्न का उत्तर ही हाँ में दिया जा सकता है, और ज़ाहिर है कि यह क्षेत्र पहले से आबाद ही नहीं था, अपितु इसकी ग्राम संस्कृतियाँ अपने पड़ोस की अन्य ग्राम संस्कृतियों के सम्पर्क में काफ़ी पहले से थीं।

चौथे प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि विद्वानों का यह मत कि उनके पास इस बात के अकाट्य पुरातात्विक प्रमाण हैं कि यह क्षेत्र पहले आबाद नहीं था, पुरातात्विक साक्ष्यों की सीमाओं के विषय में सचेत न रहने और उपलब्ध प्रमाणों की इकहरी व्याख्या का परिणाम है। विल डुरांट सुमेरी सभ्यता का मूल्यांकन निम्न वाक्य से आरम्भ करते हैं, "सुमेरी सभ्यता का सार दो विरोधाभासों के रूप में पेश किया जा सकता है : अनगढ़ भाण्ड और निपुण हाथों से बने आभूषण। यह अपरिष्कृत समारंभों और यत्र-तत्र विलक्षण सिद्धहस्तता का सम्मिश्रण है।"[117] इन अनगढ़ और सधे हुए हाथों की कृतियों में ही स्थानीय आबादी और विलक्षण सिद्धहस्तता लेकर इनके बीच आने वाले नये जनों के पुरातात्विक प्रमाण पाये जा सकते हैं।

बेरोसस द्वारा वर्णित सुमेरी परम्परा पर आधारित इतिहास जहाँ स्थानीय आबादी और आगन्तुक जनों के विषय में व्यंग्य रूप में संकेत देता है वहाँ बाइबिल का विवरण इसे कुछ अधिक मुखर रूप में पेश करता है। इसके अनुसार :

"और ऐसा हुआ कि जब वे पूर्व से आये तो उन्हें सिनार में एक समतल मैदान मिला और वे उसमें बस गये। और उन्होंने आपस में तय किया कि आओ हम ईंट तैयार करें और इसे अच्छी तरह पकायें। और उन्होंने पत्थर के स्थान पर ईंट तैयार किया और मसाले के स्थान पर कच्चा गारा (प्रयोग में लाना आरम्भ किया)। और उन्होंने कहा, चलो हम एक शहर बनायें, और एक मीनार बनायें। आओ हम अपनी कीर्ति का विस्तार करें कि कहीं हम पूरी धरती पर बिखर न जायें।"[118]

इसके पहले वाक्य से लगेगा यह एक जनशून्य प्रदेश में आकर बसने वाले नये जनों का माममला है। यह भ्रम आगे बढ़ते ही टूट जाता है जहाँ यह स्पष्ट होता है कि इससे पहले और बाद की स्थिति में अन्तर केवल इस बात में आया कि पहले पत्थर आदि की चिनाई से दीवारें खड़ी करके मकान बनाये जाते थे और इन आगन्तुकों के साथ पहली बार ईंटें बनाने और इन्हें पकाकर मकान बनाने का आरम्भ हुआ और पहले नगर नहीं थे जबकि इसके साथ नगरों का आरम्भ हुआ।

पाँचवें प्रश्न का उत्तर कुछ अस्पष्ट है। इसमें इतना ही बताया गया है कि ये लोग पूर्व की ओर से आये थे। यह पूर्व का स्थान कहाँ और कितनी दूर था, इस विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। इसका उत्तर देने से पहले कुछ और प्रश्न उठाये जा सकते हैं। क्या पूर्व का यह स्थल पश्चिमी एशिया का ही सुमेर से पूर्व का कोई स्थल, जैसे सूसा, तेपे याह्या, हिसार, नमज्गा, आल्तिन देपे आदि में से कोई एक नहीं हो सकता? क्या इसकी खोज सुमेर के आरम्भिक चरण में पाये जाने वाले मृद्भाण्डों के साम्य के आधार पर नहीं की जा सकती? या क्या यह स्थल उन संस्कृतियों में से कोई नहीं है जो आद्य नगरीय चरण तक विकास कर

चुकी थीं ? यदि नहीं, तो क्या कोई ऐसा क्षेत्र हो सकता है जहाँ नगर-सभ्यता का जन्म हो चुका रहा हो और जिसे खाड़ी क्षेत्र में नगर-सभ्यता का प्रेरक माना जा सके ? यह एक टेढ़ी समस्या है और इस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

भारत और मेसोपोटामिया के सम्पर्क के विषय में काफ़ी कुछ लिखा गया है जिसके विस्तार में जाने की यहाँ छूट नहीं है। यहाँ जिन दो मूल मुद्दों को उठाया जा सकता है वे निम्न प्रकार हैं :

1. पश्चिमी एशिया में विभिन्न स्थलों से प्राप्त हड़प्पा सभ्यता से सम्पर्क के भौतिक प्रमाण 2300-2000 ई. पू. की कालावधि से ही क्यों सम्बन्ध रखते हैं ? यदि सम्पर्क पुराना था, और जैसा कि ऊपर की व्याख्या से लगता है, यदि यह नगर-सभ्यता के खाड़ी क्षेत्र में उदय के समय से ही था, तो उस प्राचीन दौर के प्रमाण क्यों नहीं मिलते ?

2. भारतीय व्यापारिक प्रसार के परिणामस्वरूप जिन देशों या क्षेत्रों से इसका गहन सम्पर्क कायम हुआ वहाँ की भाषा और संस्कृति पर इसकी गहरी छाप देखने में आती है। ऐसा पश्चिम एशिया की नगर-सभ्यताओं और पूरे क्षेत्र के मामले में क्यों नहीं हुआ ?

इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले यह कहना जरूरी है कि मानव-सम्पर्क के सभी घटकों के भौतिक प्रमाण नहीं ढूंढ़े जाने चाहिए। इनकी पहचान के दूसरे भी उपाय हैं। दूसरे, जहाँ प्रमाण उपलब्ध भी हैं वहाँ इनकी प्रासंगिकता का पहलू इनकी प्राप्ति से अधिक महत्व रखता है।

ऊर से वूली को उनके अनुसार महाप्लावन के स्तर से नीचे आमेजनाइट के मनके मिले थे। इनका निकटतम स्रोत उनके अनुसार नीलगिरि का भारतीय क्षेत्र प्रतीत हुआ था।[119] आमेजनाइट के मनके हड़प्पा काल में भी लोकप्रिय थे। ह्वीलर ने यह सुझाया था कि इसकी प्राप्ति का स्थल अहमदाबाद से उत्तर की ओर हीरापुर था जो सिन्धु से 400 मील से भी कम की दूरी पर पड़ता है।[120] इसके अतिरिक्त कुल्ली के कारीगरों के हाथों बने घीया पत्थर के डिब्बे सुमेरियाई नगरों के अनेक स्थलों से पाये गये हैं और ये प्राचीन काल से ही मिलने लगते हैं जिनमें सौख्य प्रसाधन व गन्धद्रव्य आदि भर कर निर्यात किये जाने का सुझाव रखा गया है।[121] इसके आधार पर यह कल्पना भी की गयी है कि कुल्ली के लोग समुद्र-मार्ग से पश्चिमी एशिया के नगरों से व्यापार करते थे।

परन्तु इस सम्पर्क की गहनता का सही मूल्यांकन उन सांस्कृतिक तत्वों को सामने रखकर ही किया जा सकता है जिनका सुमेरी मानसिकता और विश्वासों के निर्माण में हाथ रहा लगता है। सुमेरी देवताओं के नाम यद्यपि सुमेरी भाषा में मिलते हैं, पर ये प्रधान वैदिक देवताओं के प्रतिरूप हैं, यथा, सूर्य—शम्स, इन्द्र-मर्दुक, वरुण—रम्मान, सोम या चन्द्रमा—सिन, वृत्र—तैमात सुमेरी तन्त्र-मन्त्र का

कुछ असर अथर्ववेद के एक सूक्त में देखा जा सकता है जिसमें आलिगी, विलिगी, उरुगूला, तैमात, अप्सू, ताबुवं, आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है और जिन्हें सुमेरी माना गया है।[122]

सुमेरी जनों की, विशेषतः महिलाओं की वेश-भूषा और केशविन्यास की शैली पर भारतीय प्रभाव देखा गया है[123], जो आँखों में काजल, होठों पर लाली, बालों में तेल और शरीर पर उबटन लगाती थीं। पर इसके बावजूद आरम्भिक साम्य या प्रभाव उतने मुखर नहीं हैं जितने बाद के। परिपक्व हड़प्पा काल की तरह इन्हें इतना निर्णायक नहीं पाया जाता कि इनको स्थान और काल के सुनिश्चित दायरे में बाँधा जा सके। पर इसके बावजूद स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है जितनी अनेक दूसरे क्षेत्रों के विषय में पायी जाती है जिनसे भारत के सम्पर्क का पता उनके भाषागत साक्ष्यों के अभाव में नहीं चल सकता था, और जहाँ पता है भी वहाँ इस सम्पर्क के काल और दिशा के विषय में इतना भ्रम बना रहा है कि लगभग दो शताब्दियों का लम्बा समय पहेलियाँ बुझाते और 'आक्रमण' के समय और 'अभियान' की दिशा तय करने में ही लग गया और अब जाकर विद्वानों को यह बोध हुआ है कि यह कहीं भी आक्रमण या अभियान से जुड़ा हुआ नहीं था।[124]

पर सुमेरी क्षेत्र में आर्य-भाषा और संस्कृति का उस तरह का गहरा असर नहीं पड़ा जितना अन्य क्षेत्रों पर। इसका कारण स्पष्टतः यह है कि परिपक्व हड़प्पा काल से पहले जब तक भारतीय व्यापारियों ने विदेशों में अपनी बस्तियाँ और अड्डे नहीं कायम किये थे, उनका प्रभाव अन्यत्र भी क्षीण ही रहा। पर इस चरण तक खाड़ी क्षेत्र के विभिन्न नगरों ने अपनी सभ्यता का स्तर इतना ऊँचा कर लिया था कि वे कुछ मामलों में अपने समकालीन हड़प्पावासियों से भी आगे बढ़ चुके थे। अपनी निजी भाषा, संस्कृति और विश्वासों को भी तदनुरूप विकसित कर लेने के कारण भारतीय व्यापारी उनके प्रतिस्पर्धी तो थे, पर उनसे आतंकित होने का और श्रेष्ठता-बोध के लिए उनकी भाषा और संस्कृति को समग्रतः अपनाने का प्रश्न नहीं उठता था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सुमेर, मेसोपोटामिया, बेबीलोन, अक्काद और एलाम पर भारतीय प्रभाव पड़ा ही नहीं। वस्तुतः इसका सही मूल्यांकन करने के लिए एक स्वतन्त्र अध्ययन की आवश्यकता होगी। हम इतना ही कह सकते हैं कि इस विषय में जो सूचनाएँ अब तक प्राप्त हैं वे कम-से-कम इतनी प्रभावशाली तो हैं ही कि इनके आधार पर यह सुझाव बार-बार दिया जाता रहा है कि भारतीय आर्य भारत में सुमेरी, मेसोपोटामियाई, बेबीलोनी, अक्कादी, एलामी, असीरियाई सभी तरह के प्रभाव लेकर भारत पहुँचे थे और कुछ के अनुसार तो ऋग्वेद के कुछ अंशों की रचना मेसोपोटामिया में ही हुई हो सकती है।[125]

पश्चिमी एशिया के नगर-केन्द्रों में हड़प्पा के जिन व्यापारियों की बस्तियाँ बसी थीं वे वैदिक व्यापारी थे और जिन आपदाओं के कारण हड़प्पा के नगरों का ह्रास और पतन हुआ उनका ही एक भिन्न प्रभाव इन बस्तियों के व्यापारियों पर पड़ा। वे भारतीय सूत्र से कट जाने के कारण अपने क्षेत्र में ही सक्रिय हो गये और कुछ क्षेत्रों में उन्होंने अपनी शक्ति इस सीमा तक बढ़ायी कि वे वहाँ की सत्ता की बागडोर भी अपने हाथों में लेने में सफल हुए, यद्यपि इस दौर में भी वे स्थानीय भाषा को प्रभावित नहीं कर सके। सम्भवतः वे स्वयं भी व्यापारिक कारणों से अपने क्षेत्र की भाषा ही अपना चुके थे। इसके बावजूद उनके नाम अपनी पुरानी रीति पर ही रखे जा रहे थे और इनके नाम और यत्रतत्र इनके देवनाम जिनकी पूजा भी इनमें बहुत बाद तक प्रचलित रही लगती है असीरियाई, मितन्नी और कस्सी अभिलेखों में मिले हैं, जिसकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं। राजा मतिवाज तथा बेबीलोनी देवताओं में शूरिअस और मरुत्तस—सूर्य और मरुत,[126] नाम तथा बेबीलोन में अश्वमेध का प्रचलन[127] इस बात का प्रमाण है कि मिस्र से लेकर एलाम तक के क्षेत्र में ये आर्य व्यापारी कितने प्रभावशाली बने हुए थे और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा क्या थी।

हम हड़प्पा सभ्यता को एक अनार्य सभ्यता मान कर चलते रहे हैं और वैदिक साहित्य से इसका कोई सम्बन्ध न मानकर हड़प्पा सभ्यता के भारत से बाहर पड़ने वाले प्रभाव और व्यापारिक सम्पर्क को केवल पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर समझने की चेष्टा करते रहे हैं और इसलिए हम उस व्याप्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते जो इस बात के स्पष्ट होने पर दिखाई देती है कि हड़प्पा के जिस लुप्त साहित्य की कल्पना की जाती रही है[128], उसी का एक अवशिष्ट अंश ऋग्वेद है और इस सभ्यता का प्रसार और एकाधिकार उसी अनुपात में देखा जा सकता है जिस अनुपात में आर्य भाषा का प्रसार दिखायी देता है। अनेक क्षेत्रों में इनकी उपस्थिति इतनी प्रभावशाली दिखायी देती है कि लगता है, भारतीय मूल के लोगों ने ही इस क्षेत्र को आबाद कर दिया था। परन्तु इतने विशाल क्षेत्र को देखते हुए यह सोचना ग़लत होगा कि यह भारत से बड़े पैमाने पर प्रव्रजन का मामला है। इसका कुछ साम्य सत्रहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के दौर में विश्व के दूरस्थ क्षेत्रों तक फैलने वाले अंग्रेज व्यापारियों और प्रशासकों में देखा जा सकता है, परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि इतिहास जहाँ अपने को दुहराता भी है वहाँ ठीक पहले जैसे ढंग से नहीं दुहराता, अतः दो भिन्न क्षेत्रों या कालों में दृष्टिगोचर होने वाली प्रत्यक्ष समानताओं के बावजूद इनको सर्वसदृश मानने से यान्त्रिकता और सतही-पन आने का ख़तरा रहता है। अतः जहाँ समानताएँ प्रकट भी होती हैं वहाँ भी अधिक ध्यान इनमें से प्रत्येक की विशिष्टता पर दिया जाना चाहिए। यदि हमारी दृष्टि इस विषय में स्पष्ट रहेगी तो समानताएँ तो स्वतः उजागर हो जायेंगी। अब

तक प्रसारवादी मान्यता के तकाज़े से विशिष्टताओं की खोज की तुलना में समानताओं के आरोपण का प्रयत्न अधिक मुखर रहा है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. सच्चिदानन्द मिश्र, प्राचीन भारत में ग्राम और ग्राम्य जीवन, 1984, 22.
2. मैक्समूलर, सिलेक्टेड एसेज़ ऑन लैंग्वेज माइथॉलॉजी ऐंड रिलिजन, 1, 1881, 214.
3. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, 1954, 55-56.
4. कृण्वन्तः विश्वं आर्यं। ऋ. 9.63.5; आर्याव्रताः विसृजन्तः अधिक्षमि। ऋ. 10.65.11.
5. देखें, काल्डवेल, ए कंपैरेटिव ग्रामर ऑफ़ दि द्रविडियन ऑर साउथ इंडियन फ़ैमिली ऑफ़ लैंग्वेजेज़, 1913, 53 और आगे; ए. एस. आइलर, 'द्रविडियन ऐंड यूरालियन : दि लेक्सिकल इविडेंस', लैंग्वेज, 1968, 44, 798-812; डी. डब्ल्यू. मैक एल्पिन, 'एलामाइट ऐंड द्रविडियन : फ़र्दर इविडेंस ऑफ़ रिलेशनशिप', करेंट ऐंथ्रोपॉलॉजी, मार्च 1975, 16.1.105 और आगे; टी. बरो, पेपर्स ऑन द्रविडियन लिंग्विस्टिक्स, 1968; राहुल सांकृत्यायन, हिस्ट्री ऑफ़ सेंट्रल एशिया, 1964, 2, आदि।
6. देखें, वायुपुराण, अध्याय 41; महाभारत, 3, अध्याय 151-54, आदि।
   क. इत्येतत्ते महाराज पृच्छतः शास्त्र चक्षुषा।
   ···यथादृष्टं मया प्रोक्तं सनिर्याणमिदं जगत्॥ महाभारत 6.13.46-47
   ख. एस. ए. अली, दि ज्यॉग्राफ़ी ऑफ़ दि पुराणाज़, 1973, 56.
7. जहाँ पुराणकार अधिक तथ्यपरक होने की चेष्टा करता है वहाँ उसकी सीमाएँ अधिक उभरकर आती हैं। उदाहरण है मत्स्य पुराण का यह प्रकृति-चित्रण जिसका सम्बन्ध हिमालय के उस क्षेत्र से है जहाँ पुरूरवा पहुँचे थे और जिसका अनुवाद रामप्रताप त्रिपाठी ने निम्न प्रकार किया है, "दैव योग से (महाराज पुरूरवा) उसी पर्वतराज हिमालय के सुरम्य प्रदेश में—जहाँ पर कोई अन्य मनुष्य नहीं जा सकता था—पहुँच गये, जिससे श्रेष्ठ नदी ऐरावती निकली हुई है और जो मेघ के समान काले रंग का है। वह अनेक प्रकार के शाल (साखू), ताल (ताड़), तमाल, शाल्मलि (सेमर), बरगद, पीपल,

सिरसा, तथा शीशम के वृक्ष के समूह...सतौन, छतवन, नीम, चन्दन, बेल, खजूर, नारियल,...आदि से सुशोभित था।" 272-73. पर्वतों, नदियों, नगरों, देशों, वृक्षों के इसी प्रकार के विवरण सभी पुराणों में देखने को प्रायः मिलते हैं।

8. देखें, जयचन्द्र नारंग वेदालंकार, 'रिजनल स्ट्रक्चर ऑफ़ इंडिया इन रिलेशन टु लैंग्वेज एंड हिस्ट्री', कहेइं., 1958, 42 पर देखें।

9. यथा, 'गान्धर्वैरप्सरोभिश्च देवैश्च परमार्चिताम्।
सेवितामृषिभिर्दिव्यां यक्षैः किंपुरुषैस्तथा।
राक्षसैः किन्नरैश्चैव गुप्तां वैश्रवणेन च।" महा. 3.151.7-8

10. स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत्।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः॥ महा. 2.23.19.

वायु पुराण पृ. 143 के अनुसार किरातों का आवास भारत के पूर्व में और यवनों का पश्चिम में तथा म्लेक्षों का दक्षिण में है। यह पुनः प्राचीन सूचना को आत्मसात् करने में हुई चूक का परिणाम है। दक्षिणवासियों को कभी म्लेक्ष नहीं कहा जाता रहा है। किरात, यवन, म्लेक्ष तीनों एक ही पश्चिम दिशा से सम्बद्ध हैं।

11. यजु. 30.16; तैब्रा. 3.4.12.1; अथर्व. 10.4.14; शतब्रा. 1.1.4.14; पंचविंशब्रा. 13.12.5, आदि। देखें, वैदिक इंडेक्स, 1, 'किरात'।

12. पौराणिक विवरणों में यदा-कदा दरद, गन्धार, काश्मीर का उल्लेख इस तरह हुआ है मानो इनमें परस्पर भेद किया जाता था और ऐसी स्थिति में पौराणिक कालों में कुछ भेद आया भी हो सकता है।

13. वायुपुराण के अनुसार किंपुरुष देश में वर्षा बिलकुल नहीं होती और यहाँ के लोग सोतों के जल (उद्भिद् जल) से अपना काम चलाते हैं। सम्भवतः यह लद्दाख के अधिक अनुरूप पड़े।

यदा-कदा किन्नर और किंपुरुष दोनों का उल्लेख एक साथ आया है, यथा महा. 3.151.8 में, और इससे लगता है कि दोनों में कुछ फ़र्क किया जाता था। जयचन्द्र नारंग वेदालंकार ने किन्नर को किन्नौर से सम्बद्ध माना है।

14. डॉ. अली ने पामीर क्षेत्र को सुमेरु माना है। डॉ. पाठक के मत से हिन्दूकुश का ही पुराना नाम मेरु था। पौराणिक विवरणों में जो शिथिलता पायी जाती है उसमें कोई बात सुनिश्चित रूप में नहीं की जा सकती, पर ऐसा लगता है कि गन्धमादन जिस पर कुबेर का निवास है, सुलेमान पर्वत-श्रृंखला का, मेरु पामीर के पठार का और मन्दर हिन्दूकुश का द्योतक रहा हो सकता है, जब कि शिथिल प्रयोगों में इनको पामीर से लेकर हिन्दूकुश से आगे के ईरानी पठारों का द्योतक माना जाता रहा होगा। वायु पुराण (पृ. 162) वरुण की

सुखा नगरी मेरु से पश्चिम स्थित मानी गयी है जो ईरानी सूसा का द्योतक हो सकता है।

15. वेदालंकार, पूर्व., 45.

16. वही। अली कम्बोज को काबुल की घाटी और कुनार की घाटी मानते हैं, पर साथ ही स्वीकार करते हैं कि इसके प्रसंग में केवल कम्बोज में आर्यों के उपनिवेश बसे होने का उल्लेख आया है जो इसकी स्थिति के निर्धारण में बहुत अधिक सहायक नहीं है। उपनिवेश की बात को देखते हुए बदख्शाँ या इससे उत्तर-पूर्व का क्षेत्र अधिक उपयुक्त हो सकता है।

17. वेदालंकार, वही। कुछ अन्य विद्वान इसे इतने दूर ले जाने के पक्ष में नहीं हैं। देखें, वैदिक इंडेक्स, 'बह्लीक'।

18. उदाहरण के लिए पुराणों के ऐसे विवरणों को लिया जा सकता है, जिनमें इनकी यायावरी के संकेत भी पाए जाते हैं, "इस शैल देश में गिरि-गुहा-वासिनी, मनोहारिणी, प्रसन्नवदना, सुनयना, कृशोदरी, सुन्दरी किन्नरियाँ सदा रमण किया करती हैं। यहाँ विशालाक्ष यक्ष, सुन्दर गन्धर्व और अन्यान्य अप्सराएँ सदा आनन्द मनाती रहती हैं ..।" वायुपुराण, 131.

19. कुल्ली, झोव, आदि से प्राप्त मातृ देवी की प्रतिमाएँ, इनके अनेक क़बीलों की यायावरी वृत्ति, कुछ क़बीलों के लिए किं-पुरुष, किन्नर जैसे नाम इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं।

20. योषित् कामा वै गन्धर्वाः। शतब्रा. 3.2.4.3; स्त्रीकामाः वै गन्धर्वाः। ऐब्रा. 1.27; त ऊ ह स्त्रीकामाः। कौब्रा. 12.3.

21. गन्धः मे मोदो मे प्रमोदो मे। तन्मे युष्मासु (गन्धर्वेषु)। जैउब्रा. 3.25.4; रूपमिति गन्धर्वाः (उपासते)। शतब्रा. 10.5.2.20, आदि। देखें, ऊपर पा. टि. 18 भी।

22. नृत्य और संगीत की शाखा को गन्धर्व-विद्या के रूप में ही याद किया जाता रहा है।

23. देखें, महाभारत, 3.151-55, आदि।

24. तस्यैव मूर्धन्युशनाः काव्यो दैत्यैर्महीपते।
तस्य हीमानि रत्नानि तस्येमे रत्न पर्वताः॥
तस्मात्कुबेरो भगवांश्चतुर्थं भागमश्नुते।
ततः कलांशं वित्तस्य मनुष्योभ्यः प्रयच्छति॥ महा. 6.7.20-21.

25. ऋ. 10.75.6.

26. अथ. 5.22.4-5 व 8.

27. वैदिक इंडेक्स, 'बह्लीक'।

28. ऋ. 10.86

29. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पूर्व. ।
30. ऋ. 7.18.7.
31. देखें, वैदिक इंडेक्स, 1, 568-69.
32. ऋ. 8.46.32; देखें, वैदिक इंडेक्स, 2, 69 भी ।
33. शतब्रा. 13.5.4.13.
34. शतब्रा. 1.1.4.15; पंचविंश ब्रा. 13.12.5; वैदिक इंडेक्स, 1, 175.

34क. दक्षिण की ओर निरन्तर नीची होती मकरान की पहाड़ियाँ क्रमशः समुद्र में विलीन हो जाती हैं। पर्वतों के पक्षवान होने, इन्द्र द्वारा इनका पक्ष काटे जाने, इन्द्र के भय से मैनाक के समुद्र में जाकर छिपने की कथा इसी वास्तविकता का रूपकीय और किंचित् विरूपित विवरण प्रतीत होता है, यद्यपि मैनाक (जिसका ही बेबीलोनी अपभ्रंश 'माकन' या 'मक्कन' बना लगता है), की स्थिति के विषय में पौराणिक विवरणों में बहुत अधिक अन्तर्विरोध हैं जो किरातों के विषय में पायी जाने वाली भ्रान्ति की याद दिलाते हैं।

35. मोहम्मद अली, 'आर्याना ऑर दि ऐंशेंट अफ़ग़ानिस्तान', अफ़ग़ानिस्तान, 12.1, 1957, 29-57.

35क. देवयानों के विषय में देखें, ऋ. 1.183.6; 184.6; 3.58.5, आदि। बाद में भी इसकी याद बनी रह गयी थी, जिसको "मरुतां च गणास्तत्र देवयानैरुपागमन्...।" महा. 3.164.11-12 में देखा जा सकता है।

36. ऋ.5.53.9; 10.75.6.

37. गन्धर्व शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 21 बार हुआ है। इसमें भी 20 बार नये मण्डलों में और केवल एक बार मण्डल तीन में, जिसे पुराना माना जाता है। इसी तरह गन्धारी मेषी का जिक्र भी पहले मण्डल में ही आया है। यह इस बात का द्योतक है कि गन्धार के साथ वैदिक जनों का परिचय नये मण्डलों के दौरान ही सघन हुआ था और यह भी सरस्वती और सिन्धु नदियों के तुलनात्मक महत्व के आधार पर हमारे द्वारा निकाले गये निष्कर्ष के साथ पूरी तरह मेल खाता है।

38. शतब्रा. 11.2.3.7-9.

39. एगलिंग ने यवमत का अर्थ 'रिच इन बार्ली', उद्दालवत का 'रिच इन हस्बैंड्री' और अन्तर्वान का अर्थ 'रिच इन ग्रेन' किया है, पर रिच इन बार्ली और रिच इन ग्रेन में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः अन्तर्वान का अर्थ खनिज सम्पदा की दृष्टि से समृद्ध किया जाना चाहिए। बाद के विवरणों में गन्धर्वों के प्रसंग में मणियों, रत्नों, स्वर्ण-भण्डारों, आदि का बार-बार उल्लेख आता है और वैदिक साहित्य में भी इन्हें विश्वावसु या समस्त प्रकार के धनों से युक्त कहा जाता है।

40. वायुपुराण, अध्याय 62; मत्स्यपुराण, अध्याय 10; श्रीमद्भागवतपुराण, स्कन्ध 4, अध्याय 16.
41. अश्वं च अविं च उत्तरतः। एतस्यां तत् दिशि एतौ पशू दधाति तस्मात् एतस्यां दिशि एतौ भूयिष्ठौ। शतब्रा. 7.5.2.15.
42. गां च अजं च दक्षिणतः। एतस्यां तत् दिशि एतौ पशू दधाति...। शतब्रा. 7.5.2.15.
43. देखें, पा. टि. 41. अश्व के विषय में जहाँ गन्धर्वों को इस बात का श्रेय दिया गया है कि इन्होंने अश्वोन में जव या वेग भर दिया या कहें, अधिक वेगवान घोड़ों से परिचय कराया, (शतब्रा. 5.1.4.8)। अश्वों इनके बीच वाजि या वेगवान होकर विचरता था जिसका भी आशय वही है और यह कि सबसे पहले अश्व की रस्सी गन्धर्वों ने पकड़ी या इन्हें पकड़कर लाने वाले वे पहले ऐसे जन थे जिनसे वैदिक जन परिचित थे, वहीं इन्द्र को इस बात का श्रेय दिया गया है कि अश्व पर सवारी करने वाले वे प्रथम व्यक्ति हैं (ऋ. 1.163.2)। इस विषय में किसी विवाद की गुंजायश ही नहीं है कि स्तेपी में बहुत पहले से घोड़ों का शिकार और पालन होता आया था और बहुत हाल तक भी यह वहाँ के लिए मांस और दूध का स्रोत था, पर वैदिक कृतियों में कहीं घोड़ों के दूध आदि का आनुष्ठानिक अवसरों पर भी उल्लेख नहीं आता है।
44. देखें, खण्ड 1, अध्याय 5 व 6.
45. अहमद अली मोतमेदी, 'सम नोट्स ऑन दि माइथॉलॉजी ऑफ़ दि काफ़िर्स ऑफ़ दि हिन्दूकुश', अफ़ग़ानिस्तान, 12, 4, 1957, 8 व आगे।

45ख. वही।

46. देखें, पूर्व., 130; जयचन्द्र नारंग वेदालंकार, पूर्व., आदि। अली ने पौराणिक भूगोल का फलक बहुत व्यापक रखा है। देखें महाभारत, सभापर्व, अध्याय 23 व 29 भी।
47. वेदालंकार, वही; पुसालकर, 'कल्चरल इंटर-रिलेशन बिटविन इंडिया ऐंड आउटसाइड वर्ल्ड बिफ़ोर अशोक', कहेइं. I, 147.
48. पैशाची का प्रयोग कथित रूप में पाण्ड्य, केकय, वाह्लीक, सह्य, नेपाल, कुन्तल, गन्धार आदि में होता था। यदि हम इस विवरण को संक्षेप में रखना चाहें तो कह सकते हैं कि पैशाची में वे लक्षण पाये जाते थे जिन्हें बाह्य परिमण्डल की भाषाओं की विशेषता माना गया था। दूसरे शब्दों में कहें तो, इसमें वह द्राविड़ी प्रवृत्ति—यथा महाप्राण वर्णों के स्थान पर अल्पप्राण का प्रयोग, र के स्थान पर ल, जिसे ब्राह्मणों में 'हेलयो हेलय इति वदन्तः पराबभूवुः' के रूप में याद किया गया है, और जिसके विषय में बाद के वैयाकरण आगाह करते हैं कि भाषा को म्लेक्षित नहीं किया जाना चाहिए—बनी रह गयी थी। परन्तु क्षेत्रीय रूप में इसे गन्धार की भाषा माना जाता रहा है।

देखें, पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनु. डॉ. हेमचन्द्र जोशी, 1958, 53-56.

49. मैक्समूलर, चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप, 1867, 1, 63-64.
50. सांकृत्यायन, हिस्ट्री ऑफ़ सेंट्रल एशिया, 1964, भूमिका।
51. ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया, 1967, 1, 99
52. राहुल सांकृत्यायन, पूर्व.।
53. एस. पी. गुप्त, देखें, आगे।
54. अस्थाना, प्री-हड़प्पन कल्चर्स ऑफ़ इंडिया ऐंड बार्डरलैंड्स, 1985, 238-39.
55. ग्रियर्सन ने ऐसे लोगों में कीथ का भी नाम गिनाया है। पूर्व., 98.
56. ग्रियर्सन, वही, 98-99.
57. विल डुरांट, अवर ओरिएंटल हेरिटेज, 1954, 350.
58. एष वः स्तोमः मरुतः इयं गीः मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः ...।ऋ 1.165. 15; 166.15; 167.11; 168.10, आदि।
59. सायण मान्दार्य का अर्थ 'स्तुति विशेषेः मन्दयितुः स्तुभिर्मदस्य प्रेरयितुर्वा' करते हैं। गेल्डनर, बेनफी, ओल्डेनबर्ग, मैक्समूलर, ग्रिफिथ आदि ने अनुमान लगाया है कि सम्भवतः यहाँ आशय अगस्त्य से है जो ही इस सूक्त के ऋषि हैं। पर ये दोनों विकल्प कामचलाऊ हल हैं। 'मान्दार्य मान्य' का अर्थ वे 'मान के पुत्र मान्दार्य' करते हैं। पर अगस्त्य को कहीं अन्यत्र मान नामक किसी व्यक्ति का पुत्र नहीं माना गया है। यह ऋचा और वे सभी सूक्त जिनमें यह दुहराई गयी है मरुत् को सम्बोधित हैं जो सार्थों में सम्मिलित सदस्यों के प्रतीक हैं और इनमें धन-प्राप्ति की कामना की गयी है।
60. अत्र पश्चादहः सूर्यो विसर्जयति भाः स्वयम्। पश्चिमेत्यभिविख्याता दिगयं द्विजसत्तम।
61. उत्तरस्य हिरण्यस्य परिवापस्य गालव। मार्गः पश्चिमपूर्वाभ्यां दिग्भ्यां वै मध्यमः स्मृतः। अस्यां दिशि वरिष्ठायां उत्तरायां द्विजर्षभ। महा. 5.109.3.
62. अत्र मूलं हिमवतो मन्दरं याति शाश्वतम्। अपि वर्षसहस्रेण न चास्यान्तोऽधिगम्यते। महा. 5.108.9.
63. अत्र कांचनशैलस्य कांचनाम्बुवहस्य च। उदधेस्तीरमासाद्य सुरभि क्षरते पयः॥ वही, 10.
64. अतः प्रभृति सूर्यस्य तिर्यगावर्तते गतिः। वही, 14.
65. अत्र नित्यं स्रवन्तीनां प्रभवः सागरोदयः। अत्र लोकत्रयस्यापस्तिष्ठन्ति वरुणाश्रयाः। वही, 16.
66. एष ते पश्चिमो मार्गो द्विद्वारेण प्रकीर्तितः। वही, 19.

67. महर्षेः काश्यपस्यात्र मारीचस्य निवेशनम् । वही, 18.
68. एस. पी. गुप्त, 'प्रीहिस्टारिक इंडियन कल्चर्स इन सोवियत सेंट्रल एशिया', इंकंवथाक, 1970, 240-42; 1984, 301-10; 'दि अर्ली पीरियड्स ऑफ़ शोर्तुगाई (हड़प्पन) ऐंड दि वेस्टर्न बैक्ट्रियन कल्चर ऑफ़ डेवली' साउथ एशियन आर्कियॉलॉजी, 1981, 1984, 170-75; 'दि हड़प्पन सेटलमेंट ऑफ़ शोर्तुगाई', फ्रंइंसि., 1984, 301-10; 'दि लेट पीरियड्स ऑफ़ शोर्तुगाई ऐंड दि प्राब्लम ऑफ़ दि बैक्ट्रियन कल्चर', साएआ. 1979, 1981 भी देखें ।
69. लैंबर्ग कार्लोव्स्की, 'ट्रेड मकैनिज्म इन इंडस मेसोपोटामियन इंटररिलेशन्स', 1982; गुप्त, 1979, आदि ।
70. डॉ. गुप्त ने रूसी पुरातत्वविदों में वी. एम. मैसन, 'दि अर्बन रिवोल्यूशन इन सदर्न तुर्कमीनिया', ऐंटीक्विटी, 42, 167, सितं. 1968; ए. वाई. श्केतेंको, 'दि प्राब्लम ऑफ़ ऐब्सोल्यूट क्रॉनोलॉजी ऑफ़ दि हड़प्पन कल्चर', ऐंथ्रोपॉलॉजी ऑफ़ दि ओल्ड ऐंड न्यू वर्ल्ड, मास्को, 1966; बी. ए. लितविन्स्की, नमज़्गा देपे, सोवेत्स्काया एथनोग्राफ़िया, 4, आदि का हवाला दिया है ।
71. शशि अस्थाना लिखती हैं, 'यद्यपि ईरानी साहित्यिक स्रोतों के अनुसार लाजवर्द के स्रोत स्थल अज़रबैजान के माजन्दरान और दिज़मार तथा किरमान की खानें हैं, भूगर्भ वैज्ञानिक सर्वेक्षण रिपोर्टों में इस विषय में बिलकुल खामोशी पायी जाती है ।" अस्थाना, 1982, 272.
72. चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1, 1967, 85-86.
73. मैक्समूलर, सिलेक्टेड एसेज़ ऑन लैंग्वेज, माइथॉलॉजी ऐंड रिलिजन, 1881, 1;"आर्यन वर्ड्स आकरिंग इन ज़ेंद बट नाट इन संस्कृत",टिप्पणी डी, 227-28.
74. दि ज़ेन्द अवेस्ता, भाग 1, सैबुईसी., 4, 36-37.
75. वही । डारमेस्टेटर इस पहलू को आगे और स्पष्ट करते हैं, "अवेस्ता के मूल पाठ पारसियों द्वारा नहीं लिखे गये थे, क्योंकि ये एक ऐसी भाषा में हैं जो फ़ारस में प्रयोग नहीं की जाती थी, इनमें कुछ ऐसी रीतियों का विधान है जो फ़ारस के लिए अज्ञात थे, और कुछ ऐसी रीतियों का निषेध है जो फ़ारस में प्रचलित थीं । ये मीदिया में रचे गये थे...मीदिया की भाषा में...।" पृ. 52; एक अन्य स्थल पर वह लिखते हैं, "...वास्तव में ईरान में दो धर्म थे, एक आम जनता का और दूसरा पुरोहितों का । अवेस्ता मूलतः मागियों का पवित्र ग्रन्थ था ।...अब हम यह समझ सकते हैं कि फ़ारस का धर्मग्रन्थ ग़ैर-फ़ारसी भाषा में क्यों कर लिखा गया; यह इसके रचनाकारों, मागियों,

की भाषा में लिखा गया था जो ग़ैर-फ़ारसी थे।" 46.

76. हर्ज़फील्ड, ज़ोरास्टर ऐंड हिज़ वर्ल्ड, 1947, 1, 162 देखें, फरवरदीन यस्त, 25वाँ भी।
77. हर्ज़फील्ड, वही।
78. वही, 155.
79. वही, 652.
80. हर्ज़फील्ड, ज़ोरास्टर ऐंड हिज़ वर्ल्ड, 2, 1947, 330.
81. मार्शल, पूर्व, 29; अस्थाना, पूर्व., 1979, 55 तथा 1982, 271; हेस्केल, 'ईरान ऐंड इंडस वैली कनेक्शन्स : ए रिवैल्युएशन', फंइंसि., 1984, 333-46.
82. मैक्समूलर, पूर्व., 1881, 227.
83. ऋ. 8.25.22.
84. ऋ. 10.72.1-3.
85. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, 4, 1973, 331.
86. मारिजा जिबुतास, "प्रोटो-इंडो-यूरोपियन कल्चर : दि कुर्गन कल्चर ड्यूरिंग फ़िफ्थ, फ़ोर्थ ऐंड थर्ड मिलीनिया बी. सी.", इण्डो-यूरोपियन ऐंड इण्डो-यूरोपियन्स, 1970, 181-82.
87. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, वाल्ट्स ऐंड आर्यन्स इन देयर इंडो-यूरोपियन बैकग्राउंड, 1968, 3.
88. वही, 23-24.
89. मैक्मूलर, दि साइंस ऑफ़ लैंग्वेज, 1891, 185.

किसी परम्परा को एक झटके में ख़ारिज़ करते हुए अपनी मनमानी व्याख्या को लादने के एक अन्य नमूने को सामने रखने पर डॉ. चाटुर्ज्या के मन्तव्य की निस्सारता सामने आ जायेगी। मैक्समूलर लिखते हैं, "हम देख चुके हैं कि भारत की भाषा और इसकी बोलियों का इतिहास अपने उत्तरवर्ती कालों में लगभग किसी भी अन्य भाषा की तुलना में अधिक पूर्ण (कंप्लीट) है। फिर भी इस भाषा और यूनान व रोम की क्लासिकी भाषाओं से इसकी विस्मयकारी समानता की खोज से इतनी हैरानी पैदा हुई कि पिछली शताब्दी के कतिपय विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिक वास्तविकता को मानने से ही इनकार कर दिया और यह आरोप लगाया कि हिन्दुस्तान के धूर्त ब्राह्मणों ने अपने विजेताओं को धोखा देने के लिए इसे गढ़ लिया है। डग्लस स्टीवर्ट ने अपनी पुस्तक 'कंजेक्चर्स कंसर्निंग दि ओरिजिन ऑफ़ दि संस्कृत' में अपने विचारों को जितने उग्र रूप में रखा था उतने उग्र रूप में अन्य किसी ने नहीं।"

क्या डगलस स्टीवर्ट ने जो काम संस्कृत के विषय में किया था वही काम अपनी अविचेतित उक्ति के द्वारा डॉ. चाटुर्ज्या, या यदि यह राय किन्हीं अन्य विद्वानों की राय का निचोड़ हो तो वे विद्वान, बाल्ट कवियों और बाल्ट परम्परा के विषय में नहीं कर रहे थे ? निश्चय ही इस बार इन कवियों और लेखकों को 'धूर्त' न कहकर 'अविवेकी और भावुक' बताया जा रहा था, पर उद्देश्य दोनों मामलों में एक ही माना जा रहा था, अपनी हीनता-ग्रन्थि से उबरने का प्रयत्न।

90. टिल अलैक्ज़ेंडर, दि ग्रीक्स, 1961, 17.
91. टी. बरो, दि संस्कृत लैंग्वेज, 1955, 15.
92. वही, 10.
93. देखें, डेविड डिरिंजर, दि अल्फाबेट, 1968, 42-43 तथा 116-19.
94. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, पूर्व., 1968, 99-100.
95. ओ. श्रेडर, प्री-हिस्टारिक ऐंटीक्विटीज़ ऑफ़ दि आर्यन पीपुल्स, 1890, अं. अनु. फ्रैंक बायरन येवन्स, 1972 सं., 335-36.
96. वही, 19.
97. रिकमांड लेटिमोर, दि ईलियड ऑफ़ होमर, 1962, भूमिका, 419.
98. टिल अलैक्ज़ेंडर, पूर्व., 20.
99. वही, 20-23.
100. ऐंटनी ऐंड्रयूज, दि ग्रीक्स, 1967, 33.
101. एम. आई. फ़ाइन डे, दि ऐंश्येंट ग्रीक्स, 1963, 1.
102. ऐंटनी ऐंड्रयूज, पूर्व., 1967, 17-18,
103. स्मरण रहे कि होमर ने जिस भाषा में अपनी कृतियों की रचना की वह यूयान की नहीं अपितु एशियाई तट-प्रान्त की भाषा थी। होमर स्वयं भी एशियाई ग्रीक थे। देखें लेटिमोर, 1962, भूमिका।
104. बरो, पूर्व., 1955, 17; जहाँ इस प्रकार के विभाजन को अतिवादी मानते हैं, वहाँ चाटुर्ज्या, पूर्व., 1968, 5 इसी तरह का विभाजन प्रस्तुत करते हैं।
105. कोसम्बी, 1965, 77.
106. बट कृष्ण घोष, 'दि ओरिजिन ऑफ़ इंडो-आर्यन्स', दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ़ इंडिया, 1, 1928, 141.
107. अरुण केसरवानी, दि प्राब्लम ऑफ़ इंडो-आर्यन ऐंड दि वेस्ट एशियन डाकुमेंट्स विद रेफरेंस टु बोगाजकुई टैब्लेट्स ऐंड किक्कुली टेक्स्ट, ऋतम्भरा, सं. के.सी. वर्मा आदि, 1986, 128-33.
108. वूली, दि सुमेरियन्स, 1928, 189.

109. हेरास, 'सुमेरियन एपिग्राफ़ी', दि न्यूज़ रिव्यू, 1937, 5, 295-62; 'दि प्रोटो-इंडियन ओरिजिन ऑफ़ दि सुमेरियन सिविलाइज़ेशन', पणिक्कर षष्ट्याब्दपूर्ति सॉवेनियर, 1954, 120-29, आदि।
110. कुल्ली आदि की ओर भी संकेत बहुत दबे रूप में ही किये जाते रहे हैं, जिसका कारण भी स्पष्ट था। देखें, चाइल्ड, ह्वाट हैपंड इन हिस्ट्री, 1942, 1978 सं., 97-120; ए. एल. बैशम, 1967, 14 आदि।
111. सैग्स, दि ग्रेटनेस दैट वाज़ बेबीलोन, 1962, 32.
112. वही, 33.
113. वही।
114. सैग्स, वही; पिगट, प्रीहिस्टारिक इंडिया टु 1000 बी.सी., 1950, 210; चाइल्ड, पूर्व., 137, आदि।
115. सैग्स, 1962, 32.
116. देखें, ज्यॉं क्लाड मार्गेरॉं, मेसोपोटामिया, अनु. एच. एस. बी. हैरिसन, 1965, 68., जो मानते हैं कि इस बात की अधिक संभावना है कि योद्धाओं के एक छोटे से जत्थे ने आक्रमण किया और पहले ऊर और उरुक में बसे, जहां काफ़ी लम्बे समय तक रहकर अपनी स्थिति मजबूत करने के बाद ये अपना प्रभाव क्रमशः उत्तर की ओर बढ़ाते गये।
117. विल डुरांट, पूर्व., 134.
118. बाइबिल, जेनेसिस, 11.2-4.
119. वूली, एक्सकैवेशन्स ऐट ऊर, 1935, 30-33.
120. ह्वीलर, पूर्व., 1953, 59.
121. बैशम, पूर्व., 14.
122. अथर्व. 5.13.6-11.
123. पी.एम. जोशी, 'फ़र्दर इंडिया', रिव्यू ऑफ़ इंडोलॉजिकल रिसर्च इन दि लास्ट 75 ईयर्स, 289.
124. ऐडम्स, 'इनवेज़न, डिफ्यूजन, इवोल्यूशन?' ऐंटीक्विटी, 42, 167, 1968, 205; थापर 'दि आर्यन्स: ए रिऐप्रेज़ल ऑफ़ दि प्राब्लम, इंकावथाक', 1970, 147-64, गुप्त, पूर्व., 1979, 2, एपीलॉग; ख़ान, 'आर्कियॉलॉजी इन पाकिस्तान', एक्सपेडीशन, 6, 3, 1964, 2-11, आदि।
125. देखें, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पूर्व., 1968, 5-6; प्राणनाथ, 'न्यू लाइट ऑन दि आर्यन्स बिफ़ोर 1000 बी. सी. : डिड इंडियाज़ कल्चर कम फ्रॉम बेबीलोनिया? ऋग्वेद ए सुमेरियन डाक्युमेंट?' इवीइं., जुलाई 7, 1935, 15-36; 'वाज़ इंडिया कोलोनाइज्ड फ्रॉम ईजिप्ट?', वही, अगस्त 18,17

व 67; 'वाज़ प्रीहिस्टारिक ईजिप्ट इंडिबाज़ ऐन्सेस्टर ?' वन फ़िफ्थ ऑफ़ दि ऋग्वेद कम्स फ्रॉम नाइल', वही, अगस्त, 4, 1935, 16 व 71; 'डिड हिन्दुइज्म बिगिन इन ईजिप्ट ऐंड बेबीलोनिया ?' वही, दिस. 3, 1935, 35, 69, 77; 'सुमेरो ईजिप्शियन ओरिजिन ऑफ़ आर्यन्स ऐंड दि ऋग्वेद', जबहियू., 1, 303-58, आदि। मैकाय, 'सुमेरियन कनेक्शन्स विद ऐंश्येंट इंडिया', जराएसो., 1925, 679-701; 'फ़र्दर लिंक्स बिटविन ऐंश्येंट सिंध, सुमेर ऐंड एल्सह्वेयर', ऐंटीक्विटी, 5, 1931, 459-73; 'ऐन इंपार्टेंट लिंक बिटविन ऐंश्येंट इंडिया ऐंड एलाम', ऐंटीक्विटी, 6, 1932, 356-67; वैडेल, इंडो-सुमेरियन सील्स डिसाइफर्ड, 1925, आदि भी।

126. देखें, टी. बरो, दि संस्कृत लैंग्वेज, 1955, 27-29.

127. कीथ, 'बेबीलोन ऐंड इंडिया', कुप्पूस्वामी शास्त्री कमे. वाल्यूम, 67-70.

128. बैशम, 1967, 20.

अध्याय छह

नगर सभ्यता का उदय

हड़प्पा सभ्यता की पृष्ठभूमि, वैदिक या हड़प्पा सभ्यता के क्रमिक विकास और आर्य भाषा और संस्कृति के प्रसार की छान-बीन करते हुए हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं वे जितने विस्मयकारी हैं उतने ही उत्तेजक भी। ये निष्कर्ष प्रचलित मान्यताओं के इतने विपरीत पड़ते हैं कि हमारी पहली प्रतिक्रिया इनको एक बार को नकार कर मुक्ति पाने की ही होती है। कहाँ तो जिन आर्यों को हम जानते थे वे उस समय भी अर्धबर्बर, अर्ध-यायावर, पशुपालक और खेती से नाम मात्र को परिचित थे और शहरों से तो उन्हें खास चिढ़ थी, जब मिस्र, पश्चिम एशिया और भारत में नगर सभ्यता अपने वैभव पर पहुँची हुई थी, और कहाँ वे स्वयं नगर सभ्यता के सर्जक बनकर सामने आते है !

इस जटिल समस्या पर एक बार पुनः विचार कर लेना उचित होगा। सबसे पहले हम अपनी चर्चा को जिज्ञासा के रूप में ही रखें—क्या यह सम्भव है कि एक बार नगर सभ्यता का उदय हो जाने के बाद भी कोई मात्र किसान होने का दावा करके सामाजिक श्रेष्ठता का अधिकारी हो सकता था ? यदि आर्य का शाब्दिक अर्थ किसान ही था और इस समाज का ठिकाना गाँवों तक ही सीमित था तो भारत से लेकर ईरान तक और उससे आगे भी क्या नगर सभ्यताओं के रू-ब-रू ये किसान श्रेष्ठ, शिष्ट और आदरणीय माने जा सकते थे ? हम जो कुछ जानते हैं वह यह कि ग्राम्य, गँवार, उजड्ड (ऊजड़ या विरल आवादी के क्षेत्र का निवासी), प्राकृत, वल्गर, रस्टिक, आदि शब्दों को सर्वत्र अज्ञान, पिछड़ेपन और संस्कारहीनता के लिए प्रयोग में लाया जाता रहा है और नागर, पौर, सिविलाइज्ड, आदि का सम्बन्ध नगर और संस्कार से रहा है। नगर सभ्यता के उदय से पूर्व निश्चय ही किसानों को श्रेष्ठ माना जा सकता था, पर इसके उदय के बाद भी क्या ग्राम्यत्व को दोष के स्थान पर गुण समझा जा सकता था और किसानों को

नागरों और पौरों से ऊँचा दर्जा दिया जा सकता था ? फिर, किसानों की नज़र में चरवाहे और भी उजड्ड माने जाते हैं। उनकी चरवाही का डंडा ही यदि उद्दंड—डंडा उठाये चलने वाला—का कारण बना हो तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर यदि वैदिक आर्य कृषि से भी नाम मात्र को ही परिचित थे तो क्या हम यहाँ कृषि-क्रान्ति के आदिम चरण की बात कर रहे हैं जिसमें कृषि से नाम मात्र को परिचित होने पर भी कोई अपने को किसान कहकर दूसरों से अपनी श्रेष्ठता का दावा कर सकता था ? यदि हाँ, तो क्या आर्य शब्द स्वत: इस बात का द्योतक नहीं कि अपने लिए इस शब्द का प्रयोग करने वालों ने ही कृषि-क्रान्ति की थी और तब से यह नाम उनके साथ श्रेष्ठता का सूचक बन कर जुड़ा रह गया ? यदि नहीं, तो क्या उस चरण में जब दूसरे लोग कृषि के मामले में उनसे आगे बढ़े हुए थे, कृषि के मामले में अपने पिछड़ेपन के बावजूद वे अपने को उनसे श्रेष्ठ मान सकते थे ? अत: यदि हम अन्य बातों को छोड़कर केवल आर्य शब्द पर ही ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि कृषि के विकास में अग्रणी भूमिका इनकी ही थी और नगर सभ्यता के दौर में और इसके बाद भी यह शब्द यदि श्रेष्ठता का सूचक बना रह गया था तो इस दौर में अपने लिए इस शब्द का प्रयोग करने वाले नगर सभ्यता से जुड़े हुए थे।

नगर सभ्यता के उदय की समस्या किसी जाति से नहीं, अपितु क्षेत्र विशेष के पर्यावरण और वहाँ के सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों से जुड़ी हुई है। परन्तु अभी तक पुरातात्विक खोजों के आधार पर मेसोपोटामियाई तथा हड़प्पा सभ्यता की ठीक पूर्ववर्ती कड़ियों की सर्वमान्य खोज नहीं की जा सकी है। न तो मेसोपोटामिया और मिस्री सभ्यताओं की पूर्ववर्ती कड़ियाँ खाड़ी क्षेत्र में हैं, न ही हड़प्पा की पूर्ववर्ती कड़ी इन दोनों में निहित है। विल डुरांट लिखते हैं कि इस सवाल का जवाब नहीं दिया जा सकता कि सभ्यता का आरम्भ कहाँ हुआ।[1] फ्रैंकफ़र्ट मिस्री और मेसोपोटामियाई सभ्यताओं की उत्पत्ति पर विचार करते हुए स्वीकार करते हैं कि ये दोनों सभ्यताएँ बनी-बनायी कहीं बाहर से यहाँ लायी गयी थीं और कुछ ही पीढ़ियों के भीतर इन्होंने अपना स्वविशिष्ट चरित्र ग्रहण कर लिया था। इनका उदय न तो मन्द गति से हुआ था, न क्रमिक चरणों में, बल्कि सब कुछ एक झटके में आपात की तरह आ धमका था।[2] वह स्वीकार करते हैं कि सभ्यताओं के उदय की खोज करते समय सारा झाड़-झंखाड़ काटने-छाँटने के बाद भी सभ्यता की जड़ों का पता नहीं चलता; सिर्फ इसका तना ही दिखायी देता है।[3] हताशा का आलम यह है कि पुरातात्विक साक्ष्यों पर एकान्त निर्भरता को भी आज सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा है। उदारहण के लिए ऐडम्स लिखते हैं, "जैसा कि अनेक लोगों ने सुझाया है, पुरातत्व से इतिहास की पुनर्सर्जना सम्भावनाओं के बीच ताल-मेल बैठाने से अधिक कुछ हो ही नहीं सकती; प्रमाण जैसी कोई चीज़ नहीं होती।"[4]

विगत दो दशकों में हुए अध्ययनों से यह स्पष्ट होने लगा है कि नगर सभ्यता के उदय से ठीक पूर्व आर्थिक अन्तर्क्रिया का एक ऐसा दायरा बन गया था जिसमें अनेक क्षेत्रों के लोग परस्पर मिलने और वस्तुओं का विनिमय करने लगे थे, जैसे दक्षिणी ईरान की पत्थर की वस्तुएँ भारत में और भारत की पत्थर और सीपी की वस्तुएँ ईरान जाने लगी थीं। लैंबर्ग-कार्लोव्स्की लिखते हैं, "जिन अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिदर्शों ने सुमेर, एलाम, फ़ारस की खाड़ी, सीस्तान की 'हेलमन्द सभ्यता', तुर्कमीनिस्तान, बलूचिस्तान और सिन्धु घाटी को एक सूत्र में जोड़ रखा था उनको आज भी बहुत कम ही समझा जा सका है। परन्तु अब यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि किसी एक क्षेत्र में शहरीकरण की प्रक्रिया को इससे जुड़े हुए दूसरे क्षेत्रों के अभाव में समझा ही नहीं जा सकता।"[5] और फिर, नवोदित पृथक राज्य-प्रणालियों की खोज करने के लिए सर्वेक्षण करने वाले तथा पुरातात्विक खनन कार्य में लगे हुए अपने सहकर्मियों को सलाह देते हैं कि वे अपने पाँवों के सटे दायरे से आगे भी देखने का (दु लुक बियांड दि होराइज़न ऑफ़ आवर ओन फ़ीट) प्रयत्न करें।[6]

वास्तविकता यह है कि नगर सभ्यता का उदय, इस भ्रम के विपरीत कि आर्यों का सभ्यता से, विशेषतः नगर सभ्यता से कोई सम्बन्ध नहीं था, आर्य सभ्यता के उदय से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। नगर सभ्यता के उदय और आरम्भिक विकास को समझने में पेश आने वाली कठिनाइयों में क्या सबसे बड़ी कठिनाई यह नहीं है कि जिस क्षेत्र और जिन जनों का इसमें सबसे अधिक योगदान रहा है उनको छोड़कर इसकी तलाश हर ऐसे कोने में की जाती रही जहाँ इसको न तो पाया जा सकता था, न ही आज तक पाया जा सका है?

1
भारत की स्वविशिष्ट स्थिति

कोई भी क्षेत्र या देश कुछ निश्चित भौगोलिक परिस्थितियों में बँधा होता है और इसके इतिहास को भूगोल से पूरी तरह काटकर नहीं देखा जा सकता है। कारण, इसी से उन शक्यताओं और सीमाओं का निर्धारण होता है जिनका उस क्षेत्र के भौतिक जीवन और सांस्कृतिक उपलब्धियों से गहरा सम्बन्ध होता है। परन्तु इन भौतिक परिस्थितियों का मूल्यांकन भी यदि निहित उद्देश्यों को अग्रता देकर किया जाये तो हम ठीक उन्हीं भूमिकाओं और शक्तियों का निषेध कर सकते हैं जो उसमें सबसे प्रधान रूप से पायी जाती हैं। इसकी एक ज्वलन्त मिसाल भारत है।

विश्व सभ्यता के विकास में भारत के अपने योगदान का मूल्यांकन इस विवरण के साथ आरम्भ होता है कि उत्तर और पश्चिम से अलंघ्य पर्वत-मालाओं से और दक्षिण में समुद्र से घिरा होने के कारण, भारत शेष जगत से बिलकुल कटा-छँटा रहा है। यह ऐसे विलक्षण भले देशों में से एक रहा है जिन्हें जगत-गति नहीं व्यापती। भारतीय अलगाव को रेखांकित करने के लिए इसे प्रायः उपमहाद्वीप की संज्ञा दी जाती है। परम्परावादी शुद्धिवादियों से लेकर आधुनिक चेतना से सम्पन्न विचारकों और कवियों द्वारा भी इस पृथकता और असम्पृक्तता को प्रायः बिना सोचे-विचारे गौरव-मण्डित किया जाता है। प्राचीन भारत के विषय में इससे यह नतीजा निकाला जाता रहा है कि बाक़ी दुनिया से अलग-थलग रहने के कारण यहाँ की ज़िन्दगी अपनी मन्द-मन्थर गति से चलती रही है, जब कि इसके विपरीत पश्चिमी जगत हर कदम पर आगे छलाँग लगाता दिखाया जाता रहा है। वास्तविकता यह है कि पुरा-पाषाण काल से लेकर आज तक भारत दुनिया से कभी कटा-छँटा नहीं रहा और स्थायी बस्तियाँ बसने से पहले गंगा-सिन्धु क्षेत्र का भारत उस महा-अटन क्षेत्र का अंग था जिसका विस्तार यहाँ से लेकर मिस्र और भूमध्य सागर के तट तक था और इसके कुछ ऐसे अवशेष आज तक इस महा-अटन क्षेत्र में पाये जा सकते हैं जिन्हें देखकर हम चकित रह जायें, जैसे बान्तू क़बीलों द्वारा आज तक अरणि-मंथन से आग पैदा करने का चलन, जिसकी चर्चा हम मात्र किताबी रूप में वैदिक काल तक और वह भी आनुष्ठानिक अवसरों पर ही पाते हैं। सोहन संस्कृति, पूर्व-हड़प्पा की संस्कृतियाँ, हड़प्पा कालीन और उत्तर-हड़प्पा कालीन संस्कृतियाँ सभी भारत को किसी अलक्ष्य सम्पर्क सूत्र से पूर्वी ईरान और दक्षिणी मध्येशिया तक के विशाल क्षेत्र से अन्तर्क्रिया के सूत्रों से जुड़ा हुआ सिद्ध करती हैं।

वास्तविकता यह है कि इन दुर्लंघ्य पर्वतीय बाधाओं के नाम पर भारत को शेष जगत से बिलकुल कटा दिखाने वाले विद्वान स्वयं भी इसे कटा हुआ नहीं मानते रहे हैं। ऐसा कहते हुए भी वे यह दिखाने का बराबर प्रयत्न करते रहे हैं कि भारत प्रागैतिहासिक काल से ही पश्चिम की ओर से आने वाले आव्रजक क़बीलों और आक्रमणकारी जत्थों का शिकार होता आया है। कहें, आने वालों के लिए ये अलंघ्य पर्वतीय बाधाएँ कभी बाधा नहीं खड़ी करती रहीं। इनकी सारी रुकावट भारत से किसी भी रूप में किसी के बाहर जाने के समय ही पैदा होती रही है। इतिहासकार भारत को एक ऐसा अंधा कुआँ सिद्ध करते रहे हैं जिसमें आकर गिरने की सम्भावना तो किसी भी चीज के लिए हो सकती थी, पर इससे किसी चीज के बाहर निकलने का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता था। ऐसी स्थिति में भारत सभ्यता के विकास में किसी भी चरण में पश्चिम को न तो कुछ दे सकता था, न ही दे पाया है। अतः यदि कहीं कोई भी ऐसे लक्षण भारत में किसी भी चरण पर पाये जाते हैं जिनका समरूप या प्रतिरूप पश्चिम में भी दिखायी देता

है तो इसका एकमात्र हल यह था कि यह पश्चिम से आया हो सकता है। भारतीय परिदृश्य की इस एकपक्षीय व्याख्या को, जिसका निषेध ऐतिहासिक प्रमाणों से भी होता है, 'अविवेकपूर्ण' कहा जाये या 'कदाशयतापूर्ण', यह तय करना कठिन है।

वास्तविकता यह है कि जिन पर्वतीय बाधाओं ने भारत को एक सुरक्षित दुर्ग बना रखा या उनके कारण ही भारत में शान्ति और व्यवस्था के दौर अपेक्षाकृत अधिक लम्बे रहे हैं जो विकास की एक शर्त है। यहाँ के मैदानी भाग की विशाल उर्वर धरती ने जो तुलनात्मक समृद्धि पैदा की थी उसके कारण विकास की सम्भावनाएँ यहाँ अधिक थीं और सामान्य सामाजिक वातावरण अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक सह्य था। जिन क्षेत्रों में जीवन-निर्वाह की परिस्थितियाँ अधिक दारुण रही हैं वहाँ के लोग अपेक्षाकृत अधिक निष्ठुर और भावशून्य होने को बाध्य थे। जब हम शकों, हूणों और मंगोलों की क्रूरता को, उनके द्वारा मामूली कारणों से और, यदा-कदा, अकारण ही कत्लेआम के घृणित कृत्यों को देखते हैं तो यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि इसके पीछे उनकी धरती की आपेक्षिक अनुर्वरता और जन-सामान्य की बदहाली रही है और इसी क्रूरता को पराकाष्ठा पर पहुँचाकर उनके शासकों ने अपनी अभावग्रस्त जनता का बहुत निर्ममता से शोषण किया। इसके अभाव में वे अकूत समाधिकोश नहीं जमा हो सकते थे और वे क्रूर प्रथाएँ नहीं प्रचलित हो सकती थीं जिनकी पुष्टि सीथियन समाधियों से होती है। इसी तरह की क्रूरता के दर्शन हमें मिस्री और मेसोपोटामियोई क्षेत्रों में होते हैं, जिनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। सीथियन समाधिकोश हों या मिस्री पिरामिड या बेबीलोनी जिगुरात, इन सबके पीछे जन-सामान्य के प्रति निर्ममता और दम्भ प्रदर्शन की वही मूर्खतापूर्ण झक देखी जा सकती है। कतिपय आश्चर्यजनक निर्मितियाँ किसी को सभ्य-सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं।

वास्तविकता यह है कि भारत की ओर से पश्चिम की ओर जाने वाले दल मुख्यतः व्यापारियों के और इनके अतिरिक्त धर्मप्रचारकों के थे, जिनके साथ उन सांस्कृतिक तत्वों का भी निर्यात होता रहा जिनको सभ्यता का सार तत्व कहा जा सकता है। इसके विपरीत, इस्लामी आक्रमण से पहले भारत पर जो भी आक्रमण हुए उनको ऐतिहासिक घटना के रूप में तो पहचाना जा सकता है, पर भारतीय जीवन में परिलक्षित परिघटना(फ़िनोमिना)के रूप में नहीं; कारण, अपने प्रवेश के बाद कुछ दशकों के भीतर भारतीय चिन्तन और दर्शन तथा सभ्य जीवन के विविध क्षेत्रों की भारतीय समृद्धि उनको इस तरह अभिभूत कर जाती रही है कि उनका पृथक अस्तित्व तक लुप्त हो जाता रहा है।

यह सोचना एक जड़ता होगी कि दो भिन्न जीवन-पद्धतियों से जुड़े लोगों का किसी खास पैमाने पर मिलन हो और उनमें से कोई दूसरे से कुछ भी ग्रहण किये बिना रह जाये। परन्तु यदि तुलनात्मक मूल्यांकन का प्रश्न आये तो इस बात पर

रुक कर विचार करना ज़रूरी है कि भाषा, विश्वास, रीति, कथा, देववाद, कला-वस्तु, शिल्प और ज्ञान के विविध क्षेत्रों—चिकित्सा, दर्शन, गणित, ज्योतिष आदि—में किन चरणों में किसने किससे कितना लिया और उसके बदले में कितना कुछ दिया है। आगन्तुक आक्रमणकारियों ने कितना नष्ट किया और कितना गढ़ा। हड़प्पा सभ्यता की तुलना पश्चिमी सभ्यताओं से करते समय अध्येता इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि पश्चिमी एशिया के विभिन्न नगरों में भारतीय व्यापारियों की बस्तियाँ थीं, जहाँ वे अपने देवताओं की पूजा करते थे और अपने खास ढंग से रहते थे[7] जिसकी पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्यों के अतिरिक्त वैदिक भाषा के पुरातन अवशेषों से भी होती है[8], पर भारत में वहाँ से क्या आता था यह अलक्ष्य ही रह जाता है। यह बात केवल पुरातात्विक साक्ष्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु इसे सभ्यता के अन्य नियामक तत्वों में में भी पाया जा सकता है। भारत को पश्चिम का योगदान किसी भी चरण के विषय में नितान्त विवादास्पद है, पर पश्चिम को भारत का योगदान कम-से-कम हड़प्पा काल से या, कहें, ऊर के तथाकथित प्लावन स्तर से पहले से स्पष्ट और अकाट्य रूप में दिखायी देता है।

2
वर्तमान स्थिति

भारतीय सभ्यता के अवदान या ऋण-स्वीकार का मूल्यांकन हड़प्पा सभ्यता के सन्दर्भ में ही किया जाता रहा है और इसमें बल सामान्यतः इस बात पर ही दिया जाता रहा है कि यह सभ्यता कैसे आरम्भ हुई हो सकती है और इससे पूर्व की ओर दृष्टि डालने का कोई कारण न देखकर बार-बार इससे पश्चिम की ओर से इसका सम्बन्ध जोड़ा जाता रहा है। पहले इसकी प्रेरणा का केन्द्र पूर्वी उत्तरी ईरान में तलाश किया जाता रहा और यदा-कदा तो इसके भी आगे बढ़कर इसे मेसोपोटामियाई प्रभाव में उदित सिद्ध करने के प्रयत्न होते रहे। अब इस विषय में किसी को किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह गया है कि मेसोपोटामिया का हड़प्पा सभ्यता के विकास में कोई योगदान नहीं था, पर ईरान को एक सम्भावित प्रेरक क्षेत्र का स्थान देने वाले विद्वानों की कमी नहीं है।[9]

दूसरी ओर, यह विचार व्यक्त किया जाता है कि दक्षिणी तुर्कमीनिया, सीस्तान, दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान और बलूचिस्तान का कुछ भाग तीसरी सहस्राब्दी के आरम्भ में एक गहन अन्तर्क्रिया के सूत्र में बँधे थे और इनसे लेकर सिन्धु घाटी तक कुछ आदान-प्रदान चलता दिखायी देता है जिसकी प्रकृति को ठीक-ठीक नियत कर पाना कठिन है। ऐसे में सम्भव है, इस क्षेत्र में सभ्यता का प्रसार करने में दक्षिणी तुर्कमीनिया का कुछ हाथ रहा हो। जब इसे तार्किक परिणति पर पहुँचा

दिया जाता है तब यह प्रस्ताव भी रख दिया जाता है कि तुर्कमीनिया—तेजेन मुहाना और आमू दरिया क्षेत्र—से कुछ लोगों का संचलन तीसरी सहस्राब्दी के आरम्भ या चौथी सहस्राब्दी के अन्त में सिन्धु-गंगा के मैदान में हुआ हो सकता है और उन्हीं के माध्यम से यहाँ कृषि आरम्भ हुई और कृषिजन्य समृद्धि पैदा हुई हो हो सकती है, जिसने बहुत जल्द नगर सभ्यता का रूप ले लिया होगा।[10]

इस तरह की सोच अटकलबाज़ी की देन है और यह अध्येताओं की अपनी उलझन को प्रकट करती है। जैसा कि फ्रांसीसी पुरातत्ववेत्ता जैरिज ने कहा है, जिन सादृश्यों के आधार पर यह सरलीकरण किया गया है उनसे प्रकट होता है कि इन दोनों क्षेत्रों के बीच लेन-देन उभय-पक्षीय था और ऐसी स्थिति में यह किसी एक क्षेत्र से उसके निवासियों के आने का सूचक नहीं है।[11] यह आने-जाने या, कहें, व्यापारिक यात्राओं के चलते ही सम्भव हो सकता था और इस स्थिति में हमें देखना यह होगा कि जिन बस्तियों के प्रमाण पाकर हम इस सम्पर्क में तुर्कमीनिया की पहल स्वीकार करते हैं, क्या उनका आकार इतना बड़ा और अपना ढाँचा इतना जटिल है कि उनको अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पहल का श्रेय दिया जा सके ?

अब इसको ध्यान में रखकर यह सुझाव दिया जाने लगा है कि सिन्धु सभ्यता का उदय कच्छी मैदान में हुआ हो सकता है। भारतीय नगर सभ्यता की जड़ें भारत में हो सकती हैं, यह बात अब दिनोदिन अधिक साफ़ होती जा रही है।

इस चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले विकास की प्रकृति पर विचार करना अधिक आवश्यक है।

3

विकास की प्रकृति

विश्व-इतिहास के विषय में हमें जो बातें मोटे तौर पर ज्ञात है उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि किसी नव-प्रवर्तन का सम्बन्ध किसी जाति से नहीं है, पर परिस्थिति विशेष से इसका गहरा सम्बन्ध है। पर हम किसी भी परिस्थिति को इतनी आदर्श नहीं मान सकते जो युगयुगान्तर तक नव-प्रवर्तनों और विकासों का केन्द्र बनी रहे। अतः सभ्यता के केन्द्र निरन्तर बदलते रहते हैं, यद्यपि प्राचीन कालों में इन केन्द्रों के बदलने में अपेक्षाकृत अधिक लम्बा समय लगा करता था। इसी का दूसरा रूप यह है कि विकास के एक चरण पर आगे बढ़ा हुआ क्षेत्र अगले चरणों पर भी आगे ही रहे, यह जरूरी नहीं। इसकी उपलब्धियों के प्रसार-क्षेत्र में कोई भी अगले विकासों का केन्द्र बन सकता है। यही नहीं, जिस

दौर में कोई क्षेत्र शेष से आगे बढ़ा होता है उस दौर में भी कुछ विशेष मामलों में वह उस क्षेत्र से कुछ बातें सीखता रह सकता है जिनको यह अधिक गहन रूप में प्रभावित कर रहा है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि कोई विकास निपट एकाकीपन में नहीं होता। यह सम्पर्क की गहनता पर निर्भर करता है। अत: गाँवों की तुलना में नगरों में और छोटे नगरों की तुलना में महानगरों में नये विकासों की सम्भावना अधिक होती है। सम्पर्क की गहनता का अर्थ है सम्पर्क के दायरे का बड़ा होना, संचार के माध्यमों का प्रखर होना और वातावरण का अनुकूल होना।

यह एक सर्वविदित बात है कि इतिहास में हम ज्यों-ज्यों पीछे लौटते हैं विकास की दर अधिकाधिक मन्द होती जाती है और एक विन्दु पर यह मन्दता इतनी बढ़ जाती है कि लगता है यहाँ कोई परिवर्तन घटित ही नहीं हो रहा है। शेष जगत से अलग-थलग रहने वाले जनों में आज भी घोर मन्दता या ठहराव की-सी ही स्थिति दिखायी देती है और इनकी जड़ता का टूटना भी बाह्य जगत से इनके सम्पर्क के अनुपात में ही होता है। साथ ही यह भी कि प्राचीन कालों में भी विकास की गति उन क्षेत्रों में ही अधिक प्रखर रही हो सकती है जहाँ अधिक बड़े प्रसार-क्षेत्र में सम्पर्क की सम्भावना रही हो और ऐसे क्षेत्र जो परस्पर विच्छिन्न रहे हैं, अपने विकासों के लिए उन गहन सम्पर्क के क्षेत्रों की तुलना में न केवल पीछे रहे हैं अपितु अपने अधिकांश विकासों के मामले में इन सघन सम्पर्क-क्षेत्रों से अपने सम्पर्क की सघनता या विरलता के ही अनुरूप रहे हैं।

अपने पूरे इतिहास में हम पाते हैं कि मैदानी क्षेत्रों में जहाँ विविध माध्यमों से आवागमन अधिक आसान रहा है और किसी तरह की व्यवस्था कायम करना अधिक सुकर रहा है, वहीं इनमें अपेक्षाकृत अधिक बड़े क्षेत्र में सम्पर्क भी बना रहा है और यह अपने समय को देखते हुए अधिक गहन रहा है। इसके विपरीत गहन जंगलों या अलंघ्य प्राकृतिक बाधाओं के कारण कटे हुए क्षेत्रों में ऐसा सम्भव नहीं था, अत: जंगली क़बीलों, दूरस्थ द्वीपों और पर्वतीय क्षेत्रों की बस्तियों में अपनी स्थानीय बाध्यताओं के कारण कपितय युक्तियों का विकास भले हो गया हो पर कोई ऐसा आविष्कार या विकास सम्भव नहीं दिखायी देता जिसका सार्वभौम महत्व हो। मैदानी क्षेत्र की सीमा पर पड़ने वाली गिरिपदीय बस्तियों के बीच परस्पर नगण्य सम्पर्क रहा है, ये प्राय: पर्वतीय क्षेत्र के निवासियों के लिए मैदानी क्षेत्र की वस्तुओं के विनिमय-केन्द्रों के रूप में विकसित हुई हैं और इसलिए इनमें मैदानी और पहाड़ी क्षेत्रों के कुछ तत्वों का मिश्रण पाया जाता है। इनका सम्पर्क अपने निकटस्थ मैदानी केन्द्र से उससे अधिक गहन रहा है जितना अपने समीपवर्ती अन्य गिरिपदीय स्थलों से। पहाड़ी क्षेत्र की बस्तियों के बीच आपसी सम्पर्क उससे भी अधिक क्षीण रहा है जितना गिरिपदीय बस्तियों में।

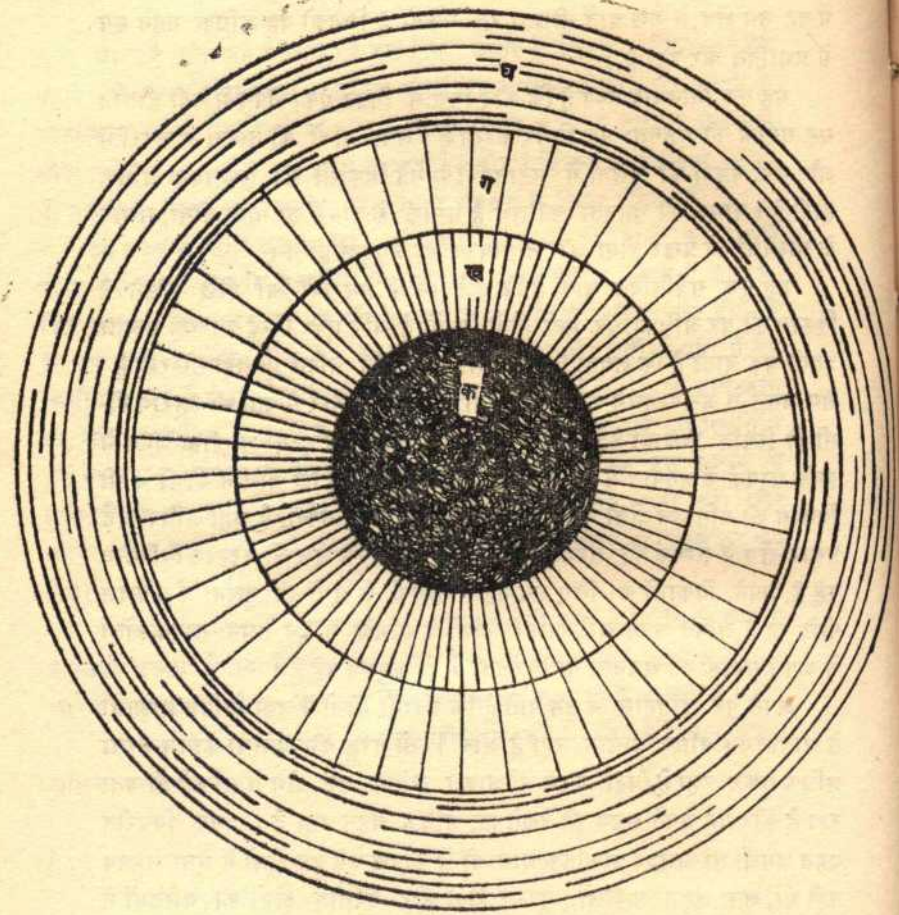

(क) मैदानी स्थल, सघन अन्तर्क्रिया के क्षेत्र, गहन सम्पर्क, अर्थ-व्यवस्था में वैविध्य, सुदूर स्थलों से सीधा सम्पर्क, स्थायी आवास।

(ख) गिरिपदीय स्थल—परस्पर कोई सम्पर्क नहीं। सीधा सम्बन्ध क और ग से। इनमें क और ग दोनों के कतिपय लक्षण पाये जा सकते हैं जिनके बीच ये सेतु का काम करते हैं।

(ग) पहाड़ी स्थल—परस्पर स्वल्प सम्पर्क, सीधे या ख के माध्यम से क से सम्पर्क। प्रायः क के दूरस्थ उपकेन्द्र—प्रमुख निवासी क के।

(घ) वन्य क्षेत्र—लघु क्षेत्रों में परस्पर गहन अन्तर्क्रिया। क, ख और ग से कटा हुआ या नाम मात्र को सम्पर्क, जिसमें भी पहल क की ओर से। घोर पिछड़ापन। पाषाणी सभ्यता के निकटतम।

पर जिन पर्वत शृंखलाओं को पार कर आगे जाने वाले यात्रापथ रहे हैं उनके किनारे पड़ने वाले कतिपय स्थलों का विकास बड़े पड़ावों के रूप में हुआ और इनमें भी मैदानी क्षेत्र की कतिपय उपलब्धियों को प्रतिबिम्बित देखा जा सकता है। दोनों पार्श्वों के बीच में होने के कारण इनमें कुछ का विकास गिरिपदीय बस्तियों की तुलना में अधिक उन्नत भी हो सकता था और कुछ का विकास इस स्तर तक भी सम्भव था कि कुछ मामलों में वे स्वयं भी पहल कर सकें। पर सामान्यत: एक-दूसरे से क्षीण सम्पर्क रखने के कारण और साथ ही सघन अन्तर्क्रिया वाले एक ही मैदानी क्षेत्र से सीधे सम्पर्क के कारण इनमें दो तरह की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं—पारस्परिक सांस्कृतिक भिन्नताएँ और इसके बावजूद इन सभी में कुछ समान तत्वों की उपस्थिति।

उन विनाशकारी प्राकृतिक आपदाओं से अपेक्षाकृत मुक्त रहने के कारण जिन्हें मैदानी क्षेत्रों को झेलना पड़ा है, पर्वतीय और गिरिपदीय तथा रेगिस्तानी क्षेत्रों में भले ही स्थायी बस्ती और सांस्कृतिक विकास के कतिपय लक्षण मैदानी क्षेत्र की तुलना में हजारों वर्ष पीछे के बचे रहे गये हों, पर इनमें परिलक्षित विकास मैदानी क्षेत्र के विकासों के प्रतिबिम्बन मात्र हैं और इन्हें अपने समकालीन मैदानी केन्द्रों के विकासों का भी सही परिचायक नहीं माना जा सकता। इनको मैदानी क्षेत्र में अपेक्षाकृत बाद के अवशेषों में देखकर यह सोचना तो वास्तविकता को बिलकुल उलटकर देखने जैसा होगा कि मैदानी क्षेत्र के विकास इन्हीं के प्रभाव में हुए हैं। ऐसी स्थिति में जहाँ बलूचिस्तान की ग्राम-संस्कृतियों—दम्ब सादात, रहमान ढेरी, किले गुल मोहम्मद, राना गुंडाई, कुल्ली, कोटदीजी, शाही तम्प, गुमला आदि में कुछ ऐसे तत्व पाये जाते हैं जिनको हम आगे चलकर हड़प्पा के नगरों में पाते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि इन संस्कृतियों ने मिल कर या इनमें से किसी ने हड़प्पा को प्रेरित किया, अपितु यह कि मैदानी क्षेत्र से हड़प्पा सभ्यता के उस काल के अवशेष अभी तक खोजे नहीं जा सके हैं जिनका क्षीण प्रतिबिम्ब इन संस्कृतियों में पाया जाता है और जो हड़प्पा सभ्यता के पूर्वज व्यापारियों के अड्डे रहे हो सकते हैं। कारण, ये लघु, परस्पर सम्पर्क से कटी हुई और स्पष्ट आंचलिक भिन्नताएँ रखने वाली, स्थानीय संसाधनों की दृष्टि से अकिंचन बस्तियाँ स्वतन्त्र रूप से ऐसे विकास नहीं कर सकती थीं जिनकी अपेक्षा व्यापक सम्पर्क और समृद्धि की स्थिति में ही की जा सकती है। इसी तरह विन्ध्य के पदतल में जिन स्थायी और अर्धस्थायी बस्तियों का इलाहाबाद, प्रतापगढ़, बनारस और मिर्जापुर के ज़िलों में पता चलता है उनके आधार पर यह सोचना ग़लत होगा कि इनसे उत्तर और पश्चिम के मैदानी क्षेत्रों में भी विकास का स्तर यही रहा होगा। यह याद रखना होगा कि विन्ध्य का पर्वतीय और पदतलीय क्षेत्र जिसमें प्रयाग तक का क्षेत्र आता है रामायण काल तक भी ऐसे क़बीलों का

ही क्षेत्र था जो मछियारी और सम्भवत: पशुपालन पर निर्भर करते थे, जब कि इससे उत्तर का क्षेत्र उन्नत अवस्था को पहुँचा हुआ था। इसके विपरीत सारन में गंगा के कछार से चिरन्द नामक स्थान से चौथी सहस्राब्दी ई. पू. के गेहूँ तथा अन्य खाद्यानों के प्रमाण मिले हैं जिनसे प्रकट होता है कि इस क्षेत्र में गेहूँ और धान की खेती होती थी और यह तिथि यद्यपि हमें बहुत पीछे नहीं ले जाती, पर इससे यह तो प्रकट होता ही है कि चौथी सहस्राब्दी ई. पू. में भी कृषि का प्रसार बिहार तक था और मैदानी क्षेत्रों में विधिवत खेती हो रही थी। यह क्रम कितने पहले से चला आ रहा था, इसके विषय में केवल अनुमान ही लगाये जा सकते हैं। यह भी ध्यान में रखना होगा कि यहाँ हमारा पाला गंगा के कछार के ठीक उसी क्षेत्र से पड़ रहा है जिसके विषय में आम धारणा यह रही है कि यह सघन जंगलों से घिरा ऐसा क्षेत्र था जिसकी सफ़ाई लोहे के कुल्हाड़े लेकर आने वाले आर्यों से पहले हो ही नहीं सकती थी। एक बड़ी नदी के कछार में, वह भी प्रचुर वर्षा और बाढ़ वाले भाग में, खेती का यह प्रमाण इस भ्रम को दूर करता है कि तीसरी सहस्राब्दी से पहले या हद-से-हद चौथी सहस्राब्दी की अन्तिम शताब्दियों से पहले सरस्वती और सिन्धु आदि के तट पर न तो बस्ती हो सकती थी, न खेती की जा सकती थी और कृषि का आनयन पश्चिम की ओर से ही सम्भव था।

निरे पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर विचार करते समय एक भूल जो अक्सर की जाती है वह है स्थानीय शक्यता की उपेक्षा और उपलब्ध प्रमाणों में जो अब तक सबसे पुराना सिद्ध हो रहा है उसे ही इसका जनक और शेष को इससे प्रेरित मानने की भूल। यह भूल तब और अधिक ख़तरनाक रूप ले लेती है जब हम इस बात की सरासर उपेक्षा करते हुए कि विकास और समृद्धि के केन्द्र निरन्तर बदलते रहते हैं, हज़ारों वर्षों के दौरान हुए विकास को अपनी दृष्टि से अग्रणी माने हुए केन्द्रों या क्षेत्रों से ही प्रेरित और परिचालित मानते रहते हैं। जब हम नगर-सभ्यता के विकास पर विचार कर रहे हों तो कम-से-कम इतनी सूझ-बूझ का परिचय तो हमें देना ही चाहिए कि इसे कृषि के उदय और विकास से, जो इससे हज़ारों वर्ष पहले आरम्भ हुआ था, काट कर और इसकी अपनी अपेक्षाओं को सामने रखते हुए देखने का प्रयत्न करें।

3
शहरीकरण की पूर्वापेक्षाएँ

नगरों के साथ यद्यपि आर्थिक समृद्धि प्राय: देखने में आती है, पर शहरीकरण आर्थिक समृद्धि का दूसरा नाम नहीं है। इसी तरह ग्रामीण बस्तियों की तुलना में

नगरों में आबादी का अधिक बड़ा जमाव दिखायी देता है, पर आबादी की विशालता मात्र किसी नगर का लक्षण नहीं है। विशाल भवनों, अराधना के स्थलों आदि से भी इसे जोड़ना ग़लत है। यह ग्रामीण अर्थव्यवस्था से भिन्न एक ऐसी गुणात्मक छलांग है जिसके साथ उक्त तत्वों को तो पाया ही जाता है, साथ ही दूसरे दर्जनों लक्षण, जैसे व्यवयायों का विशेषीकरण, उत्पादन में दक्षता, नये आविष्कार, तकनीक, लेखन और गणना के संकेतों का प्रसार और इनकी शिक्षा, प्रशासनिक तन्त्र का विकास, मानों और बाटों का मानकीकरण, प्रतीक द्रव्यों का चलन, बस्ती की सुव्यवस्थित योजना, सामाजिक मूल्यों और आदर्शों की प्रतिष्ठा और शिष्टाचार के नियमों के पालन पर बल, सामूहिक भागीदारी में परिमाणगत और गुणात्मक अन्तर, आदि दिखायी देते हैं, पर ये सभी मात्र इसके लक्षण हैं, कारण नहीं। इन सभी विकासों के मूल में रही हैं आन्तरिक और बाह्य व्यापारिक गतिविधियाँ जिनके चलते ही क्रमशः नगरों का उदय हुआ और नये नगरों की स्थापना तथा पुराने नगरों के महत्व में अन्तर के पीछे आज तक मुख्यतः इन्हीं को काम करते देखा जा सकता है।

शहरीकरण की प्रक्रिया पर विचार करने वाले विद्वानों ने प्रायः इसके इक्के-दुक्के पहलुओं पर ही अधिक बल दिया है। उदाहरण के लिए, गोर्डन चाइल्ड लेखन को शहरीकरण का द्योतक मानते हैं[12] जिसे डॉ. गुप्त अनिवार्य नहीं मानते, पर व्यावसायिकता, सामूहिक व्यवहार और सार्वजनिक भवनों के निर्माण को शहरीकरण का सूचक अवश्य मानते हैं।[13] पर इसके प्रमुख कारण व्यापार और उद्योग की ओर ध्यान आकृष्ट किये जाने के बावजूद इसके महत्व का सही मूल्यांकन करने में प्रायः चूक होती रही है। उदाहरण के लिए, मुग़ल के विचार से हड़प्पा नगर-सभ्यता से पहले के सम्पर्क यायावर क़बीलों के कारण सम्भव दिखायी देते हैं।[14] अस्थाना मुग़ल से सहमति प्रकट करती हुई लिखती हैं कि हड़प्पा काल से पहले व्यापार की बात करना ही फ़िज़ूल है।[15]

वास्तविकता यह है कि व्यापार का आरम्भ नगरों के बसने के बाद नहीं हुआ अपितु व्यापारिक गतिविधियों में आयी प्रखरता ने ही नगर-सभ्यता को जन्म दिया और हमें ज्ञात परिपक्व हड़प्पा सभ्यता में नगरों का उदय होते नहीं दिखायी देता है, अपितु किन्हीं आपदाओं या अपरिहार्यताओं के कारण पहले से स्थापित नगर-केन्द्रों का वर्तमान स्थलों पर स्थानान्तरण होता दिखायी देता है। नगर-सभ्यता के उदय पर विचार करते समय पश्चिम एशिया के 'उर्वर अर्धचन्द्र' या भारत में गंगा से सिन्धु तक के 'स्वर्णिम उर्वर क्षेत्र' पर एकांगी बल देना भी ग़लत है। यद्यपि व्यापारिक गतिविधियों में तेज़ी का बहुत गहरा सम्बन्ध आर्थिक समृद्धि और अतिरिक्त उत्पादन के कुछ थोड़े-से लोगों के हाथ में सिमट आने से है, पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि नगर-केन्द्रों से न तो कभी खेती की जाती रही है, न ही वे इस

दृष्टि से सबसे उपयुक्त स्थल पर बसाये गये हैं। वे सदा से विपणन और वितरण और प्रशासन के ही केन्द्र रहे हैं। अतः नगरों की स्थापना में कृषि-जन्य समृद्धि की भूमिका परोक्ष रही है, प्रत्यक्ष और निर्णायक नहीं। नगरों की स्थापना में भी ठीक उस स्थल के निवासियों का—यदि इससे पहले वहाँ कोई छोटी-मोटी बस्ती रही भी हो तो—हाथ नहीं होता। इन स्थलों का चुनाव अपनी गतिविधियों के केन्द्र के रूप में, परिवहन की दृष्टि से इनके सुविधाजनक होने के कारण, उस अंचल के व्यापारियों द्वारा भी किया जा सकता है और सुदूर स्थलों के व्यापारियों द्वारा भी, पर किसानों द्वारा कदापि नहीं। इनकी उपयुक्तता इस बात पर निर्भर करती है कि इनके माध्यम से एक बड़े क्षेत्र से सम्पर्क रखा जा सकता है और उसमें अपना माल पहुँचाया जा सकता है। विशाल नदियों और समुद्र तट के कुछ विशेष स्थल इस विशेष दृष्टि से आज तक सबसे उपयुक्त रहे हैं। व्यापारिक गतिविधियों के लिए नौका और जलमार्गों का सफलतापूर्वक उपयोग आरम्भ करने से पहले, मनुष्य लम्बे समय तक भारवाही पशुओं की पीठ पर माल लाद कर स्थल मार्ग से क्रियाशील रहा होगा और नगर-केन्द्रों का भी आरम्भिक जमाव इस भाग में ही आरम्भ हुआ होगा। हम पहली बार जिन नगरों को देखते हैं वे जलमार्गों के उपयोग और नौकाओं और रथों के विकास के बाद की चीज़ हैं। कहें, हम इन्हें अपने आरम्भ से वर्षों बाद देख रहे हैं। ऐसे क्षेत्रों में जहाँ नदियों का अभाव रहा है या जहाँ जलमार्ग से पहुँचना सम्भव नहीं था, स्थल-मार्ग में पड़ने वाले ऐसे स्थल व्यापारिक केन्द्रों के रूप में विकसित हुए जहाँ से अनेक दिशाओं में अधिक सुकरता से पहुँचा जा सकता था। अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान, ईरान और मध्येशिया की अधिकांश आद्य नगरीय या योजनाबद्ध बस्तियाँ और बाद के नगर ऐसे ही केन्द्र रहे हैं। परन्तु इन स्थलों के चुनाव की एक प्रधान शर्त थी यहाँ जल की उपलब्धता। कारण, जल के अभाव में बस्ती बसाना तो दूर, एक-दो दिन के लिए पड़ाव डालकर ठहर पाना भी सम्भव नहीं था। जल की सुलभता वाले इन आरम्भिक पड़ावों और बाद की बस्तियों के आस-पास यदि भूमि उपजाऊ मिल गयी तो कुछ खेती-बारी सम्भव थी। पड़ाव न तो किसी पहाड़ी की चोटी पर लगाये जा सकते थे न ही ढलान पर। इनके लिए स्थल का चुनाव करते सयय अपेक्षाकृत चौरस ज़मीन ही चुनी जा सकती थी, अतः जल की सुलभता के साथ चौरस ज़मीन पर बसे अड्डों और बस्तियों के साथ कमोबेश खेती सम्भव थी। भारवाही पशुओं के लिए चारे की उपलब्धता यहाँ तो सम्भवतः आरम्भ से थी जो स्थलमार्ग के पड़ावों की एक अनिवार्य शर्त थी। अब ऐसी बस्तियों में आरम्भ से ही कुछ शहरी लक्षणों को देखकर प्रायः यह भ्रम पाल लिया जाता है कि इन स्थलों पर एक अल्पतम स्तर का नागर विकास या आद्य नागर विकास इनमें होने वाली खेती और इससे उत्पन्न आपेक्षिक सम्पन्नता के कारण सम्भव हुआ, जो ठीक नहीं लगता।[16]

हमें यह स्मरण रखना होगा कि नगर के लिए किसी स्थल का उपजाऊ होना क़तई ज़रूरी नहीं है। यदि विनिमय और वितरण के लिए अनुकूल स्थितियाँ मौजूद हैं तो नगर किसी ऊसर, बंजर, चट्टानी या पहाड़ी स्थल पर भी बसाये जा सकते हैं—और तटवर्ती नगर तो चुनाव करके ऐसे ही स्थलों पर बसाये जाते रहे हैं जो उर्वरता की दृष्टि से कदापि आकर्षक नहीं थे। इन केन्द्रों का तेज़ या मन्द गति से विकास, अन्य केन्द्रों की तुलना में इनका आगे बढ़ जाना भी, मुख्यतः इसी बात पर निर्भर करता है कि इनसे कितने विशाल क्षेत्र में पहुँचा, अपना माल पहुँचाया और वहाँ का माल समेटा जा सकता है।

इसी तरह किन्हीं भी कारणों से व्यापारिक महत्व घट जाने या व्यापारिक आधार खण्डित हो जाने के बाद नगरों का पतन और विनाश होने लगता है। इस पहलू पर ध्यान न देने के कारण सारस्वत नगर-केन्द्रों और हड़प्पा के नगर केन्द्रों के पतन को समझने में तो कठिनाई पेश आती ही है, बौद्ध काल से ठीक पहले शहरीकरण के दूसरे दौर के पीछे काम करने वाले तर्क को समझने में भी उलझन पैदा होती है। जो लोग यह मानते हैं कि शहरीकरण का सम्बन्ध कृषि के उत्पादन से है उन्हें यह सिद्ध करना चाहिए कि हड़प्पा काल के बाद भारत में कृषि का आधार भी नष्ट हो गया था और इसका भी पुनः उदय शहरीकरण के दूसरे दौर के साथ हुआ। लोहे के आविष्कार से भी शहरीकरण को जोड़कर देखना ग़लत है। इसका निषेध तो इस बात से ही हो जाना चाहिए कि हड़प्पा के विशाल नगरों के लिए जो चीज़ ज़रूरी नहीं थी उसको इस दूसरे दौर का प्रधान कारण कैसे बनाया जा सकता है। अनेक विद्वानों ने इसका खण्डन तो किया है, पर सही कारण को रेखांकित करने में विफल रहे हैं।[17]

इसका यह मतलब नहीं कि कृषि उत्पादनों का और उन्नत तकनीक का नगर-सभ्यता के विकास से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध है, पर यह प्रत्यक्ष न हो कर परोक्ष है। इसकी भूमिका पर इसके गुण और परिमाण को सामने रखते हुए ही विचार किया जाना चाहिए। मात्र कृषि-कर्म नहीं, अपितु कृषि का एक विशाल क्षेत्र में प्रसार और इसके लिए, अपने समय को देखते हुए, उन्नत तकनीक का प्रयोग जिससे भूमि का अधिकतम उपयोग अपेक्षाकृत कम श्रम से किया जा सकता था और इस प्रकार उत्पादकों की अपनी अपरिहार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद कुछ अतिरिक्त बचा रहना और इस अतिरिक्त का अपेक्षाकृत थोड़े-से लोगों द्वारा खसोट लिया जाना और इस खसोट से उत्पन्न अनुपातहीन समृद्धि के निकास के लिए उनके द्वारा उपभोग, विलासिता और सौख्य के अनावश्यक उत्कृष्ट स्तरों और वस्तुओं की तलाश वाणिज्य और व्यापार का आधार बनी थी और इसमें होने वाली उत्तरोत्तर वृद्धि ने नगर-सभ्यता को जन्म दिया था। पर जहाँ पहल करने वाले देश के सन्दर्भ में कृषिजन्य समृद्धि अनिवार्य महत्व रखती थी वहाँ उन

दूसरे क्षेत्रों के सन्दर्भ में यह जरूरी नहीं थी जहाँ से अपने उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विविध वस्तुओं का आनयन किया जा सकता था और इसके बावजूद इन क्षेत्रों में व्यापारिक केन्द्रों की स्थापना और एक अल्पतम सीमा तक इनका विकास सर्वथा सम्भव था। इसका एक उदाहरण दक्षिण-पूर्व एशिया के प्रायद्वीपीय और द्वीपीय क्षेत्र हैं जहाँ का समाज नितान्त पिछड़ी अवस्था में था और स्थायी बस्ती भी बसा कर नहीं रह रहा था, पर जहाँ के मसालों की वन्य उपज भारतीय व्यापारियों के आकर्षण का केन्द्र बनी थी और जिसके चलते उनसे व्यापारिक सम्पर्क कायम हुआ था और वहाँ आरम्भ में व्यापारिक अड्डे कायम हुए थे और फिर भारतीय व्यापारियों और नेताओं के द्वारा ही नगर-केन्द्र स्थापित किये गये थे।

जो भी हो, एक बार व्यापारिक दृष्टि से इन उपयुक्त स्थलों पर बस्ती आरम्भ हो जाने के बाद सुरक्षा की चिन्ता और सम्पन्नता की अभिव्यक्ति के दुहरे तकाजों से सुदृढ़ और विशाल भवनों का निर्माण, निर्विघ्न यातायात के लिए ऐसे चौड़े मार्गों का निर्माण जिनसे दोनों ओर से वाहन गुजर सकें, यथासम्भव प्रधान मार्ग का पक्का बनाया जाना, ताकि गर्मी में धूल और बरसात में कीचड़ और पानी के जमाव की समस्या न पैदा हो, बस्ती की सुरक्षा के लिए नगर-प्राचीर और तट-बन्ध का निर्माण, विपणन केन्द्र होने के कारण दूर-दूर के ग्राहकों का आवागमन, इनके लिए सुविधाओं और ठिकानों का विकास, क्रमशः जनसंख्या का जमाव, इस जमाव से उत्पन्न अन्य सामाजिक-आर्थिक और स्वच्छता आदि की समस्याएँ और इनको सुलझाने के लिए स्थानीय प्रशासन तन्त्र, सामाजिक व्यवहार तथा निर्माण और स्वच्छता आदि के विषय में नियमों का बन्धन और इनके उल्लंघन पर दण्ड-विधान, खेल-कूद और मनोरंजन के केन्द्रों और साधनों तथा खिलौनों का निर्माण, अपने माल को प्रतिस्पर्धियों की तुलना में अधिक अच्छा बनाने के लिए दस्तकारों में होड़ और इन दस्तकारों के माल को दूरस्थ स्थलों में ले जाकर बेचने वाले प्रधान व्यापारियों द्वारा इनको प्रोत्साहन, इस क्रम में दक्षता और विशेषीकरण में वृद्धि, शिक्षण और प्रशिक्षण के केन्द्रों की स्थापना, माल के भण्डार व हानि-लाभ का हिसाब रखने के लिए क्रमशः दृश्य चिह्नों और प्रतीकों का विकास और लम्बे दौर में इनका लिपि-चिह्नों में विकास और इसके बाद सामान्य रक्षणीय अनुभवों और रचनाओं को भी लिपिबद्ध करने का आरम्भ और ज्ञानात्मक और कलात्मक कृतियों का विकास के स्तर के अनुरूप प्रचलन, ये सभी क्रमशः व्यापारिक गति-विधियों के कारण और इनके दबाव में जन्म लेते हैं और अपने परिष्कार और परि-रक्षण के लिए इनकी समग्र अभिव्यक्ति—नगर-केन्द्र—पर निर्भर करते हैं।

अतः शहरीकरण की प्रेरणाओं तथा इनके प्रथम केन्द्रों को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक हम यह समझने का प्रयत्न न करें कि इन विविध

दृष्टियों से पहल किस क्षेत्र में सम्भव हो सकती है और कतिपय नागर लक्षणों को प्रकट करने वाली बस्तियों का इस मूल केन्द्र के सन्दर्भ में क्या महत्व है। पर इसके साथ ही तकनीकी और सामाजिक विकास पर भी एक दृष्टि डालना ज़रूरी है जिनका व्यापारिक गतिविधियों से और आंचलिक समृद्धि से गहरा सम्बन्ध है।

सामाजिक व तकनीकी विकास

सबसे पहले हम कृषि-जन्य समृद्धि को ही लें जिससे उत्पन्न अतिरिक्त संचय उत्कृष्ट उपभोक्ता वस्तुओं की माँग इनको जुटाने के क्रम से व्यापार का प्रेरक बना था। इसके लिए ज़रूरी था विशाल समतल मैदान और इसका भरपूर उपयोग करने के लिए अपेक्षित युक्तियों और साधनों का विकास। विचारणीय काल में विशाल उपजाऊ मैदान के रूप में तीन ही क्षेत्र मिलते हैं और वे हैं दजला और फ़रात की उपत्यका, नील की उपत्यका और सिन्धु-गंगा के बीच का विशाल मैदान। इनमें से पहली के विषय में पुरातात्विक प्रमाण और स्थानीय परम्परा दोनों इस बात की पुष्टि करते हैं कि यहाँ नगर-सभ्यता की प्रेरणा का आगमन पूर्व की ओर से समुद्री मार्ग से हुआ था और दूसरी का शहरीकरण पहली के प्रभाव में हुआ था। इनके विपरीत तीसरी की स्थानीय परम्परा एक बहुत लम्बे अतीत काल से स्थानीय विकास और नगर-जीवन की याद दिलाती है जो बाद के दौर में लगभग विस्मृतप्राय स्वप्न हो गया था और पुरातात्विक दृष्टि से ऐसा कुछ भी नहीं मिला है जिसे निषेधात्मक कहा जा सके। इसके विपरीत इसकी विशालता स्वयं में एक सशक्त प्रमाण है कि यह इस क्षेत्र में विगत अनेक सहस्राब्दियों के दौरान अंकुरित, पल्लवित और फलित हुई थी। विगत दो दशकों के बीच इस दृष्टि से आशाएँ बढ़ी ही हैं, यद्यपि पूरा क्षेत्र लगभग अनखुदा-सा पड़ा है। उक्त तीन के अतिरिक्त जिन क्षेत्रों से खेती के प्रमाण मिलते हैं वे ईरान, मध्येशिया, अफ़ग़ानिस्तान और बलूचिस्तान के क्षेत्र हैं जिनको सामान्यतः ऊसर, पठारी या रेगिस्तानी पाया जाता है, जिनमें बीच-बीच में कहीं जलधाराओं के डेल्टों में, नखलिस्तानों या वादियों में सीमित क्षेत्रों में खेती होती तो दिखायी देती है, पर तकनीकी दृष्टि से कोई ख़ास प्रगति सम्भव नहीं दिखाई देती। जिन सीमित क्षेत्रों में पानी सुलभ था वहाँ खेती तो होती रही, पर इस क्षेत्र का विस्तार करने की सम्भावना नहीं थी। इस क्षेत्र की कृषि के मामले में आत्मनिर्भरता की एक मिसाल यही है कि आरम्भ में यह कल्पित कर लिये जाने के बाद कि आर्य भारत में मूलतः इसी क्षेत्र से, या इन्हीं क्षेत्रों में बसते हुए भारत आये थे यह किसी की समझ में ही नहीं

आ रहा था कि वे मुख्यत: कृषिजीवी रहे हो सकते हैं और इसलिए उन्हें चारण-जीवी और खेती से नाममात्र को परिचित सिद्ध किया जाता रहा।

कृषि के मामले में समृद्धि और कुछ थोड़े-से लोगों के हाथों में अतिरिक्त उत्पाद के संचय की दृष्टि से कृषि-क्षेत्र का विस्तार, सिंचाई के साधनों और युक्तियों का विकास, जोताई आदि के लिए यन्त्रों का विकास, मानव श्रम को कम करने या इसकी क्षमता को बढ़ाने के लिए पशु श्रम का उपयोग और सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन या, कहें, समाज का स्वामी और श्रमिक वर्ग में विभाजन आदि प्रमुख हैं। सिंचाई के मामले में कुछ सीमित प्रयोग जैसे अफ़ग़ानिस्तान में ग़ोरबन्द और नहरों और नालियों का विकास सम्भव था और सम्भवत: हुआ भी हो, पर शेष मामलों में कोई प्रगति नहीं दिखायी देती और इसलिए कृषि-क्षेत्र के विस्तार की सम्भावना नहीं थी। पर भारत और पाकिस्तान के इस मैदानी क्षेत्र में उक्त क्षेत्रों की तुलना में औसत वर्षा की अधिकता, जंगलों को जलाकर कृषि और चारण भूमि का विस्तार, कुओं, पोखरों, कुल्या या कृत्रिम नहरों का विकास, जोताई के लिए आदिम नुकीले डण्डों या अरों के प्रयोग से क्रमश: बढ़ते हुए हल-फाल और जुआठ का विकास, आरम्भ में मानव चालित हलों के स्थान पर इसके लिए क्रमश: गायों का उपयोग और फिर बछड़ों का वधियाकरण करके इनका हलों में उपयोग, समाज का आर्य और दास या स्वामी और श्रमिक में विभाजन, कृषकों के लिए कृष्टी या प्रजा का प्रयोग जो स्वामी वर्ग की तुलना में इनकी विशाल संख्या को प्रकट करता है, अन्यत्र पैदा की जाने वाली एक फ़सल के मुकाबले दो फ़सलों की खेती, ये सभी कृषिजन्य समृद्धि की अपेक्षाओं की पूर्ति करते हैं और इसमें कहीं कोई छिद्र दिखायी नहीं देता। वैदिक काल के आरम्भ तक ये सारे विकास हो चुके हैं। यह भी याद रखना होगा कि कालीबंगां से प्राप्त हलाई के निशान खेतों की जोताई के सबसे प्राचीन प्रमाण हैं।

सिद्धान्तत: भी हल का उपयोग न रेगिस्तानी-नखलिस्तानी क्षेत्र में सम्भव था, न ही पठारी और पहाड़ी इलाकों में। इसका विकास और उपयोग दोनों मैदानी भागों में ही सम्भव था। पशु श्रम का उपयोग जोताई में हलों के सन्दर्भ में ही महत्व रखता है, अत: पहाड़ी, पठारी और नखलिस्तानी क्षेत्रों में मानव श्रम को कम करने वाले और उसकी प्रभावकारिता और उत्पादन क्षमता को बढ़ाने वाले इस विकल्प का उपयोग हुआ दिखाई नहीं देता। सारा उत्पादन अपने ही बल-बूते तक सीमित रहा लगता है जिसमें अपनी जीवन-रक्षा के लिए ही पर्याप्त उत्पादन एक समस्या बन जाती है, अतिरिक्त उत्पादन की तो बात ही नहीं सोची जा सकती। यही कारण है कि समाज-रचना में भी अन्यत्र उस तरह का स्पष्ट विभाजन नहीं दिखायी देता।

इसके साथ ही एक अन्य पहलू पर भी ध्यान देना ज़रूरी है। पीछे हम

कह आये हैं कि कृषि की समृद्धि और अतिरिक्त उत्पादों का स्वल्प व्यक्तियों के हाथों में संग्रह ही उत्कृष्ट और अत्यावश्यक वस्तुओं की माँग बनकर व्यापार का प्रेरक बना था। यदि तर्क के लिए हम थोड़ी देर के लिए मान लें कि ईरान, तुर्कमीनिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान, आदि की सीमित बस्तियों में ही यह समृद्धि पैदा हुई थी और वहीं व्यापार की नींव रखी गयी तो हमें एक विरोधाभास का सामना करना पड़ेगा। जिस मामले में ये संस्कृतियाँ स्वयं समृद्ध थीं उनके द्वारा उन्हीं की अतिरिक्त माँग का प्रश्न नहीं उठता। वे उसके बदले में उनसे भिन्न कुछ पाना चाहेंगी और गंगा-सिन्धु के मैदान में न किसी तरह का खनिज था, न ही दूसरा कोई ऐसा पदार्थ जिसे कृषि उत्पादों से भिन्न माना जा सके। अतः बलूचिस्तान से लेकर पूर्वी-उत्तरी ईरान और मध्येशिया तक कोई भी भारत के साथ व्यापार की पहल करने की दृष्टि से उपयुक्त नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत इन क्षेत्रों में ताँबा, सोना, लाजवर्द, फीरोज़ा, चाँदी, टीन, सीसा, घोड़े, अच्छी नस्ल की भेड़ें, मेवे आदि बहुत-से ऐसे उत्पाद थे जिन्हें कृषिजन्य उत्पाद के अतिरिक्त भण्डार के बदले प्राप्त करने की लालसा भारत में पैदा हो सकती थी और हुई थी। अतः यदि अतिरिक्त कृषि-उत्पाद व्यापार का और व्यापार शहरीकरण का कारण बना तो यह शर्त भारत में ही पूरी होती दिखायी देती है। ऐसी स्थिति में यदि हम इस बात पर आमादा ही हों कि व्यापारिक पहल और नगर-सभ्यता के उदय का श्रेय पश्चिमी एशिया की इन बस्तियों या इनमें से किसी को देना है तो हमें पहले उन्हें वहाँ से लाकर सिन्धु-गंगा के मैदान में बसाना होगा, यहाँ उन्हें इस उपज से अपेक्षित तकनीकी और सामाजिक विकास के चरण तक और पूर्वकथित समृद्धि और अतिरिक्त संग्रह तक पहुँचाकर उन्हीं क्षेत्रों से जहाँ से हम इन्हें लाद खींच कर लाएंगे, उन्हीं कृषि उत्पादों के बदले उनकी खनिज सम्पदा को प्राप्त करने के लिए व्यापार में और क्रमशः शहरीकरण में अग्रसर होते दिखाना होगा, पर पहल फिर भी इस क्षेत्र से ही आरम्भ होगी।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तकनीकी विकास जो नगर-सभ्यता के उदय से पहले पूरे हो चुके हैं किसी पहाड़ी या नख़लिस्तानी और डेल्टाई क्षेत्र में सम्भव नहीं थे। इनमें से एक है नौका और दूसरा है पहिया। न केवल उन क्षेत्रों की नदियाँ नौचालन के उपयुक्त नहीं रही हैं और नौका के आविष्कार के बाद भी उनमें नौका का प्रयोग होता नहीं दिखायी देता, अपितु वहाँ नौका बनाने के लिए उपयुक्त लकड़ी का भी अभाव पाया जाता है। समुद्रगम्य नौकाओं की बात इन क्षेत्रों के सन्दर्भ में अकल्पनीय है; कारण, इनकी कोई नदी समुद्र पर्यन्त जाती ही नहीं। अब यदि मेसोपोटामिया में नगर-सभ्यता का जन्म ही समुद्र-मार्ग से वहाँ पहुँचे हुए लोगों के द्वारा हुआ था तो इससे पूर्व की ओर एक मात्र देश भारत और पाकिस्तान का मैदानी भाग है जहाँ से यह बहिर्गमन सम्भव हुआ हो सकता है।

ऐसी स्थिति में पाँचवीं सहस्राब्दी में किसी नगर-बस्ती को न ढूंढ़ पाना प्रत्यक्ष कारणों से पुरातत्वविदों की लाचारी हो सकती है, पर एक इतिहासकार को जो पुरातत्व को अन्धे की लाठी की तरह काम में नहीं लाता, यह मानना होगा कि भारत में न केवल पाँचवीं सहस्राब्दी तक उन्नत व्यापार और व्यापारिक केन्द्र और नगर स्थापित हो चुके थे, अपितु इस काल तक यह इतना आगे बढ़ चुका था कि यह समुद्र-यात्रा का भी ख़तरा मोल ले सके। यहाँ यह याद दिलाना जरूरी है कि गाड़ी और पहिये के माडल या खिलौने भी मैदानी क्षेत्र—कालीबंगां, सराय खोला, मीठाथाल, जलीलपुर, गुमला आदि से ही मिले हैं और बलूचिस्तान के पहाड़ी स्थलों से ये नहीं मिलते।

नौका की तरह पहिये का भी ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी क्षेत्रों में या रेगिस्तानी इलाके में न तो उपयोग हो सकता था, न ही वहाँ गाड़ियाँ चलती हैं।[18] स्थल मार्ग से परिवहन का यह अन्य साधन भी मैदानी क्षेत्र में ही सम्भव था और इसके विकास के बाद भी पश्चिम के पहाड़ी क्षेत्रों और इनसे पार के देशों के साथ भारतीय व्यापारी भी जो अन्तर्देशीय स्तर पर गाड़ियों का प्रचुरता से उपयोग कर रहे थे, केवल बैलों, गधों, खच्चरों, टट्टुओं और घोड़ों को ही काम में लाते थे। पहिया बनाने की उन्नत कला का उल्लेख ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों में भी पाया जाता है और उस प्राचीन काल में भारत अकेला ऐसा देश दिखायी देता है जो अरा-युक्त सुवाह्य पहिये बना रहा था। जब हम खिलौनों की गाड़ियों को वास्तविक गाड़ियों का सर्वसदृश रूप मान लेते हैं तभी यह सोचने की भूल करते हैं कि हड़प्पावासी अरायुक्त पहियों से परिचित नहीं थे। आज भी खिलौनों की गाड़ियों में ठोस पहिये अधिक कारगर पाये जाते हैं।

इस विषय में बहस की गुंजायश नहीं होनी चाहिए कि कुम्हार की चाक की प्रेरणा गाड़ी के पहिये से ही मिली हो सकती है और सम्भवतः चाक-निर्मित भाण्डों का आविष्कार भी इसी मैदानी क्षेत्र की देन हो सकता है। यद्यपि इस मामले में विकास की प्रकृति को देखते हुए यह निवेदन करना ज़रूरी है कि यह हमेशा सम्भव है कि किसी नये आविष्कार का प्रेरक आविष्कार कहीं अन्यत्र हुआ हो और इसके एक व्यापक क्षेत्र में प्रसार पा जाने के बाद अगला आविष्कार किसी सर्वथा भिन्न क्षेत्र में। परन्तु हमारे उक्त प्रस्ताव का एक कारण तो यह है कि स्थानीय परिस्थितियों के कारण पहिये का व्यापक प्रसार पहाड़ी और रेगिस्तानी क्षेत्रों में सम्भव नहीं था; दूसरे, वहाँ पात्र आदि बनाने के लिए पत्थर उपलब्ध था; और तीसरे, भारतीय सन्दर्भ में हमें एक खास तरह की शुद्धवादिता का दर्शन कम-से-कम हड़प्पा काल से तो होता ही है जिसमें मिट्टी के बर्तन को खान-पान के लिए एक बार प्रयोग में लाने के बाद इन्हें जूठा मान लिया जाता था और फेंक दिया जाता था।[19] अतः अधिक बर्तन बनाने की माँग हस्तनिर्मित भाण्डों से पूरी नहीं हो सकती

थी और यही किसी अधिक उन्नत युक्ति का कारण बनी होगी। यह आग्रह हड़प्पा सभ्यता के आरम्भ से बहुत पहले से बना हुआ था। इस आग्रह ने भारत में मिट्टी के बर्तनों के विकास में बहुत बाधा भी पहुँचायी। उसी बर्तन का एकाधिक बार प्रयोग जहाँ ऊँची आर्थिक हैसियत के लोगों के लिए अधिक उत्कृष्ट और काँचली मिट्टी के तथा नक्काशीदार पात्रों के निर्माण को प्रोत्साहन दे रहा होता वहाँ यह शुद्धतावाद निरे कामचलाऊ पात्रों के निर्माण और उनमें कुम्हारों के अपने कलात्मक तकाजों से बहुत मामूली किस्म के प्रयोगों तक सीमित रहने के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। संग्रह के कुछ पात्रों में —मर्तबान आदि— यदि कुछ विविधता लाने की कोशिश की गयी तो वह भी बहुत आगे नहीं बढ़ पायी। दैनिक उपयोग के बर्तनों के गन्दा होने के कारण इनमें अधिकाधिक निखार लाने का जो दबाव था यदि वही नहीं रहा तो इसी ज्ञान और कौशल का अन्तरण जो संग्रह के पात्रों पर हो सकता था, वह कहाँ से होता ? अतः एक ओर जहाँ चाक-निर्मित भाण्डों के मामले में हम भारत को अपने समकालीन जगत के किसी देश से आगे बढ़ा पाते हैं वहीं कांचल पात्रों के मामले में दूसरे किसी भी तुलनीय देश से नितान्त पिछड़ा हुआ।

चाकनिर्मित बर्तनों के समान ही पक्की ईंटों का प्रयोग और इनका निर्माण के विविध कार्यों—मकान, कुएँ, सड़क, परनाले, स्नानागार, भाण्डागार, आदि—में प्रयोग भारत में किसी भी अन्य देश से पुराना है इसकी ओर विद्वानों का ध्यान पहले भी गया है।[20] इसके नगरों के निर्माण में जितने बड़े पैमाने पर इसका प्रयोग हुआ है वह तो विद्वानों को चकित करता ही है।[21]

तकनीकी विकास का एक अन्य पक्ष है धातु-विद्या का। अब तक यह माना जाता था कि हड़प्पा के निवासी लोहे से बिलकुल अपरिचित थे और अब शैफ़र ने इस मिथक को भी तोड़ दिया है। जहाँ तक धातु-विद्या का प्रश्न है हड़प्पावासी लोहे से परिचित थे,पर लोहे का उत्पादन जिन भी कारणों से हो एक हजार ई. पू. तक इतना कठिन था कि एक लम्बे समय तक यह सोने से भी मँहगा बना रहा था और इस पूरे दौर में कोई भी ऐसा देश नहीं था जो अपने सामान्य औजारों और हथियारों के लिए ताँबे और काँसे पर ही निर्भर न करता रहा हो। अतः सामान्य उपयोग और विशेष लब्धि इन दोनों को अलग रखते हुए ही विचार करना उचित है। हम यहाँ जिस पहलू पर बल देना चाहते हैं वह यह कि वैदिक विवरणों के अनुसार कर्मार का एक पर्याय ध्माता है।[22] कहें, वह धातुकर्म में चमड़े की भाथियों (दृति) का प्रयोग करता था और एक स्थल पर तो इस धौंकनी का बहुत स्पष्ट वर्णन आया है। भारत में कुछ ऐसे वृक्ष पाये जाते हैं जो उत्कृष्ट कोटि का कोयला बनाने के लिए सबसे उपयुक्त हैं, जैसे इमली, बबूल, आदि। ऐसे वृक्ष ठंडे क्षेत्रों में नहीं पाये जाते। प्रकारान्तर से कहें, यहाँ का कर्मार जितनी उच्च दाहकता

पैदा करने की स्थिति में था उस स्थिति में अन्य ज्ञात क्षेत्र नहीं थे और इसका धातु-विद्या के विकास की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व है।

कुछ दूसरे विकास, जैसे लकड़ी चीरने के लिए ऐसी दाँतदार आरी का प्रयोग जिसके दाँत क्रमशः दोनों ओर मुड़े रहते थे[23], ड्रमाकार मनकों के छिद्र के भीतर से नक्काशी[24] और टिकुलीनुमा मनकों के निर्माण के लिए अपनायी गयी प्रविधि[25] आदि भी अपने समकालीन जगत के लिए नये कीर्तिमान थे। लेखन आदि के मामले में भी इसी प्रकार की अग्रता और इसके अनुरूप ही लम्बी स्थानीय परम्परा के दर्शन होते हैं। यदि बात उपलब्धि की न करके शक्यता की की जाये—कारण, उपलब्धि प्रायः स्थानीय तकाज़ों और दबावों की देन होती है—तो अपने आदिम स्तर से ही हड़प्पा सभ्यता इतनी आगे बढ़ी हुई और सक्षम दिखायी देती है कि उसके समकालीन जगत की कोई भी ऐसी उपलब्धि नहीं थी जिसे इच्छा या आवश्यकता होने पर यह हासिल नहीं कर सकती थी, जबकि इसकी अनेक उपलब्धियाँ ऐसी हैं जो अपने समकालीन किसी भी अन्य क्षेत्र के लिए तकनीकी और भौतिक दोनों दृष्टियों से चुनौती हैं।

जब हम नगर-सभ्यता के उदय पर विचार करते हैं तो इन विविध पहलुओं को सामने रखना और इनमें उचित तालमेल बैठाते हुए सम्भावित अग्रणी क्षेत्र का निश्चय करना ज़रूरी है।

शहरीकरण के प्रसार की दिशा

ऊपर हम जो चर्चा कर आये हैं उसी के सन्दर्भ में मेहरगढ़ तथा उसके पास (बलूचिस्तान) तथा अफ़ग़ानिस्तान की उन बस्तियों पर विचार किया जा सकता है जिनमें कतिपय ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जिनको हम परिपक्व हड़प्पा में देखते हैं। यदि इन स्थलों पर कुछ ग़ौर किया जाये तो हम पायेंगे कि नागर लक्षणों के प्रसार की दिशा पूर्व से पश्चिम की ओर है, न कि इसके विपरीत।

सबसे पहले हम मेहरगढ़ को लें। इस स्थल की खुदाई करने वाले पुरातत्वविद जैरिज लिखते हैं, इस समय हमें जो कुछ मालूम है उसमें यह सोचना कठिन है कि मेहरगढ़ और इससे सम्बन्धित स्थलों के कलाकार पाँचवीं सहस्राब्दी तथा आरम्भिक चौथी सहस्राब्दी में अपने समकालीन पश्चिमी एशिया के किसी भी अन्य स्थल के कलाकारों से कम दक्ष थे।[26] तकनीकी दृष्टि से मेहरगढ़ तृतीय चरण के कुम्हार सियल्क चरण दो और तीन तथा नमज़गा चरण एक व दो के हस्तनिर्मित भाण्डों की तुलना में बहुत उत्कृष्ट कोटि के मृद्भाण्ड बना रहे थे।[27] और ये भाण्ड केवल मेहरगढ़ तक सीमित नहीं थे अपितु तोगऊ, किले गुलमोहम्मद,

लोरालाई, कलात, सुराब और कच्छी मैदान के एक बहुत बड़े भाग में फैले हुए थे।[28] एक ओर अपेक्षाकृत व्यापक प्रचलन और उत्कृष्ट उत्पादन और दूसरी ओर कुछ थोड़े-से स्थलों पर और पहले के मुकाबले में कुछ हल्की किस्म के माल का उत्पादन प्रसार की दिशा को स्पष्ट करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जो कमी रह जाती है वह इस बात से पूरी हो जाती है कि मुंडीगाक, दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान, के प्रथम आवास के जो सांस्कृतिक निक्षेप पाये गये हैं वे मेहरगढ़ चरण तृतीय से पूर्ण सादृश्य प्रकट करते हैं।[29] स्पष्ट है कि मुंडीगाक की स्थापना पूर्व से आने वाले व्यापारियों के अड्डे के रूप में हुई थी और वह भी उस समय जब मेहरगढ़ अपने तीसरे चरण पर पहुँच चुका था। इसी तरह शहरे सोख़्ता, पूर्वी ईरान, अन्त्येष्ठि की रीतियों, शिल्प की तकनीक, भौतिक जीवन और विचारधारा आदि के मामले में बलूचिस्तान और दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान के अपने से पूर्ववर्ती लक्षणों से प्रभावित दिखायी देता है, जिसके प्रमाण मेहरगढ़ व मुंडीगाक चरण एक से मिलते हैं।[30] इस तरह जैरिज तुर्कमीनिया, पूर्वी ईरान और विशाल सिन्धु प्रणाली में चौथी सहस्राब्दी ई. पू. में विभिन्न सांस्कृतिक घटकों के निर्माण में हुए आदान-प्रदान को उभयपक्षीय मानते हैं।[31] जब हम व्यापार की बात कर रहे हैं जिसका अर्थ ही होता है 'ले और दे' तो इसके चलते हुए लेन-देन की बात को ठुकराना एक तरह की हिमाक़त होगी, पर कौन क्या ले रहा है और क्या दे रहा है इसकी तसवीर अवश्य साफ़ होनी चाहिए। पूर्व-हड़प्पा काल से लेकर हड़प्पा काल तक विभिन्न लक्षणों को पूर्व से पश्चिम की ओर जाते ही देखा जा सकता है और पश्चिम का इसमें क्या योगदान रहा हो सकता है, यह अदृश्य ही रह जाता है। दिखायी यह देता है कि पूर्व के कलाकार और व्यवसायी पश्चिम से मुख्यतः कच्चा माल—सोना, चाँदी, रत्न और कुछ मेवों आदि जैसे उपभोग्य पदार्थ तथा घोड़े आदि ही हासिल कर रहे थे, अतः ये दिखायी देते हुए भी दिखायी नहीं देते, जबकि इसके विपरीत वे तैयार माल उनको बेच रहे थे। इस व्यापार का आरम्भ कृषि उत्पादों के बदले पश्चिम से कच्चा माल हासिल करने से हुआ लगता है और कृषि उत्पादों का निर्यात बाद तक भी उनके विदेश व्यापार का हिस्सा रहा हो तो आश्चर्य नहीं।

मेहरगढ़ की प्राचीनता ने इस धारणा को भी बदल दिया कि अधिक प्राचीन बस्तियाँ पश्चिमी एशिया में ही पायी जाती हैं और इनकी तलाश पश्चिमोत्तर पर्वतमाला से पूर्व की ओर करना बेकार है। यद्यपि जर्मो, जेरिको जैसे कुछ स्थल अब भी मेहरगढ़ से पुराने हैं, परन्तु प्राक्-नगरीय विकास तक पहुंचने वाला यह सबसे प्राचीन उपलब्ध स्थल है और बलूची पहाड़ियों के अन्य स्थलों से भी पुराना है। कहें, बलूचिस्तान के सीमित क्षेत्र में भी प्रभाव की दो स्पष्ट दिशाएँ हैं—पूर्व से पश्चिम की ओर और उत्तर से दक्षिण की ओर। बलूचिस्तान का उत्तर

तो भारत के सन्दर्भ में मध्य क्षेत्र हुआ, पर पूर्व यदि मेहरगढ़ तक आकर समाप्त नहीं होता तो यह कितने अधिक पूर्व तक जाता है और इस सम्भावित, पर अब तक ओझल, पूर्व के सन्दर्भ में मेहरगढ़ की अपनी क्या स्थिति है—यह खोज का विषय हो सकता है।

मेहरगढ़, क्वेटा, बलूचिस्तान का अंग है परन्तु भौगोलिक दृष्टि से नहीं, मात्र प्रशासनिक दृष्टि से। भौगोलिक दृष्टि से यह भारत और पाकिस्तान के विशाल मैदानी भाग के पश्चिमी छोर पर ठीक उस स्थल पर बसा है जहाँ से कुछ ही आगे बोलन का दर्रा पश्चिम की ओर जाने का सबसे पुराना सम्पर्क-मार्ग रहा है।

क्या हम यह मान सकते हैं कि मेहरगढ़ का विकास अपने 'भव्य एकाकीपन' में हुआ था? यदि नहीं तो अपने क्षेत्र का यह सबसे पुराना स्थल कहाँ से प्रेरणा ले रहा था या किस विशाल ढाँचे से जुड़ा हुआ था? अपने मृद्भाण्डपूर्व के चरण से ही मेहरगढ़ कतिपय ऐसे लक्षणों को प्रकट करता है जो इसके स्तर को देखते हुए अनमेल पड़ते हैं। इनमें से सबसे प्रधान है इसका एक ऐसे तन्त्र से जुड़ा होना जो सुदूर-व्यापार की ओर अग्रसर हो चुका था और एक ओर तो समुद्र-पर्यन्त और दूसरी ओर पश्चिमोत्तर पर्वतमाला से पार तक के क्षेत्रों के संग्रहणीय पदार्थों का संग्रह और वितरण कर रहा था। सातवीं सहस्राब्दी ई. पू. के इस दौर में मेहरगढ़ कृषिजीवी भी नहीं हुआ था, पर स्थायी और एक सीमा तक सुनियोजित बस्ती का रूप ले चुका था। स्पष्ट है कि यह उन व्यापारियों का पड़ाव था और इसी रूप में स्थापित हुआ था जिनको हमारे पूर्व प्रस्ताव के अनुसार इससे काफ़ी पूर्व की ओर ही ढूँढ़ा जाना चाहिए। कारण, इस तरह का पड़ाव प्रस्थान-स्थल के ठीक पास तो बनेगा नहीं।

कुछ विद्वानों का मत है कि उस प्राचीन काल में मैदानी भारत में जो मुख्यतः बड़ी नदियों के कछारों का क्षेत्र है तथा अन्य किसी कछार के क्षेत्र में बस्ती बसी ही नहीं हो सकती।[32] पर इन सबसे उर्वर, जीवन-रक्षा में समर्थ और संभावना-पूर्ण क्षेत्रों में मनुष्य का निवास क्यों नहीं रहा हो सकता, यह समझ में आने वाली बात नहीं है। इसके लिए हिम-युग या इसके उत्तरवर्ती प्रभाव जैसा कोई तर्क भी ग्राह्य नहीं है। यह कैसे सम्भव है कि जिस दौर में जग्रोस की पहाड़ियाँ या बलूचिस्तान की पहाड़ियाँ हिम-मुक्त हो चुकी थी उसमें भारत-पाक का मैदानी भाग हिमयुगीन प्रभाव की चपेट में रहा हो, जिसके विषय में स्पष्टतः यह दावा भी किया जाता है कि भारत पर हिम-युग का प्रभाव पड़ा ही नहीं था? अतः इसका एक ही विकल्प दिखायी देता है कि इस पूरे प्रसार में हड़प्पा काल के हज़ारों वर्ष पहले से स्थायी बस्तियों का अस्तित्व था और इनको अभी तक ढूँढ़ न पाने का एक कारण तो यह है कि इस क्षेत्र में जिन हड़प्पाकालीन और पूर्व-हड़प्पाकालीन

बस्तियों का पता चला है उनकी अभी तक पूरी खुदाई नहीं हुई है और इसलिए इस विषय में हम बिलकुल अन्धकार में हैं कि इनके नीचे क्या रहस्य छिपा है और दूसरा यह कि अधिक पुराने स्थल जो व्यापारिक केन्द्रों के रूप में बड़ी नदियों के तट पर स्थापित हुए थे, निरन्तर धारा बदलती इन नदियों के कटाव से नष्ट हो गये और यदि इनमें से कोई इतना भाग्यशाली रह गया कि इन आपदाओं को भी झेलने में समर्थ रहा, वह नदियों की बाढ़ के साथ आये कचरे की पर्तों के नीचे दबा हो सकता है जिसका उद्धार किसी अजूबे से ही सम्भव है। यदि मोहनजोदड़ो नगर की बुनियाद सिन्धु की वर्तमान पेटी से भी दसियों मीटर नीचे दबी हो सकती है तो सिन्धु की तुलना में अधिक अरक्षणीय क्षेत्र में, और बाढ़ और कटाव के मामले में उससे कहीं अधिक उग्र सरस्वती के तट पर, बसे इससे हज़ारों वर्ष पहले या कम-से-कम इसकी स्थापना के समय तक अपनी अन्तिम साँसें गिनने वाले नगरों के ऊपर कितनी मोटी तह जमा है, इसका अनुमान करना कठिन है। हमें इस क्षेत्र में हुई उन तबाहियों का अनुमान भी नहीं हो सकता जो सतलुज के सरस्वती से हटकर सिन्धु में और यमुना के सरस्वती से हटकर बेतवा—गंगा में मिलने और स्वयं सरस्वती और दृशद्वती के काल कवलित होने के क्रम में हुई हो सकती है।

आल्चिन का कहना है कि सिन्धु के कछार में, और हम इसी तर्क से कहें तो गंगा-पर्यन्त के मैदानी क्षेत्र में, प्राचीनतर बस्तियाँ थीं जिनमें से कुछ विरल बस्तियाँ जो चट्टानी स्थलों पर या रोड़ी-कंकड़ के कठोर वर्तुलाकार निक्षेपों पर बसी थीं काल-कवलित होने से बची रह गयीं, जिनके प्रमाण हमें यहाँ मिलते हैं, पर शेष या तो बह गयीं या बाढ़ के साथ आये कचरे की मोटी तहों के नीचे दबी पड़ी हैं।[33] राइक्स मोहनजोदड़ो के आरम्भिक चरण में एक भारी भूगर्भीय उपद्रव की बात करते हैं जिसमें सम्भवतः धारा में एक बाँध-सा बन जाने के कारण पानी में बिलकुल ठहराव सा आ गया था और मोहनजोदड़ो के प्राथमिक चरण में पड़ी गाद की मोटी तह का कारण वह इसी को मानते हैं।[34] राइक्स के उक्त विश्लेषण से ही नहीं, अपितु वैदिक कृतियों में सुरक्षित प्राचीन परम्परा से भी यह प्रकट होता है कि उत्तरी भारत और इसमें भी सिन्धु की तुलना में गंगा से लेकर सरस्वती तक का क्षेत्र चौथी सहस्राब्दी के अवसान और तीसरी के प्रथमार्ध तक भूगर्भीय अस्थिरता का शिकार हुआ था और इसका इस क्षेत्र की तटीय बस्तियों और केन्द्रों के लिए ही नहीं, स्वयं इस क्षेत्र की प्रधान नदियों के लिए भी महानाशकारी प्रभाव पड़ा था। इसके बावजूद यदि जहाँ-तहाँ कुछ विरल बस्तियाँ बची मिल जायें तो यही कहना होगा कि बड़ा-से-बड़ा विनाश भी सर्वनाशी नहीं होता।

ज्ञात रूप से अधिकांश प्राचीन स्थल जब तक अनखुदे पड़े हैं तब तक भौतिक साक्ष्य की दृष्टि से स्थिति विवादास्पद यूँ ही है। पर जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, स्थिति बिलकुल स्पष्ट है कि पश्चिम की ओर फैलने वाले प्रभाव पूर्व की ओर से

जा रहे हैं और इनकी जड़ें मैदानी भारत और पाकिस्तान में हैं। यह बात मेहरगढ़ की स्थिति से तो स्पष्ट है ही, साथ ही इसके मृद्भाण्ड पूर्व प्रथम चरण से ही उपलब्ध कुछ उम्दा औज़ारों और मनकों को छिद्रित करने के अद्भुत कारनामों से प्रकट होता है जो इस बात का सूचक है कि यहाँ हमारा पाला एक ऐसी जमात से पड़ रहा है जो आहार-संग्रह और आखेट के चरण में ही यहाँ आकर बस गयी थी। आगे इसका कुछ सम्बन्ध मजी हुई दस्तकारी से भी है। यहाँ के भाण्डों आदि पर खचित पीपल के पत्ते के आशय, यहाँ से प्राप्त हाथीदाँत जो तराशने के लिए यहाँ लाया गया था, यहाँ के पशुओं में भैंस, कृषि चरण से ही प्राप्त कपास के दाने—कहें, ऊनी व सूती वस्त्रों से इनका परिचय, आदि विविध तथ्य जो अपने एकाकीपन में बहुत अधिक सार्थकता नहीं रखते अपनी समग्रता से यह प्रकट करते हैं कि यह इस मैदानी क्षेत्र से बाहर जाने वाले मार्ग पर स्थित अन्तिम मैदानी पड़ाव था और इसकी जड़ें उससे पूर्व की ओर थीं। रावी और सिन्धु के तट पर भी यह प्रभाव सरस्वती की दिशा से जाता दिखायी देता है। इसकी एक मिसाल हड़प्पा स्वयं है जिसके सबसे निचले और पूर्व-नगरीय चरण पर मिले कतिपय ठीकरे यह प्रकट करते हैं कि यहाँ पहले एक ग्रामीण बस्ती थी और इसका साम्य बलूची पहाड़ी बस्तियों से था। इसके ठीक ऊपर और बिलकुल एक झटके में और पूरी योजना के साथ यह पूरा नगर बस जाता है और यहाँ एक स्पष्ट सांस्कृतिक अलगाव दिखायी देता है जिसको इससे पश्चिम से नहीं जोड़ा जा सकता। स्पष्टतः यह स्थल जो इससे पहले तक सरस्वती क्षेत्र के व्यापारियों का पड़ाव मात्र था, सरस्वती क्षेत्र की तबाही से उजड़े व्यापारियों द्वारा अपने प्रधान केन्द्र के रूप में चुन लिया जाता है और इससे मिलती-जुलती स्थिति ही मोहनजोदड़ो की हो सकती है जिसका तल आज भी रहस्य और कुतूहल का विषय बना हुआ है। सरस्वती क्षेत्र में अभी तक किसी बहुत पुरानी बस्ती की खोज न की जा सकी हो, पर पूर्व-हड़प्पाकालीन नगरों और बस्तियों की कमी नहीं है।

भारत और पाकिस्तान के मैदानी क्षेत्र को समझने में विद्वानों की पश्चिम-ग्रस्तता के कारण भूल की जाती रही है, अब यह क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा है। जैरिज लिखते हैं, "मोहनजोदड़ो से कुछ ही दूरी पर उस क्षेत्र को जहाँ नारी, बोलन और मूला नदियाँ दक्षिणी कच्छी मैदान में सिन्धु में मिलती हैं, आज भी बहुत कम समझा जा सका है। इनमें से सबसे बड़ा पठानी दम्ब जो कई हैक्टेयर में फैला था हड़प्पा-काल में एक बहुत बड़ा शहर था...पर यह स्थल पहले से आबाद था; कारण, इस विशाल टीले के एक हिस्से में किले गुलमोहम्मद-तोगऊ ए शैली के ठीकरे पाये जाते हैं जो मेहरगढ़ तृतीय चरण के हैं।" परन्तु मेहरगढ़ हो या पठानी दम्ब या बलूची पहाड़ियों या गिरिपदीय क्षेत्रों की अन्य कोई बस्ती, इन्हें हम उन अपेक्षाओं से बहुत पीछे पाते हैं जो परिपक्व हड़प्पा के उदय के लिए अपेक्षित हैं।

हड़प्पा सभ्यता की सबसे बड़ी चुनौती है किन्हीं ऐसे स्थलों की खोज जहाँ वे सभी विकास पूरे हो चुके हों और अपने चरम शिखर पर पहुँच चुके हों जो हड़प्पा सभ्यता में इसके आरम्भिक काल में दिखायी देने लगते हैं। कारण, परिपक्व हड़प्पा अपनी परिपक्वता के पाँच सौ वर्षों के जीवन में एक विकासमान सभ्यता न होकर किंचित् स्थिरीभूत और कुछ मामलों में क्षरणोन्मुख सभ्यता है। हड़प्पा सभ्यता के अब तक के उत्खनित स्थलों की नींव में भी हम हड़प्पा सभ्यता के चरण एक को नहीं, अपितु—यदि कुछ छूट लेकर और अन्य क्षेत्रों के विकासमान स्थलों से सादृश्य लेकर कहें तो—हड़प्पा चरण सात या आठ का दर्शन करते हैं। इसके उन्नत स्तर तक क्रमशः पहुँची हुई सभ्यता, इसकी समस्त उपलब्धियों को कृषि-क्रान्ति से लेकर आगे तक प्रत्येक दृष्टि से अपनी शक्यता से अर्जित करने वाली सभ्यता की खोज का मसला ही हमें सिन्धु के क्षेत्र से निराश करता है और सरस्वती क्षेत्र की ओर मुड़ने को बाध्य करता है और इस क्षेत्र में पुरातात्विक चित्र के धुधलेपन के कारण हमें भारतीय परम्परा में परिरक्षित सूचनाओं पर दृष्टि डालने को प्रेरित करता है जो अपने अटपटेपन के बावजूद अपने भीतर हमारे उपयोग के लिए बहुत महत्वपूर्ण सूचनाएँ सँजोए हुए हैं। इस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. विल डुरांट, आवर ओरिएंटल, हेरिटेज 1954, 107.
2. हेनरी फ्रैंकफर्ट, दि बर्थ ऑफ़ सिविलाइज़ेशन, 1954, 50.
3. वही, आमुख, 7.
4. विलियम वाई. एडम्स, 'इन्वेज़न, डिफ्यूज़न, इवॉल्यूशन ?' ऐंटीक्विटी, 42, 167, 210.
5. लैंबर्ग-कार्लोव्स्की, 'दि प्रोटो एलामाइट्स ऑन दि इरैनियन प्लेटो', ऐंटीक्विटी, 52, 1978, 119-20.
6. वही, 120.
7. पिगट, प्रीहिस्टॉरिक इंडिया टु 1000 बी. सी., 1950, 211-12.
8. देखें, पीछे, पृ. 158
9. देखें सांकलिया, प्रीहिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1977, 26; गोर्डन, दि प्रीहिस्टॉरिक बैकग्राउंड ऑफ़ दि इंडियन कल्चर, 1958, 27; ह्वीलर, दि इंडस

सिविलाइज़ेशन, 1953, 85; सुब्बाराव, दि पर्सनैलिटी ऑफ़ इंडिया, 1958, फेयरसर्विस, रूट्स ऑफ ऐंश्येंट इंडिया, 1971, 102-05; पिगट, पूर्व., 50, आदि।

10. अस्थाना, प्री-हड़प्पन कल्चर्स ऑफ इंडिया ऐंड बार्डरलैंड्स, 1985, 238-39.
11. जैरिज, अस्थाना की उक्त पुस्तक की भूमिका। यह विचार केवल जैरिज का नहीं है। सांकेतिक रूप में यह बात दूसरे अध्येताओं द्वारा भी उठायी गयी है, यद्यपि विविध कारणों से इसमें अग्रणी भूमिका पश्चिम की ही दिखायी जाती रही है। देखें, लैंबर्ग-कार्लोव्स्की, 'अर्बन इंटरऐक्शन ऑन दि इरैनियन प्लेटो : एक्सकैवेशन्स ऐट तेपे याह्या 1967-73', प्रोसीडिंग्स ऑफ़ ब्रिटिश एकैडेमी, 59,1973, 7-43; तोशी, 'दि नार्थ वेस्टर्न फ्रंटियर ऑफ़ दि ऐंश्येंट नीयर ईस्ट', मेसोपोटामिया, 8-9, 1973-74, 21-76; आल्चिन व आल्चिन, दि बर्थ ऑफ़ इंडियन सिविलाइज़ेशन, 1968, 300, आदि। जैसा कि लैंबर्ग कार्लोव्स्की का विचार है, शहर-ए-सोख्ता, याह्या और इब्लीस आदि का उदय मेसोपोटामिया के व्यापारियों की लाजवर्द, स्टीटाइट और खनिज धातुओं की माँग के कारण हुआ था और इसी तरह बलूचिस्तान की संस्कृतियों का उदय हड़प्पा की इसी प्रकार की माँगों के कारण हुआ हो सकता है या, जैसा कि तोशी का विचार है, हड़प्पा और सम्बन्धित क्षेत्रों के बीच व्यापारिक आवाजाही की गहनता के कारण हुआ हो सकता है। पर इस स्थिति में हमें यह मानना होगा कि बलूची संस्कृतियों से बहुत पहले हड़प्पा सभ्यता उस चरण पर पहुँच चुकी थी जिसमें वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पहल कर सके और यह इसकी बुनियाद को बहुत पीछे ले जाता है, भले उसे हम अभी तक खोज पाये हों या नहीं।
12. चाइल्ड, ह्वाट हैपंड इन हिस्ट्री, 1942.
13. एस. पी. गुप्त, आर्कियॉलॉजी ऑफ़ सोवियत सेंट्रल एशिया ऐंड दि इंडियन बार्डरलैंड्स, 2, 1979, 36.
14. मूलत: यह विचार जिन शैफ़र का था। देखें, शशिप्रभा अस्थाना, पूर्व., 1985, 15.
15. अस्थाना, पूर्व., 217.
16. एस. पी. गुप्त, डिस्पोज़ल ऑफ़ दि डेड ऐंड फ़िज़िकल टाइप्स इन ऐंश्येंट इंडिया, 1972.
17. दिलीप चक्रबर्ती, 'आइरन ऐंड अर्बनाइज़ेशन : ऐन इक्ज़ामिनेशन ऑफ़ दि इंडियन कंटेक्स्ट', पुरातत्व, 15, 1984-85, 68-73; अस्थाना, ऊपर, 241.
18. अस्थाना, वही, 199.

19. मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन, 1931, 1.
20. मैकाय, फ़र्दर एक्सकैवेशन्स ऐट मोहनजोदड़ो, 1947, 649.
21. ह्वीलर, पूर्व., का विचार है कि हड़प्पा के इन नगरों के निर्माण में जितनी अधिक ईंटें लगी हैं उनको पकाने के लिए काटे गये पेड़ों के कारण ही इस क्षेत्र के जंगलों का सफ़ाया हो गया होगा।
22. ऋ. 5.9.5.
23. बैशम, दि वंडर दैट वाज़ इंडिया, 1967, 22.
24. अस्थाना, 'हड़प्पन ट्रेड इन मेटल्स ऐंड मिनरल्स : ए रीजनल अप्रोच', हसि., 1982, 271-85.
25. के. टी. एम. हेगडे व अन्य, 1982, 239-44.
26. जैरिज, 'क्रोनॉलॉजी ऑफ़ दि अर्लियर पीरियड्स ऑफ़ दि ग्रेटर इंडस ऐज़ सीन फ्रॉम मेहरगढ़, पाकिस्तान', साएआ, 1981, 1984, 27.
27. वही।
28. वही, 28.
29. जैरिज, पूर्व., 1985, 7.
30. वही।
31. वही, 8. जैरिज मानते हैं कि हड़प्पा सभ्यता के निर्माण में अनेक तत्व शामिल थे, जिन्हें अभी समझा ही नहीं जा सका है।
32. डॉ. एस. पी. गुप्त, मौखिक चर्चा।
33. ब्रिजेट आल्चिन, 'दि हड़प्पन इन्वायर्नमेंट', फ्रंइंसि., 1984, 447.
34. आर. एल. राइक्स, 'मोहनजोदड़ो इन्वायर्नमेंट', फ्रंइंसि., 455-60.

अध्याय सात

हड़प्पा सभ्यता का पतन

हड़प्पा सभ्यता के उद्भव की भाँति ही इसके पतन की कहानी भी अध्येताओं के लिए एक रहस्य बनी रही है। उद्भव और पतन दोनों ही आरम्भ में जितने धूमिल प्रतीत होते थे, उतने धूमिल तो नहीं रह गये, पर इसके बावजूद जितना कुहरा छाया रहा उसमें अटकलों के लिए काफ़ी गुंजायश थी। मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद हठात् एक अतिशय परिपक्व सभ्यता का सामने आना और इसके पूर्वसूत्रों का कोई संकेत न मिलना अपने आप में एक पहेली थी। हड़प्पा की खोज ने इस पहेली को सुलझाने के स्थान पर और उलझाया ही। कारण, मोहनजोदड़ो के आद्य स्तर तक विद्वानों की नज़र और खुदाई करने वालों के फावड़े कभी पहुँच ही नहीं पाये और इसलिए एक क्षीण आशा इस बात की बनी हुई थी कि सम्भव है उन निचले स्तरों में इसके आरम्भिक विकास के भी कुछ सूत्रों का पता चल जाये। पर हड़प्पा की स्थिति ऐसी नहीं थी और इसकी खुदाई ने यह सिद्ध कर दिया कि इस नगर की स्थापना ही सभ्यता के परिपक्व चरण में हुई और नगर-निर्माण से पहले इसकी पूरी योजना निर्माताओं के सामने स्पष्ट थी। इस सभ्यता की कुछ भेदक विशिष्टताएँ ऐसी थीं जिनको देखते हुए यह कहने का साहस तो विद्वानों को कभी नहीं हुआ कि इसके निर्माता पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं से आये हो सकते थे, पर कालक्रम की दृष्टि से उनकी अग्रता को ध्यान में रखते हुए उन्हें इस बात का प्रलोभन बराबर बना रहा कि प्रत्यक्ष नहीं तो कम-से-कम परोक्ष प्रेरणा के रूप में इसका श्रेय वे सुमेरिया और मेसोपोटामिया की सभ्यताओं को दें। इस क्षेत्र में अग्रणी भूमिका पाश्चात्य विद्वानों की ही थी, जिनका सांस्कृतिक लगाव पश्चिमी एशिया से अनेक कारणों से रहा है, अतः विभिन्न विरोधी कारणों को स्वीकार करते हुए भी वे जैसे-तैसे हड़प्पा सभ्यता के पीछे पश्चिमी एशिया की कल्पना करते रहे हैं।

पाश्चात्य प्रेरणा के हिमायती विद्वानों को जिन असुविधाओं का सामना करना पड़ रहा था उनमें से एक थी हड़प्पा सभ्यता की स्वविशिष्टता और अपनी समकालीन पश्चिमी सभ्यताओं की तुलना में इसका उन्नत स्तर। मार्शल ने

यद्यपि इस सभ्यता का काल निर्धारित करने में कुछ उदारता से काम लिया था, जिसे बाद के कार्बन-14 विश्लेषण से कुछ नीचे लाने की ज़रूरत अनुभव हुई, पर जैसा कि कुछ अन्य विद्वानों ने इस विश्लेषण की सीमाओं का उल्लेख करते हुए सुझाया था, इस कालनिर्धारण को भी शताब्दियों पीछे ले जाने की आवश्यकता है। जो भी हो, किसी भी सूरत में यह सभ्यता वास्तु, नगर-योजना और शिल्प की दृष्टि से ही नहीं, लेखन-शैली, लेखन-सामग्री और लिपि की दृष्टि से भी सुमेरिया और मेसोपोटामिया की समकालीन सभ्यताओं से श्रेष्ठतर सिद्ध होती है। इसके आरम्भ-बिंदु से ही इसकी कलारूढ़ियाँ और कलावस्तुओं के साथ संवेदनात्मक लगाव, मार्शल के शब्दों में, क्लासिकी यूनानी सभ्यता के युग से पहले की किसी अन्य सभ्यता में देखने को नहीं मिलते।[1] मार्शल ने ठीक ही कहा था कि इस सभ्यता का निर्माण भारतीय भूभाग में ही कई हज़ार वर्षों के दौरान हुआ होगा।[2]

आरम्भ में जहाँ इस सभ्यता के प्रमाण कुछ नगरों से ही पाये गये थे वहाँ बाद की खोजों से यह क्षेत्र लगभग बारह लाख वर्ग किलोमीटर तक फैल गया। यह क्षेत्र सुमेरिया, बेबीलोनिया और मिस्र की सभ्यताओं के समग्र क्षेत्र के लगभग बराबर था और इससे जुड़ी हुई ग्राम्य-संस्कृतियाँ इसके भारतीय मूलाधार की अकाट्य पुष्टि थीं, अतः इसके भारतीय मूल के विषय में किसी प्रकार की आंशका की सम्भावना नहीं थी। आरम्भ में भी जब इसकी पहचान कुछ नगरों से ही हो पायी थी, एक तथ्य सुमेरियाई सभ्यता के विपरीत भारतीय पक्ष में जाता था। विदेशों से आयतित और आरोपित सभ्यताओं की बस्तियाँ समुद्र-तट के अधिक करीब हुआ करती हैं। जहाँ सुमेरी सभ्यता का उत्स उन केन्द्रों से दिखायी देता है जो समुद्र के निकट, दजला-फ़रात के मुहानों के पास थे, जो इसके विदेशी प्रेरक स्रोत के संकेत थे, वहाँ भारतीय नगर समुद्र से बहुत दूर, देश के बहुत भीतर धँसे हुए थे। साथ ही, ऊर में सभ्यता का बीजारोपण करने वाले समुद्र-मार्ग से पूर्व की दिशा से आये लोगों की कहानी थी जिसको बेरोसस ने अंकित किया था।

जो भी हो, मार्शल जिन्होंने यह सुझाव रखा था कि हड़प्पा सभ्यता का उत्स हज़ारों वर्षों के दौरान भारतीय भूभाग में ही हुआ लगता है, उन्होंने ही इसके सही पहचान के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट भी पैदा कर दी जब उन्होंने कहा कि हड़प्पा सभ्यता वैदिक सभ्यता से भिन्न है और इसका अवसान वैदिक जनों या आर्यों के भारत में प्रवेश से पहले हो चुका था। यद्यपि मार्शल ने यह लक्ष्य भी किया था कि हड़प्पा सभ्यता के धर्म और विश्वास, रीति और आचार वैदिक परम्परा में ग्रहण कर लिये गये थे, और वह भी विशेषतः उत्तरवैदिक परम्परा में, पर उनके पास इसका कोई समाधान न था कि इस बीच यह परम्परा जीवित कैसे रही थी और इसे उत्तरवैदिक परम्परा में ही क्यों अपनाया गया। मार्शल के

के लिए मैक्समूलर की तिथि अन्य सभी साक्ष्यों से अधिक महत्वपूर्ण थी और भारत में आर्यों को बाहर से लाने के लिए हड़प्पा और वैदिक सभ्यताओं का अलगाव दिखाना जरूरी था। अन्य विद्वानों ने जब वैदिक समाज की पूर्ववर्ती अवस्थाओं की स्मृतियाँ ब्राह्मणों आदि में सुरक्षित देखीं और उनके सहारे भारतीय समाज को समझने का प्रयत्न किया वहाँ भी वे या तो इस पूर्वावस्था को भारत से बाहर कल्पित करते रहे या आँकड़ों का मनमाना प्रयोग करके मनचाहे निष्कर्ष निकालते रहे, जैसा कि हमने पीछे के कुछ अध्यायों में देखा है। यदि सामग्री का सही ढंग से विवेचन किया गया होता तो इस सभ्यता के विकास को अधिक विश्वसनीय ढंग से समझा जा सकता था।

इसी तरह हड़प्पा सभ्यता के अवसान के विषय में आरम्भ से जो धुन्ध बनी हुई थी वह उत्तर-हड़प्पा से सम्बन्धित जानकारी में विस्तार के साथ छँटती गयी है और वह स्पष्ट हो चला है कि हड़प्पा सभ्यता पूरी तरह ध्वस्त और लुप्त नहीं हो गयी, अपितु इसका आधार खण्डित हो जाने के बाद इसका क्रमशः पूर्व और दक्षिण की ओर स्थानान्तरण हुआ और यह अपनी विरासत को किसी-न-किसी रूप में आज तक जिलाये चली आयी है।

हड़प्पा सभ्यता लुप्त भले ही न हुई हो, इसका पतन तो हुआ ही था। इस का क्या कारण था? यह एक टेढ़ा सवाल है और इसे लेकर तरह-तरह के अनुमान लगाये जाते रहे हैं। हम इन अनुमानों का जायज़ा लेते हुए यह देखने का भी प्रयत्न करते रहेंगे कि क्या वैदिक और उत्तरवैदिक साहित्य में कुछ ऐसे सूत्र ढूँढ़े जा सकते हैं जिनसे इस सभ्यता के पतन की कहानी को भी समझने में उसी तरह मदद मिल सके जैसे इसके विकास को समझने में मदद मिलती है? साथ ही, हम यह देखने का भी प्रयत्न करेंगे कि इस पतन के बाद वैदिक समाज और संस्कृति में क्या परिवर्तन आये?

इतिहास में नगरों के ध्वंस के अनेकानेक उदाहरण पाये जा सकते हैं, परन्तु एक पूरी-की-पूरी सभ्यता और संस्कृति न तो अकारण पैदा होती है, न अकारण लुप्त। यदि सभ्यता का विस्तार हड़प्पा सभ्यता जैसा हो तो यह पतन या ह्रास भी किन्हीं बाह्य कारणों या आकस्मिक घटनाओं से हुआ नहीं माना जा सकता। कारण, आक्रमण या आकस्मिक घटनाएँ इतने विशाल क्षेत्र को इतनी तेजी से प्रभावित नहीं कर सकतीं। यही कारण है कि विद्वानों ने इसके लिए एकाधिक कारणों को उत्तरदायी माना है, पर जिन कारणों की ओर उसका ध्यान सामान्यतः जाता रहा है, वे भी इस पतन या ह्रास का औचित्य सिद्ध करने की दृष्टि से अपर्याप्त ही प्रतीत होते हैं। जैसा कि हम कह आये हैं, सभ्यता का निर्माण और पतन दोनों विशेष आर्थिक परिस्थितियों की देन हुआ करते हैं। जब आर्थिक आधार सुदृढ़ होता जाता है, सभ्यता का आधार उन उपक्रमों और अध्यवसायों के

चलते ही सुदृढ़ होता जाता है जो आर्थिक आधार की निर्मिति के लिए किये जाते हैं। आर्थिक विकास जब अपने युग की सामाजिक और तकनीकी सीमाओं के कारण अवरुद्ध हो जाता है तब इस विकास में अवरोध या ठहराव आ जाता है। इस आधार के विघटन के साथ सभ्यता का विघटन और इसके पतन के साथ सभ्यता का पतन आरम्भ हो जाता है। अतः जब भी हम किसी सभ्यता के ह्रास या पतन का अध्ययन कर रहे हों, इस बात पर ध्यान देना ज़रूरी है कि क्या वे कारण इतने प्रबल और स्थायी प्रभाव डालने वाले थे जिनसे वह सभ्यता के अपने पूरे प्रसार-क्षेत्र में प्रभावित हो सकती थी ?

2

बाढ़

हड़प्पा सभ्यता के पतन के कारणों में से एक प्रधान कारण सिन्धु नदी की बाढ़ों को बताया जाता है। मैकाय इस विषय में लिखते हैं, "मोहनजोदड़ो को सम्भवतः अपनी स्थापना के समय से ही एक बहुत बड़े शत्रु का सामना करना पड़ रहा था। यह थी सिन्धु।...इसके उद्गम-क्षेत्र में बर्फ़ और हिम के असाधारण तेज गति से पिघलने या हिमसेतुओं के टूटने से या सिन्ध और बलूचिस्तान में बहुत अधिक वर्षा होने से बहुत तेज बाढ़ें आ सकती हैं, और आया करती हैं। इन नगर के दो भिन्न स्तरों पर जिनमें से एक बहुत नीचे है, तट-बन्धों और कुँओं की चिनाई से यह सिद्ध होता है कि मोहनजोदड़ो के आरम्भिक काल में एक बड़ी बाढ़ आयी थी और दूसरी से इसका ह्रास आरम्भ हुआ था। इन दोनों अवसरों पर नगर को कुछ समय के लिए खाली कर देना पड़ा था और जब सारा ख़तरा टल गया था तब इसे आबाद कर लिया गया था।"[3]

वह आगे लिखते हैं, "पर यह कल्पना नहीं कर ली जानी चाहिए कि मोहन-जोदड़ो कभी बहुत गहराई तक डूब गया था। नगर बार-बार और हर बार आस-पास के धरातल से काफ़ी ऊँचाई पर नये सिरे से बनाया जाता रहा ताकि इसके निवासियों के डूबने का ख़तरा न रहे, यद्यपि इसका पानी मीलों तक फैल जाता था और सारा व्यापार-वाणिज्य महीनों तक रुक जाया करता था।"[4]

और "अन्ततः मोहनजोदड़ो और हड़प्पा दोनों लगभग एक ही समय में छोड़ दिये गये। हड़प्पा को छोड़ने का कारण, ज़ाहिर है, रावी की धारा का हट जाना था, जिसके तट पर यह स्थित था। यह पता नहीं चलता कि मोहनजोदड़ो के निवासियों को यह नगर अन्ततः क्यों छोड़ना पड़ा। सम्भव है, सिन्धु की धारा में परिवर्तन ही इसका निर्णायक कारण रहा हो।"[5]

सरस्वती की भयंकर बाढ़ सारस्वत क्षेत्र से इस सभ्यता के केन्द्रों के स्थानान्तरण का एक प्रधान कारण बनी थी। सरस्वती के प्रवाह के अवरुद्ध होने के बाद सरस्वती के ग्रहण-क्षेत्र की जलराशि पूर्व में यमुना और पश्चिम में सिन्धु की सहायिकाओं के ग्रहण-क्षेत्र में बँट गयी और इसलिए सिन्धु में पहले की अपेक्षा अधिक उग्र बाढ़ें आने लगी होंगी। पर जहाँ तक वैदिक साहित्य का प्रश्न है, सरस्वती को जितनी भयंकर नदी के रूप में याद किया गया है, सिन्धु को नहीं। इन दोनों नदियों के प्रवाह का जो अन्तर है वह ध्यान देने योग्य है। सरस्वती का वेग अपने वैभव-काल में अधिक प्रचण्ड रहा लगता है। उसे पारावतघ्नी और शिखरों को कमलनाल की तरह तोड़ने वाली कहा गया है जो बाढ़ के दिनों में इसके पर्वतीय क्षेत्र में होने वाले भूस्खलनों का सूचक है।[6] इसे तटबन्धों को तोड़ने वाली या वृत्रघ्नी, भयंकर या घोरा और हिरण्यवर्तनी या अपनी धारा को बदलने वाली नदी बताया गया है।[7] परन्तु सिन्धु की विपुल जलराशि का ही वर्णन आता है। यह उमड़ कर बहती है।[8] इसके विषय में यदि पर्वतीय क्षेत्र का उल्लेख आता है तो केवल इस रूप में कि यह धरती से अधिक पर्वतीय क्षेत्र में प्रवाहित होती है। यदि सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनी है तो सिन्धु को सुकृता हिरण्ययी[9] या व्यापारिक गतिविधियों में सहायक और सुरथा या आसानी से नौगम्य बताया गया है।[10] सरस्वती से जहाँ इस बात की प्रार्थना की जाती है कि वह अपने तट से उजाड़ कर अन्यत्र जाने को विवश न करे[11], वहाँ सिन्धु से इस प्रकार का कोई भय नहीं दिखायी देता। जैसे राजा अपनी सेना का नेतृत्व करता आगे बढ़ता है वैसे ही यह अन्य नदियों और जलधाराओं को लेकर चलती है।[12] जैसे बच्चा माँ की ओर भागता वैसे ही अन्य धाराएँ सिन्धु की ओर भागती हैं।[13] अतः यह मानने का पर्याप्त कारण है कि सरस्वती की अपेक्षा सिन्धु को अधिक निरापद नदी माना जाता था। इन दोनों नदियों से सम्बन्धित सूक्तों को एक साथ पढ़ने पर ऐसा लगता है कि नदी-सूक्त का रचनाकार सरस्वती की महिमा में रचित सूक्तों से परिचित था और वह, जहाँ औचित्य है वहाँ, उसी शब्दावली का प्रयोग करता है, अतः यह दो कवियों के द्वारा रचित सूक्तों और दृष्टियों के अन्तर के कारण नहीं, अपितु दोनों नदियों की अपनी विशेषताओं के कारण है कि एक को पारावतघ्नी, वृत्रघ्नी और घोरा या अधिक भयंकर बताया जाता है और दूसरी की विपुल जल-सम्पदा, उमड़ती हुई जलधारा की चर्चा आती है और गगनभेदी गर्जना के साथ प्रवाहित होने के बावजूद उसे अधिक निरापद बताया गया है। महत्वपूर्ण बात यह कि सिन्धु को ऋजीत्येनी या ऋजु मार्ग वाली, धारा न बदलने वाली कहा गया है।[14]

वरुण के देवत्व के विषय में हम पीछे विचार कर आये हैं और यह कह आये हैं कि उनका सम्बन्ध समुद्री व्यापार से है। वरुण को नदी। सूक्त में सिन्धु के मार्ग से व्यापार पर जाता दिखाया गया है।[15] आज भी सिन्ध में वरुण की पूजा

झूलेलाल के रूप में प्रचलित है, जो सिन्धियों के सबसे प्रधान देवता हैं।

इन विवरणों से ऐसा नहीं लगता कि वैदिक व्यापारियों को सिन्धु से उस तरह की असुविधा अनुभव हो रही थी जैसी सरस्वती से इससे पहले हुआ करती थी। इन दोनों नदियों के पर्वतीय क्षेत्र से लेकर समुद्र-पर्यन्त तक के प्रवाह का वर्णन इस बात का सूचक है कि वैदिक काल के साहसी व्यापारियों और चरकों या खोजियों ने इन दोनों नदियों को अपनी गतिविधियों का प्रमुख माध्यम बनाया था। जो भी हो, यदि सिन्धु में एक-दो बहुत बड़ी बाढ़ें आयी थीं तो इन्हें इतना भयंकर नहीं माना जा सकता कि इनके कारण इस सभ्यता का पतन हो जाये। स्वयं मैकाय भी इसी तरह का संकेत देते प्रतीत होते हैं। पहली बाढ़ का विनाशकारी असर तो इस बात से ही ख़त्म हो जाता है कि इसके बावजूद शताब्दियों तक मोहनजोदड़ो फलता-फूलता रहा और दूसरी घटना के बाद भी बाढ़ खत्म होने के बाद गतिविधियाँ पुनः आरम्भ हो गयी थीं। जहाँ तक धारा के बदलाव का प्रश्न है, सिन्धु इस मामले में सरस्वती से भिन्न और ऋजुगामिनी या अपनी धारा को स्थिर रखने वाली नदी बतायी ही गयी है। अतः यदि आज हड़प्पा रावी-तट से दूर है और सिन्धु भी मोहनजोदड़ो से कुछ हटी हुई है तो भी यह मात्र अनुमान ही हो सकता है कि इन नदियों की धारा के हट जाने के कारण इन नगरों का पतन हुआ। वस्तुतः यहाँ हम मात्र दो नगरों के पतन पर विचार नहीं कर रहे हैं। यह एक पूरी सभ्यता के पतन का सवाल है जिसके लिए बाढ़ या बहाव में परिवर्तन को कारण नहीं माना जा सकता। जो मोहनजोदड़ोवासी अकसर बाढ़ों के दबाव से नये आवास बनाते रहते थे वे धारा के बदलाव के साथ अपनी बस्तियों में भी बदलाव ला सकते थे। यदि वे अपनी गोदी तक नदी से काट कर नहर बना सकते थे तो धारा के हट जाने पर इस नहर को और लम्बी कर सकते थे। अतः वैदिक साक्ष्यों से हड़प्पा सभ्यता के पतन का बाढ़ से सीधा सम्बन्ध नहीं जुड़ता, और सामान्य बुद्धि भी इसे प्रधान कारण नहीं स्वीकार करती।

3

आक्रमण

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर-प्राचीरों की ऊँचाई और मजबूती को और आगे चलकर इसकी बार-बार मरम्मत होने के प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि अपने आरम्भिक काल से ही हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर और प्रकारान्तर से कहें तो, पूरी हड़प्पा सभ्यता आतंक की छाया में जीती रही थी। इन लोगों को पश्चिम दिशा से खतरे का अन्देशा दिखायी देता

है और इसके लिए बलूच पहाड़ियों में बसे उपद्रवी क़बीलों को ज़िम्मेदार माना जाता रहा है।[16] इसी की अगली कड़ी यह मानी जाती है कि अन्तिम दौर में हड़प्पा सभ्यता को एक अधिक बड़े हमले का सामना करना पड़ा और पहले से कमज़ोर हुई यह सभ्यता इस हमले को झेल नहीं पायी। मैकाय आदि ने हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में अस्वाभाविक परिस्थितियों में हुई कुछ मौतों का उल्लेख किया है और इन मौतों को एक सूत्र में जोड़ते हुए ह्वीलर ने इसे एक हत्याकांड के रूप में देखा था और इसके पीछे आर्य आक्रमण का हाथ माना था[17], क्योंकि उनकी समझ में वैदिक संघर्षों का, पुरों के ध्वंस का और इन घटनाओं का कोई अन्य तर्कसंगत कारण नहीं आ रहा था।

इस मान्यता की आलोचना हम पहले कर आये हैं और देख आये हैं कि आगे चलकर दूसरे विद्वानों ने इसे कैसे एक मिथक से अधिक कुछ नहीं पाया। इन हत्याओं से आर्य आक्रमण का कोई सम्बन्ध नहीं था, यह भी हम देख आये हैं और विभिन्न पहलुओं से हड़प्पा सभ्यता पर विचार करते हुए हम इस बात की अकाट्य पुष्टि होती पाते हैं कि हड़प्पा सभ्यता स्वयं वैदिक सभ्यता है। यहाँ हम जिस पहलू पर बल देना उचित समझते हैं वह यह कि हड़प्पावासियों की जिस सुरक्षा-व्यवस्था का प्रमाण विद्वानों ने ढूँढ़ निकाला है वह स्वयं वैदिक नगरों की सुरक्षा-व्यवस्था थी और जिन आतंकों की छाया में हड़प्पावासी जी रहे थे वह वैदिक शहरी जमात का अपना आतंक था। इन्द्र को अपने स्वर्ग में, जिसे उन्होंने असुरों के लिए अगम्य बनाया था, पहुँचने पर भी असुरों के आतंक से मुक्ति नहीं मिलती। उनके नगरों पर असुरों के हमले होते रहते हैं। इन हमलों में देवताओं की जानें भी जाती हैं और अपनी संगठित शक्ति तथा सहायकों की सहायता से इन्द्र बार-बार असुरों को पराजित करने में और अपने स्वर्ग की रक्षा करने में समर्थ भी होते हैं।

परन्तु जहाँ तक नगरों का सम्बन्ध है, वे अपनी सुदृढ़ रक्षा-व्यवस्था के कारण लगभग अजेय हैं। अधिक परेशानी देवों या वैदिक व्यापारियों को अपनी व्यापारिक यात्राओं के क्रम में झेलनी पड़ती है और इस तरह असुरों या लुटेरों के साथ वैदिक व्यापारियों का संघर्ष एक निरन्तर चलने वाला संघर्ष है, जिसे सामान्य उपद्रवों से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। ज़ाहिर है कि जिन दस्युओं का सामना वैदिक व्यापारियों को करना पड़ता था वे पहाड़ी क्षेत्रों और जंगली इलाकों के होने के कारण बलूच पहाड़ियों पर बसने वाले क़बीलों की याद दिलाते हैं, यद्यपि उपद्रव की यह अकेली दिशा नहीं थी, न ही उपद्रव केवल हड़प्पा के प्रसार-क्षेत्र तक सीमित थे।

पर इन उपद्रवों को हड़प्पा सभ्यता के पतन का एकमात्र कारण मानना उचित नहीं है। अपने पूरे विकास और समृद्धि के काल में वैदिक जनों को इन ख़तरों से जूझना पड़ा और इसके बावजूद उनकी सभ्यता और संस्कृति इन चुनौतियों का

प्रभावशाली ढंग से सामना करती हुई आगे बढ़ती रही। यही काम यह आगे भी कर सकती थी। अतः हमें उन कारणों पर ध्यान देना होगा जो हड़प्पा सभ्यता या वैदिक समाज के भीतर विद्यमान थे और जिनके उग्र रूप धारण करने पर यह सभ्यता अपनी चुनौतियों का सामना करने में अक्षम हो गयी। साथ ही, उन अन्य कारणों की ओर दृष्टिपात करना होगा जिनका इस ह्रास पर गौण पर अनिवार्य प्रभाव पड़ा हो सकता है।

4
सामाजिक और आर्थिक ह्रास

हड़प्पा सभ्यता के आर्थिक ह्रास की ओर विद्वानों का ध्यान गया है और इसे भी उन्होंने इसके पतन के कारणों में से एक माना है, परन्तु इन कारणों को उन्होंने सतही रूप में तलाश करके ही अपने को सन्तुष्ट कर लिया है। स्वयं हड़प्पा सभ्यता के अपने ढाँचे में पलने वाली विकृतियों को लक्ष्य करने का उनके पास कोई साधन नहीं था। यहीं हमें वैदिक साहित्य से कुछ सहायता मिल सकती है।

1. **विलासिता और दुर्व्यसन**—प्रत्येक सभ्यता के विनाश के बीज स्वयं उसके भीतर ही निहित होते हैं और कभी-कभी उसकी सबसे बड़ी शक्ति ही उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता भी सिद्ध होती है। वैदिक समाज में अतिरिक्त उत्पाद एक सीमित दायरे के भीतर संग्रहीत हो रहा था। इस सम्पदा से ही वह उस तन्त्र को विकसित और व्यवस्थित रखने में समर्थ था जिससे समाज के शेष वर्गों को नियन्त्रित किया और अतिरिक्त उत्पाद का अपहरण किया जा रहा था। पर इस सम्पत्ति का अकूत संग्रह अपने निकास के दूसरे रास्ते भी निकालने लगा। इसकी अभिव्यक्ति भोगवादिता और विलासिता में होती दिखाई देती है। इस प्रवृत्ति का आरम्भ ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों के रचनाकाल में ही हो गया था, पर नये मण्डलों में तथा अथर्ववेद के रचनाकाल में यह एक संक्रामक व्याधि का रूप लेता दिखायी देती है।

इन सम्पन्न लोगों की एक से अधिक पत्नियाँ, उपपत्नियाँ और दासियाँ और इन सभी को अपनी सम्पत्ति के रूप में रखना, इसके बावजूद वेश्यावृत्ति आदि की आदतें, एक ऐसे स्वैराचार का वातावरण तैयार करती हैं जिसमें दुराचार और यौनकुण्ठा की वृद्धि स्वाभाविक है। यदि कोई व्यक्ति इतनी अधिक स्त्रियों को अपने पास रखता है जिनकी तुष्टि करना उसके लिए सर्वथा असम्भव है तो बन्धन चाहे जितने भी लगाये जायें, वे अपनी तुष्टि के लिए रास्ते निकाल ही लेंगी और इसके बावजूद उत्पीड़न और घुटन के बीच जीने का प्रयत्न करेंगी। जार या पर-

स्त्री-गामी शब्द वैदिक साहित्य में देवताओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।[18] कामी पुरुष चोरी से अपनी प्रेमिका से मिलने का प्रयत्न करता है और कामना करता है कि जब वह उसके घर में घुसे तब उसके परिवार के सभी लोग सो रहे हों।[19] स्त्रियाँ अपनी सपत्नियों के सन्ताप से खिन्न उनकी अमंगल कामना करती हैं। अथर्ववेद के साक्ष्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि इस अमीर तबके की एक चिन्ता है अधिक-से-अधिक यौन-तुष्टि। वशीकरण या किसी स्त्री या पुरुष को अपने वश में करना, वाजीकरण या यौन-शक्ति को बढ़ाना, सपत्न और सपत्नीनाश, आदि इस वर्ग की चिन्ताओं मे शामिल हैं। उसकी प्रधान व्याधियों में से एक है यक्ष्मा, जो यौन अतिचार का अनिवार्य परिणाम हुआ करती है।[20]

इसके अतिरिक्त जुए के अड्डे हैं जहाँ जुआरी अपना सर्वस्व लुटा सकता है। यद्यपि ऋग्वेद में इस सम्बन्ध में केवल एक ही सूक्त आया है[21] और कुछ अन्य स्थलों पर कितव या जुआरी के प्रासंगिक उल्लेख हैं[22], पर उक्त सूक्त को पढ़ने पर इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता कि यह एक व्याधि का रूप ले चुका था। ऋग्वेद में और बाद के साहित्य में भी मदिरापान की बार-बार निन्दा की गयी है। सोम की तुलना में इसके उल्लेख भी कम आये हैं और सोम तथा सुरा की प्रकृति में भी विरोध दिखाया गया है, पर जो प्रासंगिक उल्लेख आये हैं उनसे ऐसा लगता है कि शराब के नशे में धुत होकर वैदिक नागर शिष्टाचार के नियमों की परवाह किये बिना गली-मुहल्ले में तमाशे खड़े कर दिया करते थे।[23]

इन विवरणों से ऐसा लगता है कि अपने निर्माण-काल की लगन, अध्यवसाय, अनुशासन, संयम, नागरिक नियमों के प्रति सम्मान आदि को छोड़ कर इसके प्रभुवर्ग का काफ़ी बड़ा हिस्सा अपनी अमीरी के नशे में चूर होता चला जा रहा था। उसकी विलासिता और विलासिताजन्य रुग्णता ने उसकी ओजस्विता, पहल की भावना, जोखिम उठाने के साहस आदि को कम कर दिया था और इस तरह का समाज बहुत अधिक समय तक अपने वैभव को कायम नहीं रख सकता था। दूसरे शब्दों में कहें, तो हड़प्पा सभ्यता अपने ही वैभव के अन्धकार में खोती चली गयी और अपने अन्तिम दौर में यह अन्धप्राय-सी हो चुकी थी। यह उसके पतन के प्रधान कारणों में से एक है।

2. **आन्तरिक प्रतिस्पर्धा**—ब्राह्मणों आदि में प्राचीन समाज के जिस पहलू पर प्रायः बल दिया गया है वह है विभिन्न देवताओं द्वारा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने और यज्ञ या उत्पादन में अधिक-से-अधिक और सर्वप्रथम भाग पाने की होड़। सामाजिक उत्पादन से अधिकाधिक अपने हिस्से में डालने का वह प्रयत्न लगभग उस अवस्था से आरम्भ हो गया लगता है जब देव वर्ग आरामतलबी की ओर बढ़ने लगा और श्रम का भार उसके दासों पर पड़ गया। लूट के माल में सबसे बड़ी समस्या और, कहें, केन्द्रीय समस्या बँटवारे की ही होती है। इससे पहले इस तरह

की प्रतिस्पर्धा का सवाल इसलिए नहीं उठता था कि हिस्सा काम के अनुसार अपने आप बँटा हुआ था। जिसने जितना पैदा किया उतना उसका हो गया। पर जब श्रम करने वाले दूसरे हों, प्रबन्ध का भार दूसरों पर हो, अनुशासन और दमन का भार किन्हीं दूसरे लोगों पर हो और मन्त्रणा तथा मार्गदर्शन का कार्य-भार एक अन्य वर्ग ने सँभाल रखा हो, अर्थात् अतिरिक्त उत्पादन के प्रमुख दावेदारों में से किसी का उत्पादन से सीधा सम्बन्ध न हो, तब यह निर्णय करना कुछ कठिन अवश्य हो जाता है कि इनमें बड़ा हिस्सा किसका होना चाहिए। ब्राह्मणों में वर्णित प्रतिस्पर्धा इसी को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करती है।

वैदिक व्यापारियों के बीच प्रतिस्पर्धा काफ़ी ज़ोर पर थी और इसकी एक मिसाल दासराज्ञ युद्ध है। वे एक-दूसरे को मिटाने पर उतारू थे और इसके लिए वे अपने से भिन्न गणों की सहायता लेने को भी तैयार थे।[24] अतः इन्द्र को जब-तब केवल असुरों का ही नहीं, बल्कि अपने उपासक की रक्षा के लिए स्वयं आर्यों या वैदिक सम्प्रदाय के प्रतिस्पर्धी व्यापारियों का भी सफ़ाया करना पड़ता है। यह प्रतिस्पर्धा निश्चय ही वैदिक व्यापारियों के लिए एक अशुभ प्रवृत्ति को प्रकट करती है, पर यह उतनी ख़तरनाक नहीं थी जितनी समाज के विभिन्न वर्गों या वर्णों के बीच आपसी प्रतिस्पर्धा। जिन लोगों के हाथ में उत्पादन का प्रबन्ध था या जो व्यापारिक गतिविधियों से जुड़े हुए थे या जो नियन्त्रण, रक्षा और प्रशासन के लिए जिम्मेवार थे उनके लाभ बहुत स्पष्ट थे, पर मन्त्रदाताओं के हाथ प्रत्यक्षतः कुछ भी नहीं था और अपनी मन्त्रशक्ति या बौद्धिक सूझबूझ से ही वे यथासम्भव अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करना चाहते थे, और उन्होंने इसके लिए जिस युक्ति का विकास किया उसके परिणाम न केवल वैदिक काल के लिए अपितु आने वाली सहस्राब्दियों के लिए भी भयावह सिद्ध हुए।

(क) **ब्राह्मणों-क्षत्रियों का गठबन्धन**—यह कहना कठिन है कि प्राचीन वैदिक काल में वर्णव्यवस्था का रूप ठीक-ठीक क्या था, पर इस विषय में किसी सन्देह की गुंजायश नहीं कि ऋग्वेद के नवीन मण्डलों में वर्णव्यवस्था पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी। अपने कार्यभार के कारण भौतिक शक्ति से किंचित शून्य ब्राह्मणों ने प्रशासन और सैन्यशक्ति के प्रभारी क्षत्रियों से गठजोड़ करते हुए स्वयं अपने और क्षत्रियों के वर्चस्व की नींव रखी। इन दोनों की मिली-भगत से न केवल दासों का दोहन प्रखर हुआ, अपितु वैश्यों का भी शोषण आरम्भ हुआ। इसका प्रभाव निश्चित रूप से अर्थव्यवस्था पर पड़ना था और पड़ा होगा।

(ख) **कर्मकाण्ड**—मनुष्य में प्रतीक गढ़ने और उन प्रतीकों के माध्यम से अपने गौरवशाली पक्षों को जिलाये रखने की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है। क़बीलाई जीवन के टोटेम आदि भी एक तरह के प्रतीक ही हैं। आज भी हम जानें कितने प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। जिस अग्नि से जंगलों की सफ़ाई करके कृषि का आधार रखा

गया था और जो उत्पादन का प्रतीक बन गया था उसकी पूजा और उसमें उन उत्पादनों का प्रतीकात्मक विसर्जन कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। पर ब्राह्मण पुरोधाओं ने क्रमशः इस प्रतीक यज्ञ को वास्तविक यज्ञ या उत्पादन का स्थानापन्न बना दिया। यज्ञ के माध्यम से ही सभी सुख-वैभव, सभी प्रकार की सुरक्षाएँ और विजयें प्राप्त की जा सकती हैं, इस बात का प्रचार किया जाने लगा। जिस समाज की शिक्षा का भार ब्राह्मणों के ऊपर था उसके ब्राह्मण पुरोधा अपने छात्रों के मन में कुछ भी उतार सकते थे और किशोरावस्था से ही इन विश्वासों को चेतना का अंग बनाकर वे समाज को अपने इच्छित रास्ते पर ले जा सकते थे, भले वह रास्ता पूरे समाज को देखते हुए कल्याणकारी हो या अकल्याणकारी। चूँकि वास्तविक अध्यवसाय और पराक्रम के बिना इन प्रतीकात्मक यज्ञों से कुछ भी हासिल नहीं हो सकता था, अन्यथा इनके पुरोधा किसी अन्य को कुछ देने से पहले स्वयं यज्ञ से अपने लिए सब कुछ हासिल कर लेते और उन्हें दूसरों के दान पर आश्रित नहीं रहना पड़ता, न दानियों की अतिरंजनापूर्ण प्रशस्तियाँ गानी पड़तीं, अतः यज्ञ-विधानों के बावजूद इच्छित फल प्राप्त न होने का दोष वे यज्ञविधानों में हुई त्रुटियों को देने लगे और इस तरह यज्ञ-सम्पादन को एक जटिल और पाखण्डपूर्ण विज्ञान का रूप दिया जाने लगा जिसके चलते कर्मकाण्ड का ऐसा विराट विभ्रम पैदा हुआ जो आज तक जारी है। इस कर्मकाण्डीय विस्तार ने समाज की क्रियाशीलता और वस्तु, दृष्टि को प्रभावित करते हुए हड़प्पा सभ्यता को जर्जर कर दिया होगा।

(ग) **कर्म और भाग्य**—केवल भौतिक शक्ति से किसी समाज को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता, अतः प्रत्येक समाज को अपने ढंग से कुछ भ्रमों की सृष्टि करनी पड़ती है। जो व्यक्ति उत्पादन करता है उसे उत्पादन के अनुरूप ही प्रतिलाभ चाहिए। एक शोषण-मूलक समाज यह प्रतिलाभ उसे देना नहीं चाहता, अतः अपने शोषण का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसके पास कोई तर्क चाहिए। वैदिक काल में स्वर्ग और नरक के तथा पूर्वजन्म और पूर्वकर्मों के सिद्धान्त कितने प्रचलित हो चुके थे, यह कहना कठिन है, पर भिक्षु आंगिरस द्वारा दक्षिणा के प्रतिलाभों का जो दिव्य वर्णन किया गया है उससे लगता है कि इस प्रकार की धारणाएँ कम-से-कम ऋग्वैदिक काल तक जन्म ले चुकी थीं। इन अभिनव आविष्कारों से एक ओर तो अधिक-से-अधिक दान पाया जा सकता था और दूसरे बिना उत्पादन किये ऐश की जिन्दगी बिताते हुए सामाजिक उत्पादन का अपहरण करने वालों के इस अपहरण का औचित्य सिद्ध किया जा सकता था : यह उनके अपने कर्म का ही फल है जिसे वे भोग रहे हैं, पर यह पूर्वजन्मों का संचित फल है। इसके विपरीत जिन लोगों को घोर श्रम के बावजूद घोर अभाव में जीना पड़ रहा है वह भी उनके विगत जन्मों के कुकर्मों का परिणाम है। यदि इस जन्म में वे पूरी निष्ठा

और निस्पृहता से अपना काम करते गये तो इसका लाभ उन्हें अगले जन्मों में मिलेगा अन्यथा अगले जन्म में भी कष्ट, सम्भवतः इससे भी अधिक कष्ट और अभाव सहना पड़ेगा। इस तरह भाग्यवाद और कर्मवाद क्षत्रिय-ब्राह्मण गठबन्धन का सबसे कारगर हथियार बना और इसने वैदिक या हड़प्पा समाज की निष्क्रियता को बढ़ाया—यदि वे जो कुछ भोग रहे हैं वह पूर्वजन्मों के कर्मों का संचित लाभ है और जो कुछ भाग्य में है उससे अधिक प्राप्ति सम्भव नहीं है, चाहे प्रयत्न कितना भी किया जाये, तो फिर अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता भी क्या है!

(घ) कृत्या—यज्ञ के समानान्तर तन्त्र और जादू-टोने से भी इच्छित फल की प्राप्ति का आश्वासन भी उसी धूर्तता का परिणाम था, जिसकी अभिव्यक्ति यज्ञों के पाखण्डपूर्ण विस्तार में हुई थी। यज्ञ कराने वाले पुरोधाओं का इन तान्त्रिकों और मायाचारियों से सीधा विरोध था, अतः यज्ञ के समर्थक पुरोधा जादू-टोने की भी बहुत तीखी निन्दा करते हैं। यह उनके लिए गाली के समान है। वसिष्ठ पर सम्भवतः एक सबसे बड़ा आरोप यह लगाया गया था कि वह जादू-टोना करते हैं, वह यातुधान हैं, और इससे खीझकर वह कहते हैं कि यदि मैं जादू-टोना करता होऊँ तो मैं आज ही मर जाऊँ, अभी मर जाऊँ, और फिर शाप देते हैं कि जिसने मुझे मायाचारी और यातुधान, जादू-टोना करने वाला कहा हो, इन्द्र उसका सर्वनाश कर दें।[25] वसिष्ठ निश्चय ही यातुधान नहीं हो सकते। कृत्या की उन्हें ज़रूरत क्या? वह तो यज्ञ-सम्पादकों में अग्रणी पुरोधा हैं और तन्त्र-मन्त्र से उनकी जमात पर सीधी आँच आती है। पर इसके बावजूद ऋग्वेद के पुराने मण्डलों में जहाँ तन्त्र और टोटकों के फुटकल उल्लेख आते हैं, नये मण्डलों में जादू-टोने का असर बढ़ता जाता है। सौत के नाश के लिए, राक्षसों के निवारण के लिए, आरोग्य-प्राप्ति के लिए, गर्भाधान के लिए, टोने-टोटके होते दिखायी देते हैं। अथर्ववेद तक पहुँच कर तो यह अपनी पराकाष्ठा पर ही पहुँच जाता है। कृत्या से कृत्या का प्रतिकार किया जा सकता है, शत्रुओं को सम्मोहित किया जा सकता है, धन प्राप्त किया जा सकता है, कृमियों से मुक्ति पायी जा सकती है, यक्ष्मा, कुष्ठ, ज्वर, विष के प्रभाव, गण्डमाला, तक्म या मलेरिया, हरिमा या पीलिया आदि व्याधियों से मुक्ति पायी जा सकती है, किसी स्त्री को वश में किया जा सकता है, गर्भपात रोका जा सकता है, गर्भाधान कराया जा सकता है, झरते हुए बालों को रोका और केश को बढ़ाया जा सकता है, नपुंसकता दूर की जा सकती है, वाजीकरण प्राप्त किया जा सकता है, धन हासिल किया जा सकता है, शत्रु की सेना हो या एकल शत्रु उसका नाश किया जा सकता है—संक्षेप में, हर प्रकार की ऋद्धि और सिद्धि तन्त्र-मन्त्र से प्राप्त की जा सकती है। यहाँ यह याद दिलाना ज़रूरी है कि हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से भी तान्त्रिक प्रचलन के भौतिक प्रमाण मिले हैं।

पुरोधाओं ने अपने स्वार्थसाधन के लिए यज्ञ को ले कर जिस प्रकार के अन्ध-

विश्वास की सृष्टि की थी उसकी यह तार्किक परिणति थी और कुछ हद तक उनके वर्ण-हित के विपरीत जाती थी; कारण, इस गुह्य विधान और गुह्य साधना में सभी वर्णों के पाखण्डी अपना हिस्सा बँटा सकते थे। अतः अथर्ववेद को एक लम्बे समय तक वेदों के रूप में स्वीकार ही नहीं किया जाता रहा। वेदों के नाम पर केवल त्रयी का ही उल्लेख किया जाता रहा। अथर्ववेद को बहुत बाद में मान्यता मिली, यद्यपि इसकी भाषा, विषय आदि ही नहीं, दूसरे प्रमाण भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि जिन दिनों इसको वेद की मान्यता देने से इन्कार किया जा रहा था उन दिनों भी इसका अस्तित्व था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने अन्तिम चरणों में वैदिक समाज में अन्ध-विश्वास इतना घर कर गया था कि इसे पूरे औचित्य से एक सामाजिक व्याधि का नाम दिया जा सकता है और पराक्रम और पौरुष के स्थान पर टोनों-टोटकों का सहारा अपने आप में एक स्खलित और मरणासन्न सभ्यता का लक्षण है। हताश और दिशाहीन व्यक्ति ज्योतिषियों के पास भागता है और निर्वीर्य होता हुआ समाज तन्त्रों और मन्त्रों की ओर।

(च) **प्रशासनिक ह्रास**—विद्वानों का ध्यान इस ओर भी गया है कि हड़प्पा सभ्यता के अवसान से ठीक पहले इसका प्रशासनिक स्तर गिर गया था। अब बड़े-बड़े मकानों को बाँटकर काम चलाया जाने लगता है, नगर के भीतर ही भट्ठे और कारखाने चलने शुरू हो जाते हैं, नगर का कूड़ा-कचरा अब नगर के बाहर न फेंका जा कर नगर के भीतर ही फेंका जाने लगता है, नागरिक नियमों में शिथिलता बरती जाने लगती है।[28] इन सभी का कारण असुरक्षा और भय, लुटेरों के हमलों का अन्देशा और इस कारण नागरिक आबादी में तेजी से वृद्धि माना गया है।[29] इसको पूरी तरह दरकिनार नहीं किया जा सकता, पर इसका एक अन्य पहलू भी है: विलासिता और अन्धविश्वास में डूबे इस समाज की सार्वजनिक मामलों में उदासीनता और आत्मकेन्द्रिता और इसी के समानान्तर आर्थिक स्थिति में गिरावट। कम-से-कम मकानों को बाँटकर काम चलाने के पीछे बाहर से आयी हुई आबादी का हाथ नहीं माना जा सकता। यह उन्हीं परिवारों के सदस्यों के बीच मिल-बाँटकर काम चलाने का प्रमाण है। जहाँ खुशहाली के पुराने दिनों में परिवार बढ़ने के साथ अमीर व्यक्ति नये मकान बनवा सकता था वहाँ अब नये मकान बनवाने की उसकी हैसियत नहीं रह गयी है और जैसे-तैसे उस मकान को बाँटकर बढ़े और बँटे हुए परिवार के साथ मिल-जुलकर काम चलाया जा रहा है। नगर के भीतर ही कूड़ा आदि डालने के पीछे भी यही दिखायी देता है कि गिरावट के इन दिनों में नगर-नियमों का पालन कराने वाली संस्था कमजोर और सम्भवतः दिवालिया होती जा रही थी। कारण, हम इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि इस दौर में नगर से बाहर निकलना तक बन्द हो गया रहा होगा। लुटेरों की

नज़र जिन भी चीज़ों पर भी रही मानी जाये, कूड़े में उनकी दिलचस्पी का कोई कारण नहीं दिखायी देता। फिर इसी तर्क से औद्योगिक इकाइयों द्वारा भी नियमों की अवज्ञा को समझा जा सकता है।

(छ) शिल्पियों का दमन—ऋग्वैदिक काल तक शिल्पियों की दशा बहुत अच्छी थी। उनकी विलक्षणता और सिद्धहस्तता की प्रशंसा उन्हें विभु, ऋतुविद, कवि, सुहस्त आदि जिन शब्दों में की गयी है वह इस बात की अच्छी मिसाल है। पर अपने गिरावट के दौर में प्रभुवर्ग का हमला अपने श्रमिकों और कारीगरों पर होने लगता है। उनको उचित पारिश्रमिक न देना, न्याय और औचित्य का ध्यान न रखकर उनके क्रूर दमन पर उतर आना, गिरावट के दौर के सामान्य लक्षण बन जाते हैं। ऋग्वेद में त्वष्टा और विश्वरूपा शब्दों का उल्लेख कुशल कारीगर और सर्जक के रूप में आया है, पर ब्राह्मणों में पुरातन परम्पराओं के आधार पर इन्द्र द्वारा त्वष्टा के पुत्र विश्वरूपा के वध का उल्लेख आता है जो वैदिक शिल्पियों पर होने वाले अत्याचार और दमन का प्रतीकांकन है।[30] विश्वरूपा अर्थात् विविध प्रकार की वस्तुओं का सर्जक कलाकार त्वष्टा का पुत्र या उन शिल्पियों का वंशधर है जिनका काम पहले आयुध बनाने तक सीमित था। उसकी ग़लती यह है कि उसकी माली हालत बहुत अच्छी है। उसे तीन सिरों, तीन मुखों और छः नेत्रों वाला बताया गया है। तीन सिर और छः नेत्र निश्चय ही उसकी असाधारण विचक्षणता के द्योतक हैं। तीन मुखों में से एक से वह सोम, दूसरे से सुरा और तीसरे से अन्न आदि ग्रहण करता है, या, कहें, उसे देव, मनुष्य और असुर-सुलभ सभी भोग प्राप्त हैं और इसी बात को लेकर इन्द्र के मन में उससे द्वेष पैदा हो जाता है और बिना किसी अपराध के वह उसका सिर काट देते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अपने गिरावट के दिनों में वैदिक प्रभुवर्ग अपने शिल्पियों को उचित पारिश्रमिक देने से कतराता है और उनके काम से इन्कार करने या अपना माल न देने पर उन पर जुल्म ढाना शुरू कर देता है और इसके परिणामस्वरूप कुछ का वध कर दिया जाता है और शेष को सम्भवतः भागना पड़ता है[31] और इससे इस डगमगाती हुई अर्थव्यस्था पर करारी चोट पड़ती है। यद्यपि व्यापारियों के इस जुल्म के सामने शेष शिल्पी झुकते नहीं और उनको ही झुकने पर मजबूर करते हैं।[32]

शिल्पियों और प्रविधिज्ञों के उत्पीड़न और शोषण की अधिक मुखर अभिव्यक्ति समुद्रमन्थन की कथा में हुई है जिसकी प्राचीनता के विषय में किसी सन्देह की गुंजायश नहीं है, यद्यपि इसका विस्तृत उल्लेख पुराणों में आकर मिलता है।[33] अन्य पौराणिक वृत्तों की तरह इसमें भी एक नया रंग चढ़ाने का और वास्तविकता को इसी के अनुरूप अटपटा बनाने का प्रयत्न देखा जा सकता है, पर इसके बावजूद सचाई का चेहरा पूरी तरह छिप नहीं पाता।

मत्स्यपुराण में सागर-मन्थन का जो उल्लेख आया है वह खासा अतिरंजनापूर्ण

है, और इसका लक्ष्य अमृत का मन्थन करना है या कहें क्षीर सागर को मथ कर अमृत प्राप्त करना है। अमृतं हिरण्यम्(तै. 1.7.6.3;1.7.8.1; शतब्र. 1.7.6.1.2 आदि) के तर्क से यह धनार्जन के लिए किया गया समुद्र-मन्थन या समुद्री यात्राओं का द्योतक है। पर इसके जिन संगत अंशों की ओर ध्यान दिलाना उचित प्रतीत होता है वे निम्न प्रकार हैं : अमृत की प्राप्ति के लिए ब्रह्मा देवों को सलाह देते हैं कि वे असुरों से छद्म मैत्री करके उन्हें अपना सहायक बना कर समुद्र का मन्थन करें।[34] इसके लिए मन्दराचल को मथानी बनाया जाता है। मन्दराचल गुफाओं, कन्दराओं, वृक्षों आदि से युक्त पर्वत है। इस मन्थन के आयोजन में शेषनाग को रज्जु बनाया गया है।[35] देवता असुरों को यह आश्वासन देते हैं कि अमृत का लाभ उन्हें भी मिलेगा।[36] मन्थन के समय देवता शेषनाग के पीछे की ओर रहते हैं और असुर आगे की ओर। शेषनाग के फूत्कार से जो विष आदि निकलता है उसे वे ही झेलते हैं।[37] मन्थन सैकड़ों दिव्य वर्षों तक, स्यात् हज़ारों वर्षों तक चलता रहता है।[38] जब समुद्र से रत्न निकलने लगते हैं तो देवता उन्हें क्रमशः आपस में बाँटते चले जाते हैं।[39] अमृत के निकलने पर दोनों पक्षों की ओर से उसके दावे होने लगते हैं।[40] अमृत पहले असुरों के अधिकार में चला जाता है, पर विष्णु, मोहिनी रूप धारण करके, छलपूर्वक उसे ले लेते हैं और अभी अमृत पाने के लिए युद्ध चल ही रहा है कि विष्णु उसका कुछ भाग पीकर अमर हो जाते हैं।[41] अब वह देवताओं में अमृत बाँटने लगते हैं। राहु छिप कर देवताओं के बीच आ बैठता है और अमृत का भाग उसे भी मिल जाता है। अभी अमृत की बूँदें उसके गले में पहुँचती ही हैं कि सूर्य और चन्द्रमा संकेत से रहस्य का उद्घाटन कर देते हैं। इस पर कुपित होकर विष्णु राहु का सिर काट देते हैं। अमृत पान कर अमर हो चुका राहु कट कर दो भागों में बँट जाता है और राहु तथा केतु का रूप ले लेता है। इसके बाद यह खुले युद्ध का रूप ले लेता है, और इसमें देवताओं द्वारा असुरों का संहार तो किया ही जाता है, असुर भी देवताओं का संहार करते हैं।[42] जो भी हो, देवताओं द्वारा ताड़ित असुरगण भय के मारे पृथ्वी, समुद्र के खारे जल में या जहाँ कहीं भी ठौर मिलता है, प्रविष्ट हो जाते हैं।[43]

इस रूपकीय इतिहासगाथा के मर्म को समझने के लिए इसे ब्राह्मणों के उन विवरणों से मिलाकर पढ़ना उपयोगी होगा जिनके अनुसार पहले पैदा होने वाले देवता थे और बाद में पैदा होने वाले मनुष्य। देवता पहले मर्त्य थे और उन्होंने इस धरती पर ही घोर श्रम और प्रयत्न किया था और उनका यह श्रम और तप उत्पादन के निमित्त था। प्रतिस्पर्धा में असुरों को पछाड़कर इस लोक को जीतने के बाद ही वे नीचे से स्वर्ग को पहुँचे। साथ ही, इस बात की ओर भी ध्यान देना होगा कि सोम जिसे प्रायः अमृत कहा गया है, वह भी व्यापारिक लाभ का प्रतीक, सोना है। इस कथा में एक साथ समुद्री व्यापार और स्थल-मार्ग से विदेश-

व्यापार दोनों को प्रतिबिम्बित किया गया है। स्थल-मार्ग से यात्रा को मन्दराचल (मध्यवर्ती पर्वतमाला या हिन्दूकुश) के द्वारा प्रस्तुत किया गया है जो इस मन्थन में दण्ड बनता है।[44] समुद्री व्यापार को क्षीर सागर के द्वारा प्रकट किया गया है। हज़ार फनों वाले शेषनाग वस्तुतः उन समुद्रगम्य शतभुजी नौकाओं, शतप्लव जहाज़ों के प्रतिरूप हैं जिन्हें खेने के लिए सैकड़ों नाविक डाँड़ चलाते थे। असुरों का शेषनाग के मुँह की ओर होना उत्पादन, नौवहन और मार्ग के ख़तरों को झेलने में नाविकों आदि की अग्रणी भूमिका के प्रतीक रूप में आया है और देवों का पीछे होना, अपना माल-असबाब लेकर इन यात्राओं पर सुरक्षित होकर जाने वाले व्यापारियों का सूचक है। समुद्र-मन्थन से प्राप्त होने वाले रत्नों (आयात और निर्यात की वस्तुओं) के लाभों को देवता हड़पते जाते हैं और अन्तिम लाभ में उनके द्वारा असुरों के साथ छल किया जाता है। उन्हें एक तो उचित भाग नहीं मिलता; दूसरे, इसके लिए जिद करने पर उनका दमन और संहार किया जाता है। मन्थन का हज़ारों वर्षों तक चलते रहना उस लम्बे दौर का द्योतक है जिसमें वैदिक समाज अपने विदेश-व्यापार की गतिविधियों में तल्लीन रहा। फ़साद अन्तिम दिनों में होता है, जिसमें देवताओं के दमन का असुरों द्वारा प्रतिरोध किया जाता है, पर विवश होकर उन्हें देश-विदेश जहाँ भी शरण मिलती है, भाग कर जाना पड़ता है। यह उस दुर्गति का बहुत सजीव चित्र है जिसका सामना हड़प्पा सभ्यता को या वैदिक समाज को करना पड़ा। व्यापारियों के शोषण और दमन ने उन्हें भाग कर अन्य ठिकानों पर जाने को मजबूर कर दिया और इसका असर हड़प्पा के उत्पादों पर भी पड़ा और इसकी टूटती हुई अर्थ-व्यवस्था पर भी।[45]

(ज) व्यापारिक केन्द्रों में अशान्ति और अस्थिरता—हड़प्पा सभ्यता के गिरावट का आरम्भ होने से ठीक पहले पश्चिमी एशिया में भारी उथल-पुथल का एक दौर देखने में आता है। इस उथल-पुथल का दोष उन युद्धोन्मादी और नगर-सभ्यता के शत्रु आर्यों के बढ़ते हुए जत्थों को दिया जाता रहा है जो विद्वानों की कल्पना पर भूत की तरह छाये रहे हैं। वास्तविकता यह है कि न केवल वे आर्य नहीं थे, अपितु इन उपद्रवकारियों से सबसे अधिक प्रभावित होने वाले लोगों में भारतीय वैदिक व्यापारी और इनके विदेशी ठिकाने ही रहे प्रतीत होते हैं। इनके द्वारा पैदा की गयी अशान्ति ने व्यापारिक वातावरण को विषाक्त कर दिया होगा और हड़प्पा का व्यापार जो दिनोंदिन विदेशोन्मुख होता चला गया था, इस झटके से बहुत गहराई से प्रभावित हुआ होगा।[46]

(झ) विदेशी व्यापारियों की पहल—भारतीय व्यापारियों के व्यापारिक उपक्रमों में इस अशान्ति से जो बाधा पड़ी वह इसके बाद स्थापित हुई शान्ति और व्यवस्था से कम नहीं हुई। एक बार आतंकित होने के बाद भारतीय व्यापारी अपने सम्पर्क के देशों से कट गये। व्यवस्था कायम हुई या नहीं, इसका उन्हें पता भी

नहीं चल सकता था। इस बीच सम्भवत: भारतीय माल की भूख ने स्वयं उन केन्द्रो के बचे-खुचे भारतीय मूल के, तथा साथ ही अभारतीय, व्यापारियों को अपनी ओर से पहल करने का अवसर दिया। इस पहल के साथ ही पासा पलटने लगा। यद्यपि इससे उत्पादकों पर उतना असर नहीं पड़ा होगा; कारण, उनका माल तो खपने ही लगा था, और सम्भवत: उन्हें नये खरीदारों से कुछ अधिक लाभ भी मिलने लगा हो, पर इसके मध्यस्थों या बड़े नगर-सेठों और उनसे जुड़े हुए तन्त्र को फिर सँभलने का अवसर नहीं मिला होगा। त्वष्टा द्वारा इन्द्र को सोमभाग से वंचित करना, इसके पीछे छिपे दुहरे आशय का प्रतीक है जिसमें उत्पाद नये ग्राहकों के हाथ बेचने का भाव भी निहित है। सम्भवत: यही वह काल है जब पश्चिमी एशिया में सीधे भारत—मेलुह्हा, मकन आदि – से मँगाया जाने वाला माल पुन्त आदि से मँगाया जाने लगता है। भारतीय व्यापारी इससे पहले कितना भारी लाभ कमाते थे अब इसका भी पता शायद चलने लगता है और मुमकिन है, इस कारण ही क्रमश: दिलमुन की भूमिका अधिक प्रधान होती जाती है।[47]

(ट) बलूची उपद्रव—बलूचिस्तान की ओर से जिन उपद्रवों की सम्भावना की ओर पिगट और बैशम आदि[48] ने संकेत किया है, उनको पूरी तरह नकारने का कोई कारण नहीं है, परन्तु इन्हें सुनियोजित आक्रकण मानना सम्भावित आर्य आक्रमण में विद्वानों की अटूट निष्ठा का परिणाम रहा है। बलूचिस्तानी क़बीले बहुत पहले से इस क्षेत्र से होकर गुज़रने वाले वैदिक सार्थों के लिए, और इस अंचल में, कायम किये गये वैदिक उपकेन्द्रों के लिए, संकट पैदा करते आये थे। दस्युओं के कुछ संगठित दल जब-तब भारी बर्बादी कर दिया करते थे। राना गुंडाई को सम्भवत: 3000 ई.पू. में इनके हाथों तबाह होना पड़ा हो सकता है।[49] शाही तुंप की नियति पर भी इनके उपद्रवों का प्रभाव पड़ा हो सकता है।[50] पर ये उपद्रव एक लम्बे कालखण्ड—एक हज़ार वर्ष—के भीतर घटित होने वाले उपद्रव हैं और इनका प्रभाव किसी एक समय में आस-पास की बलूच बस्तियों तक भी नहीं फैलाथा। जहाँ पूरे बलूचिस्तान का ही प्रश्न नहीं उठता वहाँ भारत पर आक्रमण की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्पष्टत: ये स्थानीय प्रकृति की घटनाएँ हैं और इनसे केवल यही नतीजा निकाला जा सकता है कि बलूचिस्तान में अपने कुछ उपकेन्द्रों और इनसे होकर गुज़रने वाले वाणिज्यिक मार्गों के बावजूद वैदिक या हड़प्पा के प्रशासक इस पूरे क्षेत्र को कभी अपने अधिकार में लेने में या यहाँ शान्ति और व्यवस्था क़ायम करने में सफल नहीं हुए थे और जब-तब इनमें से कुछ दुस्साहसी दस्यु-दल हड़प्पा के नगरों के लिए भी संकट पैदा करते रहे हो सकते हैं।

हम देख आये हैं कि नगर-केन्द्रों का प्रशासन किस तरह क्रमश: गिरता चला गया था और इसका आर्थिक आधार कितना मरणासन्न हो चला था। रक्षातन्त्र में भी इसके अनुरूप ही गिरावट आयी होगी। ऐसी स्थिति में उन यायावर बलूची

क़बीलों और उपद्रवी तत्वों ने जो इस शताब्दी तक कम-से-कम सर्दियों में मैदानों की ओर उतर आते हैं, और इनके अतिरिक्त अन्य उपद्रवी तत्वों ने सिन्धु से परे के क्षेत्र में उपद्रव खड़े कर दिये होंगे और शहरी आबादी पर भी इनकी लूटपाट का असर होने लगा होगा और यह उपद्रव हड़प्पा की नगर-सभ्यता के लिए घोड़े की पीठ तोड़ने वाला अन्तिम तिनका साबित हुआ होगा। ऐसा मानने का एक कारण यह है कि बहुत बाद की कृतियों में प्राचीन परम्पराओं के आधार पर सिन्धु से परे के क्षेत्र को तथा सौबीर और सौराष्ट्र को आर्य-वर्ज्य क़रार दे दिया जाता है और इस बात की आशा की जाती है कि यदि कोई प्रतापी राजा इन क्षेत्रों पर अधिकार जमा कर लोगों को पराजित कर सके और इनमें वर्ण-व्यवस्था स्थापित कर सके तो यह क्षेत्र भी यज्ञ के उपयुक्त हो सकता हैं और इसके लिए तर्क यह दिया जाता है कि पृथ्वी स्वयं दूषित नहीं होती अपितु संसर्ग से ही दूषित होती है।[51] ज़ाहिर है यह आर्य आक्रमण नहीं था। यदि इसका प्रभाव किसी पैमाने पर हड़प्पा के नगर-केन्द्रों और सिन्धु से पश्चिम के क्षेत्र और सौराष्ट्र पर पड़ा जो इनके अन्तिम पतन का कारण बना तो यह स्वयं आर्यों या वैदिक किसानों और व्यापारिक केन्द्रों का संकट है जिसकी याद लम्बे समय तक भारत में आर्य या वैदिक परम्परा में ही बनी रहती है।

सन्दर्भ तथा टिप्पणियाँ

1. सर जॉन मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन 1931, 1, 7.
2. वही, 8.
3. अर्नेस्ट मैकान, अर्ली इंडस सिविलाइज़ेशन, 1948, 13-14.
4. वही, 16. देखें, डेल्स, 'सिविलाइज़ेशन ऐंड फ्लड्स इन दि इंडस वैली', एक्सपेडीशन, 7, 4, 1965, 36-43; राइक्स, 'मोहनजोदड़ो फ्लड्स' ऐंटिक्विटी, 39, 1965, 196-203; 'मोहनजोदड़ो फ्लड्स रिकन्सिडर्ड', जर्नल ऑफ़ पैलियोंटोलॉजिकल सो. ऑफ़ इंडिया, 20, 1977, 251-60.
5. मैकाय, ऊपर।
6. ऋ. 6.61.2.
7. ऋ. 6.61.7.
8. ऋ. 10.75.1; 3;7, आदि।
9. हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती। ऋ. 10.75.8.

10. स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा...ऋ. 10.75.8; सुखं रथं युयुजे सिन्धुः अश्विनं तेन वाजं सनिषत् अस्मिन् आजौ। ऋ. 10.75.9.
11. ऋ. 6.61.14.
12. ऋ. 10.75.4.
13. वही।
14. ऋ. 10.75.7.
15. ऋ. 10.75.2.
16. बैशम, पूर्व., 27.
17. मैकाय, 1938 तथा ह्वीलर, 1953. देखें वैदिक संघर्षों की प्रकृति।
18. ऋ. 1.66.4; 117.18; 134.3; 152.4; 9.32.5, आदि।
19. ऋ. 7.55.6; 8; अथ. 4.4.
20. अथर्ववेद के सूक्तों में से कुछ के शीर्षकों पर दृष्टिपात करना कुछ रोचक होगा : 2.30 कामिनीमनोऽभिमुखीकरणं, 2.36 पतिवेदनम्, 3.7; 3.31; 6.20; 6.127; 9.8; 12.2 आदि, यक्ष्मरोगनाश; 6.82 जायाकामना; 6.138 क्लीवत्व; 6.136 केशदृंहण; 4.4; 6.72; 6.101 आदि, वाजीकरण; 4.38 वाजिनीवान् ऋषभ। अथर्ववेद में जादू-टोने के प्रचलन को देखते हुए कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि यह आर्य समाज के बीच बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे विश्वासों और अन्धविश्वासों की अभिव्यक्ति है, पर इस बात पर ध्यान देना होगा कि यह एक विलासी समाज की आकांक्षाओं और उनके पुरोहितों और तान्त्रिकों द्वारा सोद्देश्य रूप में प्रचारित अन्धविश्वासों को व्यक्त करता है। हमें ऐसा एक भी सूक्त नहीं दिखायी देता जो किसी आदिम समाज की समस्याओं से सम्बन्धित हो।
21. ऋ. 10.34.
22. ऋ. 2.29.5; 30.22; 5.85.8, आदि।
23. हृत्सु पीतासः युध्यन्ते दुर्मदासः न सुरायाम्। ऋ. 8.2.12. यहाँ सुरापान और इससे मदहोश होकर किये जाने वाले फ़साद का ज़िक्र उपमा के रूप में आया है, और किसी प्रवृत्ति के उपमा के रूप में प्रयुक्त होने का अर्थ है उसका अतिशय व्यापक होना। कारण, उपमा सदा अतिपरिचित की ही दी जाती है।
24. दाशराज्ञ युद्ध में जिन दस प्रतिस्पर्धियों से सुदास का मुक़ाबला हुआ था उनमें पाँच आर्य और पाँच अनार्य थे जिनमें से कुछ का सम्बन्ध अफ़ग़ानिस्तान से था। वैदिक जनों के बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कुछ अन्य उदाहरण ऐसे स्थलों पर पाये जा सकते हैं जहाँ इन्द्र को दासों के अतिरिक्त 'आर्यों को भी मारने वाला' बताया गया है, यथा ऋ. 6.22.10; 7.83.1; यदुओं और पुरुओं के प्रति भी शत्रुता का भाव स्पष्ट है, जो कि वैदिक जनों में ही आते हैं।

ऋ. 7.8.4 में भरतों की अग्नि को पुरुओं पर विजयी दिखाया गया है। ऋ. 7.18.3 में भी ये त्रित्सुओं के शत्रु दिखाये गये हैं।

25. अद्या मुरीय यदि यातुधानः अस्मि यदि वायुः ततप पूरुषस्य।
अधा स वीरैः दशभिः वि यूया यः मा मोघं यातुधान इति आह॥
यः मायातुं यातुधान इति आह यः वा रक्षाः शुचिः अस्मि इति आह।
इन्द्रः तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोः अधमः पदीष्ट। ऋ. 7.104. 15-16.

26. विलियम मैरियन क्रॉगमैन व विलियन हेनरी सैसमन, 1943, 252-59.

27. मैकडलन (वैदिक माइथॉलॉजी, 1981 सं., 4) अथर्ववेद को यजुर्वेद से प्राचीन मानते हैं और इसमें प्रस्तुत धर्म के हीन पक्ष— जादू-टोने को ऋग्वेद से भी प्राचीन मानते हैं। पर जैसा कि हम पहले कह आये हैं, इन हीन पक्षों में भी हम ऋग्वेद के अन्तिम चरण का और उसके बाद का ही अंकन पाते हैं; कारण, इन टोनों-टोटकों से जिन कामनाओं की पूर्ति अभीष्ट है वे एक वैभव-पतित पर विलासिता में चिपके हुए भ्रष्ट समाज की ही कामनाएँ हैं।

28. पिगट, 1950, 230; बैशम, 1967, 30.

29. बैशम, वही।

30. त्वष्टुः ह वै पुत्रः। त्रिशीर्षा षडक्षऽआस...तस्मात् विश्वरूपः नाम। तस्य सोमपानं एव एकं मुखं आस। सुरापानं एकं अन्यस्माऽअशनाय एकं। तं इन्द्रः दिद्वेष। तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद। शतब्रा. 1.6.3.1-2.

31. मैकाय, 1948; ह्वीलर, 1953; बैशम, 1967, आदि ने जिन साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए मोहनजोदड़ो के हत्याकाण्ड की बात सुझायी थी, वह वस्तुतः वैदिक स्वामिवर्ग द्वारा अपने ही कारीगरों का वध और दमन है। एक भुक्तभोगी के पास से मिला हाथीदाँत इसका अच्छा संकेत है कि इन हत्याओं का सम्बन्ध मोहनजोदड़ो के शिल्पी वर्ग से था, न कि सामान्य नागरिकों से। इन कंकालों को जिन स्थलों पर पाया गया है और जिन विशेष परिस्थितियों और सन्दर्भों में पाया गया है उन्हें कदापि स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। इनकी विधिवत अन्त्येष्ठि नहीं की गयी थी, यह स्पष्ट है। इनका सम्बन्ध निश्चय ही एक घटना से नहीं है न ही बाहरी हमले से है, पर तो भी इनकी अस्वाभाविक स्थिति से—गली में, कुएँ पर, घर के भीतर और जब-तब पूरे परिवार की हत्या—यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कि प्रभु-वर्ग का उत्पीड़न ही इसका एकमात्र कारण रहा हो सकता है। कारण, किसी आक्रमण के दौरान हुए हत्याकाण्ड को देखते हुए इन कंकालों की संख्या नगण्य है और आक्रमण के अन्य लक्षण भी यहाँ नहीं पाये जाते। लगता है कि इन हत्याओं के लिए उत्तरदायी लोग मोहनजोदड़ो की ही आबादी के प्रभाव-

शाली लोग थे जिनका आतंक इतना जबर्दस्त था कि इब भुक्तभोगियों के शवों को उठाने या विधिवत अन्त्येष्ठि देने का भी किसी का साहस नहीं हुआ था कि कहीं उसके साथ सहानुभूति प्रकट करने का दुष्परिणाम उन्हें भी न भुगतना पड़े। इन सड़ती हुई लाशों को मिट्टी आदि से ढक दिया जाता रहा होगा और इतने से ही छुट्टी पा ली जाती रही होगी।

32. स त्वष्टा चुक्रोध कुविन्मे पुत्रं अवधीत इति सः अप इन्द्रं एव सोमं आजह्रे। शतब्रा. 1.6.3.6.

त्वष्टा का इन्द्र पर क्रुद्ध होना और उन्हें सोमभाग से वंचित कर देना इसी बात का सूचक लगता है जिससे इन्द्र को झुक कर समझौता करना पड़ता है। इसके असुर होने के बावजूद इन्द्र को विश्वरूपा के वध के लिए सौत्रामणी से प्राश्चित करना पड़ता है। यहाँ जिस सोम से त्वष्टा द्वारा इन्द्र को वंचित किया जाता है उसे साधारण पेय सोम मानना उचित नहीं। कारण, इस सोम में और सोम के प्रतीकात्मक रूप व्यापारिक लाभ में भी असुरों को देवों से बचा-खुचा ही मिलता है और कहीं इस बात का संकेत तक नहीं मिलता कि देवों के लिए सोम का सवन असुर करते थे। अतः सोम का वह हिरण्य या पण्यवस्तुओं वाला रूप ही ऐसा है जिसके निर्माण से त्वष्टा या उनकी बिरादरी का कुछ सम्बन्ध हो सकता है और जिससे ही वह इन्द्र या व्यापारी वर्ग को वंचित कर सकते थे और अन्ततः उन्हें पारिश्रमिक आदि के मामलों में झुकने को भी विवश कर सकते थे।

33. समुद्री मार्ग से व्यापार के लिए नौकाओं के आवागमन को ऋग्वेद में भी समुद्र-मन्थन कहा गया है और इन गतिविधियों वाले समुद्री क्षेत्र को देव-मथित कहा गया है। देखें ऋ. 3.9.5.

34. देवाः शृणुत मद्वाक्यं तत् तथैव निरूप्यताम्।
क्रियतां दानवै सार्धं सख्यं अत्राभिधीयताम्॥
क्रियतां अमृत उद्योगो मथ्यतां क्षीर-वारिधीम्।
सहायं वरुणं कृत्वा चक्रपाणि विबोध्यताम्॥ मत्स्य पु. 249. 13 व 14.

35. मन्दरः सर्व शैलानां अयुतायुत विस्तृतः। वही, 43.
दाधार अमृत मन्थानं मन्दरे चारु कन्दरम्। वही, 53.
...भ्राम्यमाणे ततः शैले योजनायुतशेखरे। वही, 58.
...श्वापदायत लक्षाणि तथा पुष्पफलद्रुमाः। वही, 59.
जगाम देवैः सहितो यत्रासौ मन्दराचलः।
वेष्ठितो भोगिभोगेन धृतश्चामर दानवैः॥ वही, 50.

36. तत् श्रुत्वा वचनं देवा जग्मुः दानव मन्दिरम्।
अलं विरोधेन वयं भृत्याः तव बलेऽधुना॥

क्रियतां अमृत उद्योगो व्रियतां शेषनेत्रकम् ।
त्वया चोत्पादिते दैत्य अमृते अमृत मन्थने ।।
भविष्याम: अमरा: सर्वे त्वत् प्रसादात् न संशय: ।
एवं उक्त: तदा देवै: परितुष्ट: स दानव: ।।
यथा वदत हे देवा: तथा कार्यं मयाऽधुना...। वही, 16.20. यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि मन्थन के आयोजन से पूर्व देवता अपने को असुरों का भृत्य और अनुगत बनाते हुए उनसे सहायता का अनुरोध करते हैं और अपने स्वामियों के साथ अपने तनावपूर्ण सम्बन्ध के बावजूद असुर इस मनुहार पर पिघल जाते हैं ।

37. विषभीता: ततो देवा यत: पुच्छ तत: स्थिता: । मुखत: दैत्य-संघास्तु सैंहिकेय पुरःसरा: ।। वही, 51.
38. ततो देवासुरै: सर्वै: जय-शब्द पुर: सरम् । दिव्यं वर्षशतं साग्रं मथित: क्षीर-सागर: । वही, 54. पर रोचक बात यह है कि इन सौ दिव्य वर्षों के श्रम को केवल आरम्भिक श्रम के रूप में पेश किया गया है जिसके बाद देवता-दानव सभी थक जाते हैं और फिर इन्द्र मेघ-वृष्टि द्वारा इनकी थकान मिटाते हैं : तत: श्रान्तास्तु ते सर्वे देवा दैत्यपुर: सरा: । श्रान्तेषु तेषु देवेन्द्रो मेघो भूत्वाम्बुशीकरान् ।। पुन: थकने पर वारुणी से स्फूर्ति प्राप्त की जाती है : वारुणी गन्धं आघ्राय मुमुदु: देव दानवा: । तदास्वादेन बलिनो देवदैत्या-दयोऽभवन् । वही, 62. और इसके बाद फिर मन्थन चलता है ।
39. जग्राह कमलां विष्णु: कौस्तुभं च महामणिम् । गजेन्द्रं च सहस्राक्षो हयरत्नं च भास्कर: ।...छत्रं जग्राह वरुण: कुण्डले च शचीपति: ।। वही, 251.3-4.
40. अमृतार्थे महानादो मम इदं इति जल्पताम्...। वही, 251.7.
41. वही, 251.7-16.
42. वही, 251.21-33.
43. ततो महीं लवण जलं च सागरं महासुरा: प्रविविशु: अर्दिता: सुरै: । वही, 251.34.
44. मन्दराचल की गुफाओं को स्वर्ण, वैदूर्य मणियों से अलंकृत बताया गया है, मानो अफ़ग़ानिस्तान और मध्येशिया की उन खानों की, अफ़ग़ानिस्तान से लेकर मध्येशिया तक के उन ठिकानों की, अधबिसरी सम्पन्नता कुछ अति-रंजना के साथ याद की जा रही हो जिनसे हड़प्पा के व्यापारी अपने खनिज, रत्न और धातुएँ प्राप्त करते थे ।
मन्दरस्य गुहां हैमीं मुक्ता-मणि-विभूषिताम् ।
सुस्वच्छ-मणि-सोपानां वैदूर्य-स्तम्भ मण्डिताम् ।। मत्स्य पुराण, 250.26. तुलना करें, अस्थाना, 1982, 280; देखें प्रथम खण्ड, अध्याय छह भी ।

45. समुद्र-मन्थन में मूर्त वर्ग-संघर्ष की तुलना यदि इसके शताब्दियों या, कहें, लगभग एक हज़ार वर्ष बाद यूनान में हुई डोरियन क्रान्ति से करें जिसकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं तो दोनों में काफ़ी समानता मिलेगी और यह हड़प्पा की दुर्गति को भी स्पष्ट करने में सहायक होगी। अन्तर केवल इतना ही है कि समुद्र-मन्थन की कथा से जहाँ इस जन-क्रान्ति को सत्ताधारी वर्ग ने अन्ततः कुचल दिया था, डोरियन क्रान्ति सफल हुई थी।
46. ए. एल. बैशम, पूर्व., 1967, 30.
47. देखें शीरीं रत्नागर, एन्काउंटर्स, 1981, 226.
48. पिगट, 1953, 217; बैशम, 1967, 27.
49. बैशम, वही।
50. वही।
51. मनु. 2.23 पर मेधातिथि।

परिशिष्ट-1

सरस्वती घाटी से पलायन

वैदिक रचना-काल को मोटे तौर पर तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है : ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों का रचना-काल, नवीन मण्डलों का रचना-काल और उत्तरवैदिक काल । हड़प्पा सभ्यता के सन्दर्भ में इसे आद्य हड़प्पा काल, परिपक्व हड़प्पा काल और परवर्ती हड़प्पा काल कहा जा सकता है। भौगोलिक दृष्टि से इसे सारस्वत काल, सैन्धव काल और गांगेय काल कहा जा सकता है। यहाँ हमारा यह आशय नहीं है कि सारस्वत काल में सभ्यता का प्रसार सरस्वती घाटी तक ही सीमित था, बल्कि यह कि इस दौर में सभ्यता का प्रमुख केन्द्र सारस्वत क्षेत्र था ।

सारस्वत क्षेत्र से केन्द्रों के हटने का प्रधान कारण था सरस्वती नदी का ह्रास और इस अंचल को प्रभावित करने वाले प्राकृतिक प्रकोप । इन प्राकृतिक प्रकोपों का एक प्रधान कारण तो भारतीय उपमहाद्वीप की विशिष्ट स्थिति है जहाँ भयंकर बाढ़ों और सूखों के प्रकोप प्रायः देखने में आते हैं, पर इसका एक कारण वैदिक जनों का अधिकाधिक भूमि प्राप्त करने का पागलपन भी था, जिसके चलते उन्होंने इस क्षेत्र के जंगलों को जला कर खत्म कर दिया था। जंगलों की सफ़ाई केवल मैदानी क्षेत्र तक सीमित नहीं रही थी। लगता है, सरस्वती और इसकी सहायिका नदियों के पर्वतीय क्षेत्रों के जगलों को भी अछूता नहीं छोड़ा गया था। इन क्षेत्रों की लकड़ी काटकर इमारती उपयोग के लिए नदियों के माध्यम से आसानी से बहा कर लायी जा सकती थी। इससे पहले इस बात का ज्ञान न होने के कारण कि जंगलों का जलवायु के सन्तुलन में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, इस अन्धी दौड़ पर रोक नहीं लगायी जा सकी।

इस अविचारित भूमि-अधिग्रहण अभियान के कारण जलवायु का सन्तुलन बिगड़ गया : अतिवृष्टि और अनावृष्टि के दौर तेज़ हो गये। सरस्वती और इसकी सहायिका नदियों के पर्वतीय जलग्रहण क्षेत्रों में भूस्खलन और मैदानी क्षेत्र में भूक्षरण काफ़ी बढ़ गया। सरस्वती नदी का रंग लाल बताया जाता है। बाढ़ के दिनों में इसके पानी के भीतर गाद की बढ़ी हुई मात्रा के कारण इसका जल केरल की नदियों की तरह गेरुआ-सा रंग ले लेता रहा लगता है। इस कचरे का प्रभाव

सरस्वती के समूचे प्रवाह-क्षेत्र पर पड़ा। यह क्षेत्र क्रमशः मरुभूमि में परिणत होने लगा। इस कचरे के जमाव से इसका मुहाना भी किंचित् अवरुद्ध हो गया, जिसे आज हम कच्छ के रन के रूप में पाते हैं।[1] अपने ही बहाव में लायी गयी मिट्टी के पटाव से इसकी पेटी भर कर उथली होने लगी। इन अवरोधों को काट कर अपना निकास बनाती हुई यह नदी अधिक तेजी से अपनी धाराएँ बदलने लगी और इस तरह तटीय बस्तियों के लिए सर्वनाश का-सा दृश्य उपस्थित करने लगी। पर्वतीय क्षेत्रों के स्खलनों के कारण इसके ग्रहण क्षेत्र का जल अपने लिए नये रास्ते बनाने लगा और इसकी निकास-क्षमता घट जाने के कारण इसमें मिलने वाली नदियों को भी अवरोधों का सामना करना पड़ा और उनकी धारा में भी विचलन आने लगा। यमुना ने अपनी धारा बदलते हुए क्रमशः एक नया निकास चुन लिया। सरस्वती से अलग होने के क्रम में इसने अनेक बार अपनी धाराएँ बदलीं और इनमें से कुछ के चिन्ह आज भी पहचाने जा सकते हैं।[2] ठीक यही नियति सतलुज की भी हुई। इन दोनों के अलगाव से सरस्वती की जलसम्पदा और कम हो गयी और इस कमी ने इसके प्रवाह-मार्ग को और अवरुद्ध किया। नदियों के प्रवाह की गति में कमी आने के बाद इनके मैदानी ग्रहण-क्षेत्रों से कट कर आने वाली मिट्टी इस धारा को क्रमशः पाटने का ही काम करती है। इस तरह सरस्वती एक जीवन्त और आसमुद्र प्रवहमान नदी के स्थान पर एक मरणासन्न नदी का रूप लेती गयी। इसकी धारा नौगम्य नहीं रह गयी। पर अन्तिम घटना जिसने इस रही-सही कमी को भी पूरा कर दिया, इतिहास की अविस्मरणीय आपदाओं में से एक बन गयी। यह थी एक भयंकर बाढ़ जिसकी भयानकता का अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता है कि इसे जल-प्रलय के समान माना गया। एक बार को लगा कि केवल सरस्वती घाटी ही नहीं, अपितु समस्त सृष्टि ही जल-मग्न हो गयी है।

जल-प्रलय

अपनी विपुल जल-सम्पदा के कारण सरस्वती पहले भी बाढ़ के दिनों में भयंकर और विध्वंसकारी नदी बन जाती थी। हम यह देख आये हैं कि इसे घोरा या भयंकर, पारवतघ्नी या अपने कगारों को तोड़ने वाली नदी कहा गया है।[3] इसके पर्वतीय भूस्खलनों का चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि यह पर्वत-शिखरों को उसी तरह तोड़ देती है जैसे कोई कमल-नाल को तोड़े।[4] एक ऋचा में उससे अनुरोध किया गया है कि वह अपनी बाढ़ की चपेट से स्तोता के धन-धान्य का नाश न करे।[5] इस बात की आशंका प्रकट की गयी है कि कहीं उसे ऐसा दिन न देखना पड़े कि सरस्वती के क्षेत्र को छोड़ कर अन्यत्र जाने की विवशता उत्पन्न हो।[6] उससे पुनः

प्रार्थना की गयी है कि वह स्तोता के घर-परिवार को सलामत रखे।[7] इन सभी विवरणों से इस बात का आभास मिलता है कि सरस्वती का क्षेत्र इस नदी की बाढ़ों से बुरी तरह प्रभावित होने लगा था और इस क्षेत्र में जीवन अधिक कष्टकर बनता जा रहा था और लोग इसे छोड़ कर अधिक निरापद क्षेत्रों की ओर जाने लगे थे।

पर इसके अन्तिम दौर में आयी भयंकर बाढ़ की तुलना किसी अन्य बाढ़ से नहीं की जा सकती। यह एक युगान्तकारी घटना थी। भारत में प्रलयंकारी बाढ़ें तो अकसर आया करती हैं और कम-से-कम उत्तरी भारत से परिचित होना इन बाढ़ों से परिचित होना है। डी. एच. गोर्डन लिखते हैं :

"जिन लोगों ने इन भयानक बाढ़ों को देखा है केवल उन्हीं की कल्पना में यह बात आ सकती है कि इतने प्रखर वेग से कितना विशाल जलभण्डार एकत्र हो कर प्रवाहित होता है और यही बात किसी प्लावन से होने वाले विनाश के विषय में भी कही जा सकती है। बीस फुट या इससे भी अधिक उठी हुई पानी की एक दीवार एक धारा में जिसकी गहराई यत्र-तत्र ही एक फुट से अधिक हो, उमड़ी चली आ रही है। उदाहरण के लिए, उस स्थल पर झेलम नदी का वह दृश्य जहाँ रेलकी लाइन को सड़क का पुल झेलम शहर से बाहर काटता है, लिया जा सकता है। एक मील से अधिक चौड़ी, एक गर्जना करती हुई तेज़ धारा को, जिसमें पेड़ों के तने माचिस की तीलियों की तरह चक्कर खाते दिखायी देते हैं, देखकर मन में सवाल पैदा होता है कि जल-प्रलय की घटना के साथ जिस विनाश-लीला की बात की जाती है, क्या उसके लिए जल-प्रलय का दौर ज़रूरी है?

"जबलपुर से नव मील पश्चिम की ओर भेड़ा घाट के पास नर्मदा के बाढ़-सूचक विन्दु सामान्यतया भी स्वयं नदी की धारा से इतनी अधिक ऊँचाई पर और इतनी दूर हैं कि अविश्वसनीय-से लगते हैं और इसी जगह पर सिर्फ एक बाढ़ द्वारा लायी गयी मिट्टी की अठारह फुट मोटी तह को खोद कर निकाली गयी सड़क को देखकर मिट्टी के जमाव और कटाव के प्रमाणों के आधार पर निकाले गये किसी निष्कर्ष को मानने की हिम्मत नहीं होती।"[8]

और इन भयंकर बाढ़ों के देश में जब सबसे भयंकर, सबसे विशाल और तटबन्धों के कटाव के लिए सबसे कुख्यात नदी सरस्वती की बाढ़ों में से भी एक असाधारण रूप से भयंकर और प्रलयंकारी बाढ़ का वर्णन हो जिसकी याद बाढ़ों के इस देश में भी हज़ारों वर्षों तक बनी रह गयी हो, जिसने इसकी सृष्टि की अवधारणा और प्रलय की कल्पना को भी बहुत गहराई से प्रभावित किया हो, जिसके साथ मात्र बाढ़ का प्रकोप ही नहीं अपितु समुद्री तूफ़ान और भूस्खलन तथा भूकम्प का भी दुर्योग घटित हो गया हो तो हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि उसकी भयंकरता और व्याप्ति क्या रही होगी। प्रलय के समय पंचभूतों के विखण्डन की जो कल्पना भारतीय चिन्तन में देखने में आती है वह इस जातीय अनुभव की ही

देन प्रतीत होती है।

इस घटना का कुछ सविस्तार उल्लेख, यद्यपि वह भी प्रसांगिक रूप में ही, शतपथ ब्राह्मण में आया है[9] और इसलिए जब-तब यह सोच लिया जाता है कि इस घटना का सम्बन्ध वैदिक काल से नहीं है और इसकी मूल कथा सम्भवतः पश्चिमी एशिया के स्रोतों से ली गयी है। पर शतपथ ब्राह्मण में भी यह एक बहुत प्राचीन घटना के रूप में ही दुहरायी गयी है। इसकी छाप केवल मनु की कथा में ही नहीं है, बल्कि इसे अन्य विवरणों में भी रूपकीय कलेवर में प्रस्तुत किया गया है।

ऋग्वेद में इस घटना का बहुत सांकेतिक उल्लेख अनेक रूपों में आया है। इनमें से एक इन्द्र की स्तुति में आयी ऋचा है जिसमें कहा गया है कि जिसने काँपती हुई धरती को स्थिर किया, क्षुब्ध पर्वतों को शान्त किया, आकाश को स्थिर किया और अन्तरिक्ष को मापा, वही इन्द्र है।[10] इसको मूल सृष्टि के विकास से जोड़ कर देखा जाता है और एक सीमा तक यह सही भी है। पर प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में पृथ्वी के काँपने और पहाड़ों के विकराल रूप धारण करने की कल्पना कोई भी नहीं कर सकता। कुछ विद्वान इस घटना का सम्बन्ध उस काल से जोड़ते हैं जब हिमालय पहाड़ अपने निर्माण की प्रक्रिया में था और उत्तर भारत की धरती में भूचालों का दौर बना हुआ था और वे जातीय स्मृति को भूगर्भीय कालों में खींच ले जाते हैं जो सर्वथा अकल्पनीय है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध सारस्वत चरण की इसी भयंकर दुर्घटना से है।

इसकी अगली ऋचा में वृत्र का वध करके समस्त नदियों को प्रवाहित करने का उल्लेख किया गया है और साथ ही पत्थर में आग पैदा करने की बात की गयी है।[11] पत्थर के लिए अश्मन् शब्द का प्रयोग हुआ है और सायण ने इसका अर्थ बादल किया है जो अस्वाभाविक नहीं है, पर प्राकृतिक विप्लव में धरती के फटने और भीतर से आग निकल पड़ने की घटना भी इसकी प्रेरक बन सकती है।

ब्राह्मणों में मनु की कथा के अतिरिक्त वृत्र-वध के जो विवरण हैं उनमें जल के बीभत्स या भयंकर रूप धारण करने और भयानक तबाही लाने और फिर उस जल के तेज गति से समुद्र की ओर वापस लौटने की चर्चा बार-बार आती है और इसके संकेत ऋग्वेद में वृत्र-वध के उन विवरणों में पाये जाते हैं जिनका सम्बन्ध प्रकृति-लीला से है। इन विवरणों को सूखे से निस्तार और बादलों में बिजली की कौंध द्वारा बादलों पर प्रहार करके पानी बरसाने की इन्द्र की महिमा से जोड़ा जाता है। पर यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि इसका उल्लेख प्राचीन काल में कभी एक बार असाधारण पराक्रम दिखाये जाने के रूप में ही किया जाता है। वर्षा के सन्दर्भ में इसमें भूतकालिक क्रिया के स्थान पर सामान्य वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग अधिक उपयुक्त होता।

यूरोपीय कथाओं में जल-प्रलय की जो कथाएँ प्रचलित हैं उनमें से

आइसलैंड की एक कथा वृत्र-वध की रूपकात्मकता को समझने में कुछ सहायक हो सकती है। इसके अनुसार प्रलय की बाढ़ एक विशालकाय दैत्य के वध पर उसके शरीर से निकलने वाले खून से आयी थी। इस कथा के मूल में वृत्र-वध की कथा हो सकती है और इसलिए मनु की कथा को कुछ समय के लिए स्थगित रखकर हम वृत्र-वध के विवरण पर पुनर्विचार कर सकते हैं, जिसने सन्दर्भों के अनुसार विविध रूप ले लिये हैं।

वृत्रः ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यत् इदं अन्तरेण द्यावा पृथ्वी स यत् इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्मात् वृत्रः नाम। तं इन्द्रः जघान। स हतः पूतिः सर्वत एव आपः अभि-प्र-सुस्राव सर्वत् एव हि अयं समुद्रः तस्मात् उ ह एका आपः बीभत्सान् चक्रिरे ता उपरि-उपरि अति पुप्रुविरे...।[12]

एगलिंग ने इसका जो अनुवाद किया है उसका हिन्दी रूपान्तर निम्न प्रकार होगा—"वृत्र ने पृथ्वी और आकाश के बीच के इस सारे अवकाश को घेर रखा था और चूंकि उसने समस्त अवकाश को घेर रखा था इसलिए उसका नाम वृत्र है। इन्द्र ने उसका वध किया। वध के बाद दुर्गन्ध देता हुआ यह सभी दिशाओं में समुद्र की ओर प्रवाहित हुआ, क्योंकि समुद्र चारों ओर है। और इसके परिणाम-स्वरूप जल ने भयंकर रूप धारण कर लिया और ऊपर बढ़ता हुआ वह चारों ओर बहने लगा...।" यहाँ "चारों ओर समुद्र है" के स्थान पर 'चारों ओर समुद्र का-सा दृश्य उपस्थित हो गया', अर्थ करना अधिक उपयुक्त होगा। वृत्र के वध की यह कथा यदि वृष्टि की कथा है तो यह एक असाधारण भयानक वृष्टि की कथा है जिसने बहुत बड़ी बर्बादी की थी। वृत्र की तुलना भयानक तूफ़ान और ड्रेगन से भी की गयी है। यह ऐसे विकट समुद्री तूफ़ान का रूपक है जिसमें नाभिकीय निर्वात के कारण तूफ़ान का केन्द्र तीव्र घर्षण से अग्निमुखी हो जाता है। वस्तुतः सामान्य वृष्टि से नहीं, अपितु इसी प्रकार की किसी असाधारण प्राकृतिक प्रकोप की घटना से इस कथा का और शतपथ ब्राह्मण में वर्णित वृत्र-वध और जलप्रलय के-से दृश्य का सम्बन्ध हो सकता है। इस बात को दुहराने की आवश्यकता नहीं कि ऋग्वैदिक कवि और उनके अनुवर्ती कवि और कथाकार एक ही रूपक का भौतिक-अति-भौतिक, इतने विविध रूपों में प्रयोग करते रहे हैं कि किसी एक ही व्यक्ति, देवता या असुर को[13] अनेक क्रियाओं और घटनाओं का प्रतीक बनाया गया है, और यही बात वृत्र पर भी लागू होती है।

इससे ऐसा लगता है कि मूल घटना के दो रूपकीय कथानक विकसित हुए थे—एक वृत्र-वध की कथा के रूप में और दूसरा मनु की कथा के रूप में। यदि इनका निर्गमन भारत से बाहर हुआ तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इससे केवल इतना ही नतीजा निकाला जा सकता है कि उक्त घटना निर्गमन से पहले की है। आर्यों के विदेश-सम्पर्क की दिशाओं के विषय में हम पहले विचार कर आये हैं और

यहाँ उसकी आवृत्ति की आवश्यकता नहीं।

मनु की कथा में मनु एक महामत्स्य की सहायता से एक नौका में बैठकर हिमालय की ओर यात्रा करते हैं। इस कथा का नौका वाला पक्ष गिलगमेश काव्य और बाइबिल की प्रलय-कथा में सुरक्षित रहता है, पर यूनानी संस्करण का नायक द्युकालियन नाव के स्थान पर बहुत बड़े सन्दूक का निर्माण करता है और यह सन्दूक पार्नेसस पर्वत पर जाकर टिकता है। अन्य ब्यौरे इन सभी कथाओं में लगभग एक जैसे रहते हैं।

जल-प्रलय की कथाएँ यूरोप की अन्य भाषाओं में विरल ही पायी जाती हैं, पर इनकी एक विशेषता पर ध्यान अवश्य जाता है कि ये मेसोपोटामियाई कथा या बाइबिल की कथा पर आधारित न होकर मूल कथा से सीधे विकसित हुई हैं।

जल-प्रलय में प्रधान भूमिका नदियों की बाढ़ की न होकर समुद्री तूफ़ान की है, जिसकी पुष्टि अधिकांश कथाओं में होती है। मूल घटना का क्षेत्र क्या था, इस बात को लेकर तरह-तरह के अनुमान लगाये जाते रहे हैं। दुर्भाग्य के एकाधिकार की इस राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। बाढ़ लगभग हर नदी में आती है और बड़ी नदियों की बाढ़ों से किसी भी क्षेत्र में काफ़ी तबाही आ सकती है, अतः किसी भी उपत्यका से भयंकर बाढ़ों के प्रमाण ढूँढ़े जा सकते हैं और इन्हें आधार बना कर यह कहा जा सकता है कि घटना-स्थल वही था। ऊर से कुछ इसी तरह के साक्ष्य वूली को मिले थे, यद्यपि इसके अन्य क्षेत्रों से प्राप्त स्तर को ध्यान में रखते हुए इसकी ऐतिहासिकता पर सन्देह व्यक्त किये गये हैं। वूली द्वारा जिस पहलू पर ध्यान नहीं दिया गया वह यह कि यह घटना नगर-सभ्यता के विकास के प्रथम चरण में ही मिलती है और इसके बाद उसी स्थल पर एक फूलता फलता नगर दिखायी देता है। यदि इस प्रकार की कोई भयानक आपदा का उस क्षेत्र से सम्बन्ध होता तो वहाँ के निवासियों की एकमात्र प्रतिक्रिया उस क्षेत्र से हट कर अन्यत्र जाने की और अधिक सुरक्षित स्थल पर अपनी बस्ती बसाने की होती। इसका दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह है कि दजला और फ़रात के क्षेत्र में बाढ़ तूफ़ानी प्रकोप और अतिवृष्टि से नहीं आती अपितु, इन नदियों के ग्रहण-क्षेत्रों में बर्फ़ के पिघलने से आती है, जब कि मेसोपोटामियाई और असीरियाई कथाओं में भी और इसके बाइबिल संस्करण में भी बाढ़ का प्रमुख कारण समुद्री प्रकोप माना गया है जिसके साथ भूगर्भीय उपद्रव भी जुड़ा हुआ था। इन सभी कहानियों में भी मोटे तौर पर जो समानताएँ पायी जाती हैं, उनके निम्न पहलू केन्द्रीय महत्व रखते हैं :

1. प्लावन का पूर्वाभास नायकको, या, कहें, उस जाति को जो इससे प्रभावित हुई थी, पहले ही मिल गया था और उसने इसकी अग्रिम तैयारी कर रखी थी। प्रकारान्तर से कहें तो, प्रभावित क्षेत्र में इस प्रलयंकर बाढ़ से पहले भी भयंकर बाढ़ें एक निश्चित मौसम में आती रहती थीं। (यह बात भारतीय भूभाग पर पूरी तरह

लागू होती है, यद्यपि दजला-फ़रात का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है।)

2. बाढ़ समुद्री तूफ़ान से आयी थी और ऐसा लगता था कि कहीं कोई बस्ती या कोई अंचल इससे अछूता नहीं बचा है। (यह बात केवल भारतीय क्षेत्र पर लागू होती है, पश्चिमी एशिया पर कदापि नहीं। दजला-फ़रात के क्षेत्र में जब बहुत बड़े पैमाने पर बाढ़ आती है तो भी यह स्पष्ट पता रहता है कि इसका प्रसार-क्षेत्र क्या है और उससे परे शरण लेने की बात बहुत आसानी से सोची जा सकती है। भारतीय क्षेत्र में जब बरसात में अनिश्चित अवधि और अनिश्चित गुरुता की बाढ़ें आती हैं तब पूरे-के-पूरे अंचल जलमग्न हो जाते हैं और यह पता नहीं चल पाता कि इसका कोई ओर-छोर भी है।)

3. इससे भयानक बर्बादी तो हुई ही थी, पर्वत-पर्यन्त धरती जलमग्न हो गयी थी। (यह निश्चित ही कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण कथन है पर यह भी भारतीय भूभाग पर ही लागू होता है जहाँ तराई के क्षेत्र से लेकर नदियों के मुहाने तक लगभग एक जैसी भयानक स्थिति पैदा हो जाती है।)

4. बाढ़ का झटका जैसे आरम्भ हुआ था वैसे ही गुज़र नहीं गया था, अपितु पानी लम्बे समय तक ठहरा रहा था। वृत्र वाले विवरण के अनुसार तो यह सड़ने लगा था। (यह बात भी पश्चिमी एशिया की बाढ़ों पर लागू नहीं होती, केवल भारतीय बाढ़ों पर लागू होती है।)

5. नौका धारा की उलटी दिशा में अर्थात् पर्वत की ओर बह चली थी। (यह पहलू दोनों ही क्षेत्रों के लिए किंचित अतिशयोक्तिपूर्ण है। पर मनु की कथा में इसे महामत्स्य खींचकर ले जाता है।)

6. स्थल का पता लगाने के लिए बेबीलोनी कथा के अनुसार पहले कबूतर, फिर अबाबील और अन्तिम बार कौआ छोड़ा गया था। बाइबिल की कथा के अनुसार तीनों बार कबूतर ही छोड़ा गया था। (कबूतर और अबाबील का उपयोग कभी तट या स्थल का पता लगाने के लिए नहीं किया जाता था। कारण, कबूतर की उड़ान इतनी लम्बी होती है कि यदि एक बार छूट गया तो जब-तब हज़ारों मील की उड़ान भर सकता है। अभी तीन वर्ष पूर्व एक कबूतर के यूरोप से उड़कर अटलांटिक पार करने की कहानी समाचार-पत्रों में प्रकाशित थी। दो-चार सौ मील की उड़ान इसके लिए कोई कठिन बात नहीं है। अतः कबूतरों का उपयोग सन्देश ले जाने के लिए तो किया जा रहा है और इस दृष्टि से ऐसे कबूतरों की भी हम कल्पना कर सकते हैं जिनका उपयोग नौचालक आफ़त में पड़ने पर सूचना भेजने के लिए करते रहे होंगे, पर स्थल का पता लगने के लिए नहीं। दूसरी बात यह कि यदि कबूतर हालतू हुआ तो वह अन्यथा भी उड़ान भरकर अपने पालक के पास आ सकता है। आबाबील का भी कभी स्थल का पता लगाने के लिए उपयोग नहीं किया जाता रहा है। वास्तव में बेबीलोनी और बाइबिल की कहानियों से यह नहीं

लगता कि वे इस बात से परिचित भी थे कि नौचालन में पक्षियों का उपयोग कैसे किया जाता है, उनके लिए ये सुनी-सुनायी बातें ही थीं। स्थल का पता लगाने के लिए वैदिक काल में भी भारतीय व्यापारी कौओं का प्रयोग किया करते थे। अपनी जंगली प्रकृति और अधिक न उड़ पाने की विवशता के कारण यह यदि स्थल न दिखायी दे तो लौटकर जहाज़ पर ही आ जाता था और यदि स्थल दीख गया तो उड़कर उस दिशा में चला जाता था। इससे स्थल की निकटता और दिशा दोनों का पता चल जाता था ; पश्चिमी जगत ने यह तरीका बाद में सीखा और यह तरीका कोलंबस के समय तक प्रयोग में आता रहा। पश्चिमी एशिया में कौआ एक अपरिचित-सा पक्षी था और जैसा कि बलहस्स जातक से प्रकट होता है, इसे अजूबा माना जाता था। भारतीय नाविकों ने ही इसका पहली बार प्रयोग आरम्भ किया था। अतः इस कथा के मूल में ही इस बात की सूचना मिलती है कि कथा की रचना से पहले या कथा को ग्रहण करने से पहले पश्चिमी एशिया के लेखक को भारतीय नाविकों और नौचालन की विधि का एक अधूरा-सा ज्ञान था। यह उक्त क्षेत्र में भारतीय प्रभावों की उपस्थिति का सूचक है और यह कथा इसी सम्पर्क की देन है जिसे बेबीलोनी और मेसोपोटामियाई परम्पराओं में तथा बाइबिल में कुछ अटपटेपन से एक और नयी रंगत देते हुए पेश किया गया है।)

7. स्थल पर पहुँचने पर कथानायक ने देवताओं के लिए यज्ञ किया या बलि दी थी। (यह भारतीय रीति का द्योतक है। यद्यपि बेबीलोन आदि में भी पशु बलि का चलन रहा हो सकता है।)[14]

8. इस घटना से इतनी बड़ी तबाही हुई थी कि इसके समाप्त होने के बाद लगा था, हर चीज़ नये सिरे से शुरू हो रही है।

ऊपर के इन कतिपय निर्णायक पहलुओं पर ध्यान न देने के कारण अधिकांश विद्वान यह मानते रहे हैं कि यह घटना भारत में न घटित होकर सुमेरिया में घटित हुई थी और इसने एक कथाबद्ध रूप लेने के बाद आर्यों के साथ भारत में प्रवेश किया। रोमिला थापर भारतीय सन्दर्भ में इस बाढ़ का सम्बन्ध सिन्धु की बाढ़ से जोड़ने का प्रयत्न करती हैं जिसकी तिथि लगभग 2000 ई. पू. और मस्का संशोधन के बाद 2400 ई. पू. से पहले नहीं जाती। अतः 3102 ई. पू. के पौराणिक काल से इसकी दूरी को ध्यान में रखते हुए वह इसे मूलतः मिथकीय और सम्भवतः सुमेरियाई क्षेत्र से आयत्त मानती हैं जहाँ उनके अनुसार इसकी पुष्टि पुरातत्व से भी होती है।[15] सरस्वती की बाढ़ को सिन्धु नदी में पहुँचा कर उसकी तिथि नियत करने का औचित्य और फिर इसके अनुपयुक्त होने पर इसे छोड़ देने और भारतीय कथा को सुमेरिया से आयी हुई बताने के पीछे जो भी तर्क हो, इसे समझने में हमें कठिनाई होती है।

चूँकि इस उपद्रव में समुद्री तूफ़ान का प्रमुख हाथ था, अतः इस पहलू को लेकर

भी कुछ विद्वानों ने इस समस्या पर विचार किया है।[16] सोलेस के कथनानुसार इस प्रकार के महाप्लावन के लिए जिस उग्रता के समुद्री तूफ़ान की ज़रूरत है वह फ़ारस की खाड़ी में यदि पहुँच भी सकता है तो अंडमान से शुरू होकर ही। पर यहाँ तक पहुँचने पर इसकी उग्रता वही नहीं रह जायेगी। वह लिखते हैं, "पूर्वी भारत में अंडमान द्वीप-समूह के पास एक ऐसा केन्द्र है जहाँ से विश्व के कुछ सबसे भयंकर तूफ़ान उठा करते हैं। कमोबेश उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ते हुए ये तूफ़ानी चक्रवात बंगाल की खाड़ी को रौंदते हुए समुद्र में पहाड़ों जैसी ऊँची लहरें पैदा करते हैं जो अकसर निम्न अंचलों के हज़ारों बाशिन्दों को अपनी चपेट में ले लेती हैं। 14 अक्तूबर 1737 को इसी तरह की एक लहर ने जिसकी ऊँचाई 40 फुट थी गंगा के कछार में बसे लोगों को अपनी चपेट में ले लिया था और इसमें 1,00,000 लोगों की जान गयी थी।

"सामान्यतः ये तूफ़ान फ़ारस की खाड़ी की ओर नहीं बढ़ते और उत्तरी अरब सागर इनसे अछूता रहता है। पर सूस ने 24 अक्तूबर 1842 को आये ऐसे ही एक तूफ़ान को नज़र में रखते हुए सुझाव दिया था कि जल-प्रलय के मामले में पूर्वी भारत से उठा एक तूफ़ान अपने रास्ते से भटक गया होगा और ग़लती से फ़ारस की खाड़ी में पहुँच गया होगा। 1842 के तूफ़ान का मार्ग निम्न प्रकार था : 24 अक्तूबर को पाँच बजे यह पांडिचेरी पहुँचा। इसके बाद इसने अपना रास्ता बदल लिया और दक्षिण-पश्चिम को मुड़ गया और 25 को दोपहर के समय इसने पश्चिमी घाट को पार किया और दो हिस्सों में बँट गया। दक्षिण वाली शाखा से हमारा कोई सरोकार नहीं। उत्तरी केन्द्र उत्तर-पश्चिम की ओर फ़ारस की खाड़ी की ओर बढ़ा और इसका असर अदन की खाड़ी तक अनुभव किया गया। रास्ते में इसने कई जहाज़ों को नष्ट कर दिया।

"इन तूफ़ानी लहरों की अधिकतम ऊँचाई 40-45 फुट हुआ करती है और जैसा कि सूस ने संकेत किया है, निज़िर की पहाड़ियों तक समूचे मेसोपोटामिया को जलमग्न करने के लिए हमें बहुत बड़ी लहर की आवश्यकता होगी...हमें जिन समुद्री तूफ़ानों या भूचालों का विवरण प्राप्त है उनमें से कोई, या इन दोनों का सम्मिलित प्रभाव भी, समुद्र के पानी को इतनी ऊँचाई तक नहीं पहुँचा सकता कि उसकी लहर बग़दाद तक भी पहुँच सके।...यदि यह मान भी लें कि फ़रात की घाटी यहाँ (निज़िर की पहाड़ियों) तक डूब गयी थी और फिर चौदह दिनों के बाद अपनी पहली अवस्था को लौट आयी थी तो हमारे सामने एक ऐसी आपदा उपस्थित होती है जो उग्रता की दृष्टि से ही विकराल नहीं थी बल्कि इसकी प्रकृति की व्याख्या करना हमारी मौजूदा शक्ति से बाहर है।"[17]

इसलिए सोलेस मानते हैं कि यह कथा 'मिथक के भीतर एक मिथक' है जिसमें दिये गये विवरण सर्वथा अविश्वसनीय हैं।[18]

मिथक को मिथक होने के लिए हम दोष नहीं दे सकते, न ही दोष दे सकते हैं इसे अपने भीतर एक और मिथक छिपाए रखने के लिए। हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि प्रकृति की किसी विडम्बना से इस तरह के उपद्रव का कोई असर मेसोपोटामिया पर हो सकता था तो वह भी बंगाल की खाड़ी में उठे तूफ़ान के ही कारण। इस तरह के तूफ़ान और इनसे पैदा होने वाली बर्बादी का शिकार भारत को प्रायः होना पड़ता है। पर तटीय क्षेत्र को छोड़कर शेष भारत में इसका असर भयानक झंझावात और इससे जुड़ी हुई हफ्तों चलने वाली मूसलाधार बरसात और इससे उत्पन्न भयंकर बाढ़ों के रूप में ही होता है। इन तूफ़ानों से अरब सागर का उत्तरी भाग तो सुरक्षित रहता है, पर वह इस कारण कि प्रायः ये अरब सागर को छूकर फिर भारत की ओर लौट पड़ते हैं और सामान्यतः महाराष्ट्र या गुजरात के आस-पास फिर भारतीय भूभाग में प्रवेश करते हैं और इस वापसी में भी तटीय क्षेत्रों में भारी बर्बादी और देश के भीतरी हिस्से में भारी वृष्टि करते हैं। जहाँ तक सरस्वती क्षेत्र का सवाल है यह बंगाल की खाड़ी से उड़ीसा या बंगाल के पास से भारतीय भूभाग पर प्रहार करने वाले तूफ़ानों से भी प्रभावित हो सकता है और गुजरात के आस-पास से इसकी उलटी चपेट से भी। 1984 में केवल एक दिन के अभ्रपात(क्लाउड बर्स्ट) से रोहतक नगर में नौकाएँ चलने की स्थिति पैदा हो गयी थी।

अतः यदि इस उपद्रव की सम्भावना मेसोपोटामिया में नगण्य है तो भारत में इसके गम्भीर प्रभाव की हर सम्भावना दिखाई देती है। इस विशेष दृष्टि से इसको या तो पश्चिमी एशिया में ढूँढ़ने या कोरी कल्पना कहने के दो विकल्पों से अलग एक तीसरे विकल्प की बात अवश्य सोची जानी चाहिए थी और वह था भारत में इसके घटित होने की सम्भावना।

मेसोपोटामियाई और बेबीलोनी व इतर कहानियों के कुछ अन्य पहलुओं पर यदि कुछ बारीकी से विचार करें तो इनकी मिथकीय निर्मिति के भीतर जो सूत्र छिपे हैं वे भारत की ओर संकेत करते हैं।[19] उदाहरण के लिए, गिलगमेश काव्य का नायक जिस क्षेत्र का निवासी है, यह घटना उस क्षेत्र की नहीं है। यह कथा उसे लम्बी यात्रा के बाद, जब वह उत्नापिष्टिम के देश में पहुँचता है तब उनसे सुनने को मिलती है। उत्नापिष्टिम का नाम स्वतः आर्यभाषा का शब्द प्रतीत होता है— उत्तानपृष्ठ (तु. उत्तानपाद)। संक्षेप में कहें तो, अमरता का रहस्य जानने के लिए गिलगमेश को एक लम्बी, कष्ट और जोखिम-भरी यात्रा पर जाना होता है। उत्नापिष्टिम, जिनको अमरता का रहस्य मालूम है, उसी सुदूर देश में रहते हैं। अपनी कष्टकर यात्रा के बाद नायक पासू (फ़ारस ?) की ऊँची पर्वत-शृंखला के पास पहुँचता है जहाँ वह दरवाजा है जिससे सूरज अपनी दैनिक यात्रा पर निकलता है। यह द्वार, ज़ाहिर है, नायक के निवास-क्षेत्र से पूर्व की ओर ही हो सकता है। इस

दरवाज़े पर बिच्छू या वृश्चिक(बलूच ?)जाति के दो पहरेदार पहरा देते हैं जिनकी आँखों से मौत झाँकती है, और जिनकी गरिमा पूरे पहाड़ पर छायी है। फिर दो दिनों की यात्रा के बाद वह अँधेरी सुरंग को पार करता है जिसमें से होकर गुज़रते समय उसे कुछ दिखायी नहीं देता। (यह भारत के पश्चिमोत्तर के दर्रों को पार करने की सुनी हुई कहानी पर आधारित विवरण है। अब यदि पासू के ऊँचे पहाड़ और उस दरवाज़े पर, जिससे होकर सूरज अपनी यात्रा पर निकला करता है, ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायेगा कि पासू वास्तव में पारस या फ़ारस है और यहाँ उससे पूर्व की ओर खुलने वाले दरवाज़े या भारत की ओर जाने वाले दर्रे का संकेत है और पुनः दर्रों की यात्रा को सुरंग की यात्रा के रूप में पेश किया गया है। जिस ज़माने की यह घटना और इसका विवरण है उस ज़माने में सुरंग जैसी किसी अन्य चीज़ की ओर वह भी दो दिनों की यात्रा वाली सुरंग की कल्पना की ही नहीं जा सकती।) इस सुरंग को पार करने के बाद वह सुन्दर पेड़ों, कीमती पत्थरों, रमणीक लताओं और फलों के देश में पहुँचता है। (यहाँ पुनः भारत का उल्लेख बहुत स्पष्ट है और यदि हम सातवीं-आठवीं शताब्दी के अरब व्यापारियों के भारत-विषयक विवरणों पर ध्यान दें तो इन दोनों में असाधारण समानता मिलेगी।)[20] फिर वह दूर समुद्र की कोर पर देवी परिचारिका सीदूरी को देखता है और उससे उत्ना-पिष्टिम से मिलने की इच्छा व्यक्त करता है। उसके वर्जित करने पर भी जब वह नहीं मानता तो वह उसकी सहायता के लिए एक मल्लाह देती है। एक बहुत भयानक यात्रा के बाद दोनों समुद्र के पार पहुँचते हैं, उत्नापिष्टिम के देश में। (यहाँ भारत को आने वाले समुद्र-मार्ग का स्थल-मार्ग पर आरोपण हो गया लगता है जो मिथकीय विवरणों के सर्वथा उपयुक्त ही है, जिनकी रचना-प्रक्रिया जातीय स्मृति में आने वाले विपर्ययों के कारण स्वप्न-प्रक्रिया से काफ़ी मिलती-जुलती होती है।)

बूढ़े उत्नापिष्टिम की काया अत्यन्त कृश है (जो पुनः भारतीय तपस्वियों की याद दिलाती है और इस तरह की साधना हड़प्पा काल में भी प्रचलित थी इसे पशुपति की उस आकृति को सामने रखकर समझा जा सकता है जिसका अंकन हड़प्पा की मुद्राओं पर हुआ है)। इनसे गिलगमेश अमरता का रहस्य पूछता है। (जो कठोपनिषद के नचिकेता की उत्सुकता की याद दिलाता है। यह स्मरण रखना होगा कि कठोपनिषद का कथाधार अत्यन्त पुराना है। नचिकेता उशनस् का पुत्र है, जिसके नाम का साम्य सुमेरी क्षेत्र में पहुँचने वाले और वहाँ सभ्यता का आरम्भ करने वाले नेता 'ओएनस' से मिलता-जुलता है। उशना का उल्लेख ऋग्वेद में भी बार-बार आता है।)[21]

गिलगमेश की उत्सुकता को देखकर उसके प्रश्नों का उत्तर देते हुए ही उत्ना-पिष्टिम उसे जल-प्रलय की कहानी सुनाते हैं। प्रकारान्तर से कहें तो, यह घटना

उस क्षेत्र में नहीं घटित हुई थी जिसके निवासी गिलगमेश हैं, अपितु वहाँ घटित हुई है जहाँ के निवासी उत्नापिष्टिम हैं और इस तरह गिलगमेश की कथा से भी घटनास्थल भारत ही सिद्ध होता है।

यहाँ हम जिस तथ्य पर बल देना चाहते हैं वह यह कि इस घटना से सरस्वती क्षेत्र का सम्बन्ध था और जिस घटना का दुष्प्रभाव इतना गहरा पड़ा हो कि इसकी तुलना समस्त सृष्टि के संहार से की गयी हो उसकी वास्तविक भयावहता निश्चय ही इतनी उग्र तो रही ही होगी कि सरस्वती क्षेत्र के भुक्तभोगियों में से बहुत-से लोग इस क्षेत्र को सदा के लिए छोड़कर अधिक सुरक्षित क्षेत्रों की ओर पलायन करने को बाध्य हुए होंगे। यूनानी, रोमन, आयरी और आइसलैंडी कथाओं से यह प्रकट होता है कि इनमें जिन स्रोतों से ये कहानियाँ पहुँचीं वे भारत से इस घटना के बाद बाहर गये होंगे। फ़ीनीशियनों की यह दन्तकथा भी इस दृष्टि से कुछ कम रोचक नहीं है जिसके अनुसार फ़ीनीशियन अपने मूल देश को भूकम्पों के प्रकोप के कारण छोड़ने पर मजबूर हुए थे और वे अपने भूमध्य सागरीय क्षेत्र में 2500 ई. पू. में पहुँचे बताये जाते हैं।[22] इन सभी विवरणों से हम इस घटना का काल 3000 ई. पू. के आस-पास पाते हैं।

जहाँ तक पुरातात्विक साक्ष्यों का प्रश्न है, भारतीय भूभाग में इस घटना की सम्भावना पर विचार करते हुए विद्वानों का ध्यान उन भयंकर बाढ़ों की ओर गया जिनका सामना मोहनजोदड़ो को अपने आरंभिक दौरों में करना पड़ा था, पर इन्हें काल-क्रम को ध्यान में रखते हुए स्वीकार्य नहीं पाया गया।[23] परन्तु क्या इसे इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि कुछ शताब्दियों तक पश्चिम भारतीय भूभाग भूगर्भीय अस्थिरता से प्रभावित रहा था?[24]

वैदिक व्यापारी जो अभी मुख्य रूप से सरस्वती के क्षेत्र में हीं बसे हुए थे इन घटनाओं से अप्रभावित नहीं रह सकते थे। हमारे सामने सरस्वती क्षेत्र से नगर और व्यापार केन्द्रों के पश्चिम की ओर हटने का यदि कोई संगत कारण दिखायी देता है तो उनमें से यह प्रमुख कारण है। इस भयानक बाढ़ ने सम्भवतः सरस्वती की धारा को और दूसरी ओर इसके उद्गम-क्षेत्र को—भूस्खलनों के कारण—इस तरह प्रभावित किया कि इसके ग्रहण-क्षेत्र और निकास बदल गये। इसमें बहकर आने वाला पानी यमुना और गंगा की ओर मुड़ गया। वस्तुतः महाभारत में तो इस घटना को भी गंगा-तट से जोड़ दिया गया है। पौराणिक कल्पना के अनुसार सरस्वती धरती के नीचे बहती हुई प्रयाग में आकर उस विन्दु पर गंगा और यमुना से मिलती है जिसे त्रिवेणी कहा जाता है। इस रूपकीय कल्पना के पीछे यह सच्चाई है कि सरस्वती के ग्रहण-क्षेत्र की जल-सम्पदा ने गंगा और यमुना के निकास-मार्ग अपना लिये। पुराणकारों की अपनी भौगोलिक सीमा न रही होती तो शायद इतने ही औचित्य से वे यह भी कह सकते थे कि सरस्वती अदृश्य रूप में सिन्धु में भी जा

मिलती है। कारण, एक ओर तो यमुना ने सरस्वती से हट कर बेतवा के मार्ग को पकड़कर गंगा का रास्ता अपनाया और दूसरी ओर सतलज ने सरस्वती से हटकर सिन्धु का रास्ता।

भयंकर बाढ़ों के दो उलटे परिणाम हुआ करते हैं। एक ओर तो ये नदी की धारा को और गहरी कर देती हैं, पर इसके विपरीत जब बाढ़ अधिक भयावनी हो और इसकी जलराशि के कारण जल-थल का भेद मिटाता हुआ पानी बहुत बड़े पाट के साथ बहने लगे तो इसके ठीक विपरीत मुख्य धारा नदी की बाढ़ में लायी हुई रेत और मिट्टी से पट जाती है। यह पटाव जब-तब नदी-द्वीपों की शक्ल ले लेता है, पर यदा-कदा पूरे पाट में बिखरी मिट्टी इसकी धारा को पाट कर इसे निरर्थक बना देती है और यदि इसका ग्रहण-क्षेत्र भी प्रभावित हो, उसका जल अन्य दिशाएँ ले ले तो कम जल ग्रहण के साथ नदी मरने लगती है। यह केवल बरसाती नदी बनकर रह जाती है और क्रमशः लुप्त होती जाती है। सरस्वती के साथ भी यही हुआ। यद्यपि इसका आरम्भ इस महाप्लावन की घटना के साथ ही हुआ लगता है, पर इसे अपनी अन्तिम परिणति तक पहुँचने में हज़ारों वर्ष का समय लगा होगा।

नदी के मरने में जितना भी समय लगा हो, पर इसकी व्यापारिक उपयोगिता समाप्त होने में अधिक समय नहीं लगा होगा। और अब सारस्वत व्यापारियों की नये केंद्रों की तलाश किसी ऐसी नदी के तट पर आरम्भ हुई जिसका प्रवाह अजस्र और समुद्र-पर्यन्त हो। यही चरण है जब सरस्वती घाटी के केन्द्र सिन्धु और इसकी सहायिका नदियों के तटों पर बनने लगते हैं। चूंकि इन नगरों की स्थापना विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुँचने के बाद सोच-विचार के बाद की जाती है, अतः इनकी स्थापना के समय से ही एक सुनियोजित नगर-योजना दिखायी देती है।

महादुर्भिक्ष

जल-प्लावन की घटना पर विचार करते समय इसे आबादी के स्थानान्तरण से जोड़ने का प्रयास नहीं किया गया। जहाँ इसकी ऐतिहासिकता को ही सन्दिग्ध बना दिया गया हो, या इसे एक भिन्न क्षेत्र से सम्बद्ध माना जाता रहा हो वहाँ इसकी आशा भी नहीं की जा सकती। आश्चर्य तब होता है जब सुमेरिया में भी इसके साथ किसी प्रव्रजन की सम्भावना की तरफ़ ध्यान देने की ज़रूरत नहीं समझी गयी। कारण स्पष्टतः यह था कि जिस क्षेत्र से बाढ़ के प्रमाण जुटाये गये वहीं पर इसके अविच्छिन्न क्रम में सभ्यता के जारी रहने के प्रमाण मौजूद थे, अतः स्थानीय आबादी को डुबा भी दिया गया और सकुशल बचा भी लिया गया।

पर एक अन्य घटना का सम्बन्ध आर्यों के सरस्वती घाटी से हटकर मगध में पहुँचने से जोड़ा जाता रहा है। यह अग्नि वैश्वानर के प्रकोप से विदेघ माथव का अपने पुरोहित राहूगण के साथ पूर्व की दिशा में अभियान है। इस घटना की व्याख्या कुछ इस प्रकार की गयी है मानो यह कोई आक्रमण रहा हो और वैदिक जन अपने रास्ते में आने वाली बस्तियों को जलाते हुए आगे बढ़े हों।

शतपथ ब्राह्मण की इस कथा पर टिप्पणी करते हुए एगलिंग लिखते हैं, "इस महत्वपूर्ण कथा की ओर सबसे पहले प्रो. वेबर (इंडि. स्टू. I, 170 और आगे; देखें इंडि. स्ट्रा. 1, पृ. 13; जे. म्योर संस्कृत टेक्स्ट्स 2, पृ. 402 भी) ने ध्यान आकृष्ट किया था। वेबर ने इस बात का संकेत किया था कि इस कथा से ब्राह्मण-वादी भारतीयों के पूर्व की दिशा में प्रव्रजन के तीन क्रमिक चरणों का बिलगाव हो जाता है। पहली बार आर्यों की बस्ती पंजाब से (जहाँ वे ऋग्वेद के रचना-काल में बसे हुए थे) सरस्वती घाटी तक फैल चुकी थी। हमारी इस कथा के अनुसार वहाँ से वे विदेघ माथव और उनके पुरोहित के नेतृत्व में पूर्व की ओर सदानीरा तक (अर्थात् वह जो सदा जल से भरी रहती है) बढ़ गये थे, जो सायण के अनुसार कर-तोया (आधुनिक कुरत्ती, जिस पर बोगरा स्थित है) है, जो विदेह की पूर्वी सीमा थी (देखें ब्रा. 17)। हमारी इस कथा से ऐसा लगेगा कि कुछ समय तक आर्यों का साहस इस नदी को पार करने का नहीं हुआ था, पर इस कथा के लेखक के समय से बहुत पहले से यह क्षेत्र उनके अधिकार में आ गया था। सायण इस कथा के नायक को माधव या मधु का पुत्र मानते हैं, पर विदेघ, जो विदेह का प्राचीनतर रूप है, ही (जैसा कि वेबर मानते हैं) शायद यहाँ इष्ट है, जो उस क्षेत्र (जो आधु-निक तिरहुत से मिलता-जुलता है) और इसके निवासियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अग्नि वैश्वानर (वह अग्नि जो सार्वजनिक है) को इस आख्यान में वेबर ब्राह्मण-वादी आराधना और सभ्यता का और इसके विनाशकारी प्रभावों का मूर्त रूप मानते हैं।"[25]

इसके बाद विभिन्न अध्येताओं ने[26] इसी मान्यता को मामूली हेर-फेर के साथ दुहराया है। कोसम्बी इसे जंगल जलाकर दलदली ज़मीन को खेती के उप-युक्त बनाने के अभियान से जोड़ते हैं और मानते हैं कि यह यात्रा तराई के क्षेत्र से होकर की गयी थी।[27] गोविंदन्चन्द्र पाण्डे इसकी तुलना महाभारत के खाण्डव वन-दहन से करते हैं।[28]

इस कथा में तिरहुत क्षेत्र में वैदिकों के प्रवेश का विवरण बहुत स्पष्ट है। इस विषय में भी कोई सन्देह नहीं रहने दिया गया है कि इस क्षेत्र में आकर बसने वाले सरस्वती क्षेत्र से आये थे। परन्तु इसके दो पहलुओं पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। ये हैं प्रव्रजन का काल और कारण।

इस कथा का आरम्भ यज्ञ प्रक्रिया में 'हिं', 'प्र', आदि के उच्चार का और

इनकी उच्चारण की पद्धति का महत्व समझाते हुए होता है और इसका सम्बन्ध सम्भवतः वाजपेय यज्ञ से है। इस यज्ञ का लक्ष्य है अन्न की प्राप्ति।[29] इसी प्रसंग में विदेघ माथव की यात्रा का उल्लेख एक दृष्टान्त रूप में आया है :

विदेघ माथव (कभी प्राचीन काल में वीतिहोत्र या वाजपेय यज्ञ कर रहे थे और उस समय) अपने मुख में अग्नि वैश्वानर को धारण किये हुए थे। गौतम राहूगण उनके पुरोहित थे। उन्होंने विदेघ को मन्त्र बोलने को कहा, पर विदेघ ने इस भय से कि कहीं अग्नि उसके मुख से गिर न जायें, कोई जवाब नहीं दिया। अब उन्होंने ऋग्वेद का एक मन्त्र पढ़ते हुए विदेघ का आह्वान किया, "वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तं अध्वरम्। ओ विदेघ!" उसने फिर कोई जवाब नहीं दिया। पुरोहित ने पुनः मन्त्र पढ़ा, "उत् अग्ने शुचयः तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींषि अर्चयः। ओ विदेघ!" उसने फिर जवाब नहीं दिया। पुरोहित ने आगे मंत्र पढ़ा, "तं त्वा घृतस्नवीमह..." अभी उसने इतना ही कहा था कि अग्नि वैश्वानर राजा के मुँह से फूट पड़े : वह उन्हें रोक नहीं पाया; उसके मुँह से निकलकर वह धरती पर आ गिरे। उस समय विदेघ माथव सरस्वती के तट पर थे। (या सायण के अनुसार वह अग्नि द्वारा उत्पन्न दाह को शान्त करने के लिए सरस्वती में कूद पड़े थे और उसी में थे। पाद-टिप्पणी।) इसके बाद वह जलते हुए पूर्व की ओर बढ़े और गौतम राहूगण तथा विदेघ उनके पीछे-पीछे चले। उसने सारी नदियों को जला दिया। अब चूँकि वह नदी जिसे सदानीरा कहते हैं, उत्तर-गिरि (हिमालय) से निकलती है, इसलिए इसे उसने नहीं जलाया। उसे ब्राह्मण पहले पार नहीं करते थे। सोचते थे कि इसे अग्नि वैश्वानर ने अभी जलाया नहीं है। पर आजकल बहुत-से ब्राह्मण इससे पूर्व की ओर हैं। उस समय यह (सदा-नीरा से पूर्व का भाग) बहुत बंजर, बहुत दलदल-भरा था; कारण, अग्नि वैश्वानर ने इसका स्वाद नहीं लिया था। पर आजकल यह बहुत कर्षित है, क्योंकि ब्राह्मणों ने यज्ञ द्वारा इसे अग्नि को चखा दिया है। कड़कती गर्मी में भी जब अन्य क्षेत्र सभी की तरह झुलसते रहते हैं यह तीव्र गति से प्रवाहित होती है। यह इतनी ठण्डी है, क्योंकि इसे अग्नि वैश्वानर ने बहुत अधिक नहीं जलाया है। अब विदेघ माथव ने अग्नि से पूछा, "मैं कहाँ निवास करूँ?' उसने कहा, 'तुम्हारा निवास इस नदी से पूर्व की ओर हो।' आज भी यह नदी कोशल और विदेह की सीमा-रेखा है, क्योंकि ये माथव हैं।[30]

इससे आगे राहूगण विदेघ से पूछते हैं कि उन्होंने आह्वान करने पर जवाब क्यों नही दिया और वह इसका कारण बतलाते हैं और फिर कहते हैं कि जब पुरोहित ने 'घृतस्नवी' वाला मन्त्र पढ़ा तो क्या हुआ और अग्नि कैसे उनके मुँह से फूट पड़े और इसके बाद ब्राह्मण का रचनाकार कर्मकाण्डीय व्याख्या पर आ जाता है। वह ,अग्न आ याहि वीतये...' पढ़ने का महत्व समझाते हुए एक अन्य आख्यान सुनाता

है, "वह ऐसा इसलिए कहता है कि पहले ये लोक एक-दूसरे से मिले हुए थे और आकाश को तो कोई यूँ छू सकता था। फिर देवताओं ने इच्छा की कि इन लोकों को एक-दूसरे से अलग कैसे किया जाये ? हमारे लिए जगह कैसे बने ? फिर उन्होंने इन्हीं तीन शब्दों के मन्त्र 'अग्ने आ-याहि वीतये' को पढ़कर उच्छ्वास लिया और ये लोक एक-दूसरे से अलग हो गये और देवताओं के लिए बहुत सारी जगह तैयार हो गयी और इसीलिए जो व्यक्ति इस बात को जानते हुए यह मन्त्र पढ़ेगा उसे प्रचुर भूमि मिलेगी।" इत्यादि।

इस कथा का घटना काल बहुत पुराना है। इतना पुराना कि स्वयं ब्राह्मणकार ने जहाँ से इस कथा को लिया है, उसका अर्थ वह अच्छी तरह नहीं समझ पाया है और उसने अपनी ओर से नयी कहानी गढ़ ली है। कुछ पहलुओं को समझने में एगलिंग से भी ग़लती हुई है।

पहली बात तो सन्दर्भ की है। प्रसंग यज्ञ का है। यज्ञ के समय अग्नि को सम्मुख तो रखा जाता है जिससे अग्नि के लिए पुरोहित या आगे रखा हुआ सम्बोधन भी प्राप्त है, पर मुख में अग्नि को रखना असम्भव है। अतः मूल विवरण में 'मुखे' का अभिप्राय सम्मुखे रहा है, जिसे यहाँ ब्राह्मणकार ने वाचिक अर्थ दे दिया है। यह अर्थभ्रम इस बात का सूचक है कि यह विवरण परम्परालब्ध एक अन्य विवरण की ग़लत समझ पर आधारित है, और इससे यह प्रकट होता है कि मूल घटना का सम्बन्ध सुदूर अतीत से है।

इसकी पुष्टि इसी ब्राह्मण में दिये गये दूसरे अन्तर्वृत्त से भी होती है जो आदिम कृषि के चरण से सम्बन्ध रखता है जब जंगलों की सघनता के कारण ऐसा लगता था कि धरती और आकाश के बीच दूरी बहुत कम है और अपने लिए जगह बनाने या खेती के लिए ज़मीन तैयार करने के लिए आग लगाकर जंगलों की सफ़ाई की गयी और इस प्रकार देवों द्वारा अपने लिए धरती का या कृषि-योग्य भूमि का विस्तार किया गया और इस तरह के खुले मैदान से देखने पर आकाश और धरती एक-दूसरे से बहुत दूर हटे प्रतीत होने लगे। भूमि की सफ़ाई कृषि के लिए आग से जंगलों को जलाकर की गयी थी, अतः 'अग्न आ-याहि वीतये'—अग्नि अन्नवृद्धि के लिए हमारे पास आओ, की उक्ति इस सन्दर्भ में सार्थक थी, भले ही इस प्रकार का कोई मन्त्र पढ़ा गया हो या यह बाद के पुरोहितों की अपनी कल्पना रही हो। यदि इतनी प्राचीन घटना का हवाला ब्राह्मणों में यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्रों का महत्व प्रकट करने के लिए आ सकता था, तो यह सोचना युक्ति-संगत नहीं होगा कि यदि कोई दृष्टान्त पहली बार ब्राह्मणों में पढ़ने को मिलता है तो यह अनिवार्य रूप से ऋग्वेदोत्तर काल का ही होगा। इस प्रकार का पूर्वाग्रह तब और निराधार लगता है जब स्वयं इस ब्राह्मण में ही मूल घटना की प्राचीनता का उल्लेख है और इसकी पुष्टि अर्थभ्रम से भी हो रही है।

एगलिंग के अनुसार 'वीत्रिहोत्रं त्वा कवे...' मन्त्र द्वारा विदेघ के पुरोहित ने राजा को सम्बोधित किया। वस्तुतः इस मन्त्र को पढ़कर वह इस बात की अपेक्षा करता है कि राजा इस मन्त्र को दुहराये। मन्त्र स्वयं अग्नि की स्तुति में है और उसे ही सम्बोधित है।

'घृतस्नवी' का अर्थ है जल-वर्षक।[31] अग्नि वैश्वानर मुख्यतः सूर्य के लिए प्रयोग में आता है।[32] जिस प्राचीन प्रसंग को ब्राह्मण में स्थान दिया गया है वह वर्षा के लिए किये जा रहे यज्ञ का है। सामान्य विश्वास यह रहा है कि सूर्य अपनी किरणों से वायु की सहायता से जल का शोषण करता है और यह जल द्युलोक में संचित रहता है और जब यज्ञ द्वारा इन्द्र—सूर्य—को प्रसन्न किया जाता है तब वृष्टि होती है।[33] विदेघ इसी आशा में यज्ञ कर रहे थे और सम्भवतः यज्ञ लम्बे समय से चल रहा था और सारे मन्त्र और उपचार व्यर्थ जा रहे थे। वह इतने बेहाल और निराश हो चले थे कि अब उनके कण्ठ से शब्द भी नहीं फूट रहे थे और अन्ततः वह अपना धीरज छोड़ बैठते हैं और यज्ञ से वृष्टि की आशा छोड़कर पूर्व की दिशा में जान बचाने के लिए चल पड़ते हैं। 'नशशाक धारयितुं' में अग्नि को मुँह में धारण न कर पाने से अधिक सार्थक है अपना धीरज न कायम रख पाना। यदि यज्ञ सामान्य स्थिति में राज्य-विस्तार के लिए था तो आरम्भ में ही विजयकामी राजा का धीरज खो बैठना कैसे उचित ठहराया जायेगा? पर यज्ञ की विफलताओं का भी ब्राह्मण किस तरह यज्ञ के महत्व को सिद्ध करने के लिए प्रयोग में ला सकते थे, इसकी यह एक अच्छी मिसाल है।

जो भी हो, दृष्टान्त में अग्नि वैश्वानर मुख से धरती पर गिरते हैं तो स्वयं वहाँ की धरती को जलाना आरम्भ कर देते हैं। क्या विजय पर चलने वालों ने सबसे पहले अपने घर में ही आग लगायी थी?

पूर्व की दिशा में बढ़ते हुए वे पाते हैं कि अग्नि वैश्वानर ने सभी नदियों को जला या सुखा डाला है, 'स इमाः सर्वा नदीः अतिददाह।' पानी में आग लगाना असम्भव को सम्भव सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त एक मुहावरा है। वेबर आदि ने इसे भी सच्चा सिद्ध कर दिया। इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए था कि इस पूरे विवरण में न तो किसी बस्ती को जलाने का उल्लेख है, न किसी को जीतने का का और सबसे पहले यह दाह सरस्वती क्षेत्र में ही अनुभव किया गया है और वहीं से अन्यत्र फैलता है, 'सरस्वत्यां स ततऽएव प्राक् दहन् अभि इयाय', और ये शरणार्थी जहाँ-जहाँ जाते हैं वहीं सूखे से झुलसा और उजड़ा हुआ इलाक़ा मिलता है। पर पाश्चात्य अध्येता आर्यों के आक्रमण और इनके बर्बर कारनामों को दिखाने की इतनी जल्दी में थे कि उन्हें इस पहलू पर विचार करने का अवकाश नहीं था।

सदानीरा के तट पर उन्हें पहली बार कुछ राहत मिलती है और इसका कारण यह बताया गया है कि यह सीधे हिमालय से निकलती है और दूसरा कारण यह कि

इसे अग्नि वैश्वानर ने अधिक नहीं जलाया था। यह उल्लेख पुन: यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त था कि यहाँ सन्दर्भ प्राकृतिक प्रकोप का है, न कि आगजनी का। अन्यथा यदि ये आक्रमणकारी नदियों में आग लगाते हुए बढ़ रहे थे तो फिर इसमें किसी नदी का हिमालय से निकलना क्या अर्थ रखता है ? उत्तर भारत की तो लगभग सारी प्रधान नदियाँ हिमालय से ही निकलती हैं। वास्तव में यह यात्रा सीधे पूर्व की ओर न होकर उत्तर-पूर्व की ओर है और यहाँ सदानीरा के उस विन्दु का उल्लेख है जहाँ उसकी धारा पहाड़ से निकल कर मैदान में प्रवेश करती है और इसलिए ऊपर की बर्फ़ के पिघलने से इसमें आया हुआ पानी तेज़ी से बह रहा है जो सूखा-ग्रस्त क्षेत्र की नदियों में बिलकुल सूख गया था। इस नदी के भी नीचे क्षेत्र में क्या स्थिति रही होगी, यह कहना कठिन है।

यदि किसी ने पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार का तराई क्षेत्र देखा है तो वह आसानी से समझ सकता है कि यह क्षेत्र सामान्य स्थितियों में निवास के योग्य नहीं रहा और इसका बहुत बड़ा हिस्सा इस शताब्दी के आरम्भ तक भी वीरान, कृषि के अनुपयुक्त, दलदल, घास, जंगल और मच्छरों और मलेरिया तथा फीलपाँव और गलगंड का क्षेत्र माना जाता रहा है। इस क्षेत्र को, तराई के इस हिस्से को, इस दुर्घटना से पहले कभी बसाने का प्रयत्न नहीं किया गया था। इससे पहले ब्राह्मण या वैदिक कृषिकर्मी तो इधर कदम रखते ही नहीं थे, मुमकिन है कुछ जंगली जातियाँ रहती रही हों, पर कथा में किन्हीं को हराने या जीतने का आभास तक नहीं है। अन्य सन्दर्भ भी केवल सूखे और अकाल के ही हैं कि 'जब दूसरे क्षेत्र जघन्य निदाघ में समी की तरह दहकते रहते हैं तब भी यह क्षेत्र शीतल बना रहता है और गर्मी और लू का यहाँ असर नहीं होता।' यदि आप विदेह की राजधानी जनकपुर, जो अब नेपाल में पड़ता है, पर दृष्टि डालें और पहाड़ से सीधे निकलने वाली सदानीरा के ऊपर ध्यान दें और उसके पार के क्षेत्र के पौराणिक महत्व पर ध्यान दें—ठीक इससे परे का क्षेत्र वाल्मीकि का आश्रम बताया जाता है और इससे कुछ ही आगे जनकपुर है—तो स्पष्ट हो जायेगा कि यहाँ लेखक का तात्पर्य किस इलाके से है। पुन: विदेघ जब पूछते हैं कि उनका निवास कहाँ हो तो उत्तर मिलता है, सदा-नीरा के पार। ध्यान देने की बात यह थी की यदि आगजनी से या जैसे भी केवल सदानीरा के आर का ही क्षेत्र जीता गया और सदानीरा के पार का क्षेत्र अप्रभावित रह गया तो फिर उस अविजित क्षेत्र में इनके जा कर बसने की क्या आवश्यकता थी ?

स्पष्टत: यह एक महान दुर्भिक्ष का वर्णन है जिसका विजय से कोई सम्बन्ध नहीं। दुर्भिक्ष इतना विकट है कि सरस्वती क्षेत्र में बसे हुए लोगों को, यहाँ तक कि साधन-सम्पन्न लोगों को भी आश्रय के लिए अन्य क्षेत्रों में भागने को मजबूर होना पड़ता है। इसकी भयावहता का कुछ अनुमान इस बात से लगाया जा सकता

है कि इससे उत्तर प्रदेश तक का पूरा उत्तरी भारत प्रभावित हुआ लगता है। प्रश्न केवल सारवस्त क्षेत्र का नहीं है। स्वयं सदानीरा के पार के अंचल की भी स्थिति भिन्न नहीं है। कारण, इस लम्बी अनावृष्टि का ही परिणाम है कि पहली बार इस क्षेत्र के दलदल तक सूख जाते हैं। इसके ठीक हिमालय की तराई में होने के कारण ही यह अनतिदग्ध रह गया है। पर जल के स्रोत के रूप में यहाँ भी वर्षा का नहीं, अपितु हिमालय से निकलने वाली इस नदी का ही गुण गाया गया है। इसी ब्राह्मण में यह उल्लेख आया है कि यह नदी ही अब कोसलों और विदेहों की सीमा-रेखा है। ज़रूरी नहीं कि कोसल जन इस क्षेत्र में विदेह के प्रयाण से पहले से बसे रहे हों। सम्भव है, वे भी इसी प्रकोप से ग्रस्त होकर इस क्षेत्र में आये हों और इनका प्रसार मुख्य रूप से सरयू के पार के क्षेत्र में ही रहा हो जो आगे चलकर सरयू-पारीण ब्राह्मणों की प्राचीनता और श्रेष्ठता का कारण बना हो। यदि ध्यान से देखें तो सरयू पार का क्षेत्र—बहराइच, गोंडा, बस्ती गोरखपुर और देवरिया का तराई क्षेत्र दलदल और मच्छरों तथा इनसे फैलने वाली बीमारियों तथा कतिपय आवश्यक खनिज तत्वों से रहित जल के लिए उतना ही बदनाम रहा है जितना सदानीरा का तराई क्षेत्र। अतः यदि सयानीरा को इस घटना से पहले पार करके इस व्याधिग्रस्त क्षेत्र में बसने का साहस नहीं किया जाता था तो इसको धार्मिक कारणों से जोड़ना उचित नहीं है। अथर्ववेद में सम्भवतः इसी क्षेत्र को तक्म का घर, महावृष और मूजवात, सोम —गन्ने—का क्षेत्र बताया गया है।

इस महादुर्भिक्ष के कारण जो सारस्वत केन्द्रों को अन्तिम कठोर आघात पहुँचता है, सरस्वती क्षेत्र की अर्थव्यवस्था एक लम्बे समय के लिए बिलकुल नष्ट हो जाती है। बाढ़ों की तरह दुर्भिक्ष भारत में प्रायः आते रहते हैं और इसलिए यह कह सकना कठिन है कि इस भयंकर और लम्बे दौर के दुर्भिक्ष का समय क्या हो सकता है, पर जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आये हैं, यह सम्भवतः वैदिक काल की घटना है जो परवर्ती अर्थभ्रम से प्रकट होता है। ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों या सारस्वत क्षेत्र में रचे गये मण्डलों में चतुर्थ मण्डल सबसे बाद का मण्डल बताया जाता है। इस मण्डल की रचना का श्रेय गौतम वामदेव को दिया गया है। विदेघ माथव के पुरोहित गौतम राहूगण हैं। इन दोनों में गौतम नाम का होना कुछ रोचक है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी मण्डल की एक ऋचा में एक भयंकर अकाल का वर्णन आया है जिसके भुक्तभोगी स्वयं वामदेव गौतम भी हुए थे। ऋचा निम्न प्रकार है :

> अवर्त्या शुनि आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्।
> अपश्यं जायां अमहीयमानां अधा मे श्येनः मधु आ जभार॥
>
> ऋ. 4.18.13.

इस ऋचा का रूपान्तर निम्न प्रकार होगा : मैंने धर्म-विचार त्याग कर कुत्ते की अँतड़ी पकाकर खायी, अपनी पत्नी को अपनी आँखों के सामने अपमानित होते

देखा। उस समय देवों में से किसी ने कोई राहत नहीं दी। अन्ततः हे श्येन (इन्द्र), तुम्हीं ने जल प्रदान किया।

यहाँ हमारा आशय इन दोनों विवरणों में प्रयुक्त 'मधु' और 'माधव' के साम्य पर बल देने का नहीं है। जल की प्राप्ति कब और कैसे हुई, इस विषय में इस ऋचा में कोई संकेत नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह कि अकाल इतना भयंकर था कि जान बचाने के लिए कुलीन परिवारों की स्त्रियाँ तक अपना सम्मान बेचने को बाध्य हो गयी थीं और धर्म-अधर्म का विचार छोड़ कर ऋषि गौतम वामदेव को कुत्ते की अँतड़ियाँ पकाकर खानी पड़ी थीं।

महाभारत में सम्भवतः इसी अकाल की कथा दुहरायी गयी है, जिसमें वामदेव गौतम के स्थान पर विश्वामित्र का नाम आया है, पर कुत्ते का मांस एक चाण्डाल के यहाँ से चुरा कर खाने का उल्लेख वहाँ भी आया है। कम-से-कम इतना तो उस कथा से भी जाहिर है कि इस अकाल का सम्बन्ध वैदिक काल से ही था। इस अकाल की भयंकरता इस बात से ही प्रकट होती है कि इसे युगसन्धि पर घटित होने वाला बताया गया है।[34] इसके कारण नदियों के संक्षिप्त-तोया होने और किन्हीं नदियों के पूरी तरह सूख जाने[35], तालाबों, कुओं, धाराओं के सूख जाने[36], सभाओं संस्थाओं और आश्रमों के समाप्त होने[37], कृषि और गोपालन, वाणिज्य और बाजार सभी के परित्याग, नगरों के उजड़ने और जीवन-रक्षा के लिए इधर-उधर पलायन करने का[38] और अपनी प्राणरक्षा की चिन्ता में विकल होकर एक-दूसरे को खा जाने[39] का वर्णन है और भयावहता की दृष्टि से इन तीनों विवरणों में एक संगति है।

और इस भयंकर अकाल ने, जिसका समय सारस्वत चरण का अवसान-काल प्रतीत होता है, सरस्वती घाटी को कुछ समय के लिए पूरी तरह से बर्बाद कर दिया। इस प्रकार इन दो प्राकृतिक विपर्ययों—जलप्लावन और दुर्भिक्ष—ने सरस्वती घाटी के केन्द्रों को पूरी तरह नष्ट कर दिया और सम्भवतः इसी चरण से वह दौर आरम्भ होता है जिसे परिपक्व हड़प्पा का दौर कहा जाता है। इस दौर की प्रधान नदी सरस्वती न रह कर सिन्धु हो जाती है। सरस्वती का उल्लेख नाममात्र के लिए और प्राचीन परम्परा के निर्वाह के लिए मात्र एक देवी के रूप में—वस्तुतः वाग्देवी के रूप में रह जाता है। पर यह सोचना युक्तिसंगत न होगा कि यह प्रसार केवल पश्चिम की ओर हुआ था। ग्राम संस्कृतियों का प्रसार पूर्व की ओर कम-से-कम पश्चिमोत्तर बिहार तक होता है। पर चूंकि व्यापारियों को जिनके व्यापारिक सम्पर्क पश्चिमी और मध्य एशिया से थे, अधिक उपयुक्त अंचल सिन्धु और उसकी सहायिका नदियों का ही प्रतीत हुआ था और चूंकि वैदिक साहित्य के मुख्य संरक्षक व्यापारी ही थे, अतः वैदिक साहित्य में इस क्षेत्र और इसकी गतिविधियों का ही मुख्य रूप से उल्लेख मिलता है। परिपक्व हड़प्पा के अवशेषों का

भी इसी अंचल तक सीमित रह जाने का यही कारण प्रतीत होता है।

इस चरण के बाद ही वैदिक परम्परा और पौराणिक परम्पराओं का एक क्षीण अलगाव हो जाता है, यद्यपि पुराण बहुत बाद तक लिखे जाते रहे हैं इसलिए उनमें वैदिक परम्परा को भी यथासाध्य समेटने का प्रयत्न किया गया है, पर यहाँ भी यह देखा जा सकता है कि इनका सम्बन्ध मुख्य रूप से ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों से जुड़ता है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. होल्डिच, टी. एच., 'फ़ीजिकल एस्पेक्ट्स', इंपी. गजै.; ब्रि. इं. I,30.
2. अग्रवाल और सूद, 'इकोलॉजिकल फैक्टर्स ऐंड दि हड़प्पा सिविलाइजेशन', हसि, सं. पोसेल, 1982, 223-29.
3. ऋ. 6.61.7.
4. ऋ. 6.61.2.
5. मा आपः स्फरी पयसा मा न आ धक्। ऋ. 6.61.14.
6. मा त्वत् क्षेत्राणि अरणानि गन्म। ऋ. 6.61.14.
7. जुषस्व नः सख्या वेश्या च। ऋ. 6.61.14.
8. डी. एच. गोर्डन, दि प्री-हिस्टॉरिक बैकग्राउंड ऑफ़ इंडियन कल्चर, 1960, 2-3.
9. शतब्रा. 1.8.1.
10. यः पृथ्वीं व्यथमानां अदृंहत् यः पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्।
    यः अन्तरिक्षं विममे वरीयः यः द्यां अस्तभ्नात् स जन आस इन्द्रः। ऋ. 2.12.2.
11. यः हत्वा अहिं अरिणात् सप्त सिन्धून् यः गाः उत् आजत् अपधा वलस्य। यः अश्मनोः अन्तः अग्निं जजान सं-वृक् समत्सु सः जनास इन्द्रः॥ ऋ. 2.12.3.
12. शतब्रा. 1.1.3.4-5.
13. उदाहरण के लिए नदी के तट वृत्र हैं, सोम या गन्ना पत्तियों में लिपटा होने के कारण वृत्र है, दस्युदल वृत्र है, आकाश को घेरने वाला बादल वृत्र है, आदि।
14. कीथ, कुप्पूस्वामी शास्त्री कमे. वा., 67-70.
15. रोमिला थापर, 1978, 255.

16. सोलेस, एज़ ऑफ़ दि अर्थ, 1905, 303-22.
17. वही 315-16.
18. वही, 320.
19. देखें, क्रैमर, 'दिलमुन : क्वेस्ट फ़ॉर पैराडाइज़', ऐंटीक्विटी, 37, 1963, 111-15, तथा 'दि इंड्स वैली सिविलाइजेशन ऐंड दिलमुन, दि सुमेरियन पैराडाइज़ लैंड', एक्सपेडीशन, 6,3,1964, 44-52.
20. देखें, सैयद सुलेमान नदवी, भारत और अरब के सम्बन्ध, 1930, 50-55.
21. ऋ. 1.51.10; 4.26.1; 5.29.9; 8.7.26; 9.87.3; 10.22.6, आदि ।
22. विल डुरांट, पूर्व., 294.
23. देखें रोमिला थापर, ऐंश्येंट इंडियन सोशल हिस्ट्री, 1978, 255.
24. डेल्स, 'सिविलाइज़ेशन ऐंड फ्लड्स इन दि इंड्स वैली', एक्सपेडीशन, 7,4, 1965, 36-43; राइक्स, 1965, 'मोहनजोदड़ो फ्लड्स', ऐंटीक्विटी, 39, 196-203, 'मोहनजोदड़ो फ्लड्स रिकंसिडर्ड', जर्नसोइं, 20,251-60; 'मोहनजोदड़ो इन्वायर्नमेंट', फ्रंइंसि, 455-60.
25. सैबुईसी., 12, 104.
26. कनिंघम, ऐंश्येंट इंडियन ज्याग्रफी, 1924, 40;कोसम्बी, पूर्व. 1946, 37; गोविन्दचन्द्र पाण्डे, स्टडीज़ इन दि ओरिजिन्स ऑफ़ बुद्धिज्म, 1957, 257; बैशम, दि वंडर दैट वाज़ इंडिया, 1967, 41, आदि ।
27. ऊपर ।
28. ऊपर ।
29. शतब्रा. 1.4.1.9.
30. एगलिंग के अनुवाद (सैबुईसी., 12, 104-6) का हिन्दी रूपान्तर ।
31. घृतं इति उदक नाम जिघर्न्तेः सिंचति कर्मणः । नि. 7.24; घृतं उदक नाम, नि. 1.12. घृत शब्द मूल संकल्पना घृ—क्षरण से निकला है । द्रव पदार्थों के लिए प्रयुक्त सभी शब्द मूलतः जलवाची है और इनका प्रयोग वैदिक काल में इस रूप में होता था । पाश्चात्य अनुवादकों ने प्रायः इनका इकहरा अर्थ लिया है ।
32. वैश्वानर शब्द को लेकर प्राचीन आचार्यों में भी खास विवाद रहा है, देखें, नि. 7.21-23. पर प्रमुख रूप से इसे सूर्य माना गया है, "तत् कः वैश्वानरः ? मध्यम इति आचार्याः...अथ असौ आदित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः...अथ अपि निवित् सौर्य वैश्वानरी भवति । नि. 7.22-23
33. बृहद्देवता 1.68-69.
गीता 3.14.

34. प्रजानां अतिवृद्धानां युगान्ते समुपस्थिते ।
त्रेता निर्मोक्ष समये द्वापर प्रतिपादने ।। शान्तिपर्व, 139.14.
35. नद्यः संक्षिप्त तोयौघाः कश्चिद् अन्तर्गताभवन् । 139.16
36. सरांशि सरितश्चैव कूपा प्रस्रवणानि च...।139.17.
37. उपशुष्क जलस्थाया विनिवृत्त सभा-प्रपा ।
निवृत्त यज्ञ स्वाध्यायाः निर् वषट्कार मंगला ।। 139.18.
38. उत्सन्न कृषि गोरक्ष्या निवृत्त विपणापणा ।
निवृत्त पूग समया संप्रनष्ट महोत्सवा ।।
अस्थिकंकाल संकीर्णा हाहाभूत जनाकुला ।
शून्य भूयिष्ठ नगरा दग्ध ग्राम निवेशना ।।
क्वचित् चौरैः कचित् शस्त्रैः क्वचित् राजभिः आतुरैः ।
परस्पर भयात् चैव शून्य भूयिष्ठ निर्जना ।।
ऋषयो नियमान् त्यक्त्वा परि त्यक्ताग्निदैवताः ।
आश्रमान् संपरित्यज्य पर्यधावन् इतस्ततः ।। 139. 19-21 व 26.
39. बभ्रमुः क्षुधिता मर्त्याः खादन्तः च परस्परम् ।। 139.25.

परिशिष्ट-2

वैदिक समाज का पुनर्समायोजन

ऋग्वेद के बाद हम भारतीय साहित्य में लम्बे सन्नाटे का दौर देखते हैं। यहाँ हम उस सदमे की छाप देख सकते हैं जो हड़प्पा सभ्यता के पतन के बाद वैदिक समाज को झेलना पड़ता है। इस बीच क्या कुछ घटित होता है, इसकी जानकारी हमें परवर्ती साहित्य में नहीं मिलती, या यदि मिलती है तो कुछ असम्बद्ध उद्गारों के रूप में ही। अपनी जान बचाने और अपने को जैसे-तैसे नयी परिस्थितियों के अनुरूप ढालने के प्रयत्न में पूरा समाज इस तरह व्यस्त और आशंकाग्रस्त है कि उसे अपनी प्राचीन परम्पराओं को भी पूरी तरह सँजोने का अवकाश नहीं मिलता। जिन लोगों द्वारा इन परम्पराओं की रक्षा की जा रही थी उन्हें आश्रय देने वाला वर्ग स्वयं आपदा से ग्रस्त है, अतः इन निराश्रित या दुराश्रित लोगों ने भी उन संस्थाओं के प्रति उदासीनता का-सा रुख़ अपना लिया है। कुछ समय के लिए समाज विश्रृंखल-सा बना रहता है।

परवर्ती साहित्य में यह बात प्रायः दुहरायी जाती है कि एक ऐसा समय आया था जब वेद नष्ट हो गया था, श्रुतियाँ लुप्त हो गयी थीं, योग नष्ट हो गया था और फिर उनका संग्रह किया गया।[1] वेदव्यास को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने अपने विभिन्न शिष्यों को वेदों की बिखरी हुई शाखाओं को संकलित करने का कार्यभार सौंपा और इनका सम्पादन किया, जो उनके नाम में भी स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है।[2] जब-तब इस बात का उल्लेख पाया जाता है कि भगवान ने मीन अवतार धारण करके लुप्त वेदों का समुद्रतल से उद्धार किया, जहाँ एक राक्षस उन्हें चुरा ले गया था। इस वदन्ती में यदि कोई सार है तो यह मानना होगा कि संकलन के इस प्रयत्न में उन भारतीय मूल के पुरोहितों और पण्डितों का भी सहयोग लिया गया जो हड़प्पा काल में सुदूर समुद्र-पार के देशों में जाकर बस गये थे और अब वहाँ के स्थायी निवासी बन गये थे।

जो भी हो, जब हम वेदों से हटकर ब्राह्मणों पर आते हैं तो इनमें याजिकीय आयोजनों का औचित्य सिद्ध करने के लिए पुरानी कथाओं और वैदिक ऋचाओं को समझने का, यज्ञ-विधानों में बरती जाने वाली विधियों की छानबीन का वही

प्रयत्न पाते हैं जो किसी टूटी हुई कड़ी को जोड़ने वाले लोगों में पाया जाता है। हम कह आये हैं कि ब्राह्मणों के रचनाकारों को लिखित रूप में कुछ पुरानी गाथाएँ और पुराणवृत्त उपलब्ध थे जिनमें से कुछ ऋग्वेद की रचना से पूर्व के रहे हो सकते हैं और कुछ इसके बाद के, जिनके आधार पर वे अपना मत स्थिर कर रहे थे। इन गाथाओं का जब-तब वे उद्धरण भी देते दिखायी देते हैं। वैदिकयुग इन रचनाकारों के लिए एक अतीत गौरव की चीज़ बन गया है। उस खोये हुए गौरव को कैसे प्राप्त किया जाये, इसकी चिन्ता न केवल ब्राह्मणों में दिखायी देती है अपितु बाद की समूची भारतीय परम्परा में भी देखी जा सकती है। आख़िर वैदिक काल की वे कौन सी उपलब्धियाँ थीं जिनके कारण वेद एक ऐसी आप्तता प्राप्त कर लेते हैं जिनके समक्ष अपने प्रत्यक्ष अनुभवों को भी नकारा जा सकता है? वेद सर्वोपरि प्रमाण क्यों हैं? दूसरे सभी प्रमाण इसके बाद क्यों आते हैं? वेद-वाक्य का अर्थ ही 'अकाट्य' क्यों हो जाता है? इसे केवल अतीत का मोह कहकर टाला नहीं जा सकता। आख़िर वैदिक अतीत ही क्यों? अतीत का मोह नहीं, इसे सफलता के एक ऊर्ध्व आदर्श-विन्दु पर समाज की मनोबद्धता ही माना जा सकता है। बहुत लम्बे अरसे तक इस परम्परा के हिमायतियों को लगता रहा कि वैदिक मार्ग से हट जाने और तत्कालीन आदर्शों से च्युत हो जाने के कारण ही समाज को उस अधः-पतन का मुँह देखना पड़ा जिसमें वे अब पड़े हुए थे। 'यदि उन नियमों और आदर्शों को पुनः प्रतिष्ठित किया जा सके तो सम्भव है, उस युग को पुनः प्राप्त किया जा सके। उस गरिमा तक पुनः पहुँचा जा सके।'

कुछ दूर तक यह बात सही भी थी। अपने ही बनाये हुए नियमों का अपनी समृद्धि के कारण उल्लंघन करते हुए, उद्योग और जोखिम का रास्ता छोड़कर विलासिता का मार्ग अपनाने के कारण और अपने ही श्रमिक और शिल्पियों का शोषण करने के कारण वैदिक समाज को अपने अन्तिम दिनों में पराभव का मुँह देखना पड़ा था।। यदि तटस्थ ढंग से विचार किया गया होता और पुनः अध्यव-साय और श्रम को उचित महत्व दिया गया होता तो तुलनात्मक दृष्टि से वैदिक-कालीन ऊर्ध्व-विन्दु पर न सही, एक ऐसी ऊँचाई पर पुनः पहुँचा जा सकता था जिसमें समाज फिर से अपनी काया पलट सकता था। पर निहित स्वार्थ, जो वैदिक काल में ही सामाजिक व्याधि का रूप ले चुके थे, इस काल में पहले की अपेक्षा अधिक प्रबल रूप में प्रकट होते हैं। यह एक रोचक बात है कि अपने पुनरुद्धार की चिन्ता से कातर इस समाज ने वैदिक काल से उसके स्वस्थ पक्षों के स्थान पर इसकी रुग्णताओं को ही चुना और इसलिए स्थिति में सुधार आने की अपेक्षा और गिरावट ही आयी।

जिसे परवर्ती हड़प्पा का दौर कहा जाता है उसका अध्ययन यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और ब्राह्मणों, कल्पसूत्रों और धर्मशास्त्रों, पुराणों, आदि के

सन्दर्भ में ही किया जा सकता है।[3] सिन्धु और उससे पश्चिम के भाग से वैदिक समाज का पलायन, पुनः ग्राम संस्कृतियों का महत्व, पूर्व और कुछ मामलों में दक्षिण की ओर—कारण, दक्षिण का शेष भाग और पूर्व की ओर भी मध्यप्रदेश का क्षेत्र मुख्यतः पठारी होने के कारण कृषि के उपयुक्त नहीं था—बढ़ता हुआ यह समाज इन क्षेत्रों के अवशिष्ट जंगली इलाकों को जलाकर पुनः खेती के लिए ज़मीन तैयार करता है। ब्राह्मणों में पुरानी गाथाओं के आधार पर भरत दौष्वन्ति अर्थात् दुष्यन्त के पुत्र भरत द्वारा यमुना और गंगा के तटों पर वृत्रघ्न इन्द्र के लिए पचपन घोड़े, सौद्युम्नि या सुद्युम्न के पुत्र द्वारा एक सौ पैंतीस घोड़े बाँधने और इस प्रकार यज्ञ से भरतों के अधिकार-क्षेत्र का विस्तार करने के उल्लेख आते हैं। वहीं पुनः भरत द्वारा सारी धरती जीतने और इन्द्र की सेवा में एक हज़ार से अधिक घोड़े लाने का उल्लेख भी आता है।[4] ऋषभ यातातुर[5], पांचाल राजा सात्रासाह[6], सतनीक सात्राजित[7], आदि द्वारा भी इसी प्रकार के यज्ञ करने और अपना साम्राज्य-विस्तार करने के उल्लेख मिलते हैं। पांचाल राजा सोण सात्रासाह के मामले में तो छः हज़ार घोड़ों और उतने ही कवचधारी सैनिकों के साथ भू-विस्तार का उल्लेख है। ये सारे विस्तार-प्रयास पूर्व की दिशा में हो रहे हैं। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस अभियान से पहले तक उत्तर प्रदेश का क्षेत्र अवैदिकों के प्रभाव में था या इसमें वैदिक जन पहले भी बसे हुए थे? पहले हम इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि सारस्वत क्षेत्र में बहुते पहले अकाल पड़ने पर विदेघ माथव ने पूर्व की दिशा में सदानीरा के पार जाकर शरण ली थी और वहाँ खेती आदि का आरम्भ किया था। उस विवरण के अनुसार सदानीरा से पश्चिम का भाग कोसलों के अधिकार में पहले से था और सदानीरा अब इन दोनों राज्यों की सीमा बन गयी। पुरानी गाथाओं पर आधारित ब्राह्मणों के इन विवरणों से भी यही लगता है कि भरत दौष्वन्ति और सोण सात्राजित आदि द्वारा साम्राज्य-विस्तार के समय उनका सामना जिन शक्तियों से हुआ वे भी आर्य ही थे। सतानीक धृतराष्ट्र के अश्वमेध के घोड़े को पकड़ लेता है। वही काशी के राजा का घोड़ा छीन लेता है और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उसके बाद से काशी के राजा यज्ञ का त्याग कर देते हैं। इन विजयों में घोड़ों को जीत कर लाने के उल्लेख भी इस बात के सूचक हैं कि इनका सामना संगठित शक्तियों से हो रहा था।

ऐसा लगता है कि वैदिक प्रभाव को मानने वाले या कृषि-कर्म करने वाले लोग गंगा और यमुना से पूर्व के क्षेत्रों में भी बसे हुए थे, पर इनकी गतिविधियाँ केवल कृषि तक सीमित थीं, अतः यह क्षेत्र ऋग्वैदिक काल में उस महत्व के साथ याद नहीं किया गया है जैसे पश्चिम का क्षेत्र। इस उदासीनता का कारण भी, जैसा कि हम उल्लेख कर आये हैं, यह है कि वैदिक रचनाकारों का संरक्षक वर्ग व्यापारिक गतिविधियों में लगा हुआ प्रमुख वर्ग था और इसलिए उनकी रचनाओं

में मुख्यत: उन्हीं की गतिविधियों में दिलचस्पी ली गयी है। यही कारण है कि ऋग्वेद में भौगोलिक क्षेत्रों या राज्यों का, यहाँ तक कि स्थानों का भी नाम नहीं आता है। नाम आता है केवल नदियों का जो इन व्यापारियों के जलपथ के सन्दर्भ में महत्व रखती हैं और उन दिनों जब स्थल-मार्ग सुगम्य नहीं थे और इनके साथ मार्ग की विषमता, संकीर्णता, मौसमी बाधाओं आदि के अतिरिक्त जंगली जानवरों और लुटेरों का अधिक भय बना रहता था और इसके बावजूद जगह-जगह नदियों के अवरोध के कारण नाव का सहारा लेने की मजबूरी थी, नदी-मार्ग सबसे निरापद और हिमालय से लेकर समुद्रपर्यन्त सुगम्य थे, उनका ऐसा करना स्वाभाविक था। अत: ऋग्वेद में नदियों के उल्लेखों में यदि यह मान भी लें कि सरयू और गोमती, राप्ती (आर्जीका) आदि का उल्लेख नहीं आया है और इनसे साम्य रखने वाले नदी-नाम पश्चिमी भारत की नदियों के ही हैं, तो भी इससे किसी खास तरह की असुविधा नहीं होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में इस तथ्य पर ध्यान देना उचित होगा कि हड़प्पा काल का सारा व्यापार पश्चिमी और पश्चिमोत्तर एशिया से ही चल रहा था और इसलिए विशेष उल्लेख उन्हीं नदियों का हुआ है जिनकी इस उपक्रम में विशेष भूमिका थी। पुन: बौद्ध काल से कुछ पहले जब समुद्र-मार्ग से पश्चिम एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया से सम्बन्ध जुड़ता है तो बवेरू (बेबीलोन) तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश की नदियों के उल्लेख मिलने लगते हैं, पर सिन्धु आदि का जिक्र नहीं आता, यद्यपि इस काल में भी पश्चिमी भारत तक आर्य संस्कृति का विस्तार था।

जब ब्राह्मण और उपनिषद् काल का आर्थिक आधार केवल कृषि तक सिमट कर रह जाता है तब नदियों की अपेक्षा भौगोलिक क्षेत्रों—कुरु, पांचाल, कोशल, काशी, मगध आदि के उल्लेख आने लगते हैं। नदियाँ इस काल में भी हैं और यत्र-तत्र इनके हवाले भी आते हैं, पर उस महत्व के साथ नहीं जैसे क्षेत्रीय नामों के।

जो भी हो, एक ओर इस समाज को अपने प्रभाव-विस्तार की और पुनर्वास की समस्या से जूझते पाते हैं और इस तरह मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश और बिहार में जहाँ आबादी अधिक घनी नहीं थी और जिसका बहुत बड़ा हिस्सा अभी जंगलों से घिरा था, जंगलों की सफ़ाई करके इसे कृषि भूमि में परिवर्तित करने का प्रयत्न करते पाते हैं वहाँ दूसरी ओर निहित स्वार्थों के कारण ब्राह्मणों को यज्ञ के द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करने और कराने का दावा करते भी पाते हैं। यज्ञ से ही क्षेत्र-विस्तार किया जा सकता है। यज्ञ से ही शत्रुओं का नाश किया जा सकता है। यज्ञ से ही धन और अन्न प्राप्त किया जा सकता है। यज्ञ से भौतिक ही नहीं, स्वर्गीय सुखों को भी प्राप्त किया जा सकता है। इस विश्वास की एक कड़ी, जैसा कि हम देख आये हैं, पूर्व-वैदिक काल से चली आ रही है, पर इस दौर में यह अधिक उग्र रूप ले लेता है।

इस काल में अन्तर यह आता है कि यज्ञ की पेचीदगी बढ़ जाती है। यज्ञ की निष्फलता निराशा का कारण नहीं बनती। उलटे यह कहकर इसका समाधान कर दिया जाता है कि यज्ञ-निष्पादन में कोई त्रुटि रह गयी होगी। अतः इस बात को लेकर खासा विवाद होता है कि यज्ञ की सही विधि क्या है। एक सम्प्रदाय एक मत प्रकट करता है और दूसरा उससे ठीक विपरीत सुझाव देता है। यदि सफलता मिल गयी तो श्रेय यज्ञ को जाता है और प्रयत्न व्यर्थ गया तो यज्ञ-सम्पादन में त्रुटि का दोष है, अतः पुरोधा बदलकर काम चलाया जा सकता है। यज्ञ का कर्मकाण्ड, जो पहले भी कम जटिल नहीं था, अब इतना जटिल हो जाता है कि विद्वान और यज्ञ-निष्पादन में पारंगत पुरोधा दुर्लभ हो जाते हैं। दुर्लभ होने का सीधा अर्थ है कि यज्ञ की विफलता सामने आ रही थी, पर इस विफलता का भी लाभ उठाकर शेष पुरोहितों को निकम्मा और अज्ञानी बताकर अपनी साख जमाने वाले और कम-से-कम एक बार के लिए यजमान को नये सिरे से मूर्ख बनाने का प्रयत्न करने वाले धूर्तों की बन आयी थी। इस धूर्तता का बेजोड़ नमूना उषस्ति चाक्रायण की वह प्रसिद्ध कथा है जिसका जिक्र छान्दोग्य उपनिषद में आया है। इस कथा के कुछ अंशों को यथावत् रखना अप्रासंगिक न होगा।

ओले और पत्थर पड़ने से कुरु देश की खेती चौपट हो जाने पर वहाँ इभ्य ग्राम के भीतर 'आटिकी' (अल्पवयस्का) पत्नी के साथ चक्र का पुत्र उषस्ति दुर्गति की अवस्था में रहता था।

उसने घुने हुए उड़द खाने वाले एक महावत से याचना की। तब उसने कहा, 'इन जूठे उड़दों के सिवा मेरे पास और नहीं है। जो कुछ एकत्र थे वे सब-के-सब ये मैंने (अपने भोजनपात्र में) रख लिये हैं।'

'तू मुझे इन्हें ही दे दे' — ऐसा उषस्ति ने कहा। तब महावत ने उड़द उसे दे दिये और कहा, 'यह अनुपान भी ले लो।' इस पर वह बोला—'इसे लेने से मेरे द्वारा निश्चय ही उच्छिष्ट जल पिया जाएगा।'

'क्या ये उड़द भी उच्छिष्ट नहीं हैं?' उसने कहा—'इन्हें बिना खाए तो मैं जीवित नहीं रह सकता था, जलपान तो मुझे यथेष्ट मात्रा में मिलता है।'

उन्हें खाकर वह बचे हुए उड़दों को अपनी पत्नी के लिए ले आया। वह पहले ही खूब भिक्षा प्राप्त कर चुकी थी। अतः उसने उन्हें लेकर रख दिया।

उसने प्रातःकाल शयन त्याग करने के अनन्तर कहा—'यदि हमें कुछ अन्न मिल जाता तो हम कुछ धन प्राप्त कर लेते, क्योंकि वह राजा यज्ञ करने वाला है, वह समस्त ऋत्विक कर्मों के लिए मेरा वरण कर लेगा।'

उससे उसकी पत्नी ने कहा—'स्वामिन्, (आपके दिये हुए) वे उड़द ही ये मौजूद हैं।' उषस्ति उन्हें खाकर ऋत्विजों द्वारा विस्तारपूर्वक किये जाने वाले उस यज्ञ में गया।

वहाँ आस्ताव के स्थान में स्तुति करते हुए उद्गाताओं के समीप बैठ गया और उसने प्रस्तोता से कहा : 'हे प्रस्तोता ! जो देवता प्रस्ताव भक्ति में अनुगत है यदि तू उसे जाने बिना प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायेगा।'

इसी प्रकार उसने उद्गाता से भी कहा—'हे उद्गाता ! जो देवता उद्गीथ में अनुगत है यदि तू उसे बिना जाने उद्गान करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायेगा।' इसी प्रकार प्रतिहर्ता से भी कहा —'हे प्रतिहर्ता ! जो देवता प्रतिहार में अनुगत है यदि तू उसे जाने बिना प्रतिहरण करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायेगा।' तब वे प्रस्तोता आदि अपने-अपने कर्मों से उपरत हो मौन होकर बैठ गये।

तब उससे यजमान ने कहा—'मैं आप पूज्यपाद को जानना चाहता हूँ।' इस पर उसने कहा—'मैं चक्र का पुत्र उषस्ति हूँ।'

'मैंने इन समस्त ऋत्विक कर्मों के लिए श्रीमान् को खोजा था। श्रीमान् के न मिलने पर ही मैंने दूसरे ऋत्विकों का वरण किया था। मेरे समस्त ऋत्विक कर्मों के लिए श्रीमान् ही रहें।' ऐसा सुनकर उषस्ति ने कहा,'अच्छा, मेरे द्वारा प्रसन्नता से आज्ञा दिये हुए ये ही लोग स्तुति करें; और तुम जितना धन इन्हें दो उतना ही मुझे देना।' तब यजमान ने 'ऐसा ही होगा' यह कहा...।[8]

कोसम्बी ने प्राचीन उत्तर भारत में जाति व्यवस्था का अध्ययन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला था कि ब्राह्मणों की आर्थिक स्थिति खासी दयनीय थी।[9] उन्होंने जिस काल के साक्ष्यों पर भरोसा करते हुए अपने निष्कर्ष निकाले हैं वे इस काल के ही हैं जिसे हम ब्राह्मण और उत्तर-वैदिक काल या परवर्ती हड़प्पा का काल मान रहे हैं। वैदिक काल के बाद यदि समाज की आर्थिक स्थिति में पहले की अपेक्षा सुधार आया था तो इसका प्रतिबिम्बन इसके उपजीवी बौद्धिक वर्ग की आर्थिक दशा में भी मिलना चाहिए। जहाँ वैदिक काल में छल, धौंस, अनुनय और स्तुति के बल पर हम ब्राह्मणों को बहुत उदारतापूर्वक पुरस्कृत होते देखते हैं वहाँ उत्तर-वैदिक काल में उनकी इस दीनता का क्या कारण था कि वे जैसे-तैसे जीवित रहने के लिए किसी के भी साथ और यहाँ तक की स्वजनों के साथ भी सीधे धोखाधड़ी पर उतर आते हैं और इसके बावजूद कृच्छता से छुटकारा नहीं मिलता ? ज़ाहिर है कि यह आर्थिक सुधार का नहीं, अपितु वैदिक काल की तुलना में आर्थिक गिरावट का दौर था और ऐसे दौर में सबसे तीखी चोट उस उपजीवी वर्ग पर पड़ती है जिसका उत्पादन और आहरण तन्त्र से बहुत दूर का ही सम्बन्ध होता है। सम्भवतः इसी दौर में अनेक ब्राह्मणों को अपने वर्ण-धर्म का त्याग करके दूसरे पेशे भी अपनाने पड़ते हैं जिसका एक उदाहरण द्रोणाचार्य और परशुराम आदि के पौराणिक वृत्तों में देखा जा सकता है और जिसकी कुछ छाया आगे मनु आदि के विधानों में देखी जा सकती है जिसमें कठिन आर्थिक अभाव का सामना होने की स्थिति में ब्राह्मणों के लिए क्षत्रिय और वैश्य आदि के वर्ण-धर्मों

का आश्रय लेने की अनुमति दी गयी है।[10] जहाँ वे अपने वर्ण-धर्म से जुड़े रहते हैं वहाँ या तो अपनी लाचारी में यज्ञ आदि के कर्मकाण्डीय पक्ष को एक पाखण्ड में बदल देते हैं और इसके साथ ही क्षत्रियों के साथ चोली-दामन का सम्बन्ध कायम करते हुए अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न करते हैं और इस तरह शोषण और उत्पीड़न का नैतिक समर्थन करते हैं।

अतः इस दौर में इस समाज में अनेक ऐसी नयी बुराइयाँ पैदा होती हैं जिनका अस्तित्व ऋग्वैदिक काल में नहीं था। उदाहरण के लिए, शौच और आरोग्य का समुचित ध्यान रखने के बावजूद वैदिक समाज ने इसे उस पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचाया था जिसकी झलक परवर्ती काल में आने वाली अस्पृश्यता में दिखायी देती है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि वर्णव्यवस्था ऋग्वैदिक काल से पहले ही कायम हो चुकी थी, पर अस्पृश्यता जैसी चीज का अस्तित्व नहीं था। चमड़े को उस काल में अपवित्र नहीं समझा जाता था। गाय के चमड़े पर सवन फलक रख कर सोम निकालना और उसका पान करना, चमड़े के पात्रों में सोम और सुरा रखना और यहाँ तक कि दही रखना भी ब्राह्मण काल तक चलन में था। अन्य वस्त्रों के साथ चर्म-वस्त्र(कृत्तिवास), जो आगे चलकर केवल सन्यासियों के मामले में मृगचर्म और बाघम्बर तक सीमित रह गया, भी प्रचलित रहा लगता है। पर काल-क्रम से चमड़ा अपवित्र माना जाने लगता है और चमड़े के पात्र में रखा तो दूर, चमड़े का स्पर्श करने वाले का भी स्पर्श-वर्जित हो जाता है। इसी तरह अनेक पेशों से जुड़े लोग क्रमशः अस्पृश्यों में बदलते जाते हैं।

अस्पृश्यता की यह व्याधि कैसे आरम्भ हुई, यह स्वयं में एक रोचक अध्ययन का विषय है जिस पर अधिकारी विद्वानों ने विचार भी किया है। पर ऐसा लगता है कि आरम्भ में इसका कारण क़बीलाई सुरक्षा की प्रवृत्ति थी जिसने क्रमशः बढ़ते हुए उन समस्त सम्भावनाओं को दूर करने का रूप ले लिया जिनमें किसी प्रकार की व्याधि और संक्रमण आदि फैल सकते थे और अन्ततः स्वच्छता और शुद्धता के नाम पर इसने जातिगत घृणा और ऐसे लोगों की छाया से भी दूर रहने की कुत्सा को जन्म देते हुए एक स्थाई रूप ले लिया जो भारतीय समाज में आज तक जीवित है। दूसरे शब्दों में कहें तो, अस्पृश्यता का मूल वन्य क़बीलाई जीवन में भी मौजूद था।[11] अपने क़बीले को छोड़कर शेष सभी क़बीले अविश्वास के पात्र थे। इनमें से कुछ क़बीलों का परस्पर सनातन वैर-सा चलता रहता था। ऐसे किसी क़बीले के किसी भी व्यक्ति का विश्वास किसी भी दशा में नहीं किया जा सकता था और इसलिए यदि वह ऐसा कोई भी खाद्य या पेय दे जिसमें मिलावट की सम्भावना हो तो उसे खाना या पीना अपनी जान जोखिम में डालने जैसा था। कारण, प्रेम-भाव दिखाते हुए वह इसमें ज़हर मिला सकता था। मिलावट की यह सम्भावना पके भोजन और पेय जल आदि में ही हो सकती थी, अतः ऐसे क़बीलों

के सदस्यों का यदि पके भोजन और जल आदि में हाथ भी लग जाये तो उसे खाना वर्जित था। यह एक टैबू या अन्धनिषेध का रूप ले चुका था। पर फल, साक और कन्द आदि में यह मिलावट सम्भव नहीं थी। दूध ऐसी मिलावट से विकृत हो सकता है, किन्तु इसमें मिलावट की पहचान आसान थी। अतः इसे लेना वर्जित नहीं था। हड़प्पा काल में या वैदिक सभ्यता के दौर में देश-देशान्तर की व्यापारिक यात्राओं ने इस बन्धन को किंचित् शिथिल ही बनाया था; बढ़ाया तो कदापि नहीं था। पर इसके पतन के बाद अपनी रक्षा के बिषय में चिन्तित और किंचित् भयभीत यह समाज उन क्षेत्रों पर क़ब्जा जमाने वाले आततायियों के प्रति उसी पुराने क़बीलाई प्रतिरोध को प्रकट करता है और फिर इसका विस्तार उन समस्त क्षेत्रों के प्रति हो जाता है जो वैदिक प्रभाव से बाहर हैं। वे हमसे भिन्न हैं, हमारे शत्रु हैं, हमारा अहित कर सकते हैं, इसलिए उनके साथ किसी प्रकार का सम्पर्क और विशेषतः खानपान निरापद नहीं है और यदि कोई व्यक्ति उनके सम्पर्क में आये तो वह भी उन्हीं की तरह अविश्वनीय हो जायेगा। यह भी बढ़कर शुद्धि और अशुद्धि की चेतना का रूप ले लेता है और इस कठोर नियम के कारण इस बात की सम्भावना भी पैदा हो जाती है कि स्वयं अपने समाज में, अपने ही भौगोलिक क्षेत्र में बसने वालों के प्रति भी अस्पृश्यता का वही व्यवहार किया जा सके जो इन इतर क्षेत्रों के व्यक्तियों के साथ किया जाता है।

इसका एक दूसरा कारण यह भी था कि हड़प्पा सभ्यता के पतन के साथ प्रशासन-तन्त्र शिथिल होने के कारण अपराधियों को दण्ड देने के अवसर कम हो गये और अपराधों को रोकने का एकमात्र कारगर उपाय रह गया था नियमों का उल्लंघन करने वाले को सामाजिक रूप में दण्डित करना। इसका सरल उपाय तो यह निकाला गया कि अपराध के अनुरूप यदि वह व्यक्ति हर्जाना देकर पंचों-पुरोहितों को खुश कर लेता है, जिसका आभास विशेष प्रकार के यज्ञ करके कतिपय महान पापों से मुक्त होने के विधानों में पाया जा सकता है, तो उसे अपने अपराध से मुक्त समझा जायेगा, अन्यथा नियम उल्लंघन करने वाले को तब तक के लिए जाति से बहिष्कृत कर देना जब तक वह प्रायश्चित के अपमानजनक और साथ ही पीड़ादायक दौर से गुजर कर अपने को शुद्ध नहीं कर लेता, या अक्षम्य अपराधों के मामले में उसे सदा-सदा के लिए समस्त सामाजिक सम्पर्क से काट कर अलग कर देना और उसके साथ विवाह-सम्बन्ध से लेकर खान-पान आदि सभी का परहेज करना एक आम व्यवस्था बन जाती है। अपराध का मार्जन होने तक हुक्का-पानी बन्द करने या टाट से बाहर करने—जाति-बहिष्कृत करने का यह नुस्खा अनेक तथाकथित छोटी जातियों में आज तक प्रचलित है। अतः अस्पृश्यता को केवल ब्राह्मणों की हेकड़ी की देन मानना एकांगी है। जिन जातियों को अस्पृश्य माना जाता है उनकी अपनी बिरादरी पंचायतों में भी टाट से या पंक्ति से बाहर

करने और इसके लिए सामाजिक दण्ड वसूल करने के बाद उन्हें मुक्त करने का चलन इस दृष्टि से काफ़ी रोचक है। अतः स्मृतियों आदि में जब इस बात के उल्लेख आते हैं कि समाज-स्वीकृत वैवाहिक नियमों आदि का उल्लंघन करके वर्जित जातियों से उत्पन्न संतानों ने अनेक अस्पृश्य जातियों का रूप लिया तो इसमें सचाई का एक अंश अवश्य है। यहाँ कमी यदि है तो यह कि इसमें अन्य अपराधों के कारण अस्पृश्य बनने वालों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता जो भी इस सचाई का ही एक पहलू है। पूरी सचाई यह है कि इन अनेक कारणों से जाति-बहिष्कृत होने वालों को उन समस्त साधनों और सुविधाओं से वंचित कर दिये जाने के कारण, जो कि उन्हें अपनी बिरादरी की सदस्यता के कारण जन्म-जात रूप से उपलब्ध थीं, और साथ ही प्रायः पैतृक दाय से भी वंचित कर दिये जाने के कारण इनकी सामाजिक स्थिति के साथ-ही-साथ आर्थिक स्थिति भी बिगड़ती जाती है और इनके लिए कतिपय ऐसे ही पेशे बचे रहते हैं जिनको ओछा और दण्डात्मक समझा जाता है, जिनमें श्रम के अनुरूप पारिश्रमिक नहीं मिलता और जिन्हें सामान्यतः वर्ज्य माना जाता है। इस तरह यह सामाजिक-आर्थिक विकृति का रूप ले लेती है और इसे वंश-परम्परा से जोड़ देने के कारण यह एक ऐसा स्थायित्व प्राप्त कर लेती है कि इसे उखाड़ फेंकने के अब तक के अनेकानेक प्रयत्न व्यर्थ होते गये हैं।

सुरक्षा की भावना ने ही अस्थायी अस्पृश्यता को जन्म दिया। कोई ऐसी स्थिति जिसमें संक्रमण की सम्भावना हो उसमें संसर्ग को तब तक के लिए स्थगित रखना। मृत्यु के बाद—जाने मरने वाले को कौन-सी बीमारी रही हो!—शव के साथ जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति तब तक दूसरों के लिए अस्पृश्य रहता है जब तक वह स्नानादि से अपने को शुद्ध नहीं कर लेता। अन्त्येष्टि करने वाला व्यक्ति लगभग दस दिनों तक पूरी तरह और एक वर्ष तक आंशिक रूप से अस्पृश्य बना रहता है। श्मशान से सम्बन्धित कर्मी अस्पृश्य हैं। दस दिन की अवधि तक मृत व्यक्ति के पूरे परिवार का बाहर जाना, सामाजिक खान-पान में शरीक होना या उस परिवार में किसी अन्य का जल अन्नग्रहण वर्जित रहता है। प्रसूता स्त्री गृह में अस्पृश्य की सी स्थिति में रहती है और इसके अतिरिक्त ऋतुकाल में प्रत्येक स्त्री अस्पृश्य बनी रहती है। चेचक आदि बीमारियों के दौरान परिवार अस्पृश्य बना रहता है। धोबी जो रुग्ण-स्वस्थ सभी के कपड़े धोता है, अस्पृश्य मान लिया जाता है। इस तरह अस्पृश्यता एक सुरक्षात्मक, आरोग्यपरक और दण्डपरक संस्था के रूप में उदित होकर भारत में जाति का रूप लेकर स्थायी बनती है। ब्राह्मण काल तक शूद्र शब्द अस्पृश्यता का बोधक नहीं था। शूद्र वर्ण-व्यवस्था में सबसे निम्न वर्ण के रूप में ही सही, एक स्थान रखते थे। अन्त्यज या अस्पृश्य शब्द वर्ण-व्यवस्था से बाहर के या इससे निष्कासितों के लिए प्रयोग में आता रहा, अतः यह बाद में पैदा

हुए किसी भ्रम की देन प्रतीत होता है जिसमें समस्त श्रमजीवी वर्ग को उनकी आर्थिक अवस्था के कारण हीन और अस्पृश्य माना जाने लगा। अस्पृश्यता की समस्या का अध्ययन करते हुए अस्थायी, स्थायी, आनुवंशिक, आंशिक (जल और पक्वान्न ग्रहण करना, पर सादा भोजन नहीं) अस्पृश्यताओं का और इनकी व्याप्ति का ध्यान रखते हुए ही इसकी जड़ों को समझा जा सकता है और शिक्षा, आर्थिक दशा में परिवर्तन, आरोग्य और चिकित्सा, गन्दे कामों के लिए आज की स्थिति में यन्त्रों के उपयोग और सामाजिक सौमनस्य आदि के विविध उपायों को एक साथ लागू करके ही इसे दूर किया जा सकता है। केवल नारा या इनमें से केवल एक पक्ष में प्रयत्न कारगर नहीं हो सकता।

पुरोहित वर्ग द्वारा प्रचारित और उनके द्वारा अपनी रोजी की चिन्ता से बड़े यत्नपूर्वक सुरक्षित साहित्य से उभरने वाला चित्र ही वैदिक काल का और स्वयं वैदिक समाज का समग्र चित्र नहीं है। न तो पूरा समाज केवल पुरोहितों का समाज था और न ही इसका चिन्तन और अध्ययन केवल वेदाध्ययन तक सीमित रह सकता था। इसी तरह शहरी केन्द्रों के नष्ट होने से समूचे समाज का पतन नहीं हो जाता और न ही सभी केवल यज्ञ और तन्त्र के भरोसे अपने आर्थिक उद्यमों और अध्यवसायों को छोड़ सकते थे। भाववादी चिन्तन में भी सारा चिन्तन केवल यज्ञ आदि तक सीमित नहीं रह सकता था। वैदिक काल में भी यज्ञ के समर्थकों और इन्द्र के उपासकों के समानान्तर ही ऐसे बौद्धिकों का अस्तित्व था जो यज्ञ आदि की सार्थकता पर सन्देह करते थे।[12] उत्तरवैदिक काल में भी ऐसे विचारक इसी समाज के भीतर दिखायी देते हैं जो वैदिक रूढ़ियों और वर्जनाओं को अधिक कठोरता से लागू करने की अपेक्षा उन कारणों पर पुनर्विचार करते हैं जिनसे इस समाज का आर्थिक आधार और भौतिक जीवन प्रभावित हुआ था।

यह विश्व कैसे अस्तित्व में आया? जीवन की सार्थकता क्या है? मरने के बाद हमारी क्या गति होती है? इस तरह के प्रश्नों पर मनुष्य अपने बौद्धिक स्तर के अनुसार बहुत पहले से सोचता आ रहा था, परन्तु यह चिन्ता उत्तर-वैदिक काल में अधिक प्रखर हो जाती है। कुछ चिन्तक अधिक अन्तर्मुखी होकर इन समस्याओं पर गहरी छान-बीन आरम्भ करते हैं और पुरोधा वर्ग भी इसमें पीछे नहीं रहता। पर यह कहना कुछ अतिरंजनापूर्ण है कि वैदिक समाज केवल भौतिकवादी, बहिर्मुख और गतिशील था जबकि औपनिषद काल तक आते-आते पूरा समाज अन्तर्मुखी, अध्यात्मवादी और निराशावादी हो जाता है।[13] इसमें कुछ सचाई है अवश्य, पर पूरा सच यही नहीं है। यदि हम इन दोनों कालों के जीवन, आर्थिक उपक्रमों, सामाजिक संस्थाओं आदि को सामने रखकर देखने का प्रयत्न करें तो इसका कारण समझ में आ जायेगा। उत्तर-वैदिक समाज एक पराजित समाज है। यह डरा हुआ और आत्मरक्षा की चिन्ता से कातर समाज है। इसकी सारी गतिविधियाँ अपने भौगोलिक दायरे में सिमट गयी हैं, व्यापार

आदि के क्रम में बाहरी जगत से जो सम्पर्क बना हुआ था वह कुछ समय के लिए कट चुका है और इसी के अनुरूप उसकी निराशा, अन्तर्मुखता, रूढ़िवादिता, सामाजिक विधि-निषेध आदि हैं।

एक ओर तो यह समाज वैदिककालीन भौतिक परिस्थितियों से भिन्न परिस्थितियों में रुग्ण वैदिक मूल्यों की बछिया की पूँछ पकड़कर अपनी समस्याओं की वैतरणी को पार करने का प्रयत्न करता और पुन: वैदिककालीन वैभव को प्राप्त करने के स्वप्न देखता है; दूसरी ओर, सफलता के शिखरों पर पहुँचने वाले उन पूर्वजों की सन्तान होने का दम्भ लेकर दूसरों से अपने को श्रेष्ठ समझता है और तीसरी ओर समकालीन दबावों में अपने को अनिच्छापूर्वक नये सिरे से समायोजित करते हुए यत्किंचित् फेर-बदल करता है, जिनमें कुछ को प्रगतिशील और शेष को प्रतिगामी माना जा सकता है। वैदिक काल में शतायु होने और अमर होने की आकांक्षा से भरा मनुष्य क्रमश: जीवन की नि:सारता और जगत की दुखशीलता का अहसास करने लगता है और इस दुख-जाल से मुक्ति के भाववादी हल ढूँढ़ने लगता है। वैदिक भोगवादी, प्रतिकारवादी, अग्रधर्षी और संग्रहकामी व्यक्ति इस नये दौर में संयम, संतोष, अपरिग्रह, क्षमा, दया और यहाँ तक कि अक्रियता के मूल्य विकसित करने लगता है।

और दूसरी ओर, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नये सिरे से काम आरम्भ होता है। वैदिक साहित्य का अर्थ निर्धारण करने का प्रयत्न उस गहरी भाषा-वैज्ञानिक छानबीन को जन्म देता है जिसकी परिणति आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक, स्फोटायन, यास्क और पाणिनि आदि की रचनाएँ थीं जिनमें से अन्तिम दो को छोड़कर शेष काल-कवलित हो गयीं। ज्योतिष का जो आरम्भ फ़सलों के लिए उपयुक्त ऋतुकाल का निश्चय करने और प्राथमिक विकास व्यापारिक यात्राओं के लिए मौसमी हवाओं का पूर्वानुमान करने और नौचालन आदि के सन्दर्भ में हुआ था, यज्ञों की जटिलता के कारण इनके लिए उपयुक्त लग्नों का निश्चय करने के क्रम में आगे बढ़ा और ईसा के बाद की शताब्दियों तक यह विकास जारी रहा है। चिकित्सा के क्षेत्र में पुरोहिती दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं था, फिर भी इसका स्वतंत्र विकास जारी रहा और इसकी परिणति चरक और सुश्रुत की कृतियाँ हैं जिन्हें अपने समय को देखते हुए महान उपलब्धियाँ कहा जा सकता है। इसी तरह गणित का विकास द्रव्य और मात्रा की गणना और मापन से आगे बढ़कर ज्योतिष के साहचर्य में अन्य देशों के लिए अनुकरणीय स्तर तक पहुँचा। सृष्टि के उद्भव और विकास की प्राथमिक जिज्ञासाओं ने सांख्य और वैशेषिक को जन्म दिया।

हड़प्पा और वैदिक सभ्यताओं को परस्पर असम्बद्ध मान कर चलने के कारण और हड़प्पा सभ्यता के बाद अक्षय सामग्री पर अभिलेखों के अभाव को ध्यान में

रखते हुए अधिकांश विद्वानों को ब्राह्मी का उद्भव एक पहेली प्रतीत होता रहा है। कुछ के विचार से लेखन की आवश्यकता जिन व्यापारिक कारणों से पड़ती थी उनमें व्यवधान पड़ने के कारण लेखन भी लुप्त हो गया। पर जब हम इन दोनों सभ्यताओं की अभिन्नता को देखते हैं तो ये दोनों मान्यताएँ कुछ इकहरी प्रतीत होती हैं। हड़प्पा काल में भी मुख्य लेखन-सामग्री क्षयिष्णु ही थी, यह बात अनेक विद्वानों ने स्वीकार की है और एक मामले में तो स्याही के प्रयोग की पुष्टि भी पुरातात्विक साक्ष्यों से हड़प्पा काल में भी होती है। ऐसी स्थिति में हड़प्पा की मुहरों आदि का जो भी व्यापारिक महत्व रहा हो, इनका प्रचलन व्यापारिक गति-रोध के साथ ही समाप्त हो जाता है। यदि शेष रह जाती हैं तो कुछ रस्मी आवृत्तियाँ जो भी अनगढ़ हाथों की और रामनामी टुपट्टे की तरह प्रयोजनहीन प्रतीत होती हैं और इनसे यह विश्वास नहीं पैदा होता कि ये किसी भी प्रकार का संचार मूल्य रखती है।

हड़प्पा लिपि आज तक अपाठ्य बनी हुई है, पर अपनी समकालीन लिपियों की तुलना में इसे उतना ही विकसित पाया जा सकता है जितनी विकसित ब्राह्मी लिपि अपनी समकालीन लिपियों में है और इन दोनों को काटकर नहीं देखा जा सकता। वस्तुतः साहित्यिक प्रयोजनों से अति प्राचीन काल से क्षयिष्णु सामग्री का प्रयोग होता आया था और ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में एक विशाल साहित्य का निर्माण स्वयं वैदिक काल में हुआ लगता है। ऋग्वेद में आये काव्यात्मक अंश स्वल्प हैं, पर उनका स्तर ऐसा है जो एक स्वस्थ और व्यापक साहित्यिक परम्परा का अंग प्रतीत होता है। इसी तरह पाणिनि ने अपने जिन पूर्ववर्ती वैयाकरणों का जिक्र किया है उनकी व्याकरणिक कृतियाँ अलिखित रूप में नहीं रहीं हो सकतीं। उनके अपने-अपने मत का उल्लेख खास तौर से महत्व रखता है। ठीक यही बात राजशास्त्र के प्राचीन अधिकारी विद्वानों पर भी लागू होती है जिनका नामोल्लेख और जिनकी मान्यताओं की चर्चा चाणक्य ने की है। ब्राह्मणों और स्मृतियों में प्राचीन गाथाओं के उद्धरण आते हैं। यदि मात्र वेदों को कण्ठस्थ करने का प्रश्न होता तो यह बात कुछ सार्थकता भी रखती कि इन्हें कण्ठस्थ कर लिया जाता रहा होगा, पर जहाँ साहित्य के विपुल भण्डार का प्रश्न है, क्या-क्या कण्ठस्थ किया जा सकता है? ये सभी रचनाएँ लिखित रूप में अस्तित्व में थीं। यही बात वेदों के लुप्त होने के उल्लेख से भी सिद्ध होती है। किसी आकस्मिक आपदा में अभिलेखबद्ध सामग्री ही नष्ट हो सकती है, कण्ठस्थ सामग्री ऐसी स्थितियों में अपेक्षाकृत अधिक टिकाऊ होती है। इसका यह आशय कदापि नहीं कि प्राचीन काल में कृतियों को कण्ठस्थ करने का चलन नही था। कहें, भौतिक साधनों की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए इसके अतिरिक्त कोई उपाय व्यापक शिक्षा के लिए हो भी नहीं सकता था और मुमकिन है, किन्हीं कृतियों की पाण्डुलियाँ नष्ट हो जाने की दशा में

विभिन्न व्यक्तियों के यथाकण्ठस्थ पाठ को लिपिबद्ध करके ही इसका पुनरुद्धार सम्भव हो पाता रहा हो, जैसाकि ऋग्वेद के बारे में परवर्ती कालों के हवालों से प्रतीत होता है। हमारा आशय केवल इतना ही है कि इस अन्तर्वर्ती दौर में भी न तो लेखन लुप्त हुआ, न ही इसका विकास अवरुद्ध हुआ और अशोक के अभिलेखों में पहली बार हम शिलालिखित रूप में जिस ब्राह्मी को देखते हैं वह इस अन्तरिम काल के दौरान हुए विकासों को ही प्रस्तुत करती है। न केवल यह, बल्कि यह सुझाव भी रखा जा सकता है कि उस काल में भी लेखन-सामग्री के अनुरूप इसके कुछ स्थानीय भेद रहे हो सकते हैं।

प्रकारान्तर से कहें तो नगर सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद विकास की गति अवरुद्ध कभी नहीं हुई। पर वैदिक काल में भारतीय समाज अपने समकालीन जगत की तुलना में भौतिक विकास के जिस ऊर्ध्व-विन्दु पर पहुँचा था उसे वह फिर कभी हासिल नहीं कर सका और इस लिए वैदिक काल एक टूटे हुए सुहावने सपने की तरह भारतीय मानस पर और विशेषतः पुरोधाओं के मस्तिष्क पर निरन्तर छाया रहा। वे बार-बार वेदों को अकाट्य प्रमाण के रूप में उद्धृत करते रहे और वैदिक मनीषियों और चिन्तकों के परम ज्ञान का राग अलापते रहे, जैसे कोई बूढ़ा हतदर्प व्यक्ति जवानी और पुरुषार्थ के दिनों की याद करे।

जब कोई व्यक्ति या समाज अतीत की बात अधिक गौरव से करता है तो इसका सीधा मतलब है कि यह चुका, हारा और पिटा हुआ व्यक्ति या समाज है जो विकास की दौड़ में कभी भले आगे रहा हो, पर अब पिछड़ गया है। अतीत-ग्रस्तता वर्तमान की दुर्दशा का अकाट्य प्रमाण तो है ही, यह वर्तमान दुर्गति से उद्धार के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा भी है। बढ़ते हुए समाज को मुड़ कर देखने की फुरसत नहीं होती और अतीत की उपलब्धियों को वह एक नम्र ऋण के रूप में स्वीकार तो करता है, पर उनकी चमक को वह इतना फीका कर चुका होता है कि उस पर गर्व करने का उसे कोई कारण नहीं दिखाई देता। अतः हम पाते हैं कि न केवल भारत अपितु विश्व की वे सभी प्राचीन सभ्यताएँ जो पुनः अपने अतीत गौरव-शिखर पर नहीं पहुँच पायीं, यद्यपि बाद के कालों में उनका विकास सदा के लिए कुण्ठित ही हो गया हो ऐसी बात भी नहीं, वे अपनी अतीत-ग्रस्तता के कारण उससे अधिक पिछड़ती गयी हैं, जितना अन्यथा उन्हें पिछड़ना चाहिए था और आज भी उनके गतिरोध का एक प्रधान कारण यही है। अपने को जगत्-गुरु मानने वालों को यह सबक सीखना चाहिए था कि जिन्हें उन्होंने सिखाया वे आगे बढ़ते गये और इसीलिए विकास के मामले में गुरुडम से भी अधिक महत्व शिष्यत्व का है, अपने गुरु होने पर गर्व करना हास्यास्पद है और अपने भीतर शिष्यत्व का अभाव, दूसरों से जो कुछ भी सीखा और जाना जा सकता है उसे सीखने-जानने की रुचि और लगन का अभाव, जिज्ञासा और कुतूहल का अभाव,

कालीबंगा—पूर्व-हड़प्पाकालीन आवास-योजना

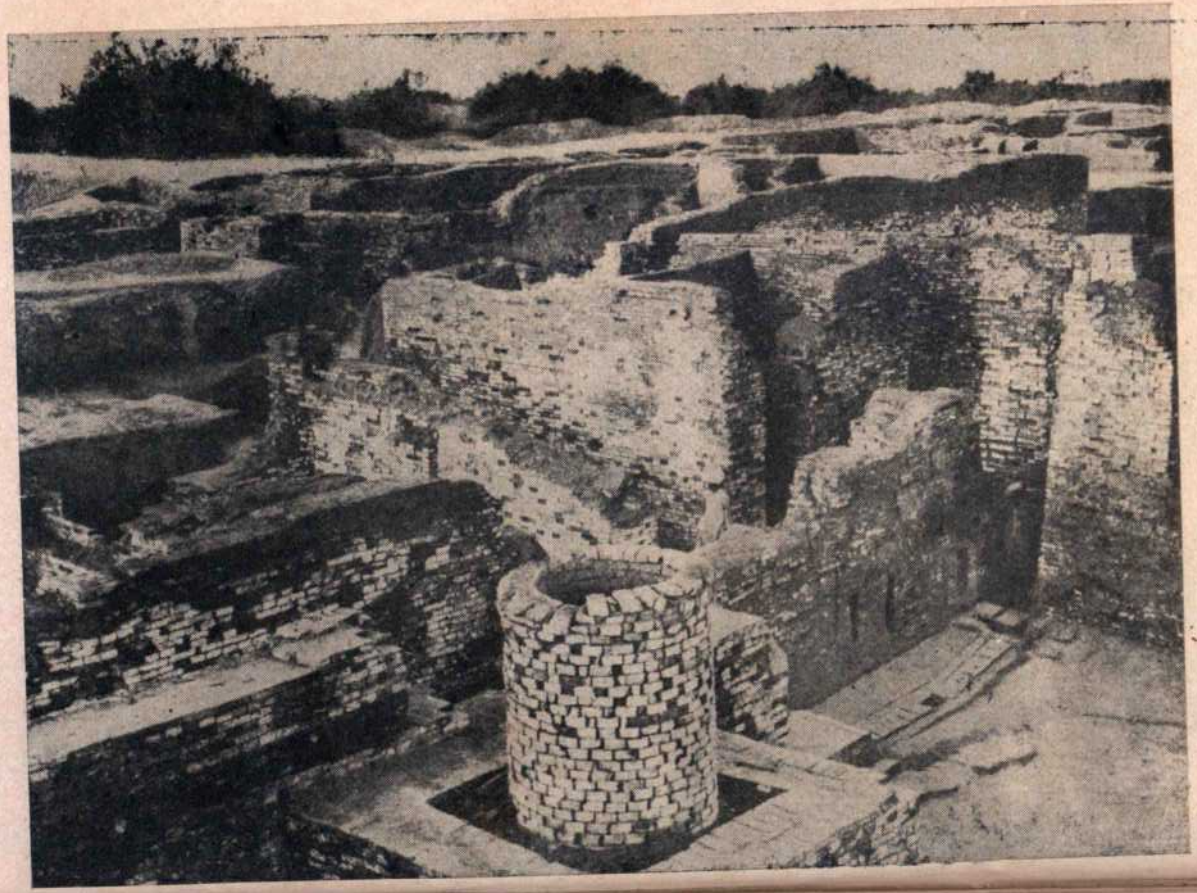

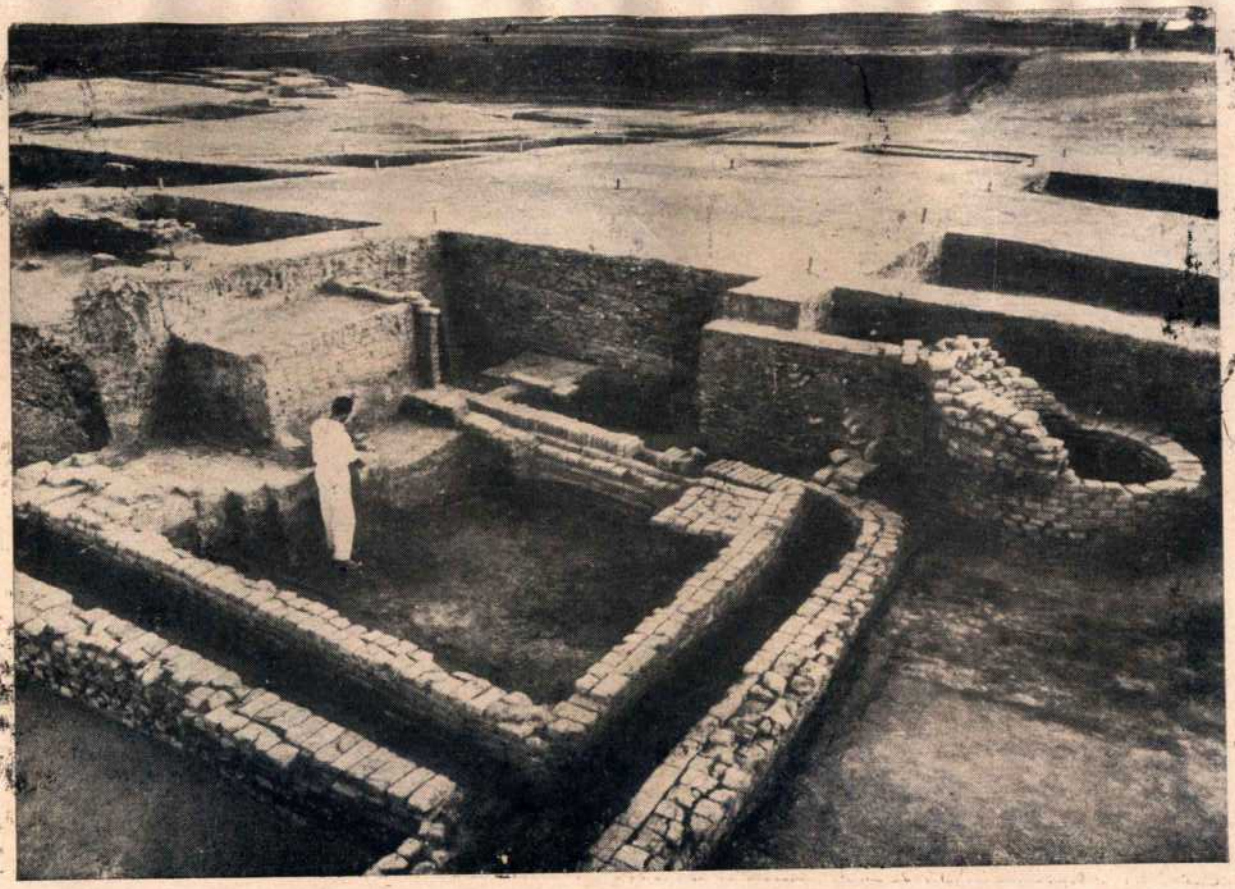

लोथल—जल-निकास प्रणाली

मोहन जोदड़ो से प्राप्त मृद्भाण्ड

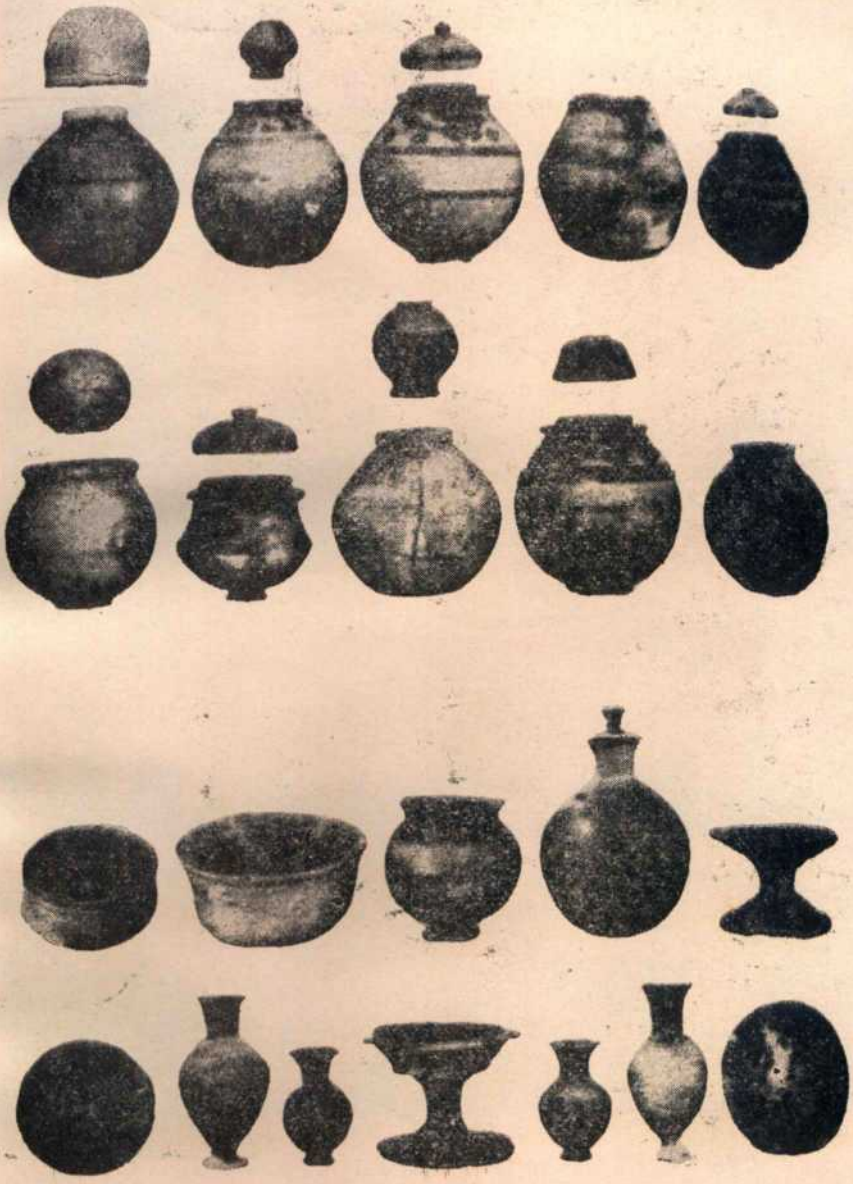

हड़प्पा से प्राप्त विविध प्रकार के भाण्ड

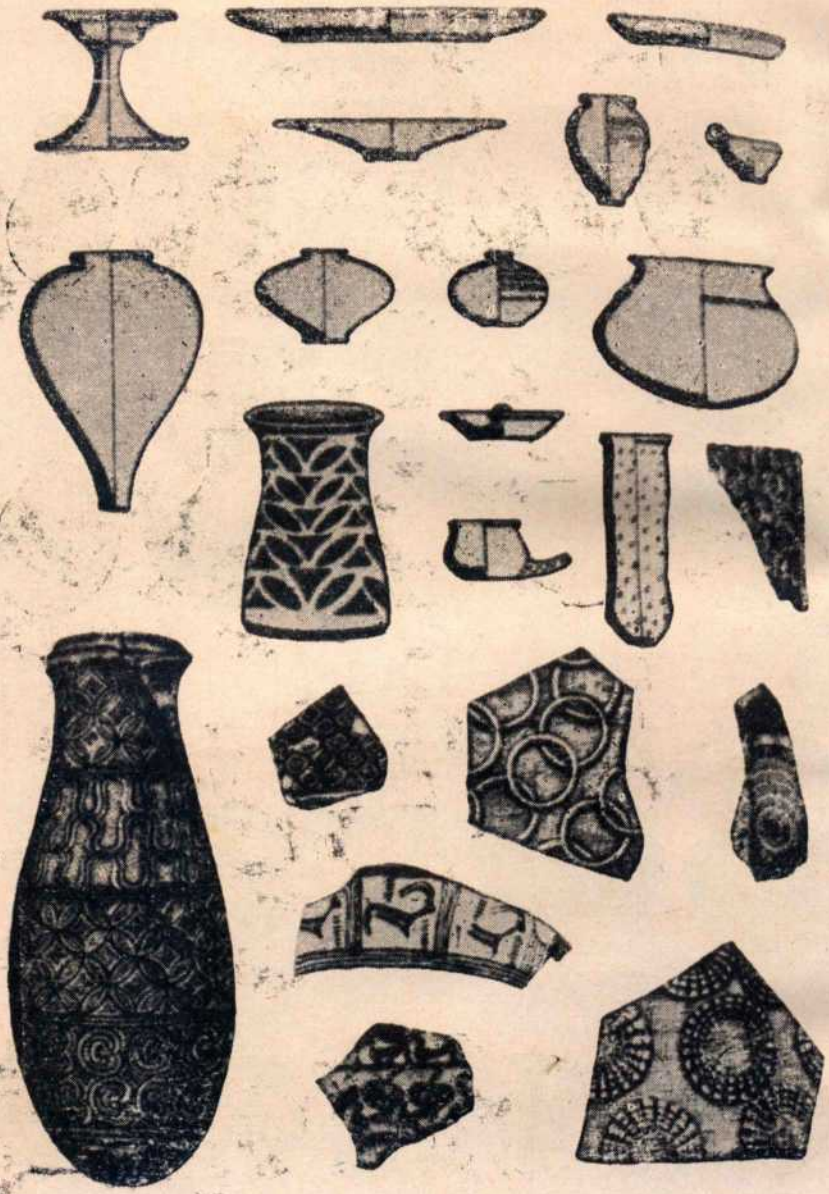

मृद्भाण्डों पर अंकित आशय

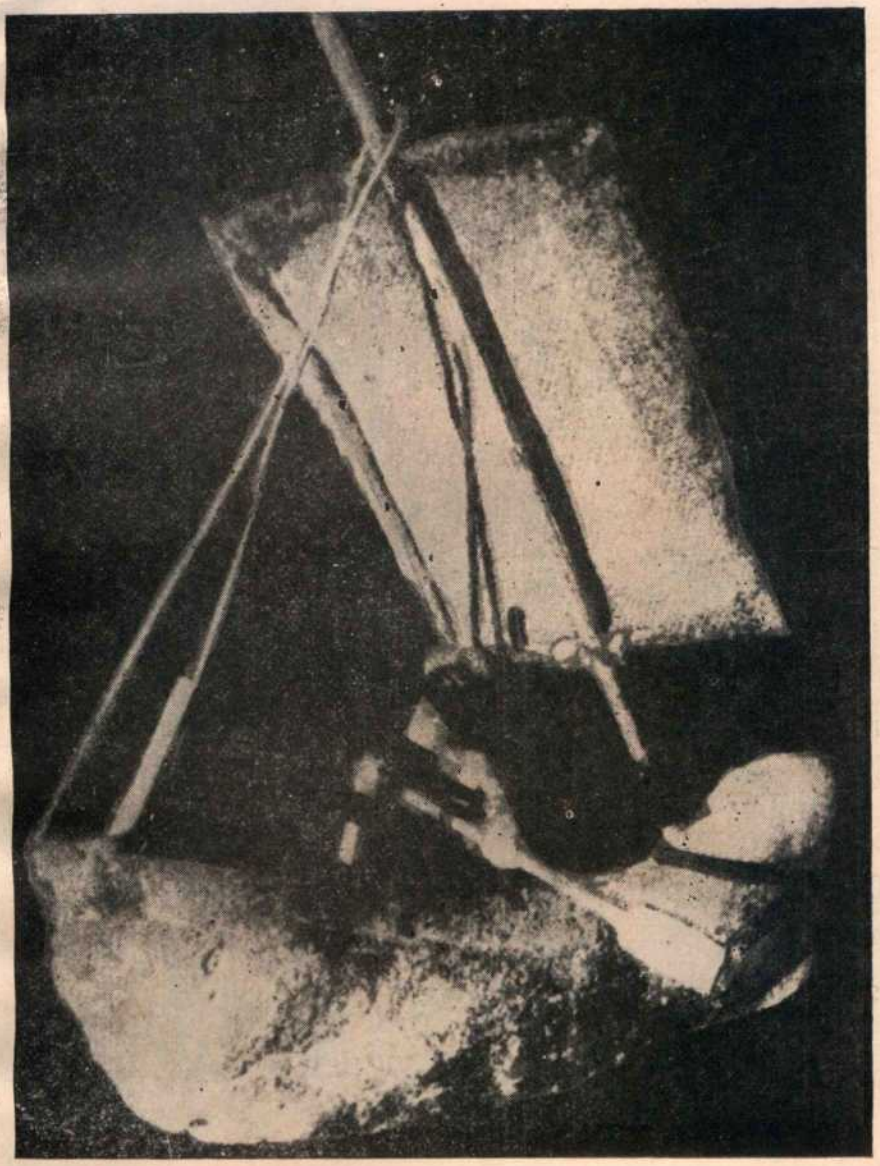

मिट्टी की बनी नाव

मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्राएँ

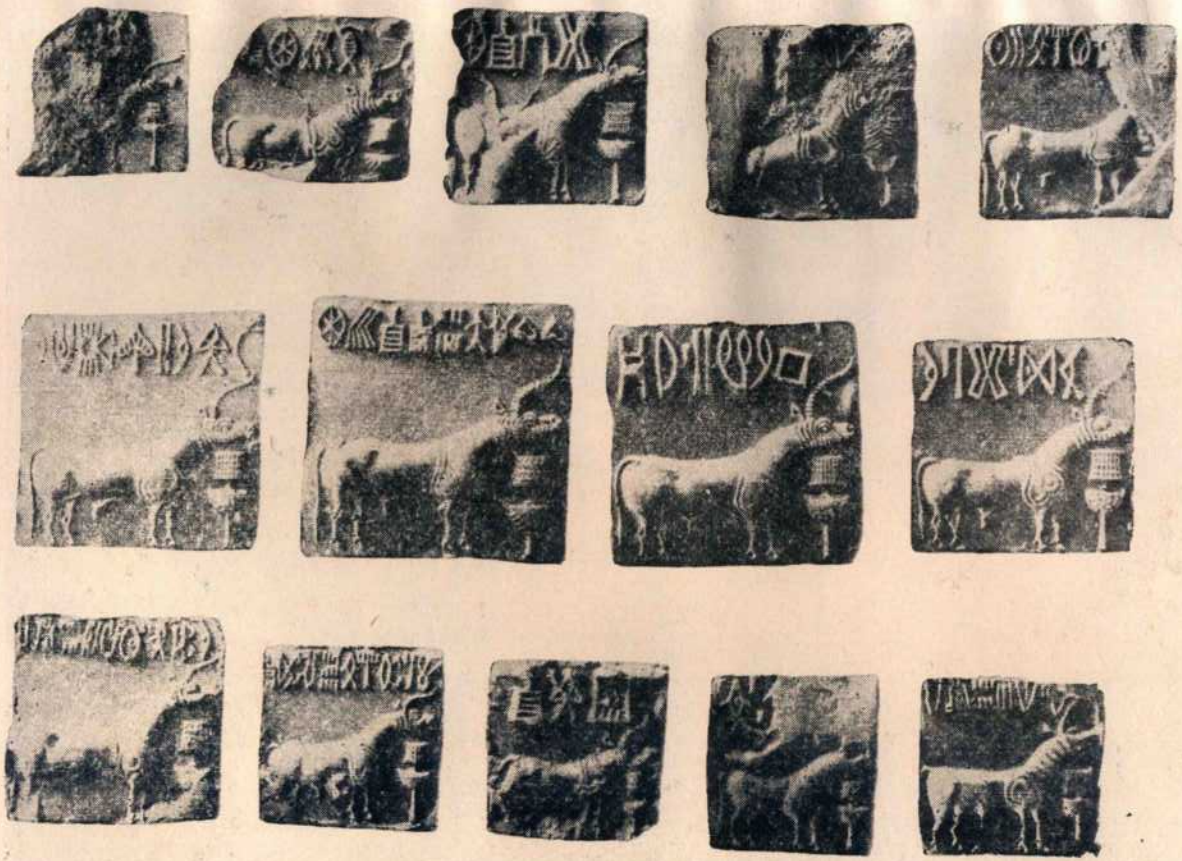

हड़प्पा से प्राप्त मुद्राओं की छाप

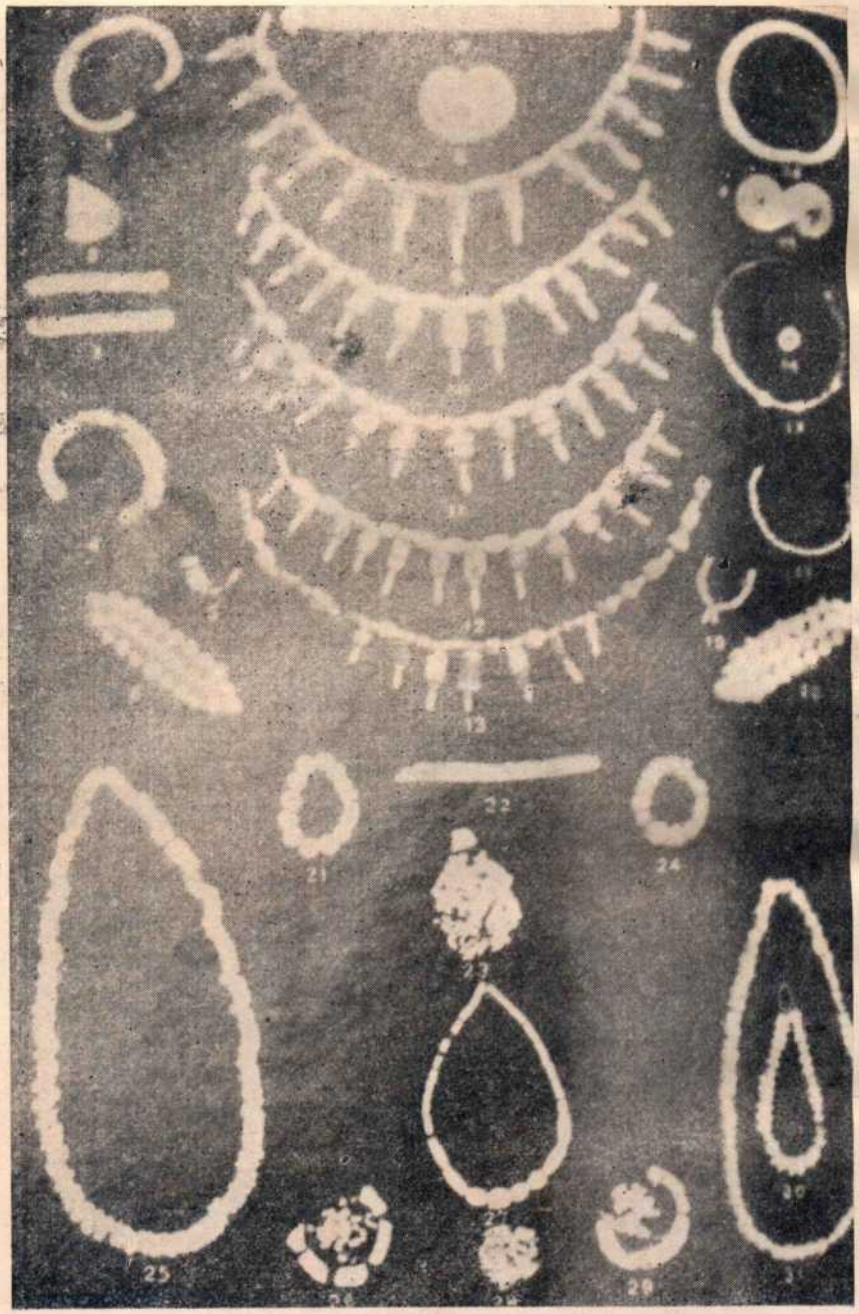

हड़प्पाकालीन अलंकार

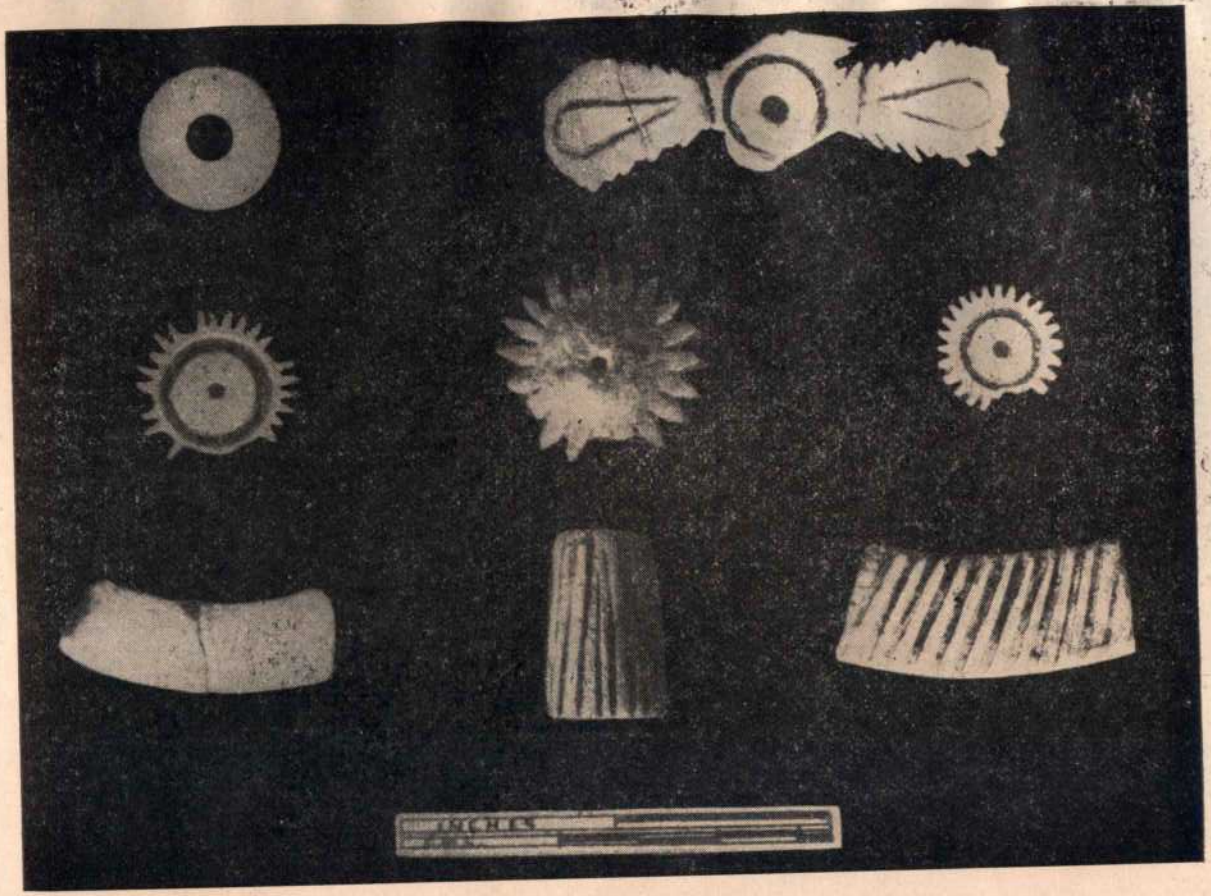

लोथल से प्राप्त सेलखडी के अलंकार

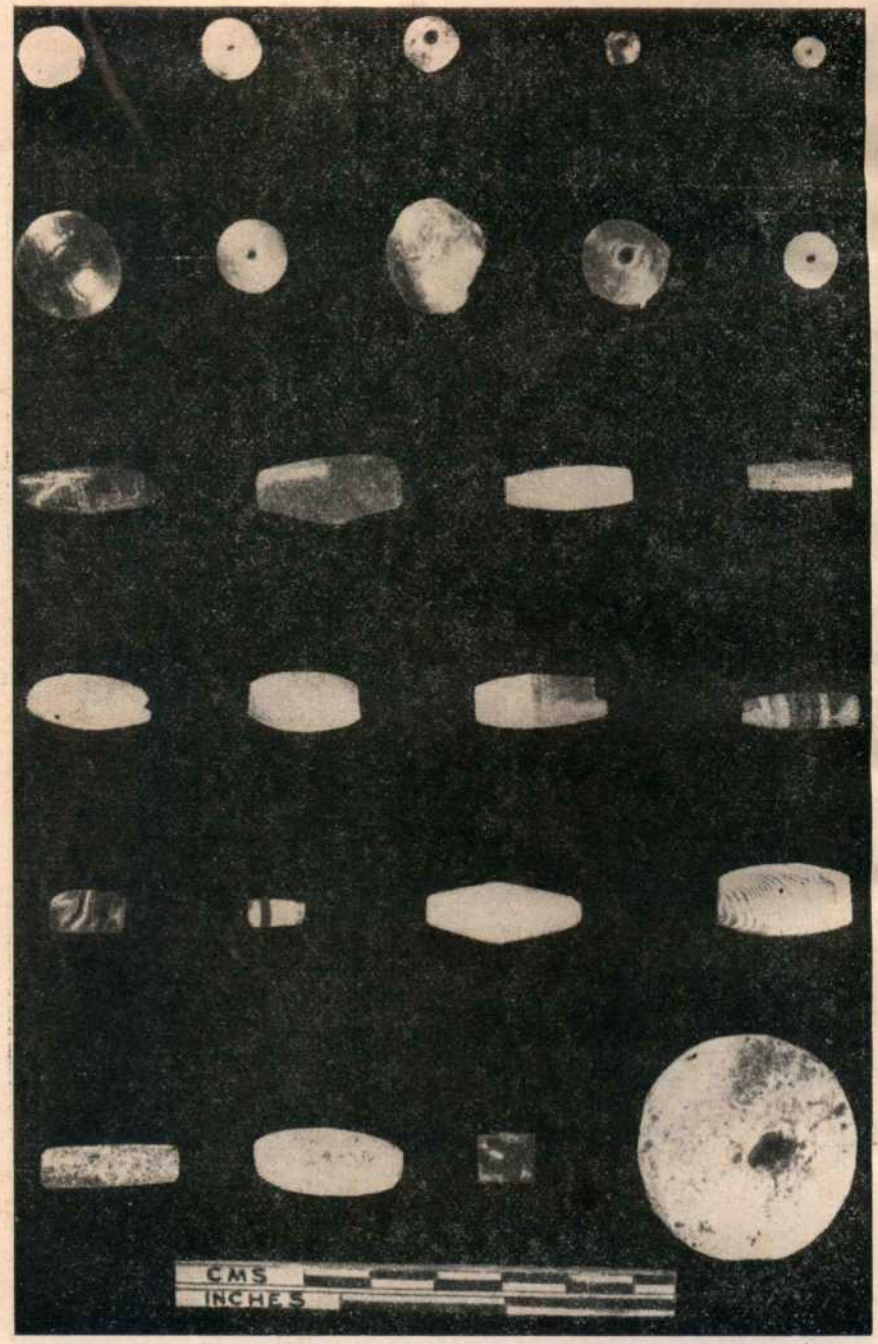

दायमाबाद की खुदाई से प्राप्त मनके

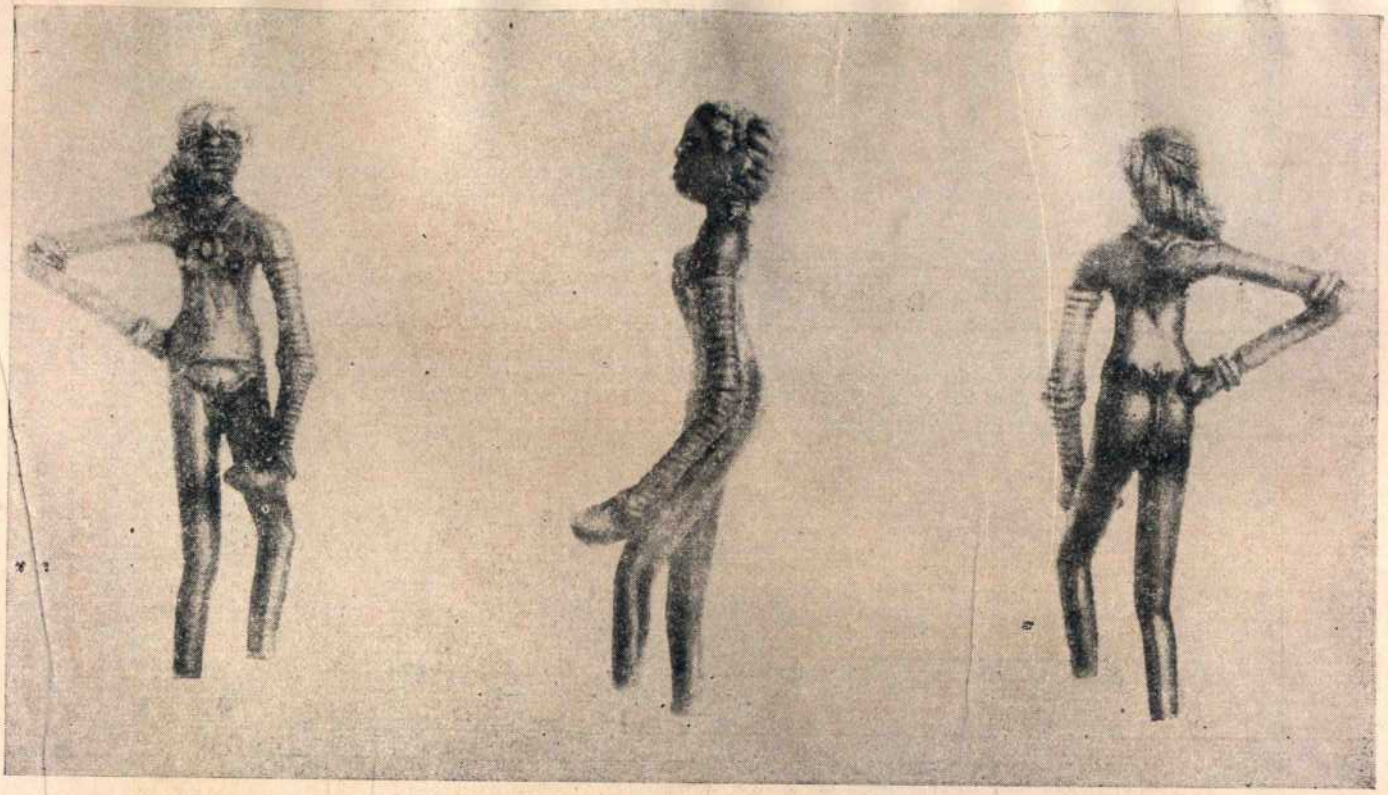

मोहनजोदड़ो से प्राप्त कांस्य-नर्तकी

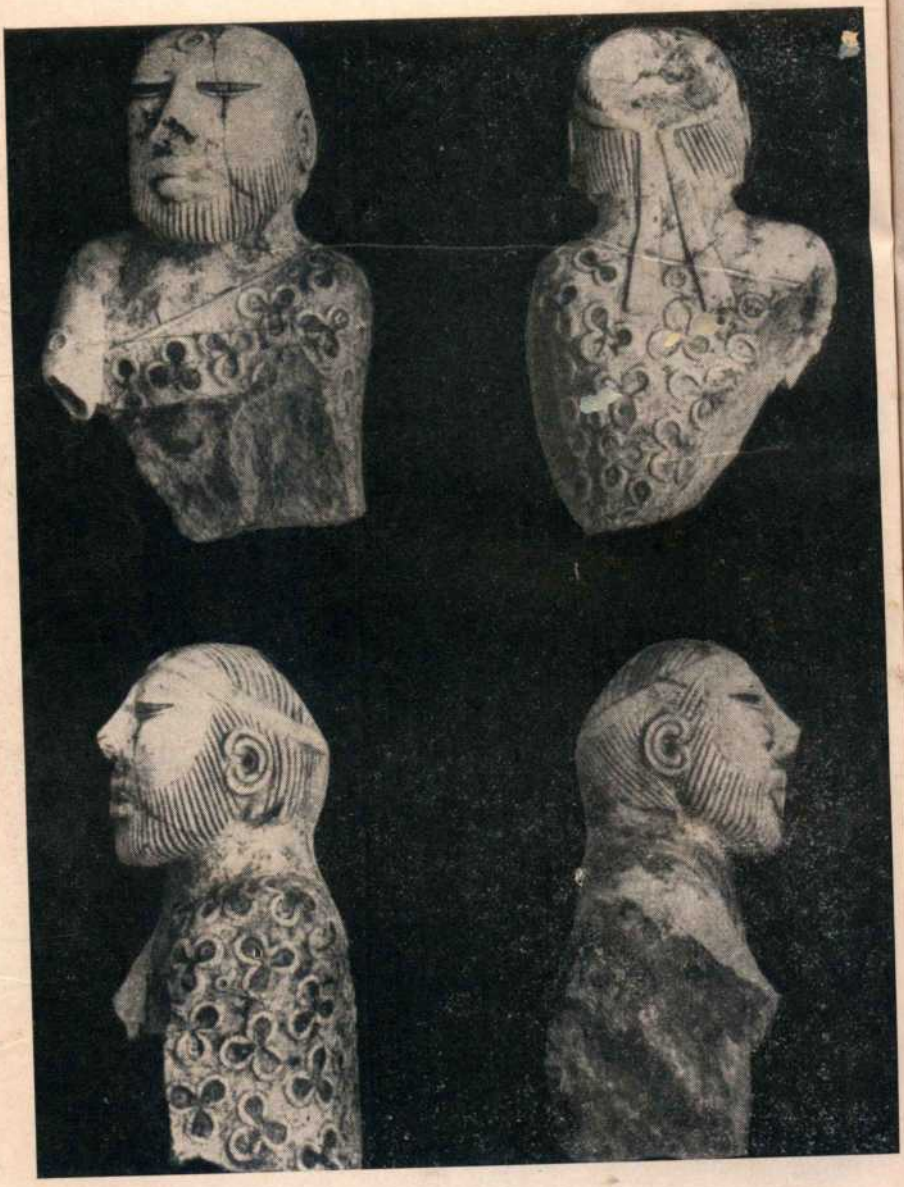

मोहनजोदड़ो से प्राप्त मानवाकृति

कुल्ली-मेही से प्राप्त मानवाकृतियाँ

मोहनजोदड़ो से प्राप्त पशुपति की मुद्रा

निश्चित रूप से व्यक्ति या समाज के अधः-पतन का एक प्रधान कारण है जिसका मूल्य सभी प्राचीन सभ्यताओं को चुकाना पड़ा है, और आज भी चुकाना पड़ रहा है।

सन्दर्भ तथा टिप्पणियाँ

1. एवं परम्परा-प्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः ।
   स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।। गीता, 4.2.
   अहं तां आनयिष्यामि नष्टा वेद श्रुतीन इव । रामा. 4.6.5.
   युगान्ते अन्तर्हितान वेदान्-स इतिहासान् महर्षयः ।
   लेभिरे तपसा पूर्व अनुज्ञाताः स्वयंभुवा ।। सायण द्वारा उद्धृत, ऋभाभू में ।
2. व्यास को मात्र वेदों का ही सम्पादक नहीं माना जाता है, जिसके कारण उनका नाम ही वेदव्यास पड़ा, अपितु उन्हें आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धियों के आधार पर पुराणों की रचना का श्रेय भी दिया जाता है : "आख्यानैः चाप्युपाख्यानैः गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः । पुराण-संहिता चक्रे पुराणार्थ विशारदः...।।विष्णु पु. 3.6.16.
3. एन. एन. ला, 1965 सं., 76 और आगे, शतपथ ब्रह्मण के लिए ज्योतिष-गणना के आधार पर 1800 ई. पू. का समय निर्धारित करते हैं जो परवर्ती हड़प्पा से मिलता है। काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, द्वितीय सं., 14वाँ, वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों और कुछ उपनिषदों को 4000-1000 की एक स्थूल कालसीमा में रखते हैं। कोलब्रुक ने वेदांग ज्योतिष के आधार पर इसके लिए 14वीं शताब्दी की तिथि निकाली थी (एशियाटिक रिसर्चेज, 471; मिसलीनियस एसेज, 1, 108)। इसकी आलोचना में मैक्समूलर ने ऋग्वेद संहिता, खंड 4, प्रथम सं., आमुख 21वाँ और आगे, जो तर्क दिये थे, वे ऋग्वेद के लिए उनके द्वारा निर्धारित काल-सीमा के तर्क और तज्जन्य दोषों से मुक्त नहीं हैं, जिन्हें स्वयं उन्होंने आगे चलकर संदिग्ध माना था और अल्पतम सीमा ही स्वीकार किया था।
4. शतब्रा. 13.5.4.11-14.
5. वही, 15.
6. वही, 16-19.
7. वही, 21-22.
8. मटचीहतेषु कुरुषु आटिक्या सह जायया उषस्तिः ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्रा-

णक उवास ।।

स ह इभ्यं कुल्माषान् खादन्तं विभिक्षे तं ह उवाच । न इतो अन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ।।

एतेषां मे देहि इति ह उवाच तान् अस्मै प्रददौ हन्त अनुपानं इति उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यात् इति ह उवाच ।।

न स्वित् एते अपि उच्छिष्टा इति, न वा अजीविष्यम् इमान् अखादन् इति ह उवाच, कामो म उदक-पानं इति ।

स ह खादित्वा अतिशेषान् जायाया आजहार सा अग्र एव सुभिक्षा बभूव तान् प्रतिगृह्य निदधौ ।

स ह प्रातः संजिहान उवाच यत् बत अन्नस्य लभेमहि धनमात्रां राजा असौ यक्ष्यते स मा सर्वैः आर्त्विज्यैः तृणीत इति ।

तं जाया उवाच हंत पत इम एव कुल्माषा इति, तान् खादित्वा अमुं यज्ञं विततं इयाय ।

तत्र उद्गातृन् आस्तावे स्तोष्यमाणान् उप-उप विवेश स ह प्रस्तोतारं उवाच ।। प्रस्तोतः या देवता प्रस्तावं अनु आयत्ता तां चेत् अविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति इति ।

एवं एव उद्गातारं उवाच, उद्गातः या देवता उद्गीथं अनु आयत्ता तां चेत् अविद्वान् उद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति इति ।

एवं एव प्रतिहर्तारं उवाच प्रतिहर्तः या देवता प्रतिहारं अनु आयत्ता तां चेत् अविद्वान् प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति इति ते ह समारताः तूष्णीं आसां चक्रिरे ।

अथ ह एनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विदिषाण इति, उषस्तिः अस्मि चाक्रायण इति ह उवाच ।

स ह उवाच भगवंतं वा अहं एभिः सर्वैः आर्त्विज्यैः पर्येषिषं भगवतो वा अहं अवित्त्य अन्यान् अवृषि ।

भगवान् त्व एव मे सर्वैः आर्विज्यैः इति, तथा इति, अथ तर्हि एत एव समति-सृष्टाः स्तुवतां यावत् त्व एभ्यः धनं दद्याः तावत् मम दद्या इति, तथा इति ह यजमान उवाच ।। छान्दोग्य उपनिषद् 1.10.1-11 व 1.11.1-3.

9. कोसम्बी, पूर्व., 1946, 38.
10. मनु, 10.83-93.
11. देखें, रोमिला थापर, पूर्व., 1978, 219-20.
12. ऋ. 10.86.1.
13. देखें डांगे, इंडिया फ्रॉम प्रिमिटिव कम्यूनिज्म टु स्लेवरी, 1927,52.

सहायक ग्रन्थ तथा निबन्ध

अर्थववेद संहिता	सं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
अवेस्ता	सं. सोनटक्के, पूना।
ईषादि नौ उपनिषद	गीताप्रेस, गोरखपुर।
ऋग्वेद संहिता	सं. एस. एन. सोनटक्के व सी. जी. काशीकर, 5 खण्डों में, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।
ऋग्वेद संहिता	सं. सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
ऋग्वेद का सुबोध भाष्य	सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
ऐतरेय ब्राह्मण	2 खण्डों में, आनन्दाश्रम, पूना।
काठक संहिता	सं. सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
गोपथ ब्राह्मण	भाष्य. क्षेमकरण शास्त्री, अथर्ववेद भाष्य कार्यालय, इलाहाबाद।
छान्दोग्य ब्राह्मण	कलकत्ता संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता।
छान्दोग्योपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर।
जैमिनीय आर्षेय उपनिषद ब्राह्मण	केन्द्रीय संस्कृत विद्यालय, तिरुपति।
दुर्गा सप्तशती	गीताप्रेस, गोरखपुर।
प्राकृत प्रकाश	वररुचि, सं. कोवेल, कैम्ब्रिज।
बृहदारण्यक उपनिषद	गीताप्रेस, गोरखपुर।
बृहद्देवता	सं. मैकडनल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
बौधायन गृह्यसूत्र	सं. आर. शर्मा शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, नयी दिल्ली।
ब्राह्मणाद्धार कोश	विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर।
भगवद्गीता	गीताप्रेस, गोरखपुर।
भागवत महापुराण	गीताप्रेस, गोरखपुर।

महाभारत	5 खण्डों में, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यट, पूना।
मत्स्यपुराण	आनन्दाश्रम, पूना।
मत्स्यपुराण	अनु. रामप्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
मानव गृह्यसूत्र	सं. रामकृष्ण हर्षजी शास्त्री, पाणिनि, नयी दिल्ली।
मानव श्रोतसूत्र	अनु. गेल्डनर, इंटरनेशनल अकादमी ऑफ़ ओरिएंटल कल्चर, नयी दिल्ली।
मैत्रायणी संहिता	सं. सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
यजुर्वेद संहिता	" " " " "
रामायणम्	सं. वासुदेव शर्मा, इंडोलॉजिकल बुकहाउस, दिल्ली-वाराणसी।
वाजसनेयि संहिता	सं. वेबर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
वायुपुराण	अनु. रामप्रताप शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
शतपथ ब्राह्मण	सं. चिन्नस्वामि शास्त्री, पट्टाभिराम शास्त्री व रामनाथ दीक्षित, चौखम्बा, वाराणसी।
शतपथ ब्राह्मण	अनु. एगलिंग, सैबुईसी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
श्रोतकोश	सं. काशीकर, 2 खण्डों में, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।
सामवेद संहिता	सं. सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।

अग्रवाल, वासुदेवशरण	1966	भारतीय कला, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी।
अरविंद	1972	वेद रहस्य, अरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी।
आप्टे, नागेशभट्ट	1928	हिन्दी सुमेरी संस्कृति, सदाशिव पेंठ, पूना।
ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द	1905	भारतीय प्राचीन लिपिमाला।
काणे, पांडुरंग वामन		दू. संस्क. धर्मशास्त्र का इतिहास, 5 खण्डों में, अनु. अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति, लखनऊ
गोडबोले, रघुनाथ भाष्कर	1928	श्री भारतवर्षीय प्राचीन ऐतिहासिक कोश, पुणें।
चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा	1881	(शकाब्द) वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति,
चाटुर्ज्या, सुनीति कुमार	1954	भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी (मूलतः 1940), राजकमल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

जोशी, लक्ष्मण शास्त्री — सं. 1994 धर्मकोश, सतारा।

त्रिवेदी, रामगोविन्द — 1968 वैदिक साहित्य, ज्ञानपीठ, वाराणसी।

दीक्षित, शंकर बालकृष्ण — 1957 भारतीय ज्योतिष, अनु. शिवनाथ झारखण्डी, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश।

द्विवेदी, कपिलदेव — 1951 अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन, लखनऊ।

नदवी, सैयद सुलेमान — 1930 अरब और भारत के सम्बन्ध, अनु. रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी एकेडेमी, प्रयाग।

पाठक, विश्वम्भर शरण — 1984 प्राचीन भारत में ग्राम और ग्राम्य जीवन की भूमिका।

मजूमदार, रमेशचन्द्र — 1966 प्राचीन भारत में संघटित जीवन, अनु. कृष्णदत्त बाजपेयी, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

मिश्र, सच्चिदानन्द — 1984 प्राचीन भारत में ग्राम और ग्राम्य जीवन पूर्वा संस्थान, गोरखपुर।

मीमांसक, युधिष्ठिर — 1957 वैदिक छन्दोमीमांसा, अमृतसर।

राय, उदय नारायण — 1965 प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

शर्मा, मुंशीराम — 1968 वैदिक संस्कृति और सभ्यता, कानपुर।

शर्मा, रामशरण — 1979 शूद्रों का प्राचीन इतिहास, अनु. विजयनाथ ठाकुर, दिल्ली।

शर्मा, रामविलास — 1979-81 भारत के प्राचीन भाषा-परिवार और हिन्दी, 3 खण्डों में, राजकमल, दिल्ली।

1983 मानव सभ्यता का विकास, दिल्ली।

शास्त्री, कपिलदेव — 1978 वैदिक ऋषि : एक परिशीलन, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

सिंह, भगवान — 1973 आर्य और द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता, लिपि प्रकाशन, दिल्ली।

1985 'वैदिक समाज में नारी', इतिहास, 3,7,53-72.

1986 'ऋग्वैदिक पुर', ऋतम्भरा, श्री उदयवीर शास्त्री फ़ेलिसिटेशन वाल्यूम, 2, 67-74.

Adams, Robert Mac C. 1968 'The Natural History of Urbanization', Smithsonian Annual II, 2, 18-26.

Adams, W.Y. 1968 'Invasion, Diffusion, Evolution ?' Antiquity, XLII, 167, 194-215.

Agrawal, D.P. 1968 'C-14 Dates, Banas Culture and the Aryans', Current Science, 35, March 5, 114-17.

1968a 'Harappan Chronology : A Re-examination of Evidence', Studies in Pre-history, Robert Bruce Foot Memorial Vol., Calcutta, 139-48.

1971 Copper-Bronze Age in India, Munshiram Manoharlal, Delhi.

Agrawal, D.P. and R.K. Sood 1982 'Ecological Factors and the Harappan Civilisation', HC, 223-29.

Alekseev, G.V. *et all* 1969 Soviet Studies on Harappan Script, tr. Hemchandra Pandey, Florida.

Alexander, Till 1961 The Greeks,Thames and Hudson, London.

Ali, Mohammad 1957 'Aryana : Or Ancient Afghanistan', Afghanistan, XII, 1, 29-57.

1961 'A Glance at Afghanistan Cultural Heritage', Afghanistan,XVI, 3, 1-8.

Ali, S.A. 1973 The Geography of the Puranas, Delhi.

Allchin, Bridget 1984 'The Harappan Environment', FIC, 445-54.

Allchin, Bridget and Raymond Allchin 1968 The Birth of Indian Civilisation, Penguin, Harmondsworth.

Allchin, F.R. 1969 'Early Domesticated Animals in India and Pakistan. The Domestication and Exploitation of Plants and Animals, ed. J. Ucko Dimbleby, London.

1969a Early Cultivated Plants in India and Pakistan, *Ibid.*, 246-51.

1969b 'Dilmun and the Gulf of Cambay', Antiquity, XLIII, 172, 315-17.

1973 'Problems and Perspectives of South Asian Archaeology', SAA, 1-12.

1984 'The Northern Limits of the Harappa Culture Zone', FIC, 51-54.

Allen, W.S. 1953 Phonetics in India, Oxford.

Altekar, A.S. 1958 'Vedic Society', CHI, I, 221-33.

Andrewes, Antony 1967 The Greeks, Hutchinson, London.

Apte, V.M. 1958 'Vedic Rituals', CHI, I, 234-63.

1965 'Social and Economic Conditions', The Vedic Age, Bombay.

Ardner, Edwin. 1971 Introductory Essays in Social Anthropology and Language, London.

Arvamuthan, T.G. 1941-42 Some Survivals of the Harappa Culture, New India Antiquary, IV, 294-326.

Asthana, Shashi P. 1979 History and Archaeology of India's Contact with other Countries, Delhi.

1982 'Harappan Trade in Metals and Minerals: A Regional Approach', HC, 271-85.

1984 'The Place of Shehdad in Indo-Iranian Trade', FIC, 253-62.

	1985	Pre-Harappan Cultures of India and Borderlands, Books & Books, New Delhi.
Aurobindo	1956	On the Veda, Pondicherry.
	1962	Vedic Glossary, Pondicher y.
Babun, Edward	1969	The Varieties of Man, London.
Bagchi, P.C.(ed. & tr.)	1929	Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India, Calcutta.
Banerji, N.R.	1965	The Iron Age in India, Munshi-ram Manoharlal, Delhi.
Bannerji, M.N.	1927	'Iron and Steel in the Rgvedic Age', IHQ, 8, 1932, 364-66.
Basham, A.L.	1967	The Wonder that was India, London.
Basu, Jogiraj	1969	India of the Age of the Brahmanas, Calcutta.
Bernt, Ronald M.	1964	The World of the First Australians, London.
Bhargava, M.L.	1964	The Geography of the Rgvedic India, Lucknow.
Bhargava, P.L.	1971	India in the Vedic Age, Lucknow.
	1984	'The word Asur in the Rgveda', ABORI, 64, 1-4, 119-28.
Bhattacharya, B.P.	1979-80	'The Indus Valley Civilisation—An Aryan Culture ?' Puratatva, 11' 140-45.
Birt, Phillip	1964	Finding about Phoenicians, London.
Bisciane, R.	1973	'Dynamics of an Early South Asian Urbanisation: The First Period of Shahr-i-Sokhta and its Connection with Southern Turkmenia', SAA, 105-18.
Bisht, R.S.	1982	'Excavations at Banawali', HC, 113-24.
	1984	'Structural Remains and Town Planning of Banawali', FIC, 89-98.

Bloch, Jules 1929 'Sanskrit and Dravidian', PAPDI, Calcutta, 35 ff.
1954 The Grammatical Structure of Dravidian Language, Poona.
1962 Indo Aryan, from Veda to Modern Times, tr. Alfred Master, Paris.

Bloomfield, L. 1965 Language, London.

Bloomfield, M. 1897 Hymns of the Atharvaveda, SBES, XLII (1964 edn.) Delhi.
1916 Rgvedic Repetitions (1981 edn.), Delhi.

Boas, Franz 1955 Race, Language and Culture, New York.

Bose, A.C. 1966 Hymns from the Vedas.

Braidwood, R.J. 1952 Near East and the Foundations of Civilisation.

Braidwood, J.R, and Willey (eds.) 1960 Courses towards Urban Life, Chicago.

Radcliff-Brown, A.R. 1968 Structure and Function in Primitive Society, London.

Brown, W. Norman 1964 'Indian Games of Pachisi, Chaupar and Chausar', Antiquity, VI, 3, 32-35.

Buck, Carl Darling 1960 Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages, Chicago.

Budh Prakash 1966 Rgveda and the Indus Valley Civilisation, Hoshiarpur.

Buhler, G. 1959 Indian Palaeography, New Age, Delhi.
1894 (1986 edn.) 'Note on Professor Jacobis' Age of the Veda and on Professor Tilak's Orion', Rtambhara, 106-15.

Burrow, T. 1955 The Sanskrit Language, London.
1968 Collected Papers on Dravidian Linguistics, Annamalai.

1969 'Dravidian and Decipherment of the Indus Script', Antiquity, 43, 172, 274-78.

Burrow, T. and Emeneau 1961 A Dravidian Etymological Dictionary, London.

Buxton 1931 'Racial Affinities of the Peoples of India', Census of India, 1931, I, 3, Delhi.

Campbell, A. 1933 A Santhali English Dictionary, Manbhum.

Cardi, Beatrice de 1984 'Some Fourth and Third Century Sites in Sarwan and Jhalawan, Baluchistan in relation to Mehargarh Sequence', SAA-1981, 61-68.

Carnoy, Albert Jr. 1917 Iranian Mythology, Boston.

Casper, Elizabeth D. 1984 'Sumerian Trading Communities residing in Harappan Society', FIC, 363-70.

Cauldwel, (Rev.) R. 1913 A Comparative Grammar of the Dravidian or South Indian Family of Languages, eds. .R.L. Wyatt and T. Ramakrishna Pillai, London.

Chadwick, John. 1968 The Decipherment of Linear B, Cambridge.

Chakaldar, H.C. 1962 The Aryan Occupation of Eastern India, Calcutta.

Chakrabarti, D.K. 1968 'Origin of Ahar Culture', Man in India, XLI, April-June, 97-105.

1973 'Beginning of Iron and Social Change in India', Indian Studies, Past and Present, 14, 329-38.

1976 'The Beginning of Iron in India', Antiquity, L, 114-24.

1979 'Iron in Early Indian Literature', JRAS, 22-30.

1983 'The Issues of the Indian Iron Age', Paper in the Seminar on Recent Advances in Indian

Archeology, Decan College, Poona.

1984 'Origin of the Indus Civilisation : Theories and Problems', FIC, 43-50.

1984-85 'Iron and Urbanization : An Examination of the Indian Context', Puratatva, 15, 68-73.

Chand, R.P. 1961 The Indo-Aryan Races, Rajshahi.

Chatterji, J.M. 1932 Atharvan Zarthustra Gatha, tr. Ardeshir Bilimoria, in Gujarati, Navasari.

1937 The Prshnigatha, i.e. the Gathas of Ramchandra, The Hymns of Zarathustra or the Cream of Atharvaveda, Navasari.

Chatterji, S.K. 1926 The Origin and Development of the Bengali Language, Calcutta.

1929 'Some More Austric Words in Indo-Aryan', PAPDI, Calcutta.

1948 'Sir William Jones', Sir William Jones Centenary Volume, 81-86.

1954 'Old Tamil and Ancient Tamil', Indian Linguistics, XIV, pt. I and II.

1958 'Linguistic Survey of India : Languages and Scripts', CHI, 53-75.

1965 'Race Movements and Prehistoric Cultures', The Vedic Age.

1968 Balts and Aryans in their Indo-European Background, Simla.

Chattopadhyay, B.K. 1965 'Mohenjodaro and Aryan Colonisation of Mesopotamia', VIJ, III, 1, 111-16.

Chattopadhyay, D.P. 1959 Lokayat, New Delhi.

Chattopadhyay, K.P. 1970 Ancient Indian Cultural Contacts and Migrations, Calcutta.

Childe, G. 1942 What Happened in History, Penguin, Harmondsworth.

1952 New Light on the Most Ancient East, London.
1965 Man Makes Himself, London.
1979 'Prehistory and Marxism' (Posth.), Antiquity, LIII. 93-95.

Colebrooke, H.T. 1805 'On the Vedas or Sacred Writings of the Hindus', Asiatic Researches, VIII, Calcutta, 369-476.

Costantini, Lorenjo 1984 'The Beginning of Agriculture in the Kachi Plain : The Evidence of Mehargarh', SAA 1981, 29-33.

Cowgill, Warren 1970 Comment on 'Origins of Settled Farming in Temperate Europe', by Bernard Wailes, IE and IEs, 279-305.

Cox, Sir George 1963 The Mythology of the Aryans, Varanasi.

Cunningham 1924 Ancient Geography of India, Calcutta.

Curzon, A. 1856 'On the Original Extension of Sanskrit Language over Certain Portions of Asia and Europe', JRAS, XVI, 172 ff.

Dales, George F. 1962 'Harappan Outpost on the Makaran Coast', Antiquity, 36, 1 ff.
1964 'Mythical Masscre at Mohenjo-daro', Expedition. 6, 3, 36-43.
1965 'Civilisation and Floods in the Indus Valley', Expedition, 7, 4, 36-43.
1973 'Archaeological and Radio-carbon Chronologies for Proto-historic North West India', SAA, 157-70.
1982 'Mohenjo-daro Miscellany: Some Unpublished, Forgotten or Misinterpreted Features', HC 97-105.

1984 'Sex and Stone at Mohenjodaro', FIC, 109-16.

Dandekar, R.N. 1967 'Vedic Religion and Mythology'. Review of Indological Research in the last 75 Years.

Dange, S.A. 1972 India from Primitive Communism to Slavery, New Delhi.

Dani, A.H. 1963 Indian Palaeography, Oxford.

1981 Indus Civilisation, New Perspectives, (ed.) Islamabad.

Darlington, C.D. 1963 Chromosome Botany and the Origin of Cultivated Plants, London,

Darmesteter, James 1975-80 The Zend Avesta, SBES, IV, XXII, Delhi.

Davis, H,S. 1955 'Some Contacts and Affinities between the Harappan and Sumerian Cultures and Their Date. Could either have been Aryan ?' Indian Culture, Calcutta 4, 169-75.

1956 'Some Further Contacts and Affinities between Egypto-Minoan and the Indo-Dravidian Sumerian Culture', Indian Culture, 6, 56 ff.

Davis, Richard S. 1984 'The Soan in Central Asia ? Problem in Early Palaeolithic Culture History', SAPSA, 23-32,

Dennell, R.W. 1984 'The Importance of Potwar Plateau, Pakistan, to Studies of Early Man', SAA-1981, 10-20.

Deshmukh, P.R. 1958 Indian Civilisation in the Rgveda, Yeotmal.

Devasthali, G.V. 1967 'Vedic Literature', Review of the Indological Research in the last 75 Years.

Devichand 1980 The Yajurveda, New Delhi.

Dhavalikar, M.K. 1984 'Sub Indus Cultures of Central and Western India', FIC, 243-52.

Diringer, David 1953 and 1968 edns. The Alphabet : A Key to the History of Mankind, London.

Dixit, K.N. 1981 'The Excavations at Hulas and further Explorations in the Ganga-Yamuna Doaba', Man and Environment, 1978-79.

1984 'Late Harappans in North India', FIC, 253-70.

1986 'Archaeology of Ganga-Yamuna Doab', Rtambhara, 51-54.

Dupree, Louis 1963 'Result of an Archaeological Survey in Afghanistan', Afghanistan, XVIII, 2, 1-15.

1973 Afghanistan, Priceton.

Durant, Will. 1954 Our Oriential Heritage, New York.

Durrani, F.A. 1984 'Some Early Harappans in Gomal and Bannu Villages', FIC, 505-31.

Dyen, Insidore 1970 'Background 'Noise' or 'Evidence' in Comparative Linguistics : The case of Austronesian-Indo-European Hypothesis', IE& IEs, 430-40.

Dyson, R.H. (Jr.) 1982 'Paradigm Changes in the Study of Indus Civilisation', Harappa Civilisation.

Eggling, Julius 1978 Shatpath Brahman, SBES, XII, XXV, XLI, XLIII, and XLIV, Delhi.

Ehnrich, R.W. 1970 'Some Indo-European Groups of the Middle Danube and Balkans: Their Boundaries as Related to Culture Geography through Time', IE & IEs.

Emeneau, M.B. 1966 'The Dialects of the Old Indo-Aryan', Ancient Indo-European Dialects, ed. Henrik Birnbaum, California, Los Angels.

Fairservis, W.A. 1975 The Roots of Ancient India, Chicago.

1982 'Allahdino : Excavation of a Small Harappan Site', HC, 107-12.

1984 'Archaeology in Baluchistan and the Harappan Problem', FIC, 277-88.

1984b 'Harappan Civilisation According to its Writing', SAA-1981, 156-61.

Fairservis. W.A. (Jr.) 1967 'The Harappan Civilization—New Evidence and More Theory', AMN, New York.

Fentress, Marcia A. 1982 'From Jhelam to Yamuna : City Settlements in the Second and Third Mill. B.C.', HC, 245-60.

1984 'The Indus Grannaries: Illusion, Imagination and Archaeological Reconstruction', SAPSA, 89-98.

Findey, M.I. 1963 The Ancient Greeks, London.

Fischer, Klan 1961 'Preliminary Notes on Some Ancient Remains at Qunduz', Afghanistan, XVI, 1, 12-26.

Flam, Louis 1984 'The Palaeography and Prehistoric Settlement Patterns of the Lower Indus Valley, Sind, Pakistan', SAPSA, 77-82.

Francfort, Henri Paul 1984 'The Early Period of Shortugai (Harappan) and the Western Bactrian Culture of Dishly', SAA-1981, 170-75.

1984b 'The Harappan Settlsment of Shortugai', FIC, 301-10.

Frankfurt, Henri 1954 The Birth of Civilisation in the Near-East, London.

Frost, Honor 1963 Under the Mediterranian, London.

Gadd, C.J. 1932 'Seals of Ancient Style found at Ur', PBA, XVIII, 1-22.

Gadd, C.J. and Sidney Smith 1924 'The New Links between Indian and Babylonian Civilisation'. ILN, Oct. 4, 614-16.

Ghosh, A. 1964 'Archaeology in India', Expedition, 6, 3, 12-17.

1973 The City in Early Historical India, Delhi.

1982 'De-Urbanisation of the Harappa Civilisation', HC, 321-24.

Ghosh, B.K. 1958 'The Origin of Indo-Aryans', CHI, 1, 129-43.

1965 'The Aryan Problem', The Vedic Age, Bombay.

Ghoshal, U.N. 1957 Studies in Indian History and Culture, Calcutta.

Ghurney 1952 The Hittites, Baltimore.

Giles 1921 'The Aryans', (1967 edn.) CHI, I, 58-68.

Gimbutas, Marija 1960 The Balts, London.

1970 'Proto Indo-European Culture : The Kurgan Culture during Fifth, Fourth and Third Millennia B.C.', IE & IEs, 155-98.

Coldstucker, T. 1965 Panini : His Place in Sanskrit Literature, Varanasi.

Goodenough, Ward H. 1970 'The Evolution of Pastoralism and Indo-European Origins', IE & IEs, 253-56.

1959 'The Indo-Europeans', Encyclo. Brit., 12, 262-64.

Gordon, D.H. 1960 The Pre-Historic Background of Indian Culture, Bombay.

Grierson 1967 Linguistic Survey of India, Vol. I, Delhi.

Griffith, Ralph T.H. 1973 The Hymns of the Rigveda, New Delhi.

Guha, B.S. 1931 'Racial Affinities of the Peoples of India', Census of India, 1, 3, Delhi.

Guha, J.P. 1967 Seals and Statuettes of Kulli, Zhob, Mohenjo-daro and Harappa, New Delhi.

Gupta, M.N. 1980-81 'The Authors of the Indus Seal Texts or the Indus Seal Motifs', Puratatva, 12, 47-53.

Gupta, S.K. 1968 'The Aryan Problem', JBRS, Jan.-Dec., LIV, 1-4.

Gupta, S.P. 1967 'The Mountaneous Neolithic Cultures of Central Asia and Northern India', The Anthropologist, XIV, 2, Sept., 125-36.

1970 'Prehistoric Indian Cultures in Soviet Central Asia', ICWTC, 239-48.

1972 Disposal of the Dead and Physical Types in Ancient India, Delhi.

1979 Archaeology of Soviet Central Asia and the Indian Borderlands, 2 vols, Delhi.

1980-81 'Herding as the Backdrop to the Growth of Agriculture in West and South Asia', Puratatva, 12, 101-11.

1982 'The Harappans : A Study in Cultural Dynamics', HC, 51-59.

1984 'Internal Trade of the Harappans', FIC, 417-24.

1986 'The Problem of the Aryans and Archaeology', Rtambhara, 87-89.

Gurov, N.V. *et all* 1973 Proton Indica, tr. Hemchandra Pandey, Florida.

Haddon, Alfred C. 1934 History of Anthropology, London.

Haig, W. and C. Frederick 1968 'Afghanistan', Encyclopaedia Britanica, Vol. I, 283-88.

Hawkes, Jacquetta and Sir Leorard Woolley 1963 History of Mankind : Cultural and Scientific Development, I, London, 1963.

Haywood, Richard M. 1965 Ancient Greece and the Near East, London.

Hegde, K.T.M., R.V. Karanth and S.P. Sychanthavong 1982 'On the Composition and Technology of Harappan Micro-beads', HC, 239-44.

Heidel, Alexander 1963 The Gilgamesh Epic and Old Testament Parallels, Chicago-London.

Heine-Geldner, R. 1936 'Archaeological Sources of Vedic Aryans', JISOA, 4, 87-113.

1958 'The Coming of the Aryans and the End of Harappan Civilisation', Man, 56, 136-40.

Heskel, Denis L. 1984 'Iran and Indus Valley Connections'. FIC, 333-46.

Hutton, J.H. 1952 Caste in India, Cambridge.

Heras, S.J. 1936 'The "Minovan" in Mohenjodaro', JOR, 281 ff.

1942 'Were the Mohenjodarians Aryans or Dravidians ?', JIH, XI, 23-33.

1954 'Proto Indian Origin of the Sumerian Civilisation', Sardar Panikkar Sastyabda-Purti Sovenir, 120-29.

Heskel, Denis L. 1984 'Iran and Indus Civilisation Connections', FIC, 333-46.

Herzfeld, Ernst 1947 Zoroaster and his World, 2 Vols, Princeton.

Hewitt, R. 1957 From Earthquake, Fire and Flood, London.

Higgs, E.S. and Jarman 1969 'The Origin of Agriculture', Antiquity, XLIII, 169, 31-34.

Hillebrandt, Alfred 1980-81 Vedic Mythology, 2 Vols., tr. S.R. Sharma, Delhi.

Hrozny, Bedrich 1962 'Human Skeletal Remains from Harappa', Anthro. Survey of India, Memoir No. 9.

Hunter, G.R. 1934 The Script of Harappa and Mohenjodaro and its Connection with other Scripts, London.

Hutchinson, J.B. 1974 'Crop Plant Evolution in the Indian Subcontinent', Evolutionary Studies in World Crops, Ed. Sir J. Hutchinson, Cambridge.

Hutton, J.H. 1952 Caste in India, Cambridge.

Jansen, Michel 1984 'Preliminary Results of Two Years Documentation in Mohenjodaro', SAA-1981, 135-53.

Jarrige, J.F. 1982 'Excavations at Mehragarh', HC, 79-84.

1984 'Towns and Villages of Hill and Plain', FIC, 280-300.

1984b 'Chronology of Earlier Periods of Greater Indus as seen from Mehragarh, Pakistan', SAA-1981, 21-28.

1985 Introduction to Pre-Harappan Cultures of India and Borderlands, by S.P. Asthana.

Jayaswal, K.P. 1924 Hindu Polity, Culcutta.

Jesperson, Otto 1954 Language : Its Nature, Development and Origin, London.

Johnson, B.L.C. 1971 'Irrigation in West Pakistan', ICO, XXVIII, Canberra.

Jones, Tom 1969 The Sumerian Problem, New York.

Jones, (Sir) Willian 1972 'On the Gods of Greece, Italy and India', (Originally pub. 1784 and since revised), Transactions of the Society Institute in Bengal, Varanasi.

Joshi, J.P. 1978 'Interlocking of Late Harappa Culture and Painted Grey Ware in the light of Recent Excavations', Man and Environment, 2.

1972 'Transformation of Harappan Culture in Kaccha : Examination of Evidence from Surkotada'.

1972b 'Excavations at Surkotada, Old and New Light on the Harappan Migration', JOI, Baroda, 98-144.

1986 'Settlement Patterns in Third, Second and First Millennia B.C. in India with special Reference to Recent Discoveries in Punjab', Rtambhara, 134-39.

Joshi, P.M. 1967 'Further India', Review of Indological Research in the last 75 Years, 289-346.

Kalla, Lakshmidhar 1930 The Home of the Aryans, Delhi.

Kanga, Ervad F. and Sontakke 1962 Avesta, Poona.

Keith, Arthur 1936 Review of B.S. Guha's 'Racial Affinities of the People of India', Man, 29, London.

Keith, A.B. 1917 Mythology of All Races, Vol. 4, Boston.

1925 'The Date of Zoroaster and the Rgveda', Hist. Quarterly, 1, 1, March, (reprint 1985), 4-17.

1921 'The Age of the Rgveda', Cambridge History of India, 1962 edn. 1, 69-90.

? 'Babylon and India', Kuppuswami Sastri Commn. Volume, Madras.

Kennedy, Kenneth A.R. 1982 'Skulls, Aryans Flowing Drains : The Inference of Archaeology and Skeletal Biology, in the Study of Harappan Civilisation', HC.

1984 'Trauma and Disease in the Ancient Harappans', FIC, 425-36.

Kesharwani, Arun 1986 'The Problem of Indo-Aryans and the West Asian Documents with reference to Boghazkoi Tablet and Kikkuli Text', Rtambhara.

Khan F.A. 1964 'Archaeology in Pakistan', Expedition, 6, 3, 2-11.

Kittel, (Rev.) F. 1894 Kannad English Dictionary, Manglore.

Kohl, Philip 1984 'Prehistoric Turan and South Turkemenia : Problem of Cultural Diversity', FIC, 321-32.

Konish, M.A. 1984 'Pre' or 'Early' Harappan Culture : A Conceptual Battle', FIC, 37-42.

Konow, Sten 1906 Linguistic Survey of India, Vol. 4.

Kopf, David 1969 British Orientalists and Bedgal Renaissance, Calcutta.

Kosambi, D.D. 1946 'Early Stages of Caste System in Northern India', JBRAS, New Series, 22 ff.

1951 'On a Marxian Approach to Indian History', BORI, XXXI, 258-66.

1953 'Brahmin Clans', JAOS, 73, 4, 202-08.

1953b 'The Study of Ancient Indian Tradition', Indica, The IHRI Silver Jubilee Commemn. Vol., Bombay, 196-214.

1955 'What Constitutes Indian History', BORI, XXXV, 194-201.

1962 Myth and Reality, Bombay.

1965 The Culture and Civilization of India, Bombay.

Krammer. S.N. 1963 'Dilmun : Quest for Paradise', Antiquity, XXXVII, 111-15.

1964 'The Indus Civilisation and Dilmun, the Sumerian Paradise Land', Expedition, 6, 3, 44-52.

Krishnarao 1969 'Solution of the Indus Script', The Hindustan Times, Weekly, New Delhi.

Krogman, W.M. and W.H. Sassman 1943 'Skulls Found at Chanhudaro', Chanhudaro Excavations by Norman Brown, Connecticut, 252-59.

Kuhn Raja, C. 1958 'Vedic Culture', CHI, I, 199-220.

Lal, B.B. 1953 'Proto-historic Investigations', Ancient India, 9, 80-102.

1954-55 'Excavations at Hastinapur and other Explorations in Upper Ganges and Sutlej Basin, 1950-52', Ancient India, 10-11.

1980-81 'Archaeology in India since Independence : Some Random Thoughts', Puratatva, 12, 17-21.

Lal, B.B. and S.P. Gupta (eds) 1986 'Frontiers of Indus Civilisation, New Delhi.

Lal, B.B. and B.K. Thapar 1967 'Excavation at Kalibangan : New Light on the Indus Civilisation', Cultural Forum, 34, 78-88.

Lallanji, Gopal 1962-63 'Antiquity of Iron in India', Antiquity, 28, 8-2, 39-54.

Lamberg Karlovsky, C.C. 1972 'Trade Mechanism in Indus Mesopotamian Interrelation', JAOS, 92, 2, 222-30.

1973 'Pre-historic Central Asia', Antiquity, 47, 43-46.

1973b 'Urban Interaction on the Iranian Plateau, Excavations at Tepe Yahya, 1967-1973'. PBA, London, Vol. LIX, 7-43.

1978 'The Proto Elamites on the Iranian Plateau', Antiquity, 52, 114-20.

Lambrick, H.T. 1964 'Sind, A General Introduction', History of Sind Series, Vol. I, Hyderabad, Sind.

Langdon, S.H. 1931 'The Indus Script', Mohanjodaro and the Indus Civilization, Vol. II, 423-55.

1931b 'A New Factor in the Problem of Sumerian Origins', JRAS, 539-96.

Lattimore, Richmond 1962 The Illiad of Homer, Chicago.

Law, B.C. 1924 'Some Tribes of Ancient India', Calcutta.

Law, N.N. 1965 Age of the Rgveda, Calcutta.

Lehman, W.P. 1966 Historical Linguistics, Calcutta.

1968 'Indo European Languages', Ency. Ame. Vol. 15.

1970 'Linguistic Structure as Diacritical Evidence On Proto Culture', IE & IEs, 1-10.

Leshnik, L.S. 1973 'Land Use and Ecological Factors in Prehistoric North West India, SAA, 67-85.

Lockwood, W.B. 1969 Indo European Philology, London.

Lord, Robert 1966 Teach Yourself Comparative Linguistics, London.

Macdonell, A.A. 1904 The Brihaddevata (Text trns.) 2 Vols, Cambridge, Mass., U.S.A.

1908 'Sanskrit Litrature', Ch, VI. The Emprial Gazetteer of India, Oxford, Vol. II, 206-69.

1928 A History of Sanskrit Literature, London.

1975 Vedic Grammar, Varanasi.

1981 Vedic Mythology, Delhi, etc.

Macdonell and Keith 1962 Vedic Index, 2 Vols., Hindi tr. Ramkumar Rai, Varanasi.

Mc Crown, D.E. 1942 Comparative Stratigraphy of Early Iran, Chicago.

Mackay, Ernst J.H. 1925 'Sumerian Connections with Ancient India', JRAS, 679-701.

1934 'The Indus Civilisation : Some Connections with Sumer, Elam and the West', JRCAS, XXI.

1938 Further Excavations at Mohenjodaro, 1927-31, 2 Vols., New Delhi.

1948 Early Indus Civilisation, Ed. and revised by Dorothy Mackay, London.

1976 Chanhudaro Excavations, 1935-36, Delhi.

Mahadevan, Iravathan 1950 'Dravidian Parallels in Proto-Indian Script', JTS, II, 1-120.

1977 The Indus Script : Text, Concordance and Tables, New Delhi.

1983 'Cult Objects on Unicorn Seals : A Sacred Filter ?', Paper presented at the 31st International

Congress of Human Sciences, Tokyo, Cycl. pp. 48.

Majumdar, D.N. 1950 Race Relations in Cultural Gujarat, Gujorat Research Society.

Majumdar, R.C. 1948 'Indian Culture as a Factor in the World Civilisation', Sir William Jones Centenary Vol.

Mallowan, M.E.L. 1965 Early Mesopotamia and Iran, London.

Marguerson, Jean-Claude 1965 Mesopotamia, Tr. H.S.B. Harrison, London.

Marshall, (Sir) John 1931 Mohenjodaro and Indus Valley Civilisation, 3, Vols., London.

Masson, V.A. 1976 'Altin-depe and the Bull Cult', Antinquity, 50, 197, 14-19.

1968 'The Urban Revolution in South Turkmenia', Antiquity. XLII, 176-87.

Maucnaughton, D. 1930 A scheme of Babylonian Chronology, London.

Max Muller, F. 1859 Ancient Sanskrit Literature (so far as it illustrates the Primitive Religion of the Brahmanas), London.

1866 Rgveda Samhita, London.

1867-68 Chips from a German Workshop, 2 Vols., London.

1881 Selected Essays on Language, Mythology and Religion, 2 Vols., London.

1888 Biographies of the Words and the Home of the Aryans, London.

1891 The Science of Language, London.

Meadow, R.M. 1984 'A Camel Skeleto n from Mohenjodaro', FIC, 137-40.

Meenakshisundaran, T.P. 1965 A History of Tamil Language, Puna.

Mehta, R.N. 1984 'Valabhi—A Station of Harappan Cattle Breeders, FIC, 218-22.

Mercer, Samuel, A.B. 1959 The Origin of Writing, London,

Mertz, Barbara 1965 Temples, Tombs and Hieroglyphs, Delta Book.

Mill, L.H. 1981 The Zend Avesta (Pt. III), SBES, XXXI, Delhi.

Miller, Daniel 1984 'Malwa' and 'Jorwe' in Chalcholithic India', SAA-1981, 213-20.

Milner, G.B. and Eugenie J.A. Henderson (eds.) 1965 Indo Pacific Lingnistic Studies, Historical Lingnistics, Amsterdam.

Mirashi, V.V. 1967 'Epigraphical Research', Review of the Indological research in the last 75 Years.

Misra, D.P. 1971 Studies in Proto History of India Orient Longman.

Misra, V.N. 1984 'Climate Factor in the Rise and Fall of the Indus Civilisation : Evidence from Rajasthan and Beyond', FIC, 461-90.

Monier Williams 1981 Sanskrit English Dictionary, Delhi.

Mookerji; R.K. 1957 A History of Indian Shipping, Orient Longman.

1960 Ancient Indian Education, Delhi, etc.

Motamedi. Ahmed Ali 1957 'Some Notes on the Mythology of Kafirs of the Hindukush (Before 1898)', Afghanistan, XII, 4, 7 ff.

Mongait, Alexander 1959 Archaeology in the USSR, Moscow.

Mughal, M. Rafique 1982 'Recent Archaeological Research in Cholistan Desert', HC, 85-95.

Nasiri, A. 1962 'The Lapis Lazuli in Afghanistan', Afghanistan, XVII, 4, 48-56.

1963 'The History of Lapis Lazuli in Afghanistan', Afghanistan, XVIII, 1 & 2, 51-56 & 23-28.

Nesfield, J.C. 1885 Tribe and Castes of the North-Western Provinces and Oudh, Allahabad.

Oates, J., T.E. Davidson and H. Mackerrel 1977 'Seafaring Merchants of Ur ?', Antiquity, 51, 221-34.

Oldenberg, Herman 1981 Vedic Hymns, Pt. II, SBES, XLVI, Delhi

Oppenheim, A.L. 1974 'The Seafaring Merchants of Ur', JAOS, 74, 6-17. Reprinted in Ancient Cities of India, ed. G.L. Possehl, 1979, pp. 6-17.

Pande, B.M. 1973 'Inscribed Copper Tablets from Mohenjodaro : A Preliminary Annalysis', Radio Carbon and Indian Archaeology, eds. D.P. Agrawal & A. Ghosh, Bombay.

1983 'The Ships of Meluhha, West ward Sailing', Indian Horizon, XXXII, 2, 7-19.

Pande, B.M. and Ramchandran 1971 Bibliography of the Harappan Culture. Florida.

Pandey, G.C. 1957 Studies in the Origins of Buddhism.

Pandey, Rajbali 1952 Indian Palaeography, Banaras.

Pandya, Suman 1980-81 'Recent Advances in Prehistoric Gujarat', Puratatva, 12, 59-63.

Pargiter, F.E. 1913 The Puranic Texts of The Dynasties of Kali Age, London.

1922 Ancient Indian Historical Tradition, Oxford.

Parpola, Asko. etc. 1969 Decipherment of the Proto-Dravidian inscriptions of the Indus Civilisation, A First Announcement, Spl. Publ. No. 1, Copenhagen.

1969b Progress in the Decipherment of the Proto-Dravidian Script, Spl. Publ. No. 2, Copenhagen.

1970 Further Progress in the Indus Script Decipherment, Spl. Publ. No. 3, Copenhagen.

Paterson, T.T. 1979 'Prehistory of Potwar and Indus Region', A Source Book of Indian Archaeology, Eds, Alchin. & Chakrabarty, Delhi.

Pathak, V.S. 1975 Presidential Address of the 3rd Session of All India Oriental Conference Ahandabad.

1986? Presidential Address of the 12th Annual Congress of the Epigraphical Society, of India, Jabalpur.

Patyal, Hukum Chand 1981 'Non Indo-Aryan Sources as Aid for the Vedic Interpretation', ABORI, 62, 1-4, 219-25.

Paul, Friedrick 1970 'Proto Indo-European Trees', IE & IEs, 11-34.

Piggot, Stuart 1950 Prehistoric India to 1000 B.C.. London.

1961 The Dawn of Civilisation, London.

Possehl, Gregory L. 1967 'The Mohenjodaro Floods : A Reply', Am. Anth., 69, 32-40.

1979 Ancient Cities of India, New Delhi etc.

1980 Indus Civilisation in Saurastra, New Delhi.

1982 'Disvovering Anctient Indias Earliest Cities', HC, 405-13.

1982 Harappa Civilization, Delhi etc.

1984 'A Note on Harappan Settlement Pattern in the Punjab', SAPSA, 83-88.

Prannath 1931 'The Script of the Indus Valley Seals', IHQ, 7, 1-52.

1932 'The Script of the Indus Valley Seals', IHQ, 8 Suppl., 1-32.

1935 'New Light on the Aryans before 1000 B.C. Did India's Culture Come from Babylonia ? Rgveda a Sumerian Document ?', IWI, July 7, 15 & 36.

1935b 'Was Prehistoric Egypt India's Ancestor ? One fifth of the Rgveda Comes from the Nile', IWI, Aug. 4, 17 & 71.

1935c 'Was India Colonised from Egypt ?' IWI, Aug. 18, 17 & 67.

1937 'Sumero-Egyptian Origin of the Aryans and the Rgveda, JBHU, I, 303-58.

Przyluski, Jean 1929 'Non-Aryan Loans in Indo-Aryan', PAPDI, 3-32.

1929 'Further Notes on Non-Aryan Loans in Indo Aryan', PAPDI, Calcutta, 129 ff.

Pusalkar, A.D. 1947 'Mohenjodaro and the Rgveda', Bharat Kaumudi, Studies in Indology in honour of Dr. Radha Kumud Mookerji, Allahabad, II, 551-63.

1965 'Indus Valley Civilisation', The Vedic Age, Bombay, 169-200.

1967-68 'Pre-Harappan, Harappan and Post-Harappan and the Aryan Problem', QRHS, VII. 4, 233-44.

	1967 'Puranic Studies', Review of the Indological Research in the last 75 Years.
Puskas, Idiko	1984 'Society and Religion in the Indus Valley Civilisation', SAA-1981, 162-65.
Radhakrishnan. S.	1966 History of Indian Philosophy, Vol. I, New York.
Rahulkar, V.C.	1964 The Seers of the Rgveda, Poona.
Raikes, Robert L.	1964 'The End of the Ancient Cities of the Indus', Am. Anthropologist, 66, 2, 284-99.
	1965 'Mohenjodaro Floods', Antiquity, XXXIX, 196-203.
	1967 Water, Weather and Prehistory, London.
	1968 'Kalibangan : Death from Natural Causes', Antiquity, XLII, 168, 286-91.
	1977 'Mohenjodaro Floods Reconsidered', Journal of Palaeontological Society of India, 20, 251-60.
	1984 'Mohenjodaro Environment', FIC, 455 60.
Raikes, R.L. & R.H. Dyson (Jr.)	1961 'The Prehistoric Climate of Baluchistan and Indus Valley', Amer. Anthro., 63, 265-81.
Raja, Kunhan	1963 Poet Philosophers of the Rgveda, Madras.
Rajguru, S.N.	1979 'Late Pleistocene Climate Changes in Western India', A source Book of Indian Arehaeology, Delhi.
Ramchandran, K.S.	1970 'Ancient Indian Maritime Ventures', ICWTC, 71-80.
	1984 'Dating of Indus Civilisation', FIC, App. I.
Rao, S.R.	1962 'Further Excavations at Lothal', Lalit Kala, 11, 14-30.

1963 'Excavations at Rangapur and other Explorations in Gujarat', AI, 18-19, 205-07.

1964 'Contacts between Lothal and Susa', ICO, XXVI Session, New Delhi, Summaries of Papers, 10-11.

1965 'Shipping and Maritime Trade of the Indus People', Expedition, 7, 3, 30-37.

1980 Lohal—A Harappan Port town, Delhi.

1980b 'Indus Script and Language', ABORI, 61, 1-4, 131-35.

1982 'New Light on the Urban Phase of the Indus Civilisation', HC, 353-59.

1982b The Decipherment of the Indus Script, Bombay.

Rapson, E.J. 1962 'The Aryans', CHI, Vol. I, Delhi, 58-68.

Rawlinson, H.G. 1926 Intercourse between India and the Western World, Cambridge.

Ray, Sudhanshu Kumar 1963 Indus Script, an Appeal to the Orientalists, Indian Institute. of Egyptology, Memorandum No. 1, New Delhi, 1-16.

1965 Indus Script, Memorandum No. 2, New Delhi.

1965b 'Research, Methodology and the Indus Script', Shakti, III, 1, 31-33.

1966 'Indus Script : Method of Study' Anand K. Coomarswamy Memorial Lecture, New Delhi.

Raychaudhuri, H. 1950 Political History of Ancient India, Calcutta.

Redman, C.L. 1978 The Rise of Civilisation, New York.

Renou, L. 1971 Vedic India, tr. Philip Spratt, Varanasi.

Riseley, H.H. 1902 Tribes and Castes of Bengal, Calcutta.

1907 'Ethnology and Caste', The Imp. Gaz. of India, I, Census Report 1901.

Rishtya, S.Q. 1947 'Afghanistan from Geographical Point of View, Afghanistan, I, 13-18.

1947b 'The Rivers of Afghanistan', Afghanistan, 2, 8-14.

Rowney, H.B. 1882 Wild Tribes of India, London.

Roy, S.B. 1979 'Date of Mahabharat Battle, Astronomical Determinations', Age of Mahabharat, 222-32.

1986 'The Beginnings of Indian Astronomy : 3102 B.C.', Rtambhara, V, 158-70.

Roy, T.N. 1964-65 'Stratigraphical Position of the Painted Grey Ware in the Gangetic Vailey', Bharati, 8, 2.

Sankalia, H.D. 1962 Indian Archaeology Today, Bombay.

1962b Prehistory and Protohistory in India and Pakistan, Bombay.

1962c 'From Food Collection to Urbanisation in India', Indian Anthropology, Essays in memory of D.N. Majumdar, Bombay, 66-104.

1965 'Palaeolithic, Neolithic and Copper Ages', The Vedic Age, Bombay.

1977 Prehistory of India, New Delhi.

Sankrtyayan, Rahul 1964 History of Central Asia, New Delhi.

Santoni, M. 1984 'Sibri and the South Cemetery of Mehargarh, Third Millennium Connection between the Northern Kachi Plain (Pakistan) and Central Asia', SAA-1981, 52-60.

Sarkar, S.S. 1954 The Aboriginal Races of India, Calcutta.

1958 'Race Movement and Races in India', CHI, I.

1964 Ancient Races of Baluchistan, Punjab and Sind, Calcutta.

1972 Ancient Races of India, Delhi.

Saunder Rajan 1982 'Motivation for Early Indian Urbanisation : An Examination', HC, 69-75.

1984 'Kacch Harappans : A Corridor of the Indus Phase', FIC, 211-17.

Sayce, A.H. 1930 'Relation between India and Babylonia in Early Times', Dr. J.J. Modi Memo. Vol., Bombay, 559-64.

Schlaugh, Margaret 1949 The Gift of Tongues, London.

Schrader, O. 1972 Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples, Delhi.

Sen, D.K. 1964-65 'Ancient Races of India and Pakistan—A Study of Method', Ancient India, 20-21, 178-205.

Sethna. K.D. 1981 Karpas in India, New Delhi.

Shaffer, Jim G. 1982 'Harappan Culture: A Reconstruction', HC, 41-50.

1984 'Bronze Age Iron from Afghanistan : Its Interpretation for South Asian Prehistory', SAPSA, 41-62.

Shankaranand 1943-44 The Rgvedic Culture of the Prehistoric Indus, 2 Vols., Calcutta.

1955 The Indus People Speak, Calcutta.

1960-61 'What the Indus Seals Speak ?', PIHC, 23, 1.

1962 Hindu States of Sumeria, When India Ruled the West, Calcutta.

1963 The Dictionary of Indian Hieroglyphs, Calcutta.

1965 History of Mohenjodaro and Harappa, the Rgvedic Culture of the Prehistoric Indus, IV, I, Calcutta.

Shankar Nath 1979-80 'Pre-Harappan Pottery from Distt. Saharanpur, U.P.', Puratatva, 11, 122-23.

Sharer, Robert 1982 'Did the Maya Collapse ? A New World Perspective in the Demise of the Harappan Civilisation', HC, 367-83.

Sharma, A.K. 1974 'Evidence of Horse from the Harappan Settlement of Surkotada', Puratatva, 7.

1982 'The Harappan Cemetery at Kalibangan : A Study'. HC, 297-99.

Sharma, G.R. 1979 'Mesoltithic Cultures in the Ganges Valley', A Source Book of Archaeology, Delhi.

Sharma, R.S. 1974 'The Later Vedic Phase and the Painted Grey Ware', PIHC, Calcutta.

1983 Material Culture and Social Formations, New Delhi.

Sharma, Y.D. 1979-80 'Pre-Harappans in Punjab', Puratatva, 11, 32 38.

Shastri, Suryakant 1950 The Flood Legend in Sanskrit Litrature, Delhi.

Sheard J.A. 1954 The Words We Use, London.

Shereen, Ratnagar 1981 Encounters : The Westerly Trade of the Harappan Civilization, Delhi.

Shendge, Malati 1981 The Civilized Demons, Delhi.

Shrivastava, K.M. 1984 'The Myth of Aryan Invasion of Harappan Towns', FIC, 437-44.

Singh, Bhagwan 1980-81 'Identification of Soma', Puratatva, 154-57.

Singh, Fateh 1952 The Vedic Etymology, Kota.

Singh, Gurdip 1979 The Indus Valley Cultures seen in the Context of Palaeodacial Climate and Ecological Studies', A Source Book of Archaeology, Delhi.

Singh, Ramcharitra 1961 'Homeland of the Aryans', JBRS 48, 1-4,290–311.

Sircar, D.C. - 1960 Studies in the Geography of Ancient India, Delhi.

Smith, Sidney 1931 'Sign List of Early Indus Script', Mohenjodaro and Indus Civilization, II, 418-22.

Sollas, W.J. 2nd Edn. The Age of the Earth and Other Geological Studies, London.

Spate, O.H.K. 1964 India and Pakistan, A General Regional Geography, London.

Srinivasraghavan, K. 1979 'Date of the Mahabharat War', Age of Mahabharat, 210-15.

Stokes, E.T. 1961 'The Administrators and Historical writings of India', Historians of India, Pakistan and Ceylon, London.

Subbarao, Bendpudi 1958 Personality of India, Baroda.

Subbarayappa 1870 'India's Contribution to the History of Science', ICWTC, Delhi, 47-60.

Surajbhan 1968 'Dawn of Civilisation in Haryana', Haryana Studies in History and Culture, Kurukshetra, 1-5.

	1969	'Excavations at Mithathal (Hissar)', JHS. I, 1, 1-15.
Swarup, Lakshman	1941	'Is the Indus Civilisation Aryan or Non-Aryan ?', AIOC, XI Session Summaries, 102-3.
Taddei, Maurizio	1970	The Ancient Civilisation of India, Tr. J. Hogarth, London.
Taraporewala, I.J.S.	1951	The Chants of Zarathustra, Bombay.
Thapar, B.K.	1970	'The Aryans : A Reappraisal of the Problem', ICWTC, 147-64.
	1973	'New Traits of the Indus Civilisation at Kalibangan : An Appraisal', SAA, 85-104.
	1975	'Kalibangan : A Harappan Metropolis beyond the Indus', Expedition, 17, 2, 19-32.
	1984	'Six Decades of Indus Studies', FIC, 1-26.
Thapar, Romila	1978	Ancient Indian Social History, New Delhi.
Thomas, Edward J.	1938	'Mohenjodaro and the Aryans', IHQ, XIV, 326-30.
Tilak, B.G.	1903	The Arctic Home in the Veda, Poona.
Tosi, M.	1973-74	'The Northern Eastern Frontier of the Ancieni Near East', Mesopotamia, VII1-IX, 21-76.
	1979	'The Proto Urban Cultures of Eastern Iran and the Indus Civilisation', SAA-1977, 144-71.
Toynbe, Arnold	1951	A Study of History, Vol. I, London.
Turner, R.L.	1962	Comparative Dictionary of Indo-Aryan Languages, Oxford.
Vats, Madho Sarup	1958	'Indus Valley Civilisation', CHI, I, 110-28.

Vedalankar, Jayachandra Narang 1958 'Regional Structure of India in Relation to Language and History', CHI, 33-52.

Vij, Brij Bhushan 1984 'Linear Standard in the Indus Civilisation', FIC, 153-64.

Vishnumitre 1974 'Palaeobotanical Evidence in India' Evolutionary Studies in World Crops, Diversity and Changes in the Indian Sub-continent, ed. Hutchinson, Cambridge.

1975 'The Beginning of Agriculture'. Indian Express, 19 Nov.

1978 'Origin and History of Agriculture in the Indian Sub continent', Journal of Human Evolution, 7, 31-36.

1979 Palaeobotanical Evidence in India', A Source Book of India Archaeology, Delhi.

1982 'Harappan Civilisation and the Need for a New Approach', HC, 34-39.

Waddel, L.A. 1925 Indo Sumerian Seals Deciphered, London.

Wailes, Bernard 1970 'The Origin of Settled Farming in Temperate Europe', IE&IEs, 279-305.

Wardle, William Lansdel 1959 'Deluge', Eneyclo. Brit., Vol. VII, 173-75.

Wasson, R.G. 1968 Soma, Divine Mushroom of Immortality, New York.

Whatmough, Josua 1956 Language : a Modern Synthesis, London.

Wheeler, R.E.M. 1947 'Harappa, 1946 : The Defence and the Cemetery R. 37', Ancient

India, 3, 81-83.
1953 Civilisation of the Indus Valley and Beyond, London.
1968 Early India and Pakistan, London.
1969 Review of the Birth of Indian Civilisation, by Allchin and Allchin, in Antiquity, 169, 72-73.

Wilson, H.H. 1926 Rgveda Samhita, 6 Vols., Poona.

Winternitz, M. 1927 A History of Indian Literature, 3 Vols., Calcutta.

Wooley, (Sir)C. Leonard 1928 The Sumerians, Oxford.
1934 Ur Excavations II, Royal Cemetery, London, Philadelphia.
1958 History Unearthed, London.

Wright, H.E. (Jr.) 1968 'Climatic Change in Mycenean Greece', Antiquity, 42, 167, 123-27.

Zimmer, Henrich 1953 Myths and Symbols in Indian Art and Civilisation, New York.

अंग्रेजी ग्रन्थ-सूची में प्रयुक्त संकेत

ABORI	Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute. Bombay.
CHI	Cambridge History of India, Delhi.
CHI	Cultural Heritage of India, Calcutta.
Ency Am.	Encyclopedia Americana.
Ency Brit,	Encyclopedia Britanica.
FIC	Frontiers of Indus Civilisation, Ed. B.B. Lal & S.P. Gupta, 1984, New Delhi.
HC	Harappa Civilisation, Ed. G.L. Possehl, 1982. Delhi etc.
ICO	International Congress of Orientalists.
ICWTC	India's Contribution to World Thought and Culture.
IE & IEs	Indo-European and Indo-Europeans.
IHQ	Indian Historical Quarterly, Calcutta,
Imp. Gaz.	Imperial Gazeteer.
IHRI	Indian Historical Research Institute, Bombay.
IWI	Illustrated Weekly of India, Bombay.
Jas	Journal of Asiatic Society, Calcutta.
JBRS	Journal of Bihar Research Society, Patna.
JIH	Jornal of Indian History, Trivandrum.
JOI	Journal of Oriental Institute Baroda.
JRAS	Journal of Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland, London.
PAPDI	Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India, Ed.P.C. Bagchi, Calcutta, 1929.

PBA	Proceedings of British Academy, London.
PIHC	Proceedings of Indian History Congress.
QRHS	Quarterly Review of Historical Studies, Calcutta.
SAA	South Asian Archaelogy.
SAPSA	Studies in the Archaeology and Palaeo-anthropology of South Asia, Ed. Kennedy & Possehl.
SBES	Sacred Books of East Series, Gen. Ed. F. Max Muller.

अनुक्रमणी

अंकुशी—I, 112, 213, 247.
अंगिरा (अंगिरस्)—I, 159, 175, 194, 200, 204, 208, 215, 216, 218, 219, 228.
अंजन—I, 187.
अंडमान—II, 229.
अक्काद—I, 54, 148; II, 157.
अगस्त्य—I, 59, 176, 205, 248, 298; II, 122.
अग्नि—I, 22, 81, 82, 83, 84, 98, 99, 111, 115, 116, 125, 140, 164-67, 171, 182, 183, 184, 198, 200, 201, 202, 208, 218, 235 238, 320, 379, 380; II, 43, 62, 64, 70, 86, 91, 95, 96, 105, 234, 235, 237.
अग्रवाल, डी. पी.—I, 113, 115, 136; II, 241.
अग्रवाल, वासुदेव शरण—I, 23, 34, 392.
अतिथिग्व—I, 189. > दिवोदास.
अत्रि—I, 176, 205.
अदिति—I, 84.
अधिराट—I, 317.
अधिवक्ता—I, 318.
अनऊ—II, 132.
अनस्—I, 116, 193. > बैल.
अनातोलिया—I, 36; II, 138.
अनार्य—I, 51, 63, 75; II, 120, 121, 124, 158.
अनास—I, 81, 322; II, 102, 127.
अन्त्येष्ठि—I, 294-97; II, 17.
अन्नागार—I, 104, 113, 114.
अपराजिता दिशा > दिशा, अपराजिता.
अपांनपात—I, 95.
अप्सरा—II, 117, 121, 160, 161.
अफ़ग़ानिस्तान—I, 42, 54, 150, 182, 212, 217, 226; II, 21, 101, 113, 115, 116, 117, 118, 122-29, 132, 133, 175, 182, 185, 186, 187, 191, 219.
अबाबील—II, 227.
अमरी—I, 340.
अमलनेकर—II, 27.

अम्बरीष—I, 175.
अयस्—I, 42, 44, 87.
अर्कोसिया—I, 221, 222; II, 32.
अर्मीनिया—II, 110.
अर्यमा—I, 84, 99, 192, 196.
अलंकार—I, 110; II, 90. > आभूषण.
अली, एस. ए.—II, 115, 159, 160, 161.
अलीमुराद—I, 51.
अली, मोहम्मद—II, 162.
अलैक्जेंडर टिल—II, 146, 167.
अल्तेकर—I, 326, 327, 330.
अल्फोंसे द' कांदोल—II, 80.
अवाच—II, 127.
अवि—I, 135; II, 163.
अवेस्ता—I, 78. 280; II, 28, 72, 133, 134, 135, 165; —और ऋग्वेद—II, 4-11; —और वैदिक भाषा—8.
अशनि—I, 123.
अश्मचक्र—I, 137.
अश्व—I, 42, 43, 67, 68, 102, 111, 112, 123, 127, 135, 142, 210, 226, 227, 231, 256; —आरोही संस्कृति—I, 42, 43.
अश्विनीकुमार—I, 42, 84, 122, 126, 175, 176, 180, 181, 204, 207, 301.
अष्ट्रा—I, 116, 136.
असि—I, 90.
असुर—I, 76-80, 81, 220; II, 40, 50, 52, 63, 64, 67, 68, 69, 70, 71, 83, 91, 92, 94, 103, 104, 105, 127, 204, 212-13;—शब्द की व्युत्पत्ति—II, 60, 61.
अस्तर घाटी—II, 123.
अस्थाना, शशिप्रभा—I, 188, 189, 212, 213, 256; II, 164, 165, 166, 181, 196.
अस्पृश्यता—II, 250-53.
आइलर, ए. एस.—II, 159.
आंगिरस, भिक्षु—II, 208.
आदित्य—I, 193, 206.
आपिशलि—II, 254.
आप्टे, वी. एम.—I, 137, 210, 334.
आभूषण—I, 109, 127, 153, 186, 215, 316; II, 16.
आर्जुनेय—I, 175, 205.
आर्य—I, 7, 13, 21, 22, 27, 28, 37-40, 43, 61, 64, 75, 177, 215, 220 226, 261, 262, 264, 301, 319; II, 109, 111, 112, 130, 134, 170, 171, 180, 185, 213, 234;—,ईरानी—II, 143;—, भारतीय—II, 143;—बस्तियाँ —II, 108-13;—शब्द का अर्थ/प्रयोग—I, 38, 105; II 108-13;—आक्रमण—I, 35-73, 65, 74, 79, 80; II, 21 147, 149, 154, 157, 203-5, 237;——कारी—I, 35, 36; II, 175;—आव्रजन—I, 35-36; II, 13, 21;—घुड़-

सवार—I, 85; —भाषा> भाषा, आर्य;—व्रत—II, 159; संस्कृति>संस्कृति, आर्य;—वर्ज्य क्षेत्र, I, 53, 64.
आर्याना—II, 123, 126-27.
आर्यावर्त—I, 64.
आर्यीकरण—I, 226; II, 121, 126, 127.
आलमगीरपुर—I, 340.
आल्चिन—I, 71, 104; II, 193, 196, 197.
आल्तिन देपे—II, 129, 155.
आवास—I, 127, 231-43;—की कामना—I, 239-43;—के पर्याय—I, 236.
आस्त्रिक—II, 113.
आहार अन्वेषण (-संग्रह और आखेट) —I, 43; II, 23, 35, 36, 46, 53, 54, 55, 56, 74, 89, 93;—की अवस्था—II, 41.
इतिहास, भारत का—I, 1-2, 11, 26 263;—का लेखन—I,2-8; —दृष्टि, वैज्ञानिक—I, 8-11; —भाववादी-I,7;—वैज्ञानिक-I, 7; —कार—I, 5-8,11, 29, 109;——, पाश्चात्य—I, 5, 109;——, पुनरुत्थानवादी—I, 5, 7,8;——,मार्क्सवादी—6-8;——की भूमिका—I, 29.
इन्द्र—I, 15, 19, 50,51,76, 77, 78, 79, 80, 83, 84, 88, 94, 95, 96, 98, 99, 111, 115, 116, 126, 141, 161, 163-64, 166, 172, 176, 177, 182, 183, 184, 190, 191, 193, 196, 200, 202, 203, 206, 208, 215, 216, 218-19, 228-29, 231,234 235, 292, 293, 304, 319, 320, 379, 380, 381; II, 9, 94, 95, 117, 126, 127 130, 133, 204, 207, 209, 211, 224,253;—देवताओं में सबसे ऊपर—II, 9;—के देवत्व का अस्वीकार—II, 9-10;—वणिक—I, 172; —की श्रेष्ठता को चुनौती—II, 120;—प्रथम अश्वारोही—II, 163;—का अधःपतन—II, 126.
इन्द्रकुन—II, 123, 126.
इन्द्राणी—II, 9.
इब्लीस—II, 196.
इभ—I, 112.
इमेनो—I, 36, 66, 289.
ईंट—I, 21, 22, 50, 51, 121-22, 199, 237, 239, 245; II, 155;—का आविष्कार—I, 238; —का प्रयोग—I, 239; II, 189.
ईराक़—I, 36; II, 57, 58.
ईरान—I, 12, 36, 54, 78, 79, 90, 150, 182, 213, 222, 227, 349; II, 10, 15, 58, 110, 113, 132, 133-37 138, 170, 172, 173, 175, 182, 185, 187;—का भारत से सम्बन्ध—II, 11.

ईरानी,-भूमि—II, 21.
—पद्धति—II, 7;—धार्मिक विश्वासों के पीछे अथर्वा का मुख्य हाथ—II, 10.
ईसाई मिशनरी (-चर्च, -प्रचारक)—I, 1, 3, 109.
उक्रेन—II, 137.
उग्रादेव—I, 175, 204.
उत्तरज्योतिष—II, 123.
उत्नापिष्टिम—II, 230, 231, 232.
उत्पादन—I, 166; II—68;—अतिरिक्त—88-95, 186, 187;—साम्यवादी—I, 128.
उद्योग—I, 120, 151.
उपवक्ता—I, 318, 321.
उपस्तुत—I, 176, 205.
उर्वरता की उपासना—I, 377-81.
उर्वशी-पुरूरवा—II, 122.
उशना—I, 125, 140, 184; II, 117.
उषस्ति चाक्रायण—II, 248-49.
उषा—I, 257.
ऊँट—I, 109, 110, 156, 172, 173, 182; 187, 213; II, 47, 48, 72.
ऊन—I, 125, 135.
ऊर—I, 113, 149; II, 199, 226.
ऋज्राश्व—I, 175.
ऋण—I, 151, 152, 189, 246, 255, 305.
ऋणात्मक प्रमाण—I, 20, 25.
ऋतस्तुभ—I, 175.
ऋत्विज—I, 215.
ऋभु (-गण)—I, 99, 122, 126, 140, 141, 142, 181, 199, 235, 301, 389.
ऋषभ यातातुर—II, 246.
ऋषि—I, 3, 17-18, 23, 34, 158-59, 174, 175, 176, 194, 215, 219, 254, 319, 320, 349, 350; II, 9, 18, 77, 78, 111, 113, 117, 129, 132, 140, 141.
ऋषिका—I, 33, 303.
ऋष्टि—I, 89, 90, 101, 216.
एकराट—I, 317.
एगलिंग—I, 345; II, 162, 225, 234, 237, 242.
एज़रबैजान—II, 133.
एतश—I, 175, 204.
एलाम—II, 157, 172.
एशिया माइनर—I, 56, 78; II, 148-51;—के अभिलेख—II, 14-15.
एशियाटिक सोसायटी—I, 2.
एंड्रयूज, ऐंटनी—II, 147, 167.
ऐडम्स, डब्ल्यू. वाई.—I, 325; II, 168, 171, 195.
ऐयर, कामेश्वर—II, 13, 29.
ओएनेस—II, 152.
ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द—I, 5, 340, 362.
ओल्डेनबर्ग—II, 187, 212.
ओपस—I, 187, 212.
औज़ार—I, 122-24, 236; II, 16.
औषधियाँ, आरण्यक (वन्य धान्य)—

II, 38, 39;—ग्राम्य (कृष्ट धान्य)—38-39.
औशिज—I, 175, 204.
कक्षीवान—I, 175.
कच्छी—II, 118, 120, 191, 194.
कटार—I, 88.
कण्व—I, 175, 176, 204, 205.
कताई-बुनाई—I, 124-25; II, 22.
कनिंघम—II, 242.
कन्दहार—II, 115.
कपड़ा—I, 280; II, 22. >वस्त्र
कपोत—I, 351, 367. > कबूतर
कबूतर—I, 179; II, 227, <कपोत
कम्बोज—II, 101, 116, 161,
करघा—I, 125, 140, 186, 312, 313.
करायल—II, 22.
कर्जन—I, 287.
कटियस—II, 110.
कर्णशोभन—I, 186.
कर्मकाण्ड—II, 65, 207-8.
कर्मार—I, 120; II, 187,
कलश—I, 121, 177.
कला—I, 131, 152,
कलात—II, 115, 121, 191.
कलि—I, 175.
कल्ल, लक्ष्मीधर—I, 289.
कवच—I, 21, 22, 92,
कश्यय—II, 132
कषव—I, 175.
काँसा—II, 21, 24; II, 189.
काइजिलकुम—I, 129.
काकेशश—II, 110, 138.
काक्स, जार्ज, डब्ल्यू.—I, 32.
काठियावाड़—I, 53, 110.
काणे—I, 5, 326; II, 3, 166, 257.
काण्व—II, 9.
काफिर—II, 125.
काफिरिस्तान—II, 123.
काबुल—II, 123, 124; > कुभा.
कारन्त—I, 199.
कार्पेंटर, रायस—I, 66.
कार्यविभाजन—I, 38, 120-22, 153, 298, 300.
कालीबंगां—I, 23, 71, 104, 114, 340; II, 186, 188.
काल्डवेल—I, 289; II, 159.
काश्यप—II, 254.
किरथार—II, 115, 121, 123.
किरमान—II, 133.
किन्नर—II, 101, 113, 114, 116, 124, 126, 160, 161.
किन्नौर—II, 115.
किरात—II, 101, 114, 115, 116, 117, 118, 121, 122, 124, 160;—देश—II, 115.
किरात (किलात)—आकुली—II, 121.
क़िलेगुलमोहम्मद—II, 118, 179, 190, 194.
किसान—I, 48, 62, 63, 108, 115, 118, 119, 319; II, 65, 66, 96, 97, 170, 171.
कीथ—I, 16, 33-34, 36, 46, 56, 65, 96, 133, 223, 232,

241, 288, 289, 323, 324, 330, 386; II, 15, 27, 32, 52, 169, 241.
कीनाश—I, 116, 136, 227; II, 93.
कुक्कुट—II, 47.
कुत्ता—I, 110, 173, 176, 306, 388; II, 47, 72.
कुन्हराज—I, 327, 329.
कुबेर—II, 117, 123, 130, 160, 161. > खैबर.
कुभा—II, 124.
कुमारस्वामी—I, 5.
कुम्भकार—I, 121.
कुरीर—I, 187.
कुरु—I, 292; II, 248.
कुरुक्षेत्र—I, 54.
कुर्गन संस्कृति > संस्कृति, कुर्गन.
कुर्दिस्तान—II, 130.
कुर्रम—II, 124; > क्रुमु.
कुलिश—I, 89, 123.
कुल्ली—I, 149, 376; II, 118, 152, 156, 161, 168, 179.
कुल्हाड़ा—I, 89, 123.
कूचक्र—I, 116, 123; II, 136.
कृति—I, 216,
कृत्या—II, 209-10.
कृपाण—I, 90.
कृषक—I, 127. > किसान.
कृषि—I, 62, 104, 106, 107, 113-20, 127, 215; II, 38, 40, 41, 43, 75, 124, 152, 180;—का आविर्भाव/आविष्कार—II, 38-40, 55-59, 124, 176;—उत्पाद—II, 117;—की आरम्भिक कठिनाइयाँ—64-66; —कर्मी देवता II, 90-94;—क्रान्ति—II, 33, 35, 41, 43, 45, 53-88, 89, 171, 195;—क्षेत्र—II, 98;——का प्रसार—II, 183;—जन्य समृद्धि—II, 185, 186, 187;—यज्ञ—II, 61-62, 65, 91;——का विस्तार—II, 67, 71, 186;—और नये धान्यों की की तलाश—II, 73;—और मृद-भाण्डों का आविष्कार—II, 74;—और भाषा का विकास—II, 76-78; —और शक्ति के नये स्रोत—II, 72-73.
कृष्टी—I, 106, 108, 155, 200; II, 186,
कृष्णराव—I, 339.
केनेडी, केनेथ ए. आर.—I, 73, 323.
केसरवानी, अरुण—I, 100; II, 167.
कैस्पर, ए. डी.—I, 188.
कैस्पियन सागर—II, 132.
कॉफ़, डेविड—I, 30.
कोकचा—II, 123, 132.
कोटदीजी—I, 291, 340; II, 179.
कोनो—II, 15,
कोल—I, 272, 275.
कोलब्रुक—I, 30; II, 257.
कोल्डिहवा—II, 51, 58, 59.
कोश—I, 16, 121, 154, 155.
कोसम्बी, डी. डी.—I, 6-8, 31, 32,

33, 34, 56, 60, 72, 73, 90, 97, 101, 133, 134, 237, 252, 322, 323, 324, 327, 328, 349; II, 15, 29, 149, 167, 234, 242, 249, 258.
कोहिस्तान — II, 115.
कौआ—I, 179, 187; II, 227, 228.
क्नोरोज़ोव—I, 339.
क्वेटा—II, 120.
क्रय—I, 203, 208.
क्रागमैन—II, 217.
क्रीट— II, 143, 147.
क्रुमु—II, 30.
क्रैमर—I, 188, 211; II, 242.
क्षत्रिय— I, 7, 151, 299, 301, 327, 384; II, 63, 92, 93, 94, 207, 249.
खच्चर—I, 154, 156, 172, 182 II, 111, 188.<अश्वतर.
खनिज(-भण्डार-सम्पदा-)—I, 160, 217; II, 117, 124, 125, 132.—स्रोत— I, 214-32
खनित्र—I, 89, 90, 123
खाद्यान्न—I, 118, 305.
खान-पान— I, 305-7.
खान, एफ़.ए. I, 94; II, 168.
खापुज देपे—II, 132.
खेतड़ी—I, 150, 173, 182.
खेती— I, 63, 113, 119, 127; II, 61, 62; 65.—, झूम— II, 16, 65, 69.
खैबर—I, 184; II, 117;<कुबेर.
खोकन्द—II, 129.
गंगा—I, 44, 53, 64, 65; II, 31, 193, 232, 246.
गदा— I, 21, 88.
गधा—I, 42, 43, 67, 110, 111, 112, 127, 154, 156, 172, 176, 182, 225; II, 17, 43, 47, 48, 72, 111.
गण, वैदिक समाज में सम्मिलित—I, 292.
गणपति— I, 318, 389.
गणना—I, 132; दाशमिक क्रम—I, 129,— द्विगुण क्रम—I, 129.
गणित—I, 358-59; II, 175, 254.
गन्धद्रव्य/लेप—I, 212; II, 152, 156.
गन्धमादन—II, 115, 160.
गन्धर्व—I, 43, 68, 212; II, 101, 113, 114, 115, 116, 117, 118, 122, 123, 124, 126, 127, 129, 160, 161, 162,— लोक—II, 123.
गन्धार—I, 24, 36, 43, 111; II, 115, 125, 163.
गन्धारी—II, 120.
गर्दभरथ—I, 67.
गल्प, भारोपीय— I, 14.
गविष्टि—I, 109, 168, 172, 203, 219; II, 50.
गवेषण — I, 105, 109, 168, 172, 203, 219.
गाइल्स, प्रो.— I, 36, 56, 65, 286, 349; II, 15, 27.

गाथा—II, 5-7, 8-9, 25-26.
गाय/गो—I, 21-22, 43, 48, 81, 93, 107-8, 111, 130-31, 133-34, 154, 156, 157, 168, 187, 195, 200, 214, 215, 216, 218, 219, 229-31; II, 20, 47, 48, 50-51, 72, 87, 142, 163.—वैदिक जनों का मुख्य पशु—I, 17;—का दैवीकरण आर्थिक कारणों से—II, 10.
गार्ग्य—II, 9; 254.
गालव—II, 254.
गिलगमेश—II, 226, 230, 231, 232.
गिलगिट—II, 115, 123.
गुजरात—I, 53, 68; II, 112, 230.
गुडएनफ़—I, 286.
गुप्त, एस. पी.—I, 32, 37, 66, 100, 189, 278, 289, 295, 325; II, 40, 50, 132, 164, 165, 168, 181, 196, 197.
गुमला—II, 118, 179, 188.
गुलाम—I, 186.
गुहा, बी. एस. —I, 323, 383.
गेल्डनर—I, 317; II, 164.
गेहूँ/गोधूम—I, 14, 118, 119, 137, 307; II, 55, 58, 73, 74, 89, 88.—म्लेच्छ भोजन—I, 118-19; II, 73.
गैंड, सी. जे.—I, 343.
गैंडा—I, 110.
गो—I, 106.107. —विनिमय की इकाई—I, 130-131;—मान—I, 108, 131.
गोवध—I, 307.—बलि—II, 42.
गोमल (गोमती)—I, 64; II, 120.
गोमांस—I, 25, 306, 402, 415.
गोरखप्रसाद—II, 13, 29.
गोर्डन, डी.एच.—I, 133, 134, 138; II, 195, 223, 241.
गोल्डश्टकर—I, 344, 362, 367; II, 3.
ग्रांट, चार्ल्स—I, 31.
ग्रामणी—I, 318, 319.
ग्रिफ़िथ—I, 152, 189, 251; II, 164.
ग्रियर्सन—I, 44, 56, 66, 68, 72, 263, 286, 288, 349; II, 130, 164.
घुनें—I, 67.
घोड़ा—I, 21, 22, 24, 41-44, 48, 67, 68, 85, 88, 91, 110, 111, 127, 136, 152, 156, 172, 180, 182, 183, 184, 185, 187, 213, 225, 247; II, 16, 17, 43, 47, 48, 111, 125, 138, 140, 142, 163, 72, 188, 191, 246.
घोड़े का मूल्य—I, 43.
घोष, ए.—I, 31.
घोष, बी. के.—286, 287, 289; II, 27, 150, 167.
चक्र—I, 90.
चक्रवर्ती, दिलीप—I, 2; II, 196.

चटर्जी, जतीन्द्र मोहन—II. 10, 28.
चटर्जी/चाटुर्ज्या, एस. के.—I, 32, 45-46, 56, 67-68, 70, 72, 145, 174, 289, 322,323, 324, 326, 327, 349, 382; II, 111, 138-139, 143-144, 159, 166, 167-168.
चट्टोपाध्याय, के.—I, 232.
चट्टोपाध्याय, डी. पी.—I, 33, 144, 228, 324, 332, 334, 377. II, 87.
चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा—I, 324; II, 9, 28, 120, 162.
चन्द, रामप्रसाद—I, 45, 46.
चन्दन—I, 150.
चमस—I, 121.
चरखा—I, 310, 311.
चर्षणी—I, 155, 173, 319; —धृत—I, 319.
चाँदी—I, 21, 132, 150, 182, 215; II, 136, 191.
चाइल्ड, गोर्डन—I, 31, 72, 188; II, 50, 55, 57, 79, 181, 196.
चाक—का आविष्कार—I, 121; II, 188, —निर्मित भाण्ड—II, 188-89.
चाकलदार—I,73.
चाक्रवर्मण—II, 254.
चाडविक—II, 143.
चान्हूदड़ो—I, 150.
चायमान, अभ्यावर्ती—I, 80, 97, 192.
चावल—I, 23, 118, 119, 306.
चिचित्सक—I, 299.
चिकित्सा—I, 359-62; II, 175, 254.
चितराल—II, 115, 123,
चित्रगुप्त—I, 343.
चित्रलिपि—I, 344.
चिरन्द—II, 180.
च्यवन—I, 180-81, 359.
छुरा—247.
जग्रोस पहाड़ियाँ—II, 75, 192.
जरथुस्त्र—II, 9, 134, 135; —वाद—II, 11.
जर्मनी—II, 110.
जर्मो—II, 191.
जल प्रलय, II—222-223
जलीलपुर—II, 188.
जाति—I, 120.
जायसवाल, काशीप्रसाद—I, 5,334.
जावीचेमी—II, 43.
जिम्बुतास, मारिजा—I, 32, 287; II, 29, 166.
जुआ—I, 247-48.
जेन्द—छन्द का तद्भव—II,8-9; —फारस की भाषा नहीं—II, 134.
जेरिको—II, 58, 191.
जैरिज—II, 22, 32, 79, 176, 190, 191, 196, 197.
जोन्स, विलियम—2, 5, 6, 7, 14, 18, 30, 32, 261, 286.
जोरास्टर—II, 8;—मतावलम्बी भारत, में बसे थे—II, 8.
जोर्डन—II, 58.
जोशी, जे. पी.—I, 32, 42, 67,

254.
जोशी, पी. एम० —II, 168.
ज्याइनर —I, 41.
ज्यामिति—I, 354-57.
ज्योतिष—I, 263, 357-59; II, 24-25, 65, 78, 175, 254, और वैदिक रचनाकाल—II, 11-15, 26.
झूकर—I, 12, 340.
झोब—II, 161.
टट्टू—I, 42, 43, 110, 111, 154, 184; II, 48, 188.
टीन—I, 150; II, 136.
टोटेम—I, 292; II, 207.
ट्वाइनिंग—I, 30.
डांगे, एस. ए.—I, 33, 324; II, 258.
डाबरकोट—II, 118.
डायन, इनसाइडर—I, 289.
डारमेस्टेटर—II, 134, 165.
डिरिंजर, डेविड—I, 340; II, 167.
डुरांट, विल—I, 191; II, 155, 164, 168, 171, 195, 242.
डेल्स, जार्ज एफ.—I, 71, 94; II, 215, 242.
डोरियन क्रान्ति—II, 146-147.
तकनीकी विकास—II, 54, 74, 77, 185, 190; —का भौतिक आधार—I, 121.
तकली—I, 311.
तक्षण—I, 126, 141.
तन्तु—I, 123.
तन्तुवाय—I, 120.
तन्त्र—I, 123.
तन्त्र मन्त्र—II, 156, 209-10.
तपनी—I, 98.
तमिल—I, 59.
तरुषन्त—I, 175.
तस्कर—I, 75, 92, 99.
ताँबा—I, 21, 43, 44, 182; II, 189.
ताहिरबाई देपे—II, 132.
तिरिन्दिर—I, 176, 206.
तिलक, बी. जी.—II, 3, 11, 12.
तीर-धनुष—I, 123.
तुग्र—I, 174-75, 204.
तुर्कमीनिया/तुर्कमीनिस्तान—I, 286; II, 172, 175, 176, 187, 191.
तुर्की—I, 150; II, 55, 57; 112, 138, 141 148. >एशिया माइनर
तुर्वश—I, 174, 204, 292.
तुर्वीति—I, 204, 205.
तूरान—I, 286.
तृत्सु—I, 205, 222.
तेजेन डेल्टा—II, 129, 176.
तोगऊ—II, 190, 194.
तोशी—I, 188; II, 196.
त्रसदस्यु—I, 93, 175.
त्राम्बेत्ती—I, 275, 287.
त्रिपोली—I, 286.
त्वष्टा—I, 84, 122, 126, 141, 235, 242, 301; II, 211, 214, 218.
त्सिमर—I, 294, 296, 317, 320, 332.
थापर, रोमिला—I, 30, 32, 33,

41, 60, 66, 67, 71, 72, 118, 119, 137, 300, 325-326, 327, 328; II, 73, 87, 228, 241, 242, 258.
थापर, बी. के—I, 32, 36, 37, 136, 146, 278, 289; II, 168.
दजला-फ़रात क्षेत्र—I, 114; II, 136, 151-58, 185, 199, 226, 227.
दधिक्रा—I, 184.
दम्बसादात—II, 118, 179.
दरद—I, 102, 115.
दशग्व—I, 159-60, 215, 219.
दात्र—I, 123, 124, 140, 216.
दान—I, 16, 109, 130, 151, 161-62, 176, 186; II, 112; —स्तुति—I, 106, 108, 109, 151.
दानी, अहमद हसन—I, 340, 364.
दार्शनिक चिन्तन—I, 58.
दाशमिक प्रणाली—I, 129, 145.
दाशराज्ञ युद्ध—I, 160, 177; II, 120, 124, 207, 216.
दास—I, 37, 38, 39, 78, 96, 105, 108, 151, 170, 177, 220, 224-25, 318; II, 90, 93, 94, 95, 96, 186, 207; —वर्ग/प्रवर्ग—I, 225, 230, 318; —श्रम—I, 151.
दास, अविनाशचन्द्र—II, 27.
दासी—I, 105, 151, 318; II, 90, 205.
दिज़मार—II, 133.
दिवोदास—I, 50, 52, 79-80, 95, 96, 221, 222, 224, 225.
दिशा, अपराजिता—II, 78; —, देवों की—II, 62, 81; —, पितरों की—II, 63, 81-82; —, मनुष्यों की—II, 63, 81-82.
दीर्घश्रवा—I, 175, 204.
दीक्षित, शंकर बालकृष्ण—I, 368; II, 13, 29.
दुर्ग—I, 50, 79, 96, 182, 183, 208;
दुर्रानी—I, 188.
दुहिता—I, 125, 140, 302.
दूत—I, 318.
दृति—I, 244.
देव (ता)—I, 18-19, 33, 177, II, 8, 40, 50, 52, 59, 61, 62, 64, 65, 67, 68, 69, 83, 91, 94, 103-107, 123, 133, 175, 204, 236; —, अनार्य—I, 382; —, प्राचीनतम—I, 383; —यान—I, 185, 210; II, 123, 162; —शब्द की व्युत्पत्ति—II, 82; —असुर संग्राम / संघर्ष—II, 40; 41, 62-64, 68, 121. —शास्त्र—I, 8.
देवी—I, 318.
देवों के युग्म—I, 380
देसालपुर—I, 340.
द्यूत—I, 246-48. >जुआ
द्रविड़—I, 45, 60, 272, 275,

339, 341, 382; II, 153.
द्रोण—I, 121, 137.
—कलश—I, 393.
द्वारका—II, 101.
द्विगुणक्रम—I, 129.
द्विवेदी, कपिलदेव—I, 289.
धन—I, 164, 168, 176, 177; —, महा—I, 168;—सात—I, 168;—,पूर्वत पार का—I, 157, 194;—समुद्र का पार—I, 157, 194.
धन सम्पत्ति के रूप—I, 127—28.
धनुष-वाण—I, 21, 91, 123, 200, 216>तीर धनुष.
धर्म—I, 3, 4, 45, 370, II, 140; 141;—और विश्वास—I, 370 415;—, हड़प्पा सभ्यता का—I, 370; —की प्रकृति—I, 370-72.
धातु—I, 21, 215; —कर्म—I, 121; —विद्या—II, 152, 189, 190.
धान—II, 56, 59.
धान्य—I, 118; II, 59, 73.
ध्रुवतारा—II, 12, 13.
नगर—I, 21, 47, 48, 50, 52, 60, 244-45;II, 97, 98, 99; 158;—जीवन—I, 47, 233; II, 22; —प्रशासन—I, 245-46; —केन्द्रों का पतन—II, 183; —योजना—I, 235, 245,—सभ्यता—I, 24, 104, 105, II, 97, 142, 153, 156, 215; का विकास —II, 22, 76, —का उदय —II. 170, 197.
नदवी, सैयद सुलेमान—I, 213; II, 36, 50, 52, 242.
नगज्गा—II, 129, 132, 155, 190.
नर्तकी—I, 309.
नहर—I, 113, 114, 115, 117, 244; II, 75, 186.
नवग्व—I, 159-60, 194, 215, 219.
नाग—I, 272; II, 113.
नागर—II, 123.
नाड़पित—II, 121.
नाय—I, 318.
नारद—II, 129.
नाल—II, 121.
नाव/नौ(का)—I, 123, 156, 157 173, 182, 189, 196, 204, 208, II, 73, 154, 182, 187, 247;—निर्माण—I, 124;—वहन—I, 149;—समुद्रगम्य—I, 207; II, 187, 213.
नाविका—I, 163.
नासिर, ए.—I, 217, 219, 228.
निन्दोवाड़ी—I, 340.
नियुत—I, 154.
निर्यात की वस्तुएं—I, 187.
निष्क—I, 132.
नीपर—II, 137.
नील की उपत्यका—II, 185.
नीलगिरि—I, 150; II, 156.
नीस्टर—II, 137.

नूरिस्तान—II. 123.
नृत्य (नाच)—I, 248.
नृमेध—II, 9.
नेता—I, 318.
नेपाल—II, 115.
नेम भार्गव—II, 10.
नेस्फील्ड, जे. सी.—I, 73, 323.
नैतिक (-ता)—I, 170.
—आदर्श—I, 304-305.
—मान्यताएँ—I, 16.
न्याय व्यवस्था—II, 97.
पंजकौरा—II, 115, 123.
पक्थ—I, 293; II, 120.
पख्तून—II, 120.
पगड़ी—I, 177, 308, 315, 319.
पणन—I, 185.
पठानीदम्ब—II, 118, 194.
पणि—I, 200, 208, 214, 215, 219, 221-27, 230-31.
पण्ड्या, सुमन—I, 134.
पदाधिकारी—I, 318.
पदक्रम—I, 319.
पन्याल—II, 123.
परम्परा (श्रुत)—I, 25, 26, 244, 327, 347, 350; II, 139, 147,244,—,ईरानी—I,160; II, 136, 137, 140, 152; —पश्चिमी (एशियाई)--II, 35, 40, 41;—,पौराणिक—II, 113;—,वाल्ट,—II,152;—, बेबीलोनी—II, 152;—, भारतीय—I, 11; II, 36-40, 62; — यूनानी,—II, 137; —, लटवियन—II, 139, 140; —, वैदिक—I, 370; II, 151 —, सुमेरी--II, 152, 154, 155.
परशु—I, 21, 89, 101, 123, 138.
परिमाणवाची—I, 154.
परुष्णी—II, 120.
पर्वत—I, 78, 79, 84, 96, 182, 183, 209, 216, 228;—ईय मार्ग—II, 120.
पवि—I, 216.
पशु—I, 110;—भारवाही—I, 154, 156; II, 73, 182;—धन—I, 48, 63, 104, 169; II, 17, 52, 62, 73, 93, 117, 124;—पालन/चारण—I, 19, 38, 84, 85, 107, 110-13, 127, 151. 162, 166; II, 16, 33, 40, 41, 42, 43, 49, 50, 61, 62, 72, 89, 93, 125, 142, 179;——का आरम्भ—II, 43-46,—चारी संस्कृति—I, 8, 107; II, 186;—और प्राणिजगत के प्रति भारतीय दृष्टिकोण—II, 49.
पशुपति—I, 381; II, 72.
पहिया—I, 123, 124; II, 16, 187, 188;—,ठोस—II, 16, 188; —अरायुक्त—II, 17, 188.
पश्चिमी एशिया—I, 113, 114, 148, 149, 272; II, 33, 45 46, 55, 56, 57, 100, 101,

151, 156, 170, 181, 198 224, 227;—की सृष्टि कथाएँ —II, 34-36, 158, 240, 247.
पांचाल सात्रासाह—II, 246.
पाइथागोरस—I, 3.
पाठक, वी. एस.—I, 66, 242, 346 365; II, 160.
पाणिनि—I, 38,334, 337, 338; II, 8, 254, 255.
पाण्डे, गोविन्दचन्द्र—II, 234, 242.
पाण्डे, राजबली—I, 340, 362, 364.
पात्र—I, 22, 24>भाण्ड.
पामीर—II, 115, 160;—बदख्शाँ —II,101, 115.
पार्पोला, ए.—I, 339, 342, 365.
पाल—I, 179.
पिक्ते—II, 110.
पिगट, स्टुअर्ट—I, 67, 134, 148, 149, 188; II, 50, 195, 196, 214.
पिशल—I, 359.
पिशिन—II, 120.
पुर/पुरी—I, 50, 52, 77, 79, 96 97; II, 204.
पुरन्दर—I, 50, 52, 79.
पुरन्धि—I, 359.
पुरातत्व—I, 11-13, 25, 26; II, 188, 228;—की सीमा—I, 26;II, 155;पुरातात्विक साक्ष्य/ प्रमाण—I, 26, 36, 54, 149 II, 16, 153, 158, 171, 175,180,185, 232, 255.
पुरु—I, 222, 292.
पुरुकुत्स—I, 175, 204.
पुरुषन्ति—I, 175.
पुरोहित/पुरोधा—I, 299, 301, 302, 306.
पुसालकर—II, 163.
पूजा—I, 399-402.
पूषा—I, 19, 84, 162-63, 171, 196, 202, 203, 210, 210 231, 351; II, 41, 42.
पृथुवैन्य—II, 124-125.
प्राग्ज्योतिष—II, 41, 114, 115.
पौराणिक भूगोल—II, 114.
प्रजापति—II, 59, 62, 63, 83.
प्रतिपणन—I, 203.
प्रपण—I, 198, 203.
प्रशासन—I, 163;—व्यवस्था— II, 97.
प्राणनाथ—I, 339; II, 168.
प्रित्सलुस्की—I, 289.
प्रियमेध—I, 176.
प्लेटो—I, 3.
फरसा—I, 88 II, 16.
फरात—I, 114.
फाइनडे, एम. आई.—II, 167.
फाब्री—I, 188.
फारस—I, 212; II, 8;—की खाड़ी —152, 153, 154, 172, 229.
फाल—I. 116, 136.
फीनीशियन—II, 232.
फ़ीरोज़ा—I, 211; II, 22, 132, 136.
फेयरसर्विस—II, 196.

फ्रीड्रिक, पाल—I, 280,281, 290.
फ्रैंकफर्ट—I, 188; II, 52, 171, 195.
बकरी—I, 48, 110, 111; 154, 157; II, 42, 43, 47, 51, 52, 125, 142.
बक्स्टन—I; 323.
बटेरा—II, 123.
बतख—I, 110.
बदख्शाँ—I, 150, 217, 220; II, 101, 115, 129.
बधियाकरण—I, 136.
बरखान—II, 120.
बरो, टी.—I, 263-65, 266, 286 289; II, 15, 142, 143, 159, 167, 169.
बर्तनायक्स—II, 139.
बर्न्ट व बर्न्ट—I, 190.
बर्बरता—I, 109.
बलूचिस्तान—I, 54, 83, 149, 214, 217; II, 101, 114, 115, 117, 118—122, 153, 172, 175, 179 182, 185, 187, 188, 191, 192, 201, 214.
बल्बूथ—II, 121.
बहरीन—II, 153.
बह्लीक—II, 9, 101, 116, 120, 161.
बाल्टिक क्षेत्र—II, 137—141.
बॉप्प, फ्रान्स—I, 268.
बालाकोट—I, 340.
बिल्ली—I, 110; II, 47.
बुशमेन—II, 54.
बूलर—I, 339, 340, 363, 364, II, 3, 29.
बेबीलोनबेबीलोनिया—I, 54, 349; II, 136, 150, 152, 153, 157, 199, 228.
बीज—I, 116,136,137.
बुल्के कामिल—I, 282.
बृहस्पति—I,83, 167, 202, 209 307; II, 71, 86, 95.
बेंडर—I, 289.
बेड़ा—I, 180.
बेतवा—II, 193.
बेरोसस—II, 152, 155, 199.
बेलन (नदी)—II, 51.
बैल—I, 108, 156, 172, 182, 225; II, 7, 72, 188.
—गाड़ी—I, 109, 173.
बैक्ट्रिया—I, 286
बैशम, ए. एल.—I, 71, 72, 101, 134, 138, 189, 212, 254, 327, 332, 334, 364; II, 52, 168, 169, 214, 217, 220.
बोएज, फ्रान्स—I, 323.
बोगाजकुई—I, 56,78, 349, 380; II, 14, 148.
बोलन—I, 183, 184; II, 120, 121, 194.
ब्रह्मणस्पति — I, 83, 167, 200.
ब्रह्मा—I, 380.
ब्रॉक—II, 149.
ब्राउन, नार्मन—I, 150, 189.

ब्राउन, डब्ल्यू. एन.—I, 256.
ब्राहुई—I, 63; II, 118, 121, 125.
ब्राह्मण—I, 7, 61, 151, 299, 301, 326, 338; II, 63, 66, 92, 94, 111, 112, 207, 208, 247, 249, 251.
ब्राह्मी—I, 54, 338, 339, 340. 344, 351, 352; II, 255.
ब्रेडवुड—II, 50, 56, 79.
ब्रैंडस्टाइन. —I, 276-77.
ब्लाख—I, 103, 287, 289; II, 15, 29.
ब्लूमफील्ड—I, 133, 277, 279, 347, 366; II, 3, 18, 24, 29, 31, 32.
ब्लैनफर्ड, डब्ल्यू. टी,—I, 41.
भग—I, 84.
भण्डारकर—I, 5, 232; II, 15.
भरत—I, 205; II, 121.
भरतवंशी—I, 65.
भरत दोष्षन्ति—II, 246.
भरद्वाज—I, 175. 205, 221.
भलान—I. 292; II, 221.
भवन, सहस्रद्वार—I, 240, 241, 243, 253.
सहस्रस्थूण—I, 240, 241, 242, 253,
भारोपीय—भाषा—>भाषा, भारोपीय;—क्षेत्र—26.
भाण्ड, —I, 12, 21, 121, 391, चित्रित धूसर—12,'चाक निर्मित —II, 188-89.
भारत की स्व-विशिष्ट स्थिति 172-75.
भारतीय ईरानी (शाखा)—II, 9, 129, 135.
भारोपीय जन, मूल—I, 13, 15.
भारोपीय—सभ्यता—II, 8,—मूल निवास—137, 138.
भारद्वाज—II, 254;
भागर्व—II, 15.
भाला—I, 22; II, 9.
भालू—I, 110.
भाषा वैज्ञानिक साक्ष्य—I, 36.
भाषिकआंकड़ों का उपयोग—I, 106.
भाषा—I, 14, 25, 35,5 6, 59-60, 61, 258, 290, II, 1, 4 6, 76-78, 112, 118, 121, 122, 134, 148, 149, 151, 153, 154, 156, 157, 158, 166, 175; अंग्रेजी—42;—अंग्रेजी—144;—अनातौली—274, 275; अर्मीनियन —I, 274; II, 142; अल्बानी —I,213, 279, 281 अवेस्ता >ईरानी—आयरिश, प्राचीन —I, 283; आयरिश मध्य कालीन—I, 281. आर्य—I, 44, 54, 275, 285. 301, परिमण्डल और मध्य देश की—44, 47, 339; II, 8, 113, 127, 140, 142, 148, 149, 151, 157, 158, 170; आस्ट्रिक—I, 285, आस्ट्रोनेशियन—I, 289, केन्तुम वर्ग —II, 142.
इतालवी—I, 27.

ईरानी/अवेस्ता—I, 268, 272, 276, 279.
केल्टिक—I, 274, 275.
ग्रीक—I, 42, 262, 265, 267, 268, 271, 273, 274, 283, 284; II, 142, 143, 144, 147.
जट—II, 118.
जर्मन—I, 262, 268, 273, 274, 275, 282.
प्राचीन उच्च जर्मन - I, 279, 281, 283, 284.
तुर्की—II, 129.
तूखारी—I, 265, 275, 283, 284.
दरद—102, 115, 127.
द्रविड़—I, 63, 272, 275, 285, 287; II, 113, 118, 159.
नाग—I, 272, 275.
नॉर्स, प्राचीन—I, 284.
पश्तो/पुश्तू—II, 115, 118.
पहलवी—II, 134.
पैशाची—II, 102, 127. 163.
प्रसियन, प्राचीन—I, 280.
प्राकृत—I, 285.
बाल्टिक—I, 282.
ब्राहुई—63.
भारतीय-ईरानी—I, 263, 264, 265, 273, 274, 276, 277, 304; II, 142.
भारोपीय—I, 14, 15, 260, 261, 264, 267, 268, 277, 280, 340; II, 7, 6 142, 143, 149.
मंगोल—II, 129.
मुण्डा—I, 275, 2 87.
यूराल अल्टाई—I, 282.
रूसी—I, 280.
लातिन—I, 42, 267, 268, 279, 283.
लिथुआनी—I, 273, 279, 281; II, 137.
वैदिक—I, 16-17, 46, 78, 137, 138, 175; सम्पर्क भाषा—II, 112, 113, 140.
संस्कृत—I, 2, 3, 14, 28, 260, 261, 262, 263, 264, 265, 266, 275, 276, 279, 282, 283, 284, 285;—का अतिरंजित महत्व—263-64, 265, 266-70, 272; II, 2, 5, 112, 113, 130, 133, 134, 139, 142.
सतेम वर्ग—II, 142.
सुमेरी—II, 156.
स्लाव—I, 273, 274, 278, 282, 283.
हित्ती—I, 265, 266, 275, 283, 284; II, 148, 150, 151.
हिब्रू—II, 6.
—का विकास—I, 14.
—अर्थ-विकास—I, 276-77.
प्राकृतिक परिवेश—I, 277-84.
भाषाद्वीप—II, 112.
—,विकसित—I, 259.
—व्यापारियों की—I, 18.
भाषा-विज्ञान—I, 362.

—भाषावैज्ञानिक दृष्टि—II,4.
भाषाओं की तुलना—II, 5, 6.
—हड़प्पा सभ्यता की—I,285.
भाषिक साक्ष्यों की खींचतान—II, 6.—का प्रसार—I, 286.
भिषग—I, 120.
भुज्यु—I, 174, 175, 180, 204.
भूजी—II, 123.
भूटान—II, 115.
भूदास—II, 92.
भूसम्पदा—I, 48; II, 93, 94.
भू-स्वामी—I, 108; II, 110, 90.
—स्वामित्व—I, 108, 116.
भृगु—II, 10.
भृष्टि—I, 90, 101.
भेड़—I, 110, 154; II, 42, 43, 125, 142.
भैंस—I, 110; II, 43, 47, 48, 52, 194.
भोगवादिता और दुर्व्यसन—I, 246-50.
मकरान—I, 51, 184; II, 121, 162.
मकान—I, 123.
मगहरा—II, 58, 59.
मछली—I, 21, 24, 306, 330; II, 68.
मजूमदार—I, 5, 334.
मणि—I, 186, 211, 215; II, 162.
मदिरा—I, 249.
मध्येशिया—I, 36, 54, 56, 182, 184, 214,227, 261, 263, 264, 272; II, 129-33, 182, 185, 219, 240; दक्षिणी—II, 173, सोवियत—II, 133.
मनु—I, 293, 303; II, 42, 63.
मन्द (मन्द्र)—II, 116, 130.
मन्दर/मन्दराचल—I, 184;II, 115, 116, 130, 132, 160, 164, 212, 218, 219.
मन्धाता—I, 175, 205.
मरुत् (-गण)—I, 84, 89, 115, 122, 125, 126, 136, 141, 171, 182, 193, 199, 203, 215, 218, 219, 227, 228 235, 313, 319, 389; II, 43, 158, 162, 164.
मर्ज्ज, बारबरा—I, 30.
महाराष्ट्र—II, 230.
महावृष—II, 120.
माजन्दरान—II, 133.
मातरिश्वा—I, 193.
मातृदेवी—I, 22, 370, 372-77.
मातृप्रधान/सत्ताक—II, 116, 140.
मातृप्रधानता—I, 372-75.
मानगेट, अलेक्सान्दर—I, 32.
मान प्रणाली—I, 129, 131-32.
माप-तौल—I, 128-32, 145-46, 153.
मारीच—II, 132.
मार्गेराँ, ज्याँ क्लाड—II, 168.
मार्शल, (सर) जॉन—I, 20-24, 34, 50, 51, 67, 70, 83, 88, 91, 101, 103, 124, 125, 134, 140, 147, 188, 210, 233,236, 240, 241,

242, 243, 250,251, 253, 305, 329; II, 166, 197, 198, 215.
मालवा का पठार—I, 36.
माल्बर्गिस—II, 139.
मितन्नी—I, 266; II, 149;—अभिलेख—II, 15.
मित्र—I, 99, 305, 320.
मिथक—I, 11, 14, 29, 30.
—आर्य आक्रमण का—I, 35-77.
मिल, जेम्स—I, 2, 4, 5, 6, 109.
मिल्स—II, 8.
मिशनरी—I, 2, 5, 6.
मिश्र, सच्चिदानन्द—I, 144, 195, 200, 254; II, 87, 159.
मिस्र—I, 21, 93; II, 75, 105, 170, 199.
मीठाथाल—II, 188.
मीडी—II, 79.
मीदिया—II, 8, 110, 130, 133, 134, 135, 136, 151.
मीयर—I, 281.
मुंडीगाक—I, 282; II, 191.
मुखर्जी, बी. एल.—I, 232.
मुखर्जी, राधाकुमुद—I, 362.
मुग़ल गुंडाई—II, 118.
मुग़ल, रफ़ीक—I, 32.
मूर्तिपूजा—I, 3, 22, 370.
मूल निवास, भारोपीय जनों का—II, 137.
मूला—II, 194.
मृद्भाण्ड—II, 74, 155.
मृध्रवाच—I, 222, 322; II, 102, 127.
मेधावियों के पर्याय—I, 352-53.
मेरु(सुमेरू)—II, 124.
मेसोपोटामिया—I, 21, 54, 237; II, 15, 105, 136, 149, 152, 156, 157, 171, 175, 187, 196, 198, 199, 229, 230.
मेहरगढ़—I, 282, 291; II, 22-23, 58, 122, 190, 191, 192, 194.
मैक एल्पिन, डी. डब्ल्यू.—II, 159.
मैकडनेल—I, 18, 32, 33, 144, 210, 212, 216, 217, 228, 234, 241, 251, 324, 325; II, 5, 27, 32,217;—व कीथ—I, 190.
मैकनाटन—I, 5.
मैकाय, अर्नेस्ट—I, 51, 70, 72, 138, 188, 213, 242, 253; II, 169, 197, 201, 203, 204, 215, 216, 217.
मैक्समूलर—I, 5, 32, 38, 56, 66, 72, 104, 206, 219, 261, 262, 286, 287, 288, 335, 336-38, 344, 362; II, 24, 8, 11, 27,- 28, 35, 50, 110, 129, 133, 134, 136, 159, 164, 165, 166, 257.
मोतमेदी, अहमद अली—II, 163.
मोल्दाविया—II, 137.
मोहनजोदड़ो—I, 21, 22, 50, 51, 52, 71, 124, 125, 134,

145, 233, 236, 240, 241, 243, 317; II, 201, 203, 204, 232.
मलेक्ष—I, 64; II, 127.
यक्ष—II, 101, 113, 114, 116, 117, 122, 123, 126, 129, 160.
यक्षु—II, 115.
यज्ञ—I, 115, 116, 125, 159, 165, 167, 243, 306, 399-400; II, 97, 103, 105, 124, 164, 180-81, 183, 191, 194, 195, 208, 237, 247-49, 250, 251, 253.
—यूप—II, 97.
—का अर्थ—61-62,
—कुण्ड की चिनाई ईंट से—I, 121-22, 237, 245.
—से ईंट व बर्तन पकाने की सूझ—I, 238.
—वेदी—I, 379.
—सत्र—I, 159, 215.
—पद्धति, वैदिक और ईरानी—II, 7; —वेदी—II, 61-62.
वैदिक—सार्वजनिक—II, 17;
वलि—में आने वाले परिवर्तन—II, 42, 51,
यदु—I, 174, 177, 204, 292.
यन्त्र—I, 123.
यमुना—I, 53, 65, 222; II, 31, 193, 202, 232, 246.
यव—I, 16, 101, 118, 119, 227, 307; II 42, 51, 56, 58, 59, 63, 66.
यवन—II, 160.
याकोबी, हर्मन—I, 56, 349; II, 3, 11-13, 29.
याज्ञवल्क्य—I, 367.
यायावरी—I, 106, 108.
—अवस्था—II, 36, 161,
यास्क—I, 183, 215, 350, 352; II, 86, 254.
याह्या (तेपे—) II, 155, 196.
युद्ध—I, 76, 78, 79, 84, 85, 86-87, 92, 167, 168, 169, 214; के पर्याय—I, 167-68.
यूनान—I, 280, 311; II, 141-148.
यूराल-अल्टाई क्षेत्र—II, 113.
यूरोप—II, 16.
येस्पर्सन—I, 32, 33, 287, 288.
योग-क्षेम—I, 169, 170, 201, 254.
रजत—I, 132; II, 136.
रणवाद्य—I, 87.
रत्न—I, 150, 162, 182, 211; II, 132, 162, 191.
रथ—I, 42, 48, 87, 91, 92, 100, 102, 109, 121, 123, 127, 141, 151, 156, 157, 172, 173, 177, 180, 182, 193, 195, 203, 204, 207, 208; II, 73, 182.
—चालन—II, 16.
का आविष्कार—I, 121.
रशना—I, 125, 140.
रश्मि—I, 123, 125, 138, 140.
रसा—II, 30.

रहमान ढेरी—II, 179.
राइट, एच. ई.—I, 66.
राइक्स, राबर्ट—I, 41, 66, 71, 136; II, 193, 197, 215, 242;—व डायसन—I, 66.
राक्षस—II, 64, 83,
राजतंत्र—II, 97.
राजसत्ता—I, 317-18.
राजा—I, 76, 85, 86, 92, 105, 159, 160-62, 163, 174, 175, 195, 196, 197, 245, 253, 299, 317, 321, 332-33; II, 16, 50, 117;—के गुण—I, 320-21.
—भारोपीय—II, 138.
रॉथ—II, 32.
रानागुडाई—I, 42; II, 118, 179, 214.
रामसेस—II, 111.
रायचौधरी—I, 5.
राय, टी. एन.—I, 32.
राय, सुधांशु कुमार—I, 340, 364.
राव, एस. आर.—I, 34, 42, 53, 67, 103, 146, 188, 325, 339, 340, 342, 364, 383.
रावी—II, 194.
रालिसन—I, 188, 213.
राहूगण—II, 234, 235.
रिजली—I, 44.
रुक्म—I, 186.
रुद्र—I, 19, 84, 90, 99, 111, 122, 163, 202, 370, 380, 381-90; II, 41, 72.
—गण—I, 301.
रेडमैन—II, 52, 79.
रैखिक बी (लिपि)—II, 143, 144.
रोपड़—I, 340.
लकड़ी—I, 235, 236.
लांगल—I, 116.
ला, एन. एन.—II, 3, 13, 257.
लाकवुड—I, 288.
लाजवर्द—I, 211, 217, 218; II, 22, 133, 196.
लाटविया—II, 137, 138.
लार्ड, राबर्ट—I, 289.
लाल, बी. बी.—I, 32, 70.
लिंग-पूजा—I, 22, 377; > उर्वरता की उपासना.
लिथुआनिया—II, 137, 138, 141,
ली, रिचर्ड—II, 54.
लुडविग—II, 31.
लूट—I, 19, 304.
लिपि—का विकास—I, 10; टंक-लिपि—I, 344; चित्रलिपि—I, 343.
ब्राह्मी—I, 338, 339, 340, 342, 344; II, 255.
हड़प्पा—I, 339, 340, 342, 343, 349.
सबाइयन—I, 339.
लेखन—I, 10, 335-52; II, 152, 181, 190, 199, 255, 256;—सामग्री—I, 344, 345, 350, 351, 352; II, 199, 255, 256.
लेखनी—I, 345, 350.
लेमैन, विन्फ्रेड—I, 272, 288, 290.

लैंगडन—I, 23, 340, 342, 364.
लैटिमोर—II, 145, 167.
लैनमैन—I, 320; II, 31.
लैम्बर्ग-कार्लोव्स्की—II, 165, 172, 195, 196.
लोथल—I, 23, 54, 149, 340.
लोरा—II, 120.
लोरालाई—II, 118, 191.
लोहा—I, 21, 24, 42, 43, 44, 68, 87, 88; II, 189,
लोहुमजोदड़ो—I, 340.
वक्षु—I, 286.
वणिक—I, 152, 164, 169; II, 110; —समाज—II, 49.
वज्र—I, 88-89, 123.
वध्रिवाच—1, 322; II, 127.
वयन—I, 125.
वरशिख—I, 80.
वर्ण—I, 45, 60, 354;—विभाजन —I, 38, 60.
वर्ण-व्यवस्था—I, 7, 61, 64, 297-302; II, 207, 215.
वर्णाश्रम व्यवस्था—II, 37.
वरुण—I, 83, 98, 122, 125, 163-65; 192, 194, 196, 234, 239, 245, 246, 252, 255, 257, 293, 305, 320, 380, 381; II, 9, 10, 20, 31, 43, 95, 103, 202;—प्रघास—II, 56, 63, 66, 82.
वर्म—I, 87, 91, 92, 100, 103, 125, 167.
वर्मा, के. सी.—I, 100.
वल—I, 183, 209, 214, 215, 216-17, 218, 219, 222, 226, 228; II, 120, 121.
वलि—I, 16.
वश—I, 175.
वसिष्ठ—I, 175,204,205, 222, 248, 298, 300; II, 7, 122, 209.
वसुगण—I, 182, 208.
वस्त्र—I, 23, 109, 116, 125, 140, 141, 143, 147, 162, 186, 211, 247, 308, 309, 310,-15, 331; II, 37, 143-44, 194.
वाज—II, 50.
वाजस्रवा—I, 43.
वाण—I, 87, 247.
वाणिज्य—I, 38, 107, 150-51, 170, 341; II, 93, 183; —इक प्रचालन—II, 138.
वायु पुराण—II, 36-39, 92, 93.
वाशी—I, 215.
वाल्तेयर—I, 4.
वास्तोष्पति —I, 122, 242, 253-54.
वासोवाय—I, 312, 313.
विंकलर, ह्यूगो—II, 14.
विंटरनित्ज—I, 24, 32, 230, 232; II, 3, 15, 27.
विकास की प्रकृति —II, 176-180.
विक्रय—I, 203.
विज, ब्रजभूषण—I, 130, 145.
विदेघ माथव—II, 234-38.
विदेह—II, 234, 235, 239.
विपणन—I, 148, 185-88.

विमान—I, 180.
वातरंहा—I, 180.
श्येनपत्व—I, 180.
विराट—I, 317.
विलियम्स, मोनियर—I, 68, 189, 239.
विल्सन, एच. एच.—I, 5, 24, 233, 250, 251, 362.
विवाह—I, 293-94.
विश्पति—I, 318, 319.
विश्पला—I, 180-81, 204, 207, 359.
विश्वकर्मा—I, 301.
विश्वरूपा—I, 301; II, 211, 218.
विश्वामित्र—I, 175, 194, 205, 222.
विषाणी—II, 120.
विष्णु—I, 234, 235, 380; II, 10, 69-71, 85-86, 126, 127, 212.
विष्णुमित्रे—II, 79.
वूली, ल्योनर्ड—I, 188; II, 156, 167, 168, 226.
वृक—I, 98, 116, 227.
वृचीवान—I, 80, 92, 97.
वृत्र—I, 76, 77, 81, 94, 95, 97, 193; II, 124, 224.
—और शम्बर की रूपकथा का विकास—I, 78-79.
वृषभ—I, 22, 56, 110, 111, 116; II, 20, 31, 47, 149, 172.
वृषाकपि—II, 120.
वृहद्रथ—I, 175, 204.
वेदालंकार, जयचन्द्र नारंग—II, 160, 161, 163.
वेदव्यास—II, 244.
वेन्त्रिस—II, 143.
वेबर—II, 234, 237.
वेशभूषा—I, 308-16
वेश्यावृत्ति—I, 248-49, 257: II, 205.
वैडेल—II, 169.
वैदिक—ऋषि और राजा—I, 158-62; II, 114.
यात्राओं का लक्ष्य—157, 159.
रचना-काल—II, 1, 32; मैक्स-मूलरका काल निर्धारण—II, 2, 4; ज्योतिष और—II, 11-14.
—जन—I, 47;—जनों के शत्रु—I, 49-53, 81-82, 304.
भाषा—>भाषा;—रीति—II, 114, 121; वितरण—II, 95—व्यापारियों के अड्डे—118; संघर्ष—के स्तर—I, 74-76; —संघर्ष-रक्षापरक—I, 82;—समाज का निर्माण—290-92; संस्कृति—II, 17; अश्वसंस्कृति नहीं—17;—साहित्य—I, 15, 25, 75; II, 23, 25, 26, 41, 113,——का आकार—II, 1;—प्रभावविस्तार—II, 109-69;—प्रसार क्षेत्र—I, 53-54; सम्पर्क क्षेत्र—I, 54-58; विवाह रीतियाँ—I, 293-94.
वैश्य—I, 38, 39, 40, 190, 215, 299, 300, 301, 305, 318, 329; II, 93, 110, 207,

249.
—पुत्र—7.
वर्ण की उत्पत्ति—I, 40.
का वर्णधर्म—I, 327-28.
वोलचोक—I, 342, 367.
वोल्गा – II. 132.
व्याज—I, 152.
व्याघ्र—I, 112.
व्यापार—I, 62, 215, 301; II, 90, 110, 150, 181, 183, 187, 188, 192, 201, 213, 247, 253;—और वाणिज्य —I, 8, 148-213.
व्यापारी—I, 149, 177, 285; II, 121, 140, 141, 144, 150, 157, 194, 204, 213, 240.
— के प्रतिनिधि—I, 174-77; —वर्ग— I, 302, 318; II, 110, 135, 158, 184, 228.
व्यापारिक यात्रा—I; 52, 155-158, 175; II, 17, 20, 176;—अड्डे/बस्तियाँ—II,126 175, 184;—केन्द्र—I, 127; II, 182, 184, 188, 193, 233.
—गतिविधि—II, 185.
—प्रतिस्पर्धा—I, 177-78.
—प्रसार—I, 178-79.
—सार्थ—II, 122.
व्रात्य—I, 227.
व्रीहि—I, 118, 119; II,42, 51, 59, 63, 66.
वृषभ—I, 22, 56, 111, 116, 376, 379; II, 72 149.
एकशृंग—I, 391, 392,
शंकरानन्द—I, 339, 343, 362, 364.
शकुन्तला—II, 121.
शम्बर—I, 50, 52, 76, 77-80, 96, 97, 193, 222, 223; II, 124.
शर—I, 101,
शर्मा, ए. के.—I, 67.
शर्मा, जी. आर.—II, 79.
शर्मा, रामबिलास—I, 171-72, 275, 298,
शर्मा, रामशरण—I, 32, 33, 60, 73, 96, 100,104-09, 137, 138, 139, 140, 189, 200, 324, 327, 332,334, 367.
शर्याति—I, 175.
शहरीकरण—II, 172, 187.
—की पूर्वापेक्षाएँ—180, 185.
शहरे सोख्ता—II, 191, 196.
शाकटायन—II, 254.
शाकमेध—II, 63, 83, 84.
शाकल्य—II, 254.
शान्ति-कामना—I, 80-84.
शासन-व्यवस्था—I, 317.
शहीतम्प—II, 118, 179, 211.
शिक्षक – I, 120.
शिक्षा—I, 297.
शिग्रु—I, 292.
शिरस्त्राण—I, 21.
शिजार—I, 176, 205.
शिल्प—I, 120.
शिल्पी—II, 94,

—शिल्पियों का दमन—II, 211-13.
शिव—I, 22. >रुद्र
शिव—I, 292, 293; II, 120.
शिश्नदेव—I, 381.
शीयर्ड—I, 278, 289.
शीरीं रत्नागर—II, 220.
शुल्क—I, 321.
शूद्र—I, 300, 303, 306, 326; II, 93, 94, 122, 252;—का वर्णधर्म—I, 328.
शेंडगे, मालती—I, 52, 71.
शेर—I, 22; II, 48. >सिंह
शैफर, जिम जे.—I, 24, 34, 43, 68, 88, 100; II, 189.
शौनक—I, 18, 33,
शोर्तुगाई—I, 286; II, 129, 132.
श्केर्तको—I, 189; II, 165.
श्यामाक—I, 118.
श्रीवास्तव, के. एम.—I, 94.
श्रुत—I, 175, 347.
श्रुति—I, 337, 344, 347; II, 244.
श्रेडर, ओटो—I, 140, 186, 210, 280, 289, 310, 311, 312, 330; II, 143, 144, 167.
श्लाफ़, मार्गरेट—I, 287.
श्लीखर—I, 272, 273.
श्लीगल—I, 287.
संख्या (वाची)—I, 77, 78, 154; II, 14.
हजार—I, 154; अयुत—I, 154; नियुत—I, 154.
संस्कृति—II, 121, 122, 140, 145, 156, 157;—, कुर्गन—I, 12, 13, 286; II, 16, 18, 140;—, त्रिपोली—I, 12, 286;—, आदिम भारोपीय—II, 16, 138;—, बलूची—II, 152, 153;—, लौह—I, 22;—, वैदिक—II, 17;—, सोहन—II, 173;—, सांस्कृतिक उपलब्धियाँ—I, 61-63.
संस्कृतीकरण—II, 122.
सचिव—I, 318.
सतनीक सात्राजित—II, 246.
सतलज—II, 193, 233.
सदानीरा—II, 235, 238, 246.
सप्तसिन्धु—II, 129, 133, 136, 149.
सभा—I, 254, 321;—गार—I, 235, 244, 246.
सभ्यता—का मूल—I, 9-10;—का उत्थान—I, 10-11;—का जन्म—I, 3;—का ह्रास—I, 11;—की आवयविकता—I, 58-61; वैदिक—का आविर्भाव सारस्वत क्षेत्र में—II, 20;—, विकसित—I, 26;—, भारतीय—की प्रथम अभिव्यक्ति—I, 74.
समिति—I, 177, 206, 321.
समुद्र—I, 8, 53, 68, 78, 84, 163, 174, 175, 178, 179, 180, 184, 185, 193, 194, 195, 196, 203, 206-07, 209, 277, 279, 305; II, 225; —, मन्थन—I, 181, 184; II, 211-13, 218, 220; —यात्रा—I, 173, 179-81; II, 188.
समुद्रगम्य पोत/जहाज—I, 149, 156, 179-81.
सम्राट—I, 245, 317.
सरकार, डी.सी.—I, 340, 364.
सरकार, शशांक शेखर—I, 323.
सरयू—II, 30.
सरस्वती—I, 46, 52, 53, 64, 149, 184, 191, 192, 221, 224; II, 19-22, 25, 31, 32, 69, 180, 193, 194, 202,

203, 221—22, 228, 232, 233, 234, 237, 240; —घाटी—I, 64.
सरायखोला—II, 188.
सविता—I, 99, 171, 380.
सांकलिया, एन्न. डी.—I, 213; II, 195.
सांकृत्यायन, राहुल—I, 33, 289; II, 159, 164.
साई—II, 51.
साधु—I, 170.
सामाजिक विकास की प्रक्रिया—I, 9-10.
सामी—I, 275.
साँड़—I, 111.
साँभर झील—II, 51, 58, 59.
सायण—I, 15, 90, 159, 180, 183, 184, 194, 195, 198, 204, 207, 211, 225, 228, 231, 239, 251, 322; II, 19, 60, 164, 234.
सारथी—I, 91.
सारस्वत क्षेत्र—I, 46; II, 20, 21, 22, 23, 24, 68, 102, 202, 221, 239, 246;—चरण—II, 119.
सार्थ—I, 52, 167—73, 178, 214, 215, 318, 319, 320.
साहनी, ए. आर.—I, 70, 241.
सिनीवाली—I, 315, 331.
सिंह—I, 22, 111, 136; II, 48.
सिंह, गुरदीप—II, 79.
सिंह, भगवान—I, 30, 33, 213, 289; II, 88.
सिन्धु—I, 23, 28, 37, 53, 64, 65, 149, 182, 191, 201; II, 19-22, 25, 30, 31, 115, 139, 180, 193, 194, 195, 201, 202, 203, 215, 216, 228, 232, 233, 240, 246, 247; —गंगा का मैदान —I, 153; II, 176, 181, 185, 187; —घाटी—172, 175.
सिंचाई-साधन—I, 117, 137; II, 186; व्यवस्था—I, 113—15.
सिबि—II, 120.
सियल्क—II, 190.
सिर दरिया—II, 132.
सिलाई—I, 125-26, 138.
सीता—I, 116, 136.
सीर—I, 116, 136.
सीरिया—II, 57.
सीसा—I, 150; II, 136.
सीस्तान—I, 286; II, 172, 175.
सुत्कागेनदोर—I, 5; II, 118.
सुदास—I, 160, 161, 175, 192, 195, 205, 222, 224, 225; II, 120, 122.
सुपर्ण—II, 9.
सुब्बाराव—II, 196.
सुमेर/सुमेरिया—I, 54, 149, 349; II, 136, 150, 152, 153, 154, 157, 172, 198, 199, 228, 233.
सुमेरु/मेरु—II, 38, 115, 160.
सुर—II, 63; —शब्द की व्युत्पत्ति —II, 60-61.
सुरा/मद्य—I, 249, 257, 307; II, 126; —पान—I, 307, 330.
सुराब—II, 191.
सुलेमान—II, 123.
सूअर—II, 47.
सूची—I, 123.
सूद, आर. के.—I, 136; II, 241.
सूरकोटडा—I, 340.
सूर्य—I, 379; II, 16, 17, 158.
सूस—II, 229.

सूसा—II, 155, 161.
सेंट मार्टिन, विलियम—I, 206.
सेठना, के. डी.—I, 211, 330.
सेन, डी. के.—I, 68.
सेनक—II, 254.
सेनगुप्त, पी. सी.—II, 13, 29.
सेना/सैनिक—I, 86, 87, 93, 122, 171, 204, 318; II, 111.
सेनानी—I, 87, 318.
सेनापति—I, 76, 122.
सैंग्स—II, 152, 153, 168.
सैन्धव चरण—II, 120.
सोण सात्रासाह—II, 246.
सोना—I, 21, 150, 215; II, 132 191.
सोभरि—I, 176, 205.
सोम—I, 81, 90, 92, 96, 111, 115, 187, 195, 220, 221, 257, 320, 390-97; II, 69.
सोलेस—II, 229, 241.
सौत्रामणि—II, 9.
सौद्युम्नि—II, 246.
सौराष्ट्र/सुराष्ट्र—I, 53, 64; II, 215.
स्टीटाइट—II, 196.
स्टीवर्ड—I, 5.
स्तेन—I, 99.
स्तेपी—I, 79.
स्त्रियों की स्थिति—I, 302-304.
स्नान—I, 244-45.
स्पर्धा, व्यापारिक—I, 177-78.
स्पश्—I, 318.
स्पीयर—I, 30.
स्फोटायन—II, 254.
स्मिट—I, 273.
स्मिथ—I, 340, 364.
स्लाव—I, 273, 274.
स्वराट—I, 317.
स्वर्ग—I, 19; II, 40, 90, 97-101, 123, 126, 204;—का तात्पर्य नगरों से—II, 97-98;—के पर्याय—II, 98;—यात्रा—II, 101; व्यापारियों के—I, 184-85; II, 99-100; स्वर्गों की भौगोलिक स्थिति—II, 99-101; स्वर्गों की संख्या—99.
स्वर्ण—I, 313, 314; II, 162.
स्वात घाटी—I 36; II, 115, 123.
स्वामिवर्ग—I, 318.
स्वैराचार—I, 248-49.
हंटर—I, 339, 340.
हमरूनी अभिलेख—II, 5.
हड़प्पा—I, 1, 21, 23, 134, 145, 237, 282, 285, 286, 291, 292, 303, 340, 364; II, 205; —परिपक्व—II, 21; —पूर्व स्थल—119; —लिपि—I, 54, 285; II, 255; —के हथियार—I, 87-88; —की मुहरें/मुद्राएँ—I, 340, 341, 345-46;—प्राप्ति स्थल—I, 340-41; —सभ्यता का सम्पर्क क्षेत्र—II, 113.
हत्याकाण्ड—I, 51.
हथियार—I, 87-91, 122, 385; II, 189.
हरियूपीया—I, 80, 97.
हरौती (हेराक्वैटी/हिरण्यवती)—II, 21, 32
हर्जफील्ड—I, 290, 323, 349, 366; II, 11, 27, 28, 135, 136, 166.
हर्थ—II, 31.
हल—I, 114, 116, 166; II, 71, 186;—वाह—I, 116.
हाथी—I, 213; II, 48.
हाक्स—II, 15, 29.
हाप्किन्स—I, 232; II, 31.
हारीरुद (नदी)—II, 123.

हार्नले—I, 44-45, 46, 68.
हार्लन—II, 55, 79.
हा हा हू हू—II, 127.
हित्ती—I,348;II,130,138, 149 150.
हिन्दूकुश—I, 36; II, 115, 123, 125, 127, 160.
हिरण्य—I, 143, 205,215, 228.
—के पर्याय—I, 215, 227.
हिलेरी—II, 3.
हिसार—II, 129, 155.
हिल्लेब्रांट, ए—I, 72, 96, 200-27, 232; II, 15, 31, 32.
हीरापुर—II, 156.
हुंजा—II, 115, 123.
हेगडे—I, 199; II, 197.
हेती—I, 90, 101.
हेरास—I, 339; II, 152, 168.
हेरोडोटस—II, 75.
हेलमन्द—II, 123.
हेस्केल—II, 166.
हेस्टिंग्स—I, 2.
हॉग—II, 8.
हॉस्पीतिएम—II, 135, 145.
हैडन—I, 323.
होमर—II, 142, 145, 167.
होल्डिच, टी. एच.—II, 241.
ह्वाटमो—I, 286.
ह्विटनी—I, 294; II, 2.
ह्वीलर—I, 42, 51, 52, 67, 70, 71, 83, 88, 90, 97, 101, 125, 133, 134, 140, 145, 182, 187, 188, 208, 213, 253, 325, 331, 332; II, 31, 156, 168, 195, 197, 216, 217.

शुद्धिपत्र

खण्ड 1

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
14	32	अराजक	अराजकता
28	22	पशुपालन	पशुपालक
29	25	मिथ्यक	मिथक
	26	शन्य	शून्य
32	1	हड़घन	हड़प्पन
42	13	पहल	पहले
43	19	वदिकों	वैदिकों
44	2	आलवत	आलक्त
45	9	पहसे	पहले
50	31	फ़िलों	क़िलों
52	15	शिंडे	शेंडगे
63	11	अटकल लगायें	अटकलें लगायीं
68	3	अस्यबन्धु:	अस्य बन्धु:
72	14	मिताक्षण	मिताक्षरा
86	23	वैदिकों	वैदिक
88	29	इसमें	इससे
89	20	पृथुपर्श	पृथुपर्शु
91	31	कारण माना है।	कारण माना है।[156]
	33	निकला है।	निकला है।[157]
93	11	60	160
97	1	क्षियन्त्रं	क्षियन्तं
	10	रुणधाम है	रुणधामहै
100	22	ए. पी. गुप्ता	एस. पी. गुप्त
	24	एम. आर. बनर्जी	एन. आर. बनर्जी
	33	फ्रंडसि	फ्रंइंसि
108	23	करते थे।	करते थे।[9]
111	18-19	के लिए इस शब्द का प्रयोग	के लिए
121	13	कहीं	नहीं
122	28	वरण	वरुण
158	5	वदिक	वैदिक
164	27	142	141
170	22	478	178
176	29	हैं।[23]	हैं।
180	29	है।	है।[241]
	30	241	242
194	6	वरुणं	वरुण
	7	भीखं	भीरवं

	9	2.39.4	2.29.4
		वह:	व:
		ऋ., आदि ।	ऋ. 2.29.6, आदि ।
	20	यज्ञे:	यज्ञै:
202	19	विष्वक्र वि जहि अरात्रम्	विष्वक् वि जहि अराव्णं
207	18	का त्रय, वन्धुर: ये सनीड़ा	क्व त्रय: वन्धुर: ये सनीला:
	25	5.4.23	5.22
		ऋ. 54.12	ऋ. 3.54.12
212	1	फरस	फारस
	12	गन्धर्वों से	गन्धर्वों का
		द्रव्यों का	द्रव्यों से
	21	'पृथुष्टक'	'पृथुष्टुक'
215	3	जो सकती हो	हो सकती जो
	33	सोना-चाँदी	सोने, चाँदी
216	8	गया है।	गया है।[16]
218	12	धन्यन्ते	धनयन्ते
	21	अर्थ की	अर्थ ही
225	2	हो	कर
228	19	आपथ्य:	आपथय:
231	9	कीर्षापणं	कार्षापणं
234	33	भवनों	भुवनों
237	31	बना सकते थे	नहीं बना सकते थे
250	2	है।[120]	है।
	7,8 व 9	121,122,124	120, 121, 122
257	23	2.36.6-8; शतब्रा.	2.32.6-8; शतब्रा. 6.5.1.10.
		6.3.6.10	
	33-34	फुटनोट सं. 122 व 123	122.
279	9	लिप्त.	लिथु.
301	1	53	55
304	नीचे से	80	81
	20.21	81	80
307	1	वर्जित नहीं था	वर्जित था।
320	29	जनन्भक्ष	जन-भक्ष
327	34	वृद्धि पशुपाल्ये	कृषि पशुपाल्ये
32c	31	भोखनं	भोजनं
332	6	138	139
337	17	मनाही थी ? कि गृहसूत्रों	मनाही थी; कि गृह्यसूत्रों
	18	जब तक	जब तब
340	18-19	ओझा[25], लैंगडन[26],	लैंगडन[25], स्मिथ[26], डी.सी.
		रिमथ[27], डी.सी.सरकार[28],	सरकार[27], राजबली पाण्डे[28],

		राजबली पाण्डे[29]	ओझा[29]
342	14	ब्राह्मणी	ब्राह्मी
	16	लिपि	लिपि-चिह्न
343	30	प्रचलित थे[37]	प्रचलित थे
344-48	सन्दर्भांक	38—52	क्रमशः 37—51
357	नीचे से 18	पूरे हो चुके हैं।[63]	पूरे हो चुके हैं।
358	32	बनते हैं।[69]	बनते हैं।
359	29	च्यवन	च्यवन[72]
357-62	क्रमशः	64,65,66,67,68,70, 71,73,74,75,76,77, 78,79,80,81	63,64,65,66,67,68,69, 70,73,74,75,76,77,78, 79,80
363	पृष्ठांक	163	363
365	,,	165	365
	24 व 25	परिगृहति	परिगृह्णाति
366	6	कुणीलव	कुशीलव
	11	in	is
	15	typet	type
	17	historieal	historical
	33	सू र्यक्षयात्	सूर्यक्षयात्
	34	आहत्य	आहृत्य
367	3	ह्नदि	हृदि
368	2	शलायै	शालायै
	30	देवानं	देवानां
372	27	उपान्य	उपास्य
376	25	त्रिपाद वद्धो	त्रिधाबद्धो
381	नीचे से 10	13.9.10	13.9-10
	,, 6	13.10.45)।	13-10)[45]।
384	14	कर्मोरों	कर्मारों
393	6	जाता है।	जाता है।[148]
398	17	सिंह था।	सिंह था।[195]
304	29	दुहितरं औदध्यभि	दुहितरं अभिदध्यौ

खण्ड-2

7	30	मण्डलों उचित	उचित
16	नीचे से 17	सूर्व	सूर्य
	16	संम्भव है यह यज्ञ	सम्भव है यज्ञ
20	11	श्वश्वा	स्वश्वा

21	33	81	85
28	6	उसं	उरु
29	10	11, 1922-22	12, 1921-22
31	28	गंगेय मुने सरस्वतिशुतुद्रि	गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि
33	6	देते हैं	देते हैं[1]
33-35	संदर्भांक	1,2	2,3
35	8	जोड़ा गया है।[3]	जोड़ा गया है।
40	11	गये थे।	गये थे।[13]
58	4	था या	था[8] या
61	नीचे से 14	34	31
63	26	हुए।[52] असुरों का विरोध यज्ञ से है।[53]	हुए।[53] असुरों का विरोध यज्ञ से है।
74	5	सुरक्षित है।	सुरक्षित है।[92]
	9	चमड़े थैलों का प्रयोग होता था[92]	चमड़े के थैलों का प्रयोग होता था
	11	ज़ारी था।[93]	ज़ारी था।
75	23	उद्यभावनाओ	उद्भावनाओं
77	22	स्वर्ण-संयोग	सवर्ण-संयोग
83	1	52.वारुण्या...	वारुण्या...
91	27	जनसंख्या तेज़ी	जनसंख्या में तेज़ी
94	30	मन्त्रियों	क्षत्रियों
101	11	हट आये।	हट आये।[62]
	12	हुआ है।	हुआ है।[63]
105	28	किसानों से दूर	किसानों से कर
133	29	ग थे ये।	गये थे।
134	26	प्रयोग हुआ है।	प्रयोग हुआ है।[76]
147	13	क्रीठ	क्रीट
163	7	अश्वोन	अश्वों
165	3	301-10; दि अर्ली...'	301-10; फ्रैंकफर्ट, 'दि अर्ली...
196	26	जिन शैफर	जिम शैफ़र
209	33	हैं।	हैं।[26]
210	8	था।	था।[27]
251	13	अविश्वनीय	अविश्वसनीय
260	7 व 20	श्रोत	श्रौत
272	5	...Ancient Style... Goodenough... 1959...	...Ancient Indian Style यह निबन्ध Giles का है.
274	1	Proton...	Proto.
	23-24	Heskel...	×
	25-26	Hutton, J.H....	×
284	16	1975	1985

भगवान सिंह

जन्म : गगहा (गोरखपुर), 1 जुलाई 1931

शिक्षा : एम० ए० (हिन्दी)

भारत की प्रमुख भाषाओं और लिपियों का परिचयात्मक ज्ञान

प्रकाशित कृतियाँ—

उपन्यास :

काले-उजले टीले, महाभिषग्

कविता-संग्रह :

अपने समानांतर

शोध :

आर्य-द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता

निबन्ध :

स्थान नामों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन
ओरिजनल रामायण : ह्वाट इट रियली वाज़
आइडेंटिफ़िकेशन ऑफ़ सोम
ऋग्वेद में पुर; ऋतम्भरा